पुरुषार्थ देशना



अमृतचंद्राचार्य विरचित पुरुषार्थसिद्धयुपाय पर

आचार्य श्री विशुद्धसागरजी मुनिराज के प्रवचनांश

अमृताचंद्राचार्य विरचित पुरूषार्थसिद्धयुपाय पर

आचार्य श्री विशुद्धसागरजी मुनिराज

के प्रवचनांश

पुरूषार्थ देशना

प्रकाशक

अखिल भारतीय श्रमण सेवा समिति

पूज्यश्री के साहित्य प्रकाशन हेतु कटिबद्ध संस्था

संपर्क : 92453-21151, 98930-63710, 98262-10189

पुरुषार्थ देशना

- ❖ मूलकृति : पुरूषार्थसिद्धयुपाय
- ❖ कृतिकार : प.पू. अमृताचंद्राचार्य स्वामी
- ❖ देशनाकार : प.पू. आचार्य श्री विशुद्धसागरजी महाराज
- ❖ आवृति (प्रस्तुत कृति) : तृतीय (2011)
- ❖ प्रकाशक : अखिल भारतीय श्रमण सेवा समिति
- ❖ सम्पादन सहयोग : इंजी. जिनेन्द्रकुमार जैन, पद्मनाभ नगर, भोपाल
- ❖ न्यौछावर राशि : एक सौ पचास रूपए (पुन: प्रकाशन हेतु)

: प्राप्ति स्थान :

श्री मूलचदं जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, 31 काछी मोहल्ला, इंदौर मो. 94253-21151

श्री महावीरप्रसाद पाटनी, जी.ई. रोड, सुपेला, भिलाई (छ.ग.) मो. 98930-63710

श्री मनीष जैन मोना (सिहोरा वाले), 31/3, छीपा बाखल, इंदौर (म.प्र.) मो. 98262-10189

अमर ग्रंथालय, उदासीन आश्रम, 584, एम.जी. रोड, इंदौर मो. 94254-78846

: मुद्रक :

जैन राजेश कानूगो

डीसेन्ट ग्राफिक्स

सुभाष चौक कार पार्किंग राजबाडा, इंदौर (म.प्र.)

फोन : 98260-14047

प्रकाशकीय

जैनागम के जिन प्राचीन आचार्यों ने सरस्वती के भंडार को समृद्ध करने में अपना अमूल्य योगदान देते हुए अेनक सैद्धांतिक एवं आध्यात्मिक ग्रंथों को सृजन किया उनमें आचार्या श्री अमृतचंद्र स्वामी के ग्रंथ पुरूषार्थ सिद्धयुपाय दसवीं शताब्दी में सन् 904 के आसपास निर्मित ग्रंथ है जो संस्कृत भाषा में लिखा गया था। इस ग्रंथ का वाचन जन साधारण के लिए कठिन कार्य था जो पूज्य गुरूवर आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज के पुरूषार्थ देशना ग्रंथ के प्रकाशन से सहज हो गया तभी तो आचार्यश्री कहते हैं निर्ग्रथों की उपासना ही संग्रथों का मोक्ष मार्ग है।

परम पूज्य 108 रत्न वाणीभूषण आदर्श श्रमण आगम ज्ञान के कोष श्री विशुद्धसागरजी मुनिराज आध्यात्म ज्ञान कलश से मंडित अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी और आदर्श चर्या के धारक युवा संत हैं। आपके द्वारा ग्रंथों की वाचना प्रवचन जन-जन की चेतना को झंकृत करता है, तत्व की गहराई को बोध कराता है। सरसवाणी के कारण प्रवचन पांडाल सभागार में विपुल जन समुदाय रहने पर भी शांत-सन्नाटा व्याप्त रहता है। आचार्य श्री बारम्बार सुधि श्रोताओं से सहजता से पूछते है कहाँ खो गए मनीषियों क्या हो गया वाणी का प्रवाह श्रोताओं को एक-एक शब्द की सार्थकता से बाँधे रखता है। आचार्यश्री ने प्रवचनों को आत्मसात करने वाले सुधि पाठकों द्वारा अनेक ग्रंथों का प्रकाशन पुन: प्रकाशन निरंतर किया जा रहा है।

धर्म नगरी अशोकनगर में आचार्यश्री संघ का वर्षावास जन्मों के संचित पुण्यों के प्रतिफल के रूप में जैन सुधि श्रावकों को ही नहीं जैनेत्तर समाज को भी चिरस्मरणीय रहेगा। प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा श्रावकों तथा साधुओं को सम्यक चर्यापूर्वक अहिंसा व्रत के पालन में हो रही भूलों का दिग्दर्शन कराया गया है। हम नित्य प्रति जीवन में अपने अशुद्ध आचरण से कितनी जीव हिंसा करते है इसकी विशद विवेचना की गई है। जिसे ज्ञात कर हमारे अंतस की बंद आँखें खुल जाती है। ग्रंथ में ऐसे अनेक मार्मिक प्रसंग वर्णित है जिन्हें पढकर/आचार्यश्री से सुनकर प्रत्येक मुमुक्ष का हृदय करूणा भाव से आप्लावित हो जाता है। ऐसे महान संत के महाग्रंथ से जन-जन का कल्याण होना निश्चित है। ग्रंथ के चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन का पुनीत भाव अखिल भारतीय श्रमण सेवा समिति जो कि आचार्यश्री का साहित्य प्रकाशन करवाने हेतु कटिबद्ध है की संस्कारित भावना से आचार्यश्री के मंगलाशीष से सुवि श्रोताओं तक पहुँचाने का विनम्र प्रयास है।

आचार्य गुरूवर की वाणी का सुनकर चर्या को देखकर अंतस में रही भाव मानस को आंदोलित करता है। आचार्यश्री विशुद्धसागरजी वर्तमान युग के आचार्य भगवान है। आचार्यश्री को सुनते और पढते हुए हमारा मन आत्म कल्याण की ओर अग्रसर होने का आतुर हो जाता है। हमारी मंगल भावना है कि आचार्यश्री की ज्ञान गंगा का प्रवाह युगों-युगों तक हमारा मार्ग प्रशस्त करता रहे। हम पुन: आर्शीवाद के आकांक्षी है। आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज के, जिनके समय में श्रमण संस्कृति जयवंत एवं नमोऽस्तु शासन जयवंत हो रहा है। अत: अखिल भारतीय श्रमण सेवा समिति अपने हृदय की गहराईयों से अत्यंत भक्तिभावपूर्वक उन्हें ससंघ कोटिश: नमोऽस्तु निवेदित करता है।

मंगलाचरण

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिन :।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥१॥
अविरल-शब्दघनौघ-प्रक्षालित -सकलभूतल-कलङ्का।
मुनिभि-रूपासित-तीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥
अज्ञान-तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जन-शलाकया।
चक्षुरून्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

॥ श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥
सकलकलुष-विध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं
भव्य जीवमनः - प्रतिबोधकारकमिदं, शास्त्रं श्री इष्टोपदेश
नामधेयं अस्य -मूलग्रन्थकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तर
ग्रन्थकर्तारः श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधर देवास्तेषां
वचोऽनुसारमासाध्य आचार्य श्री देवनंदी विरचितं अस्य
भाषा टीकां आचार्य श्री विशुद्धसागर विरचितं एषः
इष्टोपदेश भाष्य नाम ग्रन्थः

॥ श्रोतारः सावधानतया श्रृण्वन्तु ॥
मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्व मंगल मांगल्यं, सर्व कल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम् ॥





मंगलाचरण

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।।१।।

अन्वयार्थः यत्र = जिसमें। दर्पणतल इव =दर्पण के सतह की तरह। सकला पदार्थ मालिका = समस्त पदार्थों का समूह। समस्तैरनन्तपर्यायैः समं = अतीत, अनागत और वर्तमान काल की समस्त अनन्त पर्यायों सहित। प्रतिफलति =प्रतिभाषित होता है। तत् = वह। परं ज्योतिः जयति = सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनारूप प्रकाश जयवन्त हो।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आज पावन सुकाल है, मंगलभूत है, जिस मंगलमय काल में अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की पावन–पीयूष वाणी आज 'वीरशासन जयंति' के दिन खिरी थी। अनेक जीव दृष्टि को लगाये बैठे हुये थे, हे प्रभु! आपका रूप तो उपदेश दे रहा है, परंतु मैं चाहता हूँ रूप का उपदेश तो आँखों ने सुना है, पर कर्ण प्यासे हैं। एक–दो दिन नहीं, पैंसठ दिन निकल चुके, तदनन्तर योग्य पात्र को देखते ही ओंकारमयी स्वर से वाणी खिरने लगी, "जिसमें सात तत्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय, छह द्रव्यों का कथन किया गया। अनेकान्त–स्याद्वादमयी वह जिनेन्द्र–वाणी आज के दिन ही खिरी थी, अतएव आज से महावीर स्वामी का शासन प्रारंभ हो गया। यह नियम है कि तीर्थंकर का शासन तीर्थंकर के जन्म से नहीं वरन् तीर्थंकर–प्रकृति के उदय से प्रारंभ होता है"और तीर्थंकर– प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में होता है, जहाँ केवलज्ञान –सूर्य उदित होता है। मिथ्यात्व का अंधकार नष्ट कर कैवल्य की जाज्वल्यमान किरणें उदित हुई। केवली भगवान के कैवल्य को होते ही देव निहारने लगे। एक जगह ऐसा भी उल्लेख है कि इन्द्रभूति बहुत बड़ा यज्ञ कर रहा था। वह अपने शिष्यों से बोला– यह याज्ञिक– धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। आकाश की ओर निहारो कि मेरी आहूति से प्रसन्न होकर देवता आ रहे हैं। परंतु देखते–देखते संपूर्ण देव आगे बढ़ गये, तो इन्द्रभूति सोचने लगा– क्या मेरे सिवाय और भी कहीं कोई यज्ञ हो रहा है? हे शिष्यो! आप मालूम करो कि किसका यज्ञ चल रहा है? एक शिष्य कहने लगा, हे स्वामी! नाथपुत्र का यज्ञ भी चल रहा है, वर्द्धमान को कैवल्य की प्राप्ति हुई है, उस कैवल्य की पूजा करने के लिए ही यह देवता वहाँ जा रहे हैं।

भो चेतन! विश्व में दुःखी व्यक्ति बहुत हैं; उनमें अनेक के दुःख का कारण है हीनभावना, जो वर्तमान का सुख नहीं भोगने दे रही है। भो ज्ञानी! जहाँ हीनभावना प्रारंभ हो जाये, वहाँ वर्तमान का सुख समाप्त हो जाता है, क्योंकि उसने भविष्य निहारा नहीं है और भूत, भूत हो चुका है तथा वर्तमान को हीनभावना में व्यतीत कर रहा है, इस प्रकार उसने अपने तीनों काल नष्ट कर दिये। अहो! भविष्य

तुम्हारे सामने है। जैसा वर्तमान का परिणमन होगा वैसा भविष्य बनेगा। भूत तेरा मर चुका है, भूत के बारे में सोचकर क्या तुम भविष्य को निर्मल कर सकोगे ? हीनभावना से भरे इन्द्रभूति के सामने एक शिष्य ने दौड़ते हुए आकर कहा–गुरुदेव ! वहाँ तो मनुष्यों एवं तिर्यंचों की पंक्तियाँ लगी हुई हैं और यहाँ तक कि बंदर, भालू, सिंह, नेवला तथा सर्प भी एकसाथ विचरण कर रहे हैं। तब वह देखने पहुँचते हैं तो देखते ही दंग रह गये, परन्तु मन में अहं और हीनभाव एकसाथ चल रहे हैं।

भो ज्ञानी! यह प्रभु वर्द्धमान का नहीं, यह वर्द्धमान की कैवल्यज्योति का प्रभाव था। श्वेताम्बर आगमग्रंथों में उल्लेख आया है कि तीर्थंकर महावीर स्वामी पर लोगों ने अनेक प्रकार के उपसर्ग किये, परंतु दिगम्बर आम्नाय में ऐसा उल्लेख नहीं है। सिद्धांत यह कहता है कि तीर्थंकर पर उपसर्ग नहीं होते ,किन्तु हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से अनहोनी घटनाएँ घट गई कि तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ और अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी पर उपसर्ग हुआ। तीर्थंकर की कन्यायें नहीं होती, लेकिन प्रथम तीर्थंकर की पुत्रियाँ हुई। चक्रवर्ती का मान भंग नहीं होता, परंतु प्रथम चक्रेश का मान भंग हो गया। तीर्थंकर का जन्म अयोध्या में ही होता है और निर्वाण सम्मेदशिखर में होता है। यही दो शाश्वत–भूमियाँ हैं। प्रलयकाल में भी यहाँ पर वज्र स्वस्तिक का चिन्ह रहता है। अयोध्या जन्मभूमि है, सम्मेद शिखर निर्वाणभूमि है। प्रत्येक भरतक्षेत्र में एक–एक अयोध्या और एक–एक सम्मेदशिखर होता है। पाँच भरतक्षेत्र हैं, पाँचों में अयोध्या और सम्मेदशिखर हैं। परन्तु हुण्डावसर्पिणीकाल के प्रभाव से ऐसी अनहोनी घटना हुई कि कुछ तीर्थंकरों का जन्म अन्य नगरी में हुआ और निर्वाण भी अन्य क्षेत्रों में हुआ। प्रथम तीर्थेश का निर्वाण कैलाशपर्वत पर हुआ।

भो ज्ञानियो! हुण्डावसर्पिणी के बहाने ऐसी अनहोनी घटना मत घटा देना कि पंचमकाल में भी तीर्थंकर होते है, अन्यथा अनर्थ हो जायेगा। तीर्थंकर किसी के कहने से नहीं बनेंगे और जो बन चुके हैं, वह किसी के कहने पर मिटेंगे नहीं। परंतु ध्यान रखना, जिनवाणी के अपमान से दर्शन मोहनीय कर्म का बंध करके सत्तर-- कोड़ाकोड़ी स्थिति बांधकर संसार में जरूर भटक जाओगे। इसलिए जिसे संसार से भय है, वही मुमुक्षु है। अहो! अग्नि एक ही पर्याय को जलायेगी, परंतु परिणामों का विपरीत परिणमन अनंत पर्यायों को नष्ट करेगा। इसलिए हुण्डावसर्पिणीकाल कहकर आप स्वेच्छाचारी मत बन जाना। इस काल में जो होना था, सब आगम में आ चुका है।

भो ज्ञानी! तीर्थंकर की देशना है कि पंचमकाल में धर्म–धर्मात्मा भी आपस में मिलकर नहीं रह सकेंगे, कषायों और अहंकारों के पोषण में गुट बनाकर यश प्राप्त करेंगे, परन्तु सिद्धांत है कि वह भी यशःकीर्ति नाम कर्म के उदय से ही मिलेगा, अन्यथा गुट क्या तुम महागुट बना लेना, भैया! कुछ नहीं होगा। तत्त्व तो वही है, जो जिनदेव ने कहा और उसे ही तत्त्व समझो। अहो! जिनवाणी स्याद्वादवाणी है, अनेक समीचीन नयों को लेकर, अनेकान्त का गुलदस्ता बनाकर भगवान महावीर स्वामी ने हमें पकड़ा दिया है। अंदर आप कैसे प्रवेश करेंगे ? आप 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' ग्रंथ में झांककर देखना–यह स्याद्वाद, अनेकान्त, अध्यात्म, चरणानुयोग का बगीचा है।

जिनवाणी माता कह रही है कि तुम मेरी भाषा तो समझो, हम तुमको भगाना नहीं, बुलाना चाहते हैं। तूने संसार की माताओं के आँचल का दुग्धपान तो अनेक बार किया है, एक बार मेरे आँचल का पान कर ले। तेरी माँ ने तो केवल दो आँचल पिलाये हैं, पर बेटा! मेरे आँचल चार हैं और यह चार



अनुयोग हैं, जो यही कह रहे हैं कि अपने प्रभु को सँभालो। आज वीरशासन– जयंति है। वीर प्रभु की प्रवचन सभा का नाम था समवसरण। जहाँ पर प्राणीमात्र के लिए समान शरण प्राप्त हो, वह समवसरण कहलाता है। जिस सभा में यह भेद नहीं कि चक्रवर्ती है कि तिर्यंच है। अहो! कैसी वे पुण्य वर्गणाएँ होगी प्रभु परमेश्वर की, कि एक ही घाट पर सिंहनी और गाय पानी पी रहे हैं। गाय का बछड़ा सिंहनी के आँचल का पान कर रहा हो और सिंहनी का बच्चा गाय के आँचल का पान कर रहा हो। यह थी वीर जिनेश्वर के समवसरण की महिमा। इसलिए जिनके शासन में आप विराजे हो उनके शासन की याद भर कर लिया करो, प्रभु! आपके शासन की यह महिमा थी कि जन्मजात– विरोधी जीव भी अपने बैर–विरोध को छोड़कर पहुँच गये थे और सभी परमेश्वर को एकटक निहार रहे थे। हे प्रभु! आपकी देशना में क्या खिरनेवाला है? उसी समय गौतमस्वामी ने ने वर्द्धमान तीर्थंकर के समवसरण में पहुँच कर नमन किया। अहो! गौतमस्वामी का पुण्य भी कम नहीं था कि जिनके बिना तीर्थेश की वाणी नहीं खिरी थी।

भो ज्ञानी! सुनना तो सभी चाहते हैं, परंतु प्रश्न करने की क्षमता सबके अंदर नहीं होती। साठ–हजार प्रश्न किये थे राजा श्रेणिक ने। उन्होंने साठ हजार प्रश्न करके अपना ही कल्याण नहीं किया वरन् हम सभी का भी कल्याण किया है। कभी–कभी प्रश्नकर्ता के प्रश्नों से पता नहीं कितने लोगों की गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। अहो! कितने जीवों के 'शंका' नाम के अतिचार को राजा श्रेणिक ने नष्ट कर दिया। वह पूछता है, हे प्रभु! यह यतिधर्म, श्रावकधर्म और सर्वांग अनेकांत वस्तु क्या है? धर्म का स्वरूप क्या है? और, प्रभु! लोक में नमन करूँ तो किसे करूँ? प्रभु! ऐसी युक्ति बताओ कि चौबीसों की वंदना हो जाये, साथ में अनन्तानन्त सिद्धों की भी वंदना हो जाये। अहो! यह भूमिका अमृतचंद्र स्वामी पुरुषार्थसिद्धयुपाय में निभा रहे हैं, नमस्कार कर रहे, पर किसी का नाम नहीं ले रहे हैं, क्योंकि विवाद नमन में नहीं है, नाम में है। अतः ,इस मंगलाचरण में अनेकान्त को प्रकट कर दिया–"वंदे तद्गुण लब्धये" ,यह गुणों को ही नमन हैं, क्योंकि गुणी, गुण के बिना नहीं होता और गुण, गुणी के बिना नहीं।

भो चेतन! यह श्रमणसंस्कृति है, वंदना करने जा रहे, बंध करने नहीं। ऐसी वंदना आज से तुम बंद कर दो, जिसमें बंध होता हो। अतः तुम झुकना सीखो, मंदिर में जाना चाहते हो तो छोटे बनकर प्रवेश करो, झुक जाओ। ध्यान रखना, जब तक यह जिनालय रहेंगे, तब तक जिन शासन जयवंत रहेगा। जिनालय की स्थापना का उद्देश्य ही होता है कि जिनशासन जयवंत हो। धर्म– आयतन नहीं होंगे तो धर्मात्मा भी नहीं होंगे, तो फिर धर्म किस बात का? अहो! धर्म– आयतन और धर्मात्मा की रक्षा से ही धर्म की रक्षा है। अतः ,गुणों को नमस्कार कर लो तो गुणी की वंदना सहज हो जायेगी।

भो ज्ञानी! तत्ज्योति जयवंत हो, परमज्योति जयवंत हो। वह केवलज्ञान ज्योति जैसे अर्हंत वर्द्धमान स्वामी की है, वैसे ही आदिनाथ स्वामी की है। जैसे आदिनाथ स्वामी की है वैसे ही अनतांनत सिद्ध भगवन्तों की है। इसलिए कद को मत देखना। कद को देखोगे तो तीर्थंकर आदिनाथ स्वामी की अवगाहना पाँच सौ धनुष की, उनके पुत्र बाहुबली स्वामी की सवा पाँच सौ

धनुष की और भगवान महावीर स्वामी की सात हाथ की है और साढ़े– तीन हाथ के भी केवली भगवान होते हैं। साढ़े– तीन हाथ की जघन्य अवगाहना अर्हंत भगवान की भी होती है। अहो! तुमने



प्रतिमा की अवगाहना देखकर प्रभु के गुणों में लघुता/प्रभुता का भेद कर लिया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हाथ से साढ़े– तीन हाथ का है, परंतु ध्यान रखना, जो सर्वार्थसिद्धि का देव होता है, उसका मूल शरीर मात्र एक अर्तनी प्रमाण होता है। विक्रिया से वह उसे बहुत विशाल बना सकते हैं।

भो ज्ञानी! अब सोचो। विक्रिया धारी जीव की गति, शरीर, अवगाहना आदि–इसमें ऊपर–ऊपर जाति के देव हीन होते हैं। जितना श्रेष्ठ व्यक्ति होगा, उसको अभिमान कम होगा और जो जितना हीन व्यक्ति होगा, उसको अभिमान उतना ही ज्यादा होगा। सोचो, भूत–व्यंतर आदि सामान्य देव घूमते हैं, परंतु उच्च जाति के देव इधर–उधर नहीं घूमते, अपने स्वर्गों में ही रहते हैं और न तो एक देव दूसरे देव को आज्ञा देते हैं, न किसी की आज्ञा का पालन करते हैं, जैसे आपकी रसना– इंद्रिय घ्राण से कहे मैं थक गयी हूँ, तुम मेरा काम कर देना, तो कह देगी–सुनो, मैं स्वतंत्र हूँ , मैं अपना काम करूँगी, तुम अपना काम करो। अर्थात् एक इंद्रिय दूसरी इंद्रिय का कार्य नहीं करती है, ऐसे ही स्वर्गों में एक अहमेन्द्र दूसरे अहमेन्द्र का कार्य नहीं करता। आज्ञा भी नहीं पालता और आज्ञा भी नहीं देता। अहो! सबसे ज्यादा दुख आज्ञा पालन में हैं। कभी–कभी सम्राट से ज्यादा वैभव सेठ के पास होता है, परंतु सेठ को अपनी सीमा में रहना पड़ेगा और सम्राट का अपने देश पर आदेश चलेगा। भो ज्ञानी! तेरे शरीर में इंद्रियों के बीच मन– सम्राट बैठा है, जो आज्ञा दे रहा है, वह स्वामी है इंद्रियों का, परंतु ध्यान रखना, प्रजा एक मत हो जाए तो सम्राट को झुकना पड़ता है। यदि इंद्रियाँ कह दें कि अब असंयम का सेवन नहीं चलेगा तो मन को भी शांत बैठना पड़ता है।

भो ज्ञानी! वास्तव में स्वामी तो स्वयं चेतन्य– द्रव्य है, परन्तु विपरीत आचरण के कारण, अनादि से मोह की दशा में लिप्त है। आत्मा की परिणति से ही मन एवं इंद्रियां काम कर रही हैं। अतः, इन्द्रियों को दोष मत देना, मन को दोष मत देना। दोष देना है, तो इस अशुद्ध चेतना को देना। यदि यह अशुद्ध चेतना निर्मल हो जाए तो इंद्रियॉ तो अर्हन्त की भी होती हैं, पर उन्होंने मोहनीय कर्म को जीत लिया है। इसलिए मन –सम्राट को पकड़ लो, सेना को मत मारो, अब इंद्रियों को कुचलने की कोई आवश्यकता नहीं है। अहो! आत्मा की सिद्धि का जिसमें उपाय लिखा हो वह है पुरुषार्थ– सिद्धयुपाय। जैसी–जैसी पर्यायें हो रही हैं, होनी हैं और हो चुकी हैं, वह सब केवली के ज्ञान में झलक रही हैं। तीनों लोक केवली के ज्ञान में झलकते हैं, जैसे दर्पण के सामने पदार्थ झलकते हैं, प्रतिबिम्ब झलकता है। फिर भी ध्यान रखना, ये दर्पण में झलक रहे हैं, पर तुम्हारे मति व श्रुत ज्ञान अपने दर्पण में नहीं झलक रहे हैं, वर्ना यह अज्ञानी अपने ज्ञान में केवली के ज्ञान को झलकाने लग जाये।

भो ज्ञानी! गुण की प्रधानता से कथन चल रहा है। पंद्रह श्लोकपर्यन्त आप लोगों को बहुत एकाग्रचित्त होकर सुनना है। वर्तमान में श्रमणसंस्कृति में जितने विसंवाद खड़े हो रहे है, उन सारे के सारे विसंवादों की चर्चा इन पंद्रह श्लोकों में होगी, बड़ी सरल दृष्टि से होगी, क्योंकि एक हजार वर्ष तक आचार्य कुंदकुंद स्वामी के साहित्य पर किसी ने कलम नहीं चलाई। ये अमृतचंद्र स्वामी प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने आचार्य कुंदकुंद स्वामी को समझा और हमें समझाया है। अहो! जितने सहज कुंदकुंद स्वामी के सूत्र हैं, उतनी ही गहरी है अमृतचंद्र स्वामी की टीका। जैनदर्शन में प्रगाढ़ और प्रौढ़ भाषा यदि किसी की है तो, मनीषियो! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी की है। जयसेन स्वामी की भी आप सबके ऊपर अनंत कृ



पा है कि उन्होंने 'समयसार' को ऐसा बना दिया जैसे हम कथानक की वाचना कर रहे हों, एक–एक गाथा का, एक–एक नय का, स्पष्ट कथन कर दिया।

भो ज्ञानी! आज मनुष्य को ज्ञान का अजीर्ण हो रहा है। 'धवला' पुस्तक नौ में लिखा है–अविनयपूर्वक श्रुत का अभ्यास किया और कालाचार आदि का ध्यान नहीं रखा, तो ध्यान रखो, आपकी दुर्गति निश्चित है। विद्वान को रोगी देखा जा रहा है, घर में क्लेश देखा जा रहा है, परस्पर में विसंवाद देखे जा रहे हैं। कुछ रहस्य न होता तो हमारे आचार्य भगवन्त लिखते क्यों ? रात्रि के काल में 'षट्खण्डागम'– जैसे ग्रंथों के स्वाध्याय का पूर्ण निषेध है। चार्तुमास में जब बादल गरज रहे हों, बिजली तड़क रही हो, पानी बरस रहा हो तो सिद्धांत/सूत्र ग्रंथों का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। यदि इनका अष्टमी/चतुर्दशी की तिथियों में अध्ययन करें तो असमाधि होती है, क्योंकि यह पर्व के दिन हैं, इन दिनों में आपको बड़ा उत्साह रहता है, उत्साह में एकाग्रता भंग हो जाती है। इसी तरह दिग्दाह हो रहा हो, ओले गिर रहे हैं, उस समय परिणाम विच्छेद रहते हैं, अतः ऐसे काल में सिद्धान्त –ग्रन्थ का स्वाध्याय कर अनर्थ कर डालोगे। हम लड्डू खाकर आये हैं, पूड़ी–पापड़ खाकर आये हैं, ऐसी स्थिति में इनका स्वाध्याय नहीं करना, क्योंकि प्रमाद बढ़ेगा, प्रमाद बढ़ेगा तो तन्द्रा आयेगी और आप अर्थ का अनर्थ लगा देंगे। अतः कालाचार का स्वाध्याय में अवश्य ध्यान रखना चाहिये।





स्याद्वाद को नमस्कार

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।।२।।

अन्वयार्थः निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् = जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति–विधान का निषेध करने वाले सकलनयविलसितानां = समस्त नयों से प्रकाशित वस्तुस्वभावों के। विरोधमथनं=विरोधों को दूर करने वाले। परमागमस्य = उत्कृष्ट जैन सिद्धांत के। जीवं = जीव। भूत, अनेकान्तम् = एकपक्ष–रहित स्याद्वाद को। अहम् नमामि = मैं (अमृतचन्द्र सूरि) नमस्कार करता हूँ।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भव्य बंधुओ अंतिम तीर्थेश वर्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी के माध्यम से जिनदेव की परम– समरसी भावयुक्त पीयूषवाणी का पान कर रहे हैं। अहो ! कैसा मधुर अमृत है, जिसे महिनों से कर्णाञ्जुलि से पी रहे हैं, फिर भी तृप्ति नहीं हुई। प्रतिदिन–प्रतिक्षण,नवीन–नवीन अवेदन हो रहा है, अनंत संसार की वेदना शांत हो रही है। यही तो जिनदेव की वाणी का प्रभाव है।

प्रथम श्लोक में मंगलाचरण करते हुए परमज्योति की वंदना की है, जिसमें लोकालोक के चराचर पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, दर्पण के सदृश सम्पूर्ण ज्ञेयों का बिम्ब झलक रहा है, फिर भी प्रभु निश्चयनय से 'पर' के ज्ञाता नहीं, स्वज्ञातत्व भाव से युक्त हैं। अतः निश्चयनय से अरहंतदेव आत्मज्ञ हैं, व्यवहारनय से सर्वज्ञ हैं। पर ध्यान रखना,यह नय–विवक्षा समझना, परंतु सर्वज्ञता पर कोई प्रश्नचिन्ह खड़ा नहीं कर देना। नियमसार जी में आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने भी शुद्धोपयोग अधिकार में कहा है :–

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।। १५९।।

अर्थात् व्यवहारनय से केवलीभगवान सबकुछ जानते और देखते हैं। निश्चयनय से केवलज्ञानी आत्मा को जानते और देखते हैं। यह चेतन की परमशक्ति है जो कि विश्व के समस्त ज्ञेयों/प्रमेयों को निज का विषय किये है। यह परमज्योति अरहंत–सिद्ध परमात्मा में हुआ करती है। जहाँ गुण का कथन होता है, वहाँ गुणी का कथन स्वमेव हो जाता है। इस कारण से समझना कि जहाँ पर परम–ज्योति यानि कि केवलज्ञान की वंदना की गई है, वहाँ पर गुणी अरहंत–सिद्ध परमेश्वर की वंदना स्वतः हो जाती है।

भो ज्ञानी! द्वितीय श्लोक में आचार्यदेव परमागम की वंदना कर रहे हैं। ज्ञानीजन उपकारी के उपकार का कभी विस्मरण नहीं किया करते। अहो ! कृतज्ञतागुण महान है। जैसे भिखारी के पास



अमूल्य रत्न दुर्लभ होते हैं; ऐसे ही ज्ञानीजनों में नानागुणों के होने पर भी एक कृतज्ञता गुण अतिदुर्लभ होता है। आगम –ग्रंथों में स्पष्ट लिखा है कि जब भी ग्रंथ का प्रारंभ करें, सर्वप्रथम मंगलाचरण करना चाहिए। नास्तिकता का परिहार, शिष्टाचार का पालन, पुण्य की प्राप्ति, निर्विघ्न कार्य की समाप्ति के निमित्त विज्ञपुरुष किसी भी श्रेष्ठ कार्य के प्रारंभ में मंगलोत्तम शरणभूत मंगलाचरण ही करते हैं। तद् परंपरा का ध्यान रखते हुए आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने मंगलाचरण किया। इस द्वितीय श्लोक में इष्टागम को नमस्कार कर रहे हैं, जो कि स्याद्वादशैली से युक्त है। अनेकांत/स्याद्वाद जैनदर्शन का प्राण है। अहो! विश्व के विवादों का विनाश तभी संभव है, जब स्याद्वाद का सूत्र अंतःकरण में घोष करेगा। वाणी में स्याद्वाद, दृष्टि में अनेकांत, चर्या में अहिंसा ये तीन श्रमण– संस्कृति के मूल सिद्धांत हैं। विश्व में कालदोष के कारण नाना मिथ्या–एकांत मतों का उद्भव हुआ, जो कि मात्र संसार–दृष्टि का हेतु है। भोले प्राणियों को संसार के गर्त में डालना मात्र जिसका परिणाम होगा।

अहो ज्ञानी! कर्म की विचित्रता तो देखो, जिस जीव ने कषाय के वेग से तीर्थेश आदिनाथ स्वामी के समवसरण में देशना का पान निर्मलभाव में नहीं किया, अहंभाव में आकर धर्मसभा छोड़कर, तीन सौ त्रेसठ मिथ्यामतों का सृजन कर अपनी आत्मा को दीर्घ–संसारी बना लिया। क्या कोई कहेगा, प्रभु! इन मिथ्या पंथों के जनक वर्धमान महावीर तीर्थंकर होंगे ? मारीचि की पर्याय में जिन पंथों को बनाया था, वर्धमान महावीर स्वामी बनकर भी उनको समाप्त नहीं कर सके। अहो! क्या कहें ? काल का दोष या फिर मारीचि की पर्याय का रोष? कुछ भी हो,जीवन में कभी ऐसी भूल मत कर जाना जिसे भगवान बनकर भी समाप्त नहीं कर सको। भगवान महावीर स्वामी के चरणों में प्रार्थना कर लेना, कि भगवान! आप तो संसार से तिर गये, परंतु मिथ्या– मतों का उपदेश समाप्त नहीं हुआ। ध्यान रखना, भगवन जिनेन्द्रदेव की वाणी समझ में नहीं आये तो कोई बात नहीं, परंतु जो मिथ्या–धारणा सामान्यजनों में आपके उपदेश से बनेगी, उसका हेतु आप होंगे। साथ ही अनंत जीवों को मोक्षमार्ग से च्युत कराने के हेतु भी होंगे। अतः ध्यान रखना, स्वयं की ख्याति के पीछे परमागम के मार्ग को, नमोस्तु शासन को विकृत नहीं कर देना।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी द्वितीय मंगलकारिका में ऐसी पीयूषवाणी की वंदना कर रहे हैं जो विरोध का मंथन करनेवाली है, सम्पूर्ण नयों से सुशोभित है। परमागम यानि उत्कृष्ट जैन सिद्धांत के मूलभूत 'ऐसे अनेकांत यानी एकपक्ष रहित स्याद्वाद को मैं ग्रंथकर्त्ता अमृतचन्द्र स्वामी नमस्कार करता हूँ।' वह स्याद्वादवाणी मिथ्या–एकांत का विरोध कैसे करती है? इस बात को आचार्यश्री दृष्टांत के द्वारा समझा रहे हैं। जैसे जन्म के अन्धे पुरुष हाथी के पृथक्–पृथक् अवयवों का स्पर्श करके, उनसे हाथी का आकार निश्चय करने में विवाद करते हैं, क्योंकि वे हाथी के एक–एक अंग को अपने–अपने हाथों के द्वारा स्पर्श करके जान रहे थे। जिस जन्मांध ने जो अंग छुआ उसे ही वह हाथी मान रहा था। जितने अंगों का स्पर्श किया, उतने प्रकार से उन्होंने हाथी की कल्पना की तथा एक दूसरे के प्रति द्वेष–भाव भी प्रकट करने लगे, क्योंकि प्रत्येक अंधा अपने द्वारा स्पर्शित अंग को हाथी बोल रहा था। देखना अज्ञानता का परिणाम, एकांगी–ज्ञान की विषमता। अहो! अधूरा ज्ञान अज्ञानता से ज्यादा घातक होता है और विपरीत–ज्ञान तो अधूरे से अधिक घातक हो जाता है।

अहो ज्ञानियो! लिखने–बोलने के पूर्व आगम–सिद्धांत को लख लेना चाहिए। जब तक जिनागम



अर्थात् न्याय, नय, निक्षेप, अध्यात्म, सिद्धांत का विशद् ज्ञान न हो, तब तक लेखनी चलाने तथा प्रवचन करने की भावना ही नहीं लाना। आज तक जो भी नवीन पंथों की स्थापना के हेतु देखे गये हैं, उन स्थापकों के साहित्य के आडोलन से यही ध्वनित हुआ है कि वह एक नय व निजी चिंतवन के ऊपर खड़ा किया गया मिथ्यामत है। आगम एकांत–नय को मिथ्या ही कहता है, क्योंकि अपेक्षाशून्य नय कभी भी सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते। जैसा कि कहा है :–

निरपेक्ष नया मिथ्या।। १०८– आ.मी.।।

कोई निश्चय को मुख्य मानता है, कोई व्यवहार को; पर सत्यता तो यह है कि एक–एक को माननेवाले दोनों स्वसमय से च्युत हैं। सम्यग्दृष्टि उभय नय को स्वीकारता है तथा मध्यस्थ रहता है। नय तो वस्तु –व्यवस्था को समझने की शैली है, वस्तु–स्वभाव नहीं हैं। वस्तु का स्वभाव तद्–तद् वस्तु का भाव है, जैसा कि आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है:–

तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य?
योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः।। स.सि.।२।टीका। ६।।

अर्थात् उसका भाव 'तत्त्व' कहलाता है। यहाँ 'तत्' पद से कोई भी पदार्थ लिया गया है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है, उसका उसरूप में होना, यही 'तत्त्व' शब्द का अर्थ है। इस प्रकार यहाँ इस बात का ध्यान रखना कि वस्तु का स्वभाव ही तत्त्व है। उस वस्तु–स्वभाव को समझने के लिए नयों का कथन किया जाता है। 'स्याद्वाद' कथनशैली है, अनेकान्त बहु–धर्मात्मक वस्तु है। अनेक धर्मों को एकसाथ कहा नहीं जा सकता, इसलिए सप्तभंगी– न्याय का उपयोग जैन दर्शन में किया गया है। सात नय,को सात जन्मान्धों के दृष्टांत से ही आचार्यश्री समझा रहे हैं। एक व्यक्ति ने हाथी के कान पकड़े, दूसरे ने आँख का स्पर्श किया, तीसरे ने सूंड़ पकड़ी, चौथे ने पीठ, पाँचवे ने पेट, छठवें ने पूँछ तथा सातवें ने पैर पकड़ा। सातों ही विसंवाद करने लगे कि हाथी तो हमने देखा है। जिसने कान पकड़े थे, वह कहता है हाथी तो सूपे–जैसा था। जिसने आँखें स्पर्शित की थी, उसे हाथी चने–जैसा लगा। जिसने पेट पकड़ा था,वह दीवार–जैसा हाथी को मानता है। जिसने पीठ पकड़ी, उसे चबूतरे–जैसा हाथी लग रहा था। पूँछ को स्पर्श करने वाले की दृष्टि में हाथी रस्सी जैसा था। सूंड़ को ग्रहण करने वाले की दृष्टि में मूसल जैसा था। एक–एक अंग को पकड़कर सातों जन्माँध परस्पर विसंवाद करने लगे तथा कहने लगे कि जो मैंने देखा वही सही है।

भो ज्ञानी! विसंवाद देखकर नेत्र– सहित विद्वान् मधुरवाणी में पृच्छना करता है– अहो! भोले प्राणियो! आप किस कारण से परस्पर में मैत्रीभाव का अभाव कर विसंवाद कर रहे हो? विद्वान् की बात सुनकर सातों ही मुखर हो गये, सभी अपने स्पर्शनजन्य ज्ञान के अनुभव से कहने लगे कि मैंने अपने हाथों से हाथी को स्पर्श करके देखा है। तभी ज्ञानीपुरुष ने विवेक से युक्तिपूर्वक विचार किया–यदि इनको सीधा समझाते हैं तो इनकी समझ में आनेवाला नहीं है, अतः इनको इनकी भाषा में ही समझाया जाए। वह कहता है–बंधुओ! आप सभी शांत होकर मेरी बात सुनो। जितने प्रकार से आप लोगों ने हाथी माना है, उतने प्रकार का हाथी नहीं है, परंतु उन सभी से रहित भी हाथी नहीं है। इस प्रकार सभी



जन्मांधों का विसंवाद समाप्त हो गया। अहो! आश्चर्य है कि जन्मांध शांत हो गये, परंतु मोहान्धों का विसंवाद दूर नहीं हो रहा। तत्त्व को समीचीन जानकर भी वस्तु के पर्याय–स्वरूप को समझना नहीं चाहते। अरे भाई! जैनशासन के स्याद्वाद, अनेकांतरूप अरहंत–दर्शन में एकांत दृष्टि वाले हठी धर्मात्माओं को स्थान ही कहाँ? यहाँ तो सम्पूर्ण विरोध को दूर करनेवाली अपूर्व स्याद्वाद शैली है। यदि व्यक्ति प्रत्येक पदार्थ को अनेकांत धर्म से देखना प्रारंभ कर दे, तो कोई विसंवाद ही न रहे।

भो ज्ञानी! एकांकी विचारधारा सम्पूर्ण विसंवादों की हेतु है। सम्यग्ज्ञानी, स्याद्वाद–विद्या के प्रभाव से यथावत् वस्तु का निर्णय कर भिन्न–भिन्न कल्पनाओं को दूर कर देता है। सांख्य–दर्शन वस्तु को केवल नित्य तथा बौद्धदर्शन क्षणिक मानता है, परंतु स्याद्वादी कहता है कि यदि सर्वथा नित्य है तो अनेक अवस्थाओं का परिणमन किस प्रकार होता है ? और यदि सर्वथा क्षणिक है, तो 'यह वही वस्तु है जो कि मैंने पूर्व में देखी थी' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान क्यों होता है ? पदार्थ द्रव्य –अपेक्षा नित्य और पर्याय –अपेक्षा क्षणिक ही है। स्याद्वाद से सर्वांग वस्तु का निश्चय होने से, एकांत श्रद्धान का निषेध होता है। अतः, सर्वप्रथम हमें यह समझना चाहिए कि स्याद्वाद का अर्थ क्या है ? स्यात् = कथंचित्, नय अपेक्षा से। वाद = वस्तु का स्वभाव, कथनशैली अर्थात् अपेक्षाकृत कथन करने की पद्धति का नाम ही स्याद्वाद –शैली है।

एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनयवाक्यतः।
सदादि कल्पना या च सप्तङ्गीति च सा मता।। पंचा. गाथा टीका–१४।।

अर्थात् एकही पदार्थ में बिना किसी विरोध के प्रमाण व नय के वाक्य से सत् आदि की कल्पना करना 'सप्तभङ्गी' कही गई है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने 'पंचास्तिकाय' ग्रंथ जी में सप्तभङ्गी का कथन किया:–

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वतत्त्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्त भंगं आदेस–वसेण संभवदि।। १४।।

अर्थात् द्रव्य विवक्षावश सात भेदरूप होता है। जैसे स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् उभय अर्थात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य। एक ही द्रव्य में सात भंग कैसे घटित होंगे ? ऐसा प्रश्न होने पर समझना चाहिए– कि मुख्य एवं गौण अपेक्षा से सातों भंग घटित हो जाते हैं। जैसे–एक राम पिता भी हैं, पुत्र भी हैं, भाई भी हैं, पति भी हैं,यहाँ राम एक हैं, परंतु संबंधों की अपेक्षा से अनेक रूप भी हैं। इस प्रकार सापेक्षता से अनेकांत–स्याद्वाद को कहा है। विशेष के लिए न्यायशास्त्रों का अध्ययन करना अनिवार्य है। आचार्य महाराज ने विरोधनाशक –शैली का कथन किया, उसे ही स्वीकारो।



तीन–लोक का नेत्र

लोकत्रयैकनेत्र निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्धियते विदुषं पुरूषार्थसिद्धयुपयोऽसम्।।3।।

अन्वयार्थः– लोकत्रयैकनेत्र =तीन–लोक संबंधी पदार्थों को प्रकाशित करने में अद्वितीय नेत्र। परमागमं = उत्कृष्ट जैनागम को। प्रयत्नेन =अनेक प्रकार के उपायों से। निरूप्य = जानकर अर्थात् परम्परा जैन सिद्धान्तों के निरूपपूर्वक। अस्माभिः =हमारे द्वारा। विदुषं =विद्वानों के लिए। अयं पुरूषार्थ सिद्धयुपायः=यह पुरूषार्थः–सिद्धि–उपाय नामक ग्रंथ। उपाद्धियते = उद्धार करने में आता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य भगवन् अमृतचंद्रस्वामी ने बहुत ही अनोखा संकेत दिया है। यदि जीव के भावों की हिंसा का विनाश हो जाता है तो द्रव्य की हिंसा छूट जाती है। भावों की हिंसा का हेतु कोई है तो वह एकांतदृष्टि है। **एकांतदृष्टि ही भाव– हिंसा है।** किसी जीव का वध करो या न करो, यदि आपने तत्त्व के विपरीत श्रद्धान किया है, तो आपने निज भावों का विनाश किया ही है। जब एकांत–दृष्टि बन जाती है, तो हम एक–दूसरे की सुनना पसंद नहीं करते हैं और उसका परिणाम यह होता है कि, जो मैं सोचता हूँ वही सच है। आप सोचते हो कि मैं सही हूँ। जब दोनों अपने–अपने को सही मानना प्रारंभ कर देते हैं, तो धीरे से एक–दूसरे को गलत कहना भी प्रारंभ कर देते हैं। परिणति यह होती है कि धीरे–धीरे तत्त्व–दृष्टि शत्रु–दृष्टि में बदल जाती हैं। फिर परिणाम यह होता है कि हम एक–दूसरे को मारने–पीटने को भी तैयार हो जाते हैं।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचंद स्वामी कह रहे हैं– **'विरोधमथनम्'** स्याद्वादशैली विरोध को नष्ट करने वाली है। स्याद्वाद को समझकर भी विरोध को नहीं छोड़ा तो वह जैनविद्या का ज्ञाता हो ही नहीं सकता। जब मन में ही संकल्प–विकल्प उठते हैं तो वचनों से कहना प्रारंभ होता है। जब तक मन में था, तब तक तो ठीक था और जब वचन में एकांत आ जाता है तो वहीं पर एक नये पंथ का जन्म हो जाता है। जहाँ पंथ का जन्म होता है, वहीं संत– स्वभाव का विनाश हो जाता है। जितनी शक्ति मुझे निज स्वरूप में लगानी थी, उस शक्ति का उपयोग पंथ के गठन में प्रारंभ हो जाता है। आचार्य अमृतचन्द स्वामी कहते हैं कि 'नय' कोई पहाड़ नहीं है। **नय यानि वक्ता का अभिप्राय।** क्योंकि जितने वचन–वाद हैं, उतने ही नयवाद हैं। आचार्य सिद्धसेन स्वामी ने 'सम्मत्त सुत्तं' में कहा है "जावदियं वयवादं तावदियं णयवादं"। उन वचनों को हम कैसे समझ पायें कि कौन किस दृष्टि से कह रहा है ? बस, अनेकांत लगा लो, सभी विसंवाद समाप्त हो जायेंगे।

भो ज्ञानी! आचार्य कुंदकुंद स्वामी कह रहे हैं कि जिसने एक आत्मा को जान लिया, उसने सबको



जान लिया है। उस एक आत्मा तक पहुँचने के लिए बहुत पुरुषार्थ करना होता है। उस एक को जानने का राजमार्ग एक ही है, परंतु गलियाँ इतनी ज्यादा बनी हुई हैं कि समझना तो एक को ही चाहता है, पर गलियों में प्रवेश करके राजमार्ग को छोड़कर वह राजधानी में प्रवेश करना चाहता है। इसलिए वे बता रहे हैं कि जितने नय हैं, वे सब गलियाँ हैं। उन सब गलियों को पार करते हुए एक राजमार्ग है, वह रत्नत्रय मार्ग है। उस रत्नत्रय–मार्ग के अभाव में आप चाहो कि मैं अनेक नयों को जानकर भी मोक्ष प्राप्त कर लूँ , तो भी प्राप्त नहीं कर सकते। नयों को इसलिए जानना है कि हमारा कुनय में प्रवेश न हो जाये। खोटे नय में प्रवेश से खोटा अभिप्राय आ जाता है। अतः वह मोक्ष को तो मानता है, आत्मा को तो मानता है, पर कोई जड़रूप मान रहा है, कोई सत्तारूप मान रहा है, कोई असत्तारूप मान रहा है। परंतु जिन–शासन सत्रूप मान रहा है। वह उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्त सत्दृष्टि है। इसलिए, हे योगी ! जब तू एक को जानने लगेगा, तो तू सर्व का ज्ञाता हो जायेगा और जब तक तू सबको जानेगा, तब तक तू सबका ज्ञाता नहीं होगा। जिसने एक विशुद्ध आत्मा को जाना है, उसने ही विश्व को जाना है और विशुद्धात्मा को जानने का उपाय है परमागम। **परमागम को जानने का उपाय है न्याय, नय, स्याद्वाद और अनेकांत।** भो चेतन! जब विचार में वैषम्यता प्रवेश कर जाती है, तो भाव– हिंसा, द्रव्य–हिंसा का जन्म हो जाता है। वैचारिक एकता बनी रहे, तो न भाव–हिंसा होगी, न द्रव्य– हिंसा। विचारों की विषमता से ही हिंसा का जन्म है।

माँ ने कहा कि पिताजी ऊपर हैं और बेटे ने कहा कि पिताजी नीचे हैं। अतः झगड़ा शुरू हो गया, हिंसा शुरू हो गई। भो ज्ञानी ! बेटे ने भी सत्य कहा था, माँ ने भी सत्य कहा था, क्योंकि पिताजी बीच की मंजिल में बैठे हुए थे। माँ से जब पूछा तो उन्होंने कहा ऊपर हैं, क्योंकि आपने नीचे से पूछा था। बेटा ऊपर बैठा हुआ था, उसने कहा–पिताजी नीचे हैं। वह भी सत्य है, क्योंकि पिताजी बीच की मंजिल में हैं। दोनों ने झूठ नहीं बोला, परंतु आपकी समझ नासमझ हो गई। अतः इस ग्रंथ को समझने के साथ–साथ शांत भाव बनाकर चलना, क्योंकि समय (आत्मा) को समझना है और समय नहीं दिया तो काम नहीं बनेगा। यदि बड़े भाई ने माँ से पूछा कि पिताजी कहाँ हैं ? माँ ने कह दिया ऊपर, छोटे भाई ने कह दिया नीचे। यह सुनकर यदि तुम थोड़ा समय दे देते तो आप माँ और छोटे भाई पर न झुंझलाते। अनेकांत यह भी कह रहा है कि मुझे समझना, परंतु समय देकर समझना। समय नहीं दोगे तो मुझे नहीं समझ सकोगे। पुनः समझना कि जब घर में बहुत सदस्य हैं और उन सबके अपने–अपने भाव हैं, तो सबकी बात आपको सुनना है। कोई कुछ कह रहा है, तो कोई कुछ कह रहा है। यदि आप समय को समझते हो तो कहना ठीक है, इनका यह सोच है, आपका क्या सोच है ? सबके सोच को सुन लो और सुनने के बाद निर्णय करो। यदि पहले ही निर्णय कर दिया तो आपसे दूसरा नाराज हो जायेगा। इसलिए, प्रश्न एक नहीं होता, प्रश्न सात होते हैं, इसी कारण इसका नाम सप्तभंगी है। इस विषय को बहुत गहरे में समझना है। यदि यह समझ में आ गया तो आप वास्तव में जैनदर्शन को समझते हो। जैनदर्शन की पहचान विश्व में स्याद्वाद से है और स्याद्वाद जिस दिन नष्ट हो गया उस दिन किसी देश का संचालन हो ही नहीं सकता।

भो ज्ञानी! दृष्टि में अनेकांत, वाणी में स्याद्वाद और चर्या में अहिंसा–यह जैनदर्शन का मूल आधार है। अनेकांत 'धर्म' है, वस्तु 'धर्मी' है, उस धर्म और 'धर्मी' को कहने वाली वाणी 'स्याद्वाद'



है। यह स्याद्वाद 'कथनशैली' है। इसमें ही नय एवं प्रमाण है अर्थात् श्रुतज्ञान में नय एवं प्रमाण होते हैं। केवलज्ञान 'प्रमाण' हैं, नय नहीं। स्याद्वाद–ज्ञान नय व प्रमाण दोनों ही हैं। अतः, शुद्ध द्रव्य में भी भंग लगेंगे, परंतु पर्यायदृष्टि और द्रव्यदृष्टि अथवा उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की अपेक्षा से। अहो! इस कथनशैली को समझकर आचार्य समन्तभद्र स्वामी, आचार्य विद्यानंद स्वामी, आचार्य अकलंक स्वामी आदि महान आचार्यों को पूरा जीवन अनेकांत /स्याद्वाद के लिए ही समर्पित करना पड़ा।

एक दिन प्रश्न आया कि, महाराजश्री! 'स्वामी' क्यों लगाते हैं ? भो ज्ञानी ! जिन्होंने मूल ग्रंथों की टीकायें की हों ,उन आचार्यो के नाम के आगे स्वामी लगाया जाता है। पंचपरमेष्ठी की दृष्टि से पाँचों ही परमेष्ठी तुम्हारे स्वामी हैं। लेकिन यह विषय न्याय का चल रहा है, नय का चल रहा है, यहाँ तुमको तर्क से चर्चा करनी पड़ेगी कि जिन्होंने मूल आचार्यों के मूलग्रंथों पर टीकाग्रंथ लिखे हों, उन आचार्यों के नाम के आगे **स्वामी** संज्ञा जोड़ी जाती है। जिनने कोई टीकाग्रंथ नहीं लिखे, उनके स्वतंत्र नाम तो होते हैं, पर 'स्वामी' शब्द नहीं जोड़ा जाता, जैसे कि अमृतचंद स्वामी, क्योंकि इन्होंने 'समयसार' ग्रंथ' पर 'आत्म–ख्याति' टीका लिखी और समन्तभद्र स्वामी के लिये जो स्वामी शब्द लगाया जाता है क्योंकि उन्होंने 'तत्वार्थ सूत्र' ग्रंथ पर 'गंधहस्ती–महाभाष्य' टीका लिखी, जो आज अनुपलब्ध है। उन्होंने जगत में स्याद्वाद–अनेकांत का डंका पीटा था, संपूर्ण भारत वर्ष में। इसलिए, मनीषियो! उनके लिए उपाधि दी गई थी 'स्वामी'। अकलंक देव महाराज ने 'तत्वार्थसूत्र' पर 'राजवार्तिक' टीका एवं पूज्यपाद स्वामी ने 'तत्वार्थसूत्र' पर 'सर्वार्थसिद्धि' टीका लिखी है जो दिगम्बर आम्नाय में सबसे पहली टीका है। अकलंकदेव ने सर्वार्थसिद्धि टीका के ऊपर टीका ग्रंथ लिखा, इसको 'वार्तिक' कहते हैं। आचार्य अकलंकदेव की प्रतिभा थी कि जो एक बार सुन लिया, याद हो गया।

भो ज्ञानी! अपन तो कंगूरों को निहार रहे हैं। यदि समंतभद्र, अकलंकदेव जैसे महान आचार्य नहीं होते, तो चोटी में गांठ बंधी होती। वह काल ऐसा था जिसमें कहा जाता था कि नमन करो अन्यथा गमन करो। यह प्रश्न था कि यह वीतरागी–शासन जयवंत कैसे रहेगा? पर जबतक समंतभद्र के इस शरीर में सांसें, हैं तब तक, हे प्रभो ! आपको छोड़करे नमन तो संभव नहीं है। है इतनी श्रद्धा ? है विश्वास ? तनिक सी फुंसी हो जाती है तो पता नहीं कितनी जगह सिर पटककर आ जाते हो। महाराजश्री! लोकव्यवहार है, लोकाचार है। अहो! सम्यक्त्व कहाँ ? क्योंकि यह लोकाचार नहीं है, लोकोत्तराचार है, यह मोक्षमार्ग की यात्रा है। इसलिए ऐसा ही दृढ़–सम्यक्त्वी लिख सका : **भयाशा–स्नेह–लोभाच्च, कुदेवागमलिङ्गिनाम्।**

प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः।। ३०–र.क.श्रा.।।

भो ज्ञानी! ध्यान रखो, जिसे लोक में जीना है वह लोकव्यवहार बनाकर चलें और जिन्हें लोक में नहीं जीना, सिद्ध बनके रहना है, ऐसा ज्ञानीआत्मा "प्रणामं विनयं चैव न कुर्यः शुद्धदृष्टयः" प्रणाम, विनय आदि भी नहीं करता, वह शुद्ध सम्यक्दृष्टि जीव है। हम मात्र आपस में ही शुद्धदृष्टि बन रहे हैं, आपस में कलुषता बढ़ा–बढ़ाकर शुद्ध सम्यक्दृष्टि बन रहे हैं। ओहो! तुमसे बड़ा तो कोई मिथ्यादृष्टि नहीं। जब समन्तभद्र स्वामी के सामने लोकविनय का प्रसंग आया तो बैठ गये ध्यान में, हे नाथ! क्या होगा? जिनशासन –रक्षणी, ज्वालामालिनी देवी प्रकट होकर कहती है– हे समन्तभद्र स्वामी ! 'चिंता



मा कुरू', आप चिन्ता मत करो! तुम्हारी दृढ़ श्रद्धा कभी च्युत नहीं हो सकती। समन्तभद्र प्रसन्न होकर बोले–राजन्! पिंडी नमस्कार सहन नहीं कर सकेगी, तो राजा ने पिंडी को बंधवा दिया था सांकलों से, हाथियों से। परंतु , भो ज्ञानी आत्माओ!

चंदप्रभं चंद्र–मरीचि–गौरं, चन्द्रं द्वितीयं जगतीवकान्तम्।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं, जिनं जित–स्वान्त–कषाय– बन्धम्।। (स्व.स्तो.)

जैसे ही 'वन्देऽभिवन्द्य' कहा, कि भगवान् चंद्रप्रभु स्वामी प्रकट हो गये। मनीषियो! जिनके अंतरंग में ऐसा निर्मल सम्यक्त्व लहरें ले रहा हो, ऐसे जीव आचार्य समतंभद्र स्वामी को आचार्यों ने भावी तीर्थंकर कहा है। उन्होंने 'स्वयंभूस्तोत्र, देवागम–स्तोत्र' लिखकर स्याद्वाद / अनेकांत का विस्तृत कथन किया है। 'अष्टसती' अकलंकदेव का एवं 'अष्ट–सहस्त्री' आचार्य विद्यानंद जी के 'देवागम स्तोत्र' पर टीकाग्रंथ हैं और ग्रंथकर्त्ता लिखने के बाद लिख रहे हैं कि यह तो अष्ट–सहस्त्री है, क्योंकि इतना गूढ़ हो गया, कि सामान्य लोगों को तो इसकी हिन्दी भी समझ नहीं आती। परंतु लिखना बहुत अनिवार्य था, क्योंकि कुछ लोगों को तत्त्व से प्रयोजन नहीं था, उन्हें कथ्य से ही प्रयोजन था।

भो चेतन! तथ्य को तथ्य ही समझना, तथ्य को कथ्य (कथनी) मात्र मत समझो। ये ध्यान रखो, यदि यह समझ में आ गया, तो आगे आत्मा भी समझ में आयेगी और संयम भी समझ में आयेगा। क्योंकि जिस वचन में कोई अर्थ निहित हो, जिस वचन में कोई तथ्य निहित हो, जिस वचन को सुनकर व्यक्ति के अंतरंग में विशुद्धता की लहर दौड़े, उसका नाम 'प्रवचन' है। इसलिए ध्यान रखना, कि **सच्चे देव, सच्चे गुरु का वचन 'प्रवचन' है, वही जिनवाणी है, वही जिनदेशना है और वही परमागम है।** जिसमें स्याद्वाद–शैली नहीं है, उसे 'परमागम' शब्द से अंकित मत करो।

उभयनय विरोध ध्वंसिनि स्यात्पदङ्के
जिन–वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै–
रनवमनयपक्षा क्षुण्णमीक्षन्त एव।। 4।। (अ.अ.क.)

अमृतचन्द्र स्वामी ने जब 'समयसार' के ऊपर 'अध्यात्म अमृत कलश' लिखा, तो सबसे पहले उन्होंने वहाँ पर भी स्पष्ट लिखा है, हे प्रभो ! आपका स्यात् पद विरोध का मंथन करने वाला है। स्यात् यानि कथंचित्, स्यात् यानि अपेक्षा और वाद् यानि शैली। जिसमें स्यात् पद जुड़ा होवे ऐसी शैली से चर्चा करना। इसलिए याद रखना, जैनदर्शन कहता है कि ऐसा 'भी' है, और एकांत हो तो, 'ही' लगाना। सब जगह स्याद्वाद भी नहीं लगता।

भो ज्ञानी! जो सम्यक् एकांत हैं, उन सभी का समूह ही अनेकांत है। यदि 'सम्यक' शब्द नहीं जुड़ा है तो वह एकांत मिथ्या है। एकांतनय ही मिथ्यात्व है। बोले–महाराजश्री। मैं तो भगवान् की पूजा करता हूँ, गुरुओं को भी दान देता हूँ ,लेकिन मैं यह लोक–परलोक नहीं मानता। भो ज्ञानियो! अब मिथ्यादृष्टि की खोज करने कहाँ जाऊँ ? समझना। करता सब कुछ हूँ , लेकिन यह नहीं मानता कि स्वर्ग होता है, नरक होता है, मोक्ष होता है। मिथ्यादृष्टि देवों के भवनों में भी अरिहंत देव की



प्रतिमायें होती हैं और वे देव भी अरिहंत की प्रतिमाओं की पूजा करते हैं, लेकिन वे मानते यही हैं कि यह मेरे कुल–देवता हैं। अरे! यह ध्यान रखना, जितने लोग भगवान् जिनेन्द्र की वंदना करें, जिनवाणी सुनें, इन्हें कुल–परम्परा मानकर नहीं, अपितु इन्हें धर्म की व्यवस्था मानकर करें। यदि कुल परम्परा मानकर चलोगे, तो कुल–परम्परा में कुल–गुरु बन जायेंगे, कुल देवता बन जायेंगे और कुल के शास्त्र बन जायेंगे, परंतु कुल–कोटियों का विनाश नहीं कर पायेंगे। कुल कोटियाँ साढ़े निन्नयानवे लाख करोड़ हैं। यदि इनमें भटकना नहीं है, तो उन्हें 'देवाधिदेव' मानकर पूजना।

भो ज्ञानियो! धर्म व्यवस्था का तात्पर्य यह भी मत मानना कि हमारी धर्म की व्यवस्था है। आप यह मानकर चलिए कि यह हमारे स्वभाव की व्यवस्था है। धर्म यानि वस्तु का स्वभाव। व्यवस्था धर्म के उद्देश्य से नहीं, निज–धर्म के उद्देश्य से करनी है। एक कहता है कि, मैं जिनदेव को तो मानता हूँ, पर जिनवाणी को नहीं मानता। अरे! जिनवाणी को नहीं मानता तो जिनदेव कहाँ से आये ? एक कहता है कि मैं जिनवाणी को मानता हूँ , जिनदेव को नहीं मानता। भो ज्ञानी! तुझमें भी अभी कुछ कमी है, और एक कहता है कि मैं जिनवाणी को मानता हूँ, जिनदेव को मानता हूँ परंतु गुरूदेव को नहीं मानता।

भो ज्ञानी आत्माओ! वीतराग–विज्ञान कह रहा है कि ध्यान रखो, सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और देव–शास्त्र–गुरु ये तीनों इकट्ठे जब तुम्हारे सामने होंगे, तभी चैतन्य–ज्योति का प्रकाश दिखेगा, अन्यथा प्रकाश दिखने वाला नहीं है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने पहले कैवल्यज्योति को नमस्कार किया, फिर परमागम को नमस्कार किया। अभी ग्रंथ प्रारंभ नहीं हुआ, भूमिका चल रही है। जिसकी भूमिका इतनी निर्मल होगी, वह ग्रंथ कितना निर्मल होगा। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी जो इतना गहन लिख रहे हैं, तो श्रद्धान कितना गहन होगा, और जब यह ग्रंथ लिख रहे होंगे तो उपयोग की कितनी निर्मलता में भरे होंगे, कितनी बार स्व–स्वरुप में स्पर्श कर रहे होंगे ? ध्यान रखना, प्रवचन से ज्यादा लेखन में विशुद्धी बनती है और जब विशुद्धि बनती है, तब तो भगवान् जिनेंद्र के शासन पर कलम चल रही होती है। भो ज्ञानियो! कवियों ने तो खोटे–काव्य लिख–लिखकर के इतने ऊँचे–ऊँचे पर्वत बना डाले, तो सुकवि आचार्य भगवंत कहते हैं कि हे नाथ ! जिनकी कुकाव्य लिखने में कलम नहीं थकी, तो मेरे सुकाव्य लिखने में कलम कैसे थक सकती है ? भर्तृहरि ने कितनी–कितनी उपमा दी हैं सो आप पढ़ लेना 'श्रृंगार शतक' में और फिर उन्हीं भर्तृहरि की पढ़ लेना 'वैराग्य शतक'। आप कहेंगे–यह 'श्रृंगार शतक' का लेखक कैसे हो सकता है? और जिसने 'वैराग्य शतक' पढ़ ली हो, फिर 'श्रृंगार शतक' पढ़ेगा वह कहेगा यह वैराग्य शतक के लेखक कैसे हो सकते हैं ? यह तो मनीषियो! बुद्धि का व्यायाम है। परंतु आचार्यों ने बुद्धि का व्यायाम नहीं किया, उन्होंने तत्त्व का व्यायाम किया है।

भो ज्ञानी आत्माओ! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने पहले ही कह दिया कि यह ग्रंथ 'विदुषां' (विद्वानों) के लिए लिखा जा रहा है, अज्ञानियों के लिए नहीं। हे विद्वानों! वही ज्ञान, ज्ञान है जिसमें संवेदन है, और जिसमें संवेदन नहीं, वह ज्ञान नहीं। जिसमें अनुभवन नहीं, वह ज्ञान तो अज्ञान है। इसलिए आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान हैं। पर यदि आत्मज्ञान में शून्यता है तो आगमज्ञान भी उसके लिए ज्ञान का काम कर जायेगा पर तुम्हारे लिए तो अज्ञान ही है।



"अज्ञानात् कृतम् पापम् सद्ज्ञानात् विमुच्यते।
ज्ञात्वाज्ञानं कृतम् पापम्, वज्रलेपो भविष्यते"।। सु.र.।।

भो मनीषियो! मैं आज बताये देता हूँ , ध्यान रखना कि यदि अज्ञान से कोई पाप हो जाये तो सम्यक्ज्ञान से छूट जाता है, पर यदि जान करके पाप कर रहा है तो वज्रलेप हो जाता है। अब पूछ लेना अपनी आत्मा से कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, छल, कपट, दम्भ ये पाप हैं कि नहीं ? इनसे दुर्गति होती है कि नहीं ? अब आपको मालूम चल गया कि छल–कपट आदि करने से पाप का बंध होता है और जानते हुए भी पाप करोगे, तो भो ज्ञानी ! नियम से वज्रलेप ही होगा। यहाँ 'ही' लगाना, 'भी' नहीं लगाना। इसलिए, यदि आपको अपनी आत्मा पर करुणा हो, तो आज से पाँचों पापों को छोड़ दो।

भो चेतन! परिग्रह को तो आपने पुण्य मान लिया है, आगम को पढ़कर देखना 'बह्वारम्भ–परिग्रहत्वं नारकस्याऽऽयुष'।। त.सू.।। अरे! जितनी–जितनी हिंसा आज तक हुई है, चाहे वह महाभारत काल में हुई हो, चाहे रामायण काल में, वह परिग्रह के कारण ही हुई है। इसलिए नारी भी परिग्रह है। देखो, रावण स्त्री– परिग्रह के पीछे नष्ट हो गया, हिंसा हुई। महाभारत किसके कारण हुआ? परिग्रह के पीछे, राज्य के पीछे। उसमें भी हिंसा हुई। भो ज्ञानी! परिग्रह को मूल में इसलिए रख दिया जैसे "णमो लोए सव्व साहूणं" अर्थात् नमस्कार–मंत्र के अंत में 'णमो लोए सव्व' पद रखकर लोक के सम्पूर्ण अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधू को ले लिया, इसी प्रकार से पापों का भी शिरोमणि परिग्रह है।

भो ज्ञानी! राजमार्ग यह है कि यदि आप गृहस्थ भी हो, तो कम से कम परिग्रह का परिमाण तो कर लो। यह हाय–हाय तो समाप्त हो जाये। करोड़ की मर्यादा कर लो। हम यह नहीं कह रहे तुम कम परिग्रह का परिमाण करो, लेकिन कम से कम शांति से तो बैठो, अन्यथा तीन लोक की संपदा तो तुम्हें मिलनेवाली नहीं है। जब आपको प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति पद मिलना ही नहीं है, तो भो ज्ञानी आत्माओ! यह पद भी परिग्रह में ही आते हैं। जब इन पदों की सम्भावनायें ही नहीं हैं, तो उन पदों का विसर्जन कर दो। ध्यान रखो, यदि आँख फूट जाये तो भी चिंता मत करना, परंतु श्रद्धा का नेत्र न फूटे और आगम न छूटे। यदि श्रद्धा का नेत्र फूट गया और आगम छूट गया, तो भो ज्ञानी ! तुम दो चश्में और लगवा लेना, लेकिन वह काम में नहीं आयेंगे। वह तो संसार को ही दिखायेंगे, जबकि श्रद्धा का नेत्र परमार्थ को दिखायेगा।

भो चेतन! यदि आपका वश चल जाता तो आप बड़ी तरकीब से आयुकर्म को पकड़ लेते और कहीं बंद करके रख देते। यदि कहीं पैसा देकर आयु बढ़ाई जाती, तो सब लोग रूखा–सूखा दाना खाकर सो लेते, पर पैसा इकट्ठा जरूर कर लेते। वह तो अच्छा हुआ कि कुछ व्यवस्था ऐसी है जो तुम्हारे हाथ की नहीं है। भो ज्ञानी आत्माओ! यदि अपना हित चाहते हो तो बस तत्त्व को समझो, तत्त्व–दृष्टि को समझो। इस हेतु श्रद्धा के नेत्र और आगम के नेत्र को सुरक्षित रखना।





उपदेशदाता आचार्य के गुण

मुख्योपचार विवरण–निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्।। ४।।

अन्वयार्थ : मुख्योपचारविवरण निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः = मुख्य और गौण कथन की विवक्षा से शिष्यों के गहरे मिथ्या–ज्ञान को दूर करने वाले 'महापुरुष'। व्यवहारनिश्चयज्ञाः = व्यवहार–नय व निश्चय–नय को जानने वाले ऐसे आचार्य। जगति = जगत में। तीर्थम् प्रवर्त्तयन्ते =धर्मतीर्थ को फैलाते हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भव्य बंधुओ! अंतिम तीर्थेश वर्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। भगवान् जिनेन्द्र के शासन में अनेकानेक श्रुतधारक आचार्य हुए, जिन्होंने अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा के द्वारा मिथ्यामार्ग का विच्छेद कर, सम्यक् बोध के दिव्य प्रकाश से जन–जन के मिथ्यात्व–तिमिर का नाश कर उनके मोक्षमार्ग को प्रशस्त किया। उन्हीं आचार्यों की श्रेणी में विराजे परमवंदनीय, समयसार के सार को उद्घाटित करनेवाले, अपूर्व आत्मविद्या के धनी आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने अपनी सम्पूर्ण प्रज्ञा का प्रयोग श्रुताराधना में लगाकर तीर्थंकर–देशना के रहस्यों को उद्घाटित किया। आचार्य कुंदकुंद भगवन् के समयसार को प्रकाश में लाने वाले सर्वप्रथम आचार्य अमृतचंद्र स्वामी हुए। जिनकी आत्मख्याति टीका एवं कलश ऐसे लगते है मानो महान समयसार–प्रासाद के ऊपर आत्मख्याति काव्य–कलशों के साथ विशाल कलशारोहण ही किया गया हो। आचार्यश्री ने टीका–ग्रंथ के अतिरिक्त मौलिक–ग्रंथों का भी सृजन किया। उन्हीं महान कृतियों में यह ग्रंथराज पुरुषार्थ सिद्धयुपाय भी है। इस ग्रंथ में श्रावक के बारह व्रतों का एवं संक्षेप में यति–धर्म का भी कथन है। इस ग्रंथ की यह भी विशेषता है कि अहिंसा का जितना विशद् वर्णन इस ग्रंथ में विभिन्न पक्षों से तर्क सहित समझाया गया है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। प्रारंभ में तो लगता ही नहीं है कि यह कोई श्रावकाचार ग्रंथ चल रहा है। न्याय, अध्यात्म, सिद्धांत, चरणानुयोग को आचार्यश्री ने एकसाथ सजाकर अपूर्व मणिमय ग्रंथराज का सृजन किया है।

इस चतुर्थ कारिका (श्लोक) में जगत में तीर्थ का प्रवर्त्तन कैसे हो, इस बात को समझाया गया है। तत्त्व को समझे बिना दूसरे के लिए सम्यक् बोध प्रदान नहीं किया जा सकता। श्रुत देने के पूर्व श्रुत की निर्मल आराधना अनिवार्य हैं। संशयादि दोषों से रहित ज्ञान ही सम्यक्ज्ञान है, किंतु लोकपूजा की दृष्टि से की गई ज्ञान–आराधना समीचीन नहीं है। मोक्षमार्गी–जीव बंध के हेतुओं से बचने हेतु श्रुतामृत का पान किया करता है तथा यही भावना रखता है कि संसार में व्याप्त अज्ञान–तिमिर का विनाश होवे, प्राणीमात्र वीतराग धर्म की ओर अपने कदम रखे, भूतार्थ मार्ग को समझे। संसारपंक से स्वपर रक्षा में संलग्न रहता है ज्ञानीजीव।

देखो, सत्यार्थ–प्रकाश के लिए आगम का ज्ञान अनिवार्य है। आगम ज्ञान के अभाव में तत्त्वोपदेश



नहीं करना चाहिए, कारण कि यदि कदाचित् किसी जीव को विपरीत देशना प्रदान कर दी तो उसका अहित तो होगा ही, साथ में स्वयं का भी अहित होगा। कारण कि स्वयं के द्वारा जिनदेव की आज्ञा के विपरीत कथन होने से स्वयं के सम्यक्त्व में दोष आता है। 'रयणसार' ग्रंथ में लिखा है कि जो व्यक्ति क्षयोपशमिक मतिश्रुत ज्ञान के बल से आगम में स्वछंद बोलता है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसका वचन जिनेंद्रदेव के मार्ग में आरूढ़ व्यक्ति का वचन नहीं है –

मदिसुदणाण–बलेण दु, सच्छंदं बोल्लदे जिणुदिट्ठं।
जो सो होदि कुदिट्ठी, ण होदि जिणमग्ग–लग्गरवो।।३–र.सा.।।

परन्तु सम्यक्दृष्टि जीव जिनदेव एवं आचार्य परम्परा के विरुद्ध कभी भाषण नहीं करता। वह आगमआधार से वचनालाप करता है।

पुव्वं जिणेहि भणिदं, जहदिट्ठं गणहरेहि वित्थरिदं।
पुव्वाइयरियक्कमजं, तं बोल्लदि जो हु सद्दिट्ठी।। २।। र.सा.।।

अर्थात् 'जैसा पूर्वकाल में जिनेंद्रों ने कहा, गणधरों ने जिस यथावस्थित वस्तुस्वरूप को विस्ताररूप से बताया और पूर्वाचार्यों की परम्परा से जो प्राप्त हुआ है, उसे ही जो कहता है, वह सम्यक्दृष्टि है।' सम्यक्दृष्टि जीव अपने प्रवचनों में जिनागम के बाहर कथन नहीं करता। नमोऽस्तु, शासन के पक्ष को दृढ़ करने की ही चर्चा करता है। यहाँ–वहाँ की बातों में समय निकालना श्रेष्ठ वक्ता का लक्षण नहीं है। वक्ता श्रेष्ठ वही है, जो सभा को देखकर मधुर–गम्भीर वाणी में जिनवाणी को सहजभाव से जन–जन के अंतःकरण में प्रवेश करा दे तथा सद्शास्त्रों के पढ़ने के लिए लोगों को वाचाल कर दे। श्रोता ग्रंथ पढ़कर निर्ग्रंथों के प्रति आस्थावान् हो जाए, वही सच्चा वक्ता है। आचार्य भगवन् इस कारिका में यही बतला रहे हैं कि जगत में तीर्थ की प्रवृत्ति कौन कर सकता है ? जो सम्यक् रूप से जिन–प्रवचन को जानता है तथा स्याद्वाद / नय– विद्या का पारंगत / कुशल प्रवक्ता, वाणी में माधुर्य, ओज की प्रधानता, समयानुसार भाषण करने वाला तथा निश्चय एवं व्यवहार, उभय नय को अपनी विषयवस्तु बनाने वाला, एकांतनय से अपनी वाणी की रक्षा करने वाला तत्त्वज्ञानी जीव ही जगत में शिष्यों के अज्ञान को दूर करने वाला ही तीर्थ का प्रवर्तन कर सकता है।

भो ज्ञानी! उपदेशदाता आचार्य में जिन–जिन गुणों की आवश्यकता है, उन सबमें मुख्य गुण व्यवहार और निश्चय नय का ज्ञान है, क्योंकि जीवों का अनादि–अज्ञान–भाव मुख्य कथन और उपचरित कथन के ज्ञान से ही दूर होता है, सो मुख्य कथन तो निश्चयनय के अधीन है और उपचरित कथन व्यवहार–नय के अधीन है।"**स्वाश्रितो निश्चयः**" अर्थात् जो स्वाश्रित (अपने आश्रय से) होता है, उसे "निश्चयनय" कहते हैं। इसी कथन को मुख्य कथन एवं परमार्थदृष्टि कहते हैं। इस नय के जानने से शरीर आदि परद्रव्यों के प्रति एकत्व–श्रद्धानरूप अज्ञान–भाव का अभाव होता है, भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है तथा पर–द्रव्यों से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्य–स्वरूप का अनुभव होता है, तब जीव परमानंद दशा में मग्न होकर केवलदशा को प्राप्त करता है। जो अज्ञानीपुरुष इसके जाने बिना धर्म में लवलीन होते हैं, वे शरीरादिक क्रियाकाण्ड को उपदेश जानकर संसार के कारणभूत शुभोपयोग को ही मुक्ति का साक्षात्



कारण मानकर स्वरूप से भ्रष्ट होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं। इसलिये मुख्य कथन को जानना, जो निश्चय नय के अधीन है। निश्चयनय को जाने बिना यथार्थ उपदेश भी नहीं हो सकता। जो स्वयं ही अनभिज्ञ है, वह कैसे शिष्यजनों को समझा सकता है? किसी प्रकार नहीं।

भो ज्ञानी! यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना कि जो शुभोपयोग को संसार का हेतु कहा है, वह सर्वथा नहीं समझना। सम्यक्दृष्टि जीव का निदान रहित शुभोपयोग तो परम्परा से मोक्ष का ही हेतु है, परन्तु निर्वाण का साक्षात हेतु शुद्धोपयोग ही है। अतः व्यवहार क्रियाओं में संतोष धारण नहीं करना चाहिए। परमार्थ पर दृष्टि प्रतिक्षण बनाकर मुमुक्षु जीवों को चलना चाहिए, अन्यथा भूतार्थ स्वरूप से अपरिचित ही रहेगा, अनादि से परिचय में आये विषय–कषायरूप परिणामों से ही सम्बंध रहेगा। कौन चाहता है कि श्रेष्ठ व्यक्ति व वस्तु से मेरा सम्बंध– विच्छेद हो, पुद्गलमय कर्म, परमेश्वरमय आत्मा को क्यों छोड़ेंगे? अतः, निश्चयनय को समझना अनिवार्य ही है।

भो ज्ञानी! व्यवहारनय "पराश्रितो व्यवहारः" जो पर–द्रव्य के आश्रित होता है, उसे व्यवहार कहते हैं और पराश्रित– कथन उपचार कथन कहलाता है। उपचार कथन का ज्ञाता शरीरादिक सम्बंध–रूप संसारदशा को जानकर संसार के कारण आस्रव– बंध का निर्णय कर मुनि होने के उपायरूप संवर–निर्जरा तत्त्वों में प्रवृत्त होता है, परंतु जो अज्ञानी जीव इस व्यवहारनय को जाने बिना शुद्धोपयोगी होने का प्रयत्न करते है, वे पहले ही व्यवहार– साधना को छोड़, पापाचरण में मग्न हो, नरकादि दुःखों में जा पड़ते हैं। इसलिये व्यवहार– नय का जानना भी परमावश्यक है। अभिप्राय यह है कि उक्त दोनों नयों के जाननेवाले उपदेशक ही सच्चे धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक होते हैं। जो एक नय का पक्ष लेता है, वह दूसरे का घातक हो जाता है। कथनशैली में प्रधानता तथा गौणता तो आ सकती है, परंतु गौणता के स्थान पर अभाव नहीं होता, यही जैनदर्शन की अनेकांतशैली है। जो व्यक्ति नय–विवक्षा को नहीं जानता, वह निश्चय एवं व्यवहार उभय तीर्थ का घातक होता है। कहा भी है–

जइ जिणमयं पवज्जइ ता मा ववहारणिच्छए मुंअट्ट।
एकेण विणा छिज्जइ, तित्थं अण्णेण पुण तच्वं।। अ.ध.।। पृ–१८।।

अर्थात् यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करता है तो व्यवहार–निश्चयनय को मत छोड़। यदि निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ देगा तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव हो जायेगा और यदि व्यवहार का पक्षपाती होकर निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्ध तत्त्वस्वरूप का अनुभव होना दुष्कर है। इसलिये व्यवहार और निश्चय को अच्छी तरह जानकर पश्चात् यथायोग्य अंगीकार करना, पक्षपाती न होना, यह उत्तम श्रोता का लक्षण है। यहाँ पर यदि कोई प्रश्न करे कि जो गुण (निश्चय–व्यवहार का जानना) वक्ता का कहा था वही श्रोता का क्यों कहा? तो उत्तर यही समझना है कि वक्ता के गुण अधिकता से रहते हैं और श्रोता में वे ही गुण अल्परूप से रहते हैं। अतः पुनः समझना धर्मतीर्थ के प्रचार हेतु उभय नय का ज्ञान अनिवार्य ही है। इसके बिना उपदेश देने का भी अधिकार नहीं है। इस प्रकार समझकर स्वपर कल्याण के इच्छुक को सतत् नय अभ्यास करते रहना चाहिये।



भूतार्थ दृष्टि

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः।। ५।।

अन्वयार्थ : इह = इस (ग्रंथ में)। निश्चयं भूतार्थं = निश्चयनय को भूतार्थ। व्यवहारं अभूतार्थं = व्यवहारनय को अभूतार्थ। वर्णयन्ति = वर्णन करते हैं। प्रायः = प्रायः। भूतार्थबोधविमुखः = भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है वह। सर्वोऽपि = समस्त ही संसारः = संसारस्वरूप है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो जगत में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन वही करा सकता है जो निश्चय और व्यवहार नयों का ज्ञाता हो और दोनों नयों को आधार मानकर चले। एक नय का ही आश्रय करने वाला कभी भी धर्मतीर्थ को न तो समझ सकेगा और न ही प्रवर्तित कर सकेगा। जो धर्मतीर्थ को ही नहीं समझ सका वह आत्मतीर्थ को भी नहीं समझ सकता। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने "पुरुषार्थ सिद्धयुपाय" ग्रंथ की चौथी कारिका में यही बात कही कि मुख्य और उपचार के कथन द्वारा ही शिष्यों का दुर्निवार अज्ञान– भाव नष्ट किया जा सकता है तथा निश्चयनय और व्यवहारनय के जानने वाले आचार्य ही धर्म तीर्थ को जगत में प्रवर्तित करते हैं।

भो ज्ञानी! "आलाप पद्धति" में आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म को अर्थात् अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। अध्यात्म– भाषा में मूलरूप से नय के दो भेद हैं–निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनय का विषय 'अभेद' है, व्यवहारनय का विषय 'भेद' है। अभेद के विषय के आधार पर भी निश्चयनय के दो भेद होते हैं। जो नय कर्मजनित– विकार से रहित गुण–गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है,वह शुद्ध निश्चय नय है, जैसे "केवलज्ञानस्वरूपी जीव अथवा केवलदर्शनस्वरूपी जीव।" जो नय कर्म –जनित, विकार सहित गुण–गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है, वह अशुद्ध निश्चयनय है, जैसे मतिज्ञानादि– स्वरूपी जीव अथवा रागीद्वेषी जीव। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी इस ग्रंथ की पाँचवीं कारिका में नय की बहुत गहरी गुत्थी को सुलझाने जा रहे हैं–जिससे वर्द्धमान स्वामी के तीर्थकाल में शिष्यों का दुर्निवार अज्ञानांधकार नष्ट होकर जगत में धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन पंचमकाल के अंत तक चलता रहे।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचंद्र महाराज इस कारिका में निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहार– नय को अभूतार्थ बताते हुए कहते हैं कि भूतार्थ के बोध से विमुख प्रायः सब ही संसारी जीव है। अतः, इस ग्रंथ में "अबुधस्य बोधनार्थं" अर्थात् बोध से रहित जीव को व्यवहार के स्वरूप का बोध हो जाने से उसका दुर्निवार संसार– स्वरूप नाश को प्राप्त हो जाता है। अतः हमें यह समझना अत्यंत आवश्यक हो जाता है कि अध्यात्म ग्रंथों में व्यवहार को अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा, इसका क्या अर्थ है ? मनीषियो!



अभूतार्थ का अर्थ निदान रहित 'झूठा' मात्र नहीं होता, क्योंकि मोक्षमार्ग में 'अ' उपसर्ग का अर्थ 'ईषत्' होने से अभूतार्थ/असत्यार्थ का अर्थ 'तात्कालिक प्रयोजनवान' माना गया है। आचार्य जयसेन स्वामी ने 'समयसार' ग्रंथ की टीका करते हुए कई स्थानों पर लिखा है कि व्यवहारनय असत्यार्थ होने पर भी, साधक को उसकी भूमिका के अनुसार प्रयोजनवान है। निर्विकल्प समाधि में निरत होकर रहने वाले सम्यग्दृष्टियों को भूतार्थ स्वरूप ही प्रयोजनवान माना गया है, किन्तु उन्हीं निर्विकल्प– समाधिरतों में से किन्ही को सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व–कषायरूप दुर्ध्यान को दूर करने के लिये व्यवहारनय भी प्रयोजनवान होता है। ''आलाप पद्धति'' में आचार्य देवसेन स्वामी ने एक सूत्र दिया है :–''मुख्याभावे सतिप्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्त्तते'' (२१२) अर्थात् मुख्य के अभाव में प्रयोजनवश उपचार की प्रवृत्ति होती है। भो ज्ञानी! आगम एवं अध्यात्म– भाषा में व्यवहारनय के कई भेद किये हैं। जब तक इनकी गुत्थी नहीं सुझलती है तब तक मोक्षमार्ग पर आरोहण नहीं हो पाता। अध्यात्म– अपेक्षा व्यवहारनय के दो भेद किये गये हैं–सद्भूत व्यवहारनय एवं असद्भूत व्यवहारनय। ''एक वस्तु को विषय करनेवाला सद्भूत व्यवहार नय है और भिन्न वस्तुओं के विषय को ग्रहण करने वाला असद्भूत व्यवहार नय है।'' सद्भूत व्यवहारनय के उपचरित और अनुपचरित नामक दो भेद हैं। ''कर्मजनित विकारसहित जीव के गुण–गुणी के भेद को विषय करने वाला उपचरित– सद्भूत– व्यवहारनय है, जैसे जीव के मति ज्ञानादिक गुण।'' यह 'अशुद्ध सद्भूत व्यवहार' नय शब्द से भी जाना जाता है,जैसे जीव के राग द्वेष आदि हैं।

''कर्मजनित विकार से रहित जीव के शुद्ध गुण–गुणी के भेदरूप विषय को ग्रहण करने वाला अनुपचरित– सद्भूत– व्यवहारनय है, जैसे जीव के केवलज्ञानादि गुण।'' इसे ''शुद्ध– सद्भूत व्यवहारनय'' शब्द से भी जाना जाता है। सद्भूत की तरह ''असद्भूत– व्यवहार के भी दो भेद हैं–उपचरित असद्भूत एवं अनुपचरित– असद्भूत।'' संश्लेष–सम्बन्ध से रहित ऐसी भिन्न–भिन्न वस्तुओं का परस्पर में सम्बन्ध ग्रहण करना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है–जैसे देवदत्त का धन, देवदत्त की स्त्री, आत्मा, घट– पट और रथ आदि का कर्त्ता है। संश्लेष सहित भिन्न–भिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करने वाला अनुपचरित– असद्भूत– व्यवहारनय है, जैसे जीव का शरीर, आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्त्ता और उसके फलस्वरूप सुख–दुःख का भोक्ता है। जीव यथा सम्भव द्रव्यप्राणों से जीता है।

भो ज्ञानी! आगम की भाषा में असद्भूत– व्यवहार नय तीन प्रकार का कहा है (1) स्वजाति असद्भूत (2) विजाति असद्भूत (3) स्वजाति–विजाति असद्भूत।

(1) परमाणु को बहुप्रदेशी कहना स्वजाति असद्भूत व्यवहारनय का उदाहरण है।

(2) मतिज्ञान मूर्त है, क्योंकि मूर्त द्रव्य से उत्पन्न हुआ है, विजातिअसद्भूत व्यवहार नय है

(3) ज्ञान का विषय होने के कारण जीव–अजीव ज्ञेयों में ज्ञान का कथन करना स्वजाति–विजाति– असद्भूत– व्यवहारनय है।

इसी प्रकार आगम भाषा में उपचारितअसद्भूत– व्यवहारनय के भी तीन उपनय कहे गये हैं। जैसे 1. पुत्र–स्त्री आदि मेरे हैं ऐसा कथन करना स्वजाति– उपचरित– असद्भूतव्यवहार उपनय है।

2. वस्त्र, आभूषण, स्वर्ण आदि मेरे हैं, ऐसा कहना विजाति– उपचरित असद्भूतव्यवहार उपनय है।



3. देश, राज्य, दुर्ग आदि मेरे हैं, ऐसा कहना स्वजाति–विजाति– उपचरित– असद्भूत– व्यवहार उपनय है।

भो ज्ञानी! व्यवहारनय अभूतार्थ है, इस गुत्थी को हमारे दैनिक जीवन की चर्या में भी समझा जा सकता है। जिस घट में घी भरा है, उसे घी का घड़ा कहा जाता है और जो घट पानी भरने के काम में लिया जाता है, उसे पानी का घट कहते हैं, जबकि घट न तो घी का है और न पानी का। घट तो मिट्टी का है। यह कथन दो भिन्न वस्तुओं में संयोग सम्बन्ध होने के कारण उपचरित– असद्भूत– व्यवहारनय से कहा गया है। इसी तरह से 'यह शांतिनाथ जिनालय है, यह शीतलनाथ जिनालय है'–ऐसे कथन भी उपचरित असद्भूतव्यवहारनय के अन्तर्गत आते हैं, परंतु मेरे शरीर में फोड़ा हो गया है, मुझे बहुत दुख हो रहा है, मैं विह्वल हूँ, यह अनुपचरित– असद्भूत व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है। यदि तुम इस सब व्यवहार को झूठा कह दोगे तो तुम हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह के पाप में अन्दर व बाहर से एक रहते हुये भी ज्ञान स्वभावी हो तथा आत्मा के अभिप्राय को न समझकर संसार के स्वरूप में ही भटकते रहोगे।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी की कारिका पढ़ते समय व्यवहारनय अभूतार्थ है अर्थात् झूठा मानकर तुम सोच रहे थे कि हमें बोध हो गया और हम मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हो गये। पर ऐसा मानकर अज्ञानांधकार नाश को प्राप्त नहीं होता है।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने "समयसार" ग्रंथ की बारहवीं गाथा की टीका करते हुये कहा है कि "हे भव्यों! यदि तुम जिनमत का प्रवर्त्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ व्यवहारमार्ग का नाश हो जायेगा और निश्चय के बिना तत्त्व (वस्तु) का ही नाश हो जायेगा। ऐसे ही, पहले जिनवाणी का विरलन कर दो, फैला दो, फिर आत्म–तत्त्व को समेट लो। जैसे–गंदे कपड़ों को साफ करने के लिये पहले तुम पानी में गीले करते हो, साबुन लगाते, रगड़ते हो, फिर साफ पानी में डालकर उसका सारा साबुन निकालकर सूखने के लिये फैला देते हो, मौसम के अनुसार पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने पर सूखे और साफ कपड़ों का तुम उपयोग करते हो। इसी तरह तुम्हें निश्चयनय एवं व्यवहारनय के भेद/प्रभेद की गुत्थि में प्रवेश करना पड़ेगा, मंथन करना पड़ेगा। अतः, सावधानी पूर्वक इनका बोध प्राप्त होने पर मोक्षमार्ग में प्रवेश होगा।

भो ज्ञानी! निश्चय व व्यवहारनय की चटपटी बातों में ही मत अटक जाना, अन्यथा जैसे दाल में भपका (बघार) डाल देने से या नमक डाल देने से जो दाल का स्वाद आता है, वह दाल का मूल स्वाद नहीं होता, जीवन भर ऐसी दाल खाते रहने पर भी तुम दाल के स्वाद को नहीं बता सकते हो। इसी तरह आत्मा का जो स्वाद (बोध) होता है, वह 'डाला' नहीं जाता है, पर के हटाने से स्वयं सत्य स्वभाव में प्रगट होता है।

भो ज्ञानी! अनादि से भोगों के बघार दिन–प्रतिदिन क्षण–प्रतिक्षण डालते हुये तुम आत्मा के स्वाद को जानना चाहते हो। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी इस कारिका में कह रहे हैं कि "निश्चयनय के बोध से रहित यह सब संसार ही है"। मेरा विदिशा में प्रभाव है तथा देश के प्रधानमंत्री का देश में प्रभाव है तो वो पुण्यात्मा है। भो ज्ञानी! चारित्र की कीमत को प्रभाव से मत जोड़ना। जिसने संयम को,

आगम को प्रभाव से जोड़ा, उसने संयम और आगम की कोई कीमत नहीं की। जैसे, जब तुम श्रीजी की प्रतिमा लेने जयपुर जाते हो तो वहाँ प्रतिमा की कीमत नहीं चुकाते हो, न्यौछावर देकर आते हो। कारण? अरिहन्तों को खरीदा नहीं जाता, निर्ग्रंथों को खरीदा नहीं जाता।

भो ज्ञानी! तुमने "समयसार" पढ़ा, "मूलाचार" पढ़ा, "प्रवचनसार" पढ़ा, सब आगम पढ़ लिये फिर भी हम गिरे तो कहाँ गिरे? जैसे गिद्ध उड़ा तो आसमान में लेकिन उसकी दृष्टि रही मांस के टुकड़े पर। जैसे ही मांस का टुकड़ा या मरा जानवर दिखा, झपट्टा मारकर मांस को ले उड़ा। इसी तरह तू अर्हंतों के जिनालय से निकला, जिनवाणी के पास से गुजरा, निर्ग्रंथ गुरुओं के पास बैठा, सत्संग किया, लेकिन फिर उड़ा तो बैठा कहाँ ? गिद्ध की तरह या तोते की तरह। तुमने दान दिया, नाम अंकित कराया। नाम अंकित नहीं हुआ या जहाँ तुम चाहते थे वहाँ अंकित नहीं हुआ, तो बोले कि– महाराज! मैं नहीं आऊँगा प्रवचन– सभा में, रूठ गये। एक ओर था चिंतामणि रत्न और एक ओर था 'खली का टुकड़ा।' तुम आज भी चिंतामणी रत्न को छोड़कर खली का टुकड़ा न मिलने पर नाराज हो, धर्मायतन को छोड़ने तैयार हो। तो समझो, तुमने अभी निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ जाना ही नहीं है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि– भूतार्थ के बोध से विमुख जो कुछ भी निश्चय–व्यवहार को जानते हैं, वह सर्वोऽपि(समस्त) संसार स्वरूप ही है।

अहो! किसी ने अर्घ चढ़ाना धर्म मान लिया, किसी ने अर्घ हटाना धर्म मान लिया, किसी ने आरती उतारी, किसी ने आरती फेंक कर धर्म मान लिया। अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं–भूतार्थ से विमुख हे ज्ञानी! आरती उतारने में राग, और अर्घ हटाने/आरती फेंकने में जो द्वेष हुआ है, हो रहा है, यह तो धर्म से विमुख होना है। अतः, भूतार्थ को समझो और उतारना है तो कषाय को उतारो। अंदर–बाहर की कषाय उतर जायेगी तो भूतार्थ समझ में आ जायेगा। व्यवहारनय स्वतः अभूतार्थ हो जायेगा, क्योंकि वह तो था ही तात्कालीन प्रयोज़नवान्।



द्रव्य व द्रव्य दृष्टि

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति।। ६।।

अन्वयार्थ : मुनीश्वराः अबुधस्य = ग्रन्थकर्ता आचार्य, अज्ञानी जीवों को। बोधनार्थं = ज्ञान उत्पन्न करने के लिये। अभूतार्थं देशयन्ति = व्यवहारनय का उपदेश करते हैं और। यः केवलं= जो जीव केवल। व्यवहारम् एव अवैति = व्यवहारनय को ही साध्य जानता है। तस्य देशना नास्ति = उस मिथ्यादृष्टि जीव के लिये उपदेश नहीं है।

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य।। ७।।

अन्वयार्थ : यथा = जैसे। अनवगीतसिंहस्य = सिंह को सर्वथा नहीं जाननेवाले पुरुष को। माणवकः एव = बिल्ली ही। सिंहः भवति = सिंहरूप होती है। हि तथा = निश्चय करके उसी प्रकार। अनिश्चयज्ञस्य = निश्चयनय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिये। व्यवहार एव = व्यवहार ही, निश्चयतां याति = निश्चयनय के स्वरूप को प्राप्त होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! भूतार्थदृष्टि ही सत्यार्थदृष्टि है। व्यवहार को अभूतार्थ कहने का आचार्य महाराज का उद्देश्य लोक– व्यवस्था भंग करना नहीं है। व्यवहार को अभूतार्थ कहने का उद्देश्य आचार्य महाराज का यह है कि कहीं 'घी का घड़ा' वाक्य से चलने वाले व्यवहार को सुनकर कोई भोला जीव 'घी' से निर्मित घड़े को 'निश्चय' में न ले, क्योंकि घी से निर्मित घड़ा होता ही नहीं है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। जब तुम कहीं बाहर जाते हो तो रिक्शेवाले का नाम तो मालूम नहीं होता है, दूर से ही चिल्लाते हो–ऐ रिक्शा! तो रिक्शा खड़ा हो जाता है। मनीषियो! यही व्यवहार की व्यवस्था है।

भो ज्ञानी! परमार्थ–तत्त्व को समझने के लिये व्यवहारदृष्टि से देखते हैं तो खड़िया से पुती दीवार, चूने से पुती दीवार को भले ही आप 'सफेद दीवार' कहते हो, लेकिन दीवार सफेद नहीं है, सफेद तो चूना है। चूना दीवार पर पुता है, इसलिये हम दीवार को सफेद कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा, शरीर नहीं है, आत्मा पुद्गल नहीं है, किन्तु आत्मा शरीररूप कही जा रही है। मनुष्य होने के कारण यह आत्मा भी शरीररूप कही जा रही है। यह मनुष्य है, यह तिर्यंच हैं, यह नारकी है, ये भी मनीषियो! भूतार्थ नहीं, सभी अभूतार्थ है।

मनीषियो! इस संसार के स्वरूप को तुमने अनंतकाल से नहीं समझा है। संसार के स्वरूप को न समझने के कारण ही तुम संसार में फँसे हो। अब कुछ उस दिशा/दशा को भी देखो, कि आज तक तुम संसार को क्यों नहीं समझ सके हो ? एक नीलमणि को दुग्ध के बर्तन में आपने छोड़ दिया,पूरा दूध नीला दिखता है। दूध नीला क्यों दिखता है ? क्योंकि मणि की आभा से दूध नीला झलक रहा है। ऐसे



ही यह चैतन्यमयी आत्मा इस शरीर में है, इसलिए यह शरीर चैतन्य कहला रहा है, परंतु आत्मा चैतन्य है, शरीर जड़ है। उस मणि के कारण दूध को तू नीला निहार रहा है। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि, हे जीव! शरीर के संयोग से शरीर को चैतन्य मानकर पता नहीं तूने कितने कर्मों को आमंत्रित किया है। यथार्थ बताना, कितना समय आपने शरीर को दिया है और आत्मा को कितना समय दिया ? यह समय अपने शरीर को दिया होता तो भी समझ में आता, पर आपने संयोग संबंधों को दिया है। अहो प्रज्ञात्मन्! आप जितना अपने पीछे नहीं रो रहे, उतना पर--संयोग के पीछे रो रहे हो। आपने इन संयोगों को जीव की स्वभावदृष्टि से देखा है। ध्यान रखना, जितने संयोग हैं उतने ही वियोग हैं और जितना वियोग है, उतना ही रोना है, इसलिये आचार्य भगवन् इस व्यवहार को अभूतार्थ कह रहे हैं।

पाँचवीं कारिका में आचार्य भगवन ने कह दिया कि निश्चय भूतार्थ है। वह ही सत्यार्थ है। इसे बहुत स्थूलदृष्टि से समझ लो कि जब आप कहीं बाहर विदेश में होते हो, तो अपने देश के व्यक्ति को आप भाई कहते हो। वहाँ पर आप जाति नहीं देखते हो, पंथ नहीं देखते हो, आम्नाय नहीं देखते हो, वहाँ पर तो आपको देश दिखता है और जब तुम भारत में आ जाते हो तो प्रदेश झलकने लगता है, संभाग झलकने लगता है और कहीं आप विदिशा पहुँच जाते हो तो मोहल्ले वाले को भाई कहने लगते हो। संभाग का भाई समाप्त हो गया और जब आप मोहल्ले में ही आ जाते हो तो पड़ोसी भाई होने लगता है और जब घर में पहुँच जाते हो तो भाई भाई दिखता है, तो फिर तुम सगे को देखने लगते हो। यथायोग्य निश्चय–व्यवहार का यह संयोग भूतार्थ है। भो ज्ञानी! जिस दिन संत बन जाओगे उस दिन सगे भी तुम्हें पराये दिखेंगे और जिस दिन स्वरूप में चले जाओगे उस दिन ये पुद्गल भी पराया हो जायेगा। अतः, दृष्टि को सम्यक् रखना। वस्तुस्वरूप यही है, यही भूतार्थ है, यही सत्यार्थ है। वास्तविक तत्व यही है बाकी सब व्यवहारिकता है। जैसे–जैसे आप अपने पास आते हो, वैसे--वैसे संबंध तुम्हारे छूटते जाते हैं। छठवीं कारिका में अमृतचंद्र स्वामी गहनतम बात करने जा रहे हैं कि आज तक जीव ने निश्चय और व्यवहार शब्दों को सुना है। निश्चय व व्यवहार के स्वरूप को नहीं समझा।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी दोनों नयों को समझा रहे हैं–व्यवहार अभूतार्थ हैं, निश्चय भूतार्थ है, परंतु निश्चय भूतार्थ भी है, अभूतार्थ भी हैं। समझना, पड़ोसी किसी भी जाति का क्यों न हो, परंतु उनमें भी आप काका, दादा, चाचा का संबंध बनाकर चलते हो और पड़ोसी के भाई को भाई कहते हो। उसका बेटा, वह भतीजा है, परंतु ध्यान रखो, तुम्हारे भाई का बेटा भी तो भतीजा है। निश्चय, निश्चय ही है, भूतार्थ भी है। लेकिन जिसने व्यवहार ही को लेकर अपना जीवन प्रारंभ कर दिया है उसके लिये कहना कि अभी थोड़ा रुक जाओ। निश्चय–व्यवहार के विवाद हैं। निश्चय नय द्रव्यदृष्टि है, द्रव्य नहीं है। इसलिये जो द्रव्य है वह तो भूतार्थ ही है, द्रव्यदृष्टि भूतार्थ को समझने की दृष्टि है, परंतु द्रव्य निश्चय–व्यवहार दोनों से परे हैं, वो ही तेरी शुद्ध दशा है। पूर्व गाथा में कहा कि आत्मा नय से अतीत है, वह द्रव्य है। अनेकान्त कहता है द्रव्य दृष्टि से, द्रव्य शुद्ध है। द्रव्य, द्रव्य है। द्रव्य दृष्टि, द्रव्य नहीं है। अब देखना, सोलह वर्ष का बालक,द्रव्य दृष्टि से पिता है तथा जन्म लेने वाली बालिका,द्रव्य दृष्टि से, माता है। परंतु जन्म लेने वाला वो बालक द्रव्य से पिता नहीं है और वह बालिका माता भी नहीं है। स्त्री धर्म उसी दिन से है जिस दिन से जन्मी थी, परंतु माता धर्म तब होगा जब बेटे को जन्म देगी। थोड़ा समझना द्रव्य दृष्टि और द्रव्य को। जब एक इक्कीस वर्ष का युवा होगा और संतान उत्पत्ति की क्षमता से युक्त होगा, तब उसका पुरुषत्व– धर्म प्रगट होगा। लेकिन पुरुष उसी दिन से था, जिस दिन जन्मा था।



मनीषियो! यह आत्मा जब निगोद में थी तब भी द्रव्य दृष्टि से परमात्मा थी और आज जब मनुष्य के शरीर में है, तब भी परमात्मा है, परंतु द्रव्य से परमात्मा तभी होगी जब अष्ट–कर्म से रहित होगी और जिसने द्रव्य दृष्टि को ही द्रव्य परमात्मा मान लिया है वह मिथ्यादृष्टि ही है। जिसने द्रव्य को द्रव्य माना और दृष्टि को दृष्टि माना, वो ही बनने वाला शुद्ध भगवान् हैं। भो ज्ञानी! दृष्टि समझने का ही विषय हैं। दृष्टि वस्तु नहीं है। दृष्टि, दृष्टि है और सम्यक्पना भिन्न है। जो नयदृष्टि को मानता है, वह सम्यक्दृष्टि है। जो नयदृष्टि को नहीं मानता हैं, वह दोनों आँखों से युक्त होने पर भी दृष्टिहीन हैं।

पुनः समझना, द्रव्य से द्रव्य है, पर्याय से पर्याय है। गुण से गुण है। परंतु द्रव्य, पर्याय, गुण से रहित कोई द्रव्य ही नहीं है। क्योंकि आगम में तीन बातें ही हैं– द्रव्य, गुण, पर्याय। द्रव्य मतलब वस्तु। ये पेन दिख रहा है आपको? पेन मत कहना, पुद्गल कहना। इसकी संज्ञा पेन है। भो ज्ञानी! पुद्गल–द्रव्य की पर्याय पेन है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण यह गुण हैं। इसमें से रस को अलग कर दो, पेन–पर्याय को अलग कर दो, पेन द्रव्य को अलग कर दो, तो क्या बचेगा? भो ज्ञानी! जहाँ द्रव्य होगा वहाँ नियम से पर्याय होगी। जहाँ पर्याय होगी, वहाँ नियम से द्रव्य होगा। दोनों परस्पर में कभी पृथक–पृथक नहीं होते हैं और लोक व्यवहार कहेगा ये मेरा पेन है। निश्चयनय कहेगा यह किसी का द्रव्य नहीं है। यह अपनी स्वतंत्र सत्ता से युक्त है। वह पेन जब तुम्हारे हाथ से गुम हो जाता है तो वह ज्ञानी! अध्यात्म विद्याशील कहता है कि पेन अपने चतुष्टय से कहीं गया ही नहीं। जेब से चला गया है तो मैं दुखी हो रहा हूँ, मेरा कुछ गया नहीं। जब हम द्रव्यदृष्टि से देखते हैं, तो मैं सुखी भी नहीं, दुखी भी नहीं, रंक भी नहीं, राव भी नहीं हूँ। मैं चैतन्य द्रव्य मात्र हूँ। जब पर्याय दृष्टि से देखते हो तो मैं मनुष्य हूँ, मैं धनी हूँ, मैं दरिद्र हूँ। बस यही दरिद्री होने के लक्षण हैं। क्योंकि जहाँ रोना प्रारंभ हुआ, वहाँ रोना ही रोना हैं। पुनः देखना, मुझे एक स्वर्ण–मुद्रा की प्राप्ति हुई, प्रसन्न हो गया। जबकि वह द्रव्य अपने चतुष्टय में स्वतंत्र है, यह भूतार्थ है। उसे मैं अपना मान रहा हूँ, यह अभूतार्थ है। व्यवहार आ गया। वही स्वर्ण की डली कोई उठा ले गया तो यथार्थ बताना, तुम्हारे परिणाम क्या हो गये?` भो ज्ञानी! कामना चित्त को प्रभावित करती है और जब चित्त प्रभावित होता है, तो कर्म बंध प्रारंभ हो जाता है। एक योगी के सामने स्वर्ण माला चढ़ी, पर उसे खिन्नता या प्रसन्नता नहीं, क्योंकि उसे भूतार्थ दिख रहा था। जिसने भूतार्थ को, अभूतार्थ मान लिया, असत्यार्थ को सत्यार्थ मान लिया, उसे हर्षित होना पड़ा और बिलखना भी पड़ा। इसलिये, न तो धर्म तीर्थ के नाश के लिये, न लोक– व्यवहार के नाश के लिये, न आगम व्यवस्था के बिगाड़ने के लिये, अपितु अपने स्वचतुष्टय को निर्मल रखने के लिये निश्चय भूतार्थ है, और व्यवहार अभूतार्थ है। सर्वज्ञदेव ने न्याय करने के लिये नय का कथन किया है। इसलिये परादृष्टि ही सम्यक्दृष्टि है और पर–दृष्टि ही मिथ्यादृष्टि है अहो! आत्मदृष्टि ही परादृष्टि है। परा याने उत्कृष्ट। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थ में यदि कोई परा है, तो मोक्ष है।

भो ज्ञानी! द्रव्य दृष्टि ही आत्म दृष्टि और द्रव्य दृष्टि ही मिथ्या दृष्टि। परंतु द्रव्य तो द्रव्य है। देखो तो, छह द्रव्य हैं। छह द्रव्यों के ही मध्य में सब कुछ हो रहा है। तीन लोक में छह द्रव्य के आगे कुछ भी नहीं है। छह द्रव्यों में से जो आत्म–द्रव्य को पकड़े, वह सम्यक्दृष्टि है और जो पर–द्रव्य को पकड़े, पुद्गल–द्रव्य को पकड़े, धन–पैसे को पकड़े,वो मिथ्यादृष्टि। इसलिये 'शब्दानाम् अनेकार्था'। एक निर्ग्रंथ, योगी जिसकी दृष्टि निर्मल होती है, प्रत्येक अर्थ को निर्मल देखता है।



भो ज्ञानी! अर्थ, अर्थ है। अर्थ को अर्थ ही रहने देना, अर्थ को अनर्थ मत कर देना। नय,नय है। वस्तु, वस्तु है। दृष्टि, दृष्टि है। दृष्टि वस्तु नहीं। परंतु विवाद तब आ जाता है, जब भाषा में तुम्हारे विपरीत भाव मिश्रित हो जाते हैं। भाषा में दोष नहीं, चाहे निश्चय की भाषा हो, चाहे व्यवहार की, परंतु भावों की गड़बड़ी भाषा को गड़बड़ कर देती है। जैसे कि बिल्ली उसी मुख से अपने बच्चे को पकड़ती, तो कैसे लाती है और चूहे को पकड़ती है, तो कैसे लाती है? मुख में दोष नहीं है, दोष उसके भावों में है।

भो ज्ञानी! भाषा में दोष नहीं है। बेटा उसी मुख से पिता को बुलाता है, उसी मुख से माता को बुलाता है, उसी मुख से पत्नी को बुलाता है। परंतु क्या एक से भाव होते हैं? इसलिये स्त्री राग–द्वेष का कारण नहीं है। स्त्री के प्रति राग–द्वेष की भावना ही विकार की भावना होती है। माँ/पत्नि वह भी स्त्री थी।

भो ज्ञानी! स्त्री में विकार नहीं, स्त्री में राग नहीं, स्त्री में द्वेष नहीं, यह तेरी दृष्टि का दोष है। वस्तु में दोष नहीं। अहो! जब राग था तो व्यवहार था, जब वैराग्य है तो निश्चय है, भूतार्थ है। भो चेतन! दृष्टि, दृष्टि है। दृष्टि, वस्तु नहीं है। यह सब विकारी भावों की दृष्टियाँ हैं। शुद्ध भावों में न कोई दृष्टि है, न कोई वस्तु है। एकमात्र मैं ही चिद्रूप व्यक्ति हूँ , इसलिये पुरुषार्थ करना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! जो पुरुषार्थ को गौण कर रहा है, वह भी पुरुषार्थ कर रहा है। जो पुरुषार्थ को नाश करने का विचार कर रहा है, जो निमित्त को उड़ाने की बात कर रहा है, वह भी निमित्त ही बन रहा है। पुरु अर्थात् आत्मा। 'वृहद द्रव्यसंग्रह' में आचार्य नेमिचंद्र स्वामी लिख रहे हैं–

पुग्गल कम्मादीणं, कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं।।८।।

यह जीव अनुपचरित–असद्भूत–व्यवहारनय से पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है। भो ज्ञानी! यह धर्मशाला किसने बनवाई ? पुरुष ने या परमेश्वर ने ? देखो भटकना नहीं। ऐसा कह दो– उपचरित–असद्भूत–व्यवहारनय से यह जीव घटपट, मकान आदि का भी कर्ता है और अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक–भावों का कर्ता है। निश्चयनय से स्वभावों का कर्ता है। परमशुद्ध निश्चय नय से न किसी का कर्ता है, न किसी का भोक्ता है। मैं पर का किंचितमात्र भी कर्ता नहीं हूँ। यदि कर्ता बने रहे तो रोते रहोगे। जो–जो कर्ता है, वह–वह रोता है और जो अकर्ता है, वह कभी नहीं रोता।

अस्पताल में एक बालक तड़फ रहा है। एक पलंग पर, बगल में दूसरा बालक भी तड़फ रहा है। बालक संज्ञा दोनों की है। पहले बालक के लिये डाक्टर ने कहा–बस, दस/पाँच मिनिट का जीवन है। पर आपको कोई असर नहीं हुआ। वह डाक्टर पुनः लौटकर आया जिस पलंग पर आप बच्चे को लेकर बैठे थे और उसी भाषा का उपयोग किया, तो आँखों से टप–टप आँसू टपकने लगे। अहो! बालक तो दोनों थे, एक में तुम्हारा अपनत्व भाव छिपा था, दसरे में अपनत्व का भाव नहीं था। जहाँ कर्ता–भाव था, वहाँ तुम रोने लगे। जहाँ कर्ता भाव नहीं था, वहाँ तुम चुप रहे।

भो ज्ञानी! द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दोनों की व्याख्या करते–करते पूरा जीवन निकाल देना, पर तुम द्रव्य की प्राप्ति कर ही नहीं सकते। मालूम चला कि वह द्रव्यदृष्टि सम्प्रदाय बन गया। द्रव्यदृष्टि खो गई और संप्रदाय की रक्षा प्रारंभ हो गई। अहो! इस पर्यायदृष्टि को समझने में पूरी पर्याय निकली



जा रही है, पर पर्याय को समझ नहीं पा रहा है। मालूम चला कि पर्याय का पंथ बन गया। परंतु अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि 'तस्य देशना नास्ति', उनको देशना नहीं है।

मनीषियो! निश्चय व व्यवहार कोई हुआ नहीं है। यह वस्तु को समझाने की व्यवस्था है, भाषा है। भाषा, भाषा होती है। भाषा न कभी वस्तु हुई, ना कभी होगी। वस्तु कथन की शैलियां भिन्न-भिन्न हैं। वस्तुस्वरूप तो एक ही है। जो वस्तु है, वो ही स्वरूप है। जो स्वरूप है, वो ही वस्तु है। जिसमें स्वरूप नहीं है, वह वस्तु कैसी ? भाषाओं को लेकर तुम झगड़ रहे हो और परिणाम खराब कर रहे हो। देखो, निश्चय वाले आ गये, व्यवहार वाले आ गये। यह अध्यात्म नहीं है। अध्यात्म वह है, जो टूटी आत्मा को आत्मा में जोड़ दे। अध्यात्म कहता है कि तुम सबसे हट जाओ, पर्याय से हट जाओ। अपनी आत्मा को आत्मा में जोड़ दो, इसका नाम अध्यात्म है। जब हम एक इंद्रिय वनस्पति में देख रहे हैं कि भावी भगवान बैठा है, किंतु घर में भाई ही भाई से मुँह नहीं बोल रहा है, क्योंकि हमारे अनुसार नहीं चल रहे हैं।

अहो भाषा के भगवन्तो! तुम्हें कभी सुख की प्राप्ति नहीं होगी। भाषा के भगवान बनाने से भगवान नहीं बनोगे। भावों के भगवान बनने से भगवान बनोगे। ग्रंथ से नहीं, निर्ग्रंथ-दशा से ही मोक्षमार्ग है। भो चेतन! मोक्षमार्ग क्या है ? निर्ग्रंथ होना मोक्षमार्ग है। अहो! निर्ग्रंथों की उपासना ही सग्रंथों का मोक्षमार्ग है। श्रावको! यही तुम्हारा मोक्षमार्ग है, परंतु इससे मोक्ष नहीं मिलेगा। मोक्ष तभी मिलेगा, जब तुम इस मार्ग को प्राप्त कर लोगे। इसलिये 'देशना नास्ति' कहा, क्यों? क्योंकि उसने आराधना को सर्वथा मान लिया, इसलिये देशना नहीं है। मार्ग भी है। परंतु आगे मार्ग पकड़ना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! अबुध को बोध कराने के लिए व्यवहार नय का कथन किया है। परंतु जो व्यवहार मात्र को ही मोक्षमार्ग मान बैठा, निश्चय को मानना ही नहीं चाहता है, सुनना ही नहीं चाहता है, समझना ही नहीं चाहता है, "तस्य देशना नास्ति" उसके लिये भी देशना नहीं है। परमार्थ को समझने के लिए कथन चल रहा है और जो मात्र निःसही, निःसही चिल्ला रहा है, उसके लिये 'देशना नास्ति।' भो ज्ञानी! ध्यान रखना, कथन काकतालीय-न्याय से भी होता है। जैसे पंडितजी ने कहा, बेटा! घी रखा है, कौआ आये तो बचाना, बिगाड़ न जाये, बेटा बोला-ठीक पिताजी, जो आज्ञा। बिल्ली आई, बिगाड़ कर चली गई। पंडितजी बोले-क्यों बेटा? पिताजी आपने बोला था कि कौआ से रक्षा करना, बिल्ली से नहीं बोला था। तो, बेटा! इतनी बुद्धि तुम्हारी नहीं चली कि कौआ से बचाने को बोला था, तो बिल्ली से तो पहले ही बचाना था। वैसे ही जब एक नय से व्यवहारी को 'देशना नास्ति', वैसे ही एक दृष्टि से निश्चयी को भी 'देशना नास्ति।' बिना व्यवहार के निश्चय हो नहीं सकता। ध्यान रखो, जैसे बिल्ली शेर नहीं है, वैसे ही आपकी आत्मा भगवान नहीं है। कार्य परमात्मा तभी होगा, जब कारण परमात्मा का कार्य करेगा। बिना कार्य करे भगवान आत्मा नहीं है। सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही तो कारण-परमात्मा है। इस अशुद्ध आत्मा को योगों में लिप्त आत्मा को, कारण-परमात्मा मत बना देना। आचार्य, उपाध्याय, साधु की आत्मा कारण-परमात्मा है और अरिहंत, सिद्ध की आत्मा कार्य-परमात्मा।

भो चेतन! निश्चय के स्वरूप को व्यवहार मत मान लेना। व्यवहार को निश्चय का स्वरूप समझने का माध्यम मानना। इसलिये सिंह, सिंह है और बिल्ली, बिल्ली है। लेकिन बिल्ली, सिंह नहीं है। जिसने सिंह को नहीं देखा है, वह बिल्ली के हाव-भाव, बिल्ली की प्रवृत्तियों से सिंह के हाव-भाव एवं प्रवृत्तियों को जान सकता है।

अमृतचंद्राचार्य विरचित पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रंथ की भूमिका समाप्त



ग्रंथारंभ

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।।८।।

अन्वयार्थ :– यः = जो (जीव)। व्यवहार निश्चयौ = व्यवहारनय और निश्चयनय को। तत्वेन= वस्तुस्वरूप से। प्रबुध्य = यथार्थ रूप से जानकर। मध्यस्थः = मध्यस्थ। भवति = होता है (अर्थात निश्चयनय और व्यवहारनय के पक्षपात रहित होता है)। सः = वह। एव = ही। शिष्यः = शिष्य।

देशनायाः = उपदेश का। अविकलं फलम् = सम्पूर्ण फल को। प्राप्नोति = प्राप्त होता है।

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः।।९।।

अन्वयार्थ :– पुरुषः = पुरुष (अर्थात् आत्मा)। चिदात्मा = चेतनास्वरूप। **अस्ति** = है। स्पर्शरसगन्धवर्णैः = स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से। विवर्जितः = रहित है। गुणपर्यय समवेतः = गुण और पर्याय सहित है। तथा समुदयव्यय ध्रौव्यैः =उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से। समाहितः= **युक्त है।**

।।पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! सर्वज्ञ–शासन में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने सहजदशा का संकेत देते हुए कथन किया है कि आत्मदेव को दिखाने और देखने का मार्ग बताने वाले अरिहंतदेव हैं। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि बस जिसने इस तत्त्व को समझ लिया, वह तटस्थ हो जाता है। तटस्थ हुये बिना आज तक कोई तत्त्व को समझ नहीं सका, क्योंकि धाराओं में बहने वाला कभी सत्य को नहीं सुन पाया। नदी के दो तट हैं, परंतु वह नीर नहीं है। दो तटों के बीच में जो बह रहा है, वह नीर है। निश्चय नीर नहीं, व्यवहार नीर नहीं। निश्चय व व्यवहार के मध्य में जो वीतराग धर्म की धारा बह रही है, वह है नीर। जिसने तटों को पकड़ लिया, वह कभी–भी अपनी प्यास बुझा नहीं सकेगा। अहो! किनारे तो किनारे हैं, किनारे धारा नहीं हैं। किनारों के मध्य में जो बह रही है, उसका नाम धारा है। इसलिए निश्चयनय व व्यवहारनय तो दो किनारे हैं। उन दोनों के बीच जो रत्नत्रय धर्म है वह तेरा नीर है, वह धारा है। इसलिए, आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि दोनों नयों को समझो तथा जानने व समझने के उपरांत, दोनों के प्रति मध्यस्थ हो जाओ।

मनीषियो! भगवान अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि व्यवहार और निश्चय नय दोनों नय हैं। (यः प्रबुध्य) जो तत्त्व को यथार्थ जान लेता है (भवति मध्यस्थः) वह मध्यस्थ हो जाता है। किसी जीव ने



कहा–आत्मा शुद्ध–बुद्ध है,। कोई दिक्कत नहीं है। किसी ने कहा–आत्मा संसारी है। कोई दिक्कत नहीं है, क्योंकि वह जैन है, तत्त्व को जानता है, लड़े क्यों? जो कह रहा है कि आत्मा त्रैकालिक शुद्ध है, वह शुद्ध–द्रव्यार्थिक–नय से कह रहा है। एक आत्मा को संसारी कह रहा है, कोई दिक्कत नहीं है। संसार अवस्था में अशुद्ध–द्रव्यार्थिक–नय से कह रहा है। पर्यायार्थिक–दृष्टि से तो आत्मा अशुद्ध ही है। विवाद वह करे जो अज्ञानी हो, जिसने तत्त्व को जान लिया है, वह कभी झगड़ेगा नहीं। जिनवाणी में ज्ञानी उसे कहा है, जो दोनों नयों को जान कर मध्यस्थ हो जाता है। (प्राप्नोति देशनायाः) वही देशना को प्राप्त करता है।, ऐसा ही शिष्य संपूर्ण विद्या के फल को प्राप्त करता है। जो जीव निश्चय व व्यवहार नय को समझ कर अपनी दृष्टि को मध्यस्थ कर लेता है, वही जीव तत्त्वज्ञानी है।

भो ज्ञानी! जिसने नयपक्षों को लेकर अपने आपको कलुषित भावों से युक्त किया है, उससे बड़ा अल्पज्ञ संसार में दूसरा कोई नहीं है। आचार्य ब्रह्मदेव सूरि ने 'वृहद् द्रव्यसंग्रह' की टीका में लिखा–वही ज्ञान तत्त्वज्ञान है जिसमें सत्य के प्रति शांत– स्वभाव का उद्भव हो। वही तत्त्वज्ञान है जिसमें बिखरे हृदय मिलकर एक हो जायें; जिसमें कलुषता की आंधी शमन को प्राप्त हो जाये, जिसे समझ कर स्वयं में स्वयं का सुख (आनंद) प्रकट हो जाये। जिस तत्त्वचर्चा से विसंवाद हो, उसे आचार्य बह्मदेव सूरि ने तत्त्वचर्चा नहीं कहा। क्योंकि विसवांद से कषाय का उद्भव होता हैं, कषायों से कर्म का आस्रव होता है और कर्म आस्रव से संसार की वृद्धि होती है। हम माँ जिनवाणी के पास पहुँच कर संसार वृद्धि नहीं करना चाहते, हम तो संसारबंधन की हानि के लिये यहाँ आए हैं, और जो जिनवाणी को सुनकर भी कषाय भाव से पूरित हो रहा है उसे जिनवाणी का ज्ञानी मत कहना।

भो ज्ञानी! अज्ञानी बनकर रह लेना, पर अधूरे ज्ञानी बनकर रहने का कभी प्रयास मत करना, क्योंकि अधूरा ज्ञान अज्ञानता से ज्यादा खतरनाक होता है। जब तक सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं होती, तब तक अरिहंत तीर्थंकर भी मुनि अवस्था में मौन रहते हैं, क्योंकि जिस विद्या को मैंने समझा ही नहीं है, उस विद्या को मैं दूसरे को क्या बता सकूँगा? जिस दिन सत्य का सूर्य उदित हो जाता है, उस दिन सर्वांग से व्याख्यान प्रारंभ हो जाता है। आज अपने पास सर्वज्ञ नहीं हैं, परंतु सर्वज्ञ की वाणी तो अपने पास मौजूद है। इसलिए, आप उतना ही कहना जितना सर्वज्ञ की वाणी में स्पष्ट कथन है। यदि आगम में आपको पढ़ने को नहीं मिले तो अपना चिंतन प्रवेश मत करा देना। क्योंकि अपने चिंतन में ही विसंवाद होता है, तत्व चिंतन/तत्वज्ञान में कही विसवांद नहीं है। जहाँ हम सोचते हैं कि मैं भी कुछ हूँ , वहीं आप सब कुछ बिगाड़ कर लेते हो। जिस दिन आप अपने आपको कुछ भी मत मानो, उसी दिन आप **सब कुछ** बन जाओगे और जब तक **कुछ** मानते रहोगे तब तक तुम कुछ भी नहीं बन पाओगे। इसलिए वस्तु स्वरूप कह रहा हैकि नय में खींचोगे तो द्वेष होगा, नय से चिपकोगे तो राग होगा। संसारी जीव राग–द्वेषरूपी दो लंबी रस्सी के द्वारा कर्म को बांधता है, ग्रहण करता है और अज्ञान से संसार–समुद्र में चिरकाल तक भ्रमण करता है। अहो! आज प्रतिज्ञा कर लेना कि मुझे निश्चय से द्वेष नहीं, मुझे व्यवहार से राग नहीं, मुझे व्यवहार से द्वेष नहीं और निश्चय से राग नहीं। निश्चय व व्यवहार यह दोनों नय हैं, ये रागद्वेष को छोड़ने के मार्ग हैं। परंतु इनमें ही राग–द्वेष कर लिया तो, फिर मार्ग तेरा क्या बनेगा ? विष को उतारने के लिये अमृत का सेवन किया और जब अमृत ही विष बनने लग गया तो, भो ज्ञानी ! विष कैसे उतरेगा? एकांत दृष्टि को शमन



करने के लिए निश्चय व व्यवहार दो नेत्र हैं। दोनों नेत्रों को सुरक्षित रखना। एक के अभाव में दूसरे का कार्य नहीं चल सकता है। इसलिए दोनों को ही समझ कर माध्यस्थ हो जाओ। यह हमारे जिनागम को समझने की दो शैलियाँ हैं, वस्तु स्वरूप समझने की व्यवस्था है।

भो ज्ञानी! प्रत्येक जीवद्रव्य ज्ञान–दर्शन सत्ता से समन्वित हैं, प्रत्येक जीवद्रव्य सिद्ध–सत्ता से समन्वित है। जब तू रागभाव से प्रेरित हो उस समय तू अपने आप में सोच लेना, अहो! धिक्कार हो मेरे विकारी भाव को। देखा गया है कि सुई की नोंक के बराबर एक आलू के अंश में द्रव्य–प्रमाण उतने निगोदिया जीव के शरीर विराजमान हैं जितने अतीत में सिद्ध हो चुके हैं। भो ज्ञानी! उन सिद्ध भगवंतों को छोंक लगा कर तू खा गया, और कहता है कि मैं भगवान्– आत्मा हूँ। इतना "समयसार" में नहीं समझ सके तो तुमने "समयसार" को समझा ही नहीं है। अब समझना, मेरी रसना इंद्रिय को धिक्कार हो, मैं जान रहा हूँ कि कंद में सिद्धत्व–सत्ता से युक्त जीव विराजमान है, फिर भी उसका सेवन कर रहा हूँ।

भो ज्ञानी! जीवत्व सत्ता सबकी एक है। अतः, जैनदर्शन को स्वीकार करके जीना नहीं सीख पाये तो अब आप कहीं भी जी नहीं सकोगे। यह दर्शन जीना मात्र नहीं कहता है, वरन यह दर्शन कहता है–"जियो और जीने दो"। यदि जीना तुम्हारा अधिकार है तो, जीने देना तुम्हारा कर्त्तव्य भी तो है। घर में मक्खी–मच्छर घूम रहे हैं और आपने औषधि छिड़क दिये तो आपने कौन सा काम किया है? एक श्रावक कह रहे थे–महाराजश्री! मैं चारपाई पर चारों प्रकार के आहार और पाँचों पापों का त्याग करके सोता हूँ और उधर कछुआ छाप अगरबत्ती लगाकर सोता है। बताओ, तू क्या करके सोया है? अहो! हिंसक परिणाम करके तू पहले ही सोया है। भो चेतन आत्माओ! पर्याय पर ध्यान रखना, परिणामों पर ध्यान रखना। अब तो आप लोग हिंसक उपकरण का उपयोग करेंगे ही नहीं? यदि "पुरुषार्थसिद्धियुपाय" सुनने की पात्रता रख रहे हो तो आचार्य अमृतचंद्र स्वामी आपसे कुछ कहने वाले हैं कि मुझे तभी सुनना, जब आपके पास पाँच अणुव्रत हों और तीन मकार का त्याग हो। पाँच अणुव्रत और अष्टमूलगुण नहीं हैं तो जिनवाणी के सुनने के भी पात्र नहीं हो। समझना, जिसका रात्रि–भोजन का त्याग नहीं, पानी छान कर पीने का नियम नहीं, अभक्ष्य सेवन का त्याग नहीं, वह जिनवाणी के पृष्ठों को पलटने का अधिकारी भी नहीं है। हमने तो जिनवाणी को उपन्यास बना डाला कि यात्रा कर रहे हो तो बगल में दबायी और चले दिये। अहो! अविनय करोगे तो परिणाम अच्छा नहीं होगा। माँ जिनवाणी कह रही है–मुझे तभी छूना, जब तुम्हारे पास अष्टमूलगुण हों। ध्यान रखना, कम से कम उस **पुरुष** को समझने के लिए ऐसा पुरुषार्थ करना कि **पुरुष** मेरी समझ में अच्छी तरह से आ जाय। यदि निर्मल पुरुषार्थ नहीं किया तो पुरुषार्थसिद्धियुपाय ग्रंथ पूरा हो सकता है परंतु **पुरुष** की प्राप्ति संभव नहीं है। अरे! बिल्कुल नहीं घबराओ, जब तेरे अंदर सिद्ध बनने की शक्ति है तो मनुष्य और श्रावक बनने की शक्ति कैसे नहीं है?

भो ज्ञानी! एक छोटी सी बात श्रावक की कर रहे हैं। श्रावको! बारिश का मौसम है, कितने दिन का आटा खा रहे हो आप लोग? चटका दिया बटन को और पिस गया आटा। पर देखने गये थे कि क्या पिसा है? अरे! चिदात्मा की बात तो करो, पर चैतन्य आत्मा पर करुणा करके करो। पहले माताऐं पाटे को उठाकर, झाड़–पोंछ कर, फिर भजन गाते–गाते आटा निकालती थीं। महाराज रोज–रोज



मशीन को कौन खोलेगा? जितने तिरूले और सूड़े उसमें रहते हैं, सब पिस जाते हैं और सबका स्वाद उस आटे में आप लेते हैं और कहते हैं, महाराजश्री! मैं माँस का त्यागी हूँ। दो इंद्रिय से माँस की संज्ञा प्रारंभ हो जाती है, इसलिए ध्यान रखना, यदि आप वास्तव में आगम और जैनत्व को समझ रहे हो तो अपनी चर्या और क्रिया को अब सुधारना प्रारंभ कर देना। जब सुबह से ही हिंसा प्रारंभ हो जाती है, फिर मध्याह्न और रात्रि में परिणाम निर्मल कैसे होंगे? भो ज्ञानी! जब तक विवेक नहीं जागेगा, तब तक भगवान नहीं बन पाओगे। आचार्य महाराज ने पहले आपको शुद्ध की बात बता दी और निश्चय--व्यवहार का खुलासा कर दिया, अब नौवीं कारिका में कह रहे हैं--तू सबसे भिन्न है, पुरुष है। जब तू धर्म क्षेत्र में आये तो मात्र आत्मा बनकर आना, पुरुष, स्त्री, नपुंसक बनकर मत आना। यदि तीन वेदों से बनकर आओगे तो तुम्हारे अंदर में विकार सतायेंगे और तुम्हें परमात्मा नहीं दिखेगा। यह कारिका अखंडता/एकता के लिये परम रामबाण--औषधि है।

मनीषियो! भगवान अमृतचंद स्वामी कह रहे हैं--(अस्ति पुरुषश्चिदात्मा) यह चैतन्य आत्मा ही पुरुष है और वह पुरुष चाहे एकेंद्रिय में हो, चाहे द्विइन्द्रिय में हो, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि में हो, परंतु उस चैतन्य--आत्मा में कोई फर्क नहीं है। लेकिन निश्चय नय से कह रहे हैं कि वह आत्मा स्पर्श, गंध, रस, वर्ण से रहित है, ये सब पुद्गल के धर्म हैं, मेरी आत्मा के धर्म नहीं हैं।

अरसमरुवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।५४।।

'समयसार' जी में आचार्य कुंदकुंद स्वामी कह रहे हैं--जब तू निर्विकल्प दशा का वेदन करने की भावना रखता है तो ऐसा चिन्तन कर कि मैं अरस हूँ, अरूपी हूँ, मैं अगंध स्वभावी हूँ, इन्द्रिय गोचर नहीं हूँ। मैं अपने आपमें संस्थान से रहित हूँ, मेरा कोई निश्चित संस्थान नहीं है, ये सब कुछ जो दिख रहा है--यह देह धर्म है। यह देह, धर्म नहीं है और देह धर्म के पीछे ही मैंने देही के धर्म को छोड़ा है,।

अहो! शरीरों का राग ही तुझे अशरीरी नहीं बनने दे रहा है। अतः, वृद्धों के साथ रहो। जो शरीर सिकुड़ चुके हैं, उन शरीरों के पास बैठो। उनके पास बैठोगे तो वासना सिकुड़ जायेगी और फूले--फूले शरीरों के पास बैठोगे तो कामवासनायें फूलेगी, यह प्रकृति का नियम है। वृद्ध--संगति पर आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने 'ज्ञानार्णव' में एक स्वतंत्र अधिकार लिखा है। हे साधक! यदि तू निर्मल साधना करके मुक्ति की ओर गमन करना चाहता है तो वृद्धों की संगति कभी मत छोड़ देना, वृद्धों की सेवा मत छोड़ देना, ध्यान रखना, शास्त्रों में तुम्हें शब्दज्ञान तो मिल जायेगा पर अनुभवज्ञान तो वृद्धों के पास ही मिलेगा। इसलिए वृद्धों का अविनय कभी मत करना। जो ज्ञानवृद्ध हैं, उम्र--वृद्ध हैं, तप--वृद्ध हैं, उन सब वृद्धों का सम्मान रखना। इसके साथ ही कभी किसी की अवहेलना नहीं करना, क्योंकि हमारे आगम में कहा है--चाहे वृद्ध का शरीर हो, चाहे युवा का, चाहे शिशु हो, सबके अंदर भगवती--आत्मा है। अहो ज्ञानी! वो आज का अहंकार तेरी साधना के विनाश का हेतु बन जायेगा। इसलिए सबसे मिलकर चलना, संभलकर जीना और संभलकर चलना। भावों में निर्मलता रखना, मृदुता रखना, तभी तुम उस चिदात्मा को प्राप्त कर सकोगे।



भो चेतन! अब आचार्यश्री कह रहे हैं–गुणपर्ययसमवेतः एक–एक काल में जैसा गुण होगा, वैसी पर्याय होगी और जैसी पर्याय होगी वैसा द्रव्य होगा। बिना द्रव्य के परिणमन किये बिना पर्याय नहीं बदलती है। इसलिए द्रव्य, गुण, पर्याय एक काल में एक से होते हैं और जब द्रव्य शुद्ध होगा तो गुण व पर्याय भी शुद्ध होगी। जो मिट रही है वह पर्याय है, फिर भी नहीं मिट रही है उसका नाम ध्रौव्य है। मनुष्य–पर्याय में तेरा जीव है तो मनुष्य आकार है, मनुष्य पर्याय–मिटी, देव हो गया तो देवाकार है, परंतु जीव ध्रौव्य है, ध्रौव्य कभी नष्ट नहीं होता। भो ज्ञानी! द्रव्य, गुण, पर्याय युगपत ही होते हैं। कार्य में तीन–रूपता दिख रही है, परंतु काल की तीन–रूपता फिर भी नहीं हैं। जिस समय उत्पाद है उसी समय व्यय है और जिस समय व्यय है, उसी समय ध्रौव्य है। काल भेद नहीं है, समय भेद नहीं है। इसलिए ध्रौव्य ही द्रव्य है। सत्ता कभी असत्ता नहीं बनती है। सत्ता का परिणमन ही पर्याय है। सत्ता असत्ता रूप नहीं होती है। सत्ता में जो परिणमन चल रहा है, उसका नाम पर्याय है। गुणों के विकार का नाम पर्याय है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में पाँचवें अयाय में यही बात कही है–

सद् द्रव्यलक्षणम्।।२९।।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।।३०।।

गुणपर्ययवत् द्रव्यम्।।३८।।





भोग में योग कहाँ

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च।।१०।।

अन्वयार्थः– सः = वह (चैतन्य आत्मा)। अनादिसन्तत्या = अनादि की परिपाटी से। नित्यं = निरन्तर। ज्ञानविवर्तैः = ज्ञानादि गुणों के विकाररूप रागादि परिणामों से। परिणमनमानः = परिणमन करता हुआ। स्वेषां = अपने। परिणामानां = रागादि परिणामों का। कर्त्ता च भोक्ता च = कर्त्ता और भोक्ता भी। भवति = होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की दिव्य–देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचंद्रस्वामी ने पूर्व सूत्र में बहुत ही सहज कथन किया कि पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रंथ **पुरुष** की सिद्धि के उपाय का ग्रंथ है। जो आत्मा है, वही **पुरूष** है। जो आत्मदृष्टि से देखता है, उसे पर्यायों का परिणमन नहीं दिखता। संयोग या वियोग पर्यायों का है। द्रव्य–आत्मा अपने आप में अखण्ड है, अस्तिरूप है, चिद्रूप है, चैतन्य स्वरूप है। इसलिए इसका नाम सच्चिदानन्द चैतन्य आत्मा है, वही आत्मा का स्वरूप है। उस सच्चिदानन्द स्वरूप को न समझने के कारण इस जीव ने पुद्गल में आनंद मनाया है और पुद्गल के आनंद के कारण ही संसार में परिणमन चल रहा है। अतः, आत्मा का स्वरूप सामान्य है। द्रव्य 'सामान्य' ही होता है, पर्याय 'विशेष' होती है। इसलिए 'सामान्य' त्रैकालिक होता है और 'विशेष' तात्कालिक। जैसे– चातुर्मास के समय आप से कोई पूछता है–क्यों, विशेष क्या हुआ? स्वाध्याय/प्रवचन तो सब जगह होता है, विशेष क्या हुआ? अतः पर्याय 'विशेष' होती है और गुण द्रव्य 'सामान्य' होता है। 'विशेष' परिवर्तनशील होता है, 'सामान्य' त्रैकालिक होता है। चाहे आप मनुष्य हो, चाहे तिर्यंच हो, चाहे देव हो, जीव वहाँ भी होगा, परन्तु 'विशेष' बदलता है। इसलिए पर्यायार्थिकनय को 'विशेष' कहा जाता है और द्रव्यार्थिकनय को 'सामान्य' कहा जाता है। परन्तु ध्यान रखना, सामान्य से रहित विशेष को जो मानता है,वह गधे के सींग के समान है।

मनीषियो! जैनदर्शन की यह तात्त्विक चर्चा है, जिसमें नीतियाँ सामान्य होंगी, परन्तु सिद्धान्त विशेष ही होता है। सिद्धांतों से ही दर्शन की पहिचान होती है। पर ध्यान रखना, सामान्य विशेषात्मक ही वस्तु का स्वभाव है। चैतन्य 'सामान्य' है, सिद्ध–पर्याय 'विशेष' है, निगोद पर्याय 'विशेष' है। इसलिए ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफल–चेतना यह तेरी तीन चेतनाएँ हैं, पर चैतन्य–चेतना सामान्य है। तू निगोद में था, उस समय कर्मफल–चेतना भोग रहा था। आप स्थावर एक–इंद्रिय वनस्पतिकाय में थे, जब लकड़हारा अपने कंधे पर कुल्हाड़ी लिए आ रहा होगा, तब आप खड़े हो अनुभव कर रहे होंगे कि यह कुल्हाड़ी मेरे शरीर पर चलाई जायेगी, वेदना होगी कि नहीं ? उसकी वेदना को वही वेद



रहा है। भो ज्ञानी! कर्मफल–चेतना क्यों कही जा रही है? क्योंकि वहाँ से भाग भी नहीं पा रहा है। ओले पड़ेंगे, तब भी वहाँ होंगे और गर्मी के थपेड़े पड़ेंगे, तब भी वहाँ होंगे। दुनियाँ तेरी छाया में बैठकर ओलों से बच रही है, पर तू अपनी छाया से अपनी रक्षा नहीं कर पा रहा अर्थात् जब अशुभ कर्म का उदय होता है, तो तेरे भवन के नीचे अनेकों छाया में बैठ लेते हैं, पर तेरा भवन तेरे लिए मृत्यु का कारण होता है।

हे आत्मन्! तेरी छाया में कितने बैठे हैं ? हे वृक्ष! तेरी डालियों पर भी लोग बैठे हैं, पर तेरे ऊपर तो कुल्हाड़ी ही है। जब एक–इंद्रिय पर्याय को तुम प्राप्त करोगे, उस समय सोचना कि मैंने ''पुरुष'' को नहीं देखा था। घर में जब एक दातुन की आवश्यकता पड़ी थी, हमने पूरी डाली ही तोड़ कर फेंक दी थी। उस समय ''पुरुष'' नहीं देखा था। काश! वृक्ष भी ज्ञान–चेतना से भरा होता तो आज उठ कर चल देता या आपका हाथ पकड़ लेता कि यह मेरा शरीर है। मनुष्य के शरीर में रहने वाला 'पुरुष' अपने स्वार्थ के पीछे पता नहीं कितने जीवों की पर्यायों को भोजन के रूप में, लेपन के रूप में, औषधि के रूप में उपयोग कर रहा है। एक दिन के भोजन में कितनी हरी साग खाई है? गोबर के जीवों के साथ–साथ पता नहीं कितनी औषधि छिड़क करके, वह साग बनकर तेरी थाली में सजकर आयी है। उन जीवों से पूछना, हे आत्मन्! यदि मैंने 'पुरुषत्व' को प्राप्त कर लिया होता, तो मैं थाली को नहीं देखता। हे नाथ! वह दिन कब आये जब मुझे थाली न देखना पड़े। परम वीतरागी दशा में जाने वाला वह योगी थाली को देखकर बिलख रहा है, किंतु भोगी जीव थाली को देखकर मुस्करा रहा है। इतना ही योगी और भोगी में अंतर है। मत होना गद्‌गद्, कि थाली सज कर आयी है। अरे! उस खेत को देखो जो थाली–सा चमक रहा था हरा–भरा, उसने उजड़कर तेरी थाली भरी है। प्रकृति की थाली उजाड़कर तुमने अपनी थाली भरी है। भो ज्ञानी आत्माओ! दूसरों की प्रकृति को उजाड़कर अपनी थाली भरने का प्रयास मत करना, यही तेरी अज्ञान दशा है। भोगों में लिप्त होने का नाम ज्ञानचेतना नहीं, अज्ञानभाव है। कुंदकुंद स्वामी ने 'पंचास्तिकाय' ग्रंथ में ज्ञान–चेतना केवल सिद्धों में कही है।

सव्वे खलु कम्मफलं थावर–काया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्त–मदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा।। ३९।।

जो प्राणों से अतिक्रान्त आत्मा है, वह ज्ञान का वेदन करती है, वह ज्ञान चेतना है। सभी एक–इंद्रिय स्थावर–जीव कर्म–चेतना और कर्म–फल–चेतना तथा त्रस जीव कर्म चेतना भोग रहे हैं और प्राणों से अतिक्रांत शुद्ध परमात्मा में शुद्ध ज्ञानचेतना है।

भो ज्ञानी! चलो वनस्पतिकाय की चर्चा करें, क्योंकि आपको 'पुरुष' की बात करना है। वनस्पतिकाय से पूछना कि तुम प्रत्येक हो कि साधारण। यदि साधारण है, तो माँ जिनवाणी आपसे कह देगी, बेटा! इसको छूना भी मत। जैन–योगी जब चलता है, तो पैर रखना महापाप मानता है। अपने शरीर का ताप भी उसको नहीं देना चाहता है, क्योंकि मेरे शरीर से गर्म वर्गणाएँ (तरंगें–ऊर्जा) निकल रहीं हैं तथा उन जीवों में इतने नाजुक तंतु हैं कि मेरे शरीर के ताप से उनको पीड़ा होगी, वध हो जायेगा, अहिंसा– महाव्रत समाप्त हो जायेगा।



अरे! ज्ञान–चेतना को भोगने की सामर्थ्य रख कर भी, फूलों को देखकर, कर्मफल–चेतना का बंध कर रहे हैं। हे मानवो! तुम पुष्प की पराग को देखकर महक रहे हो तथा उसे बगीचे में लगाकर बार–बार निहार रहे हो। अरे! जिनवाणी माँ कह रही है–तेरे चक्षु में वह शक्ति है कि यदि तू सिद्धों को निहार ले तो तू सिद्ध बन जायेगा। निहारने का ही परिणाम है कि आज तुझे दुनियाँ निहार रही है, कि देखो, वनस्पति बन गया।

भो ज्ञानी! यह मनुष्य–पर्याय इसलिए महान है कि तुम्हारे पास महाव्रती बनने की सामर्थ्य है। हे मानवो! तुम महान इसलिए नहीं हो कि तुम्हारे पास इंद्रिय–भोगों का सुख है। **तुम महान इसलिए हो कि तुम्हारे पास पाँचों पाप छोड़ने की सामर्थ्य है।** देवों में वह सामर्थ्य नहीं है। देखो, मुमुक्षु–जीव अर्हन्त की उपासना करता है कि अब तो मेरी पर्याय समाप्त होने वाली है। जितनी आयु शेष है, परमेष्ठी की आराधना कर लो। मिथ्यादृष्टि देव रोना प्रारम्भ कर देते हैं कि हाय! हाय! अब यह भोग कब मिलेंगे? रो– रोकर अपनी पर्याय नष्ट करता है। जितने उत्तम जाति के वृक्ष हैं, वे देव–पर्याय से च्युत होकर ही आये हैं। हे मनीषियों! जब इंद्रिय–सुख में देव भी वनस्पति बन गया, तब तुम्हारी दशा क्या होगी ? स्थावर से नीचे यदि कोई भूमिका है तो **'एक श्वास में अठ–दस बार'** मरने जीने की पर्याय है, उसका नाम निगोद है।

हे प्रभु! ज्ञान–वैराग्य शक्ति के प्रभाव से मैं ज्ञानचेतना का भोगी बनूँ , राग और भोग की दृष्टि से मैं कर्मफल चेतना का भोक्ता न बनूँ। भो ज्ञानी आत्माओ! अब ईश्वर को और कर्मो को दोष देना बंद कर दो। यदि पुण्य तेरे साथ होता है, तो तू माँ के आँचल में जन्म के साथ दूध लेकर आता है और यदि पाप तेरे साथ होता है तो माँ को काल उठा ले जाता है। तुम माँ जिनवाणी के लाल हो, तीर्थंकर तेरे तात हैं और निर्ग्रंथ गुरु तेरे भ्राता हैं। ऐसे उज्वल कुल में तू जन्मा है और पुद्गल के टुकड़ों के पीछे तू भोगों की थाली पर बैठा है। माँ जिनवाणी कह रही है–तुम सुन भर लो और गुन लो, गमाओ मत ! परन्तु जीव ने आज तक तत्त्व की चर्चा को सुना ही नहीं। आचार्य योगीन्दु स्वामी ने योगसार ग्रंथ में लिखा है–

विरला जाणहि तत्तु बुह, विरला णिसुणहिं तत्तु।
विरला झायहिं तत्तु जिय, विरला धारहिं तत्तु।।६६।।

अर्थात् इस लोक में तत्वों को जानने वाले जीव बिरले हैं, सुनने वाले कम हैं। सुनने से ज्यादा जानने वाले कम हैं। जानने वाले हजारों हैं, तो भो ज्ञानी! मानने वाले बहुत कम हैं और मानने वालों में धारणा बनाने वाले जीव अंगुलियों पर गिनने लायक हैं। भो ज्ञानी! इन शब्द–वर्गणाओं को नष्ट मत करो, इनको संजोकर रखो, यह पुण्य के योग से मिली हैं। यदि यह नष्ट हो गईं तो एक–इंद्रिय बनना पड़ेगा, जो कह नहीं पा रहा है, वेदना हो रही है, कुल्हाड़ी से काटा जा रहा है, करोंते से छीला जा रहा है। इसलिए एक काम कर लो, भोग–उपभोग का परिमाण कर लो। जितनी लेते हो उतनी रख लो, बाकी को छोड़ दो, नहीं तो जितनी वनस्पतियाँ हैं उन सबके भक्षण का दोष तुम्हें लग रहा है, आस्रव हो रहा है, लाखों की संख्या में जीवों के खाने की भावना तो मत बनाओ।

भो ज्ञानी आत्माओ! धूप तो नहीं लग रही, वनस्पति को तो देखो कब से खड़ी है। कभी–कभी



धूप लगना भी चाहिये, क्योंकि ज्यादा छाया में बैठ–बैठकरे तुम धूप को भूल गये हो। पुण्य की छाया में बैठे–बैठे बहुत दिन बीत गये और जरा–सी पाप की धूप आ गई तो उतने में ही तुम बिलखने लगे। अरे! जिसने धूप में बैठना सीख लिया हो, उसे छाया और धूप में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। हे योगी! यह तो जरा–सी धूप है, उस कामना और वासना की धूप की तपन को तो देखो। यह धूप तो शरीर को ही तपा रही है, वासना के ताप ने तो आत्मा को ही जला डाला।

अहो! अनादि–काल से तूने अपने ज्ञान का विपरीत परिणमन किया है। तू ही कर्ता है, तू ही भोक्ता है। कर्मों के पिण्ड का कर्त्ता परमेश्वर नहीं है। कर्म कर्त्ता नहीं है, तेरा रागादिक भाव ही तेरा कर्त्ता है। रागादिक–भाव का तू कर्त्ता होने से तू जड़ कर्मों का भी कर्त्ता है।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।। ८० स.सा.।।

हे जीव! तेरे रागादिक भावों से कार्माण–वर्गणाएँ कर्मरूप हुई हैं। उन कार्माण–वर्गणाओं के बंध होने के कारण तू रागादिक–भाव से परिणत हुआ है। बिना जीव के संयोग के कर्म–वर्गणायें कर्मरूप नहीं बनती और बिना कर्मबंध के जीव रागादिक–- भाव को प्राप्त नहीं होता। यह आगम का कथन है। यह भूल कर्मों की नहीं, यह भूल तेरी ही है। कर्मों को दोष मत देना। वह तो हर समय आप से भिन्न हैं। पर आप पकड़े बैठे हो, इसलिए यह रागादिक परिणामों का जो परिणमन चल रहा, उसका कर्त्ता–भोक्ता तू ही है। कर्मों को दोष देते रहोगे तो उससे तुम्हारा कार्य सिद्ध नहीं होगा। अपने आप को ही आप दोष दें।

भो चेतन! इंद्रियों को दोष मत देना, देह को दोष मत देना। इंद्रियों ने इंद्रियाँ नहीं दिलाई, देह ने देह नहीं दिलाई। तेरी आत्मा के विकारी भावों के ज्ञान का जो विपरीत परिणमन हुआ है उसके कारण तुम संसार में भटक रहे हो। कौन भटका रहा है? आपके ज्ञान का विपरीत परिणमन कहें या रागादिक–भाव कहें या अज्ञान दशा कहें। भो ज्ञानी! यह सब आत्मा की ही दशा है। आप मिथ्यात्व के कारण कहें, ठीक है। दूसरों के दोष देखना तुम्हारी आदत बन चुकी है। अरे अज्ञानी! तू क्यों दूसरों को देख रहा है? यह जीव स्वयं का कर्त्ता है, स्वयं का ही भोक्ता है और स्वयं ही रागादिक भाव करेगा तो कर्त्ता–भोक्ता बनेगा। रागादिक भाव को छोड़कर परमात्म–दशा को प्राप्त करेगा, तो वहाँ पर भी सिद्ध–स्वभाव का स्वयं ही भोक्ता है।

मनीषियो! आज अपने घर में जाकर इतना ही विचार कर लेना, हे प्रभु! मैं छाया में बैठ कर धूप में न चला जाऊँ। यह पुण्य की छाया मिली है इसे भोगों की धूप में मत जला डालना। ऐसा चिंतवन करोगे, तो चिंता नष्ट हो जायेगी और तुम्हारा सब कुछ छूट जायेगा।

परमात्म-स्वरूप

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः।। ११।।

अन्वयार्थ : यदा सः = जब उपर्युक्त (अशुद्ध आत्मा)। सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं = सर्व विभावों से पार होकर। अचलं = (अपने) निष्कम्प। चैतन्य = चैतन्यस्वरूप को। आप्नोति = प्राप्त होता है तदा = तब यह आत्मा उस। सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिम् = सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ के प्रयोजन की सिद्धि को। आपन्नः = प्राप्त होता हुआ। कृतकृत्यः भवति = कृतकृत्य होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! वर्द्धमान स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने तत्त्व-दृष्टि, द्रव्य-दृष्टि और पर्याय-दृष्टि का बृहद् कथन किया है। जो वस्तु का स्वभाव है, वह तत्त्व है। जो द्रवणशील है, वह द्रव्य है। जो त्रैकालिक मौजूद है वह पदार्थ है। द्रव्य में जो परिवर्तन है, वही पर्याय है। अहो! परिवर्तन हो तो भी ज्ञान-दर्शन है, नरक में है तो भी ज्ञान-दर्शन है और मनुष्य है तो भी उनके ज्ञान-दर्शन गुण है। पर्यायधर्म भिन्न है, गुणधर्म में भिन्नता नहीं है। चाहे वह साधारण वनस्पति हो या प्रत्येक हो, चाहे ज्ञानी मनुष्य हो। उस गाजर के अंदर बैठा जीव भी महावीर भगवान है। उस मूली के अंदर बैठा जीव भी महावीर भगवन्त है। अहो मुमुक्षुओ! ध्यान से सुनना, तू पर का कर्त्ता भी नहीं है, तू पर का भोक्ता भी नहीं हैं। निज की परिणति का ही व कर्त्ता व भोक्ता तू है। यह विषय शब्दों मात्र का नहीं, तुम्हारी अंतरंग वृत्ति का है। जिसका भाव विशुद्ध होगा, उसकी वृत्ति नियम से विशुद्ध होगी। जिसके भावों में निर्मलता नहीं है, उसकी वृत्ति विशुद्ध दिख सकती है पर हो नहीं सकती, क्योंकि योग-उपयोग-संयोग की दशा पर वृति निर्भर है। बगुले का योग निर्मल है क्योंकि एक टाँग से खड़ा है, उपयोग की दशा निर्मल है, पर वृत्ति निर्मल नहीं है। माँ जिनवाणी कहती है कि योग भी निर्मल हो, उपयोग भी निर्मल हो और संयोग भी निर्मल हो, उसका नाम मोक्षमार्ग है। द्वादशाङ्ग में मात्र द्रव्य-गुण-पर्याय मात्र का ही कथन है। मिथ्यादृष्टि भी कथन करेगा तो द्रव्य-गुण-पर्याय का ही कथन करेगा। मिथ्यात्व तो इस बात का है कि उसका सिद्धांत विपरीत है। भगवांन् पूज्यपाद स्वामी ने तत्त्व की परिभाषा 'सर्वार्थसिद्धि' में इस प्रकार की है-'तस्य भावं तत्त्वं' जो पदार्थ का स्वभाव है, वही तत्त्व है।

भो ज्ञानी! जिस दिन गाय को उत्तम घास खिलाई जाती है, शाम को ही दूध अच्छा निकलता है। परिणमन की योग्यता, निमित्त गाय का, लेकिन उपादान घास में था। चरणानुयोग कहेगा कि हरी मत खाओ, जीव है। द्रव्यानुयोग कहेगा-भैया! ऐसे-वैसे जीव नहीं हैं; वे भी सिद्ध बनने वाले जीव हैं। आप जिन अनंत सिद्धों की वंदना करते हो, उन अनंत सिद्धों की हिंसा कैसे करोगे? इसलिए



तुम वनस्पति का सेवन मत करो। अहो! जो भविष्य में बनने वाले मेरे वंदनीय भगवान हैं, उनका भक्षण मैं कैसे करूँ ? प्रभु! मुझे प्रकृति ने बहुत दिया है। जीने के लिए बहुत खाने की आवश्यकता नहीं है। आचार्य सन्मतिसागर जी महाराज ने दो साल से सिर्फ गन्नारस और छाछ लिया है। अब गन्ने का रस भी छोड़ दिया, मात्र छाछ ले रहे हैं। वह भी रोज नहीं ले रहे, आठ दिन के अभी उपवास किये हैं। वह जीव जी रहा है कि नहीं? इससे लगता है कि वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है तो छाछ भी बल दे देती है, अन्यथा दूध--मलाई भी तुम्हें सुखा देती है। साध्साधना के क्षेत्र में आचार्य सन्मति सागर (मासोपवासी) का दुबला--पतला शरीर है फिर भी विहार भी कर लेते हैं, प्रवचन भी रोज देते हैं और घंटों--घंटों शीर्षासन से सामायिक करते हैं। इसलिए यह भ्रम छोड़ देना कि भोजन से ही बल मिलता है। उपादान--शक्ति तुम्हारे आत्मा की होती है। आत्मबल नहीं है, तो रक्त का पानी बनता है। डॉक्टर कहेगा--हार्मोन्स की कमी है, मगर कर्मसिद्धांत वीतरागविज्ञान कहेगा कि तेरे कर्मो की कमी है। तेरा वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम मंद पड़ चुका है। यही तेरे लिए शांति का हेतु बनेगा। वे हार्मोन्स तो तुम जुटाते रहो, पर जुटेंगें नहीं। अरे! अनंत जीवों को खाकर तुम इस पुद्गल को मत गिराओ, नियम से राख होगा। विश्वास न हो तो श्मशानघाट को देखकर आ जाओ। यही तत्त्व--देशना है।

भो ज्ञानी! जिस दिन तत्त्व ने तत्त्व को समझ लिया, उसे परमतत्त्व बनने में देर नहीं लगेगी। आप स्वयं एक तत्त्व हो और शब्द के श्रद्धान में डूबे हो। जिस दिन तत्त्व--श्रद्धान जम जायेगा, उस दिन आप किसी से 'तू' कहके नहीं बोलोगे। कहोगे कि मैं किसी सिद्ध--तत्त्व की अविनय नहीं करना चाहता। फिर कौन भाई-- भाई लड़ेगा? कौन सास--बहू लड़ेगी? देखना घर की क्या व्यवस्था बनती है ? जो मात्र द्रव्यानुयोग को ही समझ रहा है और शेष तीन अनुयोगों की अविनय कर रहा है, वह घोर मिथ्यादृष्टि है। जिनवाणी कह रही है कि मेरे समझाने की चार शैलियाँ हैं। मैं किसी को अविनय नहीं सिखा रही। अनुयोगों का ज्ञाता हर शैली (दृष्टि) से तत्त्व को समझेगा।

भो ज्ञानी! जहाँ गजराज जैसा मृतक तिर्यंच पड़ा हो, जिसकी सड़ान्ध इतनी तीव्र हो कि एक--दो धूपबत्ती/अगरबत्ती की सुगंध कुछ नहीं कर पायेगी। इसी प्रकार जिस जीव के अंतरंग में मिथ्यात्व का सड़ा तिर्यंच पड़ा हुआ है, उसकी दुर्गंध इतनी विशाल है कि, भो ज्ञानी! तुम्हारी छोटी--मोटी बातें उसको प्रभावित नहीं कर पा रही हैं। उसके लिए साक्षात् जिनेन्द्रदेशना की अगरबत्ती ही चाहिए और वह भी तभी काम करेगी जब हड्डी पसलियों को वहाँ से हटाया जायेगा। जब तक मिथ्यात्व की प्रकृतियाँ नहीं हट रही हैं, तब तक सम्यक की सुगंध उस घर में आने वाली नहीं है। मिथ्यात्व की प्रवृतियों को धीरे से निकाल दो। जैसे घर की सफाई कर लेते हो, वैसे निज घर की सफाई क्यों नहीं कर रहे हो? ईंट--चूने के घर की सफाई के लिए आप खुद स्वामी बन जाते हो और निज आत्म घर की सफाई के लिए आप आचार्य भगवन्त और तीर्थंकरों की ओर देखते हो, कि महाराज! कुछ उपाय बता दो।

अरे! शोधन आप को ही करना होगा। ध्यान रखना, उपादान की योग्यता तुम्हारी निर्मल होगी, तो अल्पचिंतन भी चेतन--प्रभु को जगा देगा। देखो, तीर्थंकर भगवान जैसा निमित्त भी काम में नहीं आया और जब उपादान जाग्रत हुआ तो शेर की पर्याय में दो निर्ग्रंथ संतों की वाणी काम आई और



भगवन्त बनाकर चले गये। हे भावी भगवान! शेर की भवितव्यता कितनी निर्मल थी, कि जिसने मृग को पंजा मारकर आँसू टपका लिये। हे नरसिंहो! अभक्ष्यों का सेवन करके तुम अपनी भवितव्यता को नहीं निहार रहे हो। कौन नहीं जानता कि अमुक वस्तु भक्ष्य है कि अभक्ष्य? अरे! ऐसे निर्मलकाल में भी आप नहीं सुधर सके, तो छठवें काल में सुधरने का कोई अवसर नहीं है। आज विवेक भी काम कर रहा है। जिनवाणी भी है, अर्हन्त–बिम्ब भी है, निर्ग्रंथ भी तुम्हारे पास हैं। इसे मैं पुण्य कहूँगा, लेकिन वैभव का नाम कभी पुण्य मत कह देना। पूज्यपाद स्वामी ने पुण्य को वैभव नहीं लिखा। जिससे आत्मा पवित्र हो, उसका नाम पुण्य है।

भो ज्ञानी! पवित्र करने वाला कोई द्रव्य है, तो वह रत्नत्रयधर्म है। रत्नत्रयधर्म के प्रति जिसकी भावना निर्मल हो रही है, भक्ति उत्पन्न हो रही है, अरहंत वाणी पर भावना है, श्रद्धा है, विश्वास है, तो बिल्कुल नहीं घबराना, भवितव्यता निकट है। आपने कोई खोटा कृत्य किया था, तो खोटे काल में आ गये, पर आवश्यक नहीं कि खोटा हमेशा खोटा ही बना रहे। आप इस पर्याय में मारीचि की पर्याय से ज्यादा खोटे तो नहीं हो, क्योंकि तीन सौ त्रेसठ मिथ्या मत नहीं बना रहे हो। इसलिए तुम पर्याय के खोटे भाव को द्रव्य का खोटा मानकर मत बैठ जाना। 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' में कथन है कि अपने परिणाम के कर्ता व भोक्ता तुम स्वयं हो। ध्यान रखना, अच्छा करोगे तो अच्छा भोगोगे और बुरा करोगे तो बुरा भोगोगे, अब निर्णय आप को स्वयं करना है।

भो ज्ञानी! देखो भगवान की प्रतिमा को, हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। आप नमोस्तु भी करो, तो आशीर्वाद नहीं देते और निंदा करो तो नाराज भी नहीं होते। भगवन्त समन्तभद्र स्वामी ने लिखा–

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे, न निंदया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः,पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।। ५७।। स्व.त्रो.।।

हे प्रभु! आप निंदा करने वाले पर बैर–भाव नहीं करते हो और प्रशंसा करने वाले पर खुश भी नहीं होते, क्योंकि आप वीतरागी हो। जब तक हर्ष–विषाद है, तब तक वीतराग भाव नहीं है। वीतरागी के हर्ष–विषाद कहाँ और हर्ष–विषाद वाले वीतरागी कहाँ ? वंदना भी करना, तो देख लेना कि हमारा वंदनीय कैसा है? इसकी वंदना करने से मैं बंध तो नहीं जाऊँगा? मैं बंधन के लिए वंदना नहीं करता हूँ, मैं निर्बन्ध होने के लिए वंदना करता हूँ।

भो ज्ञानी ! हमारा आगम ज्ञान से मोक्ष नहीं मानता है। कभी भी भूलकर ज्ञान मात्र से मोक्ष मत कह देना। आपको याद होगा कि जब हाथी के पग तले बेटे की मृत्यु को सुन सेठ मूर्च्छा खाकर गिर गया और जैसे ही एक छात्र दौड़ते–दौड़ते आया, बोला–सेठजी! वह तो पड़ोसी का बच्चा है तो उनकी मूर्च्छा भंग हो गई। बोले–मोक्ष हो गया। ज्ञान होते ही मोक्ष हो गया। यह बौद्धदर्शन कह रहा है कि बोधि होते ही मोक्ष होगा। हाथी के पग तले बेटे की मृत्यु को सुनकर मूर्छित हुआ, परंतु 'मेरा बेटा नहीं है,' ऐसा सुनकर मूर्च्छा भंग हुई। इसमें दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीनों थे। बेटा आपका नहीं था ये ज्ञान हुआ, जैसे ही श्रद्धान बना कि हाँ मेरा नहीं था तो मूर्च्छा भंग हो गई। मोह का छूटना चारित्र था, इसलिए कुंदकुंद स्वामी ने 'प्रवचनसार' में चारित्र की चर्चा की है–



चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।। ७।।

भो ज्ञानी! मोह अर्थात् दर्शनमोह, क्षोभ याने चारित्रमोह। दर्शनमोह और चारित्रमोह से रहित परिणाम जिस जीव के हैं, उसका नाम संयमी है। दर्शनमोह एवं चारित्रमोह चल रहा है, उसका नाम संयम नहीं है। इसलिए ध्यान रखना, ज्ञान से मोक्ष नहीं होता है। सम्यक्दर्शन–ज्ञान– चारित्र तीनों की एकता की पूर्णता का नाम मोक्ष है। इसलिए जैन–संस्कृति आत्मा के क्रमिक विकास की संस्कृति है। ध्यान रखना, निर्मल पुरुषार्थ मोक्षपुरुषार्थ है, उस मोक्षपुरुषार्थ की सिद्धि जिसे हो जाये,वही पुरुषार्थसिद्धि है। उस पुरुष के अर्थ की सिद्धि का हेतु 'चारित्रं खलु धम्मो' है। चारित्र के अभाव में महान नहीं बन पाओगे। आप कम से कम अणुव्रत स्वीकार कर लेना, क्योंकि अमृतचंद स्वामी ने शर्त रख दी है कि इस ग्रंथ को तभी सुनें जब आप अष्ट –मूलगुण –धारी हों। इतनी बड़ी शर्त लगाने वाला यह पहला ग्रंथ है। ग्रंथराज 'षट्खण्डागम' में उल्लेख है कि जब तक महाव्रती नहीं बनोगे, तब तक आप इसे अध्ययन नहीं कर सकते हो। आचार्य अमृतचंद स्वामी कह रहे हैं कि जब तक अणुव्रती नहीं बनोगे, तब तक 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय नहीं सुन सकते। बात को समझना, मोक्षमार्ग चौदहवें गुणस्थान तक चलता है और जिस दिन मार्ग की पूर्णता हो जायेगी उस दिन, हे मार्गी! तू मोक्ष प्राप्त कर लेगा। इसलिए कल्पनाओं में मोक्ष का आनंद मत लूटना।

यदि ज्ञान से मोक्ष मानोगे तो आप जैनदर्शन में नहीं रहोगे। 'समयसार' आदि ग्रंथों में ज्ञान से मोक्ष कहाँ है? सम्यक्त्व से भी मोक्ष कहाँ है? चारित्र से भी मोक्ष कहाँ है? भो चेतन! अध्यात्म ग्रंथ अभेद की बात करते हैं। अतः, सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र/रत्नत्रय से मोक्ष होगा। इसलिए मोक्ष तो एक ही है। आचार्य उमास्वामी ने सूत्र को बड़े हिसाब से लिखा–**'सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणिऽमोक्षमार्गः**, इन तीनों की एकता का नाम मोक्षमार्ग हैं।





बंध, निबंध दशा

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन।।१२।।

अन्वयार्थ :– जीवकृतं = जीव के किये हुये। परिणामं = (रागादि) परिणामों का। निमित्तमात्रं प्रपद्य = निमित्तमात्र पाकर। पुनः=फिर। अन्ये पुद्गलाः=जीव से भिन्न अन्य पुद्गल स्कन्ध हैं वे।

अत्र स्वयमेव = आत्मा में अपने आप ही। कर्मभावेन = (ज्ञानावरणादि) कर्मरूप से। परिणमन्ते= परिणमन कर जाते हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! ज्ञानचेतना यदि निर्मल हो तो परमात्मतत्त्व दूर नहीं है और जहाँ ज्ञान का विपरीत परिणमन हुआ, समझ लो कि मेरा मोक्षमार्ग अवरुद्ध हो गया। ऐसा चिंतवन जीव को विशालता देता है और यही चिंतवन जीव को संकुचन भी देता है। आत्मा वहीं है, अन्यत्र नहीं गई, पर संकुचित चिंतक तो नीचे चला और विशाल चिंतक सर्वज्ञ हो गया क्योंकि चिंतन की धारा विशाल थी, समदृष्टित्व–भाव था, प्राणीमात्र के प्रति एकत्व–भावना थी तथा स्व के प्रति अभिन्नत्व– भावना थी। भिन्नत्व में अभिन्नत्व देखना और अभिन्नत्व में भिन्नत्व देखना,यही तत्त्व की सबसे बड़ी भूल है। ज्ञान–दर्शन तेरा अभिन्न–स्वभाव है, उस पर तेरी अभिन्नदृष्टि नहीं है और पौद्गलिक पदार्थ तेरे से अत्यंत भिन्न हैं, उन पर तू अभिन्नदृष्टि किये है, यह सबसे बड़ी तत्त्व की भूल है। यह ज्ञान के विपरीत–परिणमन का प्रभाव ही है कि यह जीव संसार में गोते खा रहा है। पदार्थ अपने आप में मूक है, द्रव्य अपने आप में शांत है, परन्तु परिणति में उथल–पुथल है। मनीषियो ! ध्यान रखना, सर्वज्ञ बनने वाली आत्मा संपूर्ण संबंधों से परे होती है। बात समझना कि जब तक आपका एक से संबंध होगा, तब तक अनेक से संबंध नहीं होगा, जिसका एक से संबंध छूट जाएगा, उसका अनेक से संबंध बन जाएगा, यही संत–दृष्टि है।

भो ज्ञानी! सर्वज्ञ तभी बने, जब वे आत्मज्ञ थे। जब तक सबको जानने की भावना बनी रहती, तब तक 'सबको जाननेवाला' नहीं बन सकते थे। यदि सबके ज्ञाता बनना चाहते हो तो सब का ज्ञान छोड़ दो। जिस दिन सबका ज्ञान छूट जायेगा, उस दिन आप स्व के ज्ञाता बन जाओगे, क्योंकि सबको जानने की भावना रागी में होती है। जब तक राग रहेगा, तब तक सबको जानने की दृष्टि भी रहेगी और जिस दिन राग बीत जाएगा, तुम सबको जानने की दृष्टि भी नहीं रखोगे, आपके ज्ञान में सब आ जाएगा। इसलिये ज्ञानी–जीव जानने की दृष्टि में नहीं रहता। ज्ञानी– जीव न जानने की दृष्टि में रहता है। जितना कम जानोगे, उतना ही स्वयं को जानोगे और जितना ज्यादा जानने का विचार करोगे, उतना ज्यादा आप स्वयं से अज्ञानी बनते चले जाओगे। अहो! आपके पास ज्ञान का क्षयोपशम तो अल्प है, चाहे आप जिनवाणी को जान लो अथवा उपन्यास पढ़ लो। जानने में बंध नहीं, जानने–जानने



की दृष्टि में बंध है। इसी प्रकार से ज्ञाता–भाव बंध नहीं कराता, ज्ञाता भाव में राग भाव बंध कराता है। इसलिये बंध का हेतु ज्ञाता भाव नहीं है। भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' में कहा है–ज्ञाता भाव बंध नहीं, बंध का कारण राग है, इसलिये विरागता की सम्पत्ति में लिप्त होकर राग मत करो।

भो ज्ञानी! एक जीव कहता है: ''जड़–कर्म घुमाते हैं मुझको, यह मिथ्या भ्रांति रही मेरी'' और एक जीव कह रहा है कि 'रागद्वेष घुमा रहे हैं'। मनीषियो! घुमा कौन रहा है ? और घूम कौन रहा है ? एक कार्य में एक ही कारण नहीं होता, एक कार्य में अनेक कारण होते हैं और उनमें से अपने–अपने स्थान पर वे सभी कारण प्रबल ही होते हैं। कुछ नजदीक हैं, कुछ दूर हैं, निमित्त है, उपादान है। इस बात को आचार्य महाराज कह रहे हैं कि बंध किसने कराया ? 'समयसार' जी में अस्सी नंबर की गाथा और 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' में बारह नंबर का श्लोक यह दो समझ में आ गए, तो दोनों भ्रांतियाँ समाप्त हो जाएँगी।

भो ज्ञानी! देव–शास्त्र–गुरु की उपासना तो चल रही है, पर साथ में सिद्धांत के विपरीत श्रद्धा भी दौड़ रही है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि उपासना तो कषाय की मंदता में भी हो जाती है और मंद मिथ्यात्व में भी हो जाती है। यह उपासना लोकदेशना के लिये भी हो सकती है तथा उपासना में कोई आशा भी हो सकती है, परंतु सिद्धांत में आशा और लोभ नहीं होना चाहिये। अरिहंत भगवान को भावमोक्ष होता है,लेकिन द्रव्यमोक्ष तभी होगा जब आत्मा अष्ट कर्म से रहित हो जाएगी। अष्टकर्म से रहित आत्मा तभी होगी जब पहले आप आत्मा में कर्मबंध स्वीकार करोगे। यह विषय भले ही आपको शुष्क दिखेगा, परंतु प्रामाणिकता के नाते बहुत गहरे में समझ कर चलना है। यह जीव, बंध के अभाव में मोक्ष मान रहा है, तो छुड़ाओगे किसे? 'वृहद द्रव्य संग्रह' में आचार्य नेमिचंद्र स्वामी ने कहा है:

वण्ण रस पंच गंधा, दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।।7।।

अहो चैतन्य! वर्ण, रस, गंध आदि में आत्मा का धर्म नहीं है। यह पौद्गलिक धर्म है। वर्ण पांच, गंध दो, स्पर्श आठ, रस पांच निश्चय से हमारी आत्मा में नहीं है। इसलिये मेरी आत्मा अमूर्तिक है। व्यवहारनय से ये आत्मा मूर्तिक है। इसलिये जब तू परमार्थदृष्टि से देखेगा तो अभूतार्थ है, परंतु व्यवहारदृष्टि से देखेगा तो भूतार्थ है। अतः उभयदृष्टि से देखना। जब तक अभूतार्थ को अभूतार्थ और भूतार्थ नहीं समझोगे, भूतार्थ को भूतार्थ नहीं समझोगे तब तक अभूतार्थ को नहीं छोड़ेंगे और भूतार्थ को स्वीकार नहीं कर सकोगे। 'समयसार' जी में आचार्य कुंदकुंद स्वामी लिख रहे हैं :–

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं।। ३११।।
जह बंधे छित्तूणय बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूणय जीवो संपावदि वमोक्खं।। ३१२।।



बन्ध को तोड़ने से बंध छूटेगा, बंधन से बंधा निर्बंधता का चिंतवन करे तो भी नहीं छूटेगा। बंध से बंधा है और बंधरूप स्वीकार ले तो भी नहीं छूटेगा। द्रव्यानुयोग कहता है: बंधन में पड़ा निर्बंधता को जान रहा है कि सुख निर्बंधता में है, तो बंध को छोड़ने का पुरुषार्थ करता है। निर्बंधता का ज्ञान जिसने करा दिया, वह द्रव्यानुयोग है। जो बाँधकर रखे, वह करणानुयोग है। जो छुड़वा रहे हैं वह चरणानुयोग है। जो संकेत कर रहा कि, भइया संभल के चलना, वह प्रथमानुयोग है। यदि निर्बंधता के सुख की बात करते हो तो बैल से पूछो--अहो वृषभ! तूने बंध को समझा है, तेरे सामने हरी घास है, दाने भी रखे हुए हैं, परंतु मौका देखता है कि मालिक गया कि खूँटे को तोड़ने के लिये पुरुषार्थ प्रारंभ कर देता है। हरी घास को नहीं निहार रहा है।

भो चैतन्य आत्माओ! तुम्हारे पास ऐसी हरी घास राग की है, पर पता नहीं कौन से खूँटे से बँधे हो? खूँटा, रस्सी भी नहीं दिख रही है आपकी। ध्यान रखना, यदि बंधन में सुख होता तो तिर्यंच खूँटा तोड़ने का प्रयास कभी नहीं करता। सोने के पिंजरे में तोते को रत्नों की कटोरी में बादाम की खीर दिख रही है, पर देखो तो एक पक्षी तोड़ के चला गया, छोड़ के चला गया, परंतु आप ऐसे पक्षी हो कि फिर भी छोड़ कर नहीं जा रहे। यह कमजोरी स्वयं की है और स्वयं ही दूर करेगा। इसलिये तो आचार्य कुंदकुंददेव ने लिखा है--जिस प्रज्ञा से बंध किया है, उसी प्रज्ञा से बंध से छूटेगा। परंतु आप शक्ति को छिपाए बैठे हुए हो, बुरा मत मानना। आगम में स्पष्ट लिखा है कि अपने वीर्य को छिपाकर, अपनी शक्ति को छिपाकर, डाकू तो पर द्रव्य पर डाका डालता है,पर तुमने तो स्वयं के द्रव्य पर डाका डाला है। कहता है कि शक्ति नहीं है और विषयों की दौड़ में तेरे पास शक्ति आ जाती है। ऐसे ही माँ जिनवाणी के शब्दों से तेरे अंदर की शक्ति जाग्रत हो जाए तो तेरी शक्ति स्वभाव की ओर चली जाए, पर तुम शक्ति को छिपा रहे हो, जितनी शक्ति है उतना तो कर सकते हो। इतनी शक्ति तो है कि मंदिर में बैठकर भगवान का नाम ले सको। ऐसा कोई पुरुष नहीं होगा जो बिना कुछ सोचे बैठा रहे, उपयोग तो काम करेगा। भो ज्ञानी! उस उपयोग को आप शुभ उपयोग में लगा दो। भो ज्ञानी! वर्तमान में जिओ तो सुखमय जीवन जिओगे। वर्तमान तेरा निर्मल है, तो भविष्य तेरा नियम से निर्मल होगा। ज्ञानी भूत में नहीं जीता, भविष्य में नहीं जीता, वह तो वर्तमान में जीता है। जो वर्तमान में जीता है, वही वर्द्धमान बनता है। इसलिये बंध में सुख नहीं है, सुख तो निर्बंध में ही है। यदि वर्तमान में तुम बंध के कार्यों में लिप्त रहोगे तो निर्बंध--दशा भविष्य में मिल नहीं सकती। इसलिये बंध तभी बंद होगा, जब बंध के काम बंद कर दोगे। अपनी खिड़की स्वयं को ही बंद करनी पड़ती है। पड़ौसी को तुम कहोगे भी तो वह नहीं कर पाएगा। इसलिए, भो चेतन! तुम तीर्थंकर को भी अपना पड़ौसी बना लोगे, तो वे भी कहेंगे--तेरे घर की खिड़कियाँ तो हम एक बार बंद कर सकते हैं, परंतु तेरे निज- घर की खिड़कियाँ नहीं बंद कर सकते, उनके लिए तो तुझे ही बंद करना पड़ेगा। आगम में लिखा है कि श्रुत के श्रवण मात्र से असंख्यात--गुण--श्रेणी कर्म की निर्जरा होती है,

भो ज्ञानी! जिस वृक्ष की जड़ जितनी गहरी चली जाए वह उतना ही तूफान से बचा रहता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिख रहे हैं: जैसे कि नवीन सकोरा (कुल्हड़) मिट्टी के बर्तन में आप एक बूँद पानी डाल देना। वह दिखेगा नहीं, परंतु और डालते जाओ, डालते जाओ तो कुल्हड़ / में पानी दिखना प्रारंभ हो जायेगा। भो ज्ञानी आत्माओ! अभी आप सिद्धांत की दृष्टि से, आगम की दृष्टि से



नये सकोरे हैं। श्रुत तुम्हारे उस सकोरे में पड़ रहा है, बाहर नहीं जा रहा है। पड़ते–पड़ते एक दिन वह आ जाएगा कि आप बहुत बड़े विद्वान के रूप में दिखना प्रारंभ कर दोगे। ऐसे ही जितने गूढ़–ग्रंथों में प्रवेश कर जाओगे, उतना शुद्ध चेतनत्व प्रस्फुटित होगा। ज्ञान कम हो, कोई दिक्कत नहीं, परंतु विपरीत न हो। अल्प–ज्ञानी को तो मोक्ष है पर विपरीत–ज्ञानी को मोक्ष नहीं है। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने लिखा है कि मोही का बहु ज्ञान भी संसार का कारण है, पर निर्मोही का अल्प ज्ञान भी मोक्ष का कारण है। यदि अभव्य मिथ्यादृष्टिजीव ग्यारह अंग को भी समझ लेता है तो भी उसका ज्ञान संसार का ही कारण है और यदि एक भव्य सम्यक्दृष्टिजीव अष्ट– प्रवचन– मात्र का (पाँच समिति, तीन गुप्ति) को जान लेता है तो समझो मुक्ति हो गई। मोक्ष जाने के लिये बहुत शास्त्र पढ़ने की जरूरत नहीं है, परंतु परिणामों को स्थिर रखने के लिये बहुश्रुत ज्ञान जरूरी है। इसलिए कभी भी ज्ञान का अनादर मत कर देना। अभिमान आए तो केवली को देखना, हीनभावना आए तो निगोदिया को देख लेना। भो ज्ञानी! बंध के कारण हैं–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। आचार्य उमास्वामी महाराज ने लिखा है कि ये ही पाँच शत्रु तुझे बाँधने में लगे हुये हैं। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने चार शत्रु ही गिनाये हैं, क्योंकि प्रमाद को कषाय में सम्मिलित कर लिया गया है। इन बंध के कारणों के द्वारा तेरे कषायरूप परिणाम हुए और वे कर्म –प्रदेश आत्मा के प्रदेशों में प्रवेश कर गये। आत्म प्रदेशों में कर्म प्रदेशों का, दूध में पानी की तरह, एकमेक संश्लेष संबध हो जाना ही बंध कहलाता है।

भो ज्ञानी! जैसे ही तूने राग –भाव किया, मिथ्यात्व –भाव किया, असंयम –भाव किया, वह तुरंत वहीं के वहीं बंध को प्राप्त हो गये। यह दशा आपकी कर्म बंध की है। इसलिये पुद्गल को सर्वथा दोष मत देना; अपने परिणामों को दोष देना। परिणाम तुमने नहीं किए होते तो पुद्गल कार्माण –वर्गणाएँ कभी कर्मरूप परिणित नहीं हुई होतीं। योगीन्दुदेव स्वामी ने 'परमात्म प्रकाश, योगसार' में लिखा है–भो ज्ञानी आत्मा! यह-देह ही देवालय है, इसमें बैठा आत्म ब्रह्म ही तेरा परमेश्वर है। जहाँ देव विराजमान हो उसे आप देवालय कहते हो, चैत्यालय कहते हो, मंदिर कहते हो। भो चेतन! तू मंदिर के बाहर चला जा, जितने पाप करना हो कर लेना, परन्तु जब तक देव– देवालय में बैठा है तब तक तू पाप बिल्कुल नहीं करना। बस, इतना नियम कर लो, कि जब तक देव–देवालय में निवास करेंगे, तब तक पाप बिल्कुल नहीं करेंगे।



बंध–व्यवस्था

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्त मात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि।।१३।।

अन्यवार्थ : हि = निश्चय से। स्वकैः = अपने। चिदात्मकैः =चेतनास्वरूप। भावैः = रागादि परिणामों से। **स्वयमपि** = स्वयं ही। परिणममानस्य = परिणमन करते हुए। तस्य चित अपि = पूर्वोक्त आत्मा के भी। **पौद्गलिक** = पुद्गल। कर्म = ज्ञानावरणादि द्रव्य– कर्म। निमित्तमात्रं भवति = निमित्त–मात्र होते हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की दिव्यदेशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य अमृतचन्द स्वामी ने सिद्धान्त का बहुत ही सहज प्रतिपादन किया है। पुद्गल का स्वतंत्र परिणमन चल रहा है और जीव का स्वतंत्र परिणमन चल रहा है परंतु एक–दूसरे के निमित्त को प्राप्त करके राग–भाव और बंध–भाव को प्राप्त हो रहे हैं।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचंद स्वामी ने समयसार आत्मख्याती टीका की अस्सी वीं गाथा में दोनों बातें कह दी हैं कि जीव के रागादिक भावों के निमित्त को पाकर यह कार्माण –वर्गणाएँ कर्म –रूप को प्राप्त हो रही हैं और कर्म के निमित्त को पाकर, जीव रागादि–भावों को प्राप्त हो रहा है। दृष्टि को निहारना कि जीव चेतन है और कर्म जड़ है, फिर भी जड़ का चेतन पर प्रभाव पड़ रहा है। छह द्रव्यों के अन्तर्गत मात्र जीव और पुद्गल दो ही ऐसे द्रव्य हैं, जिनमें क्रियावती शक्ति है। क्षेत्र से क्षेत्रान्तरित होना–इसे ही क्रियावती शक्ति कहते हैं। जिस प्रकार धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य तथा कालाणु स्थाई हैं, उसी प्रकार आकाश भी अपने आपमें स्थिर है। 'लोक' संज्ञा को प्रदान कराने वाले छह द्रव्य जिस प्रदेश में देखे जाते हैं उसका नाम है आकाश और निश्चयदृष्टि से तो मेरी आत्मा ही लोक है। इस प्रकार पर में पर को देखना बाह्यलोक है, निज में निज को निहारना अन्दर का (निज का) लोक है।

भो ज्ञानी! लोक में छह द्रव्य हैं। छह द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य है और उसके भी छह भेद हैं: (१) जिसका विखण्डन किया जा सकता है, जिसको पृथक्–पृथक् किया जा सकता है, वह स्थूल–स्थूल पुद्गल है, जैसे कि पाषाणखंड को तोड़ दिया, उसके दो टुकड़े आपको आँखों से दिख रहे हैं और हाथों से उठा रहे हो,स्पर्शित भी कर रहे हो,यह स्थूल–स्थूल स्कन्ध है। (२) जो विखण्डित करने पर पुनः मिल जाता है, वह पुद्गल का 'स्थूल'भेद है। जैसे घृत, तेल, पानी आदि। (३) जो चक्षु –इन्द्रिय से दिख तो रहा है, लेकिन जिनका छेदन,भेदन अथवा हस्तादिक से ग्रहण नहीं किया जा सकता है,जैसे छाया, धूप आदि, वह 'स्थूल–सूक्ष्म' पुद्गल है। (४) जिसे आप ग्रहण तो कर रहे हो, अनुभव भी कर



रहे हो, पर दिख नहीं रहा है, जैसे कि आपके कानों में शब्द जा रहे हैं, आप शीत या उष्णता का वेदन कर रहे हो, चार–इन्द्रिय के जो विषय हैं,यह 'सूक्ष्म–स्थूल' है,जैसे स्पर्श, रस, गंध, शब्द आदि। (5) कार्माण–वर्गणादि 'सूक्ष्म' भेद हैं। (६) कर्म–वर्गणा से नीचे के द्विअणुक स्कंध 'सूक्ष्म–सूक्ष्म' भेद हैं, जो अवधिज्ञानी और केवलज्ञानी का विषय बनता है; श्रुत– ज्ञान से 'परोक्ष' विषय बनता है, परन्तु आपके ज्ञान का विषय नहीं है। यह कार्माण–वर्गणाएँ भी प्रत्यक्ष विषय नही हैं ज्ञान का स्कंध–परमाणु जो सूक्ष्म–सूक्ष्म है, के बारे में हमारे आगम में दो आचार्यों के दो अभिमत हैं। यदि हम इनके भेद करेंगे तो परमाणु यहाँ नहीं आ पायेगा और पुद्गल के भेद करोगे तो परमाणु को ग्रहण करेंगे।

भो ज्ञानी! लोगों ने आत्मा और पुद्गल शब्द को मात्र द्रव्यानुयोग की भाषा मात्र समझ लिया हैं, पर द्रव्यानुयोग इतना ही नहीं है। द्रव्यानुयोग को समझना है तो ग्रंथराज पंचास्तिकाय का अध्ययन करो। जितना न्यायशास्त्र है, दर्शन–शास्त्र है, वह सब द्रव्यानुयोग है। आगम में जितना दर्शनपक्ष है, वह सब द्रव्यानुयोग है। आत्मा और पुद्गल के अंदर क्या–क्या परिणमन चल रहा है, यह सब द्रव्यानुयोग का विषय है। सूक्ष्म की चर्चा के पहले आचार्यों ने पुद्गल के चार भेद और कर दिये–स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु।

अहो! अणु/परमाणु की चर्चा करने वाला और शून्य का आविष्कार करने वाला कोई दर्शन है, तो जैनदर्शन है। भौतिक–विज्ञान आज भले ही न्यूट्रान,प्रोट्रान की बातें कर रहा है, लेकिन माँ जिनवाणी से पूछोगे तो यह कहेगी कि अभी तुमने स्कन्ध को ही जाना है, परमाणु को तो जाना ही नहीं है। यह पूरा विषय मात्र आपके मस्तिष्क का चल रहा है। अरे! अनन्तानन्त परमाणुओं का समूह 'स्कन्ध' है, उसका आधा कर दो वह 'देश' संज्ञा को प्राप्त होता है। उस देश का आधा 'प्रदेश' है तथा जिसका विभाग होना बंद हो जाये उसका नाम 'परमाणु' है। जब तक विभाग चल रहे हैं तब तक 'परमाणु' संज्ञा नहीं है, स्कन्ध है। जब आपके पास अविभाज्य बचे–उसका नाम परमाणु है। परमाणु देशावधि ज्ञान का भी विषय नहीं है; वह तो सर्वावधि/परमावधि ज्ञानी मुनिराज के ज्ञान का विषय है। देशावधि –ज्ञान तो देव, नरक, तिर्यंच, मनुष्य आदि चारों गतियों में हो जाता है, पर सर्वावधि/परमावधि ज्ञान नियम से एक–भवावतारी, चरमशरीरी मुनिराज के ही होता है। वह व्यतिपाती (छूट जाने वाला) नहीं होता अर्थात् उनका अवधिज्ञान छूटता नहीं है।

भो ज्ञानी! आज के युग में कर्म–सिद्धांत समझना बहुत सरल हो गया है। कर्म एक वस्तु है, आत्मा भी एक वस्तु है। इसे आप रहस्य का विषय मत बनाओ। आत्मा एक द्रव्य है, कर्म एक द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य परस्पर में निमित्त–नैमित्तिक सम्बंध रखते हैं। जैसे कि आज आपके हाथ में मोबाइल है, बिना तार के आप शब्द सुन रहे हैं। यह शब्द पुद्गल के छह भेदों में 'सूक्ष्म–स्थूल' भेद है, जो चार इन्द्रियों का विषय है। दिखता नहीं, पर अनुभव में आता है। यह पुद्गल–वर्गणायें/ भाषा–वर्गणायें इतनी गतिशील हैं कि एक सैकंड में आप यहाँ बैठे–बैठे हजारों किलोमीटर दूर की बातें कर रहे हो। एक स्थूल पौद्गलिक–शक्ति को वर्तमान के विज्ञान ने इतना विकसित किया है। ऐसे ही शब्दों को संस्कारित करके बोलना अर्थात् शब्दों को व्याकरण द्वारा संस्कारित किया जाना,उसका नाम ही संस्कृत है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि पहले भावों का जन्म होता है, फिर बोली का जन्म होता है। बोली जो खंड–खंड होती है तो व्याकरण से इसमें सुधार किया जाता है,उसका नाम हो गया 'भाषा'।



शब्द को लोगों ने आकाश का धर्म कह दिया, किन्तु आकाश अमूर्तिक है।जबकि शब्द मूर्तिक है। शब्द आकाश का धर्म नहीं, शब्द पुद्गल का धर्म है। यह पुद्गलद्रव्य की पर्याय है और उसे जिनवाणी शब्द वर्गणा कहती है।

यह आत्मा पुद्गल के आलम्बन से इतने सब काम कर रही है। यह चैतन्य–विद्युत की तरंगें इस शरीर रूपी मशीन से अपना सब काम करा रही हैं। बटन चटकाया, काम प्रारम्भ हुआ। चैतन्य बिजली चली गई तो मशीन रह गई। भो ज्ञानी! विद्युत चली जाती है, वह आत्मा है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी कह रहे हैं कि बिना व्यवहार के हम परमात्मा को नहीं समझ सकते। इसी प्रकार बिना पुद्गल के संयोग के हम आत्म –द्रव्य को नहीं समझ सकते। पर आत्मा ही उपादेय है, पुद्गल उपादेय नहीं, ये ध्यान रखना। आत्मा के ज्ञान–दर्शन की तरंगों को अर्थात् आत्मा की उपयोग–दशा को यदि तुम भोग में लगाओगे तो जला देगी और यदि योग में लगा दोगे तो जिला देगी, अमर कर देगी। अब चाहे तुम अशुभ में जाओ, चाहे शुभ में, उपादान–शक्ति तो आत्मा की है। अज्ञानी ने विभाव को पुद्गल में जड़ दिया और स्वभाव को आत्मा में जड़ दिया है, जबकि विभाव व स्वभाव दोनों धर्म आत्मा के हैं।

मोबाइल की सिद्धि हेतु जैन–आगम कह रहा है कि जब उस तीर्थंकर –आत्मा ने जन्म लिया तब स्वर्ग और नरक में कोई मोबाइल नहीं रखा था। परन्तु बिना तार के, बिना लाइन के उस पुण्य –वर्गणा ने प्रभाव दिखाया। सौधर्म इन्द्र का मुकुट हिलने लगा और नरक के नारकी को एक क्षण के लिये शांति मिलने लगी। ये क्या था? मोबाइल की तरह पुद्गल–वर्गणाएँ अपना काम कर रही हैं। विज्ञान ने कुछ नया नहीं खोजा,सब खोजा हुआ दिखाया है। खोजा हुआ रखा है आगम में। अन्तर इतना है कि आज हम अपनी समाज को जैन साहित्य पर आकर्षित नहीं करवा पा रहे हैं, जिनवाणी के सूत्रों के रहस्यों को खोल नहीं पा रहे। आज तो दीवारों पर सूत्र लिखे हैं, लेकिन उन सूत्रों में क्या–क्या है, मालूम नहीं। जब कोई पुण्यात्मा जीव निकलता है, और अपन उससे मिलते हैं तो रोंगटे खड़े होने लगते हैं। इसका तात्पर्य है कि उन वर्गणाओं ने, उन तरंगों ने आपको प्रभावित कर लिया है।

जैसे एण्टीना लगाकर आप पिक्चर खींच रहे हो और बाहर भेज रहे हो, ऐसा ही आगम कहता है। आपने किसी की प्रशंसा की तो वह व्यक्ति समझ जायेगा कि यह हमारे को ही केंद्र बना रहा है। इतने सारे लोग बैठे हैं, उन्हें प्रसन्नता नहीं आ रही, क्योंकि हमारा एण्टीना उनकी ओर नहीं है। जिस जीव के अंदर कषाय भाव है, उस जीव को कार्माण–वर्गणा चिपकती है और जिसको कषाय–भाव नहीं होते, उसको बंध होगा ही नहीं, क्योंकि इसी लोक में तीर्थंकर/केवली रहते हैं,इसी लोक में ऋषि/मुनिराज जी रहते हैं और यहीं रोगी–भोगी भी होते हैं,परंतु वे बंध नहीं रहे हैं और ये बंध रहे है, जबकि वर्गणायें सभी के पास हैं। तेईस वर्गणाओं में से पाँच काम कर रही हैं।

भो ज्ञानी! आगम में देवों के चार भेद हैं: भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्कि और कल्पवासी। इनमें व्यंतर के भेद हैं: भूत, पिशाच। उनके वैक्रियक शरीर हैं। भूत किसी को लग गया, मतलब व्यंतर–देव ने किसी को परेशान किया है। यहाँ तक कि हाथ–पैर हिलाना प्रारंभ हो गये। जब कोई मंत्रवादी कोई मंत्र फूँकता है, तो वह प्रसन्न हो जाता है। यदि भगाने की दृष्टि से किया है तो जिसको लगे हुए हैं,वह चिल्लाता/तड़पता है कि मैं जा रहा हूँ, मुझे छोड़ दो; जबकि कोई पकड़ा नहीं है और पुदगल् से पुदगल् ने उसे खींच कर बाहर कर दिया। ऐसे ही कर्म–वर्गणायें इस लोक में ठसाठस



भरी हुई हैं। जैसे एक कम्प्यूटर में छोटी सी चिप के अंदर कई ग्रंथ भर देते हो! उसमें कौन सी ऐसी शक्ति है जो भरे जा रहे हो? ये पुद्गल में पुद्गल भरे जा रहे हैं।

आत्मा चाहे निगोंदिया के शरीर में हो, चाहे हाथी के शरीर में, वह असंख्यात–प्रदेशी ही है और सत्तर कोड़ा–कोड़ी तक बंध करने वाले कर्म भी इस आत्मा में चिपक जाते हैं। अहो! सत्तर कोड़ा–कोड़ी सागर–प्रमाण में भटकने की जिसे फुरसत हो वे देव–शास्त्र–गुरु आदि की खूब अवहेलना करें। इसलिए, कभी किसी के बारे में अपशब्द मत कहना। किसने क्या कहा, किसे क्या किया, उसकी भवितव्यता वह जाने। हमारे यहाँ पापी की भी आलोचना को मना किया है। आगम तो कहता है कि मुझे समझकर ऋजुता लाओ! जो जिनवाणी पढ़कर भी सूखे बने हुए हैं, ऐसे लोगों के परिणाम बड़े कलुषित होते हैं। पर ध्यान रखना, यह संसार की माँ तो तुझे जन्म देकर संसार में डाल देती है, परन्तु जिनवाणी –माँ संसार से निकाल कर सिद्धालय में भेज देती है। संसारी माँ ने तुझे आंचल का दूध पिलाया है, तेरा पेट भरा है, पर जिनवाणी माँ चारों अनुयोगों के आँचल का पान कराकर तेरे जन्म, जरा, मृत्यु के रोग को मिटाने वाली है। इसलिए इस माँ को भूल नहीं जाना।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवन् अमृतचंद स्वामी इस तेरहवीं कारिका में कह रहे हैं कि जैसे आत्मा के परिणाम, कर्म वर्गणाओं को कर्म रूप परिणमित होने में निमित्त बने, वैसे ही तुझे राग–द्वेष रूप परिणमन कराने में कर्म निमित्त मात्र हैं, क्योंकि इसे निमित्त मात्र नहीं मानोगे तो सिद्धों को भी सिद्धालय से आना पड़ेगा।

"भगवान महावीर स्वामी की जय"





पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।। १४।।

अन्वयार्थ :– एवम् अयं = इस प्रकार यह (आत्मा)। कर्मकृतैः = कर्मों के किए हुए। भावैः = (रागादि या शरीरादि) भावों से। असमाहितोऽपि = संयुक्त न होने पर भी। बालिशानां = अज्ञानी जीवों को। युक्तः इव = संयुक्त सरीखा। प्रतिभाति = प्रतिभाषित होता है, (और)। सः प्रतिभासः खलु = वह प्रतिभास ही निश्चय करके। भवबीजम् = संसार का बीजभूत है।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम्।। १५।।

अन्वयार्थः–विपरीताभिनिवेशं निरस्य = विपरीत श्रद्धान को नष्ट कर। निजतत्त्वम् = निजस्वरूप को। सम्यक् व्यवस्य = यथावत् जानकर। यत् = जो। तस्मात् = उस अपने स्वरूप से। अविचलनं= च्युत न होना। स एव अयम् = वह ही यह। पुरुषार्थसिद्धयुपायः = पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भव्य बंधुओ! आज सभी भव्यों का अहोभाग्य है कि सर्वज्ञ–शासन में विराजकर सर्वज्ञदेव की पीयूषवाणी का पान कर रहे हैं। क्षीण–पुण्यवाले जीवों को जिनवाणी सुनने के भाव ही नहीं होते। वे तो संसार को वृद्धिगत करनेवाली गोष्ठियों में जाकर बैठेंगे, परंतु निजात्म–तत्त्व की गवेषणा, गोष्ठी में बैठने के परिणाम उनके नहीं होते। यही तो जीव के परिणामों की परीक्षा है कि पुण्य–परिणामी पुण्य–क्षेत्र की ओर दौड़ता है और पाप–परिणामी पाप–क्षेत्र की ओर जाता है। अहो, किया भी तो क्या जाय ? विधि का विधान ही ऐसा है, यानि कर्मों का विपाक कर्मानुसार ही होता है।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी आज अपूर्व चर्चा करने जा रहे हैं। वे अनादिकाल की भूल को सुधारने हेतु भव्यों को निर्मल–भाव से सम्बोधन कर निज भूल को सुधारने की प्रेरणा दे रहे हैं कि अन्तर्दृष्टि को विशुद्ध कर लो, क्योंकि बाह्याचरण की निर्मलता होने पर भी अंतरंग की निर्मलता के अभाव में कर्म–निर्जरा नहीं हो पाती। अतः तत्त्वनिर्णय विशुद्ध होना चाहिए। जब तक तत्त्वनिर्णय नहीं होगा, तब तक विशुद्धि में वृद्धि नहीं हो पाती। जैसे ही जीव का तत्त्व का निर्णय होता है, उस समय सम्पूर्ण भय, आश्चर्य, अरति आदि भाव उपशमता को प्राप्त हो जाते हैं। अतः निज जाति धर्म का ज्ञान होना अनिवार्य है। जब तक शूद्र–गृह–पोषित ब्राह्मण–सुत को निज जाति का ज्ञान नहीं होता, तब तक वह अपने को शूद्र–पुत्र ही मानता है, परंतु निज कुल का ज्ञान होते ही उसकी अवस्था शीघ्र ही परिवर्तित हो जाती है। उसी प्रकार यह जीव शूद्र–स्थानी देह में जन्मा है, अज्ञानता से उसे ही निज स्वभाव मान बैठा है। पूर्णरूपेण शरीर में ही आत्मबुद्धि होने के कारण आत्मा के कष्ट का विचार नहीं कर



पा रहा। अतः, जीव के द्वारा शरीर के कष्टों को दूर करने के प्रयास ही हो रहे हैं, जबकि आत्मा के कष्ट दूर होते ही शरीर के कष्ट स्वयमेव दूर चले जायेंगे।

भो ज्ञानी! आचार्यश्री यहाँ पर बहुत ही उपादेयभूत तत्त्व का कथन कर रहे हैं, जिससे अज्ञान एवं अनादि की अविद्या का भ्रम समाप्त हो जाता है। उसे सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी–अपनी स्वतंत्र–सत्ता से युक्त है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के वश में नहीं है। उपादानदृष्टि से अपनी–अपनी योग्यता के अनुसार ही परिणमन करता है। धर्मद्रव्य कभी भी अधर्म द्रव्यरूप नहीं होता, कालद्रव्य कभी भी आकाशरूप परिणत नहीं होता, जीव कभी अजीव(पुद्गलादिरूप) नहीं होता। स्वभाव–अपेक्षा से तो वह आत्मा शुद्ध चिद्रूप है, पर–उपाधि से परे है; परंतु व्यवहारनय से संसार–अवस्था में कर्म–सापेक्षता की अपेक्षा नानारूप है,जैसा कि पूर्व में कहा गया कि रागादिक–भाव पुद्गल–कर्म के कारणभूत हैं, जबकि यह आत्मा निज स्वभाव की अपेक्षा नाना प्रकार के कर्मजनित भावों से पृथक् ही चैतन्य–मात्र वस्तु है। जैसे–लाल रंग के निमित्त से स्फटिक मणि लालरूप दिखाई देती है, यथार्थ में लालस्वरूप नहीं है, रक्तत्त्व तो स्फटिक से अलिप्त ऊपर ही ऊपर की झलक मात्र है और स्फटिक स्वच्छ श्वेतवर्णपने से शोभायमान है। इस बात को परीक्षक (जौहरी) अच्छी तरह से जानता है, परंतु जो रत्न–परीक्षा की कला से अनभिज्ञ है, वह स्फटिक को रक्तमणि व रक्तस्वरूप ही देखता है। इसी प्रकार कर्म के निमित्त से आत्मा रागादिकरूप परिणमन करता है, परंतु यथार्थ में रागादिक–भाव आत्मा के निज–भाव नहीं हैं।

भो ज्ञानी! आत्मा अपने स्वच्छतारूप चैतन्य–गुण–सहित विराजमान है। रागादिकपन अथवा स्वरूप–विभिन्नता ऊपर ही ऊपर की झलक मात्र है। इस बात को स्वरूप के परीक्षक (जौहरी) सच्चे ज्ञानी भलीभाँति जानते हैं, परंतु अज्ञानी अपरीक्षकों को आत्मा रागादिकरूप प्रतिभासित होता है। यहाँ पर यदि कोई प्रश्न करे कि पहले जो रागादिक–भाव जीवकृत कहे गये थे, उन्हें अब कर्मकृत क्यों कहते हैं? तो इसका समाधान यह है कि रागादिकभाव चेतनारूप है, इसलिए इनका कर्ता जीव ही है, परंतु श्रद्धान कराने के लिए इस स्थल पर मूलभूत जीव के शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा रागादिक भावकर्म के निमित्त से होते हैं, अतएव कर्मकृत हैं। जैसे भूत–गृहीत मनुष्य, भूत के निमित्त से नाना प्रकार की जो विपरीत चेष्टायें करता है, उनका कर्ता यदि शोधा जावे तो वह मनुष्य ही निकलेगा। परंतु वे विपरीत चेष्टायें उस मनुष्य के निजभाव नहीं हैं, भूतकृत हैं। इसी प्रकार यह जीव कर्म के निमित्त से जो नाना प्रकार के विपरीत भावरूप परिणमन करता है, उन भावों का कर्त्ता यद्यपि जीव ही है; परंतु यह भाव जीव के निजस्वभाव न होने से कर्मकृत कहे जाते हैं, अथवा कर्मकृत नाना प्रकार के पर्याय, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, नो कर्म, देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यंच, शरीर संहनन, संस्थानादिक भेद एवं पुत्र, मित्रादि, धन, धान्यादि भेदों से शुद्धात्मा प्रत्यक्ष ही भिन्न है।

भो चेतन! स्वभाव–दृष्टि से विचार करने पर तत्त्वज्ञान सहज प्रकट होता है, तथा वस्तु के अंतरंग स्वभाव का वेदन होना प्रारंभ हो जाता है। अज्ञानी जीव देह को प्राप्त कर देही को भूल जाते हैं। संम्पूर्ण पर्याय के क्षणों को पर्यायदृष्टि में ही लगा देते हैं, द्रव्यदृष्टि पर दृष्टि ही नहीं डालते। अतएव एक बार निजद्रव्य के भूतार्थस्वरूप पर निजदृष्टि को ले जा, अहो ज्ञानियो! मालूम चल जायेगा कि आत्मधर्म स्पर्श, रसादि पुद्गल–धर्मों से अत्यन्त भिन्न है। चार अभावों में जीव का पुद्गल के साथ



अत्यन्ताभाव है। जीव ज्ञान–दर्शन– स्वभावी है, दोनों के गुणों व पर्यायों में विभक्त भाव हैं। पुद्गल जड़ है, आत्मा चैतन्य है। आचार्य भगवन् समझा रहे हैं–यह आत्मा कर्मकृत शरीरादि समाहित न होने पर भी अज्ञानीजीव आत्मा को शरीरादि–युक्त मानते हैं। शरीर और आत्मा का संश्लेषरूप संबंध तो है, परन्तु अविनाभाव सम्बंध नहीं है। अविनाभाव संबंध तो जीव के ज्ञानदर्शन के साथ है। आत्मा उपयोगमयी चिद्रूप है। कर्मकृत रागादि भावों को एवं शरीरादि को निजरूप मानना ही अनन्त भवभ्रमण का बीज है। देह व जीव को एक–रूप मानना ही तो बहिरात्म–भाव है। बहिरात्मभाव का परित्याग किये बिना अंतरात्मा नहीं होता और अंतरात्मा हुये बिना जीव कभी परमात्मा नहीं बन सकता। भो मुमुक्षु आत्माओ! भव–बीज देह में आत्मदृष्टि का त्याग करो, तभी परम लक्ष्य की प्राप्ति संभव है।

भो ज्ञानी! विपरीत अभिप्राय को बदलना ही तो सम्यकत्व है तथा विपरीत जानकारी को समाप्त कर सम्यक्रूपेण पदार्थ को जानना सम्यक्ज्ञान है। विपरीताचरण से रहित होना ही तो सम्यक्चारित्र है। इन तीनों की एकता का नाम ही तो मोक्षमार्ग है। इनमें से एक के भी अभाव में मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती। इसलिए, पूर्वकथित पर्यायों में आत्मबुद्धि अथवा सात तत्त्वों से विपरीत तत्त्वों को स्वीकार लेना विपरीत–श्रद्धान है। उस विपरीतता से रहित सम्यक् निज आत्मस्वरूप को यथावत् जानकर अपने स्वरूप से च्युत न होना, यह पुरुषार्थ–सिद्धि का उपाय है। उसी उपाय का पुरुषार्थ कर निज पुरुष की प्राप्ति करो, यही मुमुक्षु जीव का लक्ष्य होना चाहिए, शेष अलक्ष्यों से निज की रक्षा करो।





निर्ग्रंथ –चर्या अलौकिक वृत्ति

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकांतविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः।।१६।।

अन्वयार्थः एतत् पदं = इस पद को। अनुसरतां = अनुसरण करनेवाले (अर्थात् रत्नत्रय को प्राप्त हुए)। मुनीनां = मुनियों को। करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखा = पाप–मिश्रित आचार से सदा पराङ्मुख। एकान्तविरतिरूपा = सर्वथा त्यागरूप। अलौकिकी वृत्तिः भवति=लोक से विलक्षण प्रकार की वृत्ति होती है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी ने बहुत ही सहज सूत्रों का कथन किया कि द्रव्य को नहीं, अभिप्राय को सुधारने की आवश्यकता है। अभिप्राय निर्मल नहीं होने से मारीचि को आदिनाथ जैसे तीर्थेश भी, भगवान् के रूप में नहीं दिखे। अतः, व्यक्तियों में दोष निहारने से पहले अपनी दृष्टि में दोष निहारना बहुत आवश्यक है। ज्ञानी हमेशा अपनी दृष्टि में दोष खोजते हैं। निज की दृष्टि में दोष खोज लोगे तो मोक्ष है और दूसरों के दोषों को खोजकर उनमें सुधार भी करवा दोगे तब भी तुम्हारा मोक्ष नहीं है।

भो चेतन! धोबी की पर्याय में आप कब तक जीते रहोगे? तूने पर के वस्त्रों को धोया है, परंतु स्वयं की चादर को नहीं निहारा कि मेरी चादर में कितने दाग हैं ? दूसरे के वस्त्रों को तूने सिला है, परंतु अपने वस्त्र पर लगा थिगरा नहीं देखा। अहो! जीव को पर का दोष सुमेरू जैसा दिखता है एवं स्वयं के सुमेरू –जैसे दोष राई –जैसे भी नहीं दिखते। भो ज्ञानी! माँ जिनवाणी वस्तु को नहीं, दृष्टि को निर्मल करती है। दृष्टि की निर्मलता ही वस्तु की निर्मलता है। इसलिए, मनीषियो! अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं: जिसने मोक्ष को उपादेय माना है ,उसकी दृष्टि अलौकिक है। पंद्रहवीं कारिका में तो यह कह दिया कि यदि अभिप्राय निर्मल नहीं हुआ तो साधु भेष तो प्राप्त हो जाएगा, परंतु संत –स्वभाव प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि मोक्षमार्ग साधु –भेष से नहीं, साधु –स्वभाव से बनेगा। अतः, भेष 'आधार' है, भाव 'आधेय' है। अतः, जैसा आधेय है, वैसा आधार हो जाता है। आधेय तेरा संत –स्वभाव है तो आधार तेरा साधु भेष है। जब तुम भूल को निकाल कर फेंकोगे ,तभी मूलस्वभाव को प्राप्त कर सकोगे।

भो ज्ञानी! तुम पहले श्रावक धर्म का उपदेश मत देना, पहले यति धर्म (महाव्रत) का कथन करना। यदि महाव्रत स्वीकार करने की सामर्थ्य नहीं हो, तो फिर अणुव्रत की बात करना।

मुमुक्षु आत्माओ! माँ जिनवाणी कहती है–भोग भोगना तो पशुवृत्ति है, बंध का कारण है। अहो! चारित्र का कथन जितना सरल होता है ,चर्या उतनी कठिन होती है। किंतु वास्तव में चर्या से सरल विश्व में कोई पदार्थ नहीं होता, विषयों का सेवन कठिन होता है। भोगने में ग्लानि होती है, शर्म लगती है, परंतु संत बनने में कोई शर्म नहीं लगती। जिसको छिपाकर किया जाए, वही तो पाप है। यदि कोई धर्म और पाप की परिभाषा पूछे तो क्या बताओगे? जितने काम छिपकर किए जाते हैं, वे पाप



हैं। मनीषियो! तुम कितने ही कमरे के अंदर बंद होकर पाप कर लेना, परंतु जिस दिन विपाक आयेगा उस दिन छिपा नहीं पाओगे। वह तो सामने आऐगा ही। जिसके कहने में ग्लानि न हो, बताने में ग्लानि न हो, दिखाने में ग्लानि न हो, वह पुण्य –कर्म है। जिसके सुनने–सुनाने में ग्लानि हो, कहने में ग्लानि हो, दिखाने में ग्लानि हो, समझ लो इससे बड़ा कोई पाप कर्म नहीं है।

भो ज्ञानी! संसार कठिन है, परमार्थ कठिन नहीं है। आप जो कुछ करते हो, सप्त –व्यसनों में उलझ कर करते हो। सबकुछ तेरा पराधीन है। बाल भी कटवाना होता है तो नाई की दुकान के चार चक्कर लगाते हो। पर देखो साधक– वृत्ति, जब मन में आ जाए तो किसी से नहीं पूछते केशलोंच के लिए अर्थात् योगी की प्रत्येक क्रिया स्वाधीन है। एक छोटा –सा बालक आया, बोला–महाराज! हमें प्रायश्चित दे दो, हमारा रात्रि –भोजन का त्याग था, जो हमसे टूट गया। मैंने पूछ लिया कि कैसे टूट गया? बोले–हमने नहीं, चाचा ने जबरदस्ती खिला दिया। हमने मना किया, तो वे मारने को तैयार हो गए। अब देखना संसार की दशा, उस छोटे से बच्चे का हृदय कह रहा कि नहीं खाना, परंतु चाचा ने जबरदस्ती खिला दिया। भो ज्ञानी! इसलिए समझ जाना, सँभल जाना। बंधों के बीच में तुम निर्बंध होने की बात कर रहे हो, यह तो आप गाय के सींग से दूध निचोड़ रहे हो। आप कहोगे जिनवाणी सुनाओ, वे कहेंगे पानी पिलाओ। अतः, बंधुओं के बीच निर्बंध नहीं हो सकते, निर्ग्रंथों के बीच जाओगे तभी निर्बन्ध हो पाओगे। व्रत, समिति, गुप्ति, द्वादस अनुप्रेक्षा, चारित्र ये निर्बंधता के हेतु हैं। इसलिए आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं कि आप लोग गरीब नहीं हो, दरिद्र नहीं हो। आपका द्रव्य आपको दिख नहीं रहा, इसलिए आप दरिद्री मान बैठे हो। अहो! जितने धनाढ्य अर्हन्त प्रभु है, जितने धनाढ्य सिद्ध परमेश्वर हैं; उससे आप किंचित भी अल्प धनाढ्य नहीं हो। अंतर इतना है कि तुम्हारे मोती दीवार में छिपे हैं। अतः यह मोह की दीवारें तोड़ दो और अपनी सिद्ध– पर्याय पर दृष्टिपात करो। क्या अशुद्ध को ही शुद्ध मानकर बैठे रहोगे? यही मान्यता तुम्हें शुद्ध नहीं होने दे रही है। जिस दिन अशुद्ध को अशुद्ध मान लोगे और शुद्ध को शुद्ध जान लोगे, उस दिन तुम शुद्ध होने का पुरुषार्थ प्रारंभ कर दोगे।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, बीज में वृक्ष तो होता है, पर बीज वृक्ष नहीं होता। तिल में तेल होता है; लेकिन तिल, तेल नहीं है। बिना पिरे तिल से तेल नहीं बनेगा। चैतन्य ही परमेश्वर है, लेकिन प्रत्येक चैतन्य परमेश्वर नहीं। जब भी परमेश्वर बनेगा तो चैतन्य ही बनेगा। पाषाण में प्रतिमा है, परंतु प्रत्येक पाषाण प्रतिमा नहीं है। जब भी प्रतिमा निर्मित होगी तो पाषाण से ही होगी। लेकिन बिना छैनी–हतौड़ी के, बिना शिल्पकार के पाषाण प्रतिमा बनेगी नहीं। भेदविज्ञान की छैनी, चारित्र की हतौड़ी और चैतन्य शिल्पकार होगा तो जो व्यर्थ के उपल –खण्ड हैं, शिल्पकार उन्हें तोड़–तोड़ के फेंक देगा। ऐसे ही आठ– कर्मों के जो उपल– खण्ड हैं, उसे भेदविज्ञान की छैनी से टांक–टांक कर तुम निकाल दो, तेरा आत्म –प्रभु प्रकट हो जाएगा। जैनदर्शन में बनाई गई प्रतिमा की पूजा नहीं की जाती, जैनदर्शन में तो निकाली हुई प्रतिमा की ही पूजा होती है। प्रतिमा तो त्रैकालिक उसमें विराजमान है, ऐसे ही तेरे में तेरा प्रभु त्रैकालिक विराजमान है, परंतु कर्मों से ढका है। मात्र भेद– विज्ञान का बाण छोड़ दो, तेरा प्रभु प्रकट हो जाएगा। पर ध्यान रखना, निज के प्रभु को निकालने के लिए षट्रस का भोजन करते–करते तू प्रभु को कैसे निकाल पाएगा ? षट्रस में लिप्त आत्माओ! यदि तुम अपने प्रभु को निकालना चाहते हो, तो जब तक शुद्ध भोजन नहीं करोगे तब तक शुद्ध चेतना जागृत नहीं



होगी। 'मूलाचार' में गाथा ४८९ की टीका में शुद्ध भोजन का अर्थ है पानी में दाल उबालकर रख दो, पानी में साग उबालकर रख दो। उसमें नमक नहीं डालना, कोई बघार नहीं देना। यानि एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का प्रवेश बिल्कुल नहीं करना। जो शुद्ध नीरस भोजन है उसका नाम शुद्ध भोजन और जो मिला दिया वह है विकृत भोजन, अशुद्ध भोजन। अहो! भोजन ही विकार का जनक है। भोजन में विकृति है, तो तेरे भावों में विकृति का उदय हो जाता है। यदि निर्विकारता को हासिल करना चाहते हो, तो निर्विकार वस्तु को ही देखना होगा। जैसा धवल वस्त्र है, वैसा धवल परिणाम रहेगा। तुम्हारी वेषभूषा में, भोजन में, इन सब में संयम होना अनिवार्य है, तब निर्विकारी/शुद्ध बन पाओगे।

भो चैतन्य! बाहर की चमकों को नहीं, अंदर की चमक देखो। श्रावकाचार में इसका सर्वत्र निषेध किया है, क्योंकि आप भड़को या न भड़को, तुम्हारे भड़कीले वस्त्र देखकर दूसरे की भावना भड़क गयी, तो तुम ही दोषी हो। इसलिए, हे निर्ग्रंथ! तू कर्मों से निर्लिप्त होना चाहता है तो मल से लिप्त रहा। मल ही संत का आभूषण है। इसलिए, मल– परीषह नाम का एक परीषह होता है बाईस परिषहों में। आचार्य अमृतचंद स्वामी कह रहे हैं कि धरती के देवता संतों के हम चरण भी छू लेते हैं और आचरण भी छू लेते हैं। आगम में लिखा है–

साधुनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता ही साधवः।
कालेन फलितं तीर्थं, सद्य साधु समागमः।।

तीर्थ का फल तो कालान्तर में फलता है, पर साधु की वंदना का फल तुरंत फलता है। हे प्रभु! मैं संत बनूँ या न बनूँ, परंतु संत –स्वभाव की वंदना अवश्य करूँ। लोक जहाँ जनरंजन में लीन होता है, वहाँ संत आत्मरंजन में लीन होता है। अहो! असंतों का मनोरंजन होता है, तो संतों का आत्मरंजन होता है। भो ज्ञानी! वह ही संत –चरण हैं ,जिन्हें देखकर असंतों के मन में भी एक क्षण के लिए संत बनने की भावना आ जाए। निर्विकारी बनना चाहते हो तो इन आँखों से कहना, हे निर्मल नेत्र! जब भी देखो तो साधु को साधुरूप में ही देखना, क्योंकि जब भी हम संत –चरणों में निहारते हैं, तो तपोवृत्ति ही मिलती है।

भो ज्ञानी! तुम सौभाग्यशाली हो! देखो उन विद्वानों को, तड़प–तड़प के चले गए। कब मिलिहें वे गुरु ? "ते गुरु मेरे उर बसो", क्योंकि ऐसा मध्यकाल आया कि जिस युग में निर्ग्रंथ –दशा लुप्त हो रही थी। उस समय के आचार्य महाराज शांतिसागर, आदिसागर भगवन्तों को नमन कर लेना कि, हे प्रभु! आपने हमारी सुप्त गुरु –व्यवस्था को जागृत किया है और धन्य हैं भगवन्त कुंदकुंद स्वामी, जिन्होंने संत –स्वरूप का व्याख्यान किया और परमवंदनीय भगवन् समन्तभद्र स्वामी, जिन्होंने जिनवाणी को भी कसौटी पर कस कर नमस्कार किया। उन्होंने कहा कि मैं सब देवों को नहीं मानता; जिसमें क्षुधा आदि अठारह दोष नहीं हैं ,वह ही मेरा वंदनीय आप्त है। जिसमें कुपथ का वर्णन किया हो उसे आगम या परमागम संज्ञा मत दे देना। जो आप्त के द्वारा कथित हो और जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, पूर्वापर– विरोध से रहित हो। अहो! जिन– देशना पूर्वापर– विरोध से रहित होती है, कुपथ का खण्डन करनेवाली होती है, उसका नाम वीतराग द्वादशांग– वाणी है। जो विषय–कषाय से रहित हैं, आरंभ–परिग्रह से रहित हैं, ज्ञान–ध्यान–तप में लीन हैं ऐसे निर्ग्रंथ तपोधन ही हमारे परम आराधनीय/वंदनीय, मंगलोत्तम, शरणभूत हैं। वे ही हमारे निर्ग्रंथ गुरु हैं।



भो आत्मन्! हमें व्यक्ति–विशेष से प्रयोजन नहीं। "णमो लोए सव्वसाहूणं" लोक के संपूर्ण साधुओं को नमस्कार हो। जो अंदर व बाहर से निर्ग्रंथ हैं, जो दर्शन–ज्ञान से संलग्न है, जो चारित्र मोक्ष का मार्ग है ऐसे चारित्र की सिद्धि कर रहे हैं, वे ही साधु हैं, वे ही मेरे द्वारा पूज्यनीय–वंदनीय हैं,ऐसा आचार्य भगवन् नेमिचंद्र स्वामी ने 'द्रव्यसंग्रह' ग्रंथ में लिखा है। लोक में बहुत से गुरु होते हैं--विद्या –गुरु, शास्त्र– गुरु, शस्त्र– गुरु; परंतु आस्था के गुरु तो निर्ग्रंथ ही होते हैं। मोक्षमार्ग के गुरु तो निर्ग्रंथ ही हैं। बाकी विधाओं के गुरु का आप बहुमान रखें, सम्मान रखें, कोई परेशानी नहीं है; परंतु इतना ध्यान रखना कि सिखाने वाले सिखाने तक ही गुरू हैं, पर वे सब पंच-- परम-- गुरु की संज्ञा के गुरू नहीं हैं। यदि इससे तुम आगे बढ़ गए तो ग्रहीत–मिथ्यात्व है, क्योंकि सत्य का निरूपण तो असत्यभाषी जीव भी कर सकता है, मद्यपायी भी कर सकता है, पर उसका सत्य, सत्य नहीं कहलाता है। यदि कोई सग्रंथ जिनवाणी का व्याख्यान करता है तो उसमें निर्ग्रंथ– वाणी जोड़ देता है क्योंकि उस बेचारे को मालूम रहता है कि मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ मेरा शब्द हितोपदेशी नहीं हो सकता है। ध्यान रखना, यदि एक छोटा सा बालक भी जिनवाणी को कहता है तो उसकी जिनवाणी सुनने को तैयार रहना। भो ज्ञानी! उद्देश्य, आदेश, निर्णय, परीक्षा, इन चार बातों पर पहले ध्यान देना चाहिए, फिर उपदेश सुनना चाहिए। जो कहा जा रहा है, वह पूर्व आचार्यों के वचनों से मिलाप खा रहा कि नहीं? इसका नाम 'तत्त्व की परीक्षा' है।

मनीषियो! निर्ग्रंथ योगी विषय–कषाय, आरंभ–परिग्रह से रहित होता है। विद्वानों ने पं. टोडरमल जी को आचार्यकल्प लिख दिया है, पर वास्तव में जो पंच–परमेष्ठी आचार्यभूत हैं वैसे आचार्य मत मान लेना। वह विद्वान इतना प्रकाण्ड ज्ञानी था, यदि वे आज तुम्हारे सामने होते तो वह स्वयं कहते कि मेरे साथ मिथ्यात्व को मत जोड़ो। पं. टोडरमलजी जैसा करणानुयोग का प्रकाण्ड विद्वान, जिसने अल्पकाल में जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड की टीका लिखी, त्रिलोकसार ग्रंथ की टीका लिखी। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में मिथ्यात्व का खण्डन किया है। 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' पर भी उन्होंने टीका की है, परंतु अधूरी कर पाए थे, उसकी पूर्ति दौलतरामजी ने की है। अभी तक तो यह व्यवस्था थी कि गुरुओं की टीका को शिष्यों ने पूरा किया है। आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामी की धवला टीका पूरी नहीं हो पायी तो उनके शिष्य जिनसेन स्वामी ने पूर्ण की, वे महापुराण जैसे चौबीस पुराण लिख रहे थे। यदि यमराज तनिक करुणा कर लेता, तो आज दिगम्बर जैन साहित्य में महापुराण जैसे चौबीस पुराण होते, जो आज विश्व में एक अनुपम कृति होती, लेकिन काल कहाँ दया करता है ? चौबीस पुराण लिखनेवाले थे तीर्थंकर के, लेकिन एक बहुकाय आदीनाथ स्वामी का कथन ही कर पाए। बाद में उनके शिष्य गुणभद्र स्वामी ने 'उत्तर –पुराण' में तेईस तीर्थंकरों का वर्णन किया है। अतः, आचार्यों के अधूरे ग्रंथों को शिष्यों ने पूरा किया। यद्यपि पुरुषार्थसिद्धयूपाय ग्रंथ की टीका पंडित टोडरमल जी ने लिखी, पर उनकी मृत्यु के बाद पं. दौलतराम जी ने उसे पूरा किया, यह उनका बड़प्पन था। आप ध्यान रखना, कभी किसी की कृति को चुरा मत लेना। जहाँ से ली, उसका नाम जरूर लिख देना। मुनियों की वृत्ति रत्नत्रय से मण्डित व पापाचार से रहित होती है। पर–से परान्मुख होते हैं और निज से अभिमुख होते हैं, एकान्त –वृत्ति से लिप्त होते हैं।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, भीड़ से संतों के चारित्र का मापदंड मत करना, भीड़ तो जादूगर भी बुला लेता है। भीड़ संत हृदय की पहचान नहीं है, साधना संत –हृदय की पहचान है–ऐसे ऋषियों को नमस्कार कर लेना।

कल्याण हेतु क्रमिक देशना

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन।।१७।।

अन्वयार्थ : यः बहुशः प्रदर्शिताम् = जो जीव बारम्बार बताने पर भी। समस्त विरतिं = सकल पाप रहित (मुनिवृत्ति को)। जातु न गृह्णाति तस्य= कदाचित् ग्रहण न करे तो उसको। एकदेशविरतिः =एकदेश पापक्रियारहित (गृहस्थाचार को)।अनेन बीजेन = इस हेतु से। कथनीया = समझायें (अर्थात् कथन करें)

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्।। १८।।

अन्वयार्थ : यः अल्पमतिः= जो तुच्छ–बुद्धि (उपदेशक)। यतिधर्मम् अकथयन् = मुनिधर्म को नहीं कहकरके। गृहस्थधर्मम् = श्रावकधर्म का। उपदिशति तस्य = उपदेश देता है, उस उपदेशक को। भगवत्प्रवचने=भगवंत के सिद्धांत में। निग्रहस्थानम् =दण्ड देने का स्थान। प्रदर्शितं = दिखलाया है।

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्साहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना।।१९।।

अन्वयार्थ : यतः तेन = जिस कारण से उस। दुर्मतिना = दुर्बुद्धि के। अक्रमकथनेन =क्रमभंग कथनरूप उपदेश करने से। अतिदूरम् =अत्यंत दूर तक। प्रोत्साहमानोऽपि= उत्साहवान् होने पर भी। शिष्यः अपदे अपि = शिष्य तुच्छ–स्थान में ही। संप्रतृप्तः = संतुष्ट होकर। प्रतारितः भवति =ठगाया जाता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! धरती के देवता निर्ग्रंथ–योगी की दशा अनुपम है। जहाँ सारा विश्व सोता है, वहाँ योगी जागते हैं और जहाँ सारा विश्व जागता है, वहाँ निर्ग्रंथ–योगी सोता है। यह परम वीतरागी संत की दशा है। अहो! जिनकी दृष्टि में प्रत्येक जीव के प्रति निर्मल परिणाम हैं तो उनके भाव में भी पदार्थ वैसा ही झलकता है। यदि आप ऐसा मानकर चलें कि सभी मेरे शत्रु हैं, तो आपको कोई मित्र मिलने वाला नहीं। यदि साधु को श्रावक पर विश्वास नहीं हो तो गमन ही नहीं हो सकता। अपरिचित हैं, फिर भी परिचित हैं। निर्ग्रंथ योगी को जिस ओर तुमने मोड़ दिया, उसी गली में चल देते हैं। कितना निश्चिन्त जीवन होता है। निश्चिन्त जीवन जीना है तो सच्चे साधु बनकर बैठ जाओ। जिनवाणी कह रही है–बेटा! हम तुमको विकल्प में नहीं रखेंगे। तुमको यह भी विकल्प नहीं होगा कि कल मेरा किसके यहाँ भोजन होगा। तुम तो प्रतिज्ञा करके निकल जाना, आखड़ी ले करके निकल जाना।



भो ज्ञानी! आचार्य शान्तिसागर महाराज एक बार चर्या को निकले, तो सहजता में चले गये और ऐसी आखड़ी ली कि जिसके द्वारे पर रत्न पड़े होंगे, वहीं आहार करूँगा। एक दिन हो गया, दो दिन हो गये, फिर भी संत की मुस्कान नहीं गई; क्योंकि पराधीन नहीं थे, स्वाधीन थे। तीन दिन हो गये, अब तो श्रावकों में हलचल मच गई। भौंरा पुष्प से रस तो लेता है, पर पुष्प में छिद्र नहीं करता है; इसी प्रकार यति श्रावक से आहार तो लेते हैं, परंतु उसे कष्ट नहीं देते।यह मधुकरवृत्ति है। आचार्यश्री को घूमते–घूमते सात दिन हो गये। धन्य हो यति की साधना! धन्य हो शान्तिसागर महाराज! इधर एक सेठानी इतनी विकल थी कि सात दिन हो गये, आचार्य महाराज की चर्या नहीं हो पाई। जब एक–दो चक्कर लगते हैं तो आप कैसे घबराते हो और फिर विधि मिलाते कैसे मशीन से चलते हैं हाथ आपके? इधर से उधर, यूँ लोटा, यूँ फल पटका। उसी गिरा–पटक में सेठानी कलश उठा रही थी और झटका लगा तो स्वयं के गले के मोती की माला टूट गई और पूरे में बिखर गई। आचार्य महाराज खड़े हो गये, क्योंकि विधि थी कि मोती–माणिक द्वार पर पड़े होने चाहिये।

भो ज्ञानी! विधि बलवान् है! जब विधि होती है, तभी विधि मिलती है। विधि नहीं है, तो विधि मिलनेवाली नहीं है। कुण्डलपुर में एक श्रावक ने चार माह तक चौका लगाया, अंतिम दिन था चातुर्मास का और आचार्य महाराज के मन में भी विकल्प आ गया। अब विधि तो नहीं मिल रही, इसी श्रावक के यहाँ ही चलो। अब देखना, श्रावकराज सबेरे से पधार गये, बोले–महाराज! आज तो आखिरी दिन है। अहो! वह दिन भी चला गया, क्योंकि निर्ग्रंथ योगी किसी के निमंत्रण पर नहीं जाते, किसी के कहने पर नहीं जाते। पर देखना, विधि याने भाग्य, विधि याने कर्म, इसलिये आप कभी व्यर्थ मत रोना। सब विधि पर छोड़ दो, परंतु पुरुषार्थ अवश्य करो। इसलिये अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि जिन विषमताओं में लोक रोता है, उन विषमताओं में प्रभु हँसते हैं। योगी सोचता है कि मेरी गुप्तियाँ व समितियाँ पहरा दे रही हैं, धर्म के दस ताले पड़े हैं और वज्र–कपाट मेरा सत्यशील का है, वहाँ भय किस शत्रु का है ? भो ज्ञानी! यदि शत्रु प्रवेश करेगा भी तो चरण की दीवारों को ही तोड़ पायेगा, परन्तु धर्म के वज्र कपाट में उसका प्रवेश संभव नहीं है। निर्ग्रंथ योगी चिन्तन करता है कि पाषाण और स्वर्ण में, काँच व कामिनी में जिसकी समदृष्टि है, वही संत–दृष्टि है। यदि इनके पीछे साधक पड़ गया, तो उसे अनन्त–चतुष्टय की प्राप्ति असम्भव है। इसलिये, कौन क्या कह रहा है–यह मेरा विषय नहीं, अज्ञानियों का विषय है, अल्पज्ञों का विषय है। जिनके 'चक्षु' पर को निहार रहे हैं, उनके चक्षु स्वयं के लिये नहीं हैं। "नियमसार" में कहा गया है–जिससे निर्मलता हो, चित्त में विशुद्धि हो, कर्म की निर्जरा हो, वह जिनेन्द्र के शासन में 'ज्ञान' है। पर को देखना अनाचार है, निज को देखना ही शील है, वही संयम है; अन्यथा विकल्पों के अलावा कुछ भी नहीं है। लोक में नाना जीव हैं, नाना द्रव्य हैं, नाना परिणमन हैं। किस–किस के परिणामों को तुम परिवर्तित कराओगे? भो ज्ञानी! स्वयं के घर में जब तुझे अपने पर विश्वास नहीं, तो पराये के विश्वास को क्यों देख रहा है? अपने भावों से पूछ लो कि मेरी परिणति कहाँ से कहाँ जा रही है। सब कुछ जानने का पुरुषार्थ करोगे, तो आप कुछ भी नहीं जान सकोगे। तुम्हारा पूरा जीवन निकल जायेगा, पर कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। एक पिंजड़े में दो पक्षी कैसे पलेंगे? पिंजडे में दो पक्षी पलेंगे नहीं, लड़ेंगे। योगी निज कार्य के वश से कुछ कहते हैं, फिर उसको भूल जाते हैं, क्योंकि उनके पास संयम का पक्षी बैठा है। यदि असंयम



को पालेंगे तो बेचारा संयम पलेगा ही नहीं; इसलिये योगी वैभव से रहित होते हैं। इस जीव ने योग के वेश को अनंत बार देखा है, पर योग–स्वभाव को नहीं देखा; क्योंकि योगी–स्वभाव बाह्य चक्षुओं से नहीं देखा जाता है। योगी–स्वभाव का वेदन होगा, तभी तो शेर को देख कर वह घबराते नहीं। क्योंकि उन्हें शेर में भी शेर नहीं दिखता है, गीदड़ में भी गीदड़ नहीं दिखता है। योगी–स्वभाव तो देखो, सप्तव्यसनी को देखकर उसे सप्त–विषयों का व्यसनी नहीं कहा, उसे भी उन्होंने मुनि बना लिया। परंतु धिक्कार हो उन योगीवेशधारियों को जो योगी में योगी को नहीं देख पाते हैं। धन्य हो उस योगी को, जो सप्त व्यसनी को योगी बना लेते हैं। आचार्य शान्तिसागर महाराज के संघ में पायसागर आचार्य महाराज हो गये हैं, जो कि मुनि बनने के पूर्व सप्त–व्यसनी जीव थे।

महाराज का विहार हो रहा था। लोग आ गये–महाराजश्री! हमारे नगर में प्रवेश नहीं करना, क्योंकि डर था कि कोई उपद्रव न हो। तुम सोचना कि उपद्रवी में भगवान् बैठा था, पर निकालने वाला चाहिये। जितने भगवान् बने, सब उपद्रवी ही तो थे। भगवान महावीर कौन साधु थे, वह तो इतने उपद्रवी थे कि वे भगवान् के पास सुधर नहीं पाये। ३६३ मिथ्या पंथ चलाने वाले वे मारीच के जीव थे, भगवान् बने हैं। इसलिये, उपद्रवी से भयभीत न हों, उपद्रवों से भयभीत रहो। तो जैसे ही महाराज चल दिये, वे सज्जन पहले ही मिल गये। लोग सोचने लगे कि हाय! अब क्या होगा? उस पारखी जौहरी को देखो, उपद्रवी को जैसे ही सामने देखा, अपना कमण्डल पकड़ा दिया। हाय, अब तो गया कमण्डल। वे नहीं सोच रहे थे कि यह भावी योगी हैं।

प्रवचनसभा में बगल में बिठा लिया। सबकी आँखें आचार्य महाराज के बाद उसके पास ही थी। जैन आचार्य भगवन् की पावन पवित्र वाणी सुनते ही वह नवयुवक, जो सप्तव्यसनी था, सभा में खड़ा हो गया। प्रभु! मैं आज से अखण्ड ब्रह्मचर्य का व्रत लेता हूँ। आशीर्वाद दे दिया और वह बने योगी पायसागर, जो कड़कती दोपहरी में व ग्रीष्मऋतु में, बालू में, घुटनों के बल, पद्मासन में सामायिक करते थे। लोगों ने पूछ लिया–महाराज! इस काल में ऐसी घोर तपस्या? बोले–भाइयो! उस दिन पूछने नहीं आये जब मैं घोर सात व्यसनों को सह रहा था ! इसलिये संत–हृदय असंत में भी संत को खोज लेता है। आवश्यकता दृष्टि की है।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि एकान्त में निवास करने वाले ऐसे योगियों की आलौकिक वृत्ति है। सब कुछ सुने, सब कुछ कहे, फिर भी अपने को न भूले। रास्ते में अनेक उपसर्ग, परीषह, भक्त–अभक्त सभी प्रकार के जीव मिल रहे हैं, सबसे चर्चायें करो, पर अपने आत्मघट को मत भूल जाना। यह है संत–दशा, यही मोक्षमार्ग है, यही समयसार है, यही तत्त्वसार है, यही पुरुषार्थ की सिद्धि है। आचार्य महाराज अब वक्ता से चर्चा कर रहे हैं। भो ज्ञानी! यदि तुम्हारे सामने कोई साधक मुमुक्षु आता है अपनी भावना को लेकर, उसकी भावना मत गिरा देना, किसी के घाव पर नमक मत छिड़कना। जिसे बंध हो गया हो, वह कभी जिनेन्द्र के शासन की मार्ग प्रभावना नहीं कर सकता; क्योंकि अशुभ–आयु के बंधक की दृष्टि–वीतराग मार्ग के प्रति निर्मल नहीं होती। अतः मिथ्या–उपदेश मत कर देना।

भैया का विचार बना कि मैं तो आज दो प्रतिमा ले रहा हूँ। दूसरे भाई खड़े हो गये, बोले–तुम्हें पार्टियों में जाना पड़ता है, व्रती बनकर क्या करोगे? भो ज्ञानी! तुम गये थे पार्टी में और पता चला दूसरे दिन तुम्हारे द्वारे पर शोक पार्टी बैठ गई। किसी को रोकना मत, कोई संयम की ओर बढ़ रहा



हो तो इतना जरूर कह देना कि, भैया! ले लो,ले लो; परन्तु पीछे मत लौटना संयम से। आप किसी को रोकना मत, आप तो और साधन बना देना कि बहुत अच्छा।

भो ज्ञानी! अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि सबसे पहले आपको महाव्रतों का वर्णन ही करना चाहिये। 'अणुव्रत 'श्रावकों के व्रतों का नाम है। मुनियों के व्रतों का नाम है 'महाव्रत'। समंतभद्र स्वामी कह रहे हैं कि जो व्रत जीव को महान बना दें ,उन व्रतों का नाम है महाव्रत। जिन्हें महापुरुष धारण कर सकें, उसे महाव्रत कहते हैं। जिस कुल में महाव्रती बनते हों, वह ही कुल उच्च–गौत्र है। जब तुम आये हो, कुछ तो ले जाओ। उसको श्रावक के व्रतों का कथन करें, देशव्रतों का कथन करें, अणुव्रतों का कथन करें, क्योंकि आपकी सामर्थ्य महाव्रत धारण करने की नहीं है। यह भी परम्परा से मोक्षमार्ग है। यह भी संयम– असंयम–देशव्रत है। लेकिन मोक्ष तभी होगा, जब तुम सकल–संयमी बनोगे। मनीषियो! उचित तो यही है कि आप सब महाव्रती बनो, नहीं बन पा रहे हो तो कम से कम अणुव्रती तो बन ही जाना। यदि अणुव्रती भी नहीं बन पाओ तो, हमारा आगम बड़ा ही विस्तृत है,बड़ा उदार है, कम से कम पाक्षिक– श्रावक तो बन ही जाना, क्योंकि जिनदेव, जिनवाणी, निर्ग्रंथ गुरु के अलावा अब तुम्हारे पास कोई सहारा इस पंचमकाल में नहीं। डूबते को तिनके का सहारा है। अरहंत–देव नहीं हैं आज, गणधरपरमेष्ठी नहीं हैं आज, साक्षात केवली नहीं हैं आज। तुम्हारे पास जो हैं उनको ही तुम छोड़ बैठे तो, भो ज्ञानी ! अब सहारा कोई नहीं है तुम्हारे पास। इसलिये निर्मल बनो, निर्मल बनाओ, परन्तु समलता न उड़ेलो।

भो चेतन! हिंसा चार प्रकार की होती है–आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी। यदि आप श्रेष्ठ हैं, तो चारों प्रकार की हिंसा का त्याग कर दो। नहीं छूट रही गृहस्थी, तो संकल्पी हिंसा तो मत करो। जानकर किसी जीव का वध मत करो। ऐसा असत्य तो मत बोलना, जिससे किसी जीव के प्राण ही चले जायें। ऐसा सत्य भी मत बोलना जिससे किसी के प्राण चले जायें। वह सत्य, सत्य नहीं जिससे धर्म और धर्मात्मा की हँसी होती हो। तुम्हारा वह सत्य भी असत्य है जिससे धर्म व धर्मात्मा के ऊपर उँगली उठती है। अहो! तेरे शब्द से संस्कृति ही विपत्ति में पड़ जाये तो कहाँ की सत्यवृत्ति? जिसकी वाणी से पूरे धर्म पर आँच आ रही हो, जिनशासन पर एक विपत्ति खड़ी हो जाये, उसको सत्य मत मानना, ऐसा आचार्य समंतभद्र स्वामी ने कहा है। 'मूलाचार' में आचार्य वट्टकेर स्वामी ने भी स्पष्ट लिखा है–जिनवाणी, जिनवाणी है। अपने मन के अर्थ निकालकर जिनवाणी की दुहाई मत दो। मन का अर्थ निकाल कर, कषाय को प्रकट करके, जिनवाणी की दुहाई देकर हम धर्म का बिखराव न करें। यह जिनशासन है, नमोस्तु शासन है। इसलिये चर्चा करो, व्याख्यान नहीं, मिथ्या –उपदेश नहीं। भो ज्ञानी! सत्यव्रत के भी अतिचार हैं, वे अतिचार श्रावक को ही नहीं लगते हैं, साधु को भी लगते हैं। जिनवाणी को जिनवाणी ही रहने देना, महाव्रतों का कथन करें, जब कोई पाल न सके तब अणुव्रतों की चर्चा करें। अधिकांश लोगों की भाषा रहती है कि, भैया! थोड़ा सँभल–सँभल कर चलो, क्रम–क्रम से बैठो, पहले तुम यह बनो, वह बनो। भो ज्ञानी! फिर उतने में ही संतुष्ट हो गये तो क्या बने ? अब आपके सामने आगम है, लेकिन जैनशासन को लजाना मत, क्योंकि हम प्रभावना नहीं कर पाये तो हमें कोई चिंता नहीं है, परन्तु जिनदेव की अप्रभावना इस तन से नहीं करना।

भो चेतन! अन्तर व बाह्य दोनों वृत्ति ही मुनिव्रत है। जब तक बाहर नहीं आया तब तक अन्तर



में कैसा है, क्या मालूम? बाहर में निर्ग्रंथ–दशा होगी तो अन्तस में निर्विकल्प–दशा होगी; परन्तु कोई ऐसा न मान बैठे कि पहले हम निर्विकल्प–दशा को प्राप्त कर लें फिर हम मुनि बन जायेंगे। भो ज्ञानी! वही दशा होगी कि पहले केवलज्ञान हो जाये, फिर दीक्षा ले लेंगे। ऐसा नहीं है! अन्तर व बाह्य दोनों परिग्रह का त्याग होगा। क्या मूँगफली के ऊपर के लाल छिलके को पहले हटाया जाता है ? भो चेतन! ऊपर का छिलका बाह्य परिग्रह है और अन्दर की लालिमा कषायवृत्ति। इसलिये क्रम से टूटेगा। जैसे–जैसे तुम आगे बढ़ते जाओगे, वैसे–वैसे कषाय मंद होती चली जायेगी। यही आगम–परम्परा है, आगम–व्यवस्था है। जिसका आत्मबल प्रबल नहीं है, वह गंभीर–संयम के बारे में कह नहीं सकता और जिसके पास जरा भी कमी होगी, वह निर्दोष–संयम की चर्चा कर नहीं सकता। स्वयं दृढ़ता नहीं है, वह दूसरों से दृढ़ता की बात क्या करेगा? इसलिये भूल नहीं करना कभी। ठीं भैया! तुम जाओ संयम की ओर, बहुत अच्छा है। सहयोगी बनना और कोई दूसरा हो तो उसे समझा देना। ऐसा मत करना कि देखो–देखो, वह गिर रहा है, गिर जाने दो, फिर हम बतायेंगे। फिर लोगों से कहेंगे कि देखो, गिर गया। तुम देखते रहे, तुम कैसे धर्मात्मा थे? तुम्हारा कर्त्तव्य क्या बनता है? कोई गिर रहा है, तुम्हारी सामर्थ्य है तो पहले सहारा दे देना। उन वारिसेण मुनिराज से पूछो, उन्होंने जाकर कहा था, माँ! मेरी बत्तीस रानियों को बुलाओ। माँ भी घबरा गई, हाय! क्या होने वाला है? माँ ने भी दो आसन रख दिये–एक वीतराग आसन, एक सराग आसन। बेटा जाकर काष्ट–आसन पर बैठ गया। माँ प्रसन्न थी कि मेरा बेटा तो वीतरागी आसन पर बैठा। अहो! देखो, क्या स्थितिकरण किया था?– छाँटो बत्तीस में से तुमको जो अच्छी लगे। अहो! धिक्कार हो मुझे। चलो स्वामिन् ,चलो। एक क्षण में ऐसा वैराग्य उमड़ा कि बारह वर्ष में जो अनुभूति नहीं हुई, वह एक क्षण में हो गयी। ऐसी युक्ति, ऐसा वात्सल्य, ऐसी निर्मल, भावना तुम्हारे अन्दर में आये तो, भो ज्ञानी! कोई अधर्मात्मा दिखेगा ही नहीं। जैसे, एक दीवार खिसकती है, आप तुरन्त उसको ठीक कर लेते हो, क्योंकि घर अच्छा लगना चाहिये। जो प्रत्येक दीवार को सुरक्षित रखता है, उसका नाम धर्मात्मा है।

भो मुमुक्षु! सम्यक्दृष्टि–जीव अपने ही अपने मात्र को नहीं देखता, यह स्वार्थ का मार्ग नहीं। "स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं, ऐसे ज्ञानी साधु जगत में दुखः–समूह को हरते हैं"। इसलिये, मनीषियो! हम तो सबसे यही कह रहे हैं कि मुनि बन जाओ, लेकिन शक्ति न हो तो कम से कम आप श्रावक बनकर रहना, क्योंकि आचार्य महाराज कह रहे हैं, कोई शिष्य उत्साही था, महाव्रती बनना चाहता था, आपने उसके प्रोत्साहन को क्या दिया ? अब क्या मालूम कि बाद में भाव बने कि नहीं बनें। आचार्यश्री उपदेशक से कह रहे हैं– तुझ दुर्मति के द्वारा वह बेचारा ठगा गया। कौन ? जो मुनि बनने गया था, परन्तु आपने श्रावक बना कर छोड़ दिया। इसलिये पहले महाव्रत का ही कथन करो। यदि सामर्थ्य नहीं है, योग्यता नहीं है, तो वैसे समझाओ। योग्यता है, सामर्थ्य है, तो आप उसे महाव्रत का ही उपदेश करें। इस प्रकार से अपने जीवन में आप सब महाव्रती बनो, अणुव्रती बनो और मुमुक्षु बनकर मोक्ष को प्राप्त करो।





मोक्ष का मार्गः रत्नत्रय

एवं सम्यग्दर्शनबोध चारित्रत्रयात्मको नित्यं
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः।। २०।।

अन्वयार्थ : एवं = इस प्रकार। सम्यग्दर्शनबोध चारित्रत्रयात्मकः = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,सम्यग्चारित्र इन तीन भेद स्वरूप।मोक्षमार्गः = मोक्षमार्ग। नित्यं = सदा। तस्य अपि = उस (उपदेश ग्रहण करनेवाले) पात्र को भी। यथाशक्ति = अपनी शक्ति के अनुसार। निषेव्यः = सेवन करने योग्य। भवति = होता है।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन
तस्मिन सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्रं च।। २१।।

अन्वयार्थ : तत्र = उन तीनों में। आदौ = पहले। अखिल यत्नेन = संपूर्ण प्रयत्नों से। सम्यक्त्वं = सम्यग्दर्शन को। समुपाश्रयणीयं = भले प्रकार प्राप्त करना चाहिए। यतः = क्योंकि। तस्मिन् सति एव = सम्यग्दर्शन के होने पर ही। ज्ञानं = सम्यग्ज्ञान। च = और। चारित्र = सम्यग्चारित्र। भवति = होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! इस जीव ने बाह्य–तत्त्व को अनन्त बार समझा है। जिस दिन अन्तस्थ–तत्त्व अर्थात् अन्तरंग के तेज को तुमने समझ लिया, उस दिन संसार के सम्पूर्ण बाह्य–तत्त्व तुझे व्यर्थ नजर आयेंगे। वह अन्तरंग दिव्य–ज्योति, वह दिव्यप्रकाश इस आत्मा को अनन्तता की ओर ले जाने वाला है, जिसे भगवान कुंदकुंद स्वामी ने धर्म का 'मूल' कहा है और पंडित दौलतरामजी ने जिसे 'प्रथम–सोपान' कहा है।

मनीषियो! प्रथम–सोपान मत खो बैठना; यह मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है। अतः अपने दर्शन–गुण की रक्षा सबसे पहले कर लेना। क्योंकि श्रद्धा है, विश्वास है, तो मोक्ष तेरे पास है। श्रद्धा, विश्वास नहीं तो ज्ञान 'ज्ञान' नहीं, चारित्र 'चारित्र' नहीं। अरे! अंक नहीं है, तो शून्य 'शून्य' है। देखो शून्य की महिमा, एक को दस बना देती है और शून्य रखते जाओ तो कीमत बढ़ती जाती है, पर यदि अंक सामने है। हजारों शून्य लगे रहने दो और यदि अंक को हटा दो, तो शून्य की कीमत शून्य है। ऐसे ही ग्यारह अंग का ज्ञान और परमविशुद्ध चारित्र हो, परंतु सम्यक्त्व का एक अंक निकल चुका है, तो सब शून्य है। ऐसे ही श्रद्धारहित सारा जीवन शून्य है। इसलिए सर्वप्रथम जैन धर्म का दर्शन यदि प्रारम्भ होता है, तो दृष्टि से ही होता है। जिस धर्म के प्रारम्भ में ही 'सम्यक्त्व' शब्द जुड़ा हो, फिर भले ही आपके व्रत भी नहीं हैं, तो भी तुम दरिद्र नहीं हो। यदि तेरे पास शुद्ध सम्यक्त्व है तो



तुम लंगड़े–लूले नहीं हो सकते, तुम भुवनत्रय में नहीं जा सकते, तुम नारी पर्याय मे नहीं जा सकते हो, नीच कुल में नहीं जा सकते हो और तुम नपुंसक नहीं हो सकते।

भो ज्ञानी! इस लोक में सम्यक्त्व के समान कोई श्रेष्ठ नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई हेय नहीं है। अरे! सब लुटा देना, परन्तु सम्यक्त्व जब दिख जाये तो झोली फैला लेना, लेकिन मिथ्यात्व को सिर मत झुका देना। याद रखो, जब भावी भगवन्तों के प्रति ईर्ष्या–भाव का जन्म होता है, तब तीव्र अशुभ का उदय समझ लेना। मेरा भगवान जब तक नहीं मिलता, तब तक भगवान बनने वाली इन आत्माओं का विरोध मत करना, मिलकर ही रहना। कोई आपका विरोध करे तो आप समझना कि मेरे अशुभ कर्म का उदय है, मेरे निमित्त से यह भगवती–आत्मा विकल्प में जी रही है। यदि आज मैं अर्हंत होता, तो जन्मजात विरोधी जीव भी बैर छोड़ देते। आज मेरे पास ऐसी पुण्य वर्गणाएँ नहीं हैं, जिस कारण मुझे देखकर इस जीव के भाव बिगड़ रहे हैं। निर्मल सोच ऐसी होती है कि मैं पापी हूँ, इसलिये मुझे देखकर इस मनुष्य के परिणाम विकार को प्राप्त हो रहे हैं, यह मेरे अशुभ का उदय है। हे नाथ! मेरे निमित्त से बेचारा कर्मबन्ध को प्राप्त हो रहा है। अहो! मुमुक्षजीव शत्रुता में भी धर्म–ध्यान कर लेता है और मित्रता में भी धर्म–ध्यान कर लेता है। परंतु ईर्ष्या नहीं देख पाती अरहंत को, ईर्ष्या नहीं देख पाती निर्ग्रंथ को, ईर्ष्या समवसरण में भी आँखें बंद करा देती है। इसलिये, प्रवचन सुनना कभी मत छोड़ना, क्योंकि वह सम्यक्त्व–उत्पत्ति का हेतु बनेगा।

जैन–शासन 'युक्तानुशासन' है, इसमें युक्ति से अनुशासन की शिक्षा दी अर्थात् युक्तिपूर्वक अनुशासन की बात की गई है। युक्ति यानि विवेक। वंदना भी करो तो युक्ति से करो। आचार्य भगवन् अमृतचंद्र स्वामी ने श्रावकधर्म की सुंदर व्याख्या की है। श्रद्धावान्, विवेकवान्, क्रियावान् जो है, उसका नाम है श्रावक। अर्थात् जो श्रद्धापूर्वक विवेकपूर्ण आचरण करता है और जिनवाणी को श्रद्धापूर्वक सुनता है, उसका नाम है श्रावक। यह श्रावक जब सर्वप्रथम सम्यक्त्वगुण की ओर चलता है, तो वह एकदेश–जिन बन चुका है, क्योंकि उसने मिथ्यात्व को जीता है। इसलिये तुम घबराना नहीं, आपके पास जिनेन्द्र का अंश आ रहा है और तुमने मिथ्यात्व को जीता है, इसलिये आप जैन हो।

भो ज्ञानी! जिसने मिथ्यात्व और असंयम को जीत लिया है, परन्तु यदि वह धन व सम्मान का भूखा हो, तो उससे बड़ा संसार में कोई अल्पज्ञ नहीं। सम्यक्त्व खोकर तुमने वैभव प्राप्त कर भी लिया, तो तुमने क्या किया? मिथ्यादृष्टि का वैभव केवल मल है। अहो! जिसका सम्यक्त्व– धन लुट गया है, उसके पास बचा ही क्या? श्रावक तो चाहता है कि, हे नाथ! मैं दासी का पुत्र बन जाऊँ, लेकिन प्रभु आपकी दासता न भूल पाऊँ। मैं वह चक्रवती नहीं बनना चाहता हूँ जिसने णमोकारमंत्र पर पैर रख कर अपने जीवन की रक्षा चाही। हे नाथ! मैं वह धनी नहीं बनना चाहता हूँ जो पंचपरमेष्ठी को दुत्कार कर वैभव की प्राप्ति चाहता है। संसार में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये ही पंच शरणभूत हैं। हे ज्ञानी आत्माओ! क्या अरहंतदेव के चरणों में तुम्हें इतना भय महसूस होता है, जो कि तुम जगह–जगह भटकते हो? अरे! जब तक राग और मोह के बादल हैं, तब तक सबको चिंता होती है; जिस दिन मोह के बादल छँट जाते हैं, उस दिन अमूल्य–शक्ति, दिव्य–शक्ति प्रकट हो जाती है,जिसका नाम है सम्यग्दर्शन। भो ज्ञानी! जिसे अपनी आत्मा पर दया नहीं है, जो मिथ्यात्व का सेवन करे, वह कसाई है।



भो ज्ञानी! जंगल में राम, लक्ष्मण, सीता जा रहे थे। सीता कहने लगी–स्वामी! अब तो मेरे से एक कदम भी नहीं रखा जाता, कंठ सूख रहा है। ध्यान रखना, पानी ज्यादा मत फैलाना। देखो, वे दिन भी देखने पड़ते हैं, जब कंठ में चुल्लू भर भी पानी नहीं मिलता। राजकुमारी, सम्राट की पुत्र–वधु, बलभद्र की महारानी, नारायण की भाभी थी सीता। वह भी आज कह रही है: हे स्वामी! प्यास लगी है। कर्म किसी को नहीं छोड़ते हैं। इसीलिये तुम लाखों दान में दो या मत दो, पर किसी को चुल्लू भर पानी के लिए मना मत करना। इस कारिका में आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। इसीलिये 'सर्वार्थसिद्धि' में आचार्य पूज्यपादस्वामी ने लिखा है–चतुर्थ–गुणस्थानवर्ती जीव उपचार से मोक्षमार्गी ही है। पंडित टोडरमल जी लिख रहे हैं कि 'मोक्षमार्गी होसी' यानी मोक्षमार्गी होगा, क्योंकि अभी तीनों की एकता (रत्नत्रय) इसके पास नहीं है। मोक्षमार्ग पर लग तो गया है, इसलिये मोक्षमार्गी ही है। पूर्ण–मोक्षमार्गी तब ही बनेगा जब रत्नत्रय की प्राप्ति होगी। सम्यक्दर्शन होते ही जितना ज्ञान था, वह सम्यग्ज्ञान हो जाता है और जो आचरण चल रहा था, वह सम्यक्आचरण हो जाता है। ऐसा आचार्य कुंदकुंद महाराज ने 'अष्टपाहुड' में लिखा है।

भो ज्ञानी! आपको यथाशक्ति सम्यक्–आचरण का सेवन करना चाहिए। सम्यक्आचरण से आशय है दोषों से रहित शुद्ध सम्यक्त्व का पालन, अभक्ष्यों और सप्त–व्यसनों का त्याग। इसीलिये सबसे पहले यत्नपूर्वक सम्यक्त्व की उपासना करना चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्व–सहित नरक में निवास करना श्रेष्ठ है, पर सम्यक्त्व से रहित देव बनकर स्वर्ग में निवास करना उचित नहीं है। जब तक सम्यक्त्व नहीं है, तब तक ज्ञान 'ज्ञान' नहीं है और चारित्र 'चारित्र' नहीं है। सागर ! सागर चातुर्मास में एकबार जेल में प्रवचन करने गये। अचानक घनघोर मूसलाधार पानी बरसा। तब सारे कैदियों के मन में आया कि उठ जायें, पर जेलर ने अंगुली से संकेत मात्र कर दिया तो एक भी नहीं उठा। प्रवचन चलते रहे। मैं सोच रहा था कि एक अंगुली में क्या शक्ति थी जो एक भी नहीं उठा। मनीषियो! वे अधिकार के पानी में बैठे थे, पर हमें श्रद्धा के पानी में बैठना है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 'स्वयंभू स्तोत्र' में सुपार्श्वनाथ स्वामी का स्तवन करते हुये लिखा है–बेटे को मेले में तब तक आनन्द आता है, जब तक पिता व माँ की अंगुली हाथ में रहती है और अंगुली छूट गयी तो मेले का आनन्द लुट जाता है। ऐसे ही, हे नाथ! तभी तक मुझे आनन्द है, जब तक आपकी अंगुली मेरे हाथ है। यदि यह छूट गई तो, प्रभु! मैं बाराबाट हो जाऊँगा। इसीलिये देव, शास्त्र गुरु की अंगुली रूपी श्रद्धा मत छोड़ देना। श्रद्धा में आक्रोश नहीं होता, अशान्ति नहीं होती। वह श्रद्धा तो ज्ञान व चारित्र की फसल को उत्पन्न करने वाली है। अतः, अपने जीवन में ऐसी श्रद्धा बनाकर चलें कि मेरी आत्मा भगवती–आत्मा बने।



प्रयोजनभूत सात तत्त्व

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्।।२२।।

अन्वयार्थ :– जीवाजीवादीनां = जीव, अजीव आदिक। तत्त्वार्थानां = तत्त्वों का, तत्त्वरूप पदार्थों का। विपरीताभिनिवेशविविक्तं=मिथ्या–अभिप्राय एवं मिथ्याज्ञान से रहित, जैसे का तैसा। सदैव श्रद्धानं =सदा ही, निरन्तर ही श्रद्धान। कर्त्तव्यं=करना चाहिए। तत् आत्मरूपं=वही श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

अंतिम तीर्थेश महावीरस्वामी की दिव्यदेशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचन्द्रस्वामी ने सहज सूत्र प्रदान किया है कि, भो ज्ञानी! संसार में आत्मा के उत्थान का उत्तम मार्ग सम्यक्दर्शन है। जब श्रद्धा के अभाव में संसार में भी सुख नहीं है, तो फिर परमार्थ के सुख को तू कैसे प्राप्त कर सकता है ? यदि तू भोजन करने भी जाता है और तुझे पत्नी पर अविश्वास हो जाए तो तू भोजन भी नहीं कर सकता। जहाँ भी तू जायेगा और अविश्वास है, तो तू अपने जीवन से स्वयं ही परेशान हो जायेगा। करूँ तो क्या करूँ ? अहो! जीवन में यदि कोई महानता का सूत्र है तो वह विश्वास है।

भो ज्ञानी! पर्याय के क्षणिक सुख के पीछे त्रैकालिक आत्म–सुख को मत भूल जाना। जिसे परमेश्वर पर विश्वास है, अविश्वास उसका बाल भी बांका नहीं कर सकता। भगवान गोमटेश बाहुबली की प्रतिमा पर अपूर्व श्रद्धा का ही उदाहरण है। मैसूरनरेश जैन नहीं था, परंतु जैनत्व के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वैदिक–परंपरा के अनुसार कर्नाटक की परम्परा में भगवान की प्रतिमा का जो अभिषेक होता है उसको लोग पी लेते हैं। नरेश को भी इतना अगाध विश्वास था कि वह गोमटेश बाहुबली भगवान के चरणों में हर सप्ताह आता, जब भी मौका मिलता प्रभु के चरणों में शीश झुकाता,पुजारी से कहता– मेरी अंजली में आप जल दे दो और श्रद्धा पूर्वक जल को चरणामृत मान कर पी लेता। भो ज्ञानी! सुख सर्वत्र है, पर ईर्ष्या में न कहीं सुख है, न कहीं शांति है। यदि आप स्वभाव की ओर दृष्टि डालोगे तो आपको सर्वत्र सुख नजर आएगा, दुःख सर्वत्र नहीं हैं। आप अपने घर गये, संबंधियों से झगड़ा हो गया, फिर किसी तीर्थ में चले गए तो वहाँ शांति महसूस होगी। अतः, सुख सर्वत्र है। दुःख वहीं है, जहाँ राग–द्वेष है। तुम्हारा पड़ोसी पैसा कमाता है तो आपको राग–द्वेष होता है। बाहर कितने करोड़पति और अरबपति बैठे हैं, वहाँ आपका ध्यान नहीं जाता है। इसका तात्पर्य है कि जब संबन्ध बनाओगे तो राग–द्वेष होगा। संबंध छोड़ दो, दुःख समाप्त हो जाएगा। जब तक संबंध नहीं छोड़ोग, तब तक सुखी नहीं हो पाओगे। इसलिए, संबंध छोड़ दो तो सुख ही सुख है।

भो ज्ञानी! भगवन् अमितगति ने बड़ा सुन्दर सूत्र लिखा है : संयोग की महिमा देखो कि एक जिए तो लाख हँसे, एक मरे तो लाख रोए और जिसका संयोग समाप्त, वह न हँसे न रोए। एक



सम्राट के प्रति ईर्ष्या ने घर कर लिया। पड़ोसी सम्राट चाहता था कि इसके राज्य को मैं अपने राज्य में मिला लूँ। पर कोई उपाय नहीं दिख रहा था कि इसका घात कैसे हो, क्योंकि वह सबल था। खोजते–खोजते मालूम हुआ कि यह गोमटेश बाहूबली जाते हैं एवं वहाँ जाकर उनके चरणों का जल पीते हैं, क्यों न उस जल में जहर मिला दें? लोभ बड़ा खतरनाक होता है। उस पड़ोसी राजा ने पुजारी को लोभ देना शुरू कर दिया। पुजारी लोभ में आ गया और कहा कि आप चिंता मत करो आपका काम हो जाएगा। परंतु जिसके हृदय में प्रभु बैठा हुआ है, उसका कोई बाल–बांका नहीं कर सकता है। भो ज्ञानी! शरीर को जहर दिया जा सकता है, पर आज तक किसी ने पुण्य को जहर नहीं दिया। कौरवों ने लाक्षागृह में पांडवों के शरीर को जलाने की बहुत चेष्ठा कर ली थी, परंतु हे कौरवो! तुमको करना ही था, तो पुण्य को जलाने के विचार कर लेते।

अहो! सम्राट रोज की भांति पहुँचता है, भगवान की वंदना करता है, नमस्कार करता है, स्तवन करता है। स्तवन करके कहता है: पुजारीजी! चरणोदक दो। वह कटोरा भर के लाया, परंतु उसका हाथ कांपने लगता है। अहो! लोभ तो आज आया है, पहले तो वह भगवान का भक्त था। शिशु–अवस्था में जो संस्कार माता–पिता से प्राप्त किए, जीवन में एक दिन वे संस्कार सामने आकर खड़े हो जाते हैं और हमें पाप के गर्त में गिरने से बचा लेते हैं। पुजारी का हृदय काँप उठता है–सम्राट! मुझे क्षमा कर दो। मेरे अंदर पाप ने निवास कर लिया है। मैं पापी तो नहीं था, पर पैसा बड़ा पापी है, जिससे आज आपकी हत्या करने का विचार किया। राजन्! इसमें जहर मिला है। मैं जहर कैसे आपको पिलाऊँ ? मैसूरनरेश कहता है कि आपकी दृष्टि में जहर हो सकता है, पर आप जैसे देते थे वैसे मेरी अंजुली में दीजिए। यह तो प्रभु के चरणों का चरणोदक है। अहो! अंजुली में लिया और घूँट पी लिया। हे मुमुक्षु आत्माओ! इन वीतरागी चरणों की श्रृद्धा से जहर का प्याला अमृत का काम कर गया, विष निर्विष हो गया। भगवान जिनेश्वर का स्तवन करने मात्र से जहर भी अपनी शक्ति को खो गया, क्योंकि ये श्रद्धा थी, विश्वास था। इसी आस्थारूपी परिणामों की प्रवृत्ति से कर्मों का संक्रमण हो गया। इसलिए सब कुछ चला जाए, चिंता नहीं करना, परंतु श्रृद्धा न जा पाए। भो ज्ञानी! मैं समझता हूँ कि अमीरी पुण्य की है, गरीबी पाप की है; पर श्रद्धा पुण्य–पाप दोनों से परे है। पुण्य व पाप दोनों से जो परे होता है, वही मोक्षमार्ग है। पुण्य में लिप्त रहोगे, तब तक मोक्ष नहीं मिलेगा और पाप में लिप्त रहोगे, तब तक भी मोक्ष नहीं मिलेगा। क्योंकि पुण्य व पाप दोनों से रिक्त आत्मा ही परमात्मा बनती है।

अहो! श्रेणिक का पुण्य कितना बड़ा होगा जिसने साक्षात् तीर्थेश प्रभु के चरणों में साठ हजार प्रश्न किए और फिर भरतेश का कितना प्रबल पुण्य होगा जिसने प्रथम तीर्थेश की वाणी सुनी। परंतु हम लोग भी अभागे नहीं हैं ,क्योंकि उन प्रभु वर्धमान की वाणी को सुन रहे हैं। जिनवाणी के प्रसाद से आप आँखे बंद करके सारे विश्व की वंदना कर सकते हो। आँखे बंद करो और चिंतवन करो, अभी तुम नंदीश्वरद्वीप की भी वंदना कर सकते हो, जहाँ कि तुम जा नहीं सकते हो, पर वही फल मिलेगा जो सौधर्म इन्द्र को साक्षात अभिषेक एवं वंदना करके मिलता है। नंदीश्वरद्वीप में उनके भाव तो किसी समय इधर–उधर हो सकते हैं, पर चिंतवन करने वाले के नहीं हो सकते; क्योंकि वह चिंतवन से जा ही रहा है। तन से पहुँचने वाला एक बार भाग सकता है, पर मन से पहुँचने वाला कहीं नहीं जा सकता है। क्योंकि उसे श्रद्धा, विश्वास और प्रतीति है।

भो ज्ञानियो! सम्यक्दर्शन कह रहा है कि यदि मैं खिसक गया तो तुम श्रावक नहीं बचोगे, साधु



नहीं बचोगे। मुझे संभालकर रखना। कितने ही शिखर बना लेना, उन पर कंगूरे बना लेना, ध्वजा चढ़ा देना, पर नींव की ईंट कह रही है, ध्यान रखो, मेरे ऊपर मिट्टी डाल दो। मैं उखड़ गया तो तुम्हारे एक भी कंगूरे नहीं बचेंगे। सम्यक्त्व कहता है, ध्यान रखो, वह ज्ञान का कलश और चारित्र की ध्वजा सब नीचे आ जाएगी यदि मैं खिसक गया तो। इसलिए मेरे ऊपर विश्वास करो। जो कुछ हो रहा है सब विश्वास पर ही हो रहा है, क्योंकि श्रद्धा का भगवान होता है, श्रद्धा का गुरु होता है, श्रद्धा की जिनवाणी है। श्रद्धा नहीं है तो पाषाण की प्रतिमा है, श्रद्धा नहीं है तो चर्म का शरीर है और श्रद्धा नहीं है तो यह कागज की किताब है। विश्वास है तो पाषाण में परमेश्वर नजर आता है। चर्म में गुरु का धर्म दिखता है और कागजों में वीतरागवाणी झलकती है। श्रद्धा से बड़ी वस्तु संसार में है ही नहीं। हृदय से हृदय मिलता है तो श्रृद्धा है, नहीं तो लगता है कि हम कोई अपरिचित हैं। जब श्रद्धा बढ़ती है तो लगता है कि कितने भवों का परिचय है।

यह भी सत्य है कि अपने पास केवली नहीं है। देखो पंचमकाल के भव्यों को, इन बेचारों के पास कोई तीर्थंकर नहीं, केवली नहीं, गणधर नहीं, धर्म–पुरुषार्थ का कोई फल प्रत्यक्ष दिख भी नहीं रहा। यहाँ पर देव/ विद्याधर भी नहीं आ रहे, फिर भी लोगों का विश्वास/ श्रृद्धान अगाध है। इस काल में भी वे साक्षात् नहीं, तो प्रतिमा में भगवान को निहार रहे हैं, जिनवाणी में जिनेंद्र की वाणी को देख रहे हैं और मुनि में गुरु को देख रहे हैं। इससे बड़ा कोई विश्वास नहीं है।

भो चेतन! इस विश्वास के फलस्वरूप यहाँ बैठकर ढोक लगाने में आपके कर्म की निर्जरा भी उतनी ही हो रही है जितनी सीमन्धरस्वामी के चरणों में बैठकर ढोक लगानेवालों की हो रही थी। आचार्य देवसेन स्वामी ने 'भावसंग्रह' ग्रंथ में लिखा है– चतुर्थकाल का श्रमण एक हजार वर्ष तक तपस्या करे और पंचमकाल का श्रमण एक वर्ष तक वैसी ही तपस्या करे, तब भी पंचमकाल का श्रमण साधना में श्रेष्ठ है। इसलिए, श्रद्धा जैसी आज है, अभी है, उसमें कमी मत करना। यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं–"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनं" जो प्रयोजनभूत तत्त्व है, उन पर श्रद्धा करना सम्यक्त्व है। भगवन् कुंदकुंद स्वामी ने कहा: आत्मा पर श्रद्धा करना सम्यक्त्व है। समंतभद्र स्वामी कहते हैं–देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धा करना सम्यक्त्व है। जहाँ "तत्त्वार्थ श्रद्धानं" शब्द आ जाता है, वहाँ सब परिभाषायें समाविष्ठ हो जाती है। कुंदकुंद स्वामी ने चौरासी पाहुड लिखे हैं। 'अष्ट–पाहुड' में कुंदकुंददेव लिख रहे हैं–

हिंसारहिए धम्मे, अट्ठारह–दोष वज्जिये देवे।
णिग्गंथे पवयणे, सद्दहणं होइ सम्मत्तं।। ९०(मो.पा.)।।

अठारह –दोषों से रहित देव, निर्ग्रंथ गुरु, जिन प्रवचन, हिंसा से रहित धर्म इन पर जो श्रद्धान है, उसका नाम सम्यक्दर्शन है।

आचार्य भगवन् कहते हैं: उस तत्त्वार्थ का उदय कहाँ से हुआ है? आगम कौन सी वस्तु है ? अहो! आप्त के वचन का नाम ही तो आगम है। आगम पर श्रद्धान करते हो और आप्त को नहीं मानते हो तो मिथ्यादृष्टि हो। आप्त के वचन को जिनवाणी मानती है, पर हम आप्त को नहीं मानते, जिनदेव को नहीं मानते। भो ज्ञानी! जिनदेव को नहीं मानोगे तो जिनवाणी कहाँ से आयी? ठीक है, मैं आप्त को मान लेता हूँ , जिनवाणी को मान लेता हूँ, लेकिन हम गुरु को नहीं मानेंगे। अरे! तुम यह तो बताओ कि जो आप्त ने कहा है ,वो लिखा किसने है? निबद्ध किसने किया, गुंथन किसने



किया, ग्रहण किसने किया, झेला किसने है? यदि हमारे आचार्य–परमेष्ठी न होते, गुरु न होते, तो जिनेन्द्र की वाणी तुम्हें देता कौन? इसलिये, जो 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनं' मानता है और देव–शास्त्र–गुरु को भी मानता है, वही सम्यक्त्वी है।

भो ज्ञानी! अलग से शब्द जोड़कर दीवार खड़ी मत करो। जैसा आगम है, वैसा आगम स्वीकार करते जाओ। आत्म–श्रद्धा, देव–शास्त्र–गुरु से हटकर नहीं है और तत्त्व का श्रद्धान आत्मा से हटकर नहीं है, क्योंकि तत्त्वों में पहला प्रयोजनभूत तत्त्व जीव है। पर जब तक आप 'जीवादि' शब्द नहीं लगाओगे ,तब तक जीव की सिद्धि भी नहीं होगी। इसलिए अजीव को भी जानना जरूरी है। सिक्के पर यदि एक पहलू नहीं होगा तो दूसरा कहाँ से होगा? इसलिये दो का जोड़ा है। जीव के दो भेद हैं, त्रस व स्थावर। यह संसार की दशा है, बिना जोड़े के तुम चल नहीं सकते हो।

भो चेतन! इसीलिये व्यवहार–रत्नत्रय और निश्चय–रत्नत्रय दोनों का जोड़ा है। जब तक स्त्री व पुरुष का संयोग नहीं है, तब तक संतान का जन्म नहीं है। जब तक व्यवहार व निश्चय रत्नत्रय का जोड़ा नहीं है, तब तक सिद्ध–संतति का जन्म नहीं है। अहो! अनेकांतदृष्टि बना लो तो चित्त और पट्ट दोनों आपकी ही हो जाएँगी। जब तक अनेकांतदृष्टि नहीं है, तब तक पट्ट हो तो पट्ट ही रहोगे और चित्त हो तो चित्त ही रहोगे। 'अनेकांत' ही वस्तु का धर्म है और 'स्याद्वाद' कहने की शैली है, जो सब कुछ करा रही है। कैसी है आत्मा ? सबसे निकट जो वस्तु है, उसका नाम है आत्मा। जो कुछ परिणमन हो रहा है वह तेरी आत्मा की देन है। इसलिये आप किसी को मत पकड़ो, इस आत्मा को पकड़ लो। माँ जिनवाणी कहती है कि तुम सो रहे हो तो मैं तुम्हें जगा दूँगी और यदि तुम बहाना बनाकर पड़े हो तो तुम्हें कोई नहीं जगा सकता। जो जानकर सोया है उसे कोई नहीं जगा सकता; पर जो सचमुच सोया है, उसे जगाया जा सकता है। इसलिये कहा है–

मोह–नींद के जोर, जगवासी घूमें सदा।
कर्म–चोर चहुँ ओर, सरवस लूटें सुध नहीं।। बा. भा.।।

इसीलिये तो आपको जिनवाणी माँ जगा रही। 'सत्गुरु देय जगाए', मोह–नींद जब उपसमें''। भो ज्ञानी! अग्नि को गर्म करने के लिये क्या बाहर से ऊष्णता लानी पड़ती है ? यह तो उसका निज धर्म है। ऐसे ही किसी के कहने से शीश तो झुकाया जा सकता है ,पर किसी की श्रद्धा नहीं झुकाई जा सकती। अरे! बुंदेलखण्ड के लोग कहते हैं– 'मार–मार' के ऐसा नहीं करना। जिसके मन से मिथ्यात्व की चिड़िया भग जाए, तो सम्यक्त्व–रूपी फसल की अपने आप रक्षा हो जाएगी। इसलिये, अंतर में चिंतवन करना कि आप क्या हो ? वास्तव में मेरी श्रद्धा कैसी है ? निष्कंप/ अचल है कि नहीं ? कहीं सामाजिकता के नाते तो नहीं? श्रद्धा का आधार क्या है ? अहो! श्रद्धा जब होती है तब उसमें आत्मा ही आधेय होता है और आत्मा ही आधार होता है। यह अभेद श्रद्धान है।

भो मनीषी! स्व में रमण चल रहा है, वही निश्चय–सम्यक्त्व है, वही निश्चय–ज्ञान, वहीं निश्चय–चारित्र है। जो कहा जा रहा है, वह सब व्यवहार है, सहचर है, संयोगी है। परंतु अनुभव अवक्तव्य है। शब्दों में अनुभव की व्याख्या नहीं है। ये सब स्थूल बातें हो रही हैं। अब अंदर की बातें आप जानो या आप्त जानें, तीसरा कोई जानता ही नहीं है। परंतु विपरीत–अभिप्राय छोड़कर जो श्रद्धा होगी, वही आत्मरूप श्रद्धान है, वहीं सम्यक्दर्शन है।



निःशंक ही सम्यग्दृष्टि

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्तव्या।।२३।।

अन्वयार्थ : अखिलत्मज्ञैः उक्तं = सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ। इदम् सकलम् = यह सारा वस्तुजातम् = वस्तुसमूह। अनेकान्तात्मकम् = अनेकस्वभावरूप। उक्तं = कहा गया है, सो किमुसत्यम् वा असत्यम् = क्या सत्य है या झूठ है ? शंकेति जातु = ऐसी शंका कदाचित् भी। न कर्तव्या = न ही करनी चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! भगवान महावीर स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे है। आचार्य भगवन् अमृतचंद्रस्वामी ने बहुत सुन्दर सूत्र दिया है कि जैसे शरीर में आठ अंग हैं, उनमें से एक भी अंग आपके शरीर में न हो तो आप सर्वांग–सुन्दर नहीं कहलाते। ऐसे ही सम्यक्त्व के आठ अंग होते हैं। जैसे यदि मंत्र में एक अक्षर कम हो तो विष को दूर नहीं किया जा सकता, ऐसे ही, मुमुक्षु आत्माओ! तुम्हारे सम्यक्त्व के आठ अंग में से एक अंग भी कम है, तो मिथ्यात्व का जहर कम नहीं हो सकता। ध्यान रखना, सर्प के डसे व्यक्ति की तो एक पर्याय ही नष्ट होती है, पर मिथ्यात्व का सेवन करने से अनेक भव नष्ट हो जाते हैं।

भो ज्ञानी! जब भी कोई तत्त्व–देशना प्रारंभ होती है तो सम्यक्त्व क्यों खड़ा हो जाता है? अथवा जब भी कोई तत्त्व–चर्चा होती है तो मिथ्यात्व को छोड़ने की बात आ जाती है। क्योंकि आप चाहे गृहस्थ की क्रिया करें अथवा पारमार्थिक क्रिया, अभिप्राय को निर्मल करने की बात तो पहले ही आती है। अभिप्राय निर्मल नहीं होगा, तो किसी भी संस्था को चला नहीं सकेंगे, चाहे वह गृहस्थ–संस्था हो अथवा साधक– संस्थाहो।

भो ज्ञानी! निर्मलता यानि परिणामों की भद्रता, कषाय की मंदता तथा वस्तु–स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन करने की दृष्टि; वस्तुस्वरूप को समझने की दृष्टि। अतः, जैसा हम अपने लिये समझते हैं, वैसा दूसरों के लिए आप समझने लगो तो आपका अभिप्राय निर्मल कहा जायेगा। निर्मलता के लिए संकोच नहीं, विस्तार लाओ, दृष्टि को विस्तृत करो। श्रमण संस्कृति कह रही है कि श्रावक भी सम्राट होता है और सम्यक्दृष्टि भी वही होता है। तत्वश्रद्धान तथा देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान से पहले अनुकंपा का होना आवश्यक है। यदि अनुकंपा ही नहीं है, तो श्रद्धान कुछ नहीं करेगा। अनुकंपा यानि दया, कृपा, करुणा। यह सम्यक्त्व का पहला गुण है।

'भक्तामर–स्तोत्र' में आचार्य मानतुंग महाराज कह रहे हैं कि–हे जगदीश! आप जगत के ईश्वर हो, प्राणीमात्र को शरण देनेवाले हो, इसीलिए आप भूतनाथ हो। आपका शासन सर्वोदयी शासन है



क्योंकि आप संपूर्ण प्राणियों को समान शरण देनेवाले हो। सम्पूर्ण प्राणियों के लिए समान पूज्यता का उदय करने वाले हो, इसलिए आपका शासन सर्वोदयी है, 'युक्तानुशासन' ग्रंथ में कहा है–हे प्रभु! आपका शासन सर्वोदय–शासन है, जिसमें अनेक प्रवचन सभाएँ होती है। यह प्रवचन की परम्परा अनादि से चली आ रही है। अहो! तीर्थंकर की सभा का जो नाम होता है, वह विश्व में किसी सभा का नहीं होता है। जिसको सुनकर जाति–पाति, पंथ–भेद समाप्त हो जाते हैं, उस सभा का नाम है समवसरण –सभा। जिसमें प्राणी मात्र को समान शरण दी जाती है, समान उपदेश दिया जाता है, जहाँ भेद भाव न होता हो, जहाँ सम्पूर्ण जीवों को जीव–दृष्टि से देखा जाता हो, उस सभा का नाम है समवसरण–सभा। जिस वृक्ष के नीचे प्रभु विराजे हैं, उस वृक्ष का नाम अशोक वृक्ष होता है।

भो ज्ञानी! तीर्थंकर–सभा में जो आता है, उसके सम्पूर्ण शोक समाप्त हो जाते है; इसीलिए आप अशोक वृक्ष के नीचे विराजते हैं। अशोक वृक्ष के नीचे बैठने वाले प्रभु की सभा की वाणी शोक को विगलित करने वाली वाणी है। इसलिए विश्वकल्याणी–वाणी वीतरागवाणी ही होगी, क्योकि यहाँ किसी हवन/पूजा से नहीं, अपितु सम्यक्दर्शन से धर्म की शुरूआत की जा रही है। सम्यक्दर्शन यानि दृष्टि साफ करना। क्योंकि विकार होते हैं तो वासना तन और मन में होती है। अतः, वासना संयोग में नहीं, वासना वियोग में नहीं, वासना तेरे विमोह में यानि मोह–दृष्टि में है।

भो ज्ञानी! दृष्टि विशाल करो। परिणामों में जितनी विशुद्धि होती है, उतना ही धर्म होता है। इसलिए हमारे आचार्यों ने क्षपणासार, लब्धिसार ग्रंथ परिणामों के मापने के लिए लिखे हैं। जिस दिन आपने अपने परिणाम माप लिये, उस दिन अन्य कुछ भी मापने की आवश्यकता नहीं। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी की दृष्टि तो देखो कि श्रावकाचार में पूरी द्रव्यदृष्टि की बात कह रहे हैं: वस्त्रों का धोना धर्म नहीं। तन को धोना धर्म नहीं, दृष्टि को निर्मल करना ही धर्म है, दृष्टि को धोना ही धर्म है। जिसकी दृष्टि पवित्र है, वह परम–पवित्र है। जिसकी दृष्टि पवित्र नहीं है, वह चाहे गंगा में डुबकी लगा ले चाहे क्षीरसागर में, मगर वह पवित्र नहीं है, उसमें विशालता नहीं है। क्योंकि संकुचित हृदयी कभी भी धर्म की विशालता में प्रवेश नहीं कर सकता। संकुचितता में तो घाट दिखते हैं, जबकि विशालता में कुआँ नजर आता है। भो मनीषियो! जिनवाणी किसी भी मुख से आ रही हो, तुम मुख को मत देखना, तुम तो वीतरागवाणी को देखना। घाटों को देखोगे तो प्यासे रह जाओगे। सम्यक्दृष्टि कमल की पंखुड़ी को नहीं, कमल के पुष्पों को देखता है। पंखुड़ी को देखने वाला पुष्पों को समझ नहीं पाता है कि पुष्प में कितनी सुगंध है, क्योंकि वह पंखुड़ी को पकड़े हुये है। भो मुमुक्षु आत्माओ! यह पंखुड़ी का धर्म नहीं, यह वीतरागी हृदय–कमल को विकसित करने वाला धर्म है। जिसका हृदय–कमल खिला होता है, जिसका हृदय विशाल होता है, उसके ही हृदय में परमेश्वर की प्रतिमा विराजमान होती है। जिसके हृदय में विष होता है अर्थात् जिसका हृदय संकुचित होता है, उसकी मानवता मर जाती है। क्योंकि मेरा–तेरा शब्द कमल–पंखुड़ियों में ही होता है।

भो चेतन आत्माओ! सर्वदर्शी बनना चाहते हो तो पहले समदृष्टित्व को लाओ। सम्यक्दृष्टि बनोगे तभी सर्वांग–दृष्टि पाओगे। जब तक समदृष्टि नहीं, तब तक सम्यक्दृष्टि भी नहीं है तथा सम्यक्दृष्टि नहीं है तो सर्वदृष्टि भी नहीं है। इसलिये आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि विशालता हासिल करो, आप सामर्थ्य जुटाओ, मेहनत करो। निगोद से यहाँ तक आ गये हो, अब तुम्हारे पास बुद्धि,



विवेक, आचार–विचार सभी कुछ है। तुम पीछे क्यों हटते हो? थोड़ी सी मेहनत कर लो। बस, दृष्टि को धो लो। ध्यान से समझना, जब एक व्यक्ति को एक पदार्थ के दो दिखें, समलो कि अब हमारी आयु अल्प बची हुई है अथवा जिसकी आँख में मिथ्यात्व का कीचड़ है, उन्हें तत्व में दो–पना दिखता है, भगवानों में भेद दिखते हैं, जिनवाणी में दो–पना दिखता है और वीतरागी संतों में दो–पना दिखता है। परन्तु जिसका कीचड़ निकल जाता है, वह जिनवाणी को जिनवाणी, वीतरागी को वीतरागी, निर्ग्रंथ को निर्ग्रंथ ही देखता है। अतः, जैन दर्शन कह रहा है कि दृष्टि साफ रखो। दृष्टि जितनी साफ होती जाती है, उतना–उतना पानी फैलाना बंद होता जाता है। इसीलिये दिगम्बर मुनि कभी स्नान करते ही नहीं हैं। 'कातंत्र व्याकरण' का श्लोक है–

शुचि भूमिगतं तोयं, शुचिर्नारी पतिव्रता।
शुचि धर्मपरो राजा, ब्रह्मचारी सदा शुचिः।।

"जो राजा धर्मपरायण होता है; वह पवित्र होता है; जो पानी भूमि में बहता होता है, वह अपने आप पवित्र होता है; जो नारी पतिव्रता होती है, वह अपने आप में पवित्र होती है।" पतिव्रता मनोरमा के पैर का अँगूठा लगा कि किले का दरवाजा खुल गया। यह परिणामों की पवित्रता की दृष्टि है; भावों की निर्मलता की दृष्टि है। अभी तुमने बाहर के आनंद लूटे हैं, अन्दर का आनंद तो विचित्र ही है।

भो चैतन्य! ब्रह्मचारी को घर में ही रहना चाहिये। जो बाहर रहता है, वह व्यभिचारी होता है। निज–घर ही मेरा घर है, पर–घर मेरा घर नहीं हैं, यह तो यम–घर हैं। यहाँ से तो तुझे उठकर ही जाना होगा। मनीषियो! यदि निज–घर में चलना है तो तत्त्व की दृष्टि आपके घर की रोटी है कभी भी अपचन नहीं करायेगी, चिन्ता मत करना, बिल्कुल स्वस्थ्य रखेगी। वीतरागवाणी ही सर्वांगवाणी है, जो शाश्वतसुख को प्रदान करती है। इसलिए सम्यक्दृष्टिजीव निःशंक होता है। निःशंक वही होगा जो निःसंग होगा। जरा भी लोभ–लालच होगा तो निःशंकित हो ही नहीं सकता। निःशंक यानि निस्पृह, निष्परिहग्रही। तुम्हारी हालत ऐसी है कि यहाँ गये, वहाँ गये सभी जगह भटक आये। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कह रहे हैं– भो जहाज के पंछी! कहीं भी उड़ लो, पर बैठना तो पड़ेगा धर्म के पोत पर। बिना धर्म–पोत पर बैठे तुम पार हो नहीं सकते। इसीलिए सम्यक्दृष्टि जीव निःशंकित होकर निःसंगता की ओर जाता है और कहता है कि जो सर्वज्ञदेव ने कहा है वह यथार्थ ही है, अन्यथा नहीं है। जैसा कि तलवार पर चढ़ा पानी नहीं उतरता, चाहे तलवार टूट जाय, ऐसे ही सम्यक्दृष्टिजीव प्राण छोड़ सकता है, परन्तु मिथ्यात्व को प्रणाम नहीं कर सकता है।

मनीषियो!दृष्टि तुम्हारी है, कहीं वीतरागमार्ग में अश्रद्धान मत कर लेना। क्योंकि शंका में दोलन–गति चलती है, कि यह सत्य है या कि वह सत्य है। अरे! देखो जिसे तुम अंजनचोर कहते हो, वह निरंजन बन गया। जिसे आप सप्तव्यसनी कहते हो, उसकी ऐसी निःशंकित दृष्टि थी कि निर्ग्रंथ योगी बन गये। आचार्यभगवन् कह रहे हैं–विश्व में जितने पदार्थ हैं, सब अनेकान्तदृष्टि से भरे हैं। भूतनाथ के स्वामी को छोड़कर तुम भूतों के पीछे जा रहे हो। इतने पवित्र शासन को छोड़कर तुम कहाँ दौड़ते हो? तत्त्वों को जाननेवाले! भीख मत माँगो। माँगने से मरना भला, यह सद्गुरु की सीख है। पर सर्वज्ञदेव, वीतरागी–निर्ग्रंथ–गुरु सत्य हैं कि असत्य हैं? ऐसी शंका कभी भी नहीं करना चाहिये। तत्त्वों का जो कथन सर्वज्ञदेव ने किया है,वह ही यथार्थ है, वह ही सत्य है।



निःकांक्षित अंग

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्त्वादीन्।
एकांतवाददूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत्।। २४।।

अन्वयार्थ : इह जन्मनि = इस जन्म में। विभवादीनि = ऐश्वर्य, सम्पदा आदि को। अमुत्र = परलोक में। चक्रित्वकेशवत्वादीन् =चक्रवर्ती, नारायणादि पदों के। च=और। एकांतवाददूषितपरसमयान्= एकांतवाद से दूषित अन्य धर्मों को। अपि = भी। न आकांक्षेत् = नहीं चाहे।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! भगवान महावीर स्वामी की दिव्यदेशना हम सभी सुन रहे हैं कि जिसे स्वयं पर भरोसा है, उसे सब पर भरोसा होता है। जो स्वयं कषायों से भरा होता है, स्वयं में वासनाओं से भरा होता है। उस जीव को सब पर शंका ही होती है। ऐसे ही जिसका हृदय पवित्र होता है वह सोचता है कि संसार में सब पवित्र आत्मा हैं। शंका में जीव चाहे कि मैं तीर्थंकर–प्रकृति का बंध कर लूँ, संसारी जीव चाहे कि मैं परमात्मा बन जाऊँ किन्तु परमात्मा तो बहुत दूर है, वह तो परिवार का मुखिया भी नहीं बन सकता। तुम बड़े होगे तो बन भी जाओगे, पर तुम्हारे बनने से क्या होता है? कोई माने तब ना। माँ जिनवाणी कहती है कि जो स्वयं में यथार्थ नहीं होता, असत्यता में जीता है, स्वयं के अविश्वास में जीता है, वह परमेश्वर में भी विश्वास नहीं कर पाता, उसके हृदय में विशुद्धता नहीं है। क्योंकि जो विशुद्धता से, निर्मलता से भरा होता है उसे इतनी फुरसत कहाँ कि इसके बारे में सोचे, इनके बारे में सोचे। जो फुरसत में बैठा है, जिसे कर्मबंध से भय नहीं है, जिसे संसार में रुकने का भय नहीं है, ऐसे जीव का काम इतना ही अवशेष बचा है कि तुम यहाँ की वहाँ, वहाँ की यहाँ करो, स्वयं शंका में जियो और दूसरों को शंका में डाल दो।

भो ज्ञानी! पहली भावना का नाम दर्शन–विशुद्धि है, सम्यक्त्व विशुद्धि है। सोलहकारण भावना का उल्लेख पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रंथ में किया है। उमास्वामी महाराज ने 'तत्वार्थ सूत्र' में किया है। धवला (षड्खण्डागम) पुस्तक नंबर ८ में जहाँ तीर्थंकर–प्रकृति के बंध का वर्णन है, वहाँ आचार्य वीरसेन स्वामी ने उल्लेख किया कि आपकी १५ भावनायें हो जायें और पहली दर्शन–विशुद्धि / सम्यक्त्व–विशुद्धि–भावना नहीं है तो, १५ भावनायें महत्व ही नहीं रखती हैं। इसलिये ध्यान रखना, निज का हृदय निर्मल सरोवर है, तो सबके प्रतिबिम्ब निर्मल नजर आते हैं और यदि तुम्हारा हृदय–सरोवर ही मलिन है, तो प्रतिबिम्ब भी तुम्हें मलिन ही दिखते हैं। इसलिये प्रतिबिम्ब निर्मल करना है, तो हृदय–सरोवर में फिटकरी डाल दो। अहो! वीतरागवाणी की निर्मली तुम्हारे हृदय–सरोवर में प्रवेश कर जाये, तो जैसे तीर्थंकर–आत्मा को प्रत्येक जीव के प्रति साम्य–दृष्टि झलकती है; ऐसे ही तुम्हारी दृष्टि भी बन जायेगी।



भो ज्ञानी! लोक में अनेक दर्शन कहते हैं कि सर्वज्ञ नाम की कोई वस्तु नहीं, पर आचार्य समंतभद्र स्वामी ने उन सबसे बड़े प्रेम से पूछा है कि सर्वज्ञ नहीं है, तो 'आज' नहीं है या 'भरतक्षेत्र में' ही नहीं है अथवा यह भी बता दो कि क्या भूत में भी नहीं हुये और भविष्य में भी नहीं होंगे? मना करने से पहले विवेक से सोच लेना। अहो! जिसके ज्ञान में त्रैकालिक पदार्थ (द्रव्य, गुण, पर्याय) एक साथ झलकते हों, उसका नाम सर्वज्ञदेव है और जो त्रैकालिक–व्यवस्था को जानता है, उसे सर्वज्ञ कहते हैं। सर्वज्ञ आज नहीं हैं, भरतक्षेत्र में भी नहीं है, लेकिन क्या सर्वज्ञ भविष्य में भी नहीं होंगे, भूत में भी नहीं थे? अरे! मेरा सर्वज्ञ तो तू ही बैठा है। आपके सिर के पीछे क्या है आप बता सकते हो? यदि नहीं बता सकते तो आप सर्वज्ञ का त्रैकालिक अभाव कैसे कर सकते हो?

भो चेतन! आप सर्वज्ञ का त्रैकालिक निषेध बता रहे हो, इसका तात्पर्य तुम तो सर्वज्ञ बन गये और आपको सर्वज्ञ के कथन पर शंका हो रही है कि पंचम काल में तो सम्यक्दृष्टि हो ही नहीं सकता। अहो! मत खोजने जाना कहीं मिथ्यादृष्टि को, उसी का हाथ पकड़ लेना। क्योंकि जिनवाणी कह रही है कि मैं सम्यक्दृष्टि उसे कहता हूँ जो देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धावान है। आपकी दृष्टि में देव भी नहीं हैं, शास्त्र भी नहीं हैं, गुरु भी नहीं हैं और आप सबको मिथ्यादृष्टि कहते हो, अतः पहले मिथ्यादृष्टि आप स्वयं ही हैं, क्योंकि 'रयणसार ग्रंथ' में लिखा है कि जो जीव पंचमकाल में सम्यक्त्व को नहीं मानता, धर्म–ध्यान को नहीं मानता, धर्मात्माओं को नहीं मानता, वह घोर मिथ्यादृष्टि है। आज भी धर्म है, धर्मात्मा हैं, सज्जन हैं, सत्पुरुष हैं। यदि नहीं होंगे तो, भो ज्ञानी! धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं होता। धर्म तभी तक है, जब तक धर्मात्मा है। इसलिये जिसने यह कह दिया कि कोई धर्मात्मा नहीं है, तो आपकी दृष्टि निःशंक भी नहीं है; क्योंकि निःशंकित गुण कहता है कि सात तत्वों, जिनदेव और जिनवाणी पर कोई शंका नहीं है और निर्ग्रंथों पर भी कोई शंका नहीं है।

भो ज्ञानी आत्माओ! यदि कोई जीव इस सन्मार्ग को प्राप्त करके भी उन्मार्ग में जा रहा है, हम उसे अनायतन कहते हैं। आगम की दृष्टि में आयतन का सेवक सम्यक्दृष्टि और अनायतन का सेवक मिथ्यादृष्टि है, अतः, पहले तू स्वयं पर निःशंक होना सीख ले। क्या मालूम हमने व्रत लिया, हमसे पालन होगा कि नहीं? निःशंकता नहीं है। आप मोक्ष की बात कर रहे हो, तो निर्मल दृष्टि, दृढ़ संकल्प, दृढ़ आस्था ही शास्ता का मार्ग है। ऐसा जब निःशंक होता हो तब निःकांक्षित भाव उत्पन्न होता है। जब तक निःशंक नहीं होगा, तो निकांक्षित भी नहीं हो सकता। यह सम्यक्दर्शन का अंग है और समाचीन–जीवन जीने की शैली भी है। भो ज्ञानी ! तू करोड़ों का व्यापार फोन के विश्वास पर कर रहा है, फिर परमेश्वर पर अविश्वास क्यों है?

भो ज्ञानी! यह रोटी का टुकड़ा मेरा पेट भर देगा, उस पर विश्वास रखकर आप भोजन करते हो। रोटी पर कितनी श्रद्धा है, अहो! एक पुद्गल के टुकड़े पर इतना विश्वास, तो क्या देव–शास्त्र–गुरु उस रोटी के टुकड़े से भी गये गुजरे हैं ? एक इंजीनियर हाथ में श्रीफल लिये और एक तांबे की छड़ लिये जा रहा है, खेत में घुमाकर बोले–यहाँ पानी है, तो विश्वास हो जाता है कि वहाँ पानी है। जब भूमिगत पानी को तुम श्रद्धा से पकड़ सकते हो, तो इस भगवती आत्मा में तुम भगवान को क्यों नहीं पकड़ पा रहे ? यह सब श्रद्धा ही तो है। जैसे, भूमि में पानी है, ऐसे ही देह में परमात्मा है; परंतु जब तक खोदोगे नहीं, तब तक पानी नहीं; ऐसे ही जब तक खोजोगे नहीं तब तक परमेश्वर



नहीं। परंतु शंका में भगवान नहीं मिलेंगे, निःशंकता से ही भगवान मिलेंगे। पहले भगवान मिलेंगे, फिर भगवान बन जाओगे।

भो ज्ञानी! यही है द्वैत–अद्वैत भाव। भगवान से मिलना, यह द्वैत–भाव है और भगवान बनना, यह अद्वैत–भाव है। इसलिये किसी में शंका मत करो। निःशंकितअंग को गहराई से समझ लेना, जिनेन्द्र के वचन में शंका मत करना। किसी व्यक्ति ने अपनी असमर्थता से कोई गलत काम कर लिया हो, उसे जिनदेव का काम मत कहना। वह तो उस व्यक्ति का दोष है, जिनशासन का दोष नहीं है। जिनदेव का शासन निज पर अनुशासन की बात करता है, निज पर शासन ही जिनेन्द्र का शासन है और जिसका निज पर शासन नहीं है, वह जिनेन्द्र के शासन में ही नहीं है। भो चेतन! यदि करना ही है तो प्रभु बनने की वांछा करो, लेकिन बिना वांछा करे भगवान बनने वाले भी नहीं। इस अवस्था में तो आपको वांछा करनी ही होगी। जब तुम निःशंकित और निःकांक्षित होकर शुद्धोपयोग दशा में प्रवेश कर जाओगे तो संपूर्ण वांछायें आपकी स्वयमेव समाप्त हो जायेगी, परंतु ध्यान रखना जिनेन्द्र के शासन में लिखा है कि जो कुछ मिलता है,वह माँगने से नहीं मिलता। वहाँ दुआयें भी काम नहीं आतीं और दवायें भी काम नहीं आतीं। कुछ लोग दुआओं में जी रहे हैं, कुछ दवाओं में जी रहे हैं, परंतु दबा नहीं रहे। दबा दें, तो दुआ भी लग जाये और दवा भी लग जाये। परंतु दबाना तो पड़ेगा ही। तुम पाप को दबा दो, पुण्य को उठा लो। भो ज्ञानी! दुआयें भी लगेगीं, दवा भी लगेगी, लेकिन इस मिथ्यात्व को छोड़ दो। यह जिनशासन है, वरदानवाला शासन नहीं है अतः मात्र विश्वास करके भगवान के चरणों में आना, पर व्यापारी बनकर नहीं।

भो ज्ञानी! गुरुओं के पास भी आना, परंतु व्यापारी बनकर नहीं; क्योंकि आप धन से धर्म को मापने लग जाओगे। अरे! धन तेरे पुण्य–पाप का परिणमन है। अतः यह देने–लेने वाले शक्तिवान नहीं है। लेने–देने का काम तो बनिया करते हैं, रागी–द्वेषी करते हैं; परमेश्वर से लेने–देने की बात मत करो। 'गीता' को आपने सुना होगा, नारायणकृष्ण, अर्जुन को संकेत कर रहे हैं– हे पार्थ! जो कर्म तू कर रहा है, वह तेरे अधिकार में है परंतु उसके फल पर तेरा अधिकार कदापि नहीं। निष्काम आराधना करो। माँ जिनवाणी कहती है –निःकाँक्षित आराधना करो, काँक्षा मत करो; करोगे तो अविश्वास बढ़ेगा, उपेक्षा आयेगी; क्योंकि अपेक्षा ही सबसे बड़ी उपेक्षा है। अहो! जहाँ कुछ माँगने की भावना आती है, वहीं से लघुता प्रारंभ हो जाती है। भो चेतन! भले आप बहुत सम्मान देते हो, पूजा करते हो, तीन–तीन प्रदक्षिणा भी लगाते हो, लेकिन वह घड़ी कैसी आती है कि आपका हाथ ऊपर होता और साधु अंजुली लिये खड़ा होता है, वह क्षण भी कैसा होता है? सोचता हूँ, भगवन्! काश, बज्रवृषभनाराच शरीर प्राप्त कर लिया होता तो श्रावक के द्वार पर जाना बंद हो जाता। भो ज्ञानी! जहाँ लेने की दृष्टि होती है, वहाँ लेनेवाला नीचे और देनेवाला ऊपर आ ही जाता है और इतना ही नहीं, कभी–कभी दाता की डाँट भी खानी पड़ती है। जब एक निर्ग्रंथ योगी की दशा यह हो सकती है, तो चौबीस घंटे माँगना ही माँगना जिनका विषय बना है उनकी क्या दशा होगी ? भावना भाओ कि, प्रभु! क्षुधा–वेदनीय का विनाश हो।

भो ज्ञानी! देवदत्त महाराज की रानी राजा को धक्का मार नदी में पटककर कुबड़े के साथ चली गई, क्या तुम तभी चेतोगे जब तुम्हारे साथ ऐसी घटना घटेगी ? अहो! इसके पहले सँभल जाओ।



समझदार वही होता है, जो सामान्य, विशेष समझ लेता है। यह सब कुछ पुण्य का द्रव्य अपने पास रखा था, सो आज काम में आ रहा है कि ऐसी बातें सुनने की सूझ रही है, अन्यथा लोगों को तो पता ही नहीं कि भूल कर रहे हैं कि नहीं कर रहे, बल्कि भूल को ही धर्म मान रहे हैं। एक सज्जन बोले–महाराजश्री! आज तो बड़ा पुण्य का काम करने जा रहे हैं। हमने भी पूछा–बताओ भैया, क्या कर रहे हो? बड़े खुश थे, जैसे उन्हें मोक्ष मिल रहा है। महाराजश्री! एक बिटिया के पाँव पूजने जा रहे हैं। ओहो पापी! कहाँ जा रहे हो ? जो नौ–कोटि जीवों की हिंसा करेगा और उसे तू धर्म कह रहा है। भो ज्ञानी ! लोकव्यवहार कह लेना, समाज–व्यवस्था कह लेना पर उसे धर्म तो मत कहना। धर्म तो यह है कि तू ब्रह्मचारी बन जाता और उसे ब्रह्मचर्य व्रत दिला देता, इसका नाम धर्म है। मैं भी तेरी पीठ ठोक देता, आशीर्वाद दे देता कि वास्तव में तू पुण्य करने जा रहा है परंतु यहाँ तो तू संसार में फँसाने जा रहा है। देखो, कैसा संसारीजीव है, अपनी भूल को भी भगवत्ता की प्राप्ति कह रहा है, धर्म मान रहा है। भो ज्ञानी! वैभव को देखकर अपने अंदर के वैभव को मत खो देना। आचार्य महाराज कह रहे हैं: मात्र वर्तमान के सुख को सर्वस्व मान लिया तो वर्तमान की पर्याय को ही देखते रहोगे। विश्वास करना, आप न तो किसी के मित्र बन पाओगे और न किसी के सगे बनकर रह पाओगे; क्योंकि वर्तमान के सिवाय जो भी है, वह शत्रुता को ही बढ़ाने वाले हैं। जब दो बैलों को एकसाथ घास डाली जाती है तब जीव की आकाँक्षा देखो–अपने सामने की घास नहीं खाता, दूसरे की खाने लगता है। स्वयं की घास पर पैर रख रहा है, मलमूत्र छोड़ रहा है। नष्ट हो जाये, खराब हो जाये, पर दूसरे को सींग मार रहा है।

हे मानवो! उसे तो आपने पशु कह दिया, अज्ञानी कह दिया है परंतु, भो ज्ञानी आत्माओ! आप भी तो कषाय का सींग मार रहे हो। तुम भी अपनी घास खाओ, दूसरों की दूसरे को चरने दो। तुम बैल नहीं हो, तुम मानव हो। बैल का सींग तो बैल के पेट में ही लगता है, पर कषाय का सींग तो अन्तःकरण में प्रवेश कर जाता है। अतः, वाणी के सींग मत मारो, भावों के सींग मत मारो, वासनाओं के सींग मत मारो। तुम मानव हो, अतः ध्यान रखना, जब कोई विकल्प मन में आये, तो कहनाः भैया! मैं मानव हूँ, मनुष्य हूँ। मनुष्य कौन होता है ? महान सिद्धांताचार्य भगवन् नेमिचंद्र स्वामी, जो सिद्धांत–चक्रवर्ती कहलाते थे, जिन्होंने गोमटेश बाहुबली स्वामी को सूरि मंत्र दिया, ऐसे महान आचार्य लिखते हैं कि मनुष्य वही होता है जो मननशील होता है। जो मन से उत्कृष्ट होता है, मानवता से भरा होता है। जो मनु की संतान हो, उसे मनुष्य कहा है। मनुष्य याने कुलकर। इसलिये आपसे कहता हूँ कि मनुष्य का अर्थ है ज्ञानी, प्रज्ञावान्, बुद्धिमान।

मनीषियो! समझो कि आप मनुष्य ही हो, मवेशी नहीं। दूसरे की घास वह खींचें, जो मवेशी हों। जब भी किसी की धन,धरती आदि पर तुम्हारी दृष्टि जाये, समझ लेना कि इस समय मैं मनुष्य नहीं, मवेशी हूँ। पराधीन वैभव आदि को देखकर इस लोक संबंधी आकाँक्षा नहीं करना कि मैं चक्रवर्ती बन जाऊँ, मैं नारायण बन जाऊँ और दूषित, एकांत भाव से पर को ऐसा भी नहीं देखो कि लोगों की कैसी पूजा, कैसी ख्याति, कैसा लाभ? ऐसी मेरी भी हो जाये, तो समझ लो कि तुम मिथ्यात्व के पोषण में चले गये।





मत करो किसी से घृणा

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया।।२५।।

अन्वयार्थ : क्षुत्तृष्णा = क्षुधा, तृषा, (भूख, प्यास) शीतोष्ण = शीत, उष्ण (सर्दी, गर्मी)। प्रभृतिषु = इत्यादि। नानाविधेषु = अनेक प्रकार वाले। भावेषु = भावों में। पुरीषादिसु = मल आदिक। द्रव्येषु = *पदार्थों में। विचिकित्सा = घृणा (ग्लानि)। नैव = नहीं। करणीया = करनी चाहिये।*

मनीषियो! अंतिम तीर्थंकर भगवान वर्द्धमान स्वामी की पीयूषवाणी हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचंद स्वामी बहुत ही सहज कथन कर रहे हैं कि यदि भाव बदल गये, तो तुम्हारी भावनायें भी बदल गईं। भावना बदलने का कारण मात्र यह था कि आपने सीमा से ज्यादा सोच लिया था। चादर छोटी है और पैर लम्बे हैं, तो या तो पैर बाहर निकलेंगे या सिर बाहर निकलेगा। भो ज्ञानी! ऐसा करो, चादर बढ़ाने की सामर्थ्य है नहीं, पैर छोटे करने की भी सामर्थ्य नहीं, तो पैरों को संकुचित कर लेना। ना चादर बढ़ाना पड़ेगा और ना पैर काटने पड़ेंगे। मुमुक्षु जीव इच्छाओं को संकुचित कर लेता है। अतः, आकार–प्रकार मत घटाओ, पर आकार–प्रकार को बढ़ाने वाली जो भावनायें हैं, उनको संकुचित कर लो, इसी का नाम संयम है। भो चेतन ! संसार रहे, उससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं, पर मैं संसार में न रहूँ यह मुझे प्रयोजन है। जो संसार का नाश करना चाहता है, वह तो हिंसक है। अपनी संस्कृति को समाप्त करके, निमित्तों को नष्ट करके जो मुमुक्षु बनना चाहता है, वह अपने घर में बैठे। क्योंकि निमित्तों का नाश करके मुमुक्षु नहीं बना जाता। निमित्तों के होने पर उपादान को सँभाला जाता है। निमित्त तो सर्वत्र मिलेंगे ही। इसीलिए स्वयं की दृष्टि निर्मल करो।

भो ज्ञानी! नगर में तो कम से कम विषयों की मर्यादाएँ हैं, परंतु जंगल में तो तिर्यंचों की मर्यादाएं भी नहीं हैं, वहाँ भी आप को निमित्त मिलेंगे। नगर में आपके अंदर विकार और कषाय भड़कते हैं, तो आप कुछ समय के लिये सीमा में बंध जाते हो; लेकिन जैसे ही कषाय उदय में आई तो विकार उदय में आया तो वह भी प्रकट दिखता है। इसीलिए तुम निमित्तों से बचकर रहो, निमित्तों को अपने अन्दर प्रवेश मत दो। भो ज्ञानी ! इच्छाओं को सम्हाल लो, वस्तु को तुम नहीं सम्हाल पाओगे। एक बात का ध्यान रखना, वस्तु तुम्हें मिल भी जावेगी, यदि पुण्य नहीं होगा तो तुम सम्हाल भी नहीं पाओगे। जिसे चक्रवर्ती की विभूति मिलती है, उसे चक्रवर्ती की बुद्धि भी मिलती है। जो तीर्थंकर बनता है, वह जन्म से तीन ज्ञान का धारी होता है। अतः, आकाँक्षायें जब पूरी नहीं होती हैं, तो ईर्ष्या का उद्भव होता है। आकाँक्षा यदि नहीं है, तो आप धनी हो। आकाँक्षा है, तो चक्रवर्ती भी निर्धन है, चाहे किसी की आराधना कर लेना, कितनी ही साधना कर लेना। आचार्य कार्तिकेय स्वामी 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में लिख रहे हैं :–



ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि।। ३१९।।

हे जीव! तुझे कोई लक्ष्मी नहीं देता, न तेरा कोई उपकार कर सकता है और न कोई तेरा अपकार। शुभ–कर्म ही उपकार करने वाला है और अशुभ–कर्म अपकार करने वाला है। परन्तु निमित्त आपको दिख जाते हैं कि इन्होंने मेरे साथ ऐसा किया, इन्होंने मेरे साथ बुरा किया। ध्यान रखो, जिसे तुम बुरा कहते हो वह किसी का अच्छा करने वाला भी हो सकता है, जिसे तुम अपना अच्छा करने वाला कहते हो वह किसी का बुरा करने वाला भी हो सकता है। अब कैसे कहूँ कि यह अच्छा करने वाला है कि बुरा करने वाला है ? इतना ही तो समझना है।

भो चेतन आत्मा! जीव उपयोगमयी है, लेकिन उपयोग का कर्ता तू ही है और उपयोग के फल का भोक्ता भी तू ही है सिद्धान्त में। तुम्हारा स्वार्थ हो जाये, तो पुण्य का परिणाम समझना। लेकिन सिद्धान्त किसी के स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए नहीं होता। आकाँक्षायें होंगी, तो कर्म बंध होगा, चाहे द्रव्य मिले या न मिले। कभी–कभी बिना भोगे भी बन्ध होता है। मन कहता है कि 'उठा लूँ ? नहीं, अपनी वस्तु नहीं है। अरे! सब ही तो उठा रहे हैं।' यह भूल कभी भूल कर मत कर देना। अमुक भैया ने किसी के कुरते को उठा लिया, तो उसका तात्पर्य यह नहीं है कि दूसरे भैया कहें कि जब इतने बड़े भैयाजी कर सकते हैं, तो हमें क्या दोष ? ध्यान रखना, पूर्व में सुकृत किया था, इसीलिये बड़े हैं। जब उन्होंने दूसरे का कुरता उठा लिया, इसीलिये बड़े नहीं हैं, वह तो परम छोटे हो चुके हैं, बंध कर चुके हैं।

भो ज्ञानी! वह दृश्य कैसा होगा जब साक्षात् केवली–भगवान विराजते होंगे , उनके चरणों में श्रावक बैठे होंगे, श्रमण बैठे होंगे। उन जीवों का कितना शास्वत पुण्य होगा? अरे! आकांक्षा करो तो ऐसी करो जिससे फिर दूसरी आकांक्षा करने की आकांक्षा न हो। **"दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहि–मरणं, जिण–गुण–सम्पति होउ मज्झं।"**

हे जिनदेव! आपके गुणों की सम्पदा मुझे प्राप्त हो जावे। बस, मेरी अन्तिम आकांक्षा यही है। भो ज्ञानी ! यह सुख और दुःख कर्म के वश हैं। जब तक निःकांक्षा नहीं बनेगी, तब तक ग्लानि हटेगी नहीं। अरे! इनसे साइकिल मांगी थी, नहीं दी। ठीक है, वस्तु उनकी है, इच्छा उनकी थी, नहीं दिया तो क्या करें ? जबरदस्ती तो नहीं है। अरे! ऐसी काललब्धि थी कि वह मना करेंगे ही। देखो, संयम की बात करें तो काललब्धि दिखने लगी। असंयम की बात करें तो दुकान दिखने लगी। भो चेतन आत्मा ! स्वार्थ के लिये सिद्धान्त की बलि मत दे। पर्याय तो स्वार्थ है, पर पर्यायी को नरकों में बिलखना होगा। आज तुम ताम–झाम में जी लो, लेकिन ध्यान रखना, जो जितना ऊँचे से कूदता है उतना नीचे जायेगा। जितनी विभूति और आकांक्षाओं से भरके तुम कूदोगे, उतने ही नीचे गहरे में चले जाओगे।

भो ज्ञानी! मुमुक्षु जीव उस किसान के तुल्य होता है जो कि भोगने के पहले बीज को सुरक्षित रख देता है, ऐसे ही पुण्य को बचाकर रखना और बीज को बोकर अब बाड़ी की व्यवस्था लगानी होगी अन्यथा आकांक्षा के मृग तेरी बसी बगिया को उजाड़ देंगे। गुणभद्रस्वामी लिख रहे हैं 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में–



आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।। ३६।।

प्रत्येक प्राणी की आशा का गड्ढा इतना बड़ा है कि विश्व की सारी विभूति उसके गड्ढे में अणु–प्रमाण दिखती है। अब बताओ, सभी का गड्ढा इतना है कि वह भरा ही नहीं जा सकता है। एक ही तरीका है भरने का। भो ज्ञानी! छोड़ दो तो, निःकांक्षित–भाव भी आ जायगा। अब आपको लोक से ग्लानि होना बन्द हो जायेगी, फिर किसी से नहीं कहोगे कि यह ऐसा, वह वैसा। उल्टा मत पकड़ लेना। तुम इतने निर्मोही बनके रहो, अकर्ता बनके रहो, कोई आपको क्यों टोकेगा। जब आप अपने आप में रहोगे, अपनी सीमा में रहोगे। सागर इतना बड़ा क्यों ? क्योंकि उसने अपनी सीमा को कभी भी नहीं लाँघा। प्रज्ञाशील जीव अपनी सीमा से बाहर नहीं जाता। पैर भी बड़े होंगे तो संकुचित कर लेता है, पर दूसरे की चादर को खींचने का प्रयास नहीं करता। अतः, इतना सीख के जाना कि दूसरे को उघाड़ने का विचार अपने मन में मत लाना। वर्णीजी को देखें जिन्होंने अपने वस्त्र दूसरों को उढ़ा दिये और एक आप हो कि दूसरे को उघाड़ रहे हो।

भो मुमुक्षुओ! निर्विचिकित्सा–अंग जिसके अन्तरंग में नहीं होगा, वह स्वयं की समाधि भी नहीं कर पायेगा तथा दूसरे की समाधि में भी कभी सहयोगी नहीं बन पायेगा। आगम कहता है कि सल्लेखना के काल में ऐसे ही साधकों को साथ रखा जाता है जो उपगूहन, स्थितिकरण, निर्विचिकित्सा और वात्सल्य अंग के धारी हों। जिनके पास ये अंग न हों, ऐसे व्यक्ति को कभी क्षपक के पास मत बिठाना; क्योंकि वह तो छिद्रान्वेषी है। स्थिति देखेगा नहीं, परंतु स्थिति का व्याख्यान करेगा। उसका व्याख्यान यदि क्षपक के कानों में आ गया और परिणाम खराब हो गये, तो उसनें तो उसकी असमाधि करा दी। इसीलिए ध्यान रखना, धर्मात्माओं से ग्लानि तो बहुत स्थूल है, पदार्थ मात्र के प्रति ग्लानि के भाव भी नहीं आना चाहिये, इसका नाम निर्विचिकित्सा है। अभी तक इतना ही तो पढ़ा था कि मुनि के तन को देखकर, मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना, इसका नाम निर्विचिकित्सा अंग है। परंतु अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि संसार के प्रत्येक द्रव्य को देखकर उसके स्वभाव को विचारना, और उसके स्वभाव को देखकर ग्लानि नहीं करना, इसका नाम निर्विचिकित्सा है।

भो ज्ञानी! बाहर का मल तो जल्दी झड़ जाता है, पर बाहर के मल को देखकर तू अन्दर में मलिन हो गया, तो उस मल को झाड़ना बड़ा कठिन हो जायेगा। पता नहीं कितनी पर्यायें लग जायें। ध्यान रखना, आप अमृतचन्द्र स्वामी को सुन रहे हैं। यदि आचार्यभगवन्तों, तीर्थंकरों की वाणी के अनुसार सारा राष्ट्र चलने लग जाए तो आपको किसी राजा की भी आवश्यकता नहीं। उनकी वाणी ने कह दिया कि किसी के प्रति ग्लानि मत करो।

हे मुमुक्षुओ! मृत पशु पड़ा हुआ है, दुर्गन्ध छोड़ रहा है आप दूर भाग रहे हो। यदि आप वहाँ पर थोड़ा रुक जाते, तो आपको जिनवाणी का चिन्तन करने मिल जाता। अहो! संसार की दशा, इस हाथी पर कभी सवारी करते थे। उसे तुम प्यार से खिलाते–पिलाते थे। आज उसी को देखकर तुम दूर भाग रहे हो। हे ज्ञानी! जिस देहरूपी हाथी पर तू विराजा है, उस हाथी की भी यही हालत होगी। चिन्ता मत करो, तुझे भी देखकर लोग दूर भागेंगे। इसको तो लोग कम से कम आँखों से देख भी लेते हैं, पर मनुष्य के मुर्दे को तो बच्चे तक भी नहीं देखते हैं। कहते हैं कि भूत लग जावेंगे। आज तक किसी ने नहीं कहा कि पशु मुर्दा पड़ा है भूत लग जायेंगे। वहाँ से लोग बड़े आराम से निकल



जाते हैं। पर जहाँ मनुष्य का दाहसंस्कार होता है, वहाँ संध्या हुई नहीं कि कहते हैं–बेटा! उते न जइयो, उते भूत आत है। अरे! जिसने भूमिप्रदेश को भी भूत बना डाला, उस स्थान को जाने से रोकते हो। अब ग्लानि करो तो किससे करो ? करना ही है तो उन कार्यों से ग्लानि करो जिन कार्यों से चमड़े में आने को मिलता है। ऐसे कार्यो से ग्लानि कर लोगे, तो फिर तुम्हें कहीं ग्लानि करने का मौका ही नहीं मिलेगा।

भो प्रज्ञात्माओ! ध्यान रखना, संसार में साता व असाता सबके साथ हैं, चाहे मुनिराज हों, चाहे श्रावक। असाता के उदय मेंमार्ग भूल गये या भटक गये, सो कहने लगे–वह धर्म अच्छा नहीं है जिसमें भूखे मरना पड़ता है। किसी ने पहली बार अनन्तचतुर्दशी का उपवास कर लिया। अभ्यास नहीं था, सो व्रतों को दोष देने लगे। यह व्रत का दोष नहीं, तुम्हारी सामर्थ्य का दोष है। रात्रि में पानी नहीं पिया, तो भी जी रहे कि नहीं ? पानी जीवन–धारण का निमित्त तो है, पर जीवन नहीं है। जीवन पानी से नहीं चलता, जीवन तो आयुकर्म से चलता है। आयुकर्म को अवधारण करने के लिए बाह्य द्रव्य भी आवश्यक होते हैं, लेकिन वह अनिवार्य नहीं होते। वह आवश्यक इतने हैं कि तुम दिन में अपनी पूर्ति कर लो, पर रात्रि में आप बिना पानी पिये जी सकते हो। यहाँ कह रहे हैं कि वीतरागधर्म के परिणाम और चर्या को देखकर क्षुधा, प्यास, शीतोष्णता सहन करना पड़े, फिर भी धर्म से ग्लानि मत कर देना। परिणामों में मल आदि के प्रति भी नाक मत सिकोड़ना। दुर्गन्ध न फैले तो मल किस बात का? वह कम से कम अपने धर्म का तो पालन कर रहा है, पर आप अपने धर्म से भाग रहे हैं। माँ जिनवाणी कह रही है कि मल के टुकड़े से तुम द्वेष मत करो, ग्लानि मत करो।

हे मनीषियो! तुम इन भगवान–आत्मा पर कैसे द्वेष कर लेते हो? वह भी भगवान बनने वाला है। ध्यान रखना, सम्बन्ध कितने ही विलग हो जायें, पर रिश्ते टूटने वाले नहीं है। तुम्हारी ताकत नहीं कि इस पर्याय में रिश्ता अलग कर पाओ। वह तब ही समाप्त होगा जब तुम्हारी पर्याय समाप्त होगी। पिता पिता होगा, माँ माँ होगी, गुरु गुरु होगा, शिष्य शिष्य होगा, क्योंकि तुमने बनाया है। ऐसा नियोग था। सम्बन्ध विछिन्न हो जायेगा, पर रिश्ते टूटने वाले नहीं है। तोड़ना चाहते हो तो, भो ज्ञानी ! पर्याय छोड़ना पड़ेगी। पुरुषार्थ पर्याय में है, पर्याय से हो रहा है, परन्तु करने वाली पर्याय नहीं है, पर्यायी है। अतः, नाना द्रव्यों को उनके स्वभाव की दृष्टि से देखना, परन्तु किसी को हीनदृष्टि से मत देखना। हे ज्येष्ठो! तुम ज्येष्ठता की बात तो करना, पर कभी छोटों को मत छोड़ देना, छोटे का अनादर मत कर देना। उसी ने आपको बड़ा बनाया है। इन माताओं से पूछ लो, कि 'बड़ा' बनता कैसे है? पहले मूंग की दाल से पूछ लेना। बेचारी को पानी में डाला जाता है, फिर सिलबट्टे पर पीस लिया, तब रोती है, पर मन में आता है कि 'बड़ा' बनना है तो शान्त हो जाती है। थोड़ी देर बाद फिर निकालकर पहले पानी छिड़क दिया उसमें नमक मिर्ची डाल दिये और, ओह! कढ़ाई में डाल दिया। अभी भी शान्ति नहीं मिली, निकाल कर उसको खटाई में डाल दिया और भो ज्ञानी! अब बना वह बड़ा, अब उसकी कीमत भी बढ़ गई। दोने में आ गया, प्याली में आ गया, कीमत बढ़ गई। पर उस बेचारी मूंग की दाल से पूछ लेना कि बड़े बने कैसे हो? इसलिए ध्यान रखो, बड़े भैया से यह तो कह देना कि हमने आपको बड़ा बनाया, पर उसको परेशान भी मत करना कि हमने तुम्हें बड़ा बनाकर बिठाया है। भो ज्ञानी! इस संसार में प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपनी अवस्था में है, परन्तु मात्र आपको अपनी दृष्टि निर्मल करना है।



पज्जय-मूढापरसमया

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढ़दृष्टित्वम्।। २६।।

अन्वयार्थ :– लोके = लोक में। शास्त्राभासे = शास्त्राभास में। समयाभासे = धर्माभास में। च = और। देवताभासे = देवताभास में। तत्वरुचिना = तत्वों में रुचि रखने वाले सम्यक्दृष्टि पुरुष को। अमूढ़दृष्टित्वम् = मूर्खता रहित दृष्टित्व अर्थात् श्रद्वान। कर्त्तव्यम् = करना चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! वर्धमान स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्यभगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने संकेत दिया है कि, भो ज्ञानी! संसार का प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव में लीन है। पुद्गल कभी भी किसी दूसरे के भाव को प्राप्त नहीं होता, कभी किसी से ग्लानि नहीं करता, किसी को हेय नहीं देखता है; परन्तु जीव–द्रव्य ऐसा है कि द्रव्य को देखकर के नाक सिकोड़ लेता है। जब भोजन की बेला होती है तो उसे राग–बुद्धि से देखता है और जब उसी का परिणमन मलरूप हो जाता है तो द्वेषबुद्धि से देखने लगता है, जबकि द्रव्य जड़ था, न द्वेष करने योग्य था, न राग करने योग्य था। इस राग–द्वेष से बन्ध उस पुद्गल–पिंड को नहीं, आत्मद्रव्य को हुआ है। जबकि द्रव्य कहता है कि मैं तो अपने आप में तटस्थ हूँ। तूने मेरा उपभोग किया, फिर भी मैंने कुछ नहीं कहा व मेरा परिणमन मल के रूप में हो गया, फिर भी मैंने कुछ नहीं कहा; परन्तु खेद है कि तू मुझे देखकर बन्ध को प्राप्त हो रहा है।

भो ज्ञानी! जिनबिम्ब कुछ भी नहीं देता है, पर एक ज्ञानी जीव जिनबिम्ब को देखकर अनंत कर्मों की निर्जरा करता जा रहा है और अज्ञानी बन्ध को प्राप्त हो रहा है। अहो! बन्ध तेरी दृष्टि में था, निर्बन्ध भी तेरी दृष्टि में था।

भो ज्ञानी! देखना दृष्टि को। एक जीव को वृक्ष में फूल दिखते हैं, किसी जीव को वृक्ष में ईंधन दिखता है। एक निर्ग्रंथ योगी को देखकर किसी को रत्नत्रय का ध्यान आ रहा है, किसी को गुरु नजर आ रहे हैं, किसी को प्रभु नजर आ रहे हैं। किंतु मिथ्यादृष्टि जीव को गुरु में पाखण्ड दिखता है। पाखण्ड यानि ढोंग। छल पर जिसकी दृष्टि हो, उसे संत में पाखण्ड ही पाखण्ड दिखेगा, उसे रत्नत्रय–धर्म नहीं दिखेगा। एक तो वह निर्ग्रंथ के शरीर को ही देखता है, शरीर को देखने से तुझे चर्म ही दिखेगा। कोई ठिगने दिखेंगे, कोई बड़े दिखेंगे, कोई सांवले दिखेंगे, कोई गोरे दिखेंगे। परन्तु भगवान देवसेन स्वामी, योगीन्दुदेव स्वामी, पूज्यपाद स्वामी, कुंदकुंद स्वामी यही कहेंगे कि तेरी दृष्टि पर्यायों पर है। अहो! भगवान बनने के लिए भगवान को देखना, भगवान की प्रतिमा को नहीं देखना। तुम गुरु को देखना, पर गुरु के शरीर को नहीं देखना। मूर्ति को देखोगे तो तुम परसमय में ही रहोगे, क्योंकि सम्यक्दृष्टिजीव पर्याय में पर्यायी को ढूँढ़ता है।



मनीषियो! जिनदेव से दुनियाँ मिलती है, पर वह किसी से नहीं मिलते, यही तो अरिहंत का स्वरूप है। जिससे दुनियाँ मिले, पर जो दुनियाँ से कभी नहीं मिले, यही सच्चे देव का स्वरूप है। यदि वे मिलने लग गये, समय देने लग गये, तो वे हमारे भगवान बिल्कुल नहीं हैं। समय रागी देता है, समय द्वेषी देता है। वीतरागी किसी को समय नहीं देते, वह तो समय में लीन रहते हैं।

भो ज्ञानी! जिसे लोग भूषण कहते हैं, उसे शीलवती दूषण कहते हैं। जिनवाणी में पढ़ लेना, शरीर के संस्कार का नाम अब्रह्म है। जो शरीर को सजाए, वह शील में दूषित है। जिसका स्वश्रृंगार नहीं है, वह पर के श्रृंगार से जड़ा होता है। हे प्रभु! आपके शासन में जीने वाले संत शील से मंडित होते हैं। मनीषियो! यह वसन आपने नहीं पहने, ये वसन तो वासनाओं ने पहने हैं। वासना उतर जाती है तो वस्त्र भी उतर जाते हैं। भइया! जिन्हें स्वयं के तन की चिन्ता नहीं है, ऐसे हैं वे धरती के देवता।

भो चेतन! शरीर स्वभाव से तो अपवित्र जरूर है, लेकिन रत्नत्रय से पवित्र है। ऐसे रत्नत्रय से पवित्र शरीर को क्लान्त, रोगी, पीड़ित देखकर ग्लानि नहीं करना, उसका नाम निर्विचिकित्सा अंग है। ध्यान रखना, धर्मात्मा कहीं भी दिख जाये, उसको गले से लगा लेना। कह देना कि आप तो मेरे वीतराग–धर्म को लेकर चलते हो और धर्म से मुझे वात्सल्य है। यदि किसी ने एक बार भी "णमोकार मंत्र" पढ़कर सुना दिया हो, तो उसकी पीठ थपथपा देना, क्योंकि उसने पंचपरमेष्ठी के ध्यान में मन, वचन, काय को लगाया है। परन्तु धर्मात्मा से कह देना कि आप मेरे से माला और पूजा की अपेक्षा मत रखना। मेरा कर्त्तव्य आपकी उपासना करना है। परंतु आपने मेरे ऊपर एहसान के लिए धर्म धारण नहीं कर रखा है, स्वयं के कल्याण के लिए धारण किया है। हे धर्मात्मा! तुम्हारी परिणति ऐसी हो कि अधर्मीरूपी भौंरा बाहर जा रहा हो, तो वह धर्म की सुगन्ध को देखकर सुभाषित सौरभ में आकर बैठ जाए, इसका नाम धर्मात्मा है।

अहो अव्रतियो! आप व्रतियों का आदर करते रहना, ताकि अव्रतियों के भी व्रती बनने के भाव बनते रहें। दोनों अपना काम करें, तभी तो तीर्थंकर–शासन कायम रहेगा। भगवान गौतमस्वामी ने जब तीर्थंकर वर्धमान स्वामी के प्रथम दर्शन किये तो पहले नमस्कार नहीं किया। उन्होंने कहा–हे प्रभु! आपका शासन जयवन्त हो, परम जयवन्त हो। हे सर्वज्ञ प्रभु!आपके शासन में जीने वाले संत, श्रावक, निर्ग्रंथ इतने अनुशासित हैं तो आपका अनुशासन कितना विशाल होगा। इसलिए, हे प्रभु! आपका शासन आत्मानुशासन है। आत्मानुशासन में वही रह सकता है जो युक्तानुशासन को समझता है, जिसे आप लोग कहते हो जुगाड़।

आचार्य जयसेन स्वामी 'समयसार' की टीका में लिख रहे हैं–जुगाड़ लगाओ। अर्थात् जो नजदीक होता है उनसे जुगाड़ लगाते हैं। ऐसे ही मोक्षमार्ग के नेता सर्वज्ञ प्रभु भगवान अरिहंतदेव तीर्थंकर हैं, उनके बगल में रहने वाले नेता आचार्य–परमेष्ठी हैं। अतः उनसे तुम 'जुगाड़' लगा लो। वह धीरे से कह देंगे कि सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूपी मोक्षमार्ग 'जुगाड़' का सूत्र है। यदि इस पर तुम चलोगे तो आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी फिर कहेंगे कि सच्चा नेता वही होता है जो निन्दा भी सुन रहा है, गाली भी सुन रहा, पर इधर–उधर कान (ध्यान) ही नहीं ले जा रहा है। वह समझता है कि सुन लूँगा तो परिणाम खराब होंगे, इसलिये किसी की सुनता ही नहीं है। तलवार भी चल जाये तो कुछ नहीं कहते, क्योंकि उन्हें अपना राज्य दिख रहा है। जिसे सत्ता दिख रही हो, वह छोटी–मोटी बातें नहीं देखता।



जिसको आत्मा की शुद्ध–सत्ता दिखती है, वह संसार की सामान्य सत्ता को नहीं देखता। यही वस्तु–तत्त्व है। जो सर्वज्ञ–वाणी को सुनता है, उसे वैसा ही दिखता है।

भो चेतन! किसी के दरवाजे पर भटकने की जरूरत नहीं है, जो चाहोगे वह यहीं मिलेगा। इसलिए अमूढ़दृष्टि अंग यही कह रहा है कि निज घर में सब कुछ है। परन्तु अमूढ़ता तभी आयेगी, जब वीतराग–मार्ग पर ग्लानि–भाव नहीं रहेगा। अन्यथा अमूढ़ता आने वाली नहीं है, मूढ़ता ही मूढ़ता रहेगी। मूढ़ता का शाब्दिक अर्थ मूर्खता, अल्पज्ञता अथवा प्रज्ञा की हीनता है, बुद्धि की विकलता है। अतः, उससे दूर रहकर पहली प्रतिज्ञा तो यह है कि मैं किसी पदार्थ को देखकर ग्लानि–भाव को प्राप्त नहीं करूँगा।

भो ज्ञानी! जीवन में ध्यान रखना कि किसी जीव को हीन भावना में नहीं डालना, क्योंकि हीन भावना में डालने से बड़ा कोई मीठा जहर नहीं। ऐसा व्यक्ति अन्दर ही अन्दर घुलता रहता है, दुःखित होता है, संक्लेषित होता है। वह जितना संक्लेषित होगा, उसको उतने कर्मों का बंध होगा और उसके निमित्त आप बंध जाओगे। अतः, बिल्कुल दूर रहना, जैसे कि चूल्हे में रोटी। अगर आग पर रख दोगे, तो जल जायेगी और आग के पास नहीं ले जाओगे, तो कच्ची रह जायेगी। माँ रोटी को उतने क्षण तक ही वहाँ ले जाती है, जब तक कि वह सिक न जाए। ऐसे ही तुम पंचपरमेष्ठी के सान्निध्य में ऐसे ही रहना जैसे चूल्हे में रोटी। ज्यादा दूर रहोगे तो तत्त्व को समझ नहीं पाओगे। अग्नि का धर्म अग्नि जाने, चूल्हे का धर्म चूल्हा जाने, परन्तु हमारा काम था हमने कर लिया। अपनी निर्बन्धता के लिए बस इतना ही संत समागम, आगम होता है जितने में परिणामों में विशुद्धता होती है। अतः, ग्लानि नहीं करना; राग नहीं करना, द्वेष नहीं करना परन्तु अनुराग/वात्सल्य सर्वत्र रखना, यह निर्विचिकित्सा–अंग है।

भो ज्ञानी! मिथ्यात्व की गांठ बहुत कठोर है। सर्प की दाढ़ में जहर रहता है, अतः कंठ की थैली को सपेरा निकाल लेता है, परन्तु आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत परिणामों की थैली पड़ी हुई है। इस मिथ्यात्व के कारण ही पंचमकाल में जन्मे हो और अब छठवेंकाल में चले जाओगे, उस काल में सम्यक्दर्शन प्राप्ति के निमित्त भी प्राप्त नहीं होंगे। जिन बिम्बों के दर्शन, जाति–स्मरण, धर्मोपदेश यह मनुष्यजाति में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के हेतु हैं। ऐसा आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने "सर्वार्थसिद्धि" ग्रन्थ में लिखा है। छठवें काल में देव नहीं होंगे, गुरु नहीं होंगे, धर्म उपदेश नहीं होंगे और एक मनुष्य दूसरे मनुष्यों को कच्चा चबायेगा। ऐसे छठवें काल की तैयारी की भावना मत रखना। अभी भी अवसर है, साढ़े १८ हजार वर्ष मौजूद हैं। इतने काल में जितना करना है, कर लो। पंचमकाल के अन्त तक धर्म व धर्मात्मा रहेंगे। परंतु छठवेंकाल में कोई सम्बन्ध/रिश्ते नहीं होंगे, सब तिर्यंचों जैसा परिणमन होगा,यह सर्वज्ञ की देशना है।

भो प्रज्ञात्माओ! सर्वज्ञ की वाणी न झूठी होगी, न हो रही है और न झूठी थी। जो ढ़ाई हजार साल पहले खिरी थी, वह आज सामने दिख रही है। चक्रवर्ती के एवं चन्द्रगुप्त के सोलह सपने आज स्पष्ट नजर आ रहे हैं। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने आपके ज्ञान को नमस्कार किया है कि वह परमज्योति/कैवल्य–ज्योति जयवन्त हो, जिसमें सब झलक रहा है।

भो ज्ञानी! समय यानि आगम, समय यानि आत्मा, समय यानि शासन और समय यानि समय। अतः, समय को देख लो तो स्वसमय को प्राप्त कर लोगे और समय को नहीं रोक पाये तो समय



ठीक नहीं हो पायेगा। यह समय फिर मिलने वाला नहीं है। वह समय चला गया, तो समय भी चला जावेगा। अतः, निकल चलो, अभी समय है, अभी पंचमकाल है, जो छठवें काल की अपेक्षा बहुत सुहावना है। आज जगह–जगह धर्मात्मा, निर्ग्रंथ गुरु दिख रहे हैं, जिनवाणी दिख रही है। भगवान महावीर स्वामी का शासन आज भी जयवन्त है। मध्यकाल की अपेक्षा से तो आप पुण्य आत्मा हो, विशेष जीव हो; क्योंकि उन्हें गुरु भी नहीं मिले, लेकिन आज हर जगह अपने को अरिहंत नहीं तो अरिहंत–मुद्रा तो दिख रही है, यही कलिकाल का चमत्कार है।

भो ज्ञानी! महान नीतिज्ञ आचार्य स्वामी सोमदेवसूरि 'यशस्तिलक–चम्पू' महाकाव्य में लिख रहे हैं–पंचमकाल/कलिकाल में सबके चित्त चलायमान हैं और देह अन्न का कीड़ा बना हुआ है, लेकिन फिर भी आश्चर्य है कि भगवान जिनेन्द्र के रूप को धारण करने वाले आज भी नजर आ रहे हैं, यही पंचमकाल का चमत्कार है। देखो, सौभाग्यशाली जीव समय को समझकर स्वर्ग चले जा रहे हैं और दुर्भाग्यशाली जीव समय पर बैठकर आँखें बन्द करके नरक जा रहे हैं। भो ज्ञानी आत्माओ! अभी जिनवाणी मौजूद है, जब तक इस धरा पर अग्नि का वास है, तब तक वीतराग धर्म समाप्त होने वाला नहीं है।

भो ज्ञानी! दृढ संकल्प जिसके पास है, उसी के पास विश्व की सबसे बड़ी शक्ति है। ध्यान रखना, दृढ़ संकल्प को कोई हिला नहीं सकता। जिसके मन में अस्थिर विचार आ रहे हैं कि क्या मालूम, भगवान सही हैं या नहीं, पर हमें जरूर मालूम है कि तुम्हारा सम्यक्त्व निर्मल नहीं है, क्योंकि संसार में तुम डोल रहे हो। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं– जिसमें हिंसा का कथन हो, अब्रह्म का कथन हो, हिंसा में धर्म लिखा हो, अनाचार को धर्म कहा हो, दया को पाप कहा हो, ऐसी वाणी को जिनवाणी मत कह देना। जिस जीव को शुद्ध–दशा की प्राप्ति हो गई है, उसके लिये शुभ भी छोड़ने योग्य है। पर जिसने शुभ पर दृष्टि ही नहीं डाली, उसे पहले अशुभ छोड़ना जरूरी है अन्यथा अशुभ करकरके निगोद में चले जायेंगे।

भो ज्ञानी! जैसा शास्त्र में लिखा हो, वैसा ही कहना और जितना सही समझ में आ रहा है, उतना ही कहना। लोक में देवत्व तो नहीं है, देवताभास है; गुरुत्व नहीं है, गुरूआभास है। जो ऐसा कहता है–ऐसे जीवों से आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि देव चार गति के होते हैं। अहो! वृक्ष और देहरी पूज रहे हैं, कौन सा देवता है? दीपावली आ रही है, तराजू पूजें, बांट पूजें, घिनोंची पूजें, लोटा पूजें, चक्की पूजें, चूल्हा पूजें, पता नहीं कौन–कौन से देव–देवी पूजेंगें? ध्यान रखना, बहुत पूज लिया, अब तो परमदेव को पूजो, जिससे तुम पूज्य बन जाओ। भो ज्ञानी! जिसकी निज–तत्त्व में रुचि है, वह अमूढ़दृष्टि जीव है। निश्चय की दृष्टि से निज आत्मतत्त्व को जानना अमूढ़दृष्टि भाव है, प्रपंचों में जाना मूर्खता का भाव है। इसलिए, निज तत्व को समझो।



उपगूहन अंग

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्।।२७।।

अन्वयार्थः— उपबृंहण गुणार्थम् = उपबृंहण नामक गुण के अर्थ। मार्दवादिभावनया = मार्दव, क्षमा, संतोषादि भावनाओं के द्वारा। सदा = निरन्तर। आत्मनो धर्मः = अपने आत्मा के धर्म अर्थात् शुद्ध स्वभाव को। अभिवद्धनीयः= वृद्धिगत करना चाहिए और। पर दोषनिगूहनमपि = दूसरों के दोषों को गुप्त रखना भी विधेयम्= कर्त्तव्य–कर्म है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! भगवान महावीर स्वामी की दिव्यदेशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने बहुत ही सहज सूत्र दिया है कि दृष्टि ही मूढ़ है, दृष्टि ही अमूढ़ है। द्रव्य न तो मूढ़ है, न अमूढ़ है। द्रव्य तो द्रव्य है, द्रव्य के प्रति प्रीति भाव का नाम मूढता है। यथातथ्य, जैसा है वैसा ही भाव होना, अमूढता का भाव है। पूज्य को पूज्य, आदरणीय को आदरणीय और परमपूज्य को परमपूज्य मानना, यह निर्मल दृष्टि है। परन्तु सन्माननीय को पूज्यनीय, पूज्यनीय को परम पूज्यनीय मानना जहाँ तुमने प्रारंभ किया, वहीं मूढ़ता का उद्भव हो जाता है। मनीषियो! पंचपरमेष्ठी मात्र परम पूज्य हैं, शेष आपके सन्माननीय हो सकते हैं, आदरणीय हो सकते हैं, पूज्यनीय हो सकते हैं, लेकिन देवाधिदेव की श्रेणी में यदि आपने अन्य देवों को रखें लिया, यही मूढ़ता है।

भो ज्ञानी! भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक– इन चतुर्निकाय निकाय के देवों को नहीं मानना भी मूढ़ता है और इन देवों को देवाधिदेव मानना भी मूढ़ता है। देव,देव हैं; देवाधिदेव– देवाधिदेव हैं; विद्यागुरु, विद्यागुरु हैं,शिक्षागुरु,शिक्षागुरु हैं। जिन्होंने मिथ्यात्व व असंयम का परित्याग किया है, वे धर्म के गुरु हैं। जिनके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान की सर्वघाती प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय है व देशघाती संज्वलन–प्रकृति का उदय है, ऐसे समस्त मुनिराज हमारे लिए परमपूज्य हैं। ध्यान रखना, कोई तुम्हारा उपकारी विशेष भी हो सकता है, और उसके प्रति विशेष बहुमान होता है। अतः, दीक्षा–गुरु के प्रति उपकार–भाव तो आयेगा, लेकिन तीन कम नौ कोटि मुनिराजों के प्रति अनादर भाव भी नहीं आना चाहिये। यदि आता है तो वह तेरी अज्ञानता है।

भो ज्ञानी! लोग तत्त्वज्ञानी तो बनते हैं, पर तत्त्व की गहराई में नहीं उतरते। तत्त्व की गहराईयाँ आ जाने पर तेरी दृष्टि में सम्यक्त्व झलकता है। हमारी श्रमणसंस्कृति में गुणसम्पन्न बालक भी पूजा जाता है और गुणहीन वृद्ध के प्रति माध्यथ्य भाव रहता है। उसके प्रति द्वेष भी नहीं है, परंतु राग भी नहीं है। जिसके संयम में शिथिलाचार है, यदि ऐसे जीव को तुम बहुमान देते रहोगे तो उससे शिथिलाचार का ही पोषण होगा; लेकिन यदि उसके प्रति द्वेष करोगे, तो तुम्हें कर्म का बंध होगा।



इसलिए हमारे आगम में गम्भीर सूत्र प्रदान किये हैं कि प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव, दीनों के प्रति करुणा भाव, गुणियों के प्रति प्रमोद–भाव और विपरीतवृत्ति वाले के प्रति माध्यथ्य–भाव रखो। यही समता का भाव है।

भो ज्ञानी! अमूढ़दृष्टि भाव को निश्चय व व्यवहार दोनों दृष्टि से समझो। हमारे आगम में वंदना के भी अंतर दिये हैं। कोई ब्रह्मचारी अपने आप को 'नमोस्तु' कहलवाने लग जाये, यह आगम के विरुद्ध है। ऐलक व क्षुल्लक जी के लिए आगम में 'इच्छामि' कहा है, आर्यिका माताजी को 'वंदामि' कहा जाता है। पंचपरमेष्ठी ही 'नमोस्तु' कहलाने के अधिकारी हैं। यदि इसके विपरीत बहुमान रखते हो तो जिनवाणी कहेगी कि यह तुम्हारा बहुमान नहीं, अज्ञान–भाव है। अहो! अभिवादन, बहुमान विनय करें, आशीर्वाद भी प्राप्त करें, क्योंकि आशीर्वाद की भी श्रेणी है। यदि कोई चांडाल नमस्कार करने आता है, हिंसक जीव नमस्कार करने आता है तो मुनिराज कहते हैं 'पापक्षयोस्तु'–तेरे पापों का क्षय हो। आगम कह रहा है कि सभी को समान आशीर्वाद नहीं दिया जाता, परंतु दृष्टि असमान नहीं है; कल्याण की भावना सबके प्रति हैं। यदि कोई सम्यकदृष्टि धर्मात्मा 'नमोस्तु' कहता है तो योगी के श्री मुख से निकलता है–'सद्धर्मवृद्धिरस्तु', तेरे धर्म की और वृद्धि हो। जब कोई समकक्ष– साधक नमस्कार करे, जो रत्नत्रयधारी है, तो 'समाधिरस्तु', आपकी समाधि हो। मिथ्यादृष्टि धर्मात्मा है तो उसे दर्शन–विशुद्धि भाव, तेरे दर्शन की विशुद्धि हो यानि तुझे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो, ऐसा आशीर्वाद देंगे। यह आगम की मर्यादा है।

भो ज्ञानी! शक्ति की बात को अभिव्यक्ति द्वारा कहना भी मिथ्यात्व है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु मेरी आत्मा में विराजते हैं, इसीलिए मेरी आत्मा ही मेरा शरण है। निश्चयदृष्टि है और व्यवहारदृष्टि से प्रत्येक परमेष्ठी के लक्षण भिन्न हैं; प्रत्येक परमेष्ठी का द्रव्य भिन्न है, प्रत्येक परमेष्ठी के गुण भिन्न हैं और मूलगुण भी भिन्न हैं। यह परमेष्ठी का व्याख्यान हैं, परमेष्ठी को ही परमेष्ठीरूप समझना। आपके आगम में चार देव हैं– देव, अदेव, कुदेव और देवाधिदेव। यह शीश इनमें देवाधिदेव मात्र को ही झुकता है, शेष तीन को नहीं। 'अदेव' उसे कहते हैं जिसमें देवत्व की लोक मान्यता है जैसे–कोई तिर्यंच की आराधना कर रहा है, कोई वृक्ष की आराधना करता है और कोई पत्थर की आराधना कर उसमें धर्म मान रहा है, यह 'अदेव' की आराधना है। जो वीतराग मार्ग से विपरीत है, मिथ्यात्व में संलग्न है और कुलिंग धारण किये हैं, वे 'कुदेव' की श्रेणी में हैं। जो चार– निकाय के देव हैं, वे सामान्यतः 'देव' हैं और जो सौ इन्द्रों से पूज्यनीय–वंदनीय हैं, अठारह दोषों से रहित हैं, वह सर्वज्ञ प्रभु 'देवाधिदेव' हैं। हम देवाधिदेव की ही वंदना करते हैं, शेष सबका यथायोग्य सम्मान रखते हैं, पर अनादर किसी का नहीं है। माँ जिनवाणी कह रही है– "बेटे! तुम ध्यान रखो, आपका आँगन बहुत है, वहीं तुम खेलो, दूसरे के आँगन में मत जाओ। जब मेरी माँ का आँगन संकुचित हो जायेगा तभी सोचूँगा। लेकिन दुनियाँ मिथ्यात्व की आराधना कर रही है कि कुछ हो न जाये।

एक सज्जन आये, बोले–महाराज! आपको जगह–जगह सभी प्रकार के ऐसे स्थानों पर विहार करना होता है, अतः आपको कुछ सिद्धि रखना चाहिए। भो ज्ञानी! जिसने पंचपरमेष्ठी के पद को ही प्राप्त कर लिया हो, वही डरने लगे तो परमेष्ठी किस बात का? क्यों? 'णमो लोए सव्वसाहूणं' की आराधना करके मैं देवों को बुलाऊँ ? नहीं, मैं तो देवाधिदेव की आराधना करूँगा, देव तो अपने– आप आयेंगे।



भो ज्ञानी! जब तक निर्मल सम्यक्त्व तुम्हारे अंदर में नहीं गूँजेगा अर्थात् रत्नत्रय नहीं है, तो अपूज्य हो और रत्नत्रय है, तो पूज्य हो। सुख–दुःख रत्नत्रय के हेतु नहीं हैं, यह पुण्य–पाप के हेतु हैं। पाप का विपाक है तो हजारों सैनिकों के बीच शत्रु बंदी बनाकर ले जायेगा। पाप के विपाक का उदय आया तो 'धर्मराज'–जैसे जीव की भी बुद्धि विपरीत हो गई थी। द्यूत क्रीड़ा में सबकुछ हार गये, यहाँ तक कि नारी को भी दाव पर लगा दिया। यह कर्म की विचित्रता है। कहाँ गये थे देवी–देवता जब एक शीलवंती के चीर को खींचा जा रहा था ? देखो, अमूढ़दृष्टि–अंग का पालक कहता है कि मैं आराधना तो पंचपरमेष्ठी की करुँगा, परमेष्ठी के प्रसाद से कोई मेरी सेवा करने आ जाये तो मुझे कोई एतराज भी नहीं। सीता ने देवों का आह्वान नहीं किया, पंच–परम–गुरु का आह्वान किया था। अहो! देखो संसार की दशा। जब पुण्य प्रबल होता है तो निमित्त भी ऐसे सामने होते हैं। केवली भगवान की आराधना करने जा रहे थे देव आकाशमार्ग से। सौधर्म–देव एक देव को आज्ञा देता है कि आप जाओ, शीलवंती सीता के शील की रक्षा करो। यदि आज यह उपसर्ग दूर नहीं किया तो लोगों की शील–धर्म से आस्था उठ जायेगी। देख रहे थे राम लक्ष्मण! राम लक्ष्मण को तो ठीक है, उन लव–कुश की लाल आंखों को देख लो। कि जिनकी माँ अग्नि–कुण्ड में कूद रही हो, उन लालों के हृदय से पूछना–बेटे! तुम कैसे देख रहे थे? पर धन्य हो उस माँ को, जिसने अपने बेटों का राग नहीं किया, परंतु अपने पति को सत्य का परिचय दिया। यदि सीता इस उपसर्ग से मुख मोड़ लेती तो लोक का कलंक जानेवाला नहीं था। अहो! एक नारी वह है जो दोनों कुलों को उज्ज्वल करनेवाली होती है और एक नारी वह है जो दोनों कुलों को मलिन करनेवाली होती है। यदि नारी की भावना निर्मल है, तो दोनों कुलों में शोभा है और नारी की भावना गिर गई, तो दोनों कुल डूब गये!

भो ज्ञानी! जब अग्नि का नीर हुआ तो, जनक भी खुश थे, कनक भी खुश थे, राम का पक्ष भी प्रसन्न था, अयोध्या में भी जय–जयकार हो रही थी। परन्तु धन्य हो, हे सीते! आपने सम्यक्त्व को जयवंत किया, इसके साथ–साथ जिन शासन को भी जयवंत किया और नारी जाति को आपने निर्मल किया। नारी–जाति का आपने बहुमान रखा। एक वह सूर्पनखा और मंथरा भी नारी थी जिसने पूरी नारी–जाति को ही बदनाम कर दिया। ऐसी एक धनश्री भी थी, जिसने काम की पीड़ा में आकर अपने पुत्र के ही दो टुकड़े कर दिये थे। उनका कोई नाम नहीं लेता, परंतु जब भी शीलवंती के नाम मुख पर आयेंगे तो सती 'सीता', 'मनोरमा' का नाम ही आयेगा।

भो ज्ञानी! यह व्यवहारदृष्टि में चर्चा चल रही है। चूल्हा, चक्की, मूसल, उखरी ये कोई देव नहीं हैं। इस बात से भी मत घबराना कि यह हमारे कुलदेवता हैं। आचार्य जिनसेन स्वामी ने 'महापुराण' में मिथ्यात्व छोड़ने की विधि का कथन करते हुए, इन देवताओं को संबोधित करते हुए लिखा है कि–बहुत अच्छा होगा यदि आप भी मेरे साथ मिलकर अरिहंतदेव की आराधना करो। "अब मैं अरिहंत की उपासना करूँगा, आज से आपको मानना बंद करता हूँ", जब ऐसी दृढ़ आस्था तुम्हारे अंदर होगी तो वे भी आकर तुम्हारे चरण पकड़ लेंगे। क्योंकि सम्यक्दृष्टि जीव की देव भी पूजा किया करते हैं। यहाँ निश्चय दृष्टि कुछ और कहेगी कि, हे जीव! नाना पर्याय तेरा धर्म नहीं है; नाना द्रव्यों में लिप्त होना तेरा धर्म नहीं है। पर–द्रव्यों को संभालना ही सबसे बड़ी मूढ़ता है। अतः जो परद्रव्य को परद्रव्य ही मानता



है, स्व–द्रव्य को स्व–द्रव्य मानता है, वही सच्चा अमूढ़दृष्टि है, क्योंकि बहिरात्म–भाव ही मूढ़ता है और अन्तर–आत्म–भावना ही अमूढ़ता है।

भो चैतन्य! यदि आत्मा पर करुणा है तो आप ऐसे काम मत करो जो कुलपरंपरा के विरुद्ध हों, आगम–विरुद्ध हों और संस्कृति–विरुद्ध हों। यदि तुम मित्र हो तो, अपने साथी का सहयोग भी कर देना कि, भो मित्र! हम आपको ऐसे गलत कार्य को करते कैसे देख सकते हैं ? इसका नाम मित्रता है। जब पिता की अस्सी वर्ष की उम्र में पुत्र सेवा करता है तब पिता व पुत्र की पहचान होती है। भो ज्ञानियो! ध्यान रखना, संत की पहचान तब होती है जब उपसर्ग/परीषह/आलोचनायें हो रहीं हों, फिर भी अपनी समता में जी रहा हो। इसीलिए, हे मनीषियो! अपनी–अपनी पहचान कर लेना, अपने को मत भूल जाना। ये सब पर्यायों के संबंध झलक रहे हैं, झलकेंगे, क्योंकि संसार है। इसीलिए जो अमूढ़दृष्टित्व को भी समझ लेता है, वह दूसरों के दोषों और सम्मान के लिए ही अपना ही दोष, अपना ही सम्मान समझता है।

भो चेतन आत्मा! परम–पुरुष वह होता है, जो बोलते हुये मौन रहता है। अपने आपको तत्त्व में स्थिर करनेवाला श्रमण गमन करने पर भी गमन नहीं कर रहा, देखने पर भी देख नहीं रहा; फिर भी सब कुछ कर रहा है, यही स्वरूप–लीनता है। यदि कदाचित् कुछ करना भी पड़े तो कह कर भूल जाता है, क्योंकि कहना पर्याय का धर्म था, सुनना पर्याय का धर्म था परन्तु निज में ठहरना मेरा धर्म है। अरे! जो अपने को छोड़कर दूसरे के घर बैठ जाये, उसको व्यभिचारी कहते हैं। निज ध्यान को छोड़कर अथवा निजद्रव्य को छोड़कर जो पर के पीछे पड़ा है, उसको समयसार 'व्यभिचारी' कहता है। इसीलिए, सम्बंध को स्वभाव मत बना लेना, अन्यथा रोना–ही–रोना पड़ेगा, क्योंकि सम्बंध विच्छेद होते हैं और स्वभाव विछिन्न होता नहीं है; यह प्रकृति का शाश्वत नियम है।

भो ज्ञानी! जो पर्याय उपजती है, वह विनशती भी है। जो विनशती है वह किसी दूसरी पर्याय को भी प्राप्त होती है। इस सत्य को समझनेवाला कभी नहीं रोता। परन्तु जो रोता है, वह असत्य में जीने को सत्य मानकर रो रहा है। इसीलिये, भैया! जिसे तू वियोग कह रहा है, वह भी सत्य है और जिसे संयोग कह रहा है, वह भी सत्य है; परन्तु जिसका वियोग व संयोग नहीं, वह परम–सत्य है। यदि परम–सत्य को प्राप्त करना चाहते हो तो आज से हँसना व रोना बंद कर देना, क्योंकि दोनों कषाय हैं। इसीलिये आपसे श्रमण–संस्कृति कह रही है कि हँसो मत, रोओ मत, मध्यस्थ रहो।

मनीषियो! ध्यान रखना कि पंच–परम गुरु व वीतराग–शासन के प्रति यदि कोई विपरीत कथन करेगा, मेरी सामर्थ्य होगी तो मैं उससे कहूँगा कि ऐसा मत कहो। यदि सामर्थ्य नहीं है, तो मैं उसको सुनूँगा नहीं, उठकर चला जाऊँगा। धर्म व धर्मात्मा की आलोचना सुनकर अपने जीवन में गन्दगी नहीं भरना चाहता, क्योंकि यदि खोटे संस्कार मेरी पर्याय में भर दिये गये और वहाँ मेरी समाधि चल रही होगी, तो वे शब्द मेरे अन्दर गूँजने लगेंगे, तो मेरी समाधि भंग हो जायेगी। जिनवाणी कह रही है: उत्तम पुरुष वह होते हैं, जो स्वयं के कल्याण की चिंता करते हैं; मध्यम पुरुष वह होते हैं, जो शरीर की चिंता में डूबे हैं; जो भोगों की चिंता में लिप्त हैं, वे अधम हैं।

भो ज्ञानी आत्माओ! भगवान महावीर दुनियाँ को नहीं सुधार पाये तथा भगवान् आदिनाथ अपने नाती को नहीं समझा पाये, तो हम कौन–से खेत की मूली हैं। सब जानते हैं, फिर भी नहीं मान रहे।



उनकी होनहार वह जाने, हमें संक्लेष–भाव नहीं करना। भगवान् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं: उपगूहन का दूसरा नाम उपबृहण भी है। स्वयं के गुणों को एवं दूसरों के अवगुणों को ढँकना तथा दूसरों के गुणों को एवं अपने अवगुणों को प्रकट करना, इसका नाम उपबृंहण–अंग है। आप यह विश्वास रखना कि किसी की निंदा करने से निंदा होती नहीं है और किसी की प्रंशसा करने से प्रशंसा होती नहीं। यदि आपने समता से सहन कर लिया, तो असंख्यात–गुणी कर्मा–निर्जरा हो रही है। ध्यान रखो, यश भी यशःकीर्ति नामकर्म से तथा अपयश भी अयशःकीर्ति नामकर्म से मिलता है, परन्तु निन्दा करनेवाले बेचारे व्यर्थ में कर्म का बंध कर लेते हैं, उनकी हालत खराब ही है। कवियों ने तो लिख दिया है: "निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छबाय" अपने आँगन में कुटि बनवाकर समता से निन्दक को भी आप सम्मान दे दो।





हो जा स्व में स्थित

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्।।२८।।

अन्वयार्थः कामक्रोधमदादिषु = काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार। न्यायात् वर्त्मनः = न्यायमार्ग से अर्थात् धर्ममार्ग से। चलयितुम = विचलित करने के लिये। उदितेषु = प्रगट हुए हों तब। श्रुतम् = श्रुतानुसार। आत्मनः परस्य च = अपनी और दूसरों की स्थितिकरणम्। अपि = स्थिरता भी। कार्यम् = करनी चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचंद्र स्वामी ने बहुत ही सुंदर सूत्र दिया है कि "आत्म–गुणों का गोपन तथा पर के दोषों का गोपन अथवा आत्म–दोषों का प्रगटीकरण और पर के दोषों के गोपन का नाम ही उपगूहन है।" जिस जीव ने धर्म को समझा है, वह व्यक्ति के पीछे धर्म का बलिदान नहीं करता। व्यक्ति की मृत्यु हो जायेगी और उसके दोष उसके साथ ही चले जायेंगे, लेकिन व्यक्ति का नाम धर्म नहीं है। जिसने व्यक्ति को धर्म मान लिया है, वह अभी धर्म से बहुत दूर है। फिर तो जब तक व्यक्ति रहेगा तब तक धर्म रहेगा और जिस दिन व्यक्ति चला जायेगा, तो धर्म भी चला जायेगा। इसलिये, तीर्थंकर की देशना में जो खिरा है, वही धर्म का स्वरूप है। परमेष्ठी जो कह रहे हैं, वही धर्म का स्वरूप है। परमेष्ठी जो पालन कर रहे हैं, वह धर्म है। परमेष्ठी का नाम धर्म नहीं है।

भो चेतन! तीर्थंकर मुनिराज दीक्षा के बाद मौन क्यों हो जाते हैं ? सबको गर्भ/जन्म से ही मालूम होता है कि बालक तीर्थंकर है। सबकी श्रद्धा जुड़ी होती है कि यह जो भी कुछ कहेंगे सत्य कहेंगे। लेकिन जब तक कैवल्य प्रगट नहीं होता, तब तक पूर्ण सत्य का ज्ञान होता कहाँ है? वे मुनिराज इसलिये मौन हो जाते हैं कि छद्मस्थ–अवस्था में मैंने कुछ कह दिया तो लोग प्रमाणित मान लेंगे और अभी मुझे पूर्ण कैवल्य का ज्ञान प्रगट हुआ नहीं है; मेरे पहले कोई केवली की वाणी है नहीं। तीर्थंकर भगवान् गृहस्थ–अवस्था में गृहस्थी की बातें तो करते हैं, लेकिन धर्म की बातें नहीं करते। जब प्रद्युम्नकुमार का मरण हुआ, तब नेमिनाथ स्वामी से पूछा था। वे तीन ज्ञान के धारी थे, बता भी सकते थे, लेकिन नहीं बताया। क्यों ? लोगों की भीड़ लगने लग जायेगी, लोग पूछना शुरू कर देंगे।

भो ज्ञानी! आप उपगूहन की चर्चा कर रहे हो, आगे स्थितिकरण–अंग भी आयेगा कि, किसी से दोष क्यों हो जाता है। दोषी का दोष पहले मत देखो, दोष के कारण को देखो। अतः अपनी सोच इतनी निर्मल बनाओ कि दोषी ने तो दोष कर लिया है, यदि हम उसे न समझें और प्रचारित कर दें, तो हमने दोष पर और दोष कर दिया। अहो! जिसने दोष किया था, उसके पास अभी मौका था,



वह सम्हल सकता था। पर यदि दोषी को सम्हलने से पहले प्रचारित कर दिया, तो उसको आपने और निडर कर दिया। हे जीव! तू स्वार्थवश तो धर्मात्मा बन सकता है, परंतु धर्म स्वार्थ का नहीं है। उपगूहन वह ही कर सकता है जिसने धर्म देखा है। वह तड़पता है कि कहीं यह बात प्रकट हो गयी, तो मेरे धर्म की हँसी होगी और जिसके अंदर धर्म नहीं होता, वह सोचता है कि मैं सही तो कह रहा हूँ , आप लोग क्या समझो ?

भो ज्ञानी! एक छोटे बालक ने कहा–महाराज! वीतरागमार्ग ही सच्चा मार्ग है। एक युवा ने कहा–महाराजश्री! वीतरागमार्ग ही सच्चा मार्ग है। एक साधु ने कहा–वीतरागमार्ग ही सच्चा मार्ग है। इसमें असत्य कोई भी नहीं कह रहा है, पर तुम बालक की पर्याय को देखोगे तो सत्य को खो दोगे। वृद्ध की, युवा की और साधु की पर्याय को देखोगे तो सत्य को खो दोगे ? वहाँ तुम यह देखो कि जिनवचन हैं या नहीं। यदि जिनवचन हैं, तो बालक के वचन भी उतने ही प्रमाणित हैं, जितने साधु के वचन। यदि जिनवचन नहीं हैं, तो साधु के वचन भी अप्रमाणित हैं, क्योंकि हमारे आगम में लिखा है कि वचन की परीक्षा करो। वचन की परीक्षा आप कैसे करेंगे ? तो प्रवचन से मिलान करो। प्रवचन यानि जो प्रकष्ट वचन हैं, वही जिनदेव के वचन हैं। उसी का नाम प्रवचन है। यदि जिनदेव के वचनों से इनके वचन प्रमाणित होते हैं, तो ये भी प्रवचन हैं। यदि आपके पुत्र से कोई भूल होती है, तो समझदार पिता अपने पुत्र को एकांत में ले जाकर समझा देंगे। यह नहीं कहते कि मेरे बेटे ने ऐसा कर डाला।

भो ज्ञानी! आचार्य–परमेष्ठी के चरणों में जिस शिष्य ने अपना सारा जीवन समर्पित किया है, वे आचार्य परमेष्ठी शिष्यों के सम्पूर्ण दोषों को भी पी जाते हैं। यदि उन्होंने गलती का व्याख्यान दूसरे शिष्यों से करना प्रारंभ कर दिया, तो कल आप नहीं बचोगे, आपका संघ नहीं बचेगा, धर्म नहीं बचेगा; क्योंकि प्रत्येक जीव के अंदर एक कषाय बैठी है, जिसका नाम अहंकार है। अरे! जिसने आपको जीवन सौंप दिया, अपनी भूल को तुम्हारे चरणों में निवेदित किया, आपने दूसरे से कह दिया। यदि उसका अहंकार भड़क गया तो तुम्हारे संघ पर उपसर्ग कर देगा, संयम छोड़ देगा। मालूम चला कि आपकी अल्प भूल का परिणाम सारी श्रमण–संस्कृति को भोगना पड़ रहा है।

भो चेतन! जो भी कदम बढ़ाओ, जो भी मुख से बोलो, इसके पहले ध्यान रख लेना कि मेरे बोलने का परिणाम भविष्य में क्या हो सकता है। आप बोल कर चले जाओगे, परंतु भविष्य आपको माफ नहीं कर सकेगा। कर्म छूट जायेंगे, आप परमेश्वर बन जाओगे, परंतु, हे वर्द्धमान! आपने मारीचि की पर्याय में जो बोला था, उसे मैं माफ नहीं कर पा रहा हूँ। यद्यपि आप भगवान् हो, मैं आपको रोज नमस्कार करता हूँ , परंतु, प्रभु! आपकी अल्प हठ का परिणाम था कि आज तीन–सौ –त्रेसठ मत चल गये और अनेक जीव संसार में भटक गये, आप भले ही भगवान् बन गये। एक क्षुल्लक भगवान् जिनेंद्रदेव के शीश से छत्र को चुरा कर ले गया और जिनभक्त सेठजी के निवास में जाकर छुप गया। सेठजी ने देखा अरे! यह तो क्षुल्लक जी हैं। मैं तो इनको चैत्यालय जी में विराजमान करवाकर आया था। वह समझ गये, जरूर यह भेषी है। अगर इसके पास धर्म होता, तो यह ऐसा करता ही क्यों ? परंतु मुझे विवेक से काम करना है। पहरेदारों से कहा–क्यों दौड़ रहे हो आप लोग ? सेठजी! अपने जिनालय से छुल्लकजी ने छत्र चुराया है। अरे! एक धर्मात्मा को तुम चोर कहते हो, यह छत्र तो



मैंने उठवाया था, आप लोगों को प्रायश्चित्त करना चाहिए। वे कहने लगे–धिक्कार हो हमें। एक धर्मात्मा पर इतना बड़ा दोष लगा दिया। सारे–के–सारे पहरेदार लौट गये और चर्चा करने लगे– अरे! आज हम सभी से बड़ी भूल हो गयी। एक धर्मात्मा के प्रति हम लोगों ने भ्रम कर लिया। लेकिन वहाँ तो सेठजी ने सबको भगा दिया। अरे! उपगूहन यह नहीं कहता कि शिथिलाचार का घोषण करो; उपगूहन कहता है कि धर्म की रक्षा करो। ध्यान रखना, उपगूहन करके ही नहीं छोड़ देना, आपके लिए आगे स्थितिकरण भी एक अंग होता है। अतः, सेठजी ने एकांत में ले जाकर कहा–अरे भाई! तुझे छत्र ही चुराना था तो यह धर्मात्मा का भेष क्यों धारण किया ? वीतराग शासन को लजाने में तुझे जरा भी संकोच नहीं होता?लोगों को क्षुल्लक–भेष पर अश्रद्धान हो जाएगा, तेरी परिणति को देखकर लोग अनादर–भाव से देखेंगे; परंतु ध्यान रखना, जनसामान्य तो यही कहेगा कि अब धर्मात्मा ऐसे ही होते हैं।

भो चेतन! अपने घर को आग से बचाना चाहते हो, तो पड़ोसी के घर की आग को बुझा देना। अतः, जैसी श्रद्धा–भक्ति अभी कर रहे हो, ऐसी श्रद्धा–भक्ति इस धरा पर कोई भी संत आए उनकी करना, क्योंकि अपने को धर्म देखना है, अपने को व्यक्ति नहीं देखना है। धन्य हो जिनभक्त सेठ, जिसने धर्म–भेषी को सत्य–भेषी बना दिया। क्षुल्लक ने सेठ के चरण पकड़ लिए। सेठ बोले– बात ऐसी है, 'भेष को बदल दीजिये। आप चोर जरूर हो पर यह भेष चोर का नहीं है और मैं गृहस्थ हूँ , मैं इस भेष से अपने पैर नहीं छुला सकता। यदि यही करना है तो भेष बदल लीजिये। इस भेष में रहना है तो ध्यान रखो, यह क्रिया तुम्हारी नहीं होगी; क्योंकि यह वीतराग–भेष है, पाप–प्रवृत्ति का भेष नहीं है। ''सेठजी की इतनी अगाध श्रद्धा देख क्षुल्लकजी कहने लगे– मुझे क्षमा करो और इतना बता दो कि वस्तु का यथार्थ स्वरूप क्या है?

भो ज्ञानी! वाणी में वह ताकत होती है कि यथार्थ चोर श्रावक–शिरोमणि बन गया। प्रायश्चित्त ले लिया और भगवान् जिनेंद्र बनने के लिए उसने सच्चा भेष स्वीकार कर लिया। पर ध्यान रखना, जिन–भक्त सेठ ने 'छुपाया' था और आज के सेठ 'छपा' रहे हैं। इतना अंतर आ गया है। आज के धर्मात्मा ऐसे हो गये हैं कि पर्चे–पर–पर्चे छपाकर दे देते हैं कि हम सत्य को प्रकट कर रहे हैं। अरे! तुम क्या सत्य को प्रकट करोगे? तुमने सत्य को समझा ही नहीं। भो ज्ञानी! षट्खण्डागम, समयसार जैसे ग्रंथों का स्वाध्याय कर लिया, परंतु श्रावकाचार के आष्ट–मूल–गुण को नहीं समझ सके। माँ जिनवाणी कहती है कि जिसके पास सम्यक्दर्शन है, वही ज्ञानी–जीव है, शेष सभी अज्ञानी हैं।

मनीषियो! आज कोई प्रश्न करने लगे कि देखो इतने सारे लोग प्रवचन–सभा में जमीन पर बैठे हैं, दो–चार अहंकारी कुर्सियों पर बैठे हैं और तुमने जाकर के पर्चा छपा दिया। अरे! ज्ञानी! यह लिखने से पहले पूछ तो लेता कि वे क्यों बैठे थे कुर्सी पर ? इतनी तुम्हें फुर्सत नहीं मिली, तुमने तो लिखवा के छपवा दिया। अहो! तुमने उस जीव की हँसी नहीं की है, तुमने तो वीतराग–धर्म की हँसी की है। अरे भैया! उम्र ही ऐसी है, स्वास्थ्य खराब है, बैठ नहीं सकते हैं, तो क्या धर्म ही नहीं सुन सकते ? हमारी जिनवाणी में स्पष्ट लिखा है, तुम लेटकर भी सामायिक कर सकते हो, लेकिन सामायिक करना, सामायिक नहीं छोड़ देना। कोई अस्वस्थ हो गया हो और सामायिक का समय है और वह आराम कर रहा है। आपने कहा कि हमारे यहाँ तो बैठकर सामायिक की जाती है। मालूम चला कि आपने बैठने के चक्कर में मूलगुण ही छुड़ा दिया। इसलिए, जितनी सामर्थ्य है, उतना श्रद्धान



करो, किसी के कहने से पहले समझने की चेष्टा करो। भो चेतन! विद्वान् कभी–कभी बड़ी विद्वत्ता का काम कर लेते हैं। एक ज्ञानी बाहर से व्यापार करके आया, उसके पास रत्न /जवाहरात थे। कोई गाड़ी थी नहीं, वह बड़ा परेशान था कि यदि मैं यहाँ ठहरता हूँ , तो पता नहीं क्या हो जाए। अतः उसने प्लेटफार्म का टिकिट नहीं लिया और पुलिस आयी– बाबूजी! क्यों घूम रहे हो, टिकट कहाँ है ? बोले– है नहीं। तो थाने ले गये। अब रात्रि में हमारी सुरक्षा तो हो जायेगी। तो जो ज्ञानीजीव होता है, वह प्रज्ञा का उपयोग कहाँ और कैसे करना चाहिए, वहाँ करता है।

भो ज्ञानी! समन्तभद्र स्वामी ने उपगूहन की चर्चा में बड़ा गहन सूत्र दिया है कि बाल और अशक्त लोगों से कहीं भी धर्म की हँसी हो रही हो तो उसे ढँक देना, जिससे नमोस्तु–शासन की छवि धूमिल न हो और फिर आप स्थितिकरण की बात करना। इसमें भी ध्यान रखना, उपगूहन तो करेंगे, पर अहंकार को छोड़कर। ऐसा नहीं कि बातें तो प्रकट कर दीं और कह रहे हैं कि हमने तो ढ़की थी, हमने बचा लिया था तुम्हें। इसीलिए कभी भी यह मत कहना कि हमने ऐसा किया। ठीक है, किया है, जैसे भूमि में बीज डाल दिया; अब चुप रहो। जब फसल आयेगी तो नियम से फल मिलेगा, अभी हल्ला करने से कोई फायदा नहीं; क्योंकि उपगूहन सम्यक्त्व का अंग है। भो चेतन! उपगूहन पर–का नहीं निज–का ही धर्म है। आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि अपने चैतन्य गुणों को विभाव–भावों से गुप्त रखो, यही तेरा उपगूहन अंग है। अपने स्वभाव को विभावों से सुरक्षित रखो, यही तेरा वास्तविक उपगूहन अंग है। ध्यान रखना, स्थितिकरण पहले स्वयं का कर लेना, फिर दूसरे का करना। स्वयं तो गिर रहे हो और दूसरे को उठा रहे हो, पता चला कि दोनों ही डूब गये।

भो मनीषियो! निज में स्थित हो जाना और पर से हट जाना वही वास्तविक स्थितिकरण है। दूसरे को सम्हालने वाले करोड़ों हैं, परंतु स्वयं को सम्हालनेवाले करोड़ों में से एक है। जब दूसरे के घर में कुछ होता है, तो बहुत समझदार होते हैं कि ऐसी होनहार थी। जब स्वयं के घर में कोई घटना घटती है, तो समझदारी कहाँ चली जाती है ? रावण को सब समझा रहे थे, अच्छा नहीं किया जो सीता का हरण कर लिया। अरे! उसने तो एक सीता का हरण किया, एक पर दृष्टि डाली, परंतु, हे मन के रावणो! अपने मन से पूछ लो कि कितनी सीताओं के शील को भंग कर चुके हो ? वहाँ तुम्हारी समझ कहाँ चली गयी थी ? वहाँ स्थितिकरण करने क्यों नहीं पहुँचे थे ? आज यह समझ लेना कि जिनेंद्र के शासन को मात्र क्रियाओं में बांधकर मत रखना। जिनेंद्र के धर्म को अंतरंग की परिणति का धर्म बनाकर चलना। यह जितना व्याख्यान चल रहा है, क्या इसमें अध्यात्म नहीं है ? क्या इसमें सदाचार नहीं है ? क्या इसमें लोकाचार नहीं है ? सब एकसाथ चल रहा है। क्या इसमें पूजा नहीं है ? व्यवहारिकता नहीं है ? जो सम्यक्त्व से मंडित है, उसी की तो पूजा है।

भो ज्ञानी! इसीलिए ध्यान से समझना, वह पूजा नहीं करते, उनका पूजा नहीं करता। अरे ! ऐसा पूजा कहकर तुमने पूजा करके भी पूजा खो दी, क्योकि तुम्हारे पास उपगूहन ही नहीं था, स्थितिकरण ही नहीं था। अच्छा बताओ आप जिसके बारे में चर्चा कर रहे हो, उसको समझाने कब गये थे? बोले–हमें तो समय ही नहीं मिला। तब तुम्हें कहने का क्या अधिकार ? मैं तब मानता आपको धर्मात्मा, जब किसी धर्मात्मा को पतित होते देखकर तुम तुरंत उठाने पहुँच जाते। वह पतित हो रहा है, उसके प्रचार में तुम लगे हो। तुम्हारा कर्तव्य यह बनता है, कि पहले प्रचार रोकना चाहिए था, फिर आपको उनके



पास जाना चाहिए था। ध्यान रखना, यह मत सोचना कि मैं श्रावक हूँ। गुरु किसके हैं, धर्मात्मा किसका है ? जब आपके गुरु हैं, आप उनके भक्त हो और कहीं आपको कमी नजर आ रही है, तो भो ज्ञानी! अपने गुरु में खोट तू देखता रहेगा ? एक पाषाण की प्रतिमा भी लाता है तो प्रतिष्ठा कराने के पहले प्रतिष्ठाचार्य से पूछ लेता है कि इसमें जो कमियाँ हों, वो अभी बता दो, लेकिन भगवान् बनने के बाद फिर कमी मत निकालना। यदि तुम्हें गुरु में कमी दिखे, तो दीक्षा लेने के पहले सब देख लो।

भो ज्ञानी! जब मेरी क्षुल्लक–दीक्षा हो गयी, तो एक विद्वान् आये और एकांत पाकरे बोले– क्षुल्लक जी! एक बात बताएँ, आप मान लोगे ? हमने कहा–यह तुम्हारी शर्त नहीं है। बताना तुम्हारी बात, मानना हमारी बात है। बोले– मेरी ऐसी भावना है कि इस संघ से दूसरे संघ में चलो और व्यवस्था हम कराये देते हैं। आपको देखकर हमें ऐसा लगने लगता है कि हम तो आपको अमुक–अमुक संघ में ले चलें। हमने कहा– बहुत अच्छी बात है। लेकिन, भैया! यह बताओ कि ऐसा क्यों करें ? बोले–वहाँ आपकी अच्छी प्रतिष्ठा बढ़ेगी और अच्छे रहोगे। हमने कहा– भो ज्ञानी! यह प्रतिष्ठा के पीछे तू गुरु से छुड़ायेगा। अरे! प्रतिष्ठा के लिए मुनि नहीं बना जाता, प्रतिष्ठा के लिए परमात्मा नहीं बना जाता। धर्मात्मा की तो स्वयमेव प्रतिष्ठा हो जाती है। इसीलिए आप कहो, आचार्यश्री के पास भक्ति के लिए चलो, तो आचार्यश्री के चरणों में मेरी भक्ति आज भी है, आगे भी रहेगी। वह भी हमारे गुरु हैं, क्योंकि निर्ग्रंथ हैं। यह ध्यान रखना, ऐसी बातें कभी मत करना। ऐसे लोग संसार में बहुत मिलेंगे और वे ही बाद में आयेंगे और तुम्हें नमोस्तु/इच्छामि नहीं करेंगे। बोलेंगे–हम जानते हैं तुम्हें, एक गुरु को छोड़कर दूसरे को गुरु बनाया है। भो ज्ञानी आत्माओ! दुनियाँ के कहने पर नहीं आना, जिनवाणी में जो लिखा है उसे जानकर स्वयं विवेक से काम करना। यह स्थितिकरण दूसरे के करने के पहले स्वयं का भी करना, भटकानेवाले तो अनन्त मिलेंगे, पर संभालनेवाले बहुत कम मिलेंगे। इसीलिए, काम, क्रोध, मानादि कम करो ? स्वयं के लिए तथा पर के लिये युक्तिपूर्वक स्थितिकरण भी करना चाहिये।





धर्मी सो गौ बच्छ प्रीत कर

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्।।२९।।

अन्वयार्थ : शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने = मोक्षसुखरूप सम्पदा के कारणभूत। धर्मे = धर्म में। अहिंसायां च = अहिंसा में और। सर्वेष्वपि = समस्त ही। सधर्मिषु = साधर्मीजनों में। अनवरतम् = लगातार। परमं = उत्कृष्ट। वात्सल्यम् = वात्सल्य व प्रीति को। आलम्ब्यम् =अवलम्बन करना चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! हम अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की दिव्य–देशना सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने हमें अभूतपूर्व परमामृत सूत्र प्रदान किया है कि तुमने आज तक दूसरों को स्थिर किया है, लेकिन स्वयं में स्थिर नहीं हुए। यदि स्वयं में स्थिर हो गये होते तो कभी पर–की स्थिरता की बात करने की आवश्यकता नहीं थी। पड़ौसी के घर में जब इष्ट का वियोग होता है तो हम सभी समझदार हो जाते हैं। जब स्वयं के घर में इष्ट का वियोग होता है तब वही समझ पलायन कर जाती है, जो दूसरों को समझाने के समय आती है। उस समय समझ से कह देना कि, हे समझ! जीवन की अंतिम बेला में जब मेरे ऊपर संकटों के पर्वत टूट रहे हों, जब मेरी अंतिम श्वांस निकल रही हो, उस दिन समझ चाहिये। अहो! उस दिन समझ आ जाए, तो विश्व में तुमसे बड़ा समझदार नहीं।

मुमुक्षु इस अंतिम दिन को कहता है कि यह मेरे जीवन का प्रथम दिन होगा कि जिस दिन वीतराग जिनेन्द्र का कीर्तन/स्मरण करते हुए मेरी अंतिम पलक झपकेगी। बस, पलक झपकी नहीं कि पलक खुल गई। यह स्थितीकरण अंग है। स्थितिकरण किस–किसका करें ? स्वयं का भी करें, पर का भी करे। पर जो व्यक्ति स्वयं गिर रहा है, स्वयं पतित है, स्वयं दुर्बल है, निर्बल है, वह दूसरे को क्या अपने हस्त का आलंबन देगा ?

भो ज्ञानी! यदि आप किसी को धर्म से जोड़ना चाहते हो तो ध्यान रखना, उसको भी विश्वास दिला देना कि मैं धर्म से जुड़ा हूँ। सर्वज्ञ के चरणों में आप इसलिए नहीं झुकते हो कि, प्रभु! आप विभूति–संपन्न हो, आपके यहाँ देव आते हैं, आपके समवसरण की विभूति है; बल्कि दृढ़ आस्था है। अमूढ़दृष्टि अंग में आपको मालमू होगा कि वह विद्याधर एक क्षुल्लक जी बन गये थे; उन्होंने तीर्थंकर का वेष भी बनाकर दिखा दिया था; लेकिन रेवती रानी तीर्थंकर को नमस्कार करने नहीं गई। परंतु क्षुल्लक के वेष में आए थे तो 'इच्छामि' जरूर कहा था। अहो! बलभद्र आ गये, रुद्र आ गये, ब्रह्मा आ गये, विष्णु आ गये तो तीर्थंकर आ गये नमस्कार नहीं किया और क्षुल्लक आ गये तो नमस्कार कर लिया; क्योंकि उसे मालमू था कि जिनेन्द्र की वाणी में लिखा है कि पंचमकाल में क्षुल्लक तो



होते हैं, परंतु तीर्थंकर नहीं होते। तीर्थंकर चौबीस तो हो चुके, यह पच्चीसवें भगवान् कहाँ से आ गये। अतः, रेवतीरानी ने नमस्कार नहीं किया, क्योंकि दृढ़ श्रद्धा थी।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् समंतभद्र–जैसी दृढ़ श्रद्धा, दृढ़ वात्सल्यता और दृढ़ स्थितिकरण किसी के पास नहीं था। वे कहते हैं–परमेश्वर वह होता है जो अविसंवादी होता है और जिसका कोई विरोध नहीं होता। हे नाथ! जब मैंने आँख उठाकर देखा तो संपूर्ण ब्रह्मांड में मुझे कोई निर्दोष नहीं दिखा, निर्दोषपना तो आप में ही झलका। हे प्रभु! प्रत्यक्ष–परोक्ष से, अनुमान आदि से जब निहारा, तो भी आप निर्दोष झलके। इसीलिए समंतभद्र आपके चरणों में शीश झुकाता है। यहाँ किसे नमस्कार किया ? महावीर को नहीं, क्योंकि मुमुक्षु जीव नामों को नमस्कार नहीं करता है, वह भगवान को नमस्कार करता है। अज्ञानी जीव नामों में रोते हैं, विसंवाद करते हैं और ज्ञानी जीव गुणों को देखकर नतमस्तक हो जाते हैं, "वंदे तद्गुण लब्धये"।

भो ज्ञानी! दूध से भरा गिलास रखा था, छोटे से पोते ने आकर धक्का दे दिया। दूध का गिलास गिर गया। यहाँ सँभालो अपने आप को। फैलनेवाला तो फैल ही गया, अब पुनः दूध तो आने वाला नहीं है, पर पूत को क्यों पीटा ? पीटने से दूध भरनेवाला नहीं है। परंतु अज्ञानी दूध को भी फैला बैठा है और पूत को भी पीट सकता है। माँ जिनवाणी कह रही है कि जीवन जीने की शैली सीखना है तो जिनेन्द्रदेव की देशना से स्थितिकरण अंग को अंदर में प्रवेश करा दो। क्योंकि धर्म यह कहता है कि किसी को पूजा करते वक्त गुस्सा आये तो उसे सँभलवा देना। यहाँ स्थितिकरण यह है कि एक चिटक नहीं चढ़ा पाया, दीप के स्थान पर धूप चढ़ा दिया और धूप में जितनी गर्मी थी वह तो कम थी, लेकिन आपके क्रोध का धुँआ बढ़ गया। भो ज्ञानी! माँ जिनवाणी कह रही है, उस समय उस जीव को सँभाल लो। यदि वास्तव में दया है, करुणा है, तो गिरते हुए को उठा लेना, इससे बड़ी अनुकंपा और नहीं होगी। आप कैसे दयावान् हो कि एक जीव भावों से गिर रहा है और आप देख रहे हो? मोक्षमार्ग कहता है कि लाखों वेदनाएँ, लाखों यातनाएँ सहन कर लेना, लेकिन किसी जीव को दर्शन–ज्ञान–चारित्र से च्युत नहीं होने देना। हाँ, मैं मानता हूँ कि आपका अपमान भी हो सकता है, आपको गालियाँ भी सुनने मिल सकती हैं, लेकिन जिस व्यापारी को अर्थ से प्रयोजन होता है, वह ग्राहकों की गालियों पर ध्यान नहीं देता। ऐसे ही मुमुक्षु जीव भी अनादर, मान–सम्मान पर ध्यान नहीं देता है। अहो! व्यक्ति को देखने वाला कभी भी धर्म नहीं कर पाएगा, क्योंकि व्यक्ति में नियम से राग–द्वेष होते हैं। यदि आप व्यक्ति देखोगे तो पहचानवालों को ही जय–जिनेंद्र कर पाओगे, क्योंकि तुम व्यक्ति देखते हो और धर्म देखोगे तो आपको हर व्यक्ति में जय– जिनेंद्र की दृष्टि दिखेगी। व्यक्ति देखोगे तो किसी– किसी को ही नमोस्तु–नमोस्तु करोगे, और धर्म देखोगे तो तीन–कम–नौ–कोड़ी मुनिराजों के चरणों में शीश झुकेगा। मुमुक्षु , व्यक्ति को नहीं, धर्म को निहारता है। अहो धर्मात्माओ! धर्म एहसान नहीं है, धर्म तेरा स्वभाव है। धर्म को एहसान मानने लग जाओगे तो धर्मावलंबियों से तुम सम्मान की भावना रखोगे कि मैंने आपके धर्म को चलाया है, मैंने आपके धर्म को प्रभावित किया है।

भो ज्ञानी! अरे! अपने आप का कल्याण करने के लिए धर्म स्वीकार किया जाता है न कि धर्म का कल्याण करने के लिए। हे वर्धमान! आपने जिनशासन को महान नहीं बनाया। दुनियाँ कुछ भी



कहे, लेकिन वर्धमान से पूँछोगे तो कह देंगे कि हमने नमोस्तु–शासन को महान नहीं बनाया, अपितु नमोस्तु–शासन को स्वीकार कर लिया, तो हम भगवान् बन गये।

अहो! श्रमण संस्कृति का जो आश्रय लेते हैं, वह भगवान् बन जाते हैं। यहाँ विवक्षा समझना, व्यक्ति पर जोर देंगे तो जिनशासन महावीर से अथवा आदिनाथ से प्रारंभ हो जाएगा, जबकि जिनशासन सनातनशासन है। तीर्थंकर जिनशासन के प्रवर्त्तक नहीं, प्रचारक होते हैं। उन्होंने अनुकंपा और वात्सल्यभाव से प्राणीमात्र को वीतराग–धर्म की देशना दी है और स्वयं में स्थिर होकर स्थितिकरण किया है। मनीषियो! होलिका के दहन करने के पहले थोड़ा अंदर में झाँक लेना अथवा दशहरा–मैदान जाने से पहले स्वयं के रावण से मिल लेना। प्रह्लाद होलिका का पुत्र नहीं, भाई का बेटा था। उसको लेकर पहुँच गई थी जलने के लिये, पर जला नहीं सकी। लेकिन आज तक होलिका को जलाया जा रहा है। एक बेटे को जलानेवाले के लिए हमारी संस्कृति ने सहन नहीं किया, आज तक उसको जलाते आ रही है। परंतु ध्यान रखना, जो अपनी बेटी के टुकड़े–टुकड़े पेट में ही कर रही है, उनकी होलियाँ कितनी जलेंगी ? इसलिए पहले अपने हृदय से पूछ लेना कि मैं कितना पवित्र हूँ? और संकल्पी–हिंसा मत करना।

यह स्थितिकरण की बात कर रहा हूँ। चाहे एक दिन का गर्भपात हो या नौ महीने का हो। जिनशासन कहता है कि पंच–इन्द्रिय जीव का ही घात किया है। भो ज्ञानी आत्माओ! आचार्य विरागसागर, आचार्य विद्यासागर की माँ सोच लेती कि कौन पालन करेगा ? तो आज बुंदेलखंड़ और सारे देश में श्रमणों की जो भीड़ दिख रही है, उसे दिखाने कौन आता ? घर में खाने को न हो तो उसके पुण्य पर छोड़ देना, लेकिन एक भावी–भगवान् के टुकड़े करने के विचार मन में नहीं लाना, यदि स्थितिकरण समझ रहे हो तो।

भो चेतन! स्थितिकरण तेरे अंदर का विषय है। जब रावण को जलाने दशहरा–मैदान में जाओ, तो अपने मन से पूछ लेना कि तूने कितनी सुन्दरियों को निहारा है ? किसमें ताकत है रावण में आग लगाने की ? यदि रावण होता तो एक बात आपसे कहता कि हे मानवो! मैं अग्नि में जलने से भयभीत नहीं हूँ, मुझे आप जला दो; लेकिन इतनी कृपा करना कि उन पवित्र हाथों से अग्नि लगवाना, जिसने कभी पर–नारी पर दृष्टिपात न किया हो। मन में भी न किया हो, वचन से भी न किया हो और शरीर से भी न किया हो। ऐसे पवित्र पुत्र जो हों, तो मेरी यष्टि (देह) पर अग्नि लगवा देना। यदि दृष्टिपात किया है तो, भोली आत्मन्! मेरी दशा देख लो। मैं पैदा हुआ था मुनिसुव्रत के शासन में, मैंने पाप किया था मुनिसुव्रत के शासन में और आज तक करोड़ों वर्ष बीत गये, पर जल रहा हूँ महावीर के शासनकाल में। अहो! इस शरीर की चिताएँ जल जाएँगी, पर कलंक की चिता जलानेवाला कोई विश्व में आज तक नहीं हुआ। यह रावण नहीं जल रहा, वह तो तीर्थंकर बनेगा, रावण का कलंक जल रहा है और तब तक जलेगा जब तक कोई दूसरा तीर्थंकर नहीं आ जाएगा, यह पंचमकाल की श्वांसों तक जलता रहेगा।

भो चेतन! जलाना चाहते हो तो ध्यान की अग्नि से कर्मों के समुदाय जलाओ। भो ज्ञानी! दोष पर्याय ने किया था, क्रोध आपने। अहो! क्रोध की चर्चा आती है तो वीतरागी मुनिराज द्वैपायन आँखों के सामने खड़े होकर संदेश देते हैं कि, हे क्रोधी! तुझे भटकना ही होगा, चाहे धर्म के पीछे क्रोध



करना, चाहे कर्म के पीछे। क्योंकि अग्नि चाहे चंदन की हो या बबूल की हो अथवा बेशरम की हो, अग्नि का काम तो जलाना है। इसी प्रकार, चाहे तुम पुत्र–पुत्रियों पर क्रोध करो, चाहे तुम धर्म के नाम पर करो; परंतु सिद्धांत कहेगा कि कर्म का बंध तो निश्चित है। पंडित दौलतराम जी ने लिखा "ताहि सुनो भवि मन थिर आन", स्थिरचित्त होकर सुनो। यदि क्रोध आ रहा हो, लोभ आ रहा हो, मान सता रहा हो और काम सता रहा हो तो उस समय अपने आपको, अपने आप से, आपने आप के लिए, अपने आपके द्वारा, अपने आप में कुछ कह देना। बाहर कहने में यदि शर्म लगे तो, भो ज्ञानी! अपने अपको अपने आप में ले जाना। अपने घर में प्रेम से समझा देना कि यह उचित नहीं है।

भो ज्ञानी! जन्मता तू वासना की शैय्या पर ही है, परंतु ज्ञानी वो होता है, जो सल्लेखना के संस्तर पर आरूढ़ होकर परमेश्वर बन जाता है। इसलिए, जीवन में ध्यान रखना, यह प्रवचन आप आज के लिए नहीं सुन रहे हो, यह उस दिन के लिए सुन रहे हो जिस दिन यह आँख तुम्हारी बंद होगी, उसकी तैयारी कर लेना। भो चेतन! जब पथ भला है, तो अंत भला होता है। पथ भला नहीं है, तो अंत कभी भला नहीं हो सकता। प्रज्ञा से विवेक अनिवार्य है और विवेक के साथ युक्ति अनिवार्य है, जिसे आप लोग जुगाड़ कहते हो।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि जिनवाणी के सूत्रों से स्वयं के लिए भी और दूसरे के लिए भी स्थितिकरण करना चाहिये। उपगूहन तो आप लोगों ने कर लिया, लेकिन स्थितिकरण नहीं किया तो आपने पाप कर लिया; क्योंकि उपगूहन तो शिथिलाचार का किया गया। पर आपने पुनः स्थितिकरण नहीं किया तो आपने शिथिलाचार का ही पोषण कर दिया। अहो मुमुक्षु आत्माओ! जीवन में यह भावना भाना कि हे नाथ! इन नैनों से कभी शिथिलाचार न देखूँ।

भो ज्ञानी! कोई जीव श्रद्धा से डाँवाडोल हो रहा है तो आपका कर्तव्य बनता है कि वह श्रद्धा नहीं खो देवे। कोई विपरीत–ज्ञान में जा रहा हो, तो उसे जिनवाणी पढ़ने को कहें। संयम से च्युत हो रहा हो तो कहना कि आप घबराओ नहीं, आपको तो बहुत बड़ी विभूति मिली है। यदि कोई साधक आपको विपरीत परिणमन करते दिख गया, तो आप स्थितिकरण करना। पहुँच जाना एकांत में और सिर टेक कर तीव्र भक्ति प्रकट करना और कहना, हे भगवान्! आप धन्य हो। ऐसे कलिकाल में लोग विषयों में लिप्त हैं, लोग राग में लिप्त हैं, लोग परिग्रह में लिप्त हैं, परंतु धन्य हो आपकी इस अवस्था को, कि आपने ऐसे काल में वीतराग श्रमण के स्वरूप को स्वीकार किया है। हम तो आपके चरणों की धूल भी नहीं हैं। तुम्हारी मधुर प्रार्थना से उस शिथिलाचारी के अंदर से शिथिलाचार का जहर जरूर निकल जाएगा। यही स्थितिकरण है। स्थितिकरण किया था वारिसेण महाराज ने मुनि पुष्पडाल का, जो बारह साल तक कानी पत्नी की याद नहीं भूले थे। देखो क्या होता है ? वारिसेण महाराज के समक्ष बत्तीस दिव्य सुंदरियाँ आकर खड़ी हो गईं, नमोस्तु निवेदन करने लगीं। इधर मुनिराज पुष्पडाल देख रहे थे। पर वारिसेण महाराज ने अपनी माता से पुष्पडाल की कानी पत्नी को भी बुलाने हेतु कहा। महाराज वारिसेण बोले– हे पुष्पडाल! यह बत्तीस रानियाँ खड़ी हुई हैं और एक तैंतीसवीं आपकी स्त्री खड़ी हुई है। इनमें स्वीकारो, जो तुमको सुंदर लगे।

अहो! धिक्कार हो मुझे, कि बारह वर्ष तक कानी का स्मरण किया। चलो स्वामिन! धिक्कार हो मेरी अशुद्ध वृत्ति को, यह तो वमन करके चाटने की वृत्ति है। भो चेतन! हो गया खेल। जो बारह

वर्ष तक द्रव्यलिंग में जिया, एक मुहूर्त में भावलिंग का उदय हो गया। यह स्थितिकरण है। मनीषियो! जैसे गाय अपने बछड़े को दुलार करती है, चाटती है, ऐसे तुम भी प्रेम/वात्सल्य भाव बनाकर रखना। जीवन मिला है, अच्छे से जियो, हिलमिल कर जियो। बुद्धि तुच्छ है, उसे पंथों में मत बाँटो, कंथों में मत बांटो, ग्रंथों में मत बांटो। कल्याण चाहते हो तो निर्ग्रंथ भगवंतों की आराधना करो। भो ज्ञानी! ये जोड़ने का शासन है, तोड़ने का नहीं। मत कहो कि मैं बड़ा, यह छोटा। पता नहीं कौन सी पर्याय में खड़े मिलोगे, फिर नहीं पूछोगे कौन बड़ा और कौन छोटा ? श्वान भी देव हो जाता है, देव भी श्वान हो जाता है। इसलिए अहंकार मत करो। वीतरागी शासन ही सत्य है।



आत्म-प्रभावना ही प्रभावना है

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।।३०।।

अन्वयार्थ : सततम् एव = निरंतर ही। रत्नत्रय तेजसा = रत्नत्रय के तेज से। आत्मा = अपने आत्मा को। च = और। दानतपोजिनपूजा विद्यातिशयैः = दान, तप, जिनपूजन और विद्या के अतिशय से अर्थात् इनकी वृद्धि करके। जिनधर्मः = जिनधर्म को। प्रभावनीयो = प्रभावनायुक्त करना चाहिए।

।।पुरुषार्थ देशना।।१४।।

मनीषियो! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी के माध्यम से हम महागंगा का पान कर रहे हैं। उन्होंने हमें सूत्र दिया है कि जीवन में सब कुछ खो जाता है, फिर भी सब कुछ मिल सकता है। जहाँ तेरा कोई नहीं होता, वहाँ तेरे सब कुछ होते हैं; लेकिन सूखे सरोवर में कभी हंस नहीं बैठते, सूखे वृक्ष पर कोई पक्षी आकर निवास नहीं करते। जिसके हृदय-सरोवर का वात्सल्य-नीर सूख गया है, उसके पास धर्म-रूपी हंसों का वास नहीं हो पाता। धर्म वहीं है, जहाँ वात्सल्य भाव है! धर्म वहीं है, जहाँ धर्मात्मा-रूपी अनुराग है। जिसके अन्तरंग में अनुराग नहीं, वात्सल्य-भाव नहीं, वहाँ धर्म नहीं है। मनीषियो! धन-वैभव पुण्य का फल है, ये विभूतियाँ ऊपरी चमक हैं, परंतु आत्मा के भोजन का यदि कोई द्रव्य है तो वात्सल्य और ज्ञान-आराधना है।

भो ज्ञानी! आपकी पहचान अतिथि के आतिथ्य से होती है। अपने घर में आप कितने ही अच्छे से रहते हो, लेकिन अतिथि तुम्हारे व्यवहार का सही-सही प्रचार करेगा। एलाचार्य महाराज 'कुरलकाव्य' में लिखते हैं-जिस घर, समाज एवं देश में अतिथि-सत्कार नहीं है, वह टेसू/ किंसुक के पुष्प के समान है, जिसमें सुन्दरता तो बहुत होती है, लेकिन भौंरे कभी नहीं मँडराते। पर जिसके अंतरंग में वात्सल्य का पराग है, सुगंध है, वहाँ तत्त्वज्ञानी धर्मात्मा, साधु-संत रूपी भौंरे अपने आप आते हैं। यह सुगंध का प्रभाव है। अतः, मोक्षमार्ग सुन्दरता का नहीं, स्वभाव का है। जिसका स्वभाव सुवासित होता है, उसके बगल में शेर भी बैठ जाता है, नाग भी आकर बैठ जाता है और नेवला भी बैठ जाता है; परन्तु जिसका स्वभाव कड़क है, कड़वा है एवं परिणामों में कलुषता भरी होती है उसे देखकर, आप तो मनुष्य हो, तिर्यंच भी मुँह फेर लेते हैं।

भो ज्ञानी! वात्सल्य की आँखों को देखकर श्वान भी पूँछ हिलाने लगता है और क्रूर आँखों को देख कर वह भी भाग जाता है। घर में वात्सल्य होगा तो एक रोटी के चार भाग भी हो सकते हैं, और वात्सल्य नहीं है तो चार रोटी का एक भाग नहीं हो सकता। जिसके घर में चार चूल्हे होते हैं समझ लो उसके घर में वात्सल्य की रोटी नहीं होती। वात्सल्य से परिपूर्ण घर में चूल्हा एक होता है और आदमी चार होते हैं। इसी प्रकार तुम्हारे पास सम्पत्ति है और सन्मति नहीं है तो तुम श्रीमति



को भी नहीं सँभाल पाओगे। धन्य हो उन सन्मति वर्द्धमान को, जिनके सामने सिंह और गाय एक ही घाट पर पानी पीते थे और आज तुम एक मंच पर भी नहीं बैठ पाते हो।

भो ज्ञानी! मच्छर तो खून पीता है, परन्तु जो परस्पर वात्सल्य भाव नष्ट कराता है, समझ लेना वह मानव के रूप में बड़ा मच्छर है, जो कि वात्सल्य के रक्त को चूस रहा है। तीर्थंकर के शरीर में रक्त का रंग दूध के समान होता है। अहो! जैसे ही कोई बालक माँ के गर्भ में आता है तो माँ के आंचल में दूध भर जाता है। जिसका एक के प्रति वात्सल्य है और जिनका प्राणी मात्र के प्रति वात्सल्य–भाव हो, तो उसके सर्वांग में दूध भर जाता है।

भो ज्ञानी! वात्सल्य के धर्म से भरा हृदय चेहरे से समझ में आ जाता है,। जिन जीवों के अंदर वात्सल्य–भाव नहीं होता, उनके चेहरे में लालिमा दिखेगी और जिनके चेहरे पर अंतरंग में वात्सल्य होता है उनके चेहरे में आपको सफेदी नजर आयेगी। क्योंकि जिनके हृदय में करुणा, प्रेम, दया एवं अनुराग होता है, उनके शरीर में श्वेतकणों की वृद्धि होती है। जिनके हृदय में करुणा–भाव नहीं, टेंशन हो रहा हो, सिरदर्द हो रहा हो, वहाँ वात्सल्य भाव कहाँ? घरों में झगड़ा क्यों होता है? अरे सास! आप भी तो बहू बनकर आई थीं। अब सास बन गई हो तो जैसा व्यवहार अपनी बेटी के साथ करती हो, बहू भी तो किसी की बेटी है। आप भी उसे बेटी मान लो, वह आपको माँ कहने लगेगी और फिर देखो घर की क्या व्यवस्था बनती है? अरे! परिवार चलाना चाहते हो तो बहू और बेटी का भेद समाप्त कर दो।

भो ज्ञानी! आज धर्मात्मा से धर्मात्मा नहीं मिल रहा है। मेरा प्रश्न है आपसे, वे रोटियाँ किसकी खा रहे हैं? पानी किसका पी रहे हैं? पिता ने चौका लगाया, बगल में बेटे ने भी चौका लगा लिया, दोनों अपने आवास पर खड़े हैं। उन दोनों के भाव देखो, कि हमारे यहाँ आ जाते, इनके यहाँ क्यों चले गये और मन में कहीं भावना आई कि चलो पिताजी के यहाँ आहार दे आवें तो पिताजी घूर–घूर कर देखते हैं; बेटा भी घूर–घूर कर देखता है और आहार भी दे रहा है। ऐसी वर्गणायें जब भोजन में मिल जाती हैं, तो धर्मात्मा भी कहते हैं कि हम भी आपस में नहीं मिलेंगे। ध्यान रखना, आगम में कितनी विधियाँ लिखी हैं? मन– शुद्धि, वचन–शुद्धि, काय–शुद्धि। परिणाम तुम्हारे निर्मल नहीं हों तो ग्रास देना तो दूर की बात, तुम पैर भी मत छू लेना, पैर मत दबा देना; क्योंकि आपके शरीर की कलुषित वर्गणाएँ उनके शरीर में प्रवेश होंगी। यदि आपके परिणाम कुलषित हो रहे हैं तो कोई दूसरे के घर में आहार देने भी मत जाना।

'रयणसार' ग्रंथ में लिखा है कि गर्भवती माँ एक–एक कदम सँभाल कर चलती है और भोजन भी संभलकर करती है कि मेरे उदरस्थ शिशु को कोई पीड़ा न हो जाये। आचार्य कुंदकुंद देव कह रहे हैं–हे श्रावको! तुम उदरस्थ शिशु की माँ के तुल्य हो और पात्र तुम्हारे पुत्र हैं। जैसे तुम उसे सम्हालते हो, वैसे ही तुम इन्हें सम्हालो। अपने–अपने परिवार को कैसे सामंजस्य बैठा कर चलाते हो, ऐसे आप पात्रों के साथ सामंजस्य बिठाकर चलो। अहो मुमुक्षु आत्माओ! जिस माँ ने आपको जन्म दिया है, क्या–क्या सोचकर दिया था? कभी–कभी उस बुढ़िया माँ का भी ध्यान रख लिया करो। मनीषियो यह प्रेम, स्नेह अथवा राग की बात नहीं की जा रही, यहाँ वात्सल्य की बात की जा रही है। वात्सल्य प्रेम नहीं है, स्नेह नहीं है, राग नहीं है। प्रेम परस्पर में होता है, प्रेम बराबर वालों में होता है, स्नेह



छोटों से होता है, राग विशेषों से होता है, वात्सल्य धर्म–धर्मात्मा से होता है। यह धर्म का संबंध विशेषों का संबंध नहीं है, यह रागी–भोगियों का नहीं, वीतरागियों का है। अतः, यह वात्सल्य अंग है, क्योंकि अपेक्षा से युक्त प्रेम वात्सल्य संज्ञा को प्राप्त नहीं होता। निरपेक्ष अनुराग ही वात्सल्य होता है। जैसा गाय को अपने बछड़े के प्रति वात्सल्य होता है, वैसा ही धर्मात्मा को धर्मात्मा से प्रेम होता है। कोई कहे कि मैं धर्म की प्रभावना करने आया हूँ, उससे कह देना कि पहले वात्सल्य से भर कर आओ, फिर प्रभावना करने आना।

अहो ज्ञानी! पति ने छन्द–व्याकरण, वेद–पुराण आदि पढ़े, पत्नी ने पूँछ लिया स्वामी! बताओ पाप का बाप क्या है ? ओह! मैंने तो यह सीखा ही नहीं है। अरे स्वामी ! तो जाओ, पहले सीख कर आओ। सीखने गये और रास्ते में गणिका के महल में रुक गये। अरे! ये तो गणिका का महल है। इसमें ठहरूँगा तो पवित्रता भंग हो जायेगी। पर जैसे ही गणिका ने रुपयों की थैली दिखा दी, तो बोले–ठीक तो है, अपन हवन करके शुद्ध हो जायेंगे। बड़ा आश्चर्य है कि थैली दिखा दी तो सप्त–व्यसनी भी शुद्ध हो जाता है। गणिका बोली– अरे! आप कहाँ परेशान होते हो? मैं ही आपका भोजन बना दूँगी, आप तो एक थैली और ले लो। बोले–ठीक तो है, पुद्गल का परिणमन है, बना देने दो। होते–होते बात यहाँ तक पहुँच गई कि वह गणिका पुनः बोली– मैं गणिका हूँ और आप विद्वान हैं, मेरे जीवन में कब–कब ऐसा अवसर आना है। स्वामी! मेरे हाथ से ग्रास ले लो। बोले–यह नहीं हो सकता। गणिका से एक और थैली को पुनः पाते ही उसने अपना मुख खोल दिया, तो गणिका ने गाल पर एक चाँटा जड़ दिया। बोली– आप कहाँ बनारस जा रहे थे 'पाप का बाप' पढ़ने, मैंने यहीं पढ़ा दिया। 'लोभ' में आकर आपने गणिका के हाथ से मुख में ग्रास ले लिया। अहो! जब तक 'लोभ पाप का बाप' नहीं पढ़ा, तब तक आप पूरे आगम, पुराण, शास्त्र पढ़ लेना, प्रलोभन में आकर कुछ भी कर सकते हैं।

भो ज्ञानी! इसीलिए आचार्य उमास्वामी ने ग्रंथराज 'तत्वार्थ सूत्र' में लिखा है कि क्रोध का त्याग करो, लोभ का त्याग करो। यदि कोई उपसर्ग भी आ जाये तो आप मृत्यु को महोत्सव के रूप में देखना, तू घबराना नहीं, मरण कर लेना, लेकिन असत्य के साथ मरण नहीं करना। प्राण चले जायें लेकिन अपने प्रण को नहीं छोड़ना। भो मनीषियो! पहले 'पाप का बाप' पढ़ना चाहिए था। इसीप्रकार पहले तुम वात्सल्य पढ़ लोगे तो प्रभावना भी कर लोगे। जहाँ वात्सल्य होगा, वहाँ भगवान भी आ जाते हैं और भक्त भी आ जाते हैं। वात्सल्य में जो शक्ति है, वह संसार में कहीं नहीं है। अहो! वात्सल्य की महिमा देखो–जड़ पत्थर–ईंट एक ही लाइन में लगे हैं, भवन खड़ा हुआ है। इसलिए जीवन में वात्सल्यपूर्ण संगठन ही सर्व–शक्तिमान है, उसे खो मत देना। चींटियों को देखो, जब वे चलती हैं तो पंक्तिबद्ध चलती हैं, कतार से चलती हैं। ऐसे ही तुम सब मिलकर चलोगे, तो लोग कहेंगे कि यह धर्मात्मा का समूह जा रहा है, इनको निकल जाने दो। यही वात्सल्य है और वही प्रभावना का प्रभाव है। प्रभावना का अर्थ होता है–उद्योतन, प्रकाशन, प्रकाशित कर देना। जब चींटी अकेली थी तो समझ में नहीं आ रही थी, और जब वे पंक्ति में आ गई तो उद्योतन हुआ। ऐसे ही संगठन ही सबसे बड़ा उद्योतन है, यही प्रभावना है।

भो ज्ञानी! एक नगर के पास से हम गुजर रहे थे, किसान खेतों में काम कर रहे थे। उनका



छोटा सा बालक हमें देखकर बोला--देखो, जैनों के भगवान आ रहे हैं। अरे! उस बालक को मुनि में भगवान दिख गये, परंतु जिनवाणी कह रही है कि हमें तो बालक में भी भगवान दिख रहे हैं; क्योंकि भगवान की पहचान भी वही कर सकता है जो भगवान बनने वाला हो। अघवान कभी भगवान को नहीं देख सकता। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि जो रत्नत्रय से शुष्क हैं, वे क्या प्रभावना करेंगे? गुड़ खाने वाला क्या दूसरों को गुड़ का परहेज करा पायेगा? इसलिए आत्मा को रत्नत्रय के तेज से प्रभावित करो, क्योंकि प्रभावना का अर्थ ही प्रकाशन है। यदि दूसरों को धर्म से प्रभावित करना चाहते हो, दूसरे के हृदय को तुम प्रभावित करना चाहते हो, तो पहले ज्योति जला लेना। बुझे दीपक से कभी पदार्थ नहीं दिखता, प्रचारक व्यक्ति से कभी धर्म की प्रभावना नहीं होती है। भगवान जिनेंद्र के तीर्थ में आज तक किसी को धर्म प्रचार के लिए कहीं नहीं भेजा गया। संसार के दर्शनों ने प्रचारक भेजे हैं, परंतु प्रचारक को तुम्हारी संस्था से कोई प्रयोजन नहीं, उसे मात्र प्रचार में जो वेतन मिलेगा उस वेतन से प्रयोजन है। आपने विद्यालय से एक प्रचारक भेज दिया, तुम्हारा विद्यालय टूट रहा है, फूट रहा है, उसे कोई प्रयोजन नहीं है, उसे तो आपने एक हजार रुपए दिये हैं, एक महिने तक प्रचार करना है। इसलिए जिनशासन में प्रचारक नहीं होता, प्रभावक होता है तथा प्रभावक वही होता है, जो धर्म से प्रभावित हो। अतः, प्रभावक धर्मात्मा होता है, किन्तु प्रचारक धर्मात्मा हो सकता है, नहीं भी हो सकता।

भो ज्ञानी! हम प्रचारक तो बन रहे हैं, पर प्रभावक नहीं। ध्यान रखो, प्रचारक का नाम तो किसी मंदिर के पटिये पर हो सकता है, पर प्रभावक का नाम तो सिद्धशिला पर ही होता है। इसलिए प्रचारक नहीं, प्रभावक बनना। प्रचारक बाहर का होता है, प्रभावक रत्नत्रय के तेज से मंडित होता है। अतः, दान देना, तपस्या करना, जिनेंद्र की पूजा करना, विद्या के साधन जुटाना, भगवान जिनेंद्र के शासन की प्रभावना करना--यह आपके सम्यक्त्व का अंतिम आठवाँ अंग है।

सम्यक्ज्ञान अधिकार

आत्म-साधना हेतु सम्यक्ज्ञान

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः।।३१।।

अन्वयार्थ : इति = इस प्रकार। आश्रितसम्यक्त्वैः = समयग्दर्शनको धारण करनेवाले उन पुरुषों को जो। नित्यं आत्महितैः = सदा आत्मा का हित चाहते हैं। आम्नाययुक्तियोगैः = जिन-धर्म की पद्धति और युक्तियों के द्वारा। यत्नेन निरूप्य = भले प्रकार विचार करके। सम्यग्ज्ञानं समुपास्यं = सम्यग्ज्ञान को आदर के साथ प्राप्त करना चाहिए।

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः।।३२।।

अन्वयार्थ : दर्शनसहभाविनः अपि = सम्यग्दर्शनका सहभावी होने पर भी। बोधस्य = सम्यग्ज्ञान का। पृथगाराधनं इष्टं = जुदा आराधन करना अर्थात् सम्यग्दर्शन से भिन्न प्राप्त करना इष्ट है। यतः = क्योंकि।लक्षणभेदेन अनयोः = सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में लक्षण के भेद से। नानात्वं संभवति = नानापन अर्थात् भेद घटित होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने बहुत ही करुणादृष्टि से कथन किया है। **जब तक तेरे अंतरंग में वात्सल्य नहीं है, सहजता नहीं है, तब तक आपकी सत्यता भी जीव को कटुता के रूप में महसूस होती है**। वात्सल्य की भाषा में जहर के प्याले को भी जीव पीने को तैयार हो जाएगा, परंतु कटुता की भाषा में अमृत का पान भी स्वीकार नहीं करना चाहता। बालक को भी मालूम है कि दूध पीने से पेट भरेगा, परंतु यदि बर्तन गरम है तो वह भी हाथ से छोड़ देगा। इसी प्रकार माँ जिनवाणी कहती है, भो मुमुक्षु! शीतल सहज होकर भगवान् की देशना करोगे तो उससे एक-इन्द्रिय जीव पर भी प्रभाव पड़ेगा। क्योंकि जहाँ सौभाग्यशालिनी स्त्रियाँ बगीचे में प्रवेश कर जाएँ, वहाँ फूल खिलने लगते हैं और अशुद्ध अवस्था में यदि स्त्री ने भोजन-सामग्री को देख भी लिया है तो, भो ज्ञानी! बड़ी-पापड़ भी बिगड़ने लगते हैं। एक-इन्द्रिय जीव के पास करुणा नहीं है, मन नहीं है, पर एक-इन्द्रिय जीव के पास संवेदनाओं का अभाव भी नहीं है; वह भी खिल उठता है, प्रसन्न हो जाता है।

लंकेश के पास कितना वैभव था? क्या उसके यहाँ संगीत नहीं होते थे, बाजे नहीं बजते थे? लेकिन प्रेम-संगीत नहीं था। जब राम जंगल गये थे तो उनके साथ मात्र तीन थे, लेकिन अठारह-अक्षौहणी



सेना का अधिपति लंकेश प्रभावना नहीं कर सका और मात्र तीन व्यक्ति जो जंगल में गये थे उनके पास वात्सल्य होने से बंदर, भालू आदि वानरवंशी आदि भी सेना में शामिल हो गये। लंका में विजय कलुषता की नहीं, वात्सल्य की हुई थी। किसी को धुतकारा नहीं, हर व्यक्ति को पुचकारा ही था, सहज दृष्टि से ही देखा था, तभी इतनी बड़ी प्रभावना हुई। अरे! बलभद्र तो हर काल में हुये हैं, लेकिन उन सब में राम का नाम ही क्यों आता है? क्योंकि मर्यादा के साथ चले थे, उनके पास सहजता थी। रावण ने तो मंदिर भी बनवाया था, लेकिन आज कोई उल्लेख नहीं। मनीषियो बहुत बड़े–बड़े मंदिर–भवन बनवा देने से प्रभाव नहीं रहता है, अंदर निज के भवन में तुमने सबको स्थान दिया है तो आपका प्रभाव है। हमारी कषायों के बादल नहीं छटे तो माँ जिनवाणी कह रही है कि तू प्रभावना क्या करेगा? इसलिये, सम्यक्त्व प्रगट करो, शास्त्रज्ञान मात्र को सम्यक्ज्ञान मत कह देना। जिसमें हित की प्राप्ति हो, अहित का परिहार हो, वही ज्ञान सम्यकज्ञान है, वह चाहे न्यून हो या अधिक। अल्प–ज्ञानी होना कोई दिक्कत नहीं, लेकिन ज्ञानी होकर बहुमानी हो जाना, अभिमानी हो जाना पाप/कषाय है। अल्पज्ञान मोक्ष का कारण है, क्योंकि मोह–रहित है, जबकि मोही जीव का बहु–ज्ञान संसार का कारण है।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने "अष्ट–पाहुड़" में लिखा है, भो मुमुक्षु आत्माओ! मानव पर्याय का सार सम्यक्ज्ञान है। अज्ञानी–अवस्था तिर्यंच–तुल्य होती है। अज्ञानता के सद्भाव में व्यक्ति अपने आपको भी नहीं पहचान पाता है, दर–दर अवहेलना होती है। देखो, धनवान की पूजा अपने देश/राज्य में ही हो सकती है, पर विद्वान की पूजा सर्वत्र होती है। यह विद्वत्ता! तभी हासिल होती है जब तुम्हारे पास विनय है। इसीलिए ज्ञानी तो बनना, परंतु ढक्कन के समान नहीं, जो समय आने पर हट जाये, अपितु बटलोई की तरी के समान स्थाई बनना। अतः, ज्ञान वही है जो हमारे लिए संकटों में मित्र का काम करे, क्योंकि निज ज्ञान का सहारा कभी छूट नहीं सकता। उपसर्गों,संकटों और परीषहों में जब भी कोई काम आयेगा, तो अंदर का ज्ञान ही काम आयेगा। यदि अंदर ज्ञान नहीं है तो न संयम काम आएगा, न सम्यक्त्व; क्योंकि ज्ञान को दोनों के बीच में रखा है। जो दीपक देहरी पर रखा हो, वह अंदर भी प्रकाश करता है व बाहर भी प्रकाश करता है, यही न्याय है। अतः जो ज्ञान दर्शन को विशुद्ध करता है तथा चारित्र को भी विशुद्ध करता है, उसका नाम सम्यक्ज्ञान है।

भो ज्ञानी! जिस ज्ञान से निज के परिणमों में निर्मलता बढ़े, वही ज्ञान है और जो ज्ञान अज्ञानता को बढ़ा दे, वह अज्ञान है। सावन का महीना, राखी के पर्व पर नाना–मामा के यहाँ से खिलौने,राखियाँ, मिठाईयाँ न आने पर पुत्र ने कहा–हे जननी! मुझे बताओ, मेरे नाना के यहाँ से कुछ क्यों नहीं आया? माँ की आँखों से आँसू टपकने लगे। यह देख पुत्र बोला–माँ! आपसे मैंने इतना ही तो कहा है कि मेरे नाना के यहाँ से खिलौने क्यों नहीं आए? और आप रो रही हैं। मेरे लाल! जो तेरे पिता हैं, वही तेरे नाना हैं। बेटा! उल्लू को दिन में नहीं दिखता, कौओं को रात्रि में नहीं दिखता, पर कामी पुरुष को दिन व रात दोनों में ही नहीं दिखता। बेटा! जब मैं अपने पिता के भवन में एक दिन श्रृंगार कर रही थी, तो उनकी कुदृष्टि पड़ गई। उन्होंने मंत्रियों से पूछ लिया कि संसार में सबसे सुंदर वस्तु के उपयोग का अधिकार किसको है? मंत्रियों ने कह दिया–स्वामिन्! आपका ही अधिकार है। उन्हें क्या मालूम था कि राजा छल–छिद्र से भरी बात कर रहा था। पश्चात् राजा ने एक मुनिराज से भी



पूछा था। उन्होंने कहा–राजन्! राष्ट्र में जो सम्पत्ति होती है, उसका तो स्वामी राजा होता है, लेकिन स्वयं की बेटी, माता और माँ जिनवाणी व जिनालय पर राजा का कोई अधिकार नहीं होता। पर राजा नहीं माना। जिसको कर्मों ने डस लिया है, उसे जिनेन्द्र की देशना कहाँ सुहाती है? मनीषियो! नन्हा सा बालक माँ के चरणों में शीशटेक कर कहता है कि अब तो मैं समता–माँ की गोद में खेलकर, निज–आत्मपिता की गोद में ही बैठना चाहता हूँ। हे जननी! जिस पर्याय से पाप होते हैं, मैं उस पर्याय को ही नाश करके रहूँगा। ग्यारह वर्ष का वह बालक घर से निकला, निर्ग्रंथ वीतरागी गुरु के चरणों में पहुँचकर निवेदन करता है कि, हे प्रभु! ऐसा उपाय बताओ, जिससे मेरी पर्याय का परिणमन समाप्त हो जाए। अब बालक कार्तिकेय नहीं, वह मुनिराज कार्तिकेय हो गये। कार्तिकेय मुनिराज ने अगाध ज्ञान का अर्जन किया और महान ग्रंथ "कार्तिकेयानुप्रेक्षा" का सृजन किया, जिसमें उन्होंने अपने अंदर की सम्पूर्ण भावनाओं को भर दिया।

भो चेतन! देख लो वह दृश्य भी कैसा होगा कि भगिनि खड़ी–खड़ी देख रही है और उसके भाई मुनिराज के शरीर को वसूले से छीला जा रहा है। शरीर तो छिल रहा है, यह तो नष्ट होगा ही, परंतु वेदक–भाव स्वात्मा का था। वेदना देह में थी, वेदक–भाव अंदर का था, अंदर के वेदक–भाव ने बाहर की वेदना का वेदन होने ही नहीं दिया। मुनिराज का चिंतन चल रहा है कि यदि ममत्व करूँगा तो बंध जाऊँगा। "बध्यते मुच्यते जीवः" जीव ममत्व से बंधता–छूटता है। रक्त के फुब्बारे छूट पड़े, वह योगी समयसार में लीन हो गया, ज्ञान धारा में लीन हो गया– "अहमिक्को खलु सुद्धो", मैं एक हूँ , निश्चय से शुद्ध हूँ , परमाणु मात्र मेरा नहीं है, मैं तो ज्ञानमयी हूँ। जो छिल रहा है, वह रूप छिल रहा है, और जो मैं हूँ , वह स्वरूप है, उस पर वसूला चल ही नहीं सकता है। अहो! कैसी समता होगी? परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है–ऐसा अटल श्रद्धान जिस मुमुक्षु का है, भो ज्ञानी! वही मोक्षमार्गी है। इसीलिए अमृतचंद्र स्वामी कह रहे है, मनीषियो! ज्ञानी बन जाओ, परंतु बुद्धि के ज्ञानी नहीं, क्योंकि तर्कों में जिओगे तो अश्रद्धानी हो जाओगे। यह बुद्धि कैसी है जो दोषों की ओर जा रही हो? सोचो, जो जीव मल से मोती निकाल रहा है निश्चित ही वह कभी न कभी भगवान् बनेगा।

भो ज्ञानी! हमारे आगम में मिथ्यादृष्टि को भी कुदृष्टि से नहीं देखा, मिथ्यादृष्टि को कुदृष्टि नहीं लिखा; क्योंकि दोष व्यक्ति का नहीं, दोष दृष्टि का है। धन्य हो वह वीतरागी श्रमणकार्तिकेय स्वामी, जिन्होंने 'कार्तिकेय अनुप्रेक्षा' में लिखा है कि संबंधियों के द्वारा किया हुआ उपसर्ग संक्लेषता तो बढ़ाता है, परंतु समता रखने पर उनके द्वारा प्रदत्त कष्ट से असंख्यात–गुणी कर्म की निर्जरा होती है। अरे! कैसेट तो जड़ है और शब्द भी जड़ है, पर शब्द–शक्ति तुझे धन्य हो कि तू वीतरागता को प्रकट करा देती है। इसलिए, भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने शब्द–ब्रह्म कहा है। दिगम्बर–आम्नाय के दर्शन में शब्द को ब्रह्म कहने वाले पहले आचार्य अमृतचंद्र स्वामी हैं। क्योंकि ब्रह्म की उत्पत्ति का कारण होने से शब्दब्रह्म कहा है। आत्मब्रह्म तो आत्मा ही है, उस ब्रह्म का कोई माप ही नहीं है, अनुपम है। अमृत के द्वारा विष को दूर किया जाता है, लेकिन अमृत ही जहर का काम करेगा तो जहर किससे उतरेगा? मनीषियो! ध्यान रखना, कभी अज्ञानता मत कर बैठना। वृक्ष में जब फल आते हैं तो वह नीचे झुक जाता है, ज्ञानी जब ज्ञान से भरा होता है, तो विनय से भर जाता है। झुक जाता है, परन्तु



ज्ञानी ही अपने आपको अहंकारी बना बैठे तो अज्ञानी बेचारा क्या करेगा? इसलिए, जिनके पास विनय नहीं है, ऋजुता नहीं है, उसे ज्ञानी कहकर ज्ञान की अवहेलना मत करना। अविनयी को ज्ञानी कहकर तुम सम्यक्ज्ञान की अविनय मत करना, वीतराग–ज्ञान की अवहेलना मत करना। मध्यस्थ रहना, पर द्वेष कभी मत करना। उसके अविनय का प्रचार भी मत करना। यदि कोई मार्ग से च्युत होता आपको लगे तो जाकर उसे संभालना चाहिए। इसलिए ऐसे अवसरों पर कहीं भी लोभ मत करना। लोभ करना ही तो पाप है। लोभ करना है तो आयु–कर्म से कर लो कि मेरी आयु क्षीण हो रही है, तुरंत पुण्य कर लो। भो ज्ञानी! विद्या का लोभ मत करना, जितनी तुम्हारे पास है, उतनी बाँट दो। कम से कम तुम शुभ–उपयोग में तो लगाओगे। अशुभ–भाव से बचे तथा दूसरे को बचाने में तो निमित्त बने ही। परंतु जितना भी समझाना, समीचीन समझाना। मनीषियो! संस्कृत भाषा के धुरंधर कवि आचार्य अमितगति स्वामी ने लिखा है: यदि ज्ञान संयम–शून्य है, तो वह गधे के ऊपर रखे चंदन के समान होता है, जो ढ़ो रहा है, परंतु स्वयं उपयोग नहीं कर पा रहा है।

भो ज्ञानी! उपदेश का भी ध्यान रखना। तत्त्व की चर्चा भी करना हो तो संभलकर करना। मिष्ट पकवान सूअर या गधे के सामने रख दो, उसका तो मन नहीं रुचता। रत्नों के हार मृग के गले में लटका दो, एक दौड़ लगायेगा, टूट जाएगा। अंधे को दीप दिखाओ, बहरे को गीत सुनाओ, कोई पागल हो तो सुना दो, इसी प्रकार मूर्खों को शास्त्रों की कथा सुनाओ तो कोई उपकार नहीं होता है। इसलिये पंडित दौलतराम जी ने लिखा "ताहि सुनो भवि मन थिर आन," भव्यों के लिये कहा है, अभव्यों के लिये नहीं। जिनकी भव्यता बिगड़ चुकी है उनके लिए वीतराग–सर्वज्ञ की वाणी भी कुछ नहीं कर पाती। इसलिये, मनीषियो वह जितना तत्त्व–उपदेश है, भव्यों के लिये है; अभव्यों के लिये नहीं है।





कारण कार्य भाव

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्।।३३।।

अन्वयार्थ : जिनाः = जिनेन्द्रदेव। सम्यग्ज्ञानं कार्यं = सम्यग्ज्ञान को कार्य और। सम्यक्त्वं कारणं = सम्यक्त्व को कारण। वदन्ति = कहते हैं। तस्मात् = इस कारण। सम्यक्त्वानन्तरं= सम्यक्त्व के बाद ही। ज्ञानाराधनम् इष्टम् = ज्ञान की उपासना ठीक है।

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्।।३४।।

अन्वयार्थ : हि = निश्चयकर। सम्यक्त्व ज्ञानयोः = सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों के। समकालं जायमानयोःअपि = एक ही काल में उत्पन्न होने पर भी। दीपप्रकाशयोः इव = दीप और प्रकाश के समान। कारणकार्यविधानं = कारण और कार्य की विधि। सुघटम्= भले प्रकार घटित होती है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हम सब विराजते हैं। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने सम्यक्ज्ञान की चर्चा करते हुए कहा कि जीव का लक्षण 'चेतना' है। जिसमें चेतना है, वही चैतन्य है, वही चैतन्य भगवती–आत्मा है। ''भवम् ज्ञानम्'', भव शब्द का अर्थ है 'ज्ञान'। उस ज्ञान से युक्त जो है, उसका नाम है भगवान। अब अपनी पहचान कर लेना, आप क्या हो ? द्रव्यदृष्टि से जब देखते हैं तो निगोदिया में भी भगवान् है, मनुष्य भी भगवान् है।

भो ज्ञानी! जब राग की तृष्णा और भोगों की लिप्सा में मनुष्य पाप के पंक में फँस जाता है, तब उस पंक में फंसे मन को निकालने के लिए मन–हस्ती को ज्ञान का अंकुश चाहिये। अहो! पाप तूने किया और उसे धोने भगवान आएँगे ? यह कर्ता–दृष्टि भूल जाओ। लगता है कहीं न कहीं कर्त्तत्वभाव से जुड़े हो कि भगवान् की कृपा होगी, तो हो जाएगा। अहो ! वे परमेश्वर कर्मातीत हो चुके हैं, वे तुम्हारे पाप–पंक को धोने नहीं आएंगे। उस पंक को धोने का पानी तेरे पास ही है। अहो! कीचड़ को भी तो पानी ही चाहिये। आपने पाप किया है तो ज्ञान से किया है, बुद्धि–पूर्वक किया है, चित्त से किया है। अपनी पाप–परिणति को परमात्मा पर थोपना तो पाप है, मायाचारी भी है। क्योंकि जब काम बिगड़ने लगता है तो ईश्वर को बुला लेते हो और जब काम बनने लगता है तो सीना फुला कर कहते हो कि हमने ऐसा किया।

भो ज्ञानी! मनुष्य से बड़ा कोई स्वार्थी जीव नहीं है। सभी जीवों से अपना काम निकाल लेता है। जब अपना नम्बर आता है तो कहता है कि मैं तो भगवान्–आत्मा हूँ , मैं तो अकर्ता हूँ। शिष्य ने प्रश्न किया कि, भगवन् शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे हो ? तब आचार्य कुंदकुंद महाराज ने कहा कि–



कह सो धिप्पदि अप्पा, पण्णाए सो दु धिप्पदे अप्पा। जह पण्णाए विभत्तो, तह पण्णाएव धित्तव्वो।। ३१८ समयसार।।

अहो! प्रज्ञा कितनी विशाल है कि आपने जिस प्रज्ञा से पाप किये हैं, उसी प्रज्ञा से पाप समाधान भी होगा। हाथी को निकालने के लिये हाथी ही चाहिये , उसी तरह पाप से निकलने के लिये पुण्य ही चाहिये। पुण्य के लिये परिणामों की निर्मलता चाहिये। मनीषियो! ज्ञान तो ज्ञान है। ज्ञान सम्यक् नहीं होता है, दृष्टि सम्यक् है, तो ज्ञान भी सम्यक् है और यदि दृष्टि मिथ्या है तो ज्ञान भी मिथ्या है। वही ज्ञानमोक्ष मार्गी है, वही ज्ञान नरकमार्गी है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि ज्ञान का उपयोग करने की तेरी शैली कैसी है ? एक जीव ज्ञान के द्वारा पांडवों को अग्नि में जला रहा है। भो ज्ञानियो! कौरवों के पास क्षयोपशम नहीं होता तो लाक्षागृह कैसे बना देते ? ज्ञान तो था, पर उसे दूसरे को जलाने में प्रयोग किया। ज्ञान तो दीपक के तुल्य होता है। अपने ज्ञान को प्रकाश का दीप बना लो, परंतु नाश का दीप नहीं बनाना। जब मोक्षमार्ग में मिथ्यात्व का अंधकार छाया हो, तो ज्ञान का दीप जला देना।

भो ज्ञानी! जिसके जीवन में पंच–परम–गुरु के प्रति श्रद्धा हो, उनकी श्रद्धा को जलाने के लिये तुमने ज्ञान का असम्यक् उपयोग यदि कर दिया, तो अग्नि से जो होता, वह पानी से भी नहीं होता है। पानी में यदि कोई व्यक्ति गिर भी जाए तो हड्डी–पसली तो मिल जायेगी, लेकिन अग्नि में पड़े व्यक्ति की केवल राख ही मिलेगी। इसलिये, ज्ञानी तो बनना, पर विवेक के साथ ज्ञान का उपयोग करना। अतः, आचार्य महाराज ने पहले सम्यक्त्व का कथन किया है कि यदि तेरा दर्शन निर्मल है तो ज्ञान का तू सही उपयोग कर सकेगा। दर्शन निर्मल नहीं है तो ज्ञान तेरे संसार ही का कारण बना रहेगा।

भो चेतन! मिथ्या–ज्ञान की महिमा को देखो; एक नहीं, दो नहीं, तीन सौ, तिरेसठ, मत चल गये। अतः, ज्ञान सम्यक् नहीं, ज्ञान मिथ्या नहीं; दृष्टि निर्मल करके चलना। दीप हाथ में लेकर देखने के लिये चलते हो कि कहीं गड्ढे में न गिर जाओ, कहीं किसी जीव पर पैर न पड़ जाये; परन्तु दीप लेकर भी जो मल में गिर रहा हो उसके लिये दीप क्या करेगा ? भगवान् आत्माओ! माँ जिनवाणी के अखण्ड दीप को लेकर तुम चल रहे हो और असंयम के मल पर गिर रहे हो तो तुम्हारा ज्ञान किस काम का है ? 'भगवती आराधना' में आचार्य शिवकोटी महाराज ने लिखा है– दीप का उद्देश्य कुएँ से बचना मात्र होता है। अहो! मैं असंयम से अपनी रक्षा नहीं कर पाया, कर्म–लुटेरों से अपनी रक्षा नहीं कर पाया। इसलिये एक दीप और जला लेना, परन्तु वह दीप तो चैतन्य के घृत का, चैतन्य की ज्योति में और चैतन्य से ही जलेगा। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने 'समयसार' की 'आत्मख्याति' टीका में लिखा है।

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्व भवान्तरच्छिदे।।

उस चैतन्य–ज्योति को नमस्कार हो, जिसमें स्वानुभूति की ज्योति जल रही है। कर चलो, वह समयसार स्वानुभूतिस्वरूप अखण्डज्योति मेरी आत्मा है। अतः, देख–देखकर चलो, हार–निहारकर चलो,



कहीं कषाय का काँटा न लग जाये। यदि काँटा लग जायेगा, तो षाय का काँटा निकालने कोई अस्पताल नहीं है। एकमात्र जिनशासन, अर्हंत–वाणी, निर्ग्रंथ गुरु के आलंबन के अलावा इस विश्व में कषाय के काँटे को निकालनेवाला कोई नहीं है। ध्यान रखना, कषाय का काँटा निकलेगा भी तभी, जब आत्मस्वरूप होकर समझेगा, उसके प्रसन्न हुए बिना वह निकलनेवाला भी नहीं है।

भो ज्ञानी! जिनवाणी में कहीं नहीं लिखा कि अध्ययन का नाम ज्ञान है। अध्ययन का नाम ज्ञान होता, तो निगोदिया को ज्ञानी कैसे कहते ? यदि शास्त्रों में ज्ञान है, तो अलमारियाँ ज्ञानी हो जाना चाहिये। शास्त्र यदि ज्ञान हो जाएँगे तो, हे जैनियो! आपको फिर जैन नहीं कह पायेंगे। पदार्थ और प्रकाश ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान से जाने जाते हैं, यह तो ज्ञेय हैं। पदार्थ से ज्ञान होता, तो ध्यान रखना, यहाँ घट नहीं है, पर घट को आप जान रहे हैं। परन्तु ज्ञान के बिना घट के अभाव में घट को नहीं जान पाओगे। ध्यान रखना, जिस व्यक्ति ने अपने दादा के दादा को नहीं देखा, यदि वह कहे कि मेरे दादा का दादा कोई है ही नहीं, तो अनास्था आ जायेगी, क्योंकि सम्यक् ज्ञान का प्रकरण है और ज्ञान में तो तर्क लगते ही हैं। ज्ञान का नाम ही तर्क–बुद्धि है। अतः, ज्ञान को ज्ञानदृष्टि से समझना, अज्ञानदृष्टि से मत समझना। यदि ज्ञान समझ में आ गया, तो सचमुच ज्ञानी बन जाओगे।

भो ज्ञानी! ज्ञान 'पदार्थ' नहीं है, ज्ञान 'प्रकाश' नहीं है। यदि प्रकाश से ज्ञान होता, तो चमगादड़–उल्लू को ज्ञान कैसे हो जाता है ? अहो! ज्ञान पदार्थ–का–धर्म नहीं, ज्ञान प्रकाश का धर्म नहीं, ज्ञान आत्मा–का–धर्म है। ज्ञान कोई पदार्थ नहीं, पदार्थ तो ज्ञान में झलकते हैं, फिर भी पदार्थ ज्ञानरूप नहीं होता है और ज्ञान कभी पदार्थरूप भी नहीं होता है। जब–जब मेरे सामने जो–जो पदार्थ आएगा, उस समय मुझे वैसा दिखेगा। यह आत्मा की विशुद्धि का प्रभाव है कि दर्पण में पदार्थ जैसा प्रतिबिम्ब झलकता है पदार्थ वैसा ही ज्ञान में ज्ञेयरूप झलक रहा है, लेकिन पदार्थ नहीं है। इसलिये ध्यान रखना, दूध मीठा भी नहीं होता है, दूध कड़वा भी नहीं होता है। दुग्ध का धर्म माधुर्य होता है। लेकिन पर–की–उपाधि लगा दी जाये, मिश्री डाल दी जाये, तो मीठा हो गया और कड़वी तुमड़ी में रखा जाये तो कड़वा हो गया। इसी प्रकार ज्ञान तो ज्ञान ही है। जैसे रेलवे सिगनल में कभी लाल प्रकाश है तो कभी हरा, कभी पीला, किन्तु इस प्रकाश पर काँच का आवरण है। नीला, पीला, हरा रंग काँच के वर्ण के कारण दिखता हैं, प्रकाश तो जैसा है, वैसा ही है। ऐसे ही, ज्ञान तो आत्मा का वस्तुधर्म है। वही ज्ञान तुझे सिद्ध बना देता है और वही ज्ञान तुझे निगोद ले जाता है।

भो ज्ञानी! उपाधि के कारण ज्ञान भी बदनाम हो जाता है। जैसे आप बहुत सज्जन–पुरुष हो, लेकिन आपकी संतान ने कोई गलत काम कर दिया, तो आप सोचते हो– बेटा! तूने तो मेरी नाक काट दी। लेकिन कुछ नहीं हुआ है, तुमने 'पर' को अपना स्वीकार लिया। इसलिये ध्यान रखो, जितने जुड़कर रहोगे, उतने बदनाम होगे। यदि हटकर रहोगे, तो तुम शुद्ध रहोगे, निर्मल रहोगे, विशुद्ध रहोगे। जहाँ कर्त्तव्य–भाव है, वहीं बदनाम–भाव है। जिसे लोक में लोग अग्नि–देवता कहते हैं, उसे भी लुहार के घन से पिटना पड़ता है, क्योंकि कुधातु का संयोग किया है। भो मनीषियो! तुम्हें भी बदनामी सहन करना पड़ती है, क्योंकि तुमने पुद्गल का संयोग किया है। योगेन्दुदेव स्वामी ने 'परमात्म प्रकाश' में लिखा है कि घन की मार झेल रहा है वह अग्निदेवता, क्योंकि कुधातु का सेवन किया। अहो! ज्ञानानुभूति से युक्त मेरे आत्मदेव! तुझे बदनाम होना पड़ रहा है, क्योंकि तूने अनादिकाल से मिथ्यात्व का सेवन



किया है। इसलिये अपने ज्ञान का सम्यक उपयोग क्यों नहीं कर लेता? अपनी ज्ञान की धारा को मिथ्यात्व में नहीं ले जाना।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि ज्ञान के क्षेत्र में संतुष्ट नहीं होना, संयम के क्षेत्र में संतुष्ट नहीं होना। संतुष्ट तो कषाय में हो जाना कि बहुत हो गई, पर ज्ञान के लिये हर समय बालक बनकर जीना और संयम के लिये हर समय बूढ़े बन जाना, पता नहीं कब मृत्यु हो जाये। इसलिये उस ज्ञान का प्रयोग ज्ञानी बनकर ही करना, क्योंकि जब तक धैर्य, सत्य और संयम का बांध बना है, तब तक ज्ञान के नीर से चारित्र की फसल लहराती रहेगी। जिस दिन बांध टूट गया, उस दिन वही ज्ञान तेरी फसल को उजाड़ देगा।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् यहाँ कारण और कार्य भाव की चर्चा कर रहे हैं कि सम्यक्त्व 'कारण' है और ज्ञान 'कार्य'। दीप किसी से नहीं कहता कि मेरे प्रकाश में तुम देखो। परंतु ध्यान रखना, अंधेरे में बिना दीप के कुछ दिखता भी नहीं है। नेत्र तो बड़े–बड़े हैं, कहाँ चली गयी ज्योति ? अहो! ज्योति में कमी नहीं है, दीपक की कमी खल रही है। दीप होता, तो मैं शास्त्र पढ़ लेता। ज्ञान तो तेरे अंदर है, शास्त्र में नहीं है। परंतु ध्यान रखो, शास्त्रों के बिना, निमित्त के बिना सबकुछ होता तो अलमारी क्यों भर रहे हो ? कुछ योग–संयोग, यही तो निमित्त है। परंतु उपादान की योग्यता आपकी ही है। अहो! निमित्त लेकर मत बैठ जाना। मात्र निमित्त को मानना, वह भी मिथ्यात्व है और मात्र उपादान को मानना, वह भी मिथ्यात्व है। योग्य निमित्त तो उपादान का ही होता है। इसलिये अमृतचंद्र स्वामी की बात को आप बड़े गौर से समझो। भगवान् जिनेन्द्र कह रहे हैं कि यदि आप सर्वथा निमित्त को लाँघ दोगे, तो लोक–व्यवस्था नहीं चलेगी

भो ज्ञानी! 'रयणसार' ग्रंथ में आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने लिखा है–

मदिसुदणाणबलेण दु, सच्छंदं बोल्लदे जिणुद्दिट्ठं।
जो सो होदि कुदिट्ठी, ण होदि जिणमग्गलग्ग र वो।।३।।

जो जीव मति व श्रुत ज्ञान के बल से माँ जिनवाणी को स्वच्छंदरूप से कहता है, अन्यथा कहता है, तो वह मिथ्यादृष्टि है। जैनदर्शन में मिथ्यादृष्टि से बड़ी कोई गाली नहीं है। इसलिये सम्यक्त्व के बाद ही ज्ञान की आराधना करना इष्ट है। दोनों एक ही काल में उत्पन्न होते हैं, फिर भी कारण–कार्य विधान है। दीपक का होना, प्रकाश का आना और अन्धकार का भागना, कार्य तीन और समय एक। अतः सम्यक्त्व होते ही अल्प–ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है और चारित्र भी सम्यक् हो जाता है।



अष्टाङ्ग सम्यक्ज्ञान

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्।। ३५।।

अन्वयार्थः सदनेकान्तात्मकेषु = प्रशस्त अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाववाले। तत्त्वेषु = तत्वों या पदार्थों में। अध्यवसायः = उद्यम करना। कर्तव्यः = कर्तव्य है, और। तत् = वह सम्यग्ज्ञान संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तम् = संशय, विपर्यय और विमोह रहित। आत्मरूपं = आत्मा का निजस्वरूप है।

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम्।। ३६।।

अन्वयार्थः ग्रन्थार्थोभयपूर्णं = ग्रन्थरूप (शब्दरूप) अर्थरूप और उभय अर्थात् शब्द–अर्थरूप शुद्धता से परिपूर्ण। काले = काल में अर्थात् अध्ययनकाल में आराधने योग्य। विनयेन= मन–वचन–काय की शुद्धतास्वरूप विनय। च = और। सोपधानं = धारणायुक्त। बहुमानेन समन्वितम् = अतिशय सम्मान कर अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र की वन्दना/ नमस्कारादि सहित तथा। अनिह्नवं = विद्यागुरु की गोपना से रहित। ज्ञानम् आराध्यम् = ज्ञान आराधना करने योग्य है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो ज्ञानियो! अंतिम तीर्थेश भगवान् वर्द्धमान स्वामी की पावन देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने अनुपम सूत्र दिया कि ज्ञानीजीव आत्मा की आत्मज्ञानशक्ति का निर्मल उपयोग करता है और अज्ञानीजीव इस ज्ञानशक्ति का दुरुपयोग करता है। अतः सम्यक्दृष्टि ज्ञानी है और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। संयमी ज्ञानी है, असंयमी अज्ञानी है। अहो! जब कोई परिणाम विनय से भरे होते हैं, श्रद्धा से भरे होते हैं, तो अज्ञानी भी ज्ञानी कहलाने लगता है; क्योंकि जो ज्ञान है, वही प्रमाण नहीं है; बल्कि जो सम्यक्त्व–सहित ज्ञान है, वही प्रमाण है। यदि हम ज्ञान को ही प्रमाण कहें तो लोक में जितने ज्ञान हैं, वह सभी प्रमाण हो जाएँग। अतः, हमारे आगम में सम्यक्– अपेक्षा ही अनेकांत है, सम्यक्–अपेक्षा ही सम्यक्ज्ञान है, परन्तु अपेक्षा मात्र सम्यक्–ज्ञान नहीं है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी कहता है कि मैं अपनी अपेक्षा से सत्य हूँ ; लेकिन जिनवाणी कहेगी कि तू असत्य है। एकांत को माननेवाला जीव भी कहता है कि मैं भी अपनी अपेक्षा से सत्य हूँ। भो ज्ञानी! जितने वचनवाद होते हैं, उतने नय होते हैं।

ज्ञानं प्रमाणमात्यादे रुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो, युक्तितोऽर्थ परिग्रहः।। लघीय स्त्री।।



ज्ञाता के अभिप्राय को जिनवाणी में नय कहा है। यदि वह अभिप्राय सम्यक् हैं तो सम्यक् नय है और असम्यक् है तो असम्यक् नय है। लेकिन जो नय सम्यक् अपेक्षा से शून्य होता है, वह मिथ्या होता है और जो नय सम्यक्–अपेक्षा से युक्त होता है, वह सुनय होता है। यह सुनय ही सुनय करा सकता है, कुनय कभी सुनय नहीं करा सकता। मनीषियो! अभिप्राय निर्मल है तो आप सर्वत्र सम्यक् को खोज लोगे और अभिप्राय निर्मल नहीं है तो समीचीनता में भी दोष नजर आता है। अहो! संसार की बड़ी विडम्बना है। उपकार भी करना तो नीति को सीखकर ही करना, क्योंकि उपकार से बड़ा कोई धर्म नहीं है, परंतु उपकार भी समझकर ही करना। एक बार बिल्ली को देखकर चूहा तड़पने लगा तो राजहंस ने करुणावश फैला दिये अपने पंख, कि लो बेटा! तुम छुप जाओ, तुम्हारी रक्षा हो जाएगी। जिसके परिणाम–हंस जैसे होते हैं, वह धवल होता हैं, शुभ्र होता हैं, क्योंकि उसके परिणामों में विकार नहीं होता, परिणामों में निर्मलता होती है। अतः, हंस–पक्षी ने अपने पंख फैला लिए और चूहे को छिपा लिया। पर चूहे ने पंखों में बैठे–बैठे अपने दाँतो का काम शुरू कर दिया। कुछ क्षण के उपरांत बहेलिया (शिकारी) आया तो हंस कहता है "हे मूषक! तेरा शत्रु तो जा चुका , अब मेरा शत्रु सामने आ रहा है, अब आप मेरे पंखों से बाहर निकल जाओ, मुझे उड़ान भरना है। चूहा आवाज सुनते ही फुदककर निकल गया, क्योंकि वह तो स्वार्थी था। इधर जैसे ही हंस ने उड़ान भरी कि पंख नीचे टपक गए और बहेलिये ने बाण मार दिया। अहो हंस! तू तो हंस था, पर नहीं समझ सका था उस काले चूहे की करतूत को।

भो ज्ञानी! संसार में नाना जीव हैं, जो पंखों में छिपे होते हैं और अंदर–ही–अंदर वह दाँतों से काटते रहते हैं। जीवन में ध्यान रखना, साधु–पुरुष अपने उपकारी के उपकार को कभी नहीं भूलता, परंतु असाधुजन अपने कार्य की पूर्ति होते ही उपकारी को भी वही अवस्था दिखाते हैं, जो चूहे ने हंस को दिखायी। अहो! सब कुछ चला जाए, परंतु उपकारी के उपकार को नहीं छोड़ देना।

भो ज्ञानी! संकट/विपदाओं को दुःख मत मानो, उपहार मानो। ज्ञानीजीव संकटों के क्षणों को अपने जीवन–निर्माण करने का उपहार मानता है; क्योंकि जिन्होंने कुछ सहन किया है, उन्होंने प्राप्त किया है। जो काँटों में खिला होता है, उसे साहित्य में पुष्पराज कहा जाता है। इसीलिए संकटों के समय में कभी घबराना नहीं। आपत्ति के दिनों में ही तुम्हारी परीक्षा होती है। वे जीव बहुत ही क्षीण पुण्यात्मा हैं जो विषमता के दिनों में फाँसी लगाकर चले जाते हैं। अहो! तू इस पर्याय में सहन नहीं कर पा रहा है, तो तूने पर्याय का नाश कर लिया, परंतु पाप का नाश तो नहीं किया, लोक–अपवाद के पीछे तू फाँसी लगा बैठा। ऋण न देना पड़े तो फाँसी लगा ली। भो ज्ञानी! यह किसने कह दिया कि तू बच गया? अरे! इस पर्याय में नहीं, तो अगली पर्याय में तो तुमको ऋण चुकाना ही पड़ेगा। ध्यान रखना, राजपुत्री, रघुवंश की पुत्रवधू , कुलवंती सीता के ऊपर इतना बड़ा कलंक थोपा गया, फिर भी समझदार थी। भो आत्मघाती! आप कभी यह विचार नहीं किया कि जीवन में आप तो चले जाओगे, परन्तु उस परिवार की फिर क्या दशा होती है, कितना पाप का बंध आपको होगा?

भो ज्ञानी! जिस समय राजा श्रेणिक ने मुनिराज के गले में साँप डाला था और सेठानी ने निकाला था, लेकिन धन्य हो वीतरागी मुनि को, उन्होंने दोनों को समान आशीष दिया। यह देखकर उस समय श्रेणिक को बहुत पश्चाताप हुआ। अतः तलवार की ओर उसकी दृष्टि जाती है कि अब तो मैं अपना

सिर ही निकाल दूँगा, तभी इस पाप का प्रायश्चित होगा। तब उन अवधिज्ञानी मुनिराज ने उस समय कहा था–हे राजन्! क्या सोच रहे हो? रक्त से भीगे वस्त्र को आप रक्त से ही साफ करना चाहते हो। एक महापाप तो संत के गले में साँप डालकर किया, अब तुम अपना गला निकालकर उसे साफ करना चाहते हो। अहो! अब तुम उस पाप को छुपाने के लिए नहीं, मुँह छिपाने के लिए गला निकालना चाहते हो। राजन्! ऐसा कर्म मत करो। अहो श्रेणिको! जीवन में प्रतिज्ञा कर लेना कि कभी ऐसे भाव नहीं लाऊँ कि मैं मर जाऊँ।

भो ज्ञानी! जरा–सी तकलीफ हुयी तो यह कभी मत कहना कि, हे भगवान्! मेरी समाधि हो जाए। साधक के मन में कभी ऐसे परिणाम नहीं आते। वह आत्मघात कर भी नहीं सकता, क्योंकि धर्म से जुड़ा है। माँ जिनवाणी कह रही है कि, हे लाल! ऐसी युवा–अवस्था में तुम समाधि की भावना भा रहे हो, इसका तात्पर्य है कि तुमको संयम भारस्वरूप लग रहा है। स्वर्ग में चले भी जाओगे, तो असंयम में बैठकर क्या करोगे ? देवांगनाओं के साथ रमण करोगे। अरे! जितना काल संयम में बीते, वह श्रेष्ठ है। एक योगी को आगम कह रहा है कि भावना तो यह होनी चाहिए कि समाधि सहित मरण हो, पर भावना यह नहीं होनी चाहिए कि आज ही समाधि हो जाए। जीवन की इच्छा, मरण की इच्छा, मित्रानुराग, सुखानुबंध, निदान यह पाँच अतिचार सल्लेखना–व्रत के हैं। बारह वर्ष उत्कृष्ट समाधि का काल है। जगत में कुछ लोग मरते नहीं है, पर धमकियाँ दे–देकर सामनेवाले को जरूर मार देते हैं कि सुनो! हम तेल डाल रहे हैं, हम चले जाएँगे। अहो ज्ञानी! आत्मा कहाँ जाएगी ? तीन लोक के बाहर तो जा नहीं सकती। त्रस–नाली के बाहर आपको यदि निगोद–अवस्था पसंद है, तो जाओ। इसलिए, यदि जाना ही है तो सिद्धालय जाओ।

भो ज्ञानी! कभी–कभी सबको मार्ग बतानेवाले भी मार्ग भटक जाते हैं, यही कर्म की विचित्रता है; इसमें आश्चर्य मत करना। देखो, संध्या–बेला में भूखे–प्यासे राजा को एक वृद्ध ने अपनी झोपड़ी में स्थान देकर एक गिलास पानी और एक फल दे दिया। प्रातंकाल राजा चला जाता है, पर परिचय नहीं दिया। महापुरुष अपना परिचय देते भी कब हैं ? दूसरे दिन उस वृद्ध के यहाँ संदेश आ गया कि आपको राजा ने सभा में बुलाया है। वह घबरा गया, थर–थर काँप रहा था। राजा ने कहा–"आपने मेरे प्राणों की रक्षा की, एक गिलास पानी पिलाया, आपने बहुत बड़ा उपकार किया था। अतः आपको राजभवन में आवास दिया गया। "कालांतर में दादाजी के भाव बदल गये। सम्राट के एकलौते पुत्र को लुभाकर घर ले गया और जितने भी वस्त्र–आभूषण थे, सब उतार लिए। बेटे को भी छिपा दिया। हलचल मच गयी, राजकुमार कहाँ गया? खोजी–दलों ने तो खोज ही लिया। जब राजा के समाने उस व्यक्ति को खड़ा किया गया तो राजा कहता है–"यद्यपि यह व्यक्ति दण्ड का अधिकारी तो बहुत ज्यादा है, लेकिन मैं इसे मारूँगा नहीं, क्योंकि इसने एक बार मुझ पर उपकार किया था।" अहो! एक गिलास पानी पिलानेवाले का इतना आदर रखा गया है। अरे! जिस माँ ने तुम्हें पानी नहीं, आँचल का दूध पिलाया हो, उस माँ का तू कितना उपकार मान रहा है? उन माँ–पिता को तूने अलग कर दिया। एक अक्षर देनेवाला गुरु, जिसने जिनवाणी का सार तुझे दिया और वह गुरु को भूल जाए,



तो उससे बड़ा पापी कोई इस दुनियाँ में है ही नहीं। इसलिए कंगूरों को मत निहारते रहना, नींव की ईंट को देखना। भो ज्ञानी! ज्ञान यही कहता है कि किसी जीव के उपकार को मत भूल जाना अन्यथा तुम्हारा ज्ञान, अज्ञान है। अतः, ज्ञानी तो बनें, पर ज्ञान का भी लोभ न करें।

भो ज्ञानी! जैसे धन के लोभी की समाधि नहीं होती है, ऐसे ही ज्ञान के लोभी की भी निर्मल समाधि नहीं होती। ज्ञान का लोभी काल या अकाल नहीं देखता, कि सामायिक का समय है या प्रतिक्रमण का, वह तो पुस्तक का कीड़ा बना रहता है। अरे! अकाल में स्वाध्याय करने से तीव्र कर्म का आस्रव होता है। भो ज्ञानी! यदि कालाचार का ध्यान नहीं रखा तो अंतिम समय में भाव बिगड़ जाते हैं, रोगी होकर कुसमाधि को प्राप्त होते हैं। तुम्हारी पात्रता नहीं है, रात में बारह बजे षटखण्ड़ागम खोलकर बैठे हो। धवला जी में स्पष्ट लिखा है कि आप सामान्य गृहस्थों के बीच में वाचना कर रहे हो तो असंयम उत्पन्न होता है, संयम का नाश होता है, कलह होती है। पूर्णमासी को अध्ययन करें तो क्लेष होता है। चतुर्दशी को अध्ययन करो तो रोग बढ़ते हैं। अमावस्या को अध्ययन करे तो परस्पर में विरह हो जाता है। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णमासी में सिद्धाँत– ग्रंथों के लिए अनाध्य–काल है। पूड़ी, पापड़, चूड़ा ऐसे–ऐसे गरिष्ट भोजन करके आया है और सिद्धाँत–ग्रंथों का अध्ययन कर रहा है। आपको मालूम होगा कि गोमटेश बाहुबली भगवान जिस पर्वत पर विराजमान हैं उस पर्वत की श्रेणी पर आचार्य भगवान् नेमीचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ग्रंथराज षट्खंडागम का स्वाध्याय कर रहे थे। वहाँ चामुण्डराय पहुँचते हैं, तो आचार्य महाराज ने स्वाध्याय बंद कर दिया। मंत्री चामुण्डराय अपना अपमान समझकर निवेदन करता है, प्रभु! मेरे आते ही आपने ग्रंथ क्यों बंद कर लिया ? मंत्रीवर! मैं क्या करूँ? लोक को देखूँ या आगम की व्यवस्था देखूँ? लोक की अपेक्षा आगम पूज्य है। लोक मेरा कल्याण नहीं करेगा, आगम मेरा कल्याण करेगा। आगम में लोगों के समक्ष इस ग्रंथ के अध्ययन करने की आज्ञा नहीं है, इसलिए मैंने इसको बंद कर लिया है। चामुण्डराय ने जिज्ञासा प्रगट की, हे प्रभु! यदि यह ग्रंथ ऐसे ही बंद रहेंगे तो हम लोगों को ज्ञान कैसे प्राप्त होगा ? उस समय भगवान् नेमिचंद्र स्वामी ने करुणा करके कहा– चामुण्डराय! चिंता मत करो, हम तुम्हें ग्रंथ देंगे। अतः उन्होंने कर्मकाण्ड और जीवकांड ग्रंथ का सृजन चामुण्डराय की प्रार्थना पर किया।

भो ज्ञानी! चारपाई पर बैठे–बैठे तुम जिनवाणी पढ रहे हो, जिस पलंग पर तुम सोए थे, जिन वस्त्रों में तुम सोये थे, ऐसे वस्त्रों में तुम जिनवाणी का स्वाध्याय कर रहे हो। खड़े–खड़े लघुशंका कर रहे थे, पेंट पहिनकर जिनवाणी उठा लाए। भो ज्ञानी! अब बताओ शुद्धि कितनी बची ? जबकि 'मूलाचार' में लिखा है कि धर्मायतनों से पच्चीस हाथ दूर लघुशंका का स्थान होना चाहिए तथा पचास हाथ या सौ हाथ दूर मल–स्थान होना चाहिए। मार्ग तो यही है कि देव–शास्त्र–गुरु को स्पर्श करने के लिए शुद्ध होकर आना चाहिए। इतना नहीं कर पाओ तो कम–से–कम शौच और लघुशंका के वस्त्रों में शास्त्रों को नहीं छूना। अब बताओ, ठण्डी के मौसम में ऊन के वस्त्र पहनकर, गद्दे पर बैठकर, कोट पहनकर, बढ़िया स्वाध्याय कर रहे हो। अहो! तुम्हारा कोट कब धुलकर आया था? आगम परम्परा के अनुसार विद्वान दुपट्टा–टोपी लगाकर जिनवाणी पढ़ता है, यह स्कूल, कालेज का अध्ययन नहीं चल रहा। मुख में पान दबाए हुए तुम उपन्यास पढ़ रहे हो या जिनवाणी? यह वीतरागवाणी की अवहेलना है। यदि स्वाध्याय की ललक है तो घर में चौकी–चटाई की व्यवस्था कर लेना। पर उस



चटाई पर मत बैठना, जिस पर तुम सोए हो। मनीषियो! यह गलीचों का शासन नहीं, यह संस्तर का शासन है।

भो ज्ञानी! आचार्य महाराज कह रहे हैं– सम्यक्ज्ञान के तीन दोष हैं। क्या मालूम सात तत्त्व सही हैं या गलत? वीतरागमार्ग सत्य है कि सरागियों का मार्ग भी सत्य है? संशय में झूल रहा है और विपर्यय में सरागी को ही सतगुरु स्वीकार लिया। विपरीत परिणमन ही विपर्यय–भाव है। सीप है या चांदी, जब तक ऐसा भाव है तब तक संशय है, परंतु विपर्यय में तो सीप को ही चांदी मान लिया। निर्णय से रहित ज्ञान, यह अनध्यवसाय–दोष है। मनीषियो! सम्यक्ज्ञान वह होता है जिसमें संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय यह तीनों दोष नहीं होते। सम्यक्ज्ञानी जीव सम्यक्ज्ञान की आराधना आठ अंगों सहित करता है, ताकि हमारी आत्मा मिथ्यात्व से ग्रसित न हो। मिथ्यात्व की आराधना कभी उपकारी नहीं मानी जाती। उपकार तो माना जा सकता है, पर मिथ्यात्व को नहीं पूजा जा सकता। क्योंकि मिथ्यात्व व उपकार का कोई संबंध नहीं। आपके गुरु कहें, बेटा! पद्मावति धरणेंद्र की पूजा करा दो, इनकी प्रतिमा विराजमान करा दो। प्रभु! आपने मुझे रत्नत्रय धर्म दिया है, मुझे स्वीकार है आपका उपकार, लेकिन रत्नत्रय के साथ मिथ्यात्व कैसा ? इसलिए, भो ज्ञानी! जो बात करो, सौटंच की करो, कोई लाग–लपेट नहीं करना। जो है, सो है। कल रूठो सो आज रूठ जाओ, तुम्हारे रूठने से मेरा कल्याण या अकल्याण कुछ नहीं होगा परन्तु यदि मेरा सम्यक्त्व रूठ गया तो मेरे अनंत–संसार खड़े हो जाएंगे।

भो ज्ञानी! ग्रन्थ का शुद्ध वाचन करना यह ग्रंथाचार कहलाता है। अतः, ग्रंथ भी शुद्ध पढ़ें, अर्थ भी शुद्ध निकालें। यदि नहीं बनता तो मौन हो जाना; परंतु अन्यथा–अर्थ मत निकालना। मध्याह्न संधि–बेला में कभी जिनवाणी का वाचन नहीं करना। सामायिक के कालों में शास्त्र नहीं पढ़ना। याद हो या न हो, पर कालाचार का ध्यान रखना। अकाल में आप भक्ति–पाठ कर सकते हो। जब भी कोई जिनवाणी का स्वाध्याय करें, कोई न कोई नियम लेकर बैठें। इसका नाम है उप–धानाचार। बहुमान के साथ खड़े हो जाओ। अन्तिम अंग है अनिह्नवाचार। तुम पढ़–लिखकर बड़े हो गये, अब छोटे का कौन नाम ले। कुछ ऐसे जीव होते हैं जो शास्त्र पढ़कर आए और सुनाने लगे कि हमारा ऐसा चिंतन है, ताकि लोग समझने लगें, वाह! कितना ज्ञानी जीव है? अहो! तुमने शास्त्र का नाम छिपा लिया। आप चाहे कितने भी मेधावी हों, वरिष्ठ हों, कुछ भी हों, लेकिन अपने गुरू का नाम मत छिपाना। जो गुरू का नाम छिपाता है, उसके सम्यक्ज्ञान में दोष लगता है और दर्शनावरणी व ज्ञानावरणी दोनों कर्मों का आस्रव होता है।

पुरुषार्थ देशना

सम्यक्ज्ञान अधिकार

ज्ञान का फल संयम

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम्।।३७।।

अन्वयार्थ : विगलितदर्शनमोहैः = जिन्होंने दर्शनमोह का नाश कर दिया है। समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः = सम्यग्ज्ञान से जिन्होंने तत्त्वार्थ को जाना है। नित्यमपि निःप्रकम्पै = जो सदाकाल अकम्प अर्थात् दृढ़ चित्तवाले हैं ऐसे पुरुषों द्वारा। सम्यक्चारित्रं = सम्यक्चारित्र। आलम्ब्यम् = अवलम्बन करने योग्य है।

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्।।३८।।

अन्वयार्थ : अज्ञानपूर्वकंचरित्रं = अज्ञानसहित चारित्र। सम्यग्व्यपदेशं = सम्यक् नाम को। न हि लभते = प्राप्त नहीं करता। तस्मात् = इसलिए। ज्ञानानन्तरं = सम्यग्ज्ञान के पश्चात।चारित्राराधनं = चारित्र का आराधन। उक्तं = कहा गया है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी नें हमें बहुत ही सहज सूत्र दिया है कि जीवन में आत्म–ज्योति का दिग्दर्शन करानेवाला सम्यक्ज्ञान है और सम्यक्ज्ञान है तो सम्यक्चारित्र है; इन दोनों के भी पहले यदि कोई विराजमान है तो उसका नाम सम्यक्दर्शन है। कोई जीव यह कहे कि ज्ञान मात्र से मोक्ष होता है अथवा कोई कहे कि दर्शन मात्र या चारित्र मात्र से मोक्ष होता है तो यह तीनों तीन प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव है। अहो! दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता जहाँ से होती है, मनीषियों! वहाँ से मोक्ष नहीं, मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है।

भो ज्ञानी! ज्ञान कह रहा है कि मुझे मत जानो, मेरे से तुम जान लो। जैसे, दीपक कहता है कि मेरी लौ को मत देखो, मेरे द्वारा देख लो। जो दीपक को देखता है, वह कभी अभीष्ट प्राप्त नहीं कर पाता;, पर दीपक के माध्यम से जो देख लेता है, वह अपनी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेता है। दीपक कब तक जलाते रहोगे? मनीषियो! तुम शास्त्र को कहाँ तक पढ़ते रहोगे? तुमने जानने योग्य को आज तक नहीं जाना, जानने में अनन्त भव व्यतीत कर दिये। लगता है कि दीपक को ही देखा है, दीपक से नहीं देखा। अहो! प्रकाश में पदार्थ को देखने के लिये प्रकाश किया जाता है। ज्ञान कहता है कि मुझे मत देखो, मुझे मत जानो, मेरे से तुम अपने कल्याण को जान लो; मोक्षमार्ग को जान लो। मुझे जानते ही रहोगे तो ध्यान रखना, कुछ भी सिद्ध नहीं होगा। हाँ, इतना अवश्य



है कि ज्ञान से कीर्ति फैलती है, श्रद्वान से देवत्व की प्राप्ति होती है; चारित्र से पूज्यता की प्राप्ति होती है; लेकिन तीनों की एकता से निर्वाण की प्राप्ति होती है। अतः, कीर्ति चाहिये तो ज्ञानी बन जाओ, देवत्व चाहिये तो पंचपरमेष्ठि की श्रद्धा करो, पूज्यता प्राप्त करना है तो पिच्छी–कमण्डल ले लो; लेकिन निर्वाण की प्राप्ति चाहिये तो तीनों एकसाथ होना चाहिये

भो चेतन! ज्ञानहीन–क्रिया विनाश का कारण होती है और क्रियाहीन का ज्ञान भी विनाश का कारण होता है। ज्ञानशून्य–चारित्र अंधा है और चारित्रशून्य–ज्ञान लंगड़ा है। संसार–जंगल में विषय–कषाय की अग्नि लग रही है। एक देखते–देखते झुलस रहा है, दूसरा दौड़ते–दौड़ते झुलस रहा है; लेकिन दोनों बच सकते हैं। यदि अंधे के कंधे पर लंगड़ा बैठ जाये तो दोनों की रक्षा हो जायेगी। मनीषियो! ज्ञान लंगड़ा है और चारित्र अंधा है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों मिल जायें तो विषय–कषाय की अग्नि से बच जाओगे।

मनीषियो! इस गाथा में आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि चारित्र अनुपम निधि है, क्योंकि आपकी पहचान ज्ञान व श्रद्धान से नहीं, चारित्र से होती है। जब तुम पानी पियोगे तो छन्ना लगाओगे, तुम भोजन करोगे तो शोधन कर करोगे, तो लोग आपसे कहेंगे कि आप जैनसाहब हो। यहीं से आपके चारित्र की शुरूआत होती है। जिनवाणी में इसे ही सम्यक् आचरण अथवा समीचीन आचरण कहा है। जिस प्रकार संकुचित होकर पालने में रहने से बालक जमीन पर गिरने से बच जाता है, इसी प्रकार तुम भी संयम के पालने में सोना, लेकिन असंयम की भूमि को देखकर पैर को संकुचित कर लेना। माँ जिनवाणी कह रही है कि चारित्र को स्वीकार करने से पहले तुम कछुआ बन जाना, क्योंकि कछुआ जब देखता है कि कोई मेरा शत्रु है, तो वह हाथ–पैर और सिर को इतना संकुचित कर लेता है कि कोई पता ही नहीं चलता कि पत्थर पड़ा है या मिट्टी का पिंड। ऐसे ही, मनीषियों! तुम्हारे जीवन में विषय–कषाय रूपी शत्रु सामने आयें तो अपनी इंद्रिय और मन को इतना संकुचित कर लेना कि कितने ही शत्रु निकल जायें पर पता ही नहीं चले। यदि आपके पास कछुए की दृष्टि नहीं है तो चारित्र का पालन संभव नहीं। चारित्र की सिद्धि मन से अथवा चित्त से प्रारंभ होती है। जब हमसे कोई गलती होती है तो हम अपने आप में अपने आपके प्रति प्रसन्न नहीं होते। संयम यह कहता है कि जिस जीव को स्वयं से स्वयं की प्रसन्नता आ रही हो, बस इसी का नाम संयम है। अरे! विश्व को खुश करना बड़ा सरल है, पर अपने आप को प्रसन्न वही रख सकता है, जिसका चारित्र निर्दोष रहता है। चारित्र के मिलने से साम्य–भाव उमड़ता है जिसमें न कोई शत्रु दिखता है न कोई मित्र, न सम्यक् में भेद दिखता है, न ज्ञान का भेद दिखता है। वहाँ सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र एकसाथ टपकता है।

भो ज्ञानी! यदि आप अपने संयम को सुरक्षित रखना चाहते हो तो चित्त को पवित्र रखो। चित्त की पवित्रता से ही चारित्र की पवित्रता होती है। यदि चित्त पवित्र नहीं है तो चारित्र पवित्र रख पाना किसी के वश की बात नहीं है। चारित्र तो निर्मल है, पर चित्त भागता है, तो विकारों को उद्वेलित कर देता है और विकार उद्वेलित होने पर आचार खोखला होना प्रारंभ हो जाता है। अतः जब–जब आचार खोखला होता है तो विचारों से ही होता है। जिनेन्द्र के शासन में प्रवचन को इतना महत्व क्यों दिया जाता है? क्योंकि बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति तीर्थंकर–प्रकृति के बंध के हेतु हैं। जिसके



जीवन में प्रवचन की भक्ति नहीं है, वह तीर्थंकर–जैसी–पुण्य–प्रकृति की अवहेलना करता है। इस वीतरागवाणी का नीर जिस भूमि में पहुँच जाता है, वहाँ चारित्र के अंकुर प्रकट होना आरंभ हो जाते हैं। मनीषियो, कषाय के उपशमन का नाम ही चारित्र है। जब कषायें उपशमता को प्राप्त हो जाती हैं तो विकार दब जाते हैं, जब विकार दब जाते हैं तो ब्रह्म–भाव उत्पन्न हो जाता है, कुशील–भाव छूट जाते हैं। इसी का नाम चारित्र–भाव है। अरे! जिसके जीवन में चारित्र के प्रति अनुराग नहीं आ रहा है, भूलकर भी उसे सम्यक्दृष्टि घोषित मत कर देना।

भो ज्ञानी! ज्ञानी की दशा एंटिना के समान होती है और चारित्रवान् की दशा टेलीविजन के समान होती है। ज्ञान को तत्त्व की बात को पकड़ने हेतु बुद्धि का विषय बना लेता है, परंतु संयमी चित्त और चारित्र का विषय बना लेता है, क्योंकि एंटीना का काम तरंगों को पकड़ने का है! पर कौन सी तरंग में कैसा चित्र था, यह तो टेलीविजन ही दिखा पाता है। ऐसे ही जिनवाणी की तरंगों को पकड़ना विद्वान् के ज्ञान का विषय है, एंटीना का विषय है, बुद्धि के तंत्रों का विषय है; परंतु उस जिनवाणी में प्रसारित वर्गणाओं का दृश्य कैसा होता है, यह एक योगी प्रकट कर सकता है। प्रचारक तो प्रचार कर देता है, परंतु पालन करने वाला तो कोई तीसरा ही होता है, उसका नाम मुमुक्षु अथवा योगी होता है। इसलिये, प्रचारक व विचारक से जो उपर उठा होता है, उसका नाम चारित्रवान होता है। मनीषियो! तो शब्द प्रवक्ता से प्राप्त किये जा सकते हैं, बाहर के गुरु से मिल सकते हैं; परन्तु आत्म–सिद्धि की प्राप्ति आत्म–गुरू से ही होती है। ये शब्द जड़ की क्रिया है, आत्म धर्म चैतन्य का धर्म है।

भो ज्ञानी! एकत्व होकर निर्ममत्व के लिये सुनना, निर्मोही होकर सुनना;, क्योंकि श्रद्धा अनन्त पदार्थों की होती है, ज्ञान अनन्त पदार्थ का होता है, चारित्र मात्र एक का होता है। उसका नाम शून्य है। आप लोग जिस विषय के ज्ञानी हो, योगी उस विषय के अज्ञानी ही होते हैं। विश्व में यदि किसी का विशाल अस्तित्व है तो, मनीषियो! शून्य का ही है। जब संपूर्ण सत्ता समाप्त हो जाती है, तब शून्य की सत्ता का उदय होता है। ओंकार के ऊपर जो बिन्दु रखा हुआ है, वह शून्य है। मुनि, उपाध्याय, आचार्य, अरहंत की सत्ता समाप्त हुई, तब शून्य–सत्ता का उदय हुआ। शून्य कहता है; जब संपूर्ण जगत् के कर्म–जाल समाप्त हो जाते हैं, तभी भगवती–आत्मा 'शून्य' का उदय होता है, इसी का नाम शुद्धात्मा है। इसलिये 'ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं' अर्थात् ओंकार बिन्दु–से–युक्त है। आचार्य योगेन्दु देव ने शून्यस्वभावी आत्मा का कथन किया है। तारण स्वामी ने भी 'शून्य–'स्वभाव' ग्रथ में' शून्यस्वभावी आत्मा की चर्चा की है। अहो! लोक जिसे शून्य मानता है, वह अज्ञानता का शून्य है, लेकिन जिसे भगवती माँ जिनवाणी 'शून्य' कह रही है, वह भगवत्ता की प्राप्ति का नाम है। अतः जब तुम्हारी कषाय शून्य हो जाए, तुम्हारी वासना शून्य हो जाए, तब निर्विकल्प आत्मज्ञान प्रकट होगा।

भो चेतन! ध्यान रखना, हलचल में कभी सुख नहीं है, जब तक लहरें उठती हैं, तब तक नीर में मोती नहीं दिखता। सागर में भी मोती होते हैं, जब जैसे–जैसे लहरें/धाराएँ शांत होती जाती हैं, वैसे–वैसे माणिक्य झलकने लगते हैं। इसी प्रकार जैसे–जैसे कषायरूपी विकारों के कोलाहल समाप्त होते हैं, वैसे–वैसे शून्यस्वभावी आत्मरत्न झलकने लगता है। 'एकोहं निर्मोहं' जहाँ मात्र एक मैं दिखना प्रारंभ हो जाए कि एकमात्र मेरा स्वभाव है, संयोग–भाव मेरा धर्म नहीं है। यह अनुभूति जिस दिन तुम्हारे अंदर झलकने लग जाए, उस दिन कहना कि मैं चारित्र की ओर जाना शुरू कर रहा हूँ। जब



तक निज–भाव नहीं आता, तब तक भक्त व भगवानों की भीड़ तो दिखेगी, पर भगवत्ता नजर नहीं आयेगी। चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमायें नजर आयेंगी, आचार्य व मुनि नजर आयेंगे; परन्तु चैतन्य चारित्र का चमत्कार, जो निजानुभव की परिणति है, वह अनुभव में नजर नहीं आएगा।

भो चैतन्य! जिसने स्वभाव को जाना है, उसे कुछ नहीं झलकेगा। उसे तो मात्र एक शून्य–स्वभावी निजानन्द ही दिखेगा। जीवन में ध्यान रखना, चारित्र का व्याख्यान कर रहे हैं, पर चारित्र व्याख्येय नहीं है। स्वरूप के वेदन होने का नाम है यथाख्यात–चारित्र जो ग्यारहवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है और चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है। यह ऐसी आत्मा की दशा है जैसे कि पानी शांत हो जाये तो चेहरा दिखना प्रारंभ हो जाता है। जिस चित्त ने मुझे पांच पापों में संलग्न किया था, उबलती कषायों में कभी भगवती–आत्मा नहीं दिखती थी, पर चित्त के शांत होने पर निज में ही निज का यथाख्यात–चारित्र दिखना प्रारंभ हो जाता है, वही भगवती–आत्मा है। अतः तुम अपने मन के संकल्पों को स्थिर करो। असंयमी आचरण को तिलाञ्जलि दो क्योंकि लड्डू–पेडा खाने में और विषयों में लिप्त होने में तथा घर में बैठकर कभी भगवान्–आत्मा दिखने वाली नहीं है।

भो ज्ञानी! आठवें गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है। जब यह जीव मिथ्यात्व के तीन टुकड़े करता है, तब भी करण (परिणाम) करता है, वहाँ पर भी अपूर्वकरण होता है। कभी पूर्व में ऐसा वेदन नहीं किया हो, ऐसे वेदन का होना ही अपूर्वकरण है। आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं: जब तक मुख में कड़वाहट है, तब तक मधुर दुग्ध भी कड़वा लगता है। जिसके मिथ्यात्व की कड़वाहट बैठी हो, उसे कहाँ ज्ञान–चारित्र दिखता है? वह तो उपहास करता है, ज्ञानियों की हँसी उड़ाता है; क्योंकि उसे मालूम तो यही है कि मेरे मुख में जैसा स्वाद है वैसा ही सबके मुख में होगा। अरे! बाहर के मुख को तो इलायची से साफ कर भी लो, परंतु मिथ्यात्व के मुख में इलायची भी कुछ नहीं कर पायेगी। मिथ्यात्व की कड़वाहट को दूर करने के लिए तो सद्गुरु की वाणी ही चाहिये। इसलिये ध्यान रखना

सद्गुरु देया जगाय, मोह–नींद जब उपशमे।
तब कुछ बने उपाय, कर्म–चोर आवत रुकें।।बा.भा.।।

जो स्वयं जागा है, वही दूसरों को जगा सकता है;, जो स्वयं जला है, वही दूसरों को जला सकता है। बुझे दीपों से कभी दीप नहीं जलते, जले दीपों से ही दीप जलते हैं। जो स्वयं संयम से बुझा–बुझा बैठा है, वह तो यही कहेगा कि ज्ञान करो, श्रद्धा करो; पर हमें यह समझ में नहीं आता कि किसका ज्ञान करें, श्रद्धा किस पर करें? क्योंकि श्रद्धेय दिखते ही नहीं हैं। मनीषियो, पंचपरमेष्ठी हमारे श्रद्धेय हैं और एक निज–आत्मा ही हमारा परमश्रद्धेय है। उसी का ज्ञान करना है, उसी का श्रद्धान करना है।

भो ज्ञानी! ज्ञेय जब सामने होता है, तभी ज्ञान से ज्ञेय को जाना जाता है। अतः, श्रद्धेय के अभाव में श्रद्धा किसकी की जाये? पहले श्रद्धेय को प्रकट करो, फिर श्रद्धा को प्रकट करो। हमारे श्रद्धेय सर्वज्ञदेव हैं, निर्ग्रन्थ गुरु हैं, वीतरागवाणी है। श्रद्धा मेरी आत्मा का धर्म है। लेकिन जब तक दर्शनमोह का विगलन नहीं होगा, तब तक श्रद्धा नहीं, श्रद्धेय नहीं और ज्ञान भी नहीं, ज्ञेय भी नहीं, ये सब



अज्ञान हैं। इसलिये, सबसे पहली आवश्यकता मिथ्यात्व के जहर को निकालने की है। परन्तु केंचुली से काम नहीं चलेगा, थैली निकालने की आवश्यकता है।

भो चैतन्य! इन नागों ने केंचुली तो अनेक बार निकाली है पर, हे विषधर! तुम केंचुली के निकालने से निर्विष नहीं होते। इसी प्रकार वस्त्रों को उतारने से, भोगों को फेंकने से आत्मा निर्ग्रंथ– दशा को प्राप्त नहीं होती। जब तक वासना और मिथ्यात्वरूपी, जहर की थैली नहीं निकलेगी, तब तक मुमुक्षु हो ही नहीं सकता। केंचुली के छूट जाने का नाम निर्विषपना नहीं, थैली छूटेगी तभी निर्विषपना होगा। भो ज्ञानी! ज्ञान करके, श्रद्धान करके केंचुली भी छूट गई, परंतु जब तक चारित्र– मोहनीय की गाँठ नहीं खुलेगी, तब तक भगवती–आत्मा प्रकट होने वाली नहीं है। मनीषियो! उपादान तभी जागेगा, जब सम्यक् पुरुषार्थ होगा। इसलिये जब दर्शन–मोहनीय कर्म–का विगलन होता है, तो सम्यक्रूप से तत्त्वों का श्रद्धान करता है, ज्ञान करता है, नित्य ही निष्कंप होकर सम्यक्चारित्र का आलम्बन करता है।

भो ज्ञानियो! रत्नत्रय मोक्ष नहीं है, मोक्षमार्ग है। यहाँ आचार्य भगवान् कह रहे हैं; चारित्र तो धारण कर लेना, लेकिन अज्ञानपूर्वक नहीं। पहले अच्छी तरह जान लेना कि कौन सा ज्ञान? सम्यक्ज्ञान, ही आत्म–कल्याण का ज्ञान है। यहाँ पोथियों के ज्ञान की बात नहीं कर रहे हैं, मोह को विगलित करने वाले ज्ञान की बात कर रहे हैं। आप शास्त्रज्ञान भी करें, पर आप उसका निषेध न करें, क्योंकि श्रुतज्ञान ही केवलज्ञान का जनक होता है, श्रुत का अविनय मत कर देना। उत्तम ज्ञान के उपरांत ही चारित्र कीआराधना होती है, इसलिये ज्ञान के उपरांत ही चारित्र की आराधना करनी चाहिये।क्योंकि जिसको तुम स्वीकार करने जा रहे हो, उसके बारे में इतना तो समझ लो कि मैं धारण कर क्यों रहा हूँ? चारित्र परम्परा नहीं है, चारित्र तो आत्मा को परमात्मा बनाने की विद्या है। उस विद्या को समीचीन रूप से समझ कर स्वीकार करोगे, तो जरूर ही परमात्मा बन जाओगे।



उदासीन-वृति ही सम्यक्चारित्र

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।।३९।।

अन्वयार्थ : यतः = कारण कि। समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् = समस्त पापयुक्त योगों के दूर करने से। चारित्रं भवति = चारित्र होता है। तत् = वह चारित्र। सकलकषायविमुक्तं = समस्त कषायों से रहित होता है। विशदं = निर्मल होता है। उदासीनं = रागद्वेषरहित/वीतराग होता है। आत्मरूपं= वह चारित्र आत्मा का निजस्वरूप है।

हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्।।४०।।

अन्वयार्थ : हिंसातः = हिंसा से। अनृतवचनात् = असत्य वचन से। स्तेयात् = चोरी से। अब्रह्मतः परिग्रहतः = कुशील से, परिग्रह से। कात्स्न्यैकदेशविरतेः = समस्त विरति एवं एकदेशविरति से। चारित्रं = चारित्र। द्विविधं जायते = दो प्रकार का होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! आचार्य अमृतचंद्र जी महाराज ने ज्ञान के उपरान्त चारित्र की चर्चा की है, कि वही ज्ञान शोभायमान होता है जिसमें संयम की सुगंध हो। यथार्थ में ज्ञान का फल संयम है और वह संयम अंतरंग का भाव है। आचार्य कुंदकुंद महाराज ने मोह और क्षोभ से रहित अवस्था का नाम साम्यभाव कहा है, यह साम्यभाव ही संयम है।

भो ज्ञानी! सम्यक्दर्शन धर्म की पूर्णता नहीं है। भवन की नींव ही को भवन की पूर्णता नहीं मान लेना। जिसने नींव को भवन की पूर्णता मान लिया है, वह भवन में बैठ नहीं पायेगा;, क्योंकि नींव भवन नहीं है। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जब ज्ञान की दीवारें खड़ी हो जायेंगी, तब चारित्र की ही छत ढ़ालना पड़ेगी, तभी पानी रुक पायेगा, अन्यथा पानी टपकेगा। अहो! जो कष्ट शेर के सामने आने पर भी नहीं होता, वह कष्ट 'टपका' में होता है। मनीषियो! निश्चय धर्म का प्रारंभ चारित्र के आने पर ही होता है, और जहाँ चारित्र आता है, वहाँ दर्शन व ज्ञान स्वयमेव विराजता ही है; क्योंकि जिनेन्द्र के शासन में उसे ही चारित्र कहा जाता है जिसमें दर्शन व ज्ञान होता है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान के उपरान्त चारित्र की आराधना करना चाहिये। जहाँ "वथ्थु स्वभावो धम्मो" आ जाता है, वहाँ कोई परिभाषा कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि मिथ्यात्व तेरी वथ्थु का धर्म नहीं है, अज्ञानता वस्तु का धर्म नहीं, असंयम वस्तु का धर्म नहीं है। 'वस्तु स्वभावो धम्मो', यह सूत्र आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने "कार्तिकेयानुप्रेक्षा" में लिखा है। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव,



उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य ही वस्तु–स्वभाव है और यह मेरी आत्मा के धर्म हैं। लोभ का त्याग, क्रोध का त्याग, मान का त्याग, वाणी का संयम ये मेरी आत्मा के धर्म हैं। भो ज्ञानी! विवेक के साथ बोलने की आवश्यकता है। माँ जिनवाणी कह रही हैं कि वाणी–संयम नहीं है, तो प्राणी–असंयम भी होते देखा जाता है, और इन्द्रिय–असंयम भी होते देखा जाता है। अहो! एक हीदिन के वाणी–असंयम का प्रभाव था कि महाभारत हो गया।

भो ज्ञानियो! एक दिन आपसे कहा था कि पीना सीखो। यदि कषाय को पीना सीख लिया तो खून की नदियाँ बहना बंद हो जायेंगी। द्रोपदी के मुख से छोटा सा ही शब्द निकला था कि 'अन्धों की सन्तानें अन्धी ही होती हैं', इसका परिणाम देखो। अहो! एक नारी की तो जीभ हिली, परंतु महाभारत में तो तलवारें हिल गईं। जीवन में ध्यान रखना, यदि आपको साँप ने डस लिया, तो आप उपचार तो करो, लेकिन तुम्हारा धर्म उसे मारना नहीं है। किसी ने आपको गाली सुना दी, उस समय आपने कुछ नहीं कहा तो इससे लगता है कि आपने अनन्त–गुणों में एक गुण की वृद्धि कर ली। जब गुरुदत्त स्वामी के शरीर में अग्नि लगाई गई तो वे मुनिराज कह रहे थे–अहो! कितना सुन्दर अवसर मिला, अभी अंतःकरण तप रहा था, अब वाह्य–पुद्गल भी अग्नि में तप रहा है, जब दोनों जल जायेंगे तो मेरी आत्मा कुन्दन बन जायेगी। यही कारण था कि वे गुरुदत्त स्वामी केवली–भगवान् बन गये तथा अग्नि लगानेवाला कपिल ब्राह्मण प्रभु के चरणों में भक्त बनकर बैठ गया और उसे सम्यग्दर्शन हो गया। लेकिन मुनिराज ने कपिल को दोष नहीं दिया। वे मुनिराज कहने लगे–यदि हम अग्नि और कपिल को देखेंगे तो द्वेष नजर आयेगा। हम तो उस दोष को देखना चाहते हैं, जिस दोष ने आज मुझे अग्नि लगाई है, जब यह सिंह के जीव में था एक युवराज। मैं ससुराल में आया था, तथा द्रोणगिरी पर्वत की गुफा में जहाँ सिंह विराजा था, उसमें कण्ड़े, लकड़ी भरवाकर अपने हाथों से आग लगा दी। तब इसी पर्याय में सिंह ऐसे परिणामों से मरा। अतः, जीवन में ध्यान रखना, कभी सर्प डसे तो उपचार तो कर लेना, पर साम्यभाव रखना, यह आपका स्वभाव है। यदि आपने साँप को मार दिया तो एक काला नाग तो अपने धर्म में ही रहा, लेकिन आपने अपना धर्म छोड़ दिया।

भो ज्ञानी! चारित्र ही तेरा गुण है, अचारित्र तेरा दुर्गुण है। यदि गुण होगा तो दुर्गुण कभी प्रवेश करेगा ही नहीं। विभाव–स्वभाव के अभाव का नाम ही स्वभाव है। आप कुछ मत करो, बस स्वभाव में चले जाओ, लेकिन विभाव में मत जाना। अधिक समय तक आप विभाव में रह भी नहीं सकते। विभाव तो पकवान है, स्वभाव रोटी है। आप लम्बे समय तक पकवान खाकर नहीं जी सकते। आप रोज रोटी खाकर ही पूर्ण स्वस्थ जीवन जीओगे। विभाव तड़क–भड़क होता है, आया और चला जाता है, पर स्वभाव सहज होता है। सहज में शांति मिलती है, आनंद आता है। प्रभु जब केवली बन जाते हैं तो किसी से नहीं कहते कि मुझे केवलज्ञान हुआ है। तीर्थंकर महावीर स्वामी के सामने छह प्रति–तीर्थंकर थे, लेकिन वर्द्धमान को जैसे ही केवलज्ञान प्रकट हुआ, फिर उनका पता ही नहीं चला? इसलिये आप अल्पज्ञानी बनकर जीना, अल्पसाधक बनकर जीना, यथार्थ बनकर जीना, तो कभी भटक नहीं सकते और यदि ज्ञानी बनकर जीओगे तो परेशानी आयेगी, तुम धीरे से मायाचारी शुरू कर दोगे। अभी तो असंयम ही था, अब साथ में मायाचारी और आ गई। इसीलिये जितना तुम कर रहे हो उतना सहज

कर लो, लेकिन लोकमर्यादा का भी ध्यान रखें। माना कि आप शुद्ध हो, परन्तु लोकमर्यादा के विरुद्ध कोई काम हो रहा हो तो उसकी मर्यादा का भी ध्यान रखना।

भो ज्ञानी! आचार्य महाराज कह रहे हैं कि चारित्र बड़ा गम्भीर है। एक ओर स्वयं को दिखा रहा है और दूसरी ओर लोक की मर्यादा को दिखा रहा है। ऐसा नहीं है कि मुनिराज को कभी मल-विसर्जन की आवश्यकता पड़ जाये तो कहीं भी बैठ जायें। लोकमर्यादा का उनको भी ध्यान रखना होता है। जिसे जनसामान्य स्वीकारता नहीं है, वहाँ चारित्र समाप्त हो जाता है। आपके घर में नई बहू का घूँघट कुछ सीमा में रहता है, लेकिन संयमी के लिये तो चौबीस घंटे ही नहीं, जीवनपर्यंत रहता है। हो सकता है कि कोई जीव गलत भी कर रहा हो अथवा नहीं मान रहा हो, वहाँ आपको यही सोचना होगा कि इसके कर्म का ऐसा उदय है जो कि अच्छी बात भी स्वीकार नहीं कर पा रहा है। जिस दिन कर्म-विपाक मंद हो जायेगा, उस दिन यह इस बात को स्वीकार कर लेगा! क्योंकि जब तक कषाय का उद्रेक रहता है, तब तक जीव किसी बात को नहीं मान पाता, यह तो लोक की व्यवस्था है। जिस बर्तन में दूध भरा हुआ है वह भी तब तक रहता है, जब तक अग्नि मंद-मंद है और तेज उबाल पर ढ़क्कन भी नहीं ठहरता। ऐसे ही जिस जीव की कषाय उबाल पर हो, उसको संयम, ज्ञान, चारित्र की बात बताओगे भी, तो वह नहीं ठहरती। एक माँ धीरे से उस उबाल पर ठण्ड़ा पानी डाल देती है अथवा नीचे से लकड़ी को हटा देती है। तो वह शांत हो जाता है। अतः दो ही उपाय हैं। जिन निमित्तों से हमारे असंयम-भाव बनते हैं, उन निमित्तों को हटा दें। यदि आप पदार्थ नहीं हटा पा रहे हैं तो आप स्वयं पदार्थ से हट जाओ।

भो ज्ञानी! इन्द्रियों को समझाने के लिये तो तुझे गुरु मिल जायेंगे, लेकिन मन को समझाने वाला गुरु तो स्वयं तुझे ही बनना पड़ेगा। मन की गलती को देखनेवाला कोई गुरु है, तो तू स्वयं ही है अथवा केवली-भगवान् हैं। अब तुम कुछ करोगे तो ध्यान रखना, आस्रव ज्यादा ही होगा। इसलिये आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि संपूर्ण सावद्य-क्रियाओं का बुद्धिपूर्वक त्याग करने का नाम सम्यक्-चारित्र है। जिसमें हिंसा होती है, झूठ बोला जाता है, चोरी छिपी हो, अब्रह्म और परिग्रह भाव हो, वह सब अचारित्र है। यदि तुम चारित्र का पालन करने लगोगे तो तुम्हारी भोगों की लिप्सा पूरी नहीं हो पायेगी, मान-सम्मान समाप्त हो जायेंगे, बड़े-बड़े भवन श्मशान घाट से नजर आयेंगे। दूसरे शब्दों में उदासीन-वृत्ति का नाम ही चारित्र है; जहाँ भवन नहीं, निज-भवन की ओर दृष्टि रहती है। अतः अपने आप में उत्साहित रहना, परंतु विश्व से उदासीन हो जाना। जो निज में ही उत्साहित नहीं है, उससे संयम नहीं पल सकता।

भो चैतन्य! हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पाँच पाप हैं। इनको एकदेश छोड़ना श्रावकों का चारित्र है और सम्पूर्णरूप से पाँच पापों का त्याग करना साधुओं अथवा महाव्रतियों का चारित्र है। इसीलिये आज बैठकर अनुभव कर लेना कि पूरी पर्याय हमने भोगों की भट्टी में नष्ट कर दी है। अब उन भोगों का फल रोना है। क्योंकि भोगों के भोग से रोग हुआ और संतान को जन्म दिया, फिर कुटुम्ब बढ़ गया। कल किसी की मृत्यु, परसों किसी की, अब बैठे-बैठे रो रहे हैं। योग का फल है-निज में लीन होना, प्रसन्नचित्त रहना। यदि प्रसन्न रहना चाहते हो तो किसी को प्रसन्न करने का विचार मन में मत लाना, क्योंकि आपकी ताकत नहीं है कि आप सबको प्रसन्न कर लो। सब



जीव सुखी रहें–ऐसा विचार तो लाना; लेकिन प्रसन्नता उथली वस्तु है जबकि सुख अंदर की वस्तु है। अहो! परमसुखी तो अरिहंतदेव हैं और उनसे भी परमसुखी सिद्ध भगवान् हैं तथा जो सुख के मार्ग पर चल रहे हैं, वे आचार्य, उपाध्याय और साधु–भगवंत हैं। इसीलिये जिनवाणी में सुख की परिभाषा प्रसन्नता है ही नहीं। "आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये"। जहाँ आकुलता लगी हुई है, वहाँ सुख किस बात का? अतः, लोक में किसी को प्रसन्न करने का विचार मत लाना। लोक में सभी जीव सुखी रहें, ऐसा विचार बनाकर रखना धर्मात्मा का लक्षण है; क्योंकि प्रसन्नता ऊपर की होती है, प्रसन्नता चेहरे तक होती है और सुखी हृदय से होता है। दूसरे शब्दों में इसे आप प्रमुदित भी कह सकते हो, क्योंकि ज्ञानी–धर्मात्मा धर्म की बात को देखकर प्रमुदित होता है, वह प्रमोदगुण अंदर से आता है। आपको पेन मिल गया, आप प्रसन्न हो गये। जब घर में बेटे का जन्म होता है तो पूरा परिवार खुश हो जाता है, लेकिन आनंद नहीं आता है। आनंद अंदर से आता है। बाहर के द्रव्यों की प्राप्ति से जो सुख महसूस करते हो, वह खुशी होती है; पर अन्दर के गुणों से जो खुशी आती है, उसका नाम आनन्द होता है। जो ज्ञानी निज में निज का रमण करता है, उससे जो आनंद प्रकट होता है, वह परमानंद होता है। इसलिये खुशी तक ही सीमित मत रह जाना, आनंद और परमानंद की ओर बढ़ना।



पुरुषार्थ देशना

मुनि भेष ही समयसार है

निरतः कात्स्न्र्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।४१।।

अन्वयार्थ : कात्स्न्र्यनिवृत्तौ = सर्वथा सर्वदेश त्याग में। निरतः अयम् यतिः = लवलीन यह मुनि। समयसारभूतः = शुद्धोपयोग रूप स्वरूप में आचरण करनेवाला। भवति = होता है। या तु एकदेशविरतिः = और जो एकदेश विरति है। तस्याम् निरतः = उसमें लगा हुआ। उपासकः भवति = उपासक अर्थात् श्रावक होता है।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।।४२।।

अन्वयार्थ : आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् = आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात होने के हेतु से। एतत्सर्वम् हिंसा एव = ये सब हिंसा ही है। अनृतवचनादि =असत्य वचनादिक के भेद। केवलम् शिष्यबोधाय = केवल शिष्यों को समझाने के लिए। उदाहृतं = उदाहरणरूप कहे हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! संसार असार है। पर्यायदृष्टि से जितने द्रव्य हैं, सब विनाशीक हैं। नंदीश्वरदीप, सुमेरुपर्वत ये सब अकृत्रिम पदार्थ हैं, लेकिन अर्थपर्याय की दृष्टि से इनमें भी परिणमन होता है, तत्स्वरुप परिणमन चलता है। कोई भी द्रव्य कूटस्थ नहीं है। अतः विश्व के सम्पूर्ण द्रव्य परिवर्तनशील हैं और परिवर्तन के परिणमन में जो परिणामी को भूल जाता है, वही अज्ञानी होता है। परिवर्तन में परिणामी को जो परिणामीरूप निहारता है, उसे द्रव्य–सत्ता दृष्टिगत होती है। संयम और चारित्र को पर्याय सुधारने के लिए नहीं हैं। पर्याय को सुधारकर हम करेंगे क्या ? पर्याय तो पर–द्रव्य है। अशुद्ध–व्यंजन–पर्याय की दृष्टि से पर्याय आपकी है; लेकिन जो आप जीवत्व की बात करेंगे तो उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण का लेशमात्र भी नहीं है। जीव का स्वरूप उपयोगमयी है, शरीर का स्वरूप स्पर्श–रस–गंध–वर्णमयी है। दोनों में संश्लेष–सम्बन्ध है। अहो! संक्लेषता का नाश करना चाहते हो, तो संश्लेष को संश्लेष स्वीकारो। ध्यान रखना, दूध में मावा पहले था, पर दूध मावा नहीं था। अहो! भगवती–आत्माओ! आपमें भगवान् तो पूर्व से ही विराजमान है; लेकिन आप भगवान नहीं हो।

मनीषियो! दूध को मावा बनाने के लिए उसमें पर–द्रव्य (पानी) का जो उपाधि–परिणमन है, संश्लेष–संबंध है, उसको उड़ाया जाता है, तो मावा बन जाता है। ऐसे ही इस जीव को ध्यान की अग्नि (चारित्र की सिगड़ी) पर जब रखा जाता है, तो कर्मों का नीर वाष्पित होकर उड़ जाता है, एक मात्र शुद्ध आत्मा रहती है, उसी का नाम परमात्मा होता है। बिना प्रक्रिया के जो दूध से मावा निकालना



चाहता है, वह बिना संयम के मोक्ष होना मानता है। क्या कछुए की पीठ के बालों की रस्सी से हाथी को बाँधा जा सकता है ?

भो ज्ञानी! चारित्र की निर्मलता से ही ज्ञान में निर्मलता आती है। अहो! तुम्हारे परिणाम जितने सुलझे हुए होंगे, उतना सुलझा हुआ तुम्हारा संयम होगा। संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय– यह तीन दोष जिनके ज्ञान में चल रहे हो; वह संयमी नहीं बन पायेगा; क्योंकि वह सोचेगा कि जो मैंने स्वीकार किया है यही मोक्षमार्ग है या और भी कोई है ? इसलिए संयमाचरण–चारित्र त्रिदोष से रहित होता है। उस निर्मल में भी जो निर्मल होता है, उसका नाम स्वरूपाचरण–चारित्र होता है। स्वरूपाचरण–चारित्र की निर्मलता से जो अन्तिम निर्मलता निकलती है, उसका नाम यथाख्यात चारित्र है। यह परिणामों की निर्मलता है। अहो! यह भावों की निर्मलता कहीं बाहर से नहीं आती, योगी अपने आप में ही, अपने आप से प्रकट करता है। एक बाह्य–ज्ञानी तो शरीर की रक्षा कर लेता है, पर अन्तर–ज्ञानी आत्मा की रक्षा न कर सके तो जिनवाणी उसे ज्ञानी–संज्ञा नहीं दे पाती। निर्ग्रंथ–ज्ञानी चर्म–चक्षु से नहीं, विवेकज्ञान के आगम–चक्षु से निहारते–निहारते चलता है। भो ज्ञानी! कुन्दकुन्द देव 'प्रवचनसार' जी में लिख रहे हैं: जितने कर्मों की निर्जरा एक अज्ञानी हजार वर्षों में करता है, ज्ञानी एक श्वांस मात्र में कर लेता है। यह आगम–ज्ञानी की चर्चा नहीं, आत्म ज्ञानी की चर्चा है। आत्मज्ञानी याने अनुभवज्ञानी। यह विद्या अनुभव–विद्या है, बाह्य–विद्या नहीं। अनुभव अनुभूति का विषय है, व्याख्यान मात्र तक सीमित नहीं है। तीनगुप्ति से युक्त वही होगा, जो चारित्र से युक्त होगा। इसीलिए अमृतचंद्र स्वामी जिस ज्ञानी की चर्चा यहाँ कर रहे हैं, वह ज्ञानी विशद् (निर्मल) है, परभावों से उदासीन है और आत्मस्वरूप में लीन है। 'समयसार' तब ही प्रकट होगा, जब संयम प्रकट हो जायेगा। ध्यान रखना, जब तक नियमसार नहीं आ रहा है, तब तक समयसार कैसे आयेगा ? भो ज्ञानी आत्माओ! जिसे नियमसार, समयसार का द्रव्य–आगमज्ञान हो जायेगा, उसे जिनवाणी ज्ञानी नहीं कहेगी। जिनवाणी में भाव–आगम वाले ही मुमुक्षु होते हैं। द्रव्य–आगम से मोक्ष नहीं होता, द्रव्य आगम–भाव–आगम का हेतु तो होता है; परंतु कार्य नहीं होता, कारण होता है। इसीलिए 'मूलाचार' में कुंदकुंद महाराज ने भी लिखा है–

भावविरदो दु विरदो, ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई।
विसयवणरमणलोलो, धरियव्वो तेण मणहत्थी।।९९७।।

भाव–व्रती को ही व्रती कहा गया है, केवल द्रव्य–व्रती की सुगति नहीं है। अहो! देह के रागियो, देह के ब्रम्हचारियो! अपने अन्तस् से पूछो कि भाव के ब्रह्मचारी कितने हो ? यदि नहीं हो, तो सुगति नहीं होगी। भेष से कह रहे हो तो भेष पूजा जायेगा और यदि भाव से करोगे, तो भगवान् बन जाओगे। नमोस्तु–शासन बड़ा निर्मल है, बड़ा ईमानदार दर्शन है। इसलिए मन–हस्ति को ज्ञान–अंकुश से पकड़ लो और चारित्र की रस्सी में बांध लो। वह जब तुम्हारे वश में हो जायेगा तो आप उस पर सवारी करके मोक्षमहल पहुँच जाओगे। वह आपको सिद्धशिला में पहुँचा देगा। भो ज्ञानी! आत्म–ज्ञान ही सर्वस्व है, ज्ञान सर्वस्व नहीं है। ज्ञान तो अभव्य जीव को ग्यारह अंग का भी हो जाता है, लेकिन वह ज्ञान निर्वाण का हेतु नहीं होता। कोरा–ज्ञान निर्वाण का हेतु नहीं है; वह संसार का ही हेतु है। अहो! निर्वाण के मार्ग पर चलनेवाली आत्माओ! निर्माण में मत लग जाना, यदि अन्य किसी निर्माण में लग गये,



तो निर्वाण कार्य तुम्हारा अवरुद्ध हो जायेगा। अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि उदासीन का उलटा अर्थ मत लगा लेना। अरे हंस–आत्माओ! धर्म–धर्मात्मा को देखकर प्रमुदित हो जाना, पर विषय–कषायों को देखकर उदासीन हो जाना, द्वेष नहीं करना। अरे! जब संकट आ गया, तो संसार असार दिखने लगा और तनिक प्रशंसा हो गयी, तो सार–ही–सार नजर आने लगा; ऐसा कैसा असार ? ज्ञानी तो जब विषमता थी, तब भी असार मानता था और जब अनुकूलता है, तब भी असार मानता है।

भो ज्ञानी! ध्यान रखो, उपासक ही उपास्य बनता है। श्रमण–संस्कृति में जिनदेव का शासन उपासक को भी उपास्य बना देता है। आचार्य महाराज सहजता से कह रहे हैं कि योगी की वंदना करना ही समयसार की उपासना है, क्योंकि 'समयसार' ग्रन्थ तो कागजों पर है; परंतु निर्ग्रंथ की परिणति में समयसार है। ग्रन्थ का समयसार शब्दों का समयसार है, जबकि निर्ग्रंथों का समयसार स्वभाव का समयसार है। स्वभाव–समयसार को समझना चाहते हो तो स्वभावी के पास पहुँचना पड़ेगा। स्वभावी के पास जाये बिना स्वभाव–समयसार मिलनेवाला नहीं है; क्योंकि जले दीप के पास ही बुझा दीप जाता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'समाधि शतक' में लिखा है–

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा, परो भवति तादृशः।
वर्तिदीपं यथोपास्य, भिन्ना भवति तादृशी।।९७।।

भिन्न–आत्मा भी जब उपास्य–आत्मा की उपासना करता है, तो वह भी परमात्मा हो जाता है; क्योंकि ध्येय का ध्याता जब ध्यान करता है, तो वह स्वयमेव ध्येय हो जाता है। भो ज्ञानी! एक बार समयसारभूत बन जाओ। ज्ञेय, ज्ञेय है; ज्ञाता, ज्ञाता है। ज्ञेय–तत्त्व विश्व में अनन्त हैं। उन अनन्त ज्ञेयों में तू भी एक ज्ञेय है। लेकिन जीव की यह अनुपम महिमा है कि यह ज्ञेय भी हैं और ज्ञाता भी है। द्रव्य तो ज्ञेय मात्र है, ज्ञाता नहीं है। अहो! जब जीव अनन्त ज्ञेयों को भूल जाता है, तब स्वज्ञेय ज्ञान में आता है। जब तक अनन्त ज्ञेयों को जानने का विकल्प योगी के मन में रहता है, जब तक स्वज्ञेय को जान नहीं पाता। जब सम्पूर्ण ज्ञेयों से अज्ञानी हो जाता है, तब एकमात्र स्वज्ञेय को जानता है। जब स्वतत्त्व को जो एक बार जान लेता है, तो पुनः अनन्त ज्ञेयों का ज्ञाता बन जाता है। भो चेतन! जब निज ज्ञेय–तत्त्व को जानेगा, तो उसी दिन अनन्त ज्ञेयों का ज्ञाता केवली भगवान् भी बन जायेगा। उस ज्ञेयतत्त्व की प्राप्ति में अनन्त–बल की ताकत ही तुझे अनन्त– बलशाली बना पायेगी, ऐसा है समयसार।

भो ज्ञानी! जैसे मक्खन की माधुर्यता, स्निग्धता, कोमलता को मापकर बता पाना कठिन है, ऐसे ही आत्मा की निर्मलता का व्याख्यान पौद्गलिक–वाणी से करना असंभव है। इसलिए ध्यान से समझना। समयसार में भी निरत हो और पंच–पापों में भी लीन हो, अहो! छल मत करो ,कपट मत करो निज आत्मदेव के साथ। पंच पापों का भोक्ता बनकर कोई भी आत्मभोक्ता नहीं बन सकता। भो मनीषी! तर्क लगाना, जो पंच पापों में लिप्त है, यदि परमेश्वर बन गया, तो पंच–महाव्रतों का पालक क्या निगोद जायेगा ? ध्यान रखना, महाव्रती कभी अनन्त भव धारण नहीं करते; महाव्रती कभी निगोद नहीं जाते। अरे ज्ञानी! अनन्त बार कोई मुनि नहीं बन सकता, अनन्तबार कोई महाव्रती नहीं बन सकता, यह सिद्धांत है। बत्तीस भव से ज्यादा कोई निर्ग्रंथ, भावलिंगी–मुनि बन ही नहीं सकता। जो अनन्तवार



ग्रेवेयक गया है, वह मुनि नहीं गया; मात्र मुनिव्रत धारण करने वाला गया है, क्योंकि कुन्दकुन्द देव ने 'समयसार' जी में लिखा है–अज्ञानीजीव कहता है कि इस मार्ग से नहीं जाना, मार्ग लुटेरा है। अहो ज्ञानी आत्माओ! मार्ग ने कब, किसको लूटा है ? वे अज्ञानी हैं, जो मार्ग को लुटेरा कहते हैं। ऐसे ही महाव्रत कभी निगोद नहीं ले जाते। जो मोक्षमार्ग में पहुँच कर भी विषय–कषायों के लुटेरों के पीछे अपने आप को चिपका देते हैं, ऐसे लोग नरक–निगोद जाते हैं। मुनि कभी नरक–निगोद जा ही नहीं सकता। ध्यान रखना, निर्ग्रंथ–दशा में निगोद–अवस्था कभी नहीं मिलती। परंतु जो जीव संयम के मार्ग पर पहुँचकर भी संयमी नहीं होता, वह निगोद जाता है।

भो ज्ञानी! परिणाम ही गुणस्थान हैं। अतः, चर्चा करो तो ऐसी करो जिससे संयम में वृद्धि हो, चारित्र में वृद्धि हो, श्रद्धा में वृद्धि हो। अहो! जो गिरते को उठा ले वह आगम है, पर बेचारे गिरते को तुम और धक्का मत लगा देना। पंच पाप का त्यागी, महाव्रती यति ही समयसारभूत होता है और जो एकदेशव्रती अर्थात् एकदेश पंच पाप के त्यागी होते हैं, वह उस समयसारभूत योगी के उपासक होते हैं। इसीलिए श्रावक का दूसरा नाम आया है–श्रमणोपासक। जैन–आगम में "पुरुषार्थ सिद्धयुपाय" ग्रन्थ ऐसा अनुपम ग्रन्थ है जो अहिंसा और हिंसा के बारे में विशद् कथन करनेवाला है। आत्मा के परिणामों की घात करना ही हिंसा है। जरा–सा कुछ हो जाये–'तू मर जा।' कहने से नहीं मर रहा है, पर आप कर्म से अवश्य बंध गये। अतः असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह सब हिंसा ही हैं। झूठ बोलना भी हिंसा है, परिग्रह का संचय करना भी हिंसा है, कुशील–सेवन भी हिंसा है। भो ज्ञानी आत्माओ! चोरी करना भी हिंसा ही है। इसीलिए मनीषियो! ध्यान रखना, इस तत्त्व को समझना है। मेरी आत्मा समयसारभूत बने और जब तक समयसार नहीं बन पा रहे हो तब तक एक "समयसार" के उपासक तो बने रहें और ऐसी भावनाएँ भाएँ कि मेरी आत्मा में भगवती–आत्मा की अवस्था प्रकट हो।





राग–हिंसा, राग का अभाव–अहिंसा

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।।४३।।

अन्वयार्थः कषाययोगात् = कषायरूप परिमित हुए मन वचन, काय के योगों से। यत् द्रव्यभावरूपाणाम् = जो द्रव्य और भाव दो प्रकार के। प्राणानां = प्राणों का। **व्यपरोपणस्यकरणं** = व्यपरोपण या घात करना है। खलु सा = निश्चय से वह। सुनिश्चिता = भली–भांति निश्चय की हुई। हिंसा भवति = हिंसा होती है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति र्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।४४।।

अन्वयार्थः खलु = निश्चय करके। रागादीनां = रागादि भावों का। **अप्रादुर्भावः = प्रकट** न होना। अहिंसा = अहिंसा है, और। तेषामेव उत्पत्तिः = उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति। **हिंसा भवति** = हिंसा होती है। इति = ऐसा। जिनागमस्य संक्षेपः = जैनसिद्धांत का सार है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनोषियो! आचार्य महाराज अमृतचंद्र स्वामी ने कथन किया है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह पांच पाप हैं; पर यथार्थ में कोई पाप है, तो हिंसा ही है। उस हिंसा से बचने के लिए ही आगम में शेष चार पापों की भी चर्चा की है। जब आपने दूसरे के द्रव्य का हरण किया है, चाहे आपने अन्य हेतुओं से चोरी की हो, वह भी हिंसा है। असत्य भाषण किया है, वह भी हिंसा है। एक बार के अब्रह्मसेवन में नवकोटी जीवों की हिंसा होती है। मैं तो यह मान रहा था कि यह सब विभूति मुझे पुण्य के योग से प्राप्त हुई है, परंतु परिग्रहत्मो पाप का संयोग कराकर ही जी रहा है। परिग्रह हेतु जीवों का घात हिंसा ही है।

भो ज्ञानी! लोक में किसी का वध करने को हिंसा कहा जाता है, परंतु जिनेंद्र की वाणी कहती है कि बदनाम करना भी हिंसा है। इसलिए, जीवन में बध करनेवाले ने एक समय में तुझे कष्ट दिया है, लेकिन बदनाम करनेवाला क्षण–क्षण में कष्ट दे रहा है। जैसे एक जननी अपने शिशु की रक्षा करती है, ऐसा ही मुमुक्षु जीव वह जननी है, जिसे विश्व के प्राणीमात्र नवजात शिशु नजर आते हैं। यह द्रव्य–हिंसा की बात कर रहे हैं, जिसमें मात्र प्राणों की हिंसा को हिंसा कहते हैं। लेकिन नमोस्तु–शासन कहता है, भो ज्ञानी! किसी के भावों को विकल्पों में डाल देना भी हिंसा ही है। इसलिए आगम में द्रव्य–हिंसा और भाव–हिंसा दो प्रकार की हिंसा का कथन है।

भो ज्ञानी! जीव–वध के परिणाम करना भाव हिंसा है और किसी के प्राणों का वियोग करा देना,



यह द्रव्य–हिंसा है। अरे! दोनों मार्गों के त्यागी जब तक नहीं बनोगे, तब तक मोक्ष मार्गी नहीं हो। मुमुक्षु जीव उभय हिंसा का त्यागी होता है। हम कभी–कभी निष्प्रयोजन हिंसा भी कर लेते हैं। जिसमें टेलीविजन तो सप्त–व्यसन का डिब्बा है। मैच आया, बोले–वह जीत गया, यह हार गया। क्या मिल गया आपको? कुछ नहीं मिल रहा है , कुछ जा नहीं रहा, लेकिन आनंद मना रहे हो–अतः हिंसा तो चल रही है। दो देशों का क्रिकेटमैच चल रहा है और आप लड्डू बाँट रहे हैं, क्योंकि हमारा देश जीता है। सीरियल देख रहे थे, किसी का घात हो गया, आपकी ताली बज रही है, भाव–हिंसा कर ली। किसी ने किसी को डाँट दिया, मैं भी सोच रहा था कि अच्छा किया आपने। क्या हुआ? हिंसा की अनुमोदना कर ली। चाहे स्वयं करें, चाहे दूसरे से करवाएँ अथवा हिंसा करनेवाले की प्रशंसा कर देना, यह हिंसा ही है। कितनी बार स्वयं की भी हिंसा की है। जरा–सी बात पर मान आ गया, क्रोध आ गया। माँ जिनवाणी कह रही है कि उतने काल तक आपने अपने स्वभाव का घात किया है, इसलिए आप हिंसक हो। अहिंसक वही हो सकता है, जिसने कषायों का शमन कर दिया हो। पूर्ण अहिंसक चौदहवें गुणस्थान में विराजे अरिहंत भगवान् ही हैं। जहाँ पर अठारह–हजार शील की पूर्णता होती है, ऐसे सयोग–केवली भगवान् ही पूर्ण अहिंसक हैं। परंतु अहिंसा का प्रारंभ महाव्रत के साथ, छटवें–गुणस्थान से हो जाता है और अष्ट–मूलगुणों के रूप में अविरत–सम्यक्दृष्टि जीव के भी शुरू हो जाता है।

भो ज्ञानी! मन,वचन, काय तीनों योग हैं। किसी ने मन में सोच लिया कि जितने संसार के लोग हैं, वे सब नाश को प्राप्त हो जाएँ। अपने जनक तक को मारने के विचार मन में आते हैं। अरे भगवान्! दुनियाँ को तो काल ले गया, इनको क्यों नहीं ले जा रहा है? यह तो अपनी आयुकर्म पूरा होने पर ही जायेंगे। अहो! यह विचारकर आपने अपने कर्मकाल को जरूर बुला लिया है। सोचो, इससे बड़ा हत्यारा दुनियाँ में और कौन होगा, जो अपने माता–पिता को मारने की बात सोच रहा है? जब वे जन्मे थे, तो अपने पुण्य से ही जन्मे थे और उनकी मृत्यु भी आयु कर्म के क्षय होने पर ही होगी।

भो ज्ञानी! यदि कर्म–सिद्धांत को जानते हो तो, शत्रु को भी शत्रु–दृष्टि से मत देखो। तुम दूसरे की खाल को निगल रहे हो, दूसरों के रक्त को मुख से नहीं तो बोतलों के माध्यम से पी रहे हो, यह हिंसा ही है। अरे! मृत्यु को प्रतिसमय अपना प्रिय मानकर चलना, लेकिन सजगता बनाकर चलना। आयुकर्म प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है। जब मरण चल ही रहा है तो मृत्यु जब होना होगी, तब होगी। अतः सहजता से चलो। अहो! मरण श्रेष्ठ है, किन्तु दूसरे प्राणी के कलेवर को स्वीकार करना श्रेष्ठ नहीं हैं। जो मरण से डर रहा हो तो ऐसा लगता है कि वह संसार से डर रहा है कि कहीं यह संसार न छूट जाए। अरे ज्ञानी! अभी तू सिद्ध नहीं बना है, दूसरी पर्याय मिल जायेगी। जितनी इच्छाएँ अभी पूरी नहीं हुई हैं, वह आगे कर लेना। लेकिन ध्यान रखो, वे भी तभी पूरी होंगी, जब दूसरे की हिंसा नहीं करोगे। तुमने लोभप्रलोभन देकर दूसरे के हृदय का प्रत्यारोपण अपने हृदय में करा लिया और उसे कमजोर बना दिया, वह तो मृत्यु के मुँह में ही चला गया। भावना करो कि, प्रभु! ऐसे रोग ही न हों। असाता का उदय भी आ जाए तो अपने परिवार से कह देना–बेटा! णमोकारमंत्र सुना देना, कोई वनस्पति आदि की औषधि हो तो करा देना, लेकिन मेरी अन्तिम विदा में तुम, किसी के माँस को मत खिला देना। चाहे गोली बनाकर खिलाओ, चाहे तरल बनाकर पिलाओ, लेकिन अंश तो है।



यदि अहिंसक हो तो, ध्यान रखो, पूजा–विधान कर लेना। जब अच्छे से सोच बन जाये, तो कहना–प्रभु! हम परमप्रिय मृत्यु का वरण करेंगे, पर किसी जीव का मरण कराकर जीवन नहीं जीना चाहेंगे।

भो ज्ञानी! स्वयंभूरमण समुद्र का महामच्छ छः माह जागता एवं छः माह सोता है। जब वह महामच्छ सो जाता है, तो उसका दो–सौ–पचास योजन का मुख खुला रहता है। उस समय उसके मुख में अनेक जीव आते हैं और बाहर निकलते हैं। उसके कान में एक छोटा–सा तन्दुल–मच्छ बैठा होता है। उसे कर्णमच्छ भी कहते हैं। वह सोचता है कि यदि मुझे इतनी बड़ी अवगाहना मिली होती, तो मैं एक को नहीं छोड़ता। उस महामच्छ के कान के मल को खानेवाला तन्दुलमच्छ ऐसे कलुषित–भाव करके सातवें नरक जाता है। पता नहीं यह जीव बिना सताए कितने जीवों को सता रहा है? तुम सबल हो, तो निर्बल को सता रहे हो। लेकिन कर्म कह रहा है कि तुम मेरे साथ रहो, हम सबको सबल बनाकर रखेंगे, सबका साथ देंगे। इसलिए आचार्य महाराज कह रहे हैं कि कषाय के योग से जो प्राणों का व्यपरोपण चल रहा है, चाहे तुम किसी पर बरसो, न बरसो, पर यदि तुम अंतरंग में जल भी रहे हो, तो भी हिंसा हो रही है।

भो ज्ञानी! एक माँ कहती है कि हम तो अपने बेटे को डाक्टर बनाएँगे, परन्तु पिता कहता है कि हम तो वकील बनाएँगे। बात ऐसी बढ़ गई कि घर में महाभारत शुरू हो गया। पड़ोसी ने हल्ला सुना, तो पूछता है 'आप लोग तो बड़े प्रेम से रहते थे, यह हल्ला क्यों होने लगा?' तुम्हें क्या मालूम कि हमारे घर की क्या विडम्बना हो रही है? पत्नी कहने लगी–मैं बीमार रहती हूँ, इसलिए सोचा है कि अपने बेटे को डाक्टर बनाऊँगी। पति कहने लगा–आपको मालूम नहीं कि मेरे कितने केस चल रहे हैं, हम तो वकील बनाएँगे। पड़ौसी बोला– भैया! उस बालक से तो पूछ लो कि वह क्या बनना चाहता है? जैसे ही यह शब्द आया कि बालक से तो पूछ लो, तो दोनों हँसकर कहने लगे कि बालक तो अभी जन्मा ही नहीं है। अभी तो गर्भधारण मात्रा हुआ है, इससे पहले युद्ध शुरू हो गया। अहो! जो आपके सामने है ही नहीं, उसके बारे में सोच–सोचकर आपने ऐसे परिणाम कर लिए कि रामायण–महाभारत हो गयी। आचार्य अमृतचंन्द्र स्वामी का चिन्तन कितना बेजोड़ है ? वह कह रहे हैं कि जब भाव ही नहीं हों, तो द्रव्यहिंसा कैसे होगी? इसलिए पहले द्रव्यहिंसा का कथन नहीं किया, पहले भावहिंसा का कथन किया है।

भो ज्ञानी! रागादिकभावों को न होने देना, इसका नाम अहिंसा है। योगी को यह भी विकल्प नहीं होता कि यह पेन मेरा है। यदि यह विकल्प आ गया, तो हिंसा हो गयी। क्योंकि तूने निज–भाव से हटकर, पर–में राग किया है और राग से कर्मबंध होता है। अतः, यहाँ कह रहे हैं कि पर–द्रव्य में राग का होना, हिंसा है।जिसने राग के पहाड़ बनाये हों, वह हिंसा कैसे अहिंसा हो सकती है? अहो! राई–मात्र राग जब बंध का कारण है, तो विशाल–राग अबंध का कारण कैसे हो सकता है? इसलिए जितना बने, उतना हिंसा से हटते जाओ। बस इतना ध्यान रखना कि यदि अहिंसा में जीना चाहते हो तो रिश्ता बनाकर ही चलना। जैसे रिश्तेदार घर में आते हैं, तो खूब सम्मान कर लेते हो, परंतु उनके जाने पर विकल्प नहीं आता। ऐसे ही परिवार को रिश्तेदार ही समझो। उनको हकदार या साझेदार बना लिया तो समझ लो कि कर्म का साझा होगा।

भो ज्ञानी! यह हिंसा पुण्य के वेग में हो रही हैं। व्यक्ति जीव को जीव नहीं समझता, संतान



को संतान नहीं, बहु–बेटी को बहु–बेटी नहीं समझ पा रहा है। उसे अहंकार है कि मेरे पास सबकुछ है। लेकिन ध्यान रखना, उस जीव का तो अशुभ कर्म का उदय है ही, पर आपने नवीन कर्म का बंध कर लिया। यह मंदिर की बातें नहीं हैं, यह घर की बातें हैं। धर्म तो आपके घर से होगा, मंदिर में तो धर्म सीखा जाता है। धर्म का पालन तो घर में ही होता है। यहाँ आप से कहा जाता है कि पानी छानकर पियो, तो क्या आप यहाँ (मंदिर में) पी रहे हो? छन्ना तो घर पर है। लोगों की धारणाएँ बड़ी विचित्र हैं। दिन भर पाप करते हैं और थोड़ी देर को मंदिर आ गये। बोले–महाराजश्री! हम धर्म कर आये। अहो! आपने धर्म नहीं किया, आप तो मात्र धर्म के स्थान पर गये थे, धर्म तो घर पर ही होगा।

मनीषियो! अहिंसा की चर्चा प्रारंभ हो गयी है। आपके नल की टोंटी में छन्ना लगा है। अहो! सोचो तो, आपको पानी की थैली में बंद कर दिया जाये तो क्या हालत होगी तुम्हारी? बिलछानी कब करते हो? बोले– महाराजश्री जब वह सड़कर गिर जाएगी, तो स्वयं हो जाएगी। आगम में लिखा है–एक माँ से बिना छने जल की एक बूंद नीचे गिर गई थी। एक बूँद गिरने से सात भव सूकरी बनी, सात भव सियालिनी बनी, सात भव गंधी बनी। एक बूँद गिरने से उसकी यह दशा हुई। अब बताओ, आपकी क्या हालत होगी? "नदियन बिच चीर धुवाए, कोसन के जीव मराये"। कपड़े साफ होकर नहीं आये और उस धोबी को डाँट दिया। देखो, हिंसाजन्य रौद्र–ध्यान चल रहा है। यह किसमें आनन्द मना रहे हो? वस्त्र साफ होकर आये, प्रसन्न हो गये। परन्तु यह नहीं पूछा कि यह कपड़े साफ कैसे हुए? कास्टिक सोडे, सर्फ या साबुन से धुलते हैं। उसकी एक बूँद आँख में टपकाकर देखना। हमारी क्या दशा हो जायगी? जब साबुन–सोडा तुम्हारी नाली से बहकर जाता है, तब नाली के जीवों की हालत क्या होती है? भो ज्ञानी! जब तक हम कुछ नहीं जानते थे तो समझते थे, कि मैं बहुत बड़ा ज्ञानी हूँ। जब से कुछ पढ़ा, तो लगने लगा कि मैं सागर में पानी की बूंद भी नहीं हूँ। इसलिए रागादि की उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है और रागादि की उत्पत्ति होना हिंसा है–ऐसा जिनागम में संक्षेप से कथन किया है। इसलिए, जीवन में ध्यान रखना, विवेक के साथ, यतन के साथ काम करो, जिससे कर्म का बंध न हो।

प्रमाद में हिंसा, अप्रमाद में अहिंसा

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव।।४५।।

अन्वयार्थ : अपि = और। युक्ताचरणस्य = योग्य आचरणवाले। सतः = सन्त पुरुष के। रागाद्यावेशमन्तरेण = रागादिक भावों के बिना। प्राणव्यपरोपणात् = केवल प्राण के पीडन से। हिंसा = हिंसा। जातुएव = कदाचित् भी। न हि भवति = नहीं होती।

व्युत्थानावस्थायां रागादिनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।।४६।।

अन्वयार्थ : रागादिनां = रागादिक भावों के। वशप्रवृत्तायाम् = वश में प्रवृत हुई। व्युत्थानावस्थायां = अयत्नाचाररूप प्रमाद–अवस्था में। जीवः म्रियतां = जीव मरे। वा मा म्रियतां = अथवा न मरे, परंतु। हिंसा ध्रुवं = हिंसा तो निश्चयकर। अग्रे धावति = आगे ही दौड़ती है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! आज तक मैंने अनंत पर्यायों को स्वीकारा, अनंत पर्यायों में अनंतों को जाना है, अनंत भावों को किया, परंतु अहिंसा–भाव नहीं हुआ। अहिंसा–भाव हो गया होता तो आज कलिकाल में उत्पन्न नहीं हुआ होता। अहो! मैंनें स्वयं का भी घात किया है, स्वयं से भी घात किया है। भो ज्ञानी! लगता जरूर है कि मैंने दूसरे का घात किया; परंतु दूसरे की तो पर्याय का घात होता है, लेकिन परिणामों का घात तेरा ही होता। दूसरे की पर्याय का विनाश हुआ है, पर तेरी परिणति का पहले विनाश हुआ है। पर्याय जितनी महत्वशाली है, परिणति उससे कई गुनी महत्वशाली है। पर्याय पुनः मिल जाती है, परंतु वैसी परिणति पूरी पर्याय में नहीं मिल पाती। एक समय के निर्मल परिणामों से लगता है कि योगी की क्या दशा होगी और एक क्षण के परिणाम विकृत कर लेने पर लगता है कि क्रोधी की क्या दशा होती होगी ? यह किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं है। तीर्थंकर भगवान् ने यही तो कहा है–"कषाय के उदय में तीव्र परिणामों से चारित्रमोहनीय–कर्म का आस्रव होता है। हम आज तक साधु नहीं बन पा रहे हैं, अहिंसा के साथ नहीं चल पा रहे हैं, क्योंकि कषाय की तीव्रता में ऐसे चारित्रमोहनीय–कर्म का बंध कर लिया है कि आज संयम धारण करने के हमारे परिणाम नहीं हो पा रहे।

भो ज्ञानी! मुमुक्षुजीव विभूतियों को देखकर प्रसन्न नहीं होता। वह यह ध्यान रखता है कि विभूति/वैभव मेरे वैभव–नाश के हेतु हैं। वैभव दो हैं– एक निःश्रेयस वैभव और एक अभ्युदय वैभव।



अभ्युदय यानी स्वर्गादि विभूतियाँ, चक्रवर्ती आदि का वैभव। निःश्रेयस वैभव यानी शुद्ध सुख। यदि निःश्रेयस चाहते हो तो आज से लोक का श्रेय लेना बंद कर दो। अहो! श्रेयों के पीछे निःश्रेयसों को खोखला कर लिया। मैं चाहता हूँ कि लोग मुझे श्रेय दें, लेकिन श्रेय निःश्रेयस नहीं है। अरे ज्ञानी! अच्छा करोगे तो अपने आप अच्छा कहलाओगे। इसलिए अच्छा करना, पर अच्छा कहलाने के भाव मत लाना। श्रेय पानेवाले अहिंसा का पालन कभी नहीं कर पायेंगे, क्योंकि उन्हें श्रेय दिखता है, फिर हिंसा, असत्य और स्तेय में श्रेय नजर आने लगता है। मिथ्या विनय में, इस श्रेय के चक्कर में वह विपरीतपने को भी नहीं समझ पाता। अतः कुनय, अज्ञानता और असंयम को भी नहीं समझ पाता।

भो चेतन! श्रेयों को प्राप्त करनेवालों के द्वारा कभी भी धर्म–प्रभावना नहीं हुई है और निःश्रेयस की दृष्टि से जिसने धर्म के मार्ग को चुना, उसके नियम से धर्म की प्रभावना हुई। आप स्वयं कहने लगते हो कि प्रभावना तो कर रहे हैं, लेकिन लक्ष्य अपना ही दिखता है, तो जितना हमने किया था वह पूरा समाप्त हो गया। आचार्य भगवान् अमितगति स्वामी, जो कि संस्कृतभाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे, उन्होंने 'योगसार प्राभृत' नाम का ग्रंथ लिखा। अहो ज्ञानियो! भवाभिनंदी मत बनो, अभिनंदन मोक्ष का करो। वासनाओं के द्वार, यह भोगों के वंदनवार भव के अभिनंदन के लिए तुमने खड़े कर लिए कि मैं भव का अभिनंदन करता हूँ। यह भोग भी सोचते हैं और कर्म भी सोचते हैं कि अच्छे लोग मिले हैं, यह तो हमारा अभिनंदन कर रहे हैं। अहो! लोकोत्तराचार में जीनेवाली आत्माओ! लोक का अभिनंदन मत करो। यह अभिनंदन नहीं, बंधन है और बंधन से बचना चाहते हो तो भोग–विनाश के कार्य करो; क्योंकि स्वभाव से बाहर जब–जब भी जाओगे तब–तब भव का अभिनंदन ही होगा, भव का ही बंधन होगा। इस पर्याय का अभिनंदन मनाकर तू खुश हो रहा है। अहो मुमुक्षु आत्मन्! मोक्षमार्ग में आकर तेरी दृष्टि पर्याय के अभिनंदन पर ही टिकी है। अभिनंदन तो तेरा तभी होगा, जब तेरा कर्म–बंधन छूट जायेगा। फिर तो छद्मस्थों के मुख से नहीं, तेरा अभिनंदन सर्वज्ञ के मुख से होगा। निर्ग्रंथ भी तुम्हें शीश झुकायेंगे। इसलिए आत्म–अभिनंदन आत्मा से करो, यही शुद्ध–उपयोग की निश्चल–दशा है। भो ज्ञानियो! जब सौभाग्य का विनाश हो जाता है, तब अहोभाग्य का प्रादुर्भाव होता। इसलिए, सौभाग्य तक ही मत सोचते रहना, तुम कुछ और चिन्तवन करना। इससे आगे भी वस्तु है। जो अहोभाग्यशाली बन जाता है, निर्ग्रंथ बन जाता है, दिगम्बर बन जाता है, फिर वह हंस–आत्मा परमहंस की ओर बढ़ती है। सौभाग्य, अहोभाग्य भी छूट जाता है और वहाँ परम शब्द भी छूट जाता है। परमेश्वर जब समवसरण में पहुँच जाते हैं, फिर वह 'परम' शब्द भी छूट जाता है, उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं और अनुपम होकर उपमातीत हो जाते हैं।

भो ज्ञानी! प्रमाद को छोडकर, अब जाग जाओ। आचार्य उमास्वामी महाराज ने हिंसा का स्वरूप बताते हुए कहा है–''प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'' प्रमाद के योग से जीवों का विघात करना हिंसा है। प्रमाद यानी 'कुशलेषु अनादरा प्रमादाः,। कुशल–क्रियाओं में अनादर–भाव होने का नाम प्रमाद है। भो ज्ञानियो! जिसने कर्म के कुशों को अपने भेदविज्ञान के नखों से विवेक के साथ निकालकर फेंक दिया है, वही कुशल परमेश्वर, परम परमात्मा, परमहंस–आत्मा है और जब तक तुम कर्मों को नहीं निकाल पा रहे, तब तक तुम कितने ही कुशल बन जाओ, लेकिन अपने ही हाथ फाड़ रहे हो। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं–''प्रमाद को छोड़ दो। प्रमाद रहेगा तो हिंसा समाप्त होने वाली नहीं है।''



भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी के श्रावकाचार की शैली तो देखो और जब आप कहीं "मूलाचार" को सुनोगे तो फिर आप कहोगे कि भगवान की सत्ता कैसी निर्मल होगी ? जब एक श्रावक की चर्या ऐसी है, फिर यति की चर्या कैसी होगी ? परमेश्वर का परिणमन कैसा होगा? इसलिए आचार्य योगीन्दुदेव स्वामी ने लिखा है "यदि किसी को साधु–स्वभाव पर शंका हो तो एक घंटे सामायिक कर लो और यदि किसी को सिद्ध–स्वभाव पर शंका हो तो एक घंटे साधु बनकर बैठ जाओ और फिर देखो, कोई चिंता नहीं, प्रसन्न/प्रमुदित हैं।" जब कभी यह शंका हो कि भगवान् कैसे होंगे ? तो साधु बनकर फिर सामायिक करना। "यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लहो"।

भो ज्ञानी! श्रद्धापूर्वक और विवेकपूर्वक क्रिया करो, भक्ष्य–अभक्ष्य का विवेक रखो। कुछ भी आया खा लो, यही तो मूल में भूल है। मनीषियो! जीवन में भक्ष्य–अभक्ष्य की गोष्ठी मंदिर में करो या न करो, लेकिन घर में बैठक जरूर कर लेना। यदि माता–पिता ने भक्ष्य–अभक्ष्य की गोष्ठी कर ली, तो पता नहीं कितने श्रावकों, मुनियों को जन्म दे देंगे। ध्यान रखना, आजकल बहुत गोष्ठियाँ हो रही हैं। 'गोष्ठी' शब्द मनुष्यों से उत्पन्न नहीं हुआ। जब गायें चरकर आती हैं और एक स्थान पर बैठ जाती हैं, फिर वो जुगाली करती हैं, रुंथन करती हैं अर्थात् वहाँ बैठकर गोष्ठी होती है। भो ज्ञानियो! ऐसे ही तत्त्व को वह एकसाथ बैठकर घर में जुगाली किया करो कि आज जिनवाणी में क्या कहा है, यही तो गोष्ठी है। अहो! रुंथन नहीं करोगे, तो पाचन नहीं होगा, अजीर्ण हो जायेगा और अजीर्ण का परिणाम तो आप सब भोग ही रहे हो। एक गुट इधर जा रहा है, एक उधर जा रहा है। रुंथन कर लिया होता, जुगाली कर ली होती अर्थात् तत्त्व को पढ़ने के बाद चिंतवन द्वारा व्यवस्थित ज्ञान अपने में प्रवेश करा देता तो शंका/भ्रम में नहीं पड़ता, एकांत में नहीं जाता; क्योंकि उसके लिए ज्ञान का अजीर्ण नहीं है। मनीषियो! आचार्य भगवान् कह रहे हैं– राग–द्वेष के बिना युक्तिपूर्वक जो आचरण करता है, उनको कभी भी हिंसा नहीं होती।, यदि कदाचित् किसी जीव का विघात भी हो जाये, तो भी बंधक नहीं, अबंधक है, क्योंकि बंध करने के भाव नहीं हैं। एक यति ईर्यापथ से गमन करते जा रहे हैं और कोई जीव शीघ्रता से पैर के नीचे आकर घात को प्राप्त हो जाए, फिर भी वे बंधक नहीं हैं। अहो! यदि 'प्रमत्त' शब्द नहीं जोड़ेंगे, तो अहिंसा महाव्रत नाम की कोई वस्तु नहीं होगी। अब समझना, मुनिराज आहार कर रहे हैं, बोल रहे हैं, प्रवचन कर रहे हैं, तो हिंसा होगी या नहीं ? श्वास ले रहे हैं, हिंसा तो होगी, पर यहाँ जीव–वध करने के परिणाम नहीं हैं, किसी को कष्ट देने के भाव नहीं हैं। इसी प्रकार, शल्यक्रिया करते–करते चिकित्सक के हाथ से मरीज की मृत्यु हो जाए, फिर भी वह हिंसक नहीं है। कोई व्यक्ति किसी के हाथ पर ब्लेड मार दे, तो आप दौड़कर थाने में पहुँचोगे। जबकि डाक्टर पूरा पेट काट रहा है, फिर भी आप दौड़कर नहीं जाते हो। क्यों ? तत्त्व को समझना। वहाँ उस डाक्टर के उस जीव की रक्षा करने के भाव थे, पर रक्षा करने पर भी रक्षा नहीं कर सका। फिर भी वह बंधक नहीं है, अबन्धक है। अहो ज्ञानी! इसमें छल ग्रहण मत कर लेना कि जानकर मार दिया, बोले–हमारे भाव नहीं थे। अनर्थ हो जायेगा। इसलिए आगम को आगम–दृष्टि से समझना, लेकिन प्रमाद–अवस्था में, रागादि के वश होकर प्रवृति करते हो तो जीव मरे अथवा न मरे, उसके आगे–आगे हिंसा निश्चित दौड़ रही है। मार्ग में सिर उठाये चले जा रहे हैं, नीचे नहीं देख रहे। भो ज्ञानी! जीव बचे तो अपने पुण्य से बचे, पर तुम्हारी दृष्टि से नहीं बचे। एक व्यक्ति ने बाण छोड़ा, परंतु लक्ष्य पर नहीं लगा,



वह बच गया अपने पुण्य के योग से; लेकिन तुम्हारी परिणति से नहीं; तुम्हारी परिणति तो मारने की थी। कर्म–सिद्धांत कहता है कि आप जिस दृष्टि से भरकर आये हो, उसी दृष्टि से बंध चुके हो। भो ज्ञानी! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने "प्रवचन सार" में कहा है–

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स।।२१७।।

अयत्नाचार है, तो नियम से हिंसा है। एक माँ ने उदर में शिशु हत्या के लिए गोली खा ली, परंतु बेटा नहीं मरा, गर्भ वृद्धि को प्राप्त हुआ और पुत्र ने जन्म ले लिया। होनहार थी कि बेटा हुआ, पर माता तो बेटे की हत्यारी है, हिंसक है; आपने संतान का घात तो किया। हे माताओ! आपने पूर्व में मायाचारी की है, सो तुम्हारी यह अवस्था दिख रही है, कम–से–कम अब तो ऐसा मत करो। इस नारी पर्याय का उच्छेद कर दो। वे पिता भी अपने आप को पवित्र पिता न समझ लें। यदि गोली खाने को बाध्य किया है तो आप नारी से भी अधिक पतित हो। नारी तो पर्याय को भोग रही है, वेदन कर रही है; पर तुम नारी–पर्याय का बंध कर रहे हो। अहो! जीवन में ध्यान रखना, आगे–आगे हिंसा को मत दौड़ाओ, अहिंसा की ओर बढ़ो, परमब्रह्म की ओर बढ़ो।



कषायवान ही कसाई है

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु।।४७।।

अन्वयार्थ : यस्मात् आत्मा = क्योंकि जीव। सकषायः सन्= कषायभावों–सहित होने से। प्रथमम् आत्मना = पहले आपके ही द्वारा। आत्मानम् हन्ति = आपको घातता है। तु पश्चात् = फिर पीछे से चाहे। प्राण्यन्तराणां = अन्य जीवों की। हिंसा जायेत वा न = हिंसा होवे अथवा नहीं होवे।

हिंसायाः अविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्।। ४८।।

अन्वयार्थ : हिंसायाः अविरमणं =हिंसा से विरक्त न होना। हिंसा = हिंसा और। हिंसापरिणमनम् अपि = हिंसारूप परिणमन भी। हिंसा भवति = हिंसा होती है। तस्मात् प्रमत्तयोगे = इसलिये प्रमाद के योग में। नित्यम् = निरन्तर। प्राणव्यपरोपणं = प्राणघात का सद्भाव है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! प्रमाद (आलस्य) जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है, आत्मा की चैतन्य–ज्योति को बुझानेवाला झंझावत है। हमारे देखते–देखते आदिनाथ स्वामी भगवान् बन गये, अनंत चौबीसियाँ निकल चुकी हैं, परन्तु हम सोचते ही रहे कि काललब्धि आयेगी, सो वह काललब्धि आज तक नहीं आ सकी। हम होनहार पर बैठे रहे, होनहार ऐसी हो गई कि पंचमकाल के मनुष्य बनना पड़ा। मनीषियो! परमार्थदृष्टि से देखो तो तुम परमात्मा बन सकते थे, लेकिन प्रमाद ने, आलस्य ने अनुत्साह ने आपको आगे बढ़ने ही नहीं दिया।

भो ज्ञानी! आवश्यकता भोजन की नहीं, भूख की है। भूख होती है, तो भोजन की खोज हो जाती है। भूख नहीं होती है, तो भोजन रखा भी होता है, तो भी कुछ ऐसे प्रमादी होते हैं कि भूखे रह लेते हैं। कहते हैं– समय नहीं मिला। माँ जिनवाणी कह रही है–बेटा! यह रत्नयत्र का पाथेय तुझे रख रही हूँ, तू उसे सेवन कर लेना। लेकिन जीव ऐसा प्रमादी है कि अनंत भव की यात्रायें निकल गई लेकिन आज तक इसने रत्नत्रय के पाथेय को खोलकर ही नहीं देखा। आचार्य पूज्यपाद स्वामी, उमास्वामी, अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं किप्रमाद ही हिंसा है। ध्यान से समझना, कुछ लोगों को तो मनुष्य–पर्याय तक का ज्ञान नहीं, कि मैं मनुष्य हूँ; कि तिर्यंच हूँ, क्योंकि बेचारे दिन–भर कमाते हैं और शाम को आकर सो जाते हैं। मालूम ही नहीं है कि मनुष्य–पर्याय में और क्या होता है। अहो! आप इसलिए महान नहीं हो कि भोजन कर लेते हो, संतान को जन्म दे देते हो, सो जाते हो और परिग्रह का संचय कर लेते हो। हे मानव! तू इसलिए महान है कि तुझमें महाव्रत को धारण करने की क्षमता है। आहार,



मैथुन, परिग्रह और भय यह चार संज्ञायें संसार के प्रत्येक जीव में (एक इन्द्रिय जीव में भी) होती हैं। आपके पास एकमात्र रत्नत्रय–धर्म विशेष है। यदि उसे भी स्वीकार नहीं कर पा रहे, तो ध्यान रखना, आप खेत में सुरक्षा करने वाले उस मनुष्य के पुतले के तुल्य ही हो जिसे आप बिजूका कहते हो।

भो ज्ञानी आत्माओ! रत्नत्रयधर्म की प्राप्ति के लिए पूर्व में आपने कितने पुरुषार्थ किये होंगे? कषाय की मंदता, भावों की ऋजुता, मार्दव परिणाम कर लिये थे, सो मनुष्य बन गये। भो ज्ञानी! अब क्यों भूल रहे हो ? बनिया के बेटे हो, जितना लाये थे उतना तो लेकर जाना। कहीं तुम मनुष्य से मनुष्य भी नहीं बन पाये, तो ध्यान रखना, आप अपनी ही जाति को बदनाम कर दोगे। उमा स्वामी महाराज ने कहा है कि जिसके स्वभाव में मार्दवपना है, यह मनुष्य है और यदि स्वभाव मार्दव नहीं है, तो यह चर्म मनुष्य की अवश्य है, पर धर्म मनुष्य का नहीं। ईर्ष्या, ग्लानि के भाव यदि आ रहे तो मनुष्य नहीं है; क्योंकि दूसरों को गिराने के, दूसरे को पटकने के, दूसरे को मारने के भाव नर में नहीं, नारकियों में होते हैं। इसलिए ध्यान रखना, नर बन जाना कठिन नहीं हैं, पर नर बनकर रहना बहुत कठिन है। आप नर बन गये हो, नारकी बनने के लिए नहीं, नरोत्तम बनने के लिए बने हो; अरिहंतआत्मा ही नरोत्तम हैं, वे नर से ही बने हैं और आप भी नरोत्तम तभी बनोगे, जब प्रमाद छूट जायेगा।

भो ज्ञानी! जिस जीव की होनहार न्यून होती है, उसकी सोच भी भिन्न होती है। जिस जीव के अशुभ दिन आना होते हैं, उस जीव के विचारों में ही हीनता नहीं, आचरण में भी हीनता प्रारम्भ हो जाती है और उसके भोजन में भी हीनता आने लगती है। 'कुंदकुंद स्वामी' ने 'समयसार जी के सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में लिखा है–

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइदूण सत्थाणि।
गुडदुद्धंपि पिबंता, ण पण्णया णिव्विसा होंति।। ३४०।।

गुड़ से मिश्रित दूध पिलाइये, लेकिन विषधर को निर्विष नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार अशुभ आयु का बंध जिसने कर लिया है, तीर्थंकर प्रभु की सामर्थ्य नहीं कि उसे टाल सकें। अपकर्षण हो सकता है, छूट नहीं सकते।

अहो श्रावको! आरम्भी, उद्योगी, विरोधी, संकल्पी यह चार प्रकार की हिंसा हैं। इनमें संकल्पीहिंसा का त्यागी तो प्रत्येक श्रावक होता ही है। यदि संकल्पीहिंसा का भी तुम्हारा त्याग नहीं है, तो अपने आप को जैन कहना बंद कर देना। अहो! भीख मांगनेवाला भगवान् का नाम लेकर, पाप से मुक्त होकर चला जायेगा, लेकिन भवनों में रहनेवाली आत्माओ! हिंसा का उपदेश करके तुम कभी भी संसार से पार नहीं हो सकते। हमारे आचार्य ने तो यहाँ तक लिख दिया कि हम चेटी (दासी) के पुत्र बन सकते हैं पर, हे नाथ! चक्रवर्ती के वैभव को प्राप्त कर मैं मिथ्यात्व की उपासना नहीं करना चाहता, असंयम की उपासना नहीं करना चाहता, क्योंकि चेटी का पुत्र चेटी का पुत्र तो है, पर पापी का पुत्र नहीं। लोग उसे गरीब की दृष्टि से तो देख सकते हैं, पर पापी की दृष्टि से नहीं देखते। इसी प्रकार से भीख माँगकर शुद्ध भोजन कर लेना अच्छा है, परन्तु अनंत जीवों का घात करके पकवान्न खाना अच्छा नहीं।



भो ज्ञानी! आप ब्याज का खाते हो। बेचारे गरीब रो रहे हैं, उनके पुत्र भूखे मर रहे हैं, पर तुम्हें कोई करुणा नहीं होती है। अहो! ब्याज खानेवाली आत्माओ! आज तनिक सोच लेना, यह सब प्रमाद चल रहा है। मुर्गीपालन, मछलीपालन जैसे अशुभ कृत्यों में तुम्हारा धन जा रहा है, बैंक से तुम्हें ब्याज मिल रहा है, उसका परिणाम तो भोगना पड़ेगा। भो ज्ञानी आत्माओ! जिस दिन आप महावीर स्वामी की अहिंसा को समझ लोगे, उस दिन आपका जीवन कुछ और ही होगा। इसलिए ध्यान रखना, जिस कुटुम्ब में जिस जीव की परिणति आपको हिंसक झलक रही हो, उनसे सम्पर्क कम कर लेना। उनका सम्मान तो रखना, परंतु उनकी बातें इसलिए मत मान लेना कि वे वृद्ध हैं। हमारी जिनवाणी में ज्ञान–वृद्ध, चारित्र–वृद्ध, तप–वृद्ध एवं उम्र–वृद्ध का उल्लेख है। हमारे आगम में सामान्य वृद्ध की पूजा नहीं, संयम–वृद्ध की पूजा होती है। अहो! विवेक लगाना। बेटे के भाव हो रहे हैं दान देने के और पिताजी कह रहे हैं–अरे! कल क्या होगा ? इसलिए धर्म में जीने के लिए उत्साह की परम आवश्यकता है। यदि उमंग नहीं है, तो आप न श्रावकधर्म का पालन कर सकते हो और न यतिधर्म का। उत्साह तो चारित्र के प्राण हैं। जो उत्साह आपको प्रथम दिन था, वैसा ही उत्साह अंतिम दिन तक रहे, उससे बड़ा पुण्यात्मा संसार में कोई नहीं। इसलिए प्रमाद छोड़कर अब जाग जाओ। अहो! अज्ञानी सोने को ही सोना मान लेता है, परंतु ज्ञानी सोने को सोना नहीं मानता, वह तो संयम को ही सोना मानता है। आचार्य महाराज कह रहे हैं–''संयम–सोने को समझो, इस सोने को छोड़ दो।''

भो ज्ञानी! जो जीव कषाय से युक्त होता है, वह सबसे पहले अपने आत्मा से अपनी आत्मा का घात करता है। अहो! अग्नि के अंगारे को हाथ में उठाकर मारनेवाले से पूछना कि दूसरे को लगे या न लगे, परन्तु आपका हाथ तो जल ही जायेगा। ऐसे ही जिसके प्रति आप कषायभाव रख रहे हो, उस जीव का घात–अपघात उसके पाप–पुण्य पर निर्भर है, लेकिन तुम्हारा घात तो निश्चित है। हे कंस! आपने नारायण कृष्ण को मारने के लिए पूतना देवी भेजी, लेकिन वह पलायन कर गई और आप से ही बोली कि आपका पुण्य क्षीण हो चुका। इसीलिए कषाय–परिणाम जब–जब होते हैं, तब–तब स्वयं का घात होता है और जो कषाय करता है, वही सबसे बड़ा कषायी होता है, क्योंकि कषायी पर–का प्राणघात करता है, परन्तु आत्म–कषायी स्वयं के ही प्राण का घात करता है। इस कारिका में आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि आप चाहे हिंसा करो या न करो, पाप करो या न करो, लेकिन जब तक तुमने बुद्धिपूर्वक त्याग नहीं किया, तब तक आपकी हिंसा का त्याग भी नहीं है।

भो ज्ञानी! एक घटना आपको बतायें। एक मार्ग में मुनिराज और एक देशव्रती श्रावक जा रहे थे। रास्ते में घास आ गई। मुनिराज पीछे हट गये। श्रावक के मन में भाव आ गये कि हम कौन महाव्रती हैं। धीरे से निकल गया। बस, देख लो व्रत का परिणाम। देशव्रत के नाते संयम तो नहीं गया, लेकिन यह बताओ संयम का अभाव हुआ कि नहीं ? इसलिए उसका नाम व्रताव्रत/संयम–असंयम है, क्योंकि देशव्रती त्रस–हिंसा का त्यागी होता है, स्थावर–हिंसा का त्यागी नहीं होता। परन्तु यह नहीं सोच ले कि मेरा त्याग नहीं है, तो उसका बंध नहीं होगा। बंध तो उसको होगा ही, लेकिन तुम्हारे व्रत में दोष नहीं है, क्योंकि तुम्हारा इतना ही व्रत था। लेकिन बंध छूट जायें, ऐसा नहीं कहना। महाराज जी! मैं आलू नहीं खाता हूँ , प्याज भी नहीं खाता हूँ , लेकिन मैं नियम से नहीं बंधना चाहता। पूछा, क्यों ? तो बोले– कभी आवश्यकता पड़े तो। बस यही तो असंयम है। बेचारा खा नहीं रहा जीवनभर,



परंतु आस्रव चला जीवन भरा। क्यों चला ? अंदर में कषाय बैठी थी कि कभी आवश्कता पड़ जायेगी। यदि कोई नियम ले लें कि मेरा उनतीस दिन ब्रह्मचर्य व्रत है। उसका उनतीस दिन तक का व्रत तो है, पर ध्यान रखना, आपके उन दिनों में भी शंका चल रही है, तुम्हारे अन्दर कमजोरी बैठी हुई है। हिंसा में व्यक्ति का परिणमन नहीं है, पर वह हिंसा के परिणाम भी हिंसा ही हैं। जिसके प्रमाद है, नित्य ही उसकी हिंसा है। किसी जीव ने असंयम का सेवन नहीं किया, परंतु असंयम सेवन का भी त्याग नहीं किया, इसलिए उसके नियम से हिंसा का दोष लग रहा है, जैसे कि आप रात्रि भोजन नहीं करते हो, परन्तु त्याग नहीं है। अब क्या होगा ?

दो व्यक्ति गये मेहमानी पर। एक रात्रिभोजन का त्यागी था और दूसरा रात्रिभोजन करता नहीं था। दोनों के सामने रात्रि हो गई। दोनों के सामने बढ़िया दुग्ध का गिलास आ गया और कहा कि आपका रात्रिभोजन त्याग है ? हाँ। अब देखना दोनों के परिणामों को। पहला तो यह सोचता है कि इन्हें त्याग बघारना है और हम बीच में फँस जायेंगे। कहाँ से कहाँ फँस गये। अब ये तो लेंगे नहीं, अपन को बीच में छोड़ना पड़ेगा। जिसका त्याग था, वो कहता है–देखो भइया! मैं रात्रि में पानी भी नहीं पीता हूँ। कितनी दबंगता से आवाज निकल रही थी। अब दूसरा क्या सोचता है कि त्याग तो अपना है नहीं और भोजन हो नहीं पाये, तो अब रात्रि भर चूहे लोटेंगे। इसलिये बोले–नहीं पीना, नहीं पीना। और हाथ पकड़ लिया। मालूम पड़ा कि वह पी गया। दोनों कमरे में पहुँचे। बोले–क्यों, आप तो पीते नहीं थे? अब क्या करूँ?वास्तव में पीता तो नहीं था। यानि नियम नहीं था, तो असंयम में गिर गया। इसलिए, ज्ञानियो! ध्यान रखना, चाहे आप एक दिन का नियम लो, पर नियम के संस्कार डालना शुरू कर दो, भले एक घण्टे का लो। भो ज्ञानी! छोटे–छोटे नियम लेते रहोगे तो एक दिन संयमी बन जाओगे, महाव्रती बन जाओगे। इसलिए अपने जीवन में अव्रत के साथ जीना उचित नहीं है, व्रती बनकर ही जिओ।





निश्चयाभास से मोक्ष की असिद्धि

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या।। ४९।।

अन्वनार्थ : खलु = निश्चय कर। पुंसः = आत्मा के। परवस्तुनिबन्धना = परवस्तु का है कारण जिसमें ऐसी। सूक्ष्महिंसा अपि = सूक्ष्म हिंसा भी। न भवति = नहीं होती है तदपि = तो भी। परिणामविशुद्धये = परिणामों की निर्मलता के लिये। हिंसायतननिवृत्तिः = हिंसा के आयतन परिग्रहादिकों का त्याग। कार्या = करना उचित है।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः।।५०।।

अन्वनार्थ : यः = जो जीव। निश्चयम् = यथार्थ निश्चय के स्वरूप को। अबुध्यमानः = नहीं जानकर। तमेव = उसको ही (अंतरंग हिंसा को ही हिंसा का)। निश्चयतः = निश्चय श्रद्धान से। संश्रयते = अंगीकार करता है। स बालः = वह मूर्ख। बहिः करणालसः = बाह्य क्रिया में आलसी है। करणचरणं = बाह्य–क्रियारूप आचरण को। नाशयति = नष्ट करता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! भगवान् तीर्थेश महावीरस्वामी की देशना को आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने विषयसुख का विरेचन करनेवाली परम औषधि कहा है। अहो ज्ञानियो! जड़–देह को जड़–ओषधियों ने बहुत ठीक किया, लेकिन चैतन्य को शुद्ध करनेवाली कोई परम औषधि है तो वह वीतराग जिनेन्द्र–की–वाणी है। शरीर को स्वस्थ्य करने के लिए पानीवाली दवाई मुख से पान की जाती है, परंतु चैतन्य को सुख देनेवाली ओषधि कर्ण–अंजुली से पान की जाती है। "पद्मप्रममल धारि देव" ने "नियमसार जी" में, जिनेन्द्र की देशना को पान करने के लिए कर्ण–अंजुली बनाने का आदेश दिया है। उसी देशना को एकाग्रचित्त से हम सुन रहे हैं। संसार के सभी वचन स्वार्थ से भरे होते हैं। मात्र जिनदेव के वचन ही ऐसे हैं जिनमें स्वार्थ की गंध भी नहीं, कोई अपेक्षा भी नहीं। यह अनमोल वाणी है। अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि उस जिनेन्द्र की वाणी में परम वीतरागता को प्रकट करनेवाली अहिंसाधर्म की वह पवित्र सीख प्रकट हुई है कि जिसको आपने समझ लिया तो समझ लो कि जीवन में आपने सबकुछ सीख लिया।

भो ज्ञानी! जब कषाय से युक्त परिणाम होते हैं तो नेत्र रक्तवर्ण हो जाते हैं, शरीर कम्पायमान हो जाता है। जिसका बाह्य वातावरण ऐसा है, तो अंदर की लालिमा कैसी होगी? कषायी व्यक्ति का शरीर काँपता है। मद्यपायी में और कषायी में विशेष अंतर नहीं होता। वह भी काँपता है, यह भी काँपता है। उसके भी नेत्र लाल हो जाते हैं, इसके भी नेत्र लाल हो जाते हैं। हेय व उपादेय का



विवेक मद्यपायी एवं कषायी दोनों के नहीं होता। कितने ही घर, नगर उजड़ गये इस कषाय की महिमा से। कितने जीव अपनी पर्याय को छोड़कर चले गये और कितनी पर्याय को छुड़ाकर चले गये। भो चेतन्य!

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं वेंति।। २८२।।
सम्मत्त देससयलचरित्तजहक्खादचरण परिणामे।
घादंति वा कषाया चउसोलअसंखलोगमिदा।। २८३ गो.जी.का.।।

जो आत्मा को कसे, उसका नाम कषाय है। जिससे आत्मा तप्त हो, उसका नाम कषाय है! जो यथाख्यातधर्म का घात कर रही है, उसे शुभ कैसे कहें? वह चारों ही अशुभ हैं। चारों चतुर्गति –रूप–संसार में घुमा रही हैं। अंतर इतना है कि तीव्र–कषाय में तीव्र संक्लेषता होती है, मंद–कषाय में मध्यम संक्लेषता होती है। कषायभाव ही लेश्या के जनक होते हैं और जैसे ही लेश्या की परिणति बनती है; वैसे ही तेरी आयु–बंध की व्यवस्था होती है। जैसे ही आयु–बंध की व्यवस्था होती है, वैसी ही गति में तेरा गमन होता है। जैसे मति, वैसी ही गति का परिणाम भोगना पड़ता है। इसीलिए आपको जिस गति की व्यवस्था करना हो, कर सकते हो।

भो चेतन! जिस गति में जाना, उस गति के परिणामों–के–पड़ोसी का ख्याल जरूर रख लेना। गति का पड़ोसी कषाय है। जब तक कषाय के पड़ोसी रहोगे, तब तक तुम कहीं शांति से नहीं रह सकोगे। चाहे आप असंयमी के बीच में रहना, चाहे संयमी के बीच में रहना, परंतु कषाय तो आपको ही बदलना होगी। कषायी जीव अपनी ही आत्मा का घात करता है। यदि तेरे अन्दर विभाव–परिणति न बने तो, भो ज्ञानी! तुझे कोई भी गुस्सा नहीं दिला सकता। उपादान में कमी है तो चींटी पर भी गुस्सा करता है। वो तो अज्ञानी थी, पर उस चींटी पर तुम हाथी–जैसा क्रोध कर रहे हो। भो ज्ञानी! जो शक्ति तुझे सिद्ध बनने में लगाना चाहिए, वह उस छोटी–सी चींटी को मारने में नष्ट कर दी। मोह–राजा को जीतने के लिए अपनी सत्ता की शक्ति को भूलकर तू कहाँ लिप्त हो रहा है ? इसीलिए ध्यान रखना, किसी से तुम्हारा कुछ हो भी गया हो तो अंदर से निकाल देना, क्योंकि घात उसका नहीं, घात आपका है।

हे पर्ण! तू वृक्ष से नाराज मत हो। तू वृक्ष से गुस्सा होकर उसका कुछ नहीं कर पायेगा। वृक्ष तो आकाश में खड़ा है, खड़ा ही रहेगा, लेकिन पतन तुम्हारा ही होगा। शांति से रहो, अन्यथा नीचे गिर जाओगे, फिर लगनेवाले नहीं हो। वृक्ष में तो अनेक पत्र आ जायेंगे, लेकिन, हे पत्र! तू वृक्ष पर पुनः नहीं लग पायेगा। अहो ज्ञानी! ऐसे ही तू पंचपरमेष्ठी व वीतरागधर्म को छोड़कर मत चले जाना, अन्यथा तुम्हारा पतन हो जायेगा, वीतरागधर्म को माननेवाले तो अनेक आ जायेंगे। यह मार्ग नष्ट नहीं होगा। कषायी–जीव मोक्षमार्ग को देखकर परस्पर में उलझ–उलझकर नीचे गिर जाते हैं। परंतु मोक्षमार्ग के वृक्ष को आँच आने वाली नहीं है। ध्यान रखना, यह शाश्वत वृक्ष है। वनस्पतिकायिक नहीं है, पृथ्वीकायिक नहीं है, यह रत्नत्रय का द्रुम है। इस मोक्षमार्ग के वृक्ष की डाली–डाली पर मुनिरूपी–खग जिनेन्द्र की देशना को कंठ से उच्चारण कर रहे हैं। मोक्षमार्ग के वृक्ष की डाली पर बैठकर वे उस परमहंस



को देख रहे हैं। हे पक्षी! तू पुनः वृक्ष पर ही बैठ जा, अन्यथा जमीन पर तो तुझे कोई भी स्वान उठा ले जायेगा, कोई बहेलिया बाण मार देगा। जाओ, जाकर वृक्ष की डालियों में छुप जाओ, तुम्हारी रक्षा हो जायेगी। भो ज्ञानी आत्माओ! तुम रत्नत्रय के वृक्ष की डाली पर जाकर बैठ जाओ, कर्म–बहेलिया से तेरी रक्षा हो जायेगी। कर्म का बहेलिया तो कहता है कि तुम कषाय के परिणाम करो और हमने तुमको पकड़ा। इसीलिए अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि पर की ही अहिंसा नहीं, अहिंसा स्वयं की भी करो। पर की रक्षा तो करना, परन्तु पर–की रक्षा के पीछे अपने परिणाम खराब नहीं करना। जिन–शासन श्रमण–संस्कृति यह नहीं कहती कि पर की रक्षा के पीछे दूसरों का घात कर दो। फिर रक्षा हुई कहाँ ? भो चैतन्य! दोनों की ही रक्षा करो। जो दोनों की रक्षा कर रहा है, उसका नाम मुमुक्षु है।

इंद्रियों से भी आत्मा का घात हो रहा है। इंद्रियों की भी रक्षा करो और इन्द्रियों से भी रक्षा करो। इन्द्रियों की रक्षा नहीं करोगे तो आप भगवान् नहीं बन पाओगे और इन्द्रियों से रक्षा नहीं करोगे तो भी आप भगवान् नहीं बन पाओगे। भो ज्ञानी! पंचेन्द्रिय का ही निर्वाण होता है। इन्द्रियाँ विकल हो जायेंगी तो सल्लेखना के काल में जिनवाणी कौन सुन पायेगा ? यदि नेत्र काम करना बंद कर देंगे तो तू ईर्यापथ का शोधन किससे करेगा ? पैर काम नहीं करेंगे, तो जिनदेव की वंदना कैसे करोगे ? हाथ काम नहीं करेंगे तो निर्ग्रंथों के हाथ पर ग्रास कैसे रखोगे ? इसीलिए, भो ज्ञानी! जिनशासन में इन्द्रियों का नाश नहीं कराया, इन्द्रियों के नाश करने को जितेन्द्रिय नहीं कहा, इन्द्रियों के विषयों का दास न–बनने को जितेन्द्रिय कहा है। इन्द्रियों के दास बनना तो भोगी का भाव है और इन्द्रियों के स्वामी बनने का भाव योगी–भाव है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, वे हिंसक ही हैं। जितेन्द्रिय ही अहिंसक है।

भो मुमुक्षु आत्माओ! जिसके पास अहिंसाधर्म ही नहीं, उसके पास सहानुभूति कहाँ ? और जिसके पास सहानुभूति नहीं, उसके पास स्वानुभूति कहाँ ? तुम करोड़ों दान दो या न दो, लेकिन इतना करना कि अवश्य किसी तड़फते हुये ग़रीब को सहानुभूति दे देना। इसमें क्या खर्च हो रहा आपका? ओहो! धन के दानी करोड़ों हैं, परंतु सहानुभूति न–देनेवाले दरिद्रियों की संख्या करोड़ों में नहीं अरबों–खरबों में है। इतनी दरिद्रता छा चुकी है कि संवेदी–भाव नहीं आ रहा है, संवेदनायें नष्ट हो रही हैं। मनुष्य के टुकड़े होते देख रहे हैं और मुख में ग्रास दबाये जा रहे हो। कम से कम भोजन करते–करते तुम टेलीविजन तो मत देखना। भो ज्ञानी! जीवों का घात आँखों से देखते हुये भोजन तो नहीं करना। आपके आगम में उस स्थान का नाम चौका है। जहाँ मन की शुद्धि हो, वचन की शुद्धि हो, शरीर की शुद्धि हो और भोजन की शुद्धि हो, क्षेत्र–शुद्धि है, भाव–शुद्धि है तो अन्तरंग में विशुद्धि है। देखो, क्षेत्रों का कैसा प्रभाव पड़ता है? क्रूर क्षेत्र में एक माँ और बेटे का झगड़ा हुआ। माँ ने बेटे के दो टुकड़े कर दिये, क्योंकि क्रूर–वर्गणाएँ उस क्षेत्र में फैली हुईं थीं, इसीलिए माँ को संवेदना नहीं थी। जब आप भोजन कर रहे हो, चित्र सामने आ रहे हैं–यह मारा, वह मारा, तब भोजन के साथ–साथ वे वर्गणाएँ भी तुम्हारे अंदर प्रवेश कर जाती हैं और फिर बेटा माँ को माँ नहीं कह पाता, माँ बेटे को बेटा नहीं कह पाती है, क्योंकि तुम्हारी संवेदनाएँ मर चुकीं हैं सप्तव्यसन के डिब्बे के सामने बैठकर। भो ज्ञानी आत्माओ! आज विवेक से सोचकर जाना, टेलीविजन को देखते–देखते भोजन नहीं करना। कम–से–कम भोजन का स्वाद तो आता रहेगा, अन्यथा पता ही नहीं चलता कि चित्र का स्वाद ले रहे हैं या भोजन का, क्योंकि एक समय में एक ही उपयोग होता है। फिर झुंझलाते हो घर में, कि



खा तो सब गये, पर स्वाद नहीं आया। देखो, प्रेम की गंगा बहेगी। बस, कुछ नहीं करना। किसी को हटाना नहीं, बस हट जाओ।

भो ज्ञानी! जो पर को हटाकर संत बनना चाहता है, वह हठी तो बन सकता है, पर संत नहीं बन सकता। पर को हटाकर साधु नहीं बना जाता है, पर से हटकर ही साधु बना जाता है। मुमुक्षु हटकर ही रहता है। ज्ञानी भगाता नहीं, भाग जाता है, वो ही भगवान् होता है। यदि वास्तव में भगवान् बनना है, तो हिंसा से भाग जाओ, और अहिंसा की ओर चले जाओ। हे मुमुक्षु आत्माओ! दृष्टि को निर्मल करके सुनना। जो निश्चय मात्र को मानकर बैठा है, वह जिन–शासन का शत्रु है। जो व्यवहार मात्र को मानकर बैठा है, वह भी जिन–शासन का शत्रु है। अमृतचन्द्र स्वामी पचासवीं कारिका/गाथा में कह रहे हैं कि जो यह कहता हैं कि मैं तो निजानंद–रस में लवलीन हूँ, यह वाह्य चर्या तो पाखण्ड है, ढोंग है। भो ज्ञानी! तू छद्मवेषी है। ढोंग करके अपनी आत्मा से छल मत कर। अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि तुम पापों से व अशुभ परिणति से डरो। तुझे कर्मों से डर नहीं, क्योंकि कर्म द्वेषी, पापी को पकड़ते हैं, परंतु हमने पापों को ही पकड़कर पटक दिया है। अरे! निश्चय व व्यवहार दोनों के माध्यम से ही मोक्ष है। इसीलिए विवेक लगाकर चलना। पक्षों में धर्म नहीं, पंथों में धर्म नहीं, धर्म आत्मा का गुण है। जिसने इसे समझ लिया, उसे कुछ भी समझने की आवश्यकता नहीं। जब तक विषयातीत नहीं हो रहा, तब तक नयातीत होनेवाला नहीं है।

भो ज्ञानी आत्माओ! आत्मा सूक्ष्म–हिंसक भी नहीं है। कथंचित् निश्चय से आत्मा त्रैकालिक ध्रुव शुद्ध है। इसीलिए हिंसक–भाव शुद्ध आत्मा की अवस्था नहीं है, अशुद्ध आत्मा की दशा है। लेकिन परिग्रह के संयोग से हिंसा होती है। इसीलिए जो हिंसा के आयतन हैं उनको छोड़ दोगे तो हिंसा छूट जायेगी। हिंसा के आयतनों से निवृत्ति करके परिग्रह आदि का त्याग करना उचित है परिणामों की विशुद्धि के लिए। परिग्रह रहे और परिणाम विशुद्ध हो जायें–यह त्रैकालिक संभव नहीं है।

भो ज्ञानी! आप अध्यात्म को खूब समझो, लेकिन अध्यात्म समझना भिन्न है और अध्यात्म को चखना भिन्न है। अध्यात्म की भाषा भिन्न है और अध्यात्म–भाव भिन्न है। भो ज्ञानी! भाषा में अध्यात्म का आनन्द लूट रहे हो ? अरे! जिसकी भाषा इतनी निर्मल है, उसके भाव कितने निर्मल होंगे? भो चैतन्य! वाह्य आचरण का नाश कर रहा है, भक्ष्य–अभक्ष्य का विवेक नहीं, हेय–उपादेय का विवेक नहीं, रात्रि में पानी पी रहा, भोजन कर रहा है, और कहता है कि पुद्गल का परिणमन पुद्गल में चल रहा है, कितनी बड़ी विडम्बना है? यह तो मिथ्यात्व है। 'पुद्गल का परिणमन' कहना तब सत्य है, जब तेरे सिर के ऊपर कोई सिगड़ी रख दे। फिर स्वभाव में चले जाना, वहाँ कहना कि मेरा कुछ नहीं है, यह पुद्गल का परिणमन पुद्गल में है। इसीलिए, भो ज्ञानी! स्वरूप की दृष्टि को भोगों में मत लगाना। इतना ध्यान रखना कि जो भूल रहा है, वह भी अपना ही बंधु है, वह भी भटकता भगवान् है। उससे भी द्वेष मत करना।



परिणति से हिंसा/अहिंसा

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात्।। ५१।।

अन्वयार्थः हि = निश्चयकर। एकः हिंसा अविधाय अपि = एक जीव हिंसा को नहीं करके भी। हिंसाफलभाजनं भवति = हिंसा के फल का भोगने का पात्र होता है। अपरः = दूसरा। हिंसा कृत्वा अपि = हिंसा करके भी। हिंसाफलभाजनं = हिंसा के फल को भोगने का पात्र। न स्यात् = नहीं होता है।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके।।५२।।

अन्वयार्थः एकस्य = एक जीव को। अल्पा हिंसा = थोड़ी हिंसा। काले = उदयकाल में। अनल्पम् फलम् ददाति =बहुत फल को देती है। अन्यस्य = दूसरे जीव को। महाहिंसा = बड़ी भारी हिंसा भी। परिपाके = उदय समय में। स्वल्पफला भवति = बिल्कुल थोड़े फल को देनेवाली होती है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की पावन देशना हम सभी सुन रहे हैं कि हिंसा वहीं है, जहाँ हिंसा के साधन हैं। जब तक तुम्हारे घर में अंतरंग साधन (कषाय परिणाम) और बहिरंग साधन (बाहरी परिग्रह) तथा हिंसा के आयतन होंगे, तब तक अहिंसाभाव नहीं होगा। आप किसी से झगड़ो या न झगड़ो, परंतु लड़ाई के साधन घर में नहीं रखना। आप शत्रु से अपने परिवार की रक्षा के लिए घर में अस्त्र रखकर कहते हो कि इससे मेरी रक्षा होगी। अरे! यदि पुण्य का अस्त्र तेरे घर में है तो शत्रु का चक्र भी तेरे काम में नहीं आयेगा।

अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि हिंसा के साधनों को आप घर में इसलिए रखे हो कि मेरी रक्षा होगी। घर ध्यान रखो, वही अस्त्र तेरे लिए मृत्यु का कारण भी हो सकता है। इसलिए घर में ऐसे उपकरण भी मत रखो। पुराने लोग कहते हैं कि जब बनिये को गुस्सा आती है तो वह गड़ी हुई ईंट उखाड़ता है, गड़ा पत्थर उखाड़ता है; क्योंकि जब तक पत्थर उखाड़ेगा तब तक सामने वाला भाग जायेगा और उधर तुम्हारा क्रोध भी भाग जायेगा, फलतः दोनों की रक्षा हो गयी। यदि घर में अस्त्र रख लिया और आवश्यकता नहीं थी अस्त्र को चलाने की, फिर भी आपने चला दिया, इसलिए आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने कह दिया कि परिग्रह को छोड़ो, कषायभावों को छोड़ो, जिससे कि अहिंसा का परिणमन हो। यदि आपने यह मान लिया कि मैं तो निश्चय स्वभावी हूँ , तो बाहरी चारित्र का लोप हो जायेगा और यदि आपने यह कहा कि मैं तो विभाव में ही जीता हूँ, तो निश्चय –संयम का लोप



हो जायेगा। जबकि दोनों ही मार्ग हैं। आज आप विश्वास करके जाना कि अस्त्र–शस्त्र भी रक्षा के साधन नहीं हैं। अस्त्र–शस्त्रों से कोई सुरक्षित या स्वतंत्र नहीं होता। अस्त्र–शस्त्रों से किसी की रक्षा नहीं होती है। यदि स्वतंत्रता की प्राप्ति अस्त्रों से ही होती तो गांधीजी को भगवान् महावीर के अहिंसा–चक्र की क्या आवश्यकता थी?

भो ज्ञानी! अहिंसा के अस्त्र से भारत स्वतंत्र हुआ है। यदि देह से तू स्वतंत्र होना चाहता है तो अहिंसा महाव्रत को ही स्वीकार कर। देश तो गोरों से स्वतंत्र हुआ, तुम 'गोरे' से स्वतंत्र हो जाओ। वास्तव में आप इन गोरे शरीरों से परतंत्र हो। चर्म को देखकर अचर्म धर्म को भूल रहे हो। चमड़ी को देखकर ही तो आप संसार में रम रहे हो। हंस–आत्मा निकल जाती है तो उस मुर्दे का स्पर्श करके सूतक मानता है। अतः, शरीर को पहले से ही मुर्दा मानो। शरीर पवित्र नहीं है, पवित्र तो हंस–आत्मा ही है। इसलिए तू इस तन को मुर्दा मानकर ही चल, तो तेरे संयम का मुर्दा–भाव नाश हो जाएगा। अन्यथा तन को जीवित देखकर संयम मर जाता है। यह शरीर की दशा है। भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है कि यदि तुम्हें अपने देश, परिवार और समाज को सुरक्षित रखना है तो तुम अणुबम की रचना मत करो, तुम तो अणुव्रतों को स्वीकार करना शुरू कर दो। श्रमण–संस्कृति का सूत्र है कि अणुव्रती बन जाओगे तो अपने–आप आपकी कषाय मंद हो जाएगी।

भो ज्ञानी! हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील को पाप कह लेते हो, पर देखो संसार की दशा; सबसे बड़े पाप 'परिग्रह' के धारी को देखकर लोग पुण्य–आत्मा कहते हैं। सबसे बड़ा पाप है परिग्रह। इस सूत्र को अपने दरवाजे के ऊपर लिख देना।

यदि पाप निरोधोऽन्यसंपदा किं प्रयोजनम्
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनम्।।२७/र.क.श्रा.।।

यदि पाप का निरोध है तो, संपदा से क्या प्रयोजन ? कमा भी लोगे तो, पानी की तरह बह जायेगा। यदि पुण्यास्रव चल रहा है तो तुम नहीं भी कमाओगे तो भी छप्पर फाड़ के आयेगा। देखो, धन्यकुमार ने मुठिया पर हाथ लगाया, तो मणियों का घड़ा निकल पड़ा। वहीं 'अकृत–पुण्य' की पर्याय में सोने में हाथ लगाते ही मिट्टी हो गया था। इसलिए अमृतचंद्र स्वामी ने सूत्र दिया है कि हिंसा के आयतन अर्थात् हिंसा के साधन होंगे तो वैसे परिणाम भी बनेंगे। पता चला कि कौरव व पाण्डव भाई–भाई आपस में लड़कर मर गये। यदि आप जिनवाणी पर श्रद्धा रखते हो तो आप लोग विश्वास रखना, शत्रु के घर में भी आपको बचानेवाला मित्र मिलेगा। वहाँ भी लोग कहेंगे कि इसको छोड़ दो। लुटेरे लूट भी ले जायेंगे तो वह भी तुम्हारे घर में वापस आ जायेगा। ऐसा आपको विश्वास होना चाहिये। पंडित बनारसीदास जी के घर में चोर ने इतना चांदी–सोना चुराया कि बेचारे से उठाते नहीं बना। धन्य हो उस सेठ विद्वान् की क्षमता और समता को जो कि वह विचारने लगे कि, अरे! यह पुद्गल का परिणमन ही तो है। मेरे घर में रखा था, अब इसके घर में रखा जायेगा। न इसको इसे खाना है, न मेरे को। पेट तो सोने से नहीं, रोटी से ही भरेगा। अतः पोटली उठाकर उस विद्वान् ने चोर के सिर पर रख दी। चोर घर जाकर माँ से कहता है, माँ! आज अनोखे व्यक्ति के यहाँ से चोरी करके आया हूँ। इतना सोना–चांदी लाया हूँ कि उस पागल ने अपने हाथ से पोटली मेरे सिर पर



रख दी। माँ समझ गयी, बोली–बेटा! लगता है तुम पंडित बनारसीदास के घर पहुँच गये। ऐसे विद्वान् के घर चोरी करते हो, तुम्हें शर्म नहीं लगती? माँ के समझाने से बेटे के भाव बदल गये और उलटे पाँव चल दिये पंडितजी साहब के घर। बोला; माँ ने हमे डाँटा है, अतः आपका धन आप ही रख लो। वह धन नहीं, सम्पत्ति थी।

भो ज्ञानी! धन और सम्पत्ति में बहुत अंतर होता है। ज्ञानी सम्यक्दृष्टि, मुमुक्षु जीव यदि गृहस्थ होता है तो आजीवका के लिए वह धन नहीं, सम्पत्ति कमाता है। अतः जो समीचीन रूप से धन का अर्जन किया जाता है, उसका नाम सम्पत्ति है और जो मायाचार–भ्रष्टाचार से कमा रहा है, वह तो धन ही है, जो स्वयं को संसार में धर देता है। इसलिए ध्यान रखो, सम्पत्ति तो आपके लिए समीचीन हो सकती है, लेकिन विपत्ति में डालकर सम्पत्ति कभी सम्पत्ति नहीं हो सकती। कर लो इसका सदुपयोग, अन्यथा ध्यान रखना कि चक्रवर्ती की मृत्यु या चक्रवर्ती के संयम लेने के बाद वे चौदह रत्न व नौ निधियाँ विलय को प्राप्त हो जाती हैं। इसलिए यह भूल जाना कि मेरे घर में बहुत है। पुण्य चला जायेगा तो घर तो वहीं रहेगा, पर सामग्री नहीं रहती। अतः, चिंता में मत बैठ जाना। सभी द्रव्य स्वतंत्र हैं, सबकी अवस्था स्वतंत्र है, सबका पुण्य स्वतंत्र है, सबका पाप स्वतंत्र है और सबका विपाक भी स्वतंत्र है।

भो ज्ञानी! हम आपका सिर दबा देंगे, परंतु हम आपके सिर के दर्द को नहीं दबा पाएँगे। जिसका जैसा विपाक होगा, उसे ही भोगना पड़ेगा। अतः विपाक–काल में ही संभलने की आवश्यकता है। कोई भी व्यक्ति जीवन को संभालने के लिए भाषण दे सकता है। गाड़ी पर नहीं बैठनेवाला भी बहुत व्याख्यान दे सकता है कि ऐसे चलाना चाहिये,व ऐसे मोड़ना चाहिये; परंतु जब भीड़ में चलाने का अवसर आ जाए कि कैसे क्या करना है, तभी आप कुशल चालक हो। मनीषियो! ताला लगाना परिवार में अविश्वास का प्रतीक है। एक सज्जन के बैग में चार–हजार रुपए रखे थे और उसमें ताला पड़ा था, पर होनहार देखो, वे आहार के लिए आये और उधर चुरानेवाले ने बैग नहीं चुराया, ताला नहीं तोड़ा, धीरे से ब्लेड से बैग काटा और पैसे निकालकर ले गया। अब तुम रखे रहो बैग, खोलते रहो ताला। इसलिए कुछ भी कहो, परस्पर के अविश्वास का प्रतीक यह ताला है। आप उसे सुरक्षा मात्र की दृष्टि से देखा। आगम यह कहेगा कि जब तक तेरा पुण्य है, तब तक कोई नहीं चुरा सकता है। जीव कर्मक्षेत्र में होनहार नहीं लगाता, धर्मक्षेत्र में लगाता है कि, महाराज जी! जब काललब्धि आयेगी तो मैं मुनिराज बन जाऊँगा। भइया! जिस दिन काललब्धि आयेगी तो चोरी होगी और जब काललब्धि नहीं आयेगी तो चोरी नहीं होगी। परंतु घर में छोटे से ताले से झलकता है कि परस्पर में सास–बहू, बेटा–पिता पर विश्वास नहीं है। देखो, भगवान् महावीर के शासन में गाय व सिंहनी एक ही घाट पर पानी पी रहे हैं। सिंहनी का बच्चा गाय का और गाय का बच्चा सिंहनी का दुग्धपान कर रहा है। परंतु आज एक माँ के दो लाल एक आँचल पर एक साथ दुग्धपान नहीं करते हैं। ''फैले प्रेम परस्पर जग में, मोह दूर ही रहा करे''।

मनीषियो! प्रेम तभी फैलेगा, जब मोह दूर रहेगा। यदि प्रेम का अस्त्र होगा तो शत्रु भी गले लगेगा। इस सूत्र को स्वीकार किया था राम ने, इसीलिए लंका में विभीषण भैया मिल गये। जंगल में मात्र तीन गये थे, परंतु पूरी सेना की भीड़ लग गयी; क्योंकि 'फैले प्रेम परस्पर जग में' बस, इतना सीख



लिया था। मैं समझता हूँ कि 'षट्खण्डागम', 'समयसार' तो बाद की बात है, पहले 'मेरी भावना' का स्वाध्याय हो गया तो समयसार, षट्खंडागम, धवला जी यह सब अंदर में आनंद देने लगेंगे और जब तक परस्पर में प्रेम नहीं है तो वे ग्रंथ भी आपके लिये सग्रंथता का कारण बन जाएँगे। यदि आप सोचोगे कि मैं बड़ा विद्वान् हूँ, तो पहले मुझे सम्मान मिलना चाहिये। आगम तो आपसे कह रहा है कि न सिद्ध छोटे हैं, न बड़े हैं। निगोदिया न छोटे हैं, न बड़े। अनेक में एक मिलानवाले मात्र दो स्थान हैं–संसार में निगोद और परमार्थ में सिद्धशिला। पर दोनों के प्राप्ति की प्रक्रिया में अंतर है; क्योंकि एक पुरुषार्थ साध्य है और दुसरा सहज है।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने अहिंसा व हिंसा के भेद गिनाए हैं। जीव की अंतरंग दृष्टि को कैसे भावों से रखा है। एक जीव ने हिंसा न करके भी हिंसा के फल को भोगा और एक जीव के द्वारा हिंसा हुई, फिर भी हिंसा के फल को नहीं भोग रहा है। हाथों से हिंसा तो नहीं हुई, पर संक्लेषित भावों से बैठा–बैठा यह कह रहा है कि इन्होंने ऐसा किया, मैं इनको छोड़ूँगा नहीं। जबकि ताकत नहीं है, पर संक्लेषता इतनी ज्यादा है कि यदि यह मापी जाएगी तो सारे विश्व के जीवों को नाश करने की परिणति इसके मन में है। जैसे लोभ–कषाय में सारे विश्व की सम्पत्ति मेरे अधीन हो जाए' की भावना होने पर। तू भूल गया है कि स्वामी उतने ही का हो पाएगा जितना तेरे पास पुण्य है। तेरे मन में भाई को मारने का भाव आ गया, पर उसकी मृत्यु नहीं हुई क्योकि उसका भाग्य था, तो सिद्धान्ततः आप भाई के हत्यारे तो हो चुके हो। अरे! लोक में जो दण्ड दिया जाता है वह दण्ड–व्यवस्था मात्र शरीर के पाप/अपराध की है, लेकिन माँ जिनवाणी कहती है कि मेरी दण्ड–व्यवस्था पाप मात्र की नहीं, मेरी दण्ड–व्यवस्था पाप के परिणामों तक की है। पर वीतरागी–शासन का कानून भी अंधा नहीं है, वहाँ केवलज्ञान के नेत्रों से देखा जाता है। सबको उसका दण्ड–कर्म–के बंध से दिलाया जाएगा, तुम छिपकर नहीं जा सकते हो। अतः, तुम भावों में भी हिंसा नहीं करना।

भो ज्ञानी! एक जीव ईर्यापथ से विवेकपूर्वक जा रहा था कि किसी जीव का घात न हो जाए और एक जीव अचानक पैर–तले आकर मृत्यु को प्राप्त हो गया, फिर भी बंध नहीं, क्योंकि उसके वध करने के परिणाम नहीं थे। कभी–कभी पानी में चींटी चली जाती है। आप धीरे से उठाते हो और उठाते–उठाते मर जाती है, दिखने में हिंसा हुई है, पर वह हिंसा नहीं, क्योंकि उसके रक्षा के भाव थे। इसलिए हिंसा का पाप नहीं लगेगा। एक जीव छोटी–सी हिंसा करता है,पर बहुत बड़ा फल मिलता है, जैसे कि भाव तो तुम्हारे यह थे कि अब तो पूरा नष्ट करके आएँगे और वो गोली उसके पुण्य से दीवार से टकरा गयी। मारनेवाले को तो हिंसा का दोष पूरा ही लगा है। यह नियम हर क्षेत्र में लगाना। एक माँ गर्भपात की औषधि खा रही है, परन्तु गर्भस्थ संतान के पुण्य के योग से उसकी मृत्यु नहीं हो रही है, लेकिन आप यह नहीं सोचना कि मैं हिंसा से बच गयी। आप तो हिंसा कर ही चुके हो, उसका पुण्य था जो वह बच गया। यदि कभी पंचेन्द्रिय मनुष्य का घात डाक्टर द्वारा शल्य–क्रिया करते–करते हो गया, हिंसा तो हुई है, पर उसके मारने के भाव नहीं थे। दोष तो लगा पर अल्प लगेगा। इसलिए, अब सँभल के सुनना तथा संभल– संभलकर चलना।





कषाय-भावों के अनुसार ही फल की प्राप्ति

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले।।५३।।

अन्वयार्थः सहकारिणोः अपि हिंसा = एकसाथ मिलकर की हुई हिंसा भी। अत्र फलकाले = इस उदयकाल में। वैचित्र्यम् व्रजति = विचित्रता को प्राप्ति होती है। एकस्य सा एव = किसी एक को वही हिंसा। तीव्रं फलं दिशति = तीव्र फल दर्शाती है। अन्यस्य = किसी अन्य को। सा एव मन्दम् = वही हिंसा न्यून फल देती है।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरम्भ कर्तुमकृताऽपि फलति हिंसानुभावेन।।५४।।

अन्वयार्थः हिंसा प्राक्एव (प्रागेव) = कोई हिंसा पहिले ही। फलति = फल जाती है। क्रियमाणा फलति = कोई करते-करते फलती है। कृतापि फलति = कोई कर चुकने पर भी फलती है। च = और। कर्तुम् आरभ्य =हिंसा करने का आरंभ करके। अकृता अपि फलति = न करने पर भी फल देती है। हिंसा अनुभावेन फलति = इसी कारण से हिंसा कषाय-भावों के अनुसार ही फल देती है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने पूर्व सूत्र में संकेत दिया था कि हिंसा के अभाव में भी जीव हिंसक है और हिंसा के सद्भाव में भी जीव हिंसक है। "भावेण बंधो, भावेण मोक्खो"-परिणति ही बंध है, परिणति ही मोक्ष है। परिणति निर्मल है, तो प्रत्येक क्षण तेरी निर्बंधता के हैं और परिणति तेरी निर्मल नहीं है, तो प्रतिक्षण तेरे बंध के हैं। बंध कोई पर-द्रव्य नहीं करा रहा है, स्वयं की परिणति ही करा रही है। अतएव जहाँ बंधता के परिणाम हैं, वहीं हिंसा और जहाँ निर्बंधता के परिणाम हैं, वहीं अहिंसा है। माँ जिनवाणी कहती है-यदि आप भी स्वयं के द्वारा स्वयं को बंधन में डाल रहो हो, तो आप भी हिंसक हो। वध करनेवाला तो पापी है ही, पर पापी का जो वध करता है, वह महापापी है। अतः, करुणा की दृष्टि से रक्षा के भाव लाना। भो ज्ञानी! केवल जीवों की रक्षा करना ही नहीं अपितु छिपकली की भी रक्षा करना अहिंसा है। परंतु अनेक की रक्षा के पीछे एक का घात नहीं करना और एक की रक्षा के पीछे अनेक का घात भी नहीं करना, क्योंकि वध तो वध है, हिंसा तो हिंसा है। एक मरीज के शरीर में कीड़े पड़ रहे हैं, औषधि डालोगे तो जीव अवश्य मरेंगे। इसीलिए महाव्रती के शरीर में खुजलाहट भी पड़ती है, तो वे उस अंग को खुजलाते नहीं हैं। यदि असहनीय वेदना हो जाती है, तो पिच्छी से उस स्थान का मार्जन कर वहाँ स्पर्श करते हैं, क्योंकि असाता कर्म के उदय से यह कीड़े पड़े हैं। यदि पुनः तूने उन कीड़ों को कष्ट दिया, तो फिर नवीन असाता का उदय



होगा। जिस जीव ने तुम्हें पीड़ा दी है, उस जीव के प्रति पीड़ा देने के भाव नहीं होना, यह तो मध्यम अहिंसा है। लेकिन किसी के द्वारा पीड़ित करने पर भी उसे पीड़ित कराने, करने, करवाने के भाव भी नहीं लाना उत्कृष्ट अहिंसा है। ज्ञानी सोचेगा कि इस जीव का कोई दोष नहीं है, मेरे पूर्वकृत कर्मों का ही दोष है; यह तो बेचारा निमित्त मात्र बना है।

भो ज्ञानी! कानों से नहीं, मस्तिष्क से नहीं, अन्तःकरण से समझना कि किसी की पीड़ा को सहन करना हिंसा नहीं, क्षमा–धर्म कहा जायेगा। जीव पुण्य के उदय में अनंत पाप कर लेता है, जो झलकते नहीं हैं, परंतु जिस दिन विपाक उदय में आता है, उस दिन कितना ही सुंदर भवन हो , कितना ही सुंदर महल हो, तो उसमें भी दरारें पड़ जाती हैं और पानी टपकना प्रारंभ हो जाता है। ऐसे ही विशाल पुण्यात्मा के पुण्य के भवन में पाप के छिद्र हो जाते हैं, तो वहाँ विपाक का पानी टपकना प्रारंभ हो जाता है। 'आत्मानुशासन' में गुणभद्र स्वामी लिख रहे हैं : बड़े बड़े वैभवशाली हो गये, परंतु सूर्य का तेज ऐसा होता है कि सागर के पानी को भी सोख लेता है, उसको भी भाप बनाकर उड़ा देता है। ऐसे ही पुण्य व पाप दोनों का तेज बड़ा प्रबल होता है। पुण्य का तेज पाप को सुखा देता है।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि अहिंसा और हिंसा के भावों को समझ लिया, तो भगवान् बनने का पुरुषार्थ प्रारंभ हो जायेगा। अभी आपने धर्म का स्वरूप नहीं समझा। रक्षा की नहीं, रक्षा का भाव ही किया तो पुण्य–बंध हो गया। हिंसा की नहीं, हिंसा का भाव हो गया तो पाप बंध हो गया। अहो! एक जीव विमान में बैठकर आया और जैसे ही उतरा तो गाड़ी लग गयी, गाड़ी से उतरा तो पालकी लग गयी, पालकी से उतरा तो सिंहासन पर बैठा दिया गया और पैर दबने लगे। गरीब जो सड़क पर काम कर रहे थे, सोचने लगे कि भाई! इनको थकान किस बात की आ रही है? अरे! पैर दबना चाहिये तो मेरे दबना चाहिये। मैं टोकरी डाल रहा हूँ, टोकरी डालते–डालते मेरे हाथों में छाले पड़ गये हैं, पैर छिल रहें है, परंतु कोई भी पूछ नहीं रहा और उल्टे एक साहब डाँट भी गये–क्यों, कितनी खंती खोदी? अहो! कहीं मत देखो। आँखो से पुण्य भी दिख रहा है और हिंसा का फल भी दिख रहा है। 'कुरल काव्य' में लिखा है– मेरे से मत पूछो कि धर्म का फल क्या है और पाप का फल क्या है? एक पालकी को ढो रहा है, उसको देख लीजिये और उस पर बैठे भूपति को देख लीजिये। दोनों ही मनुष्य हैं। पालकी नहीं दिख रही, तो रिक्शा देख लो। उस पर बैठे होते हैं आप बाबूजी बनकर और उसको खींच रहा होता है मनुष्य। सम्मेद– शिखर में जाकर देख लो, डोलियों पर तुम लदे हो, बेचारे खींच रहे हैं, वे क्या मनुष्य नहीं हैं? पर तिर्यंच के समान वाहन का काम कर रहे हैं, ऐसे ही देवों में वाहन–जाति के देव होते हैं। जो मनुष्य वर्तमान पर्याय में कुछ धर्म तो करते हैं, लेकिन मायाचारी भी करते हैं, छल–कपट करते हैं, यदि उन्होंने इस लोक में देव–आयु का बंध भी कर लिया हो, तो उन्हें वाहन–जाति के देव बनना पड़ता है। ये सब परिणति के परिणाम हैं।

भो ज्ञानी! तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ स्वामी के बारे में उल्लेख आता है कि जब वे बालक के रूप में खड़े हुए थे, तब वहां से मुनिराज निकले, तो उन्होंने दूसरे लोगों से तो कह दिया कि ये मुनिराज हैं, उन लोगों ने नमस्कार किया, लेकिन स्वयं नमस्कार नहीं किया। हाँ तीर्थंकर कभी किसी को वंदन नहीं करते हैं, क्योंकि यदि वंदना कर लेंगे, तो 'स्वयंभू' संज्ञा समाप्त हो जायेगी। ऐसा उनका नियोग



है। वे कभी किसी से व्रत भी नहीं लेते हैं। स्वयं ही व्रत लेते हैं। कभी किसी के पास पढ़ने भी नहीं जाते, क्योंकि जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी होते हैं। वह किसी को गुरु नहीं बनाते हैं। यह तीर्थंकर भगवान् की व्यवस्था है। यह पूर्व का प्रबल पुण्य का योग चल रहा है कि तीर्थंकर–प्रकृति का बंध किया। लेकिन पूर्व में उन्होंने गुरु भी बनाये, अध्ययन भी किया है, पूर्व में नमस्कार भी किया है। अरे! अरहंत, आचार्य, उपाध्याय की भक्ति नहीं की होती तो तीर्थंकर– प्रकृति का बंध भी नहीं होता। पर देखो, उन्होंने इतना पुण्य कमाया कि अब वह पुण्य झुकने भी नहीं दे रहा है। अब तो मात्र झुकायेगा ही झुकायेगा। मात्र दीक्षा लेते समय बोलते हैं ''नमः सिद्धेभ्यः''। ध्यान रखना, 'ऊँ नमः' नहीं बोलेंगे, क्योंकि 'ऊँ नमः' कह देंगे तो उसमें आचार्य, उपाध्याय भी आ जायेंगे। मात्र 'नमः सिद्धेभ्यः'। अतः जब कोई प्रसंग आता है, तो वहाँ नमस्कार अर्थ में 'ऊँ' का उच्चारण नहीं करते। यद्यपि देशना खिर रही है, वह ओंकाररूप में खिर रही है। वह 'वंदना' नहीं, 'नमः' भी नहीं है।

भो ज्ञानी! साधना और तपस्या निर्वाण का ही कारण होती है, यदि उसमें थोड़ी कमी रह जाये तो भी उसका फल निष्फल नहीं जाता। एक पालकी पर बैठा है, एक पालकी को ढो रहा है। देख लो, एक पुज रहा है, एक पूज रहा है। यही पुण्य और पाप का फल है। आप जो शुभ–अशुभ परिणति कर रहे हो, वह पुण्य–पाप है। जिस कृत्य के करने पर अतिसंक्लेषता बढ़े या स्वयं लगे कि मैं चेहरा दिखाने लायक नहीं हूँ , तो समझना, इसका परिपाक कितना गहरा होगा? गहरे पाप में ही गहरी संक्लेषता बनती है। अहो! आज मैं दृष्टि उठाकर नहीं देख पा रहा हूँ। आज मैं विद्वानों के बीच बैठने का पात्र नहीं बचा। अहो! आज घर से बाहर निकलने की ताकत नहीं रखता हूँ। अरे! जैसे इंद्रियों के पाप दिख जाते हैं, ऐसे मन के पाप दिख गये होते तो आज आप समाज में बैठ नहीं पाते। जो तिर्यंचों की व्यवस्था है, वही व्यवस्था आपकी होती, क्योंकि उनके प्रत्येक संज्ञा प्रकट है। अंतर इतना है कि आप प्रज्ञाशील हो, सो छुपा लेते हो, लेकिन यह मानना पड़ेगा कि तिर्यंचो ने पूरी मायाचारी की थी तो तिर्यंच बने, पर आदमी की संज्ञा मायाचारीरूप नहीं है। ये ध्यान रखना, हमारी प्रवृत्ति मायाचारीरूप होगी, तो परिणति हमारी यही होगी। इसलिए हिंसा के भाव लाना भी हिंसा ही है। अब सोचना कि मैंने चौबीस घंटे में कितनों का घात किया है?

हे मुमुक्षु आत्माओ! जब रागादि विषय–कषायों से थक जाओ, तो यतियों के पास आकर सुख की राह खोजो। जिसको सुख की चाह है, वह यतियों के पास जाकर खोज करता है कि इन्होंने सुख को कहाँ से प्राप्त किया। अरे! पाप के परिणामों के समय ध्यान रखो कि सिद्ध– परमात्मा का जो आकार है, वही मैं भी हूँ। हे आत्मन्! पुरुषाकार में सिद्धाकार निहारो। इसकी अवहेलना मत करो। आगम में संस्थान–विचय नाम का धर्म–ध्यान है, उसमें लोक–संस्थान का विचार किया है। 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' में भी पुरुष आत्मा का लक्षण किया है। वह आत्मा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि से रहित, उत्पाद–व्यय–धौव्य से युक्त, गुण–पर्याय सहित है। अतः पाप की परिणति निकालो, निर्मल भाव करो। भगवन्! जब आप ग्रंथ लिख रहे थे, उस समय यदि हम निर्ग्रंथ बनकर पास में बैठकर उन आचार्यों को देखते तो कितना आनंद आता? किसी भी कृति में गुणीजन अपना नाम, अपनी पहचान नहीं कराते। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने भी अपना नाम नहीं लिखा, पर 'ज्योति' शब्द से अपनी पहचान कराई। 'ज्योति' को नमस्कार किया। उनको अहं नहीं था, क्योंकि ज्योति स्वरूप आत्मा में अर्हं भरा था और



ऐसे बहुत से आचार्य हुए, जिन्होंने अपनी पहचान नहीं कराई। परीक्षामुख, प्रमेय–रत्नमाला में आचार्य कुमुदचंद स्वामी ने कहीं भी अपना परिचय नहीं दिया। यह सब योग, नक्षत्र, पुण्य प्रबल होता है कि कृति अनुपम लिखी जाती है और ऐसी कृति लिख डालते हैं कि कृति मंगलमय बन जाती है।

भो ज्ञानी! अपना पाप–पुण्य अपने साथ, दूसरे का दूसरे के साथ रहता है। गलत को सही समझ कर अपने को कुमार्ग में मत ढकेलो। देखो कर्मों की विचित्रता कि अनादिकाल की जंग पड़ी है कि इतने इतने सारे कर्म–बंध इकट्ठे पड़े हैं तथा पुरुषार्थ उतना है नहीं, पर देशना अवश्य ही कभी–न–कभी कार्य करेगी। आचार्य वीरसेन स्वामी ने 'षट्खण्डागम' के नौवें भाग में लिखा कि सच्चे भावों से श्रवण की हुई यह देशना कभी–न–कभी, किसी–न–किसी प्रकार, धक्का देकर परिणमन करायेगी। हे भव्यो! जिनवाणी माँ के समीप पहुँचो, तो आप अवश्य ही मोक्षरूपी लक्ष्मी का वरण करके अनंतकाल के लिए सुखी हो जाओगे।

हे आत्मन्! एक जीव को वही हिंसा मंद–फल देती है और दूसरे जीव को वही हिंसा तीव्र–फल देती है। पाप तो एकसा हुआ, पर परिणति भिन्न–भिन्न है। अतः, चाहे ज्ञात–भाव से करो, चाहे अज्ञात–भाव से करो, फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। जैसे एक जीव के तीव्र वासना का वेग आया, फलतः संयोग से पहले ही धातु–शक्ति नष्ट हो जाती। दूसरे जीव की इतनी पुरुषार्थ शक्ति प्रकट हुई कि साधु के पास पहुँचने से पहले ही वैराग्य–भाव प्रगट हो गया। अहो! जैन–सिद्धांत में कर्म प्रत्यक्ष दिखता है कि करने से ही कर्म–फल मिलते हैं, बिना किये कर्म–फल नहीं मिलता। भाव से ही बंध होता है और भाव से ही मुक्ति मिलती है। जैसा करेंगे, वैसा ही फल अवश्यमेव मिलेगा।





बहुजनों की हिंसा का फल एक को एवं एक की हिंसा का फल अनेक को

एकः करोति हिंसा भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसा हिंसाफलमुग् भवत्येकः।।५५।।

अन्वयार्थ : एकः हिंसा करोति = एक पुरुष हिंसा को करता है। फलभागिनः = फल भोगने के भागी। बहवः भवन्ति = बहुत होते हैं। हिंसा बहवः विद्धति = हिंसा को बहुत जन करते हैं। हिंसाफलभुक् = हिंसा के फल का भोक्ता। एकः भवति = एक पुरुष होता है।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्।। ५६।।

अन्वयार्थ : कस्यादि हिंसा = किसी को हिंसा। फलकाले =उदयकाल में। एकमेव हिंसा फलम् दिशति = एक ही हिंसा के फल को देती है। अन्यस्य = किसी को। सैव हिंसा विपुलम् = वही हिंसा बहुत से। अहिंसाफलं दिशति = अहिंसा के फल को देती है। अन्यत् न = अन्य फल को नहीं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो ज्ञानी आत्माओ! द्रव्य (सम्पत्ति) को अर्जित कर लेना कोई बड़ी बात नहीं। उसकी प्राप्ति पुण्य से होती है। जिस समय चक्रवर्ती के पुण्य का योग आता है तो उसकी आयुधशाला में स्वयमेव चक्ररत्न प्रगट हो जाता है, ३२,००० मुकुटबद्ध सम्राट उसके चरणों में शीश झुकाते हैं। मनीषियो! वैभव को महान वही मानता है, जिसने धर्म को नहीं जाना; परंतु जिसने धर्म को समझ लिया है, उसकी दृष्टि में वैभव कुछ नहीं होता। वह तो वैभव को आते हुए व जाते हुए देखकर मुस्कराता है। यह ज्ञानी की दशा है। अहो! अनुभव करना कि अल्प पुरुषार्थ से भी बहुत विभूति मिल जाती है तथा बहुत पुरुषार्थ करने पर भी पेट–भर नहीं मिलता, क्योंकि अल्प हिंसा से भी महान हिंसा कर रहा था और महान हिंसा के होने पर भी उससे अल्प हिंसा भी नहीं हुई। अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि चिन्तन से गहराई में देखना। कहीं दिगम्बर योगी बनकर ऐसा चिन्तवन कर लिया होता, तो आज तुझे मुक्तिश्री का वरण हो गया होता। अहो! कितना विवेक लगाते हो कि अमुक द्रव्य को यहाँ से खरीदूँगा, वहाँ बेचूँगा, फिर ऐसा करूँगा। तू ऐसा क्यों नहीं सोचता कि ऐसे भाव होंगे तो ऐसे भाव करूँगा ?

भो ज्ञानी आत्माओ! तुम क्यों कमा रहे हो ? जिन लोगों को देना है उन लोगों को देककर चले जाओगे ? तुम व्यर्थ में हिंसा का बंध करके नरक–निगोद की वंदना करोगे पुत्र के निमित्त से, स्त्री के निमित्त से। स्वयं का पेट भरने के लिए बहुत कुछ नहीं चाहिए। अपने जीने के लिए बहुत हिंसा भी नहीं करनी होती है, परंतु पता नहीं कितने पेटों की चिंता है? जबकि वे पेट भी जब बने थे तो पहले से अपने पेटों की व्यवस्था करके आये हैं।



भो ज्ञानी! यदि पिता ने पुत्र को जन्म दिया है तो पुत्र ने पिता की संज्ञा को जन्म दिया है, इसलिए किसी अहम् में मत डूबे रहना। आप तो पुण्य की परिणति देखो, पाप की परिणति को देखा। अहो! जिस समय अहम् के सताये हुए को कुछ नहीं दिखा तो अपनी कन्या का कुष्ठरोगी के साथ संबंध कर दिया। स्वयं पिता की आँख से आँसू टपक गए, बेटी! मैंने तेरे साथ क्या कर दिया ? आप होते तो छोड़कर के भाग जाते या तलाक दे देते। ओहो! तुमने भोगों के पीछे, इन्द्रिय –सुख के पीछे संस्कृति व धर्म का नाश कर डाला।

भो ज्ञानी! जिसकी दृष्टि में जिनवाणी छा गई है, उसे दूसरे की छाया की कोई आवश्यकता नहीं है। जिसके शीश पर जिनेंद्र की वाणी का आशीष है, उसको दुनियाँ के आशीष की कोई आवश्यकता नहीं। पिता ने संबंध तो कर दिया, पर बेटी समझाती है–पिताश्री! शोक मत करो, आपका दोष नहीं है। होनहार को कौन टाल सकता है? आप तो मेरे जनक हैं, आपने तो मुझे पालन–पोषण करके इतना बड़ा किया। आप मेरा बुरा सोच ही कैसे सकते थे? यह तो कर्म की विचित्रता है, इसीलिए ऐसा हो गया। अब तो आप शीघ्रता करो, मेरी विदा कर दो। पतिदेव (कुष्ठरोगी) के साथ मैं अपना भाग्य सराहूँगी कि मुझे सेवा करने का मौका तो मिलेगा। दुखियों के मध्य रहूँगी, तो प्रभु की याद आयेगी। पिताश्री! यदि पुण्य का योग होगा तो यह कुष्ठी भी स्वर्णमयी काया से युक्त मिलेगा। इतनी दृढ़ आस्था के साथ जनक–जननी को बिलखते छोड़, सात–सौ कुष्ठियों की सेवा में लीन हो गयी। पहुँच गयी निर्ग्रंथ योगी के चरणों में, हे प्रभु! यह नहीं पूछ रही हूँ कि मैंनें कौन–से कर्म किये थे, वह तो सामने दिख रहे हैं। लेकिन, नाथ! इन कर्मों के शमन का उपाय क्या है ? बेटी! असाता को साता में संक्रमित करने का कोई उपाय है तो मात्र पंचपरमेष्ठी की भक्ति–आराधना है। यदि अरिहंत–सिद्धों की भक्ति निर्दोष करोगी और गंधोदक को शीश पर लगाओगी तो कुष्ठ भी साफ हो जायेगा। अतः विकल्प मत करो। वही सिद्धचक्र–विधान आज भी है। भो ज्ञानी! उनका कुष्ठ ठीक हो गया, तुम्हारे फोड़े–फुन्सी तक ठीक नहीं हो पा रहे हैं। बात यह है कि सिद्धचक्र वही है, लेकिन परिणति तुम्हारी वैसी नहीं है।

मनीषियो! कुंदकुंदाचार्य महाराज ने 'अष्टपाहुड' ग्रंथ में लिखा है–

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए।।६२।।

सुख में भावित किया ज्ञान दुःख के आने पर विनाश को प्राप्त हो जाता है और जिसने दुःख से ही अपने आप को भावित किया है, उसका ज्ञान पावन–पवित्र–शास्वत हो जाता है। भो ज्ञानी आत्माओ! तेरा चेतन्य ना सुखमय है, ना दुःखमय है, वह शुद्ध चिन्मय चैतन्यभूत है। धन्य है उस नारी के लिए जिसको बाल्यावस्था में वैधव्य को देखना पड़ा, फिर भी पिता से कहा–अहो! यह तो मेरे पुण्य का योग है कि अब मैं पराधीन पर्याय से मुक्त होकर स्वाधीन पर्याय की ओर आर्यिका दीक्षा लेने जाऊँगी।

आज भी देखो प्रकाण्ड आर्यिका विदुषी विशुद्धमति माताजी जिनकी सल्लेखना हो गई, बाल–विधवा थी। पहले छोटी अवस्था में शादी हो जाती थी, चौथी क्लास पढ़ी है, 'त्रिलोकसार'–जैसे ग्रन्थों की टीका लिखी है। उनके माता–पिता आप–जैसे नहीं थे कि ऐसे संस्कार देते कि चलो तुम्हारी दूसरी शादी किये देता हूँ।



मानतुंग स्वामी की भक्ति से ४८ ताले टूट गये। वादिराज स्वामी का कुष्ठ दूर हो गया। आस्था से आप भी भगवान् की भक्ति करोगे तो आपके भी पाप दूर हो जायेंगे। भो ज्ञानी आत्माओ! वीतरागता की दृष्टि अलग है व राग की दृष्टि, विकार की दृष्टि अलग है। जिसकी दृष्टि खोटी है, तुम उसके सामने सत्य को कहकर भूल मत कर देना। जब उसकी खोटी दृष्टि फूट जायेगी, तो अपने आप उसे सत्य नजर आने लगेगा। अहो! जीवन में आप निर्दोष हो, तो कभी किसी को सफाई मत देना, तुम्हारी दृष्टि तुम्हारे पास है। शुद्ध घी को ही यदि कोई व्यक्ति डालडा कह रहा है तो मत बताओ उसे शुद्ध घी। श्रीपाल कहते हैं-- पिताश्री! मैं वही कुष्ठी हूँ आप अपनी बेटी पर शंका तो मत करो। उसके शील, तपस्या के प्रभाव से, सिद्धों की आराधना से हम अकेले ही नहीं अन्य सात-सौ कुष्ठी भी आज निरोग हो गये। भो ज्ञानी! 'अमृतचंद्र स्वामी' कह रहे हैं- श्रीपाल के तन में कुष्ठ हुआ था, तन का कुष्ठी मोक्ष जा सकता है; लेकिन जिसके मन में कोढ़ है, वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। एक निर्ग्रंथ योगी के ऊपर श्रीपाल ने कचरा फिकवा दिया था, क्योंकि विभूति का वेग बड़ा खतरनाक होता है। जिसको हों, (आज्ञा चलाना, वैभव का मिलना और युवावस्था) तीनों मिल गये फिर देखना क्या हालत होती है ? उस समय सात-सौ व्यक्तियों ने कुछ नहीं किया था, बेचारों ने मात्र ताली ही बजाई थी। उसका परिणाम कि श्रीपाल कोढ़ियों के सरदार हो गये और वे कोढ़ी प्रजा हो गये। इसीलिए, जीवन में ध्यान रखना, जिसकी परिणति जैसी है वह जाने, लेकिन निजपरिणति में विकार करके हम अपनी आत्मा में कर्मों के कुष्ठरोग को उत्पन्न न करें।

भो ज्ञानी! देखो परिणामों की दशा। जितने पापी हुये हैं, वे सब प्रायश्चित्त करके सिद्ध बनकर चले गये; लेकिन उन पापियों की बातें कर- करके हम पापी क्यों बनें, हम उनकी परमात्म-- दशा की ही बात करें। मारीचि से बड़ा पाप कौन कर सकता है ? जिसने ३६३ मिथ्यामत चला दिये। मिथ्यात्व से बड़ा क्या पाप है? पर आज वे हमारे जिनालय में विराजमान हैं। उनके शासन को हम जयवंत कर रहे हैं। अब तुम देखो मारीचि की पर्याय को और करो परिणाम खराब। भो ज्ञानी! मुमुक्षु की आँख पाप--पर्याय के लिए तो बंद होती है, पर पुण्य-पर्याय के लिए चौबीस घंटे खुली होती है। मुमुक्षु अपनी आँख से पाप-पर्याय को देखना ही नहीं चाहता है। इसलिए अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि भाव-अहिंसा ही पूर्ण अहिंसा है और जिसके पास भाव अहिंसा हो, परंतु द्रव्य-अहिंसा न हो, कैसे संभव है ? अरे! जिसका भाव होगा उसके पास द्रव्य भी होगा। इसीलिए धर्म तो वास्तव में बचपन में ही होता है, पचपन में तो सिर हिलने लगता है। बचपन में सँभल गये होते तो पचपन में यहाँ नहीं मिलते। इसीलिए अब भी कोई बात नहीं, तुम परिणति बचपन ही की बनाकर चलना। जिनवाणी में लिखा है कि संयम के लिए हर समय वृद्ध बनकर रहना और ज्ञान के लिए बालक बनकर रहना।

भो चेतन! आगम में उल्लेख आया है कि एक अस्सी वर्ष के मुनिराज याद कर रहे थे "एक्को करेदि कम्मं", कोई विद्वान् पहुँचा। प्रभु! अब तो आप सल्लेखना करो, आप याद करने में लगे हो, यह तो बचपन के काम थे। वे योगी कहते हैं- भो ज्ञानी! यह बचपन ही तो चल रहा है। अभी मेरी सल्लेखना का बचपन ही तो चल रहा है। मैंने बारह वर्ष की समाधि कल ही तो ली है। अतः मैं इस कारण याद नहीं कर रहा हूँ कि तुम्हें सुनाऊँगा, बल्कि मैं इसलिए याद कर रहा हूँ कि इस आत्मा में संस्कार डाल दूँगा, जो आगे चलकर केवलज्ञान के संस्कार बन जायेंगे। इसलिए जब भी



तुमको समय मिले, तो आप श्लोक याद करने बैठ जाया करो। याद नहीं हो रहा, इसकी चिंता नहीं करना। जितनी देर से याद होगा, उतना अच्छा होगा। देखो, ज्ञानी हमेशा हर बात को अपनी परिणति की निर्मलता में सोचता है कि जितनी देर तक हम याद करेंगे, उतनी देर तक अशुभ से बचेंगे। जो विचार तुम्हारे अन्यथा जा रहे थे, वे आपके श्रुत–चर्चा में जाने लगे। शिवभूति महाराज, जिनको बारह वर्ष में 'णमोकार मंत्र' याद नहीं हुआ था, पहुँच गये गुरुदेव के चरणों में, प्रभु! क्या करूँ ? गुरुदेव बोले–कोई बात नहीं, तुम इतना याद कर लो "तुषमास भिन्नम्"। अरे! वह भी भूल गये। देखो कर्म की विचित्रता। जा रहे थे चर्या को, एक माँ दाल धो रही थी तो "तुषमास भिन्नम्" याद आ गया, अहो! यही तो कहा था महाराजजी ने। मास यानी दाल से, तुष याने छिलका भिन्न है, ऐसे ही देही से देह भिन्न है। अब नहीं जा रहा हूँ आहार करने, कहीं चला गया तो फिर भूल जाऊँगा। अतः एक शिला पर बैठ गये।

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुड जाओ।।५३।।भा.पा.।।

"तुषमासं घोषन्तो" भावों की विशुद्धिपूर्वक शिवभूति महामुनि अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञानी बन गये। जिन गुरुओं ने पाठ सिखाया था, वे गुरु आकर शीश झुका रहे हैं। त्रिलोकीनाथ, केवली प्रभु! आपके चरणों में मैं तो चिल्लाता रहा और आप केवली बन गये। इसलिए इस क्षयोपशम ज्ञान का अहम् मत करना। यह कब आ जाये, कब चला जाये, कोई पता नहीं है। प्राप्त करना तो क्षायिक ज्ञान को। इसलिए तुम सब जानना भूल जाओ, एक ही जान लो, तो सब जान लोगे कि एक मेरी निज–आत्मा है।

मनीषियो! आचार्य भगवान् कह रहे हैं "एकः करोति हिंसा" हिंसा एक कर रहा है। कचरा एक ने फेंका था, शेष ने तो कुछ नहीं किया; लेकिन सात सौ कुष्ठी हो गये। ज्ञानियो! ध्यान रखना, अनुमोदना करने के भाव भी आते हैं तो अच्छाई की अनुमोदना करना, बुराई की अनुमोदना नहीं कर लेना। कभी–कभी कितना व्यर्थ में बंध हो जाता है? बहुत गहराई से समझना, टेलीवीजन के सामने आप कैसे निर्बन्ध रहते होंगे? मैच देख रहे हैं, झगड़े देख रहे हैं, कहीं कुछ भी देख रहे हो, भाव तो आ गये। दैनिक समाचार–पत्र से भी तुम बच नहीं सकते। चोरी, छल–कपट, बलात्कार, हिंसा आदि की घटनाएँ उसमें लिखी हैं। अनादि से संस्कार हैं। राग प्रचुर होता है। आप सम्मेद–शिखर की वंदना करने गये थे, अचानक कोई घटना विदिशा की। लिखी मिल गयी, उसको पुनः देखते हो। अरे! विदिशा की, कहाँ बैठे थे आप ? अहो! सिद्धक्षेत्र में विराजी आत्माओ! आप यहाँ की याद कर रहे हो। बंध कहाँ का होगा ? अब देखना साधक को। सिद्धक्षेत्र में अखबार पढ़ने से मन में कोई विकल्प आ गया, तो बंध कहाँ का होगा ? उसमें स्त्रीकथा, चोरकथा, राज्यकथा, एवं भोजन कथा, इन चार कथाओं के अलावा कौन सी वीतराग–कथा लिखी होती है ? सोचो, उस समय भाव तुम्हारे कहां जा रहे हैं। प्रमाद तो आयेगा और नियम से बंध होगा, क्योंकि कितने ही आप जैन हो, धर्मात्मा हो, भाव तो आते हैं। राग जहाँ हुआ, वहाँ तेरे में एक क्षण भी नहीं लगेगा, प्रवेश कर गये कर्मशत्रु। हिंसा को एक ने किया, फल को बहुत भोग रहे हैं। घर में एक सदस्य अनाचार से कमा कर ला रहा है, तुम सब भूल नहीं जाना। भोजन किसके घर में कर रहे हो, किसके कपड़े पहन रहे हो और किसकी अनुमोदना में लीन



हो? भो ज्ञानी! जितना राग है, उतना बंध तो होगा। उत्तम वंश वाले उत्तम काम करते थे। आटे की चक्की नहीं लगाते थे; कोल्हू नहीं लगाते थे। यह मत सोचना कि पिताजी कर रहे हैं, तो पाप हमें नहीं लगेगा; क्योंकि एक कर रहा है और फल बहुत भोग रहे हैं। एक सम्राट ने सेना को आदेश कर दिया कि जाओ, उस देश पर चढ़ाई कर दो। इतनी बड़ी सेना हिंसा कर रही है, पर भोग एक रहा है। प्रधानता किसकी है ? आदेश जिसने दिया था वह तो सिंहासन पर बैठा है, लेकिन रक्त की इतनी धाराएँ बह रहीं हैं। इन सब का दोष उसको तो लगना ही लगना है। किसी को हिंसा उदय–काल में एक ही हिंसा के फल को देती है और कोई एक जीव को हिंसा होने पर हिंसा का फल मिल रहा है और एक जीव से हिंसा होने पर भी अहिंसा का फल मिल रहा है। भटक नहीं जाना। जैसे आपको कोई जीव आँखें दिखाने आया, सो आपने उसकी आँखों में ड्राप डाल दिया। लेकिन वह रियेक्शन कर गया, उसकी आँखें फूट गईं, परंतु पुलिस आपको नहीं पकड़ेगी, क्योंकि आपका उद्देश्य उसकी आँखें फोड़ना नहीं था, उसको ठीक करना था। इस प्रकार शल्यक्रिया करते समय डॉक्टर के यहाँ किसी मरीज की मृत्यु हो जाती है, फिर भी वहाँ बचाने का ही उद्देश्य था, अतः उसको अहिंसा का फल ही मिलेगा। अहो! एक जीव यह सोच कर चला था कि हम स्वयं मारेंगे तो लोग हमें पकड़ लेंगे। सो ऐसा कर लो, भैया! तुम लो पचास हजार, हमारा पता नहीं चलना चाहिए। अहो! उनको पता नहीं चल पाए और तुमने जहर खिलवाकर उसको खत्म करा दिया। भो ज्ञानी! हिंसा तो आपने नहीं की, पर ध्यान रखना, तुम अहिंसक नहीं हो और चिंता नहीं करो। बुन्देलखण्ड के लोग एक बहुत अच्छी कहावत कहते हैं– "जब पाप उदय में आता है तो मगरे पर चिल्लाता है।" अरे! इतने गहरे–गहरे एकांत में किये गये पाप पेपर में कैसे छप गये ? सब पता चल जाता है। इसलिए, जीवन में ध्यान रखना, किसी को प्रेरित मत करना, किसी की प्रेरणा में संयोगी मत बनना। ध्यान रखना, बहेलियों का काम भी नहीं करना। उसका काम झाड़ी में छुपकर मारना है अर्थात् दूसरे के द्वारा दूसरे का घात करा दिया, बोले– मैं तो धर्मात्मा हूँ और ज्यादा हुआ तो चलो हम श्रीजी का अभिषेक कर लेते हैं, पवित्र हो जायेंगे। ऊपर की क्रिया पवित्र नहीं कराती, परिणति पवित्र कराती है। परिणति के साथ क्रिया है, तो पवित्र हो जाओगे।





निर्ग्रंथ गुरु ही शरण हैं

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्य–हिंसाफलं नान्यत्।।५७।।

अन्वयार्थ : तु अपरस्य = और किसी को। अहिंसा परिणामे = अहिंसा उदयकाल में। हिंसा **फलम्ददाति** = हिंसा के फल को देती है। तु पुनः = तथा। इतरस्य हिंसा = अन्य किसी को हिंसा। **अहिंसा** फलम् दिशति =अहिंसा के फल को देती है। अन्यत् न = अन्य फल को नहीं।

इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढ़दृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः।। ५८।।

अन्वयार्थ :– इति = इस प्रकार से दुस्तरे = अत्यंत कठिनाई से पार किये जाने वाले। विविध भंगगहने =नाना भंगों से युक्त गहन वन में। मार्गमूढ़दृष्टिनाम् = मार्गमूढ़दृष्टि पुरुषों को अर्थात् मार्ग भूले हुए पुरुषों को। प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः = अनेक प्रकार के नयसमूह को जाननेवाले। गुरुवः शरणं भवन्ति = श्रीगुरु ही शरण होते हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अमृतचंद स्वामी ने 'ग्रंथराज पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' में चर्चा की है कि जो अहिंसा का पालन कर रहा है वह दूसरे की रक्षा नहीं, वरन् स्वयं की रक्षा कर रहा है; क्योंकि ज्ञानी, पर की रक्षा का भी कर्ता नहीं बनता। वह स्वयं की रक्षा के भाव में जितना जीता है वह ही पर की रक्षा है।

अहो ज्ञानी आत्माओ! एक चींटी जा रही थी। उस चींटी को बचाने के भाव तेरे मन में आए, कि निज को बचाने के भाव तेरे मन में आए? जो निज की रक्षा करता है, वही विश्व की रक्षा कर सकता है। निर्ग्रंथ योगी कभी किसी जीव की रक्षा नहीं करते, वह तो स्वयं की ही रक्षा करते हैं और जो स्वयं की रक्षा करता है, वह कभी किसी की हिंसा भी नहीं करता। मुमुक्षु जीव निज को कर्म से बचाने के लिए पुरुषार्थ करता है। किसी की रक्षा करने में आपको तकलीफ होती हो तो इतना विचार कर लेना कि मैं कर्म से नहीं बंधूँगा। अतः ऐसे काम करना जिससे कर्म के बंधने से स्वयं की रक्षा प्रारंभ हो जाए।

भो ज्ञानी! तू सँभल–सँभल के चलेगा तो जीवों की रक्षा स्वयमेव ही हो जाएगी। ज्ञानी पुरुष स्वयं की रक्षा करने के लिए ही दूसरों की रक्षा करते हैं और जब तक स्वयं की रक्षा के भाव नहीं आएँगे, तब तक आप अंतरंग से दूसरे की रक्षा कर भी नहीं पाओगे। किसकी रक्षा कर रहे हो आप ? जीव की रक्षा तो उसके कर्म के ऊपर है। आप रक्षा करनेवाले कौन? अरे! उस जीव का पुण्य–योग था जो कि आपको रक्षा के भाव आ गये। क्योंकि कभी–कभी लोग रक्षा तो कर लेते हैं, पर प्राण



का वध होने में उस जीव को ऊतनी वेदना नहीं होती, जितनी आपकी रक्षा से होती है। इसलिए हम जीव की रक्षा तो करें, लेकिन दयापूर्वक करें।

भो ज्ञानियो! रक्षा तो करना, परंतु उसकी रक्षा के लिए नहीं अपितु अपने पापों से बचने के लिए, पुण्य करने के लिए और निज के उपयोग को निर्मल कर लेने के लिए धर्म करना। कोई आपसे कहने लगे कि भैया! आपने मेरे साथ इतना अच्छा किया है। तब आप कहना–कुछ नहीं किया। मैं क्या कर सकता हूँ? मैं तो निमित्त बना हूँ। ऐसी भवितव्यता तुम्हारी थी कि यह यश मुझे मिलना था और आपका पुण्य का योग था, मैं नहीं आता तो दूसरा आपकी रक्षा करता।

भो मुमुक्षु आत्माओ! जब हनुमान का जन्म होने को था, तो गुफा के सामने शेर आ गया। माँ अंजनी थर–थर काँपने लगी। देखो, हनुमान सामान्य पुत्र नहीं थे, कामदेव थे, लेकिन कर्म किसी को नहीं छोड़ता। वहाँ पर भी पुण्य था पलड़े में। यक्ष ने देखा कि अबला के सामने सिंह खड़ा है और वह गर्भणी पुत्र को प्रसूत करनेवाली है। यक्ष ने अष्टापद का रूप बना लिया और शेर के सामने खड़ा हो गया। मनीषियो! सिंह से कोई अधिक पराक्रमी होता है तो अष्टापद ही होता है और देखते ही देखते सिंह से युद्ध करने को तत्पर हो गया। वहाँ भी, मनीषियों! रक्षा करनेवाला कोई नहीं था, पर रक्षा हुई कि नहीं?

भो चैतन्य आत्माओ! ज्ञान की शक्ति भी तब ही काम आती है, जब तेरी पुण्य की शक्ति रहती है। क्या रावण को ज्ञान नहीं था ? इतना बड़ा विद्वान्, जिसने विश्व की इतनी विद्याएँ सिद्ध की कि आज तक कोई भी इतनी सिद्धि नहीं कर पाया, लेकिन वह ज्ञान कहाँ चला गया? एक परनारी को देखकर विद्याएँ विचलित हो गयीं। जब पुण्य क्षीण हो गया तो ज्ञान भी काम नहीं आया। इसीलिए कुंदकुंद स्वामी को लिखना ही पड़ा कि पुण्य का फल अरहंत–पर्याय है। 'पद्म पुराण' में आचार्य श्री रविसेन स्वामी को लिखना पड़ा कि जीव पुण्य के न होने पर व्रतों का पालन नहीं कर पाता। पंडित दौलतराम जी ने लिखा है 'मुनि सकलव्रती बड़भागी', क्योंकि भोगों से उदास होना प्रबल पुण्य का योग होता है और यह पुण्य एक भव की साधना नहीं समझना। जब तुमने छोटे–छोटे व्रतों का पालन किया था, तब ही इतना पुण्य का संचय किया था। संसार के शत्रुओं का नाश करने के लिए शरीर में बल चाहिए और यह बल अनेक भवों के पुण्य का फल है।

भो ज्ञानी! किसी को कभी जिनबिंब की वंदना करने का निषेध मत कर देना, कभी निर्ग्रंथ गुरुओं के दर्शन करने का निषेध मत कर देना। व्यवस्था बनाना, लेकिन कर्म का बंध नहीं कर लेना। दर्शन तो कर लो, पर भीड़ मत करो और कभी भी किसी को दर्शन से मत रोकना। देखो, बाईस घड़ी तक जिनप्रतिमा को छिपाकर रखा था, तो ऐसा निःकांचित–कर्म का बंध हुआ था महारानी कनकोदरी को, कि अंजना की पर्याय में बाईस वर्ष तक पति का वियोग सहन करना पड़ा। यद्यपि वे प्रायश्चित ले चुकी थीं, परंतु कर्म, बंध गया था। ध्यान रखना, प्रबल पुण्य का योग है तो सिंह के मुख में भी प्रवेश कर जाओ तो भी रक्षा हो जाती है। प्रबल पुण्य के योग में पाप–कर्म का भी उदय होता है, तो दुर्ग में भी शत्रु खींच के मार देता है। इसलिए इस अहंकार में मत डूबना कि हमने आपकी रक्षा की है। पुण्य का योग न होता तो आपकी रक्षा काम में नहीं आती। इसलिए उपकार तो करना, परंतु उसको बार बार मत कहना कि हमने तुम्हारे साथ ऐसा किया। भो भगवान् आत्मा ! अहिंसा बहुत गंभीर है। विश्व के जितने दर्शन हैं,



अहिंसा के बाहर कोई नहीं है, सभी का एकमात्र सूत्र 'अहिंसा परमोधर्म': है और जिसने 'अहिंसा परमोधर्मः' समझ लिया, उसे अलग से व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

मैंने एक दिन आपसे कहा था कि ज्यादा नियम मत पालो। आप तो छोटा सा नियम ले लो कि पानी छानकर पीयेंगे। परंतु विचार कर लेना कि पानी छानकर पीओगे तो बिना छने पानी की सामग्री कैसे सेवन करोगे? बाजार में तुमको कौन पानी छान के बना रहा है ? बाजार की सामग्री छूट गई। अब विवेक लगा लो कि अड़तालीस मिनिट की मर्यादा है छने पानी की। इसलिए माँ से मत माँगना, अपने हाथ से छानकर पी लेना तो पराधीनता चली गई। नहीं तो ऐसा होता है, बेटा! अभी– अभी छाना है, पी लो। अरे! माँ तो वह होती जो कहती है; बेटा! एक मिनिट ज्यादा हो गया, अभी नहीं पीना, मैं अभी छान देती हूँ।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं: भो ज्ञानी! अहिंसा के तत्त्व को समझना है तो ध्यान रखना, दूसरे के उपकार का कर्त्ता बनकर उसे दुःखित मत करना, वह भी हिंसा है। उपकार करने के भाव तो अमरचंद्र दीवान के थे। उन्हें पता चला कि एक बूढ़ी माँ के लिए खाने को घर में कुछ नहीं था। अपनी साड़ी के दो भाग में एक से अपने बदन को ढ़के थी और एक से अपने बच्चे को लपेटे थी। दीवान ने देखा तो उन्होंने अनाज की पोटली में रत्न भरे और बुढ़िया माँ के यहाँ छोड़ कर आ गये और बोले–भोजन बनाकर बच्चे को खिला देना। अहो! इतने रत्न ऐसे ही दे दिए, बिना पटिया लिखाए। अरे! तुम्हारे पटिया तो यहाँ मिट जायेंगे, पर उनका पटिया तो वहाँ सिद्धालय पर लिखा जायेगा। अतः, किसी का उपकार तो करना, लेकिन उपकार करके भूल जाना, उसको दोहराना मत। एक जगह एक व्यक्ति को हाथठेला दिया गया और जिसे हाथठेला दिया वह जब उसे लेने आया तो आँखों से टप–टप आँसू टपक रहे थे। इसकी वेदना उसके अंदर थी कि आज मुझे हाथठेला समाज से लेना पड़ रहा है। अरे! उपकार करना था तो जैसे अमरचंद्र दीवान ने किया था, वैसे करते, किसी को पता ही नहीं चलता। तुम्हारे लिये तो तीनलोक का ज्ञानी देख रहा है कि तुम उपकार कर रहे हो। यही अहिंसा है और किसी के हृदय को दुःखी करके तुमने बहुत कुछ किया, तो कुछ भी नहीं किया। जिसका उपकार किया है उसका कर्त्तव्य बनता है कि उस उपकारी के उपकार को मानें।

मनीषियो! भगवान् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि अन्य किसी जीव को अहिंसा के परिणाम उदयकाल में हिंसा के फल को देते हैं। देखो, कितना गहन तत्व है? एक जीव ने वध नहीं किया, फिर भी हिंसा के परिणाम को भोग रहा है और एक जीव से हिंसा हुई द्रव्य से, फिर भी अहिंसा का फल भोग रहा है। जैसे कि किसी जीव ने दूसरे को मारने के भाव किये , लेकिन सोचता है कि मैं इज्जतवाला हूँ ,उत्तम कुल में जन्मा हूँ, इसलिए कैसे मार सकता हूँ? उसने मारा तो नहीं, लेकिन परिणाम तो हो गये। भैयाजी त्यागी बन गये, पर परिणाम कसाई के हैं। कहते हैं कि यदि आज मैं इस वेश में नहीं होता, तो मैं आपको देख लेता। यह तो वेश की मर्यादा है। ठीक है, वेश से द्रव्य–हिंसा बच गई, लेकिन भाव–हिंसा तो हो गई।

भो ज्ञानियो! श्रमणसंस्कृति ने भावों की निर्मलता के लिए वेश दिया है, वेश की निर्मलता के लिए भाव नहीं दिये। वेश काम में नहीं आएगा, भाव काम में आएँगे। भाव गड़बड़ हो गए और वेश पूजता रहा, तो जीव कहाँ से कहाँ चला जायेगा, कह नहीं सकते। इसलिए जीवन में ध्यान रखना, यह वेश



आपको अरहंत, सिद्धों का मिला है। इस वेश को प्राप्त करके भाव सुधार लेना। भाव सुधर गये तो भव सुधर जाएगा। भाव नहीं सुधरे तो कितने वेश रचा के बैठ जाना, लेकिन भव सुधरनेवाला नहीं है। जिनवाणी माँ पुकार–पुकारकर कह रही है कि यह वेश दूसरे के लिए तो पूज्य है, पर तुम्हारे लिए तो पूज्य तुम्हारे भाव ही बनाएँगे। धर्म का वेश बदनाम न हो इसलिए तुम शांत हो, पर वस्तुतः तुम तो बदनाम हो चुके हो। हमारे आगम में निंदा के दो भेद किये हैं। लोकनिंदा और आत्मनिंदा। आपके भाव नीचे गिर गये, पर आप पाप नहीं कर रहे, तो लोकनिंदा तो बच गई, लेकिन कर्म से नहीं बचे। ध्यान रखना, आपकी रक्षा नहीं हुई, आप तो बंध चुके। इसीलिए कह रहे हैं कि हिंसा नहीं करने पर भी हिंसा का फल भोग रहा है।

भो ज्ञानी! एक आचार्य ने अपने शिष्य को ऐसे डाँटा कि उसकी आँखों में आँसू आ गये। अहो! शिष्य पर कषाय कर रहे हैं, फिर भी हिंसक नहीं थे। वे कह रहे थे, बेटा! गलती मत करो, यह मोक्षमार्ग है। वे सुधार की दृष्टि से समझा रहे थे, अतः वे हिंसक नहीं थे; क्योंकि उनकी दृष्टि में रक्षा थी।

गुरु कुलाल शिशु कुंभ है, घढ़–घढ़ काढ़े खोट।
भीतर हाथ पसार के बाहर मारे चोट।।

जैसे कुंभकार घड़े को बनाता है, संभालता है, ऐसे ही गुरु भी कुंभकार के तुल्य होते हैं। बाहर से जरूर लगता है कि ताप दे रहे हैं, पर अंदर से संभाल रहे हैं। यह गुरु की दृष्टि है, इसीलिए वहाँ पर अहिंसा ही है। इसी प्रकार वैद्य ने किसी का उपचार किया, परंतु उपचार के काल में ही उस मरीज की मृत्यु हो जाती है, फिर भी वैद्य हिंसक नहीं है, अहिंसक ही है। दृष्टि का ध्यान रखना, यह रक्षा की दृष्टि है। इस प्रकार यह वीतरागमार्ग है। परंतु जो दृष्टिमूढ़ हैं, अज्ञानी हैं, उनके लिए "गुरुवो भवन्ति शरणं" यदि कोई शरण है तो, भो ज्ञानी! वीतरागी गुरु की ही शरण है। जो निष्मृह, निर्द्वन्द्व और निरपेक्ष है, वह निज की सेवा से भी दूर है। अहो! निज की सेवा के भाव आएँगे तो कभी सत्य का उपदेश नहीं हो पाएगा। सत्य को सत्य ही कहना और सत्य को सत्य ही समझना; नहीं तो, भो ज्ञानी ! "लोभी गुरु और लालची चेला, होय नरक में ठेलम ठेला"। ऐसे चेला नहीं बनना और ऐसे गुरु नहीं बनाना। यहाँ तो निष्मृह गुरु और निर्द्वन्द्व चेले की चर्चा है।

भो मनीषियो! यदि गुरु मिल गये होते तो हमारी समाज के दो टुकड़े नहीं होते। गुरु के अभाव में तुमने जो ज्ञान हासिल किया, उससे नय के चक्र को समझ नहीं पाये। इसी कारण पंथों के चक्र चल गये और यदि नय चक्र समझ लिया होता तो पंथ के चक्कर स्वयमेव समाप्त हो जाते। इसीलिए आचार्य देवसेन स्वामी ने कहा है कि भगवान् जिनेन्द्र के नय–चक्र को समझें, विवक्षा को समझें तथा गुरु की शरण को प्राप्त करें; क्योंकि बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता है। जब तक वीतरागी गुरु की शरण नहीं मिलती, तब तक वीतरागी जिनेन्द्र की निर्मल देशना समझ में नहीं आती यह सत्य है, यथार्थ है। क्योंकि जिसके पास जो होता है, वही देता है। यह किसी की भूल मत कहो, यह अपनी ही भूल कहो कि 'गुरु के अभाव में ज्ञान होता है।'

अतः हम सभी उस नयचक्र को समझें। "अध्यात्म अमृत कलश" में आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने लिखा है–हे प्रभु! स्याद्वाद से लक्षित आपकी जो वाणी है, वह नय के विरोध को विध्वंस करनेवाली है। इसलिए उस वीतरागवाणी की एवं पंच–परम–गुरु की शरण को प्राप्त करें।

मिथ्यात्व का शमन करनेवाला जिन नयचक्र

अत्यंतनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्।।५९।।

अन्वयार्थ : जनवरस्य = जिनेंद्र भगवान् का। अत्यंत निशितधारं = अत्यंत तीक्ष्ण धार वाला। दुरासदं नयचक्रम् = दुस्साध्य नयचक्र। धार्यमाणं = धारण किया हुआ। दुर्विदग्धानाम् = मिथ्याज्ञानी के। मूर्धानं = मस्तिष्क को। झटिति खण्डयति = शीघ्र ही खण्ड-खण्ड कर देता है।

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा।।६०।।

अन्वयार्थ : नित्यम् = निरन्तर। अवगूहमानैः = संवर में उद्यमवान् पुरुषों को। तत्त्वेन = यथार्थता से। हिंस्यहिंसकहिंसा = हिंस्य, हिंसक, हिंसा-भाव। हिंसाफलानि अवबुध्य = हिंसा के फलों को जानकर। निजशक्त्या = अपनी शक्ति के अनुसार। हिंसा त्यज्यतां = हिंसा को छोड़ना चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! जैन-आगम अपने आप में अगाध है। इसका पार पाना ज्ञानियों को भी सहज नहीं है। "गुरुवो भवन्ति शरणं" यदि लोक में कोई मंगलोत्तम शरणभूत है, तो पंच-परम-गुरु हैं। वे जीव धन्य हैं, जिनके परिणाम पंच-परम-गुरु के चरणों में नमस्कार करने के होते हैं। जीवन में धनहीन को सबसे बड़ा अभागा नहीं कहना। जिसका मन हीन है, लोक में उससे बड़ा कोई अभागा नहीं। अहो! जिस जीव की परिणति पंच-परमगुरु के चरणों में सिर झुकाने की नहीं हो पा रही है, समझ लेना उसका अत्यंत क्षीण पुण्य चल रहा है, क्योंकि पुण्य की वृद्धि पंचपरमगुरु की आराधना से ही होती है। अशुभ-आयु का बंधक कभी भी यह नहीं सोच पाता है कि वीतराग-मार्ग क्या है? आत्मा का हित किसमें है? जबकि मुमुक्षु/प्रतिक्षण, प्रतिपल यही चिन्तन करता है कि आत्मा का हित किसमें है? 'प्रवचनसार' की टीका में जयसेन स्वामी बड़ी सहज बात लिख रहे हैं: अहो! भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक वे निर्ग्रंथ योगी निज-स्वभाव में लीन होते हैं, लेकिन वे भी शुभ-उपयोग में आते हैं, तो यह मत कहना कि शुभ उपयोग में ही रहते हैं। जो शुभ-उपयोग में आते हैं, वे ही शुद्ध उपयोग में जाते हैं और जो शुद्ध-उपयोग में होते हैं, वे शुभ-उपयोग में भी आते है; क्योंकि अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा उपयोग बनता ही नहीं। शिष्य ने प्रश्न कर दिया-क्या श्रावक के भी शुद्धोपयोग होता है? भगवान् जयसेन स्वामी लिखते हैं कि वह श्रावक भी सामायिककाल में शुद्ध-उपयोग की भावना से युक्त होता है, उस श्रावक के भी शुद्धोपयोग की भावना होती है और ऐसे शुद्धोपयोग की भावना में लीन हुआ श्रावक, जिस प्रकार आम के बगीचे में एक-दो जामुन के वृक्ष हों फिर भी बगीचा जामुन का बगीचा



नहीं, आम का ही कहलायगा, ऐसे ही शुद्ध–उपयोग की भावना में रत होने पर भी श्रावक शुभ–उपयोगी होता है, क्योंकि वह शुद्ध–उपयोग का बगीचा नहीं, शुभ उपयोग का बगीचा है और निर्ग्रंथों के लिए यह बगीचा शुभ–उपयोग का नहीं। यहाँ शुभ–उपयोग गौण है, शुद्ध–उपयोग प्रधान है, इसीलिए यहाँ शुभ–उपयोग होने पर भी इनको शुद्ध–उपयोगी निर्ग्रंथ कहा जाता है। जिन्हें निज देह से भी राग–द्वेष नहीं, वे पर–देह में राग–द्वेष कैसे कर सकते हैं? जब आप शरीर को पर–द्रव्य मानते हो, राग नहीं करते हो तो, द्वेष क्यों करते हो? यदि आप अपने शरीर से द्वेष रख रहे हो, तो पता नहीं कि पर–शरीरों से कितना द्वेष होगा?

भो ज्ञानी! जिन्हें निज–देह एवं पर–देह में राग–द्वेष है, वे निर्ग्रंथ–वेशधारी नहीं हैं। आचार्य कार्तिकेय स्वामी अशुचि–भावना में लिख रहे हैं–

जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्पसरूव सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स।।७का. अ.।।

जो पर–देह से विरक्त हैं और निजदेह में भी जिनका अनुराग नहीं है; जिनकी सूरत (दृष्टि) आत्म–स्वरूप में लगी है, वे अशुचि भावना में लीन दिगम्बर वीतरागी गुरु ही हमारे परमगुरु हैं, वे ही शरण हैं। जिसको माता,पिता, स्त्री, पुत्र की शरण समाप्त हो जाती है, तो फिर लगता है कि कोई शरण है तो वह गुरु की ही शरण है। जिसे धन, तन और ग्रंथों की शरण है, उसे निर्ग्रंथों की शरण झलकती ही नहीं है। इसीलिए अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं–यदि आपको तत्त्व को समझना है, तो आपको शरण की खोज करनी पड़ेगी, आश्रय तो लेना ही पड़ेगा। बिना आश्रय के आप परमेश्वर बन ही नहीं सकते। अहो! जिसकी दृष्टि निर्मल होती है, उसे कहीं बुरा नजर नहीं आता। तीर्थंकर बननेवाली आत्मा वही होती है, जिसे सब अच्छा लगता है और जिसका विश्व के प्राणीमात्र के प्रति बालकवत् व्यवहार होता है। आप ऐसे ही गुरु की शरण में चले जाना। आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि यह नयचक्र बहुत गहन है। बिना गुरु के विद्या की प्राप्ति संभव नहीं है, गुरु तो चुनना ही पड़ेगा।

भो चेतन! लोक में पंच–परम–गुरु ही शरण हैं और जिस जीव की पंच परम गुरु की शरण हट गयी, उसका मोक्षमार्ग अवरुद्ध हो गया। जब तक इनके प्रति आस्था है, तबतक धर्म का आनंद है। आचार्य समंतभद्र स्वामी लिख रहे हैं कि **"मातृवत बालस्य हितानुशास्ता"** जैसे एक माँ अपने बालक का हित चाहती है, वैसे ही प्रभु विश्व के सभी प्राणियों का हित चाहते हैं। हे प्रभु! आप ऐसी माँ हो, जो कि बिना किसी अपेक्षा के सबकुछ कर रहे हो। ऐसे पंच–परम–गुरुओं की शरण को जिसने प्राप्त कर लिया, उसे संसार में कहीं भी भय नहीं लगता। एक मृगी का बालक अपनी माँ की गोद में किलकारियाँ भरता है और उसे सिंह का डर भी नहीं लगता। आचार्य मानतुंग स्वामी 'भक्तामर–स्तोत्र' में लिख रहे हैं–हे मुनीश! हे गुरुदेव! हमारे गुरु निर्ग्रंथ हैं और परमगुरु अरिहंत हैं, तीसरा मेरा कोई गुरु नहीं है। मनीषियो! ध्यान रखना, जो निर्ग्रंथ नहीं; है वे हमारे गुरु नहीं है। आचार्य महाराज 'भक्तामर–स्तोत्र' में लिख रहे हैं–"सोऽहँ तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश", हे मुनीश! आपकी भक्ति के वश होकर, 'कर्तुंस्तवं' मैं आपका स्तवन कर रहा हूँ लेकिन प्रभु मैं जानता हूँ कि मेरे अंदर सामर्थ्य नहीं है। आप महान गुणों के अगाध सागर हो, मैं स्तवन कर भी कैसे सकता हूँ? हे प्रभु! "निज शिशोः



परिपालनार्थम्" अपने शिशु के पालन करने के लिये जैसे मृगी मृगेंद्र को देखकर भयभीत नहीं होती और बालक के वात्सल्य में आकर सिंह से भी लड़ने को तैयार हो जाती है, उसी प्रकार, अहो निर्ग्रंथों के भक्तो! प्रभु के चरणों में प्रार्थना कर लेना कि, हे नाथ! जब तक मेरे कण्ठ में श्वासें चल रहीं हैं, तब तक श्रद्धाओं और मिथ्यात्व के सिंहों से मैं घबराऊँ नहीं। कितने ही अश्रद्धा के शेर मुख फाड़े बैठे हों, कितने ही पंच–परमगुरु से दूर भगानेवाले आ जायें, लेकिन, हे नाथ! हम फिर भी आपके चरणों के सामने खड़े हो जायेंगे। अहो! संसार में कोई शरण है तो एकमात्र पंच–परम–गुरु हैं, और दूसरी शरण कोई नहीं है।

भो ज्ञानी! आचार्य महाराज कह रहे हैं कि अभी तक तो आपको गुरु की शरण को प्राप्त कराया है, परन्तु अब आप भगवान् जिनेंद्र के नयचक्र को समझो। यह नयचक्र ऊपर नहीं चलता और न ऊपर दिखता है, वह तो अंदर के सिर को फोड़ता है। जो तुम्हारे अंदर मिथ्यात्व का पुतला बैठा है, एकान्त का पुतला बैठा है, उस एकांत के पुतले में छेद करता है। नयचक्र किसी के सिर को फोड़ता नहीं है; क्योंकि यह अहिंसाधर्म है और हम अहिंसा की बात कर रहे हैं, अन्यथा आप कहो कि आचार्य महाराज ने इतना कठोर शब्द क्यों लिख दिया? किसी का सिर नहीं फोड़ रहे हैं। यह ध्यान रखना, शब्द बड़ा पैना है। पंच– कल्याणक महोत्सव में एक पाषाण को हमने चार दिन में परमेश्वर बना दिया और हमारे देखते–देखते केवली बन गये और केवली बनानेवाला जैसा का तैसा बैठा है। एक प्रतिष्ठाचार्य ने एक पर्याय में कितने भगवान् बना डाले, लेकिन निज के भगवान् को नहीं बना पाया। अहो! वह पाषाण श्रेष्ठ है, जो कुछ ही दिन में परमेश्वर बन गया, पर अपना पाषाण कितना कठोर है कि इतनी छैनी पड़ रही है फिर भी असरकारी नहीं। इसलिए भगवान् जिनेंद्र के नय को समझना, और जिसने नय को समझ लिया उसे सिद्धांत समझने में देर नहीं लगेगी। जो नय को समझे बिना अध्यात्म को समझना चाहता है, वह बिना मार्ग के जंगल में प्रवेश कर रहा है। अब बताओ उसका क्या होगा? यदि आगम के विरुद्ध, सिद्धांत के विरुद्ध हमारी प्रवृत्ति चल रही है, तो उससे बड़ी हिंसा क्या हो सकती है? अरे! सबसे बड़ी हिंसा मिथ्यात्व है, जो अनादि से आत्मा को संसार में भटका रहा है, इसीलिए आचार्य महाराज ने अहिंसा में नय को रखा है, क्योंकि हिंसा के भेदों को समझे बिना अहिंसा में प्रवृत्ति कैसे होगी? यदि आपका अहिंसा महाव्रत है, तो उस अहिंसा महाव्रत की रक्षा आप कैसे करोगे? जब तक आपको जीवस्थान मालूम नहीं होगा, तब तक उन जीवों की रक्षा कैसे करोगे?

भो ज्ञानी! आचार्य महाराज कह रहे हैं कि अहिंसा में भी नय की बात की गयी है, क्योंकि नय यानि वचनवाद। वचनशैली को समझने के लिए नय अनिवार्य होते हैं और जब तक आप अहिंसा में नय नहीं लगाओगे, तो आप अपने मन से कुछ भी करते रहो, हिंसा है। सिद्धांत के विपरीत बोलना, आगम के विपरीत चलना, किसी के हृदय को दुःखित कर देना हिंसा है और निज के परिणामों को कलुषित करना महा हिंसा है। निज के परिणाम यदि पर के द्वारा बिगड़ रहे हैं तो हिंसा ही है; क्योंकि बिगाड़ किसका हो रहा है? तुम निमित्त को कितना ही दोष देते रहो, लेकिन काम तो तुम्हारा ही बिगड़ रहा है। अहो! संसार की कितनी विचित्र दशा है, काम बिगड़ जाये तो कहेंगे–ऐसा निमित्त आ गया था। यह नहीं कहेंगे कि उपादान बिगड़ गया था। कहोगे कि सामग्री रखी थी, खाने के



भाव आ गये, सो हमने खा ली; हमारा क्या दोष? अब बताओ सामग्री ने आपको कब निमंत्रण दिया था? इसलिए इस प्रपंच में मत पड़ो, सत्य को समझो, नयचक्र को समझो।

मनीषियो! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि नयचक्र अत्यंत तीक्ष्ण–पैनी–धारवाला, दुस्साध्य चक्र है। ऐसा भगवान् जिनेंद्रदेव का यह नयचक्र मिथ्यात्वी पुरुष की मूर्धा के मस्तक को खण्ड–खण्ड कर देता है, फिर वहाँ मिथ्यात्व के मस्तक बचते ही नहीं हैं। भगवान् जिनेंद्रदेव का यह सप्तभंगी नयचक्र सामान्य जीवों के द्वारा धारण नहीं किया जाता, इसलिए दुस्साध्य है।

भो ज्ञानियो! जैसे हाथी का पलान हाथी पर ही शोभा देता है, मूषक के ऊपर नहीं; ऐसे ही अरहंतदेव का यह नयचक्र प्रज्ञ आचार्यों के द्वारा स्वीकार किया जाता है, सामान्य जीवों के लिए दुस्साध्य है। इसीलिए आचार्य महाराज ने पहले ही कह दिया कि ऐसा नयचक्र स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति–नास्ति, स्याद् अवक्तव्य, स्याद् नास्ति अवक्तव्य, स्याद् अस्तिअवक्तव्य, स्याद् अस्ति–नास्ति अवक्तव्यरूप सप्त भंगी है। इस चक्र की निश्चय और व्यवहाररूप दो मूल धाराएँ हैं। यह संपूर्ण नयचक्र प्रमाण पर टिका हुआ है, क्योंकि आगम को जान लेना और आगम को जानने की शैली में जानना; कौन– सा विषय कहाँ कहना है, इस प्रज्ञा को प्राप्त करना भी तेरे पूर्व सुकृत का प्रबल योग है। अतः, इस नयचक्र को सीखे बिना अभिमन्यु–जैसी हालत हो जायेगी। घुस गये तो निकल नहीं पाओगे। जीव ग्रंथों में घुस तो जाता है, परंतु निर्ग्रंथ नहीं बन पा रहा, क्योंकि हाथ में नयचक्र नहीं है। ये बड़े–बड़े ज्ञानीजीव मुनि क्यों नहीं बनते? क्योंकि उन्होंने शब्द–तत्त्व को तो समझा है, परंतु आत्मतत्त्व को नहीं समझा। यदि आत्मतत्त्व को समझ लिया होता, तो, भो ज्ञानी! एक क्षण नहीं लगता और नयचक्र को लेकर यह जीव कर्म–शत्रु को नष्ट कर देता।

भो ज्ञानी आत्मा! नियति नियत है, परन्तु नियत मिथ्यात्व को आगम स्वीकार नहीं करता है। द्रव्य छह हैं, तत्त्व सात हैं, यह नियत हैं। ऐसा सम्यक् नियत लगाकर पुरुषार्थ करोगे, तो कार्य सिद्ध होगा, ये भी नियत है। बिना पुरुषार्थ के नियत कोई नियत नहीं हैं। ध्यान रखना, जब तक निमित्त और पुरुषार्थ नहीं होगा, तब तक कोई वरदान काम नहीं आयेगा। पुरुषार्थ को साथ लेकर चलना ही पड़ेगा। पुरुषार्थ करोगे, तभी पुरुष यानि आत्मा की सिद्धि होगी।

भो ज्ञानी! ऐसे नयचक्र को समझकर यदि वास्तव में आपको तत्त्व समझ में आया, तो उसको "तत्त्व–ज्ञान" कहना और जब भी वैराग्य के भाव आयें, तो वैरागी बन जाना।





हिंसा त्यागने के उपाय: श्रावकों के अष्ट-मूल-गुण

मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव।। ६१।।

अन्वयार्थ : हिंसाव्युपरतिकामैः = हिंसा का त्याग करने की कामना करनेवाले को। प्रथममेव यत्नेन =प्रथम ही यत्नपूर्वक। मद्यं मांसं क्षौद्रं = शराब, माँस, शहद। और पंचोदुम्बरफलानि = पंच उदम्बर फल (ऊमर, कठूमर, बड़, पीपल, पाकर जाति के)। मोक्तव्यानि = त्याग करना चाहिये।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्माजीवो हिंसामविशंकमाचरति।।६२।।

अन्वयार्थ : मद्यं = शराब। मनो मोहयति = मन को मोहित करती है। मोहितचित्तः = मोहितचित्त पुरुष। तु धर्मम् विस्मरति = तो धर्म को भूल जाता है। विस्मृतधर्माजीवः = धर्म को भूला हुआ जीव। अविशंकम् = निडर होकर। हिंसाम् आचरति = हिंसा का आचरण करता है (अर्थात् बेधड़क हिंसा करने लगता है)

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने बहुत सहज सूत्र दिया है कि 'आत्मा का धर्म अहिंसा है'। अहिंसा का जहाँ से प्रादुर्भाव होता है, वहाँ से संपूर्ण धर्म अपने आप में शुरू हो जाते हैं और जहाँ हिंसा का प्रारंभ होना शुरू होता है, वहाँ सभी धर्म पलायन कर जाते हैं। एक जीव व्रत, संयम, तप सबकुछ करता है, भगवान् जिनेन्द्रदेव की आराधना भी घंटों करता है, लेकिन यदि उसके कर्म हिंसात्मक हैं, तो सारी क्रियाएँ मिथ्या हैं। जो जीव स्वाध्याय करता है, प्रवचन भी सुनता है, देव-पूजा भी करता है, लेकिन चर्या में षट्काय जीवों की हिंसा चल रही है अर्थात् बुद्धिपूर्वक जीवों का भी घात कर रहा हो तो, भो ज्ञानी! उस जीव की सारी की सारी क्रियायें दुग्ध में मिश्रित जहर की एक कणिका के तुल्य हैं; क्योंकि तुम्हारा धर्म अहिंसा है। हिंसा के जो चार भेद हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल है, वे मात्र सुनने के लिये नहीं हैं। भो ज्ञानी! जब तक हिंस्य का ज्ञान नहीं होगा, तब तक हिंसा का त्याग कैसे होगा? किन-किन स्थानों पर कैसे-कैसे जीव हैं? कैसे-कैसे घात होता है? यह जानने की आवश्यकता है। यह लोभ नहीं, विवेक है। पहले के बुजुर्ग जब भोजन करते थे तो अंत में थाली में पानी डालकर पी जाते थे तथा उतना ही भोजन लेते थे जितना उनको चाहिये था। आप कहेंगे कि इतना लोभ कि थाली धोकर पीते थे। अरे! अज्ञानियों को लोभ दिखता है, परंतु ज्ञानियों को अहिंसाधर्म दिखता है। शिकारी जब जंगल में जाता है तो सीधा किसी प्राणी को पकड़ता नहीं है, जाल फैलाता है और उसमें जीव फँस जाते हैं। आप भोजन की थाली ऐसी आधी-अधूरी खाकर छोड़ गये, उसमें मक्खियाँ, चीटिंयाँ आएँगी और सम्मूर्च्छन जीव अन्तर्मुहूर्त में उत्पन्न हो जायेंगे।



उनकी हिंसा किसे लगेगी? वह दोष किसके सिर पर जायेगा? अहो! वह लोभ नहीं था, वह विवेक था कि मैं थाली में एक कण भी नहीं छोड़ूँगा और ज्यादा हुआ तो थाली उल्टी करके रख दी कि मेरे किसी निमित्त से किसी भी जीव का वध न हो, क्योंकि गृहस्थ है। आजकल रिवाज हो गया है कि पूरा खा लेंगे तो कोई क्या कहेगा? अतः आप झूठन छोड़कर चले गये। अहिंसा की दृष्टि से देखोगे तो अपना जूठा गिलास दूसरे को पीने को मत देना। तुम्हारे मुख के जीव और आपके शरीर के जीवाणु दूसरे के शरीर में प्रवेश करेंगे।

भो ज्ञानी! किसी को जूठन खिलाना–पिलाना वात्सल्य नहीं है। जूठन खिलाने को तुम लोग–व्यवहार मानते हो। एक साधु भी अपनी पिच्छी दूसरे साधु की पिच्छी से सटाकर नहीं रखता। उमास्वामी महाराज लिख रहे हैं कि, अहो! अहिंसा के पालको! आस्रव के दो अधिकरण हैं– जीव अधिकरण, अजीव अधिकरण। यह पिच्छी हमारा अधिकरण उपकरण है और मैंने इससे मार्जन किया है, तो मेरे शरीर के जीवाणु उसमें हैं। दूसरे के शरीर के कीटाणु उनके उपकरण में हैं। यदि परस्पर में संघर्षण होगा तो जीवों का घात होगा। अतः एक–दूसरे के वस्त्रों का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए। अजीव–अधिकार सूत्र कह रहा कि आपस में जैसे आप लोग बैठे हो, वैसे नहीं बैठ सकते हो, संघर्षण हो रहा है। अभी तो आपको अहिंसा का ज्ञान ही नहीं है।

भो ज्ञानी! आप जिसे व्यवहार कहते हो, भगवान् महावीर उसे हिंसा कहते हैं। कैसे? सीधे आए और हाथ से हाथ मिलाया, एक–दूसरे के हाथ के जितने जीव थे, सब मर गये। अरे! हाथ नहीं मिलाया जाता, जुहार किया जाता है। तुलसीदासजी ने भी रामायण में जुहार शब्द को रखा है। जुग के आदि में हुए अरू यानि पूज्य अरहंत आदिनाथ स्वामी, उनको है नमस्कार; इसका नाम है जुहार। किन–किन स्थानों पर हिंसा है? बोलने में, चलने में, बैठने में, सोने में, यहाँ तक कि शौच–क्रिया में। इन संपूर्ण स्थानों में सम्यक्दृष्टि जीव यह देखता है कि जीव तो नहीं है। जहाँ मल का विसर्जन हो जाता है, वहाँ कीड़े निकलते हैं, बिलबिलाते हैं। भो ज्ञानी! शरीर का गर्म मल जब गिरता है, तब उन जीवों की क्या हालत होती होगी ? इसको यों ही मत डाल दिया करो। अंदर जो जीव बैठा हुआ है, वह सिद्ध–शक्ति से युक्त है और आपने गरम पानी पटक दिया। आप लोग सामायिक में पाँच मिनिट सबके बारे में चिंतवन किया करो। कभी–कभी विष्टा का कीड़ा बनकर भी चिंतन करो कि एक तो मल में कीट हुआ और किसी सुअर ने उठा लिया, उस समय उस अवस्था का, उस पर्याय का चिंतवन करना। अहो ज्ञानी ! ऐसी–ऐसी वेदनाएँ तुमने प्राप्त की हैं। जिस दिन दूसरे की वेदना का वेदन हो जाएगा, उस दिन आपका विवेक जाग्रत हो जाएगा। लोटे भर पानी की जगह बाल्टी भर पानी का उपयोग नहीं करोगे। यदि देश का प्रत्येक नागरिक वर्द्धमान के अनुसार अहिंसा का पालन करने लगे, तो नगर की दीवारों पर यह नहीं लिखना पड़ेगा कि बूँद–बूँद जल की रक्षा करो।

भो ज्ञानी आत्माओ! पानी का उपयोग ऐसे करो जैसे कि तुम घी और तेल का करते हो। खोल दी नल की टोंटी और नीचे बैठ गए। चिंता मत करो, सारी तपन तुम्हारी नरकों में ठंडी हो जायेगी। ज्यादा गर्मी लगती है तो कूलर/पंखे का प्रयोग करते हो, यहाँ तक कि मंदिर में भी यह लगने लगे। अरे! कम से कम इतना तो संयम बरतं लो कि मंदिर में पंखा नहीं चलायेंगे। आप तो पूजा करके सोच रहे थे कि पुण्य–आस्रव हो रहा है, परन्तु वहाँ पंखे में एक पंचेन्द्रिय आकर खत्म हो गया, अतः



आपको नरकगति का आस्रव हो गया। पूजा के काल में भी तुम्हारा स्पर्शन–इंद्रिय का भोग चल रहा था। इसलिय, भैया! सँभलकर चलना; फिसलन बहुत है। एक बार हम लोग सम्मेदशिखर की वंदना करने गये। उस तीर्थ में बहुत आनंद है, लेकिन एक अनोखी घटना देखी तो आँखों में आँसू भर आये कि यात्रियों के लिए गर्म पानी की व्यवस्था हेतु वहाँ बड़े–बड़े हन्डे रखे हुए हैं, नीचे अग्नि जल रही है और नल की टोंटी में छन्ने लगे हुये हैं। अब बताओ उन जीवों का क्या हो रहा होगा? वह तो आपस में ही नष्ट हो गये। आपने गीजर लिया और चालू कर दिया। ठीक है, पहले ज्ञान नहीं था, पर अब तो जीव को जीव मान कर कम–से–कम इतने क्रूर तो मत बनो। दया से दया बढ़ती है। ध्यान रखना, जैसे धन से धन बढ़ता है, वैसे ही करुणा से करुणा बढ़ती है। दया चली गई, तो जीवन में बचा क्या?

अहो ज्ञानियो! जिसके चेतन–घर में अहिंसा का दीप बुझ गया, तो समझो सब दीप बुझ गये– ज्ञान का दीप, चारित्र का दीप, श्रद्धा का दीप। कुंदकुंददेव का सूत्र है "धम्मो दया विशुद्धो"।(बो.पा. २५)। धर्म वही है, जो दया से विशुद्ध होता है। दया पाप नहीं, दया धर्म ही है। निश्चय से निज पर दया, व्यवहार से प्राणीमात्र पर दया। अतः दया को पाप मत कह देना।

गौतम स्वामी ने सूत्र दिया है–"धर्मस्य मूलं दया", धर्म का मूल दया है।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो
देवा वि तं णमंसंति जस्स धम्मे सयामणो।।8–वी.भ.।।

धर्म ही मंगल है। उत्कृष्ट है, जो अहिंसा, तप, संयम से पवित्र है, ऐसे धर्म को देव भी नमस्कार करते हैं। हे मन ! ऐसे धर्म को तू मान। भो ज्ञानी ! जिनेन्द्र की वाणी विरोध से रहित होती है। ध्यान रखना, कठोरता में कष्ट होता है, लेकिन जब कठोरता समझ में आ जाती है तब कठोरता के प्रति श्रद्धा अगाध हो जाती है। जो अध्यापक आपको ज्यादा कठोरता से पढ़ाते थे, उनका विषय आज भी आपको याद है, अतः पीठ–पीछे यह कहते हैं कि हमारे गुरुजी बहुत अच्छा पढ़ाते थे। आचार्य श्री अपनी घटना सुना रहे थे कि एक बार वह जब कटनी विद्यालय में पढ़ते थे, धन्यकुमार नामक एक ईमानदार एवं विद्वान् पंडितजी थे। वे कहते थे, बेटा! मैं वेतन लेता हूँ और आप माता–पिता का खाते हो। इसलिये दोनों ईमानदारी से चलो। उनके अतिअनुशासन में बच्चे घबरा गये, तो उनका यहाँ से स्थानांतरण कराने के लिये आवेदन लगा दिया। जिस दिन बिदाई थी, उस दिन वही छात्र आँखों में आँसू भरकर रो रहे थे।

अनुशासन कठोर तो होता है, परन्तु अकल्याणकारी नहीं होता है और शिथिलाचार मृदु लगता है, अकल्याणकारी होता है। जिसको अपने जीवन का घात करना हो तो शिथिलाचार का पोषण कर लो। अपने बच्चे बिगड़वाना हो, उन्हें नाना–नानी के घर में भेज दो, क्योंकि उनके यहाँ वे देवता कहलाने लगते हैं, वे उन्हें डाँटते–मारते नहीं। ठीक है, मेहमानी के लिये भेज दो, पर उनके भरोसे मत छोड़ देना। आचार्य–विहीन–शिष्य और पिता–विहीन–पुत्र की जो हालत होती है, मनीषियों! अहिंसा से रहित धर्म की भी वही हालत होती है।

भो ज्ञानी! जब जीवन में समीचीन आचार होगा, तभी सम्यक्त्वाचरण होगा और जब सम्यक्त्वाचरण होगा, तभी तो स्वरूपाचरण होगा। अब देखो, हमारे जीवन में सम्यक्त्वाचरण की गंध ही नहीं है तो



स्वरूपाचरण की दृष्टि कैसे हो सकती है ? यह तो छल है निज के साथ। मनीषियो! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि सबसे पहले जो अष्ट–मूलगुणों का पालन करता है, वह जैन होता है। जिसके जीवन में अष्ट–मूलगुण नहीं है, वह जाति का जैन तो है, पर धर्म का जैन नहीं है। इतनी निडरता से कहनेवाले आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ही हैं कि जब तक तुम्हारे अन्दर अष्ट–मूलगुण का पालन नहीं है तो तुम्हें प्रवचन सुनने का भी अधिकार नहीं है। जो जीव रात्रि–भोजन करता हो, दूध, फल, मेवा आदि चखता हो, उनसे अमृतचंद्र स्वामी जी कह रहे हैं कि जो रात्रि में ग्रास खाता है, वह माँस के पिण्ड को खाता है। अहो! कभी तो सोचा करो कि हम मरण के समय भी त्याग नहीं कर पा रहे हैं। जिसने स्वयं अष्ट–मूलगुण धारण नहीं किये, वह जिन का उपदेश क्या करेगा? इसलिये ध्यान रखना, गणधर की गद्दी पर बैठो, तो कुछ तो त्याग करके बैठना।

भो चेतन! माँस, मधु, मदिरा की तरह जितने द्रव्य चलित हो चुके हैं अर्थात् जितने चलित रस हैं और जितने औषधियों के आसव आ रहे हैं, एलकोहल उसमें मिला हुआ है। भो ज्ञानी! बरसों–बरसों की जो बोतलें रखी रहती हैं कोका–कोला की और न जाने कब की भरी पड़ी हुई हैं, पानी उसमें है कि नहीं? कब छना है? क्या श्रावक–धर्म का पालक ऐसी वस्तु को छू सकता है?

जिनसेन स्वामी ने महापुराण में लिखा कि आठ वर्ष तक बच्चे को अष्टमूलगुण का पालन कराने का अधिकार माता–पिता का रहता है। नहीं कराया, तो हिंसा का दोष माता–पिता को ही लगेगा। यदि वह साधु बन गया, तुम्हारी बात उसको पता चल गई, तो वह कहेगा–माँ! धिक्कार है जो मैंने तेरी कोख से जनम लिया, तूने मेरे संयम का जन्म ही से नाश करवा दिया। इसलिये, हे माताओ! बच्चों को मदिरा का पान मत कराओ, अफीम मत खिलाओ। भो ज्ञानी! आयुर्वेद कहता है–बच्चा जितना ज्यादा रो लेता है, उतना तंदुरुस्त होता है। कब रोयेगा वह ? उसको रोने का मौका तो दो। माँ आँचल का पान कराती है, तो उसके अंदर वात्सल्य–भाव रहता है। पर जब जन्म से ही उसे कठोर बोतल पकड़ा देती है, तो उसके अंदर कठोरता संस्कारित हो जाती है।

अहो! आचार्य कुंदकुंददेव की माँ ने–'शुद्ध हो, बुद्ध हो, निरंजन हो', ऐसी लोरियाँ कहकर अपने लाल में संस्कार डाले, परंतु तुम्हारा बच्चा रोया, तो तुमने टेलीविजन खोल दिया। बताओ, कैसे तुम्हारे घर में राम जन्में, श्याम जन्में, महावीर जन्में, कौन जन्में ? वे कंस के संस्कार हैं, तो कंस ही उत्पन्न होंगे।

बड़ा' खाते हो और 'मठे' की कड़ी बनाकर खाते हो। जैसे ही बेसन, छाछ आदि का संयोग लार से होता है, उसमें जीव पड़ गए और तुम्हारे मुँह में चले गये।

आमं वि दहियम् विदलनु होई।
तम् असणे पापं भणंत जोई।। अमरसेन चरिऊ।।

इसी प्रकार कच्चे दूध से बने दही, छाछ आदि खाने को योगियों ने पाप कहा है। टॉनिक में मधु पड़ा है। एक बूँद शहद के भक्षण से सात गाँव जलाने के बराबर हिंसा होती है। अहो! शक्कर की चासनी बना लेना, पर शहद में औषधी मत खाना। ध्यान रखना, मद्य, माँस, मधु और पंच–उदम्बर–फल का त्याग, ऐसे हिंसा की इन आठ वस्तुओं का पहले ही त्याग कर देना। यह मदिरा मन को मोहित कर देती है। मद्यपायी धर्म को भूल जाता है। अतः जिनका शरीर खोखला, मन खोखला और जो आचरण से भी खोखले हैं, ऐसे लोगों की संगति मत करना।



मदिरापान के दुष्परिणाम

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम्।। ६३।।

अन्वयार्थ : च मद्यम् = और मदिरा। बहूनां = बहुत से। रसजानां जीवानां =रस से उत्पन्न हुए जीवों की। योनिः इष्यते = योनि (उत्पत्ति स्थान) मानी जाती है। मद्यं भजतां = मदिरा का सेवन जो करते हैं। तेषां हिंसा = उन जीवों की हिंसा। अवश्यम् संजायते = अवश्य ही होती है।

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः।। ६४।।

अन्वयार्थ : च = और। अभिमान भयजुगुप्सा हास्यारतिशोक=घमण्ड,डर,ग्लानि, हास्य,अरति,शोक। कामकोपाद्याः = काम,क्रोध आदि। हिंसायाः पर्यायाः = हिंसा के पर्याय या भेद हैं। सर्वेऽपि सरकसन्निहिताः = यह सब ही मदिरा के निकटवर्ती हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की दिव्यदेशना में आया है कि निज चैतन्य– भावों का निग्रह जिस परिणति से हो, वह हिंसा है तथा जिन परिणामों से आत्मा की निर्मलता में वृद्धि हो, उसी का नाम अहिंसा है। अतः, विशुद्धि की वृद्धि का नाम अहिंसा है और संक्लेश–स्थानों की वृद्धि का नाम हिंसा है। हिंसा तो परिणामों की कलुषता है, चाहे वह क्लेश लोभ–कषाय–जन्य हो, चाहे माया–कषाय–जन्य हो, क्रोध या मानरूप हो, कामरूप हो, वह हिंसा का ही परिणाम है। ध्यान रखना, मन को तो थकान आती है, लेकिन इच्छाओं को थकान नहीं आती। इच्छाएँ थक जाएँ, तो मन संयम लेने को तैयार है। भो ज्ञानी! सुख–दुःख दोनों अवस्थाएँ साता–असाता के उदय से हैं। सुखरूप वेदन साता कराती है और दुःखरूप वेदन असाता कराती है और वेदन तभी तक है जब तक मोहनीय–कर्म बैठा है। मोह का मद समाप्त हो जाये, तो दुःख भी महसूस नहीं होगा। ज्ञानी साता में साता नहीं देखता, असाता में असाता नहीं देखता। अज्ञानी दोनों को देखता है, क्योंकि मोह का मद है। ध्यान से समझना, मदिरा का मद तो सीमा में है, मदिरा को उतारने की भी औषधि है, पर मोह की मदिरा को अनादि से पिया है। पंडित दौलतराम जी ने लिखा है–"मोह–महामद पियो अनादि!" जीव जानता भी है, समझता भी है, सोचता भी है, किंतु स्वीकार नहीं कर पाता। जरा से मोह के पीछे निर्मोही, समरसीभाव से युक्त, परमपरिणामिक, चैतन्य–आत्मा को खो बैठे हैं।

भो ज्ञानी! विश्वास रखना, मोह शाश्वत नहीं है, कर्म का बंध शाश्वत नहीं, शाश्वत मेरी निर्बंध–दशा ही है। एकसाथ दो कार्य नहीं होते हैं। यदि मोह स्वभाव हो जाय, फिर तो उस निर्मोही–अवस्था



को विभाव कहना पड़ेगा। मोह तेरा सत्य–स्वभाव नहीं है, मोह तेरा विभाव–स्वभाव है। आप लोग मानो या न मानो, एक समय निर्मोह का आनन्द आपको आता है। जब आप निश्चिंत होकर बैठे होते हो, कोई विकल्प नहीं होता है, उस समय सोचते तो हैं कि कुछ है। बस, आप जिसे 'कुछ' कहते हो, वह ही सत्य–स्वभाव है। वास्तविकता तो यह है कि मसालों के स्वाद ने दाल के स्वाद को नहीं लेने दिया; बादाम–बीज और केशर के घोल ने दूध के असली स्वाद को लेने नहीं दिया। ऐसे ही निज स्वभाव की मधुरता को खोकर मोह के स्वाद को ही तू आत्मा का स्वभाव कहने लगा है। अहो! मोह/राग से रहित भोग को जिस दिन आपने देख लिया, उस दिन आपको लगेगा कि मेरे–जैसा अज्ञानी विश्व में कोई नहीं होगा। आचार्य गुणभद्र स्वामी ने 'आत्मानुशासन' ग्रंथ में भी लिखा है–

लब्धेन्धनोज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरिन्धनः।
ज्वलत्युभयथात्युच्चैरहो, मोहाग्निरूत्कटः।।५६।।

भो ज्ञानी! यदि अग्नि से भी प्रचंड कोई दावानल है तो उसका नाम मोह है। अहो! मोह–अग्नि कितनी उत्कट है, जो ईंधन के अभाव में भी जलाती है। जब कोई तुम्हारे संबंधी थे, तब उनके राग में झुलस रहे थे। उनकी मृत्यु हो गई, तो वियोग में झुलस रहे हो। अरे! वर्तमान को निहार लो, वर्द्धमान बन जाओगे और भूत या भविष्य में जीओगे तो भूत ही बनकर रहोगे। भो ज्ञानी! यह कभी मत सोचना कि मेरे बाद क्या होगा? "वत्थु सभावो धम्मो", वस्तु का स्वभाव धर्म है, स्वरूप है और स्वरूप कभी नष्ट नहीं होगा। हमारी पर्याय नष्ट हो जायेगी, लेकिन धर्म कभी नष्ट नहीं होगा। सम्प्रदाय नष्ट हो सकते हैं, पंथ नष्ट हो सकते हैं, आम्नायें नष्ट हो सकती हैं। जो बनाई जाती हैं, वे नियम से नष्ट होती हैं। जो शाश्वत/ध्रुव होता है, वह कभी नष्ट नहीं होता। धर्म त्रैकालिक अखण्ड ध्रुव–सत्ता है, वह कभी नष्ट नहीं होगी। लकड़ियाँ जल जाएँगी, ईंधन जल जायेगा, परंतु उष्णता कभी नहीं जलेगी। ऐसे ही पर्याय बदलती है, पर्याय नष्ट होती है; लेकिन वीतरागधर्म कभी नष्ट नहीं होता है। इसीलिए सत्य का कभी विनाश नहीं होता और असत्य का कभी उत्पाद नहीं होता।

भो ज्ञानी! आप संसार की किसी पर्याय में जायेंगे तो सुन्दर सुहावने शरीर को प्रदान करानेवाली जो कोई परमउपकारी वस्तु है, उसका नाम मृत्यु है। आपको मनुष्य–शरीर मिला, मृत्यु सुधर गई, तो देवों का वैक्रियक शरीर प्राप्त कर लोगे, इस सड़े–गले शरीर में नहीं रहना पड़ेगा। यदि आपने सल्लेखनासहित मृत्यु का वरण कर लिया, पंडितमरण हो गया तो, मनीषियो! सात/आठ भव तो दूर, दो/तीन भव में ही आप पंडित–पंडित मरण को प्राप्त हो जायेंगे। आज से ही तैयारियाँ करो। मोह–मदिरा पीना बंद कर देना। मद एक व्यसन है और व्यसन तो विष से भी अधिक खतरनाक होता है। अब सोचो! जब आप तीव्र मोह में लिप्त हो और तीव्र अशुभ कथन कर रहे हो, उस समय की पर्याय को एक क्षण को देख लो तो अपने विभावों के स्वरूप का भान हो जाता है। भो ज्ञानियो! तुम्हारे मोह की खेती जहाँ भी चल रही है, वह पुण्य के पानी से चल रही है। जिस दिन पुण्य का पानी नष्ट हो जायेगा, दुनियाँ के राग–रंग भी तुम्हारे फीके हो जायेंगे। इसीलिए पानी का व्यय मत करना, बूँद–बूँद की रक्षा करो। पुण्य के पानी की रक्षा करना शुरू कर दो। क्योंकि पुण्य का पानी अलग से नहीं लाओगे। अहो! जब बाल्टियाँ भर–भरकर जल फैलाओगे तो उसकी एक–एक बूँद में कितने जीव खत्म

होंगे ? भैया! जैनधर्म की अपेक्षा से तो असंख्यात् है, पर वैज्ञानिकों की गणना है कि छत्तीस हजार चार सौ पचास जीव एक बूँद पानी में दिखते हैं। एक बाल्टी पानी में स्नान किया था, हम कैसे कहें कि आप लोग पवित्र हो ? हर क्रिया में हिंसा। कम से कम छान ही लेते। अरे! जिसकी राख होनी है, उसको क्या चमकाओगे ? इसीलिए चमड़ी को चमकाने के पीछे अहिंसा को मत खो देना।

भो चेतन! वर्तमान में जीना शुरू कर दो। हम ऐसे पाप अब तो न करें कि जिससे भविष्य में विपाक का नाम हमारे सामने खड़ा हो। विपाक यानी कर्म का फल। तुम्हारे सोचने से कुछ होने-वाला नहीं। आचार्य वादीभसिंह सूरि लिख रहे हैं कि-संसार के भोले प्राणी पाप का फल नहीं चाहते, लेकिन पाप कर रहे हैं। पुण्य कभी भी नहीं करना चाहते और धीरे से कह देते हैं 'होता स्वयं जगत परिणाम'। भो ज्ञानी! स्वच्छन्दी बनने के लिए यह कारिका नहीं लिखी गई है। अरे! ससुर जब सिर पर सिगड़ी रख रहा था, जब सिंहनी खा रही थी, जब लोहे के आभूषण पहनाये जा रहे थे, जब बसूले से शरीर छिला जा रहा था, तब वे योगी कह रहे थे 'होता स्वयं जगत परिणाम।' तुम तो मस्त हो रहे राग में और कह रहे हो 'होता स्वयं जगत परिणाम।' इसीलिए, मनीषियो! ऐसे मोह/राग की मदिरा को छोड़ दो।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि जो मदिरा है, वह जीवों का ही रस है, सड़ाकर रख दिया है। आपके घर में फल आये, भोजन बना, फफूँद पड़ गयी तब कपड़े से साफ किया और खा लिया। जो बचा सो आपने धीरे से फ्रिज में रख दिया। एक सज्जन आये, बोले-महाराज! हमारे घर में तो सोले की चप्पलें हैं। फर्श बहुत ठंडा रहता है, सो अलग से नई चप्पलें लाये हैं। उन्हें धोकर रख ली हैं। जब रसोई में जाते हैं तो पहन लेते हैं। अरे! चौका को चौका रहने दो, घूरा मत बनाओ। चप्पल पहनकर घूरे पर जाया जाता है, चौके में नहीं। इसलिए विवेक का उपयोग करो। पंचमकाल का अभी अन्त नहीं हुआ है, अभी तो मात्र ढाई हजार वर्ष हुए हैं। अठारह हजार वर्ष तक चलना है। अभी धर्म का विनाश मत कर देना। आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि जितने मादक द्रव्य हैं, मदिरा है और जितने चलित रस हैं, वह सब मदिरा हैं। चाहे तुम्हारे अनार का रस क्यों न हो, यदि स्वाद बिगड़ चुका है तो जिनका मद्य का त्याग है, वे अलकोहल और बोतलों में भरी तरल औषधियों का उपयोग न करें। जो आयुर्वेदिक है, सूखी है, वह ही शुद्ध है। आयुर्वेद में भी जीवों की हड्डी-पसलियों का उपयोग होता है। वहाँ भी पूछकर ही लेना। आयुर्वेद में ऐसी औषधियाँ हैं जिनमें मूत्र आदि का उपयोग होता है अथवा साक्षात् जीवों के कलेवर होते हैं। पढ़ लेना, आयुर्वेद के नाम से शुद्ध मत कह देना। 'कल्याणकारक' जैन आयुर्वेद ग्रंथ हैं। उसमें उग्रदत्ताचार्य महाराज ने सब रसायन, वनस्पति, औषधियों का कथन किया है। दूध भी अगर फट जाये तो अभक्ष्य है। भो ज्ञानियो! जिनको वर्षों तक रखा जाय, उसे भक्ष्य कैसे कहा जायेगा ? भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक नहीं, चैतन्य-प्रभु तुम्हें कहाँ मिलेंगे?

देखो, अभी चाकलेट के बारे में क्या निकला था? आप पैसा भी दोगे, बिस्कुट, ब्रेड भी खिला रहे हो। यदि ममता है तो बच्चे को अभक्ष्य मत खिलाना। आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि जहाँ जीव उत्पन्न होते हैं, वह योनीस्थान है। ऐसे मद का जो सेवन करता है, वहाँ नियम से अवश्य ही हिंसा होती है। आगम तो यह कहता है कि तुम्हारे घर में कोई सामग्री बिगड़ जाये, तो उसे ऐसे स्थान पर फेंकना कि पशु भी न खायें। भैया बाजार से ककड़ी लाये, उसमें कीड़ा दिख गया, तुमने उठाकर

गाय के सामने डाल दिया, यानि आपने अपने हाथ से गाय को माँस खिलाया। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम उसे ऐसे स्थान पर छोड़ो जहाँ कोई जीव उसे न खाये। त्रैलोक्य–मण्डल हाथी को जाति–स्मरण हो गया, तो उसने खाना छोड़ दिया। मुनिराज से पूछा, तो महाराज ने कहा–इसने पूर्व में मायाचारी की थी। ये मुनि का जीव है। अब इसको जातिस्मरण हो गया है, अतः इसने अभक्ष्य खाना छोड़ दिया है। उसको शुद्ध भोजन खिलाया जाये। पुरुषार्थ की सिद्धि तभी होगी, अन्यथा नहीं, कितनी ही बातें कर लो। जैसे मद्यपायी की अवस्था होती है, ऐसे ही कषायियों की अवस्था होती है।



माँस फल-फूल नहीं, प्राणियों का कलेवर है

न विना प्राणिविद्यातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा।। ६५।।

अन्वयार्थ : यस्मात् = क्योंकि। प्राणिविद्यातात् बिना = प्राणियों के घात बिना। मांसस्य उत्पत्तिः = मांस की उत्पत्ति। न इष्यते = नहीं मानी जाती। तस्मात् = इस कारण। मांसं भजतः = मांसभक्षी पुरुष के। अनिवारिता हिंसा प्रसरति = अनिवार्य रूप से हिंसा फैलती है।

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्।। ६६।।

अन्वयार्थ : यदपि किल = यद्यपि यह सच है कि। स्वयमेव मृतस्य = अपने आपसे ही मरे हुए। महिषवृषभादेः = भैंस, बैलादिकों का। मांसं भवति = मांस होता है। तत्रापि = वहाँ भी, उस मांस के भक्षण से। तदाश्रित = उस मांस के आश्रित रहनेवाले। निगोतनिर्मथनात् = उसी जाति के निगोद जीवों के मंथन से। हिंसा भवति = हिंसा होती है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! भगवान् महावीर स्वामी की पावन तीर्थ देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचंद स्वामी ने पूर्वसूत्र में संकेत दिया कि अनादि-मिथ्यात्व के वशीभूत, मोह के मद में उन्मत्त जीव की ज्ञानज्योति जिस दिन जाग्रतमान होगी, उस दिन अविद्या, मिथ्यात्व और मोह का मद स्वयमेव विगलित हो जाएगा। आचार्य भगवान् पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि-

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत्।
तत्पष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद्द्रटव्यं मुमुक्षुभिः।। इष्टो.४९।।

मुमुक्षु जीवों को वही पूछना चाहिए, वही जानना चाहिए है, जिससे अविद्या का विनाश हो। मनीषियो! ध्यान रखना कि काम, भोग, बंध की प्रदर्शनी को तूने अनादि से देखा है, अनादि से सुना है और अनादि से जाना है। यदि वही प्रदर्शनी देखने के भाव तुमने रखे, तो इस पर्याय को प्राप्त करना या न-करना समान है। भगवान् पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं-जितना भ्रम है, सब अविद्या का ही है। विद्या यानि कैवल्यज्ञानज्योति। हे प्रभु! आपकी विद्या कैवल्यज्योति है, जिसमें लोकालोक के चराचर पदार्थ दर्पण के समान प्रतिबिम्बित होते हैं। वही विद्या परमज्ञान है।

भो ज्ञानी! परमज्ञान ही महान् है और वह परमज्ञान योगियों को स्वात्मानुभव से उत्पन्न हो रहा है। जिसे आप जान रहे हो व जिससे आप जान रहे, वह परमज्ञान नहीं है। जो आत्मा से उत्पन्न



हो रहा है, जो आत्मा को जान रहा है, वही परमज्ञान है। जो ज्ञान विषयों में जा रहा है और विषयों को बुला रहा है उसे ज्ञान नहीं कहना। वह तो परम–अज्ञान है। इसलिए आचार्य अमृतचंद स्वामी कह रहे हैं कि यह अज्ञानभाव का परिणमन ही है। कषायभाव और मद्य की सन्निकटता है। मद्यपायी कभी जननी को पत्नी कहता है, तो कभी पत्नी को भी जननी कहने लगता है। अहो! रागियों को राग हेय नहीं लगता, वह तो वीतरागियों को ही हेय लगता है; क्योंकि जिसे नशा चढ़ा हुआ है, उसे राग ही अच्छा लगता है। पिट रहा है, कुट रहा है, फिर भी वहीं जाता है। राग के वश आप घर में क्या–क्या नहीं सुनते हो। कभी आपको उदासता आती है ? उन्मत्त पुरुष की दशा के बारे में उमास्वामी महाराज ने लिखा है कि–'सदसतोर विशेषाद्यदृच्छोपताब्धेरुन्मत्तवत्'। (त.सू./ ३२)। क्या सत्य है तथा क्या असत्य है, उन्मत्त कोई विशेषता का ध्यान नहीं रखता।"

भो ज्ञानी! मल से दूषित बर्तन को पानी से धो लिया जाता है, परंतु यदि दूषित मन को धोने का कोई माध्यम है तो एकमात्र जिनवाणी ही है, दूसरा कोई आलम्बन नहीं है। परन्तु जिसने जिनवाणी को ही नहीं समझा, उसके मन का मैल धुलनेवाला नहीं है। मल से मलिन होना कोई पाप नहीं है। मल तो मुनियों का आभूषण है। भो ज्ञानी ! शरीर के मल से मलिन का तो मोक्ष हो सकता है, परंतु मन से मलिन का कभी मोक्ष नहीं हो सकता। बाईस परीषहों में एक मल–परीषह भी है। निर्ग्रंथ मुनि स्नान नहीं करते, क्योंकि ब्रह्मचारी सदा शुचि। उनके अस्नान नाम का मूलगुण होता है। अहो! कितनी निर्मल अहिंसा है कि पानी डालेंगे तो जीव का विघात होगा, पानी बहेगा तो जीव का विघात होगा। अंतरंग में कितनी करुणा गूँज रही है। आप उनके भक्त हो, स्नान नहीं छोड़ सकते तो, भो ज्ञानी! कम–से–कम पाप–पंक से तो स्नान मत करो। पंक से स्नान करने पर शरीर धुलेगा कि मलिन होगा ? अहो! पाप–पंक में पड़े ज्ञानियो! जिनवाणी के नीर में अवगाहन करो। नीर से कल्याण नहीं होगा; ज्ञान–नीर की आवश्यकता है।

भो ज्ञानी! अविद्या का नाश करनेवाली परमज्योति को अमृतचंद्र स्वामी ने नमस्कार किया है। जिस प्रकार अंधकार का नाश ज्योति से होता है, उसी प्रकार अविद्या का नाश भी ज्ञान से ही होता है। मोह का विगलन भी ज्ञान से ही होता है। जब तक बलभद्र का विवेक (ज्ञान) नहीं जगा, तब तक नारायण के जीव को लेकर छह महिने घूमते रहे। मर्यादा–पुरुषोत्तम और क्षायिक– सम्यक्दृष्टि जीव राम के चारित्रमोह की महिमा तो देखो ? कोई समझाता, तो कहते थे –तू मरे, तेरा भाई मरे, मेरे भाई को मरा कहते हो? उठाकर चल देते थे। जब कषाय की सीमा पूर्ण हो गयी तो, अहो! आत्मबोध हो गया, प्रतिबोध हो गया कि यह मैं क्या कर रहा हूँ ? विदिशा के हे रामो! तुमको तो छह–छह भव नहीं, छह–छह काल नहीं, अनंतानंत भव बीत गए। यह तन मुर्दा है, तू तन की पीड़ा को अपनी आत्म–पीड़ा मत मान। छोड़ दो इस नशे को, क्योंकि भगवान् कह रहे हैं कि गौतम स्वामी से पूछ लेना–प्रभु ! आप अंतिम तीर्थेश के प्रधान गणधर–पद को प्राप्त किए हो, लेकिन जब तक आपको मद की मदिरा चढ़ी हुयी थी तब तक महावीर को आप भगवान् नहीं कहते थे। आप शिष्य बनने नहीं आये थे, वह तो परमेश्वर की महिमा थी कि उनकी पावन तेजस्वी कैवल्य ज्योति को देखकर आपके मान का मद उतर गया और शिष्य बन गए। अहो! जिस जीव का तीव्र मिथ्यात्व का अथवा मान का उदय हो, उसका भगवान् जिनेन्द्र की वाणी को सुनने का मन नहीं करता। मारीचि को देखो,



वह समवसरण से उठकर चला गया। ऐसे ही जिन जीवों की भवितव्यता बिगड़ चुकी है, वे धर्मसभा को भी छोड़कर चले जाते हैं।

भो ज्ञानी! जिस जीव के वर्तमान में परिणाम इतने कलुषित हो रहे हों, किसी केवली को परेशान करने मत जाना कि, हे भगवान्! अब मेरी कौन–सी गति होनेवाली है ? बंधुओ! कषाय की तीव्रता से नरक का ही बंध होता है। इसलिए अभिमान तो मदिरा के ही सन्निकट है। किसी के असंयम को देखकर, किसी के दुश्चारित्र को देखकर आपको उसके प्रति ग्लानि आ रही है तो, मनीषियों! ग्लानि तो करो, मगर पापी से नहीं, पापों से करो। ग्लानि प्राणियों से मत करो।

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय।।

अहो! रावण बुरा, दुर्योधन बुरा, पर जिस परिणति से दुर्योधन बना है यदि वह परिणति आपके अंदर भी है तो, ध्यान रखो, आप भी वही हो। आप रावण को बुरा कहते हो, परंतु केवली की वाणी में खिर चुका है कि वह तो भविष्य में भगवान् बननेवाला है। भो ज्ञानी ! बुरा मत देखो और जो बुरा है उसे मत करो। दूसरे की बुराई देखने की दृष्टि उसी की होती है जो वास्तव में अंदर से बुरा होता है। दो चीटियों की कथा आप पढ़ चुके हो, सुन चुके हो। जिसके मुख में नमक की डली थी, तो शक्कर का स्वाद भी उसे खारा ही आता था। अरे मुमुक्षु आत्माओ! इस मोह की मदिरा को तनिक तो निकाल दो।

भो ज्ञानी! मत करो किसी से ग्लानि। अहो! जिस पड़ौसी से आप ग्लानि कर रहे हो, यदि उसकी भवितव्यता कहीं निर्मल हो गई, तो वह जीव आयु पूरी करके तुम्हारे घर में पुत्र बनकर उत्पन्न हो गया, तो बेटा!–बेटा! चिल्लाओगे, फिर नहीं कहोगे पड़ौसी। इसलिए जीव से भी राग नहीं होता, क्योंकि जब चला जाता है तो कुछ नहीं कर पाते हो और पर्याय से भी राग नहीं झलकता, क्योंकि यदि पर्याय से राग होता तो तुम जलाने क्यों जाते हो ? अहो! राग से राग है यानि स्वार्थ से राग है; क्योंकि जब तक तुम्हारी किसी से बन रही है, तब तक मेरे–मेरे कहते हो। इसलिए जुगुप्सा भी मदिरा है। भैया! हँसना भी बड़ी कषाय है। आज तक जितने भी फँसे, सब हँसने से ही तो फँसे। हँसी– हँसी में ही तो कह दिया था कि अंधो की संतान अंधी होती हैं। बस, महाभारत हो गया। भो ज्ञानी! ज्यादा हँसी भी मत किया करो। हास्य–कर्म का बंध तुम हँसते–हँसते ही कर लेते हो। इसलिए विवेक से सुनना कि हँसी–मजाक भी अच्छा नहीं है।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, क्षेत्र अशुभ नहीं होता, काल अशुभ नहीं होता, द्रव्य अशुभ नहीं होता और क्षेत्र दुःख नहीं देता, काल दुःख नहीं देता, द्रव्य दुःख नहीं देता। देखो उस क्षण की पर्याय को, कैसे कहें कि काल अशुभ है, क्योंकि उसी काल में विभीषण का राज्य अभिषेक हो रहा है और उसी काल में लंकेश के दो टुकड़े हो रहे हैं। हम किस काल को शुभ कहें ? राम का जयनाद हो रहा है अयोध्या में और उसी काल में लंका में हाहाकार हो रहा है। उस समय कौन मंगल, कौन अमंगल ? जिसका उस समय पुण्य है, उसका मंगल है और जिसका पुण्य क्षीण है, उसके लिए अमंगल है। एक ही भवन में एक ही मंजिल पर मंगलाचरण हो रहे हैं, उसी मंजिल पर दूसरे की अर्थी निकल



रही है। क्षेत्र को मंगल कहूँ कि अमंगल कहूँ? कैसे कहूँ कि द्रव्य अशुभ है? चाँदनी एक को आनंद दे रही है, वही चांदनी चकवी को रुला रही है। वास्तविकता को समझते जाओ। ज्ञानी हेय को भी ज्ञेय देखता है और उपादेय को भी ज्ञेय देखता है। जिसकी ज्ञाता–दृष्टा–दृष्टि है, वही संत–दृष्टि है। इसलिए मनीषियों! विवेक से काम करो, वर्तमान को निहारो। इसमें मत जाओ कि यह चले गए, वह आए। यह तो प्रकृति का स्वभाव है।

भो ज्ञानी! मोक्षमार्ग निष्ठुर ही होता है। राग के प्रति जब तक निष्ठुर नहीं बनोगे, तब तक वीतरागी संज्ञा आनेवाली नहीं है। इसलिए संयम की छतरी के अलावा कोई अन्य छतरी काम नहीं करेगी। मात्र जिनवाणी के छींटे ही काम की तपन को समाप्त कर सकते हैं, चंदन के छींटे नहीं। आज चक्रवर्ती भरतेश खड़े–खड़े आँसू टपका रहे थे, क्यों ? आज यह हाथ–हाथ, नहीं है और मस्तिष्क, मस्तिष्क नहीं बचा; क्योंकि आज धरती के देवता मुझे नहीं मिले। देखो भाग्य–दो चारण–ऋद्धिधारी मुनिराज आकाश से उतर आए और चक्रवर्ती का हृदय गद्‌गद् हो गया। आँखो के जल से चरण पखार लिए। यह अंतरंग में भक्ति थी। इसलिए कम–से–कम इतने दरिद्र मत बनना कि नमक भी तुम्हारे घर में शुद्ध न हो। मनीषियो! ध्यान से सुनना; जो नमक समुद्र से आ रहा है, उस नमक का कौन–से जैनी ने जाकर पानी छाना, उसकी क्यारियों को धोया। आचार्यश्री एक बार बता रहे थे–उन्होंने भावनगर (गुजरात) में चातुर्मास किया। वहाँ एक सेठजी कहने लगे कि उनकी नमक की क्यारियों में एक मजदूर का सोलह वर्ष का बालक गिर गया और किसी ने नहीं देखा। पंद्रह दिन बाद जब क्यारी खोदी गयी, नमक निकाला गया, उसमें चार–पाँच स्थूल हड्डियाँ मिलीं, तब पता चला कि बेटा तो यहाँ गल चुका है। ऐसे ही उसमें छोटी–छोटी मछलियों व कीड़ों का शरीर गल जाता है। अरे! खाना है तो, पत्थर का नमक खाया करो। वह भी बिल्कुल चिकना हो तो मत लेना, जो खुरदुरा हो वही लेना। ऐसा नमक मत खाना, जिसमें पंचेंद्रिय जीवों की हड्डी–मांस मिले हों।

मनीषियो! आचार्य भगवान् कह रहे हैं प्राणी के विघात किए बिना कहीं भी माँस की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। यह कोई फल, फूल, मेवा नहीं है, जीवों का पिण्ड है। जिन औषधियों में जैविक द्रव्य पड़ा हुआ है, चाहे वह गोलियाँ हों, केपसूल हों, अहो! मरना हो तो मर जाना, लेकिन जीवन के लोभ में आकर हम जीवों का कलेवर क्यों खाएँ ? कुछ अज्ञानियों के तर्क आचार्य अमृतचंद स्वामी के सामने भी थे, जो कहते थे कि हम कौन मार रहे हैं? हम तो मरे–मराए को ही खा रहे हैं। परंतु यह भी हिंसा ही है।



मत करो अधिक हिंसा–लालसा के पीछे पुण्य की

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्।। ६७।।

अन्वयार्थ : आमासु = बिना पकी अर्थात् कच्ची। पक्वासु अपि =पकी हुई भी। विपच्यमानासु अपि = पकती हुई भी। माँसपेशीषु = माँस की डालियों में। तज्जातीनां = उसी जाति के। निगोतानाम् = सम्मूर्च्छन जीवों की। सातत्येन उत्पादः = निरंतर ही उत्पत्ति होती रहती है

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्।। ६८।।

अन्वयार्थ : यः = जो जीव। आमां वा = कच्ची अथवा। पक्वां = अग्नि में पकी हुई।पिशितपेशीम् = माँस की डली को। खादति = भक्षण करता है। वा स्पृशति = अथवा छूता है। सः = वह पुरुष सततनिचितं =निरंतर एकत्रित किये हुये। बहुजीवकोटीनाम् = अनेक जाति के जीवसमूह के। पिण्डं निहन्ति = पिण्ड को नष्ट कर देता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! आचार्य भगवन् अमृतचंद्र स्वामी ने 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' में पुरुष की सिद्धि का कथन करते हुये संकेत दिया है कि, हे पुरुष ! पुरु होकर तुझे लघुकृत्य करना उचित नहीं। आचार्य भगवान् नेमिचंद्रस्वामी ने 'जीवकाण्ड' में पुरुष का अर्थ किया है–

पुरुगुणभोगेसेदे करेदि, लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।
पुरु उत्तमो य जह्मा, तह्मा से वण्णिओ पुरिसो।।२७४।।

जिसके मात्र दो हाथ, दो पैर हों, सिर हो, इन्द्रियाँ हों तथा इन्द्रियाँ के भोग हों, उसका नाम पुरुष नहीं। पुरु याने श्रेष्ठ, उत्तम। हम पुरु के वंश के हैं और पुरु यानि भगवान् आदिनाथ स्वामी, जो कि पुराण–पुरुष हैं और आप पुराण–पुरुषों के वंश में उत्पन्न हुये हो, इसीलिये आप पुरुष हो, श्रेष्ठ के भोक्ता हो, श्रेष्ठ के कर्ता हो, उत्तम विचारों के विचारक हो। जिसकी वृत्ति में ओछापन हो, जो दोषों से आच्छादित है, दूसरों को दोषों में लगा रहा है, उसे माँ जिनवाणी पुरुष नहीं, स्त्री कहती है।

हे पुरुषात्माओ! जो स्वयं अभक्ष्य का सेवन करता हो, दूसरों को अभक्ष्य खिलाता हो, और अभक्ष्य खानेवालों की अनुमोदना करता हो, उसे पुरुष कैसे कह सकते हो? इस पर्याय को प्राप्त कर जो पुरु (अर्थात् उत्तम) कार्यों को कर सके, संयम की साधना कर सके, उसे पुरुष कहेंगे, इसीलिये तो



उत्कृष्ट पर्याय प्राप्त हुई है। मनुष्यपर्याय का महत्व भोगों से नहीं, मनुष्यपर्याय का महत्व तो संयम से है। हे पुरुषो! इस भूमि का नाम कर्मभूमि है। भोगभूमियो का जीव तो भोग भोगता है और नियम से देव बनता है, लेकिन कर्मभूमि का मनुष्य स्वतंत्र होता है। इस पर्याय से आप भी परमेश्वर बन सकते हो, नरकेश्वर भी बन सकते हो और निगोद भी जा सकते हो। अब निर्णय आप कर लो कि क्या करना है? यह ध्यान रखना की नारकी निर्णय नहीं कर सकता, क्योंकि वह तपस्या नहीं कर सकता। एक पशु चाहे कि मैं साधु बन जाऊँ, नहीं बन सकता। देव चाहे कि मैं संयमी बन जाऊँ, सिद्धालय चला जाऊँ; नहीं जा सकता। लेकिन आप चाहो तो जा सकते हो।

भो ज्ञानी! मोक्षमार्ग पूर्णस्वतंत्र मार्ग है और संसार-मार्ग भी पूर्णस्वतंत्र मार्ग है। इसीलिये ध्यान रखना, कुटुम्ब से पूजा नहीं होती, पिता से पूजा नहीं होती, परिवार से पूजा नहीं होती। यदि पूजा ही चाहते हो तो तेरी निज परिणति ही तुझे पूज्य बनाती है। यह भ्रम भूल जाओ। अब तो पेट से राजा नहीं बन रहे, पेटी से राजा बन रहे हैं। इसलिए मोक्षमार्ग का चुनाव भगवान् नहीं करेंगे, चुनाव तेरी भगवान्-आत्मा करेगी। अबुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट हो रहा है, यह तेरा भाग्य है। बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट हो रहा है, यह तेरा पौरुष यानि पुरुषार्थ है; लेकिन बिना पुरुषार्थ के कोई अहिंसा-धर्म नहीं चला पायेगा। रक्षक-भाव भी पुरुषार्थ है, रक्षा करनेवाला पुरुष है। जिसके रक्षा करने के भाव नहीं है उसे कभी पुरुष मत कहना। मनीषियो! जीवों की करुणा और जीवों की रक्षा के भाव हीनता-दीनता में नहीं आते, पुरुष में ही आते हैं, शक्तिशाली में आते हैं। जो प्राणियों की रक्षा के लिये छत्र के समान खड़ा हो, उसका नाम क्षत्रिय है और उस क्षत्रिय-शासन को जो चलाने वाला हो, वह तीर्थंकर अर्थात् प्रभु है। जिन्होंने कहा है कि प्राणीमात्र के लिये मेरी छत्रछाया है। अपने क्षत्रियत्व को जाग्रत करो, अपनी क्षत्रियता को प्रकट करो।

हे ज्ञानियो! पुरुषार्थ कहता है-मैं अपना काम नहीं छोड़ूँगा। कर्म का विपाक यदि विधि है, तो संयम का भाव पुरुषार्थ है। हे चेतन! तेरा धर्म कहता है कि मैं कर्म से डरूँगा नहीं, क्योंकि वह जड़ है, मैं चेतन है। तू पुरुष है फिर भी तू जड़ से घबरा रहा है? यह मिथ्या भ्रान्ति तो है, लेकिन भ्रान्ति को मिटाना भी तेरा काम है। भ्रम करें हम और भ्रम भगायें भगवान्? भो ज्ञानी! ध्यान रखना, जिस भ्रम को जिसने किया है, उस भ्रम को दूर भी वही करेगा। इसीलिये आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने अनुपम सूत्र दिया -'किसी जीव का घात मत करो और किसी जीव के माँस को मत खाओ'। अब समझना कि जो द्रव्य चमड़े पर रखा हो, जो द्रव्य जैविक-द्रव्यों से पैक किया गया हो, उस द्रव्य का आप कैसे सेवन कर सकते हो? मनीषियो! धर्म व्यापारियों का नहीं है, धर्म कंपनियों का नहीं है, धर्म आपका है। अहो! एक गज गमन करता है, तो देख लेता है कि जमीन कैसी है; परन्तु धिक्कार हो आपको कि आप बिना-देखे मुख में कुछ भी रखने को तैयार हो जाते हो, पूछते भी नहीं कि इसमें क्या है? जिस भोजनालय में दो प्रकार का भोजन बन रहा हो, वहाँ जाकर तुम बड़े चाव से भोजन कर रहे हो।

भो ज्ञानी! ध्यान से सुनना। कोई सज्जन कहें कि आपकी भोजन-व्यवस्था हमने शुद्ध की है और आप कहें कि चलता है, तो उसकी श्रद्धा व संस्कृति पर आपने कुठाराघात किया है। अहो! जिनवाणी में स्पष्ट लिखा है कि जिस क्षेत्र में धर्म की हानि होती है, भोजनशुद्धि न हो, उस क्षेत्र में साधु विहार



न करें। एक धर्मात्मा देशव्रती विदेश की यात्रा नहीं कर सकता, क्योंकि उसका दिगव्रत है। जब विमान उड़ान भरता है, तो कितनी आवाज होती है, कितने पंचेन्द्रिय पक्षियों का विघात होता होगा और कितने वायुकायिक जीवों का घात होता होगा। अरे! जिसके प्रचार के लिये धर्म नष्ट हो जाये, वह धर्म का प्रचार नहीं। इसीलिये तीर्थंकर महावीर ने अपने किसी भी शिष्य से यह नहीं कहा कि तुम विदेश जाओ।

भो ज्ञानी! 'मूलाचार' में एक स्वतंत्र अधिकार का नाम पिंड–शुद्धि अधिकार है यदि भोजन की शुद्धि नहीं है, तो भावों की शुद्धि नहीं है और जिसके भावों की शुद्धि नहीं, उसकी संयम की शुद्धि कैसी होगी ? परिणामों की शुद्धि के लिये भोजन की शुद्धि अनिवार्य है। यह ध्यान रखना "जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन" और "जैसा पीओ पानी, वैसी बोले वाणी।" जहाँ पानी ही शुद्ध न हो वहाँ के प्राणी शुद्ध कैसे होंगे? आपके घरों में हैंडपंप लगे है और बगल में सन्डास बना है। अब बताओ पानी की शुद्धि कैसे हो? आप सोचो कि भोजन किया एक कमरे में और विसर्जन किया दूसरे कमरे में। वह कमरा ही तो है, घर की शुद्धि कहाँ है? इसीलिये, मनीषियो! ध्यान रखना, अशुचिमय स्थान पर भोजन मत करना।

भो ज्ञानियो! मुझे आप पर करुणा आ रही है, क्योंकि आगम में स्पष्ट है कि जो ज्ञानावरणी तंतु होते हैं, ज्ञान के क्षयोपशम (बुद्धि) पर इनका साक्षात् प्रभाव पड़ता है। एक पिता अपने बेटों से कहता था कि मेरा बेटा तो एक ही है, परन्तु बेटे थे चार। एक दिन पत्नी झुँझला पड़ी, बोली–मैं तीन कहाँ से लेकर आई हूँ? वह बोला–परीक्षा कर लो, पर बेटा तो एक ही है। पहले छोटा बेटा आया और कहता है–माँ भूख लगी है, भोजन दो। माँ कहती है–आपके पिता ने मुझे पीटा है, उसी से भोजन लेलो, मैंने आज भोजन नहीं बनाया। बेटा बोला–कहाँ गया मेरा बाप? मैं अभी उसको देखता हूँ, वसूले से छील देता हूँ। दूसरा बेटा आया, माँ! भोजन चाहिये। माँ ने वही उत्तर दिया। वह भी कहता है–कहाँ गये पिताजी ? अभी मिल जाते तो मैं चप्पलों से खबर ले लेता, यह सुन माँ का हृदय विदीर्ण हो गया। तीसरे पुत्र से भी माँ बोली–बेटा! आज भोजन नहीं बना, आपके पिताजी ने मुझे पीटा है, अतः मेरे शरीर में भोजन बनाने की शक्ति भी नहीं थी। कहाँ हैं पिताजी ? मैं अभी उनको कोल्हू में पेल देता हूँ। अंत में ज्येष्ठ पुत्र आया, जिसे पिता कहता था तो कि मेरा मात्र एक बेटा है। माँ! भूख लगी है, भोजन चाहिये। माँ बोली–आपके पिताजी ने मेरे साथ अच्छा नहीं किया, बहुत पीटा है। मेरे प्राण ही लेनेवाले थे, वह तो मैं बच गई। बेटा कहता है–माँ! आपको मालूम है कि पिताजी मेहनत करके आते हैं और आप भी अपनी आदत को नहीं सुधार पाती हो, उसी समय बहुत बातें करती हो। माँ? हमारे पिताजी इतने अज्ञानी नहीं है। आपने भी जरूर कुछ कहा होगा, अन्तर इतना है कि उनके हाथ चल गये और आपका मुख चला होगा। आप कोई विकल्प नहीं करो, स्वस्थ्य हो जाओ, भोजन मैं बनाये लेता हूँ और सबको मैं ही भोजन करा दूँगा। यह सुनकर पिता सामने आकर बोले–क्यों, देख लिया?

भो ज्ञानी! सब क्यों हुआ, वह तो सुन लो। बात ऐसी थी कि जब ज्येष्ठ पुत्र गर्भ में आया था, तो उनकी सासु जीवित थी और सासु के अनुसार अनुशासन में रही बहू को गली–गलियारे में घूमने को नहीं मिला। गर्भावस्था में जिनवाणी सुनती थी, णमोकार की मालायें फेरती थीं, बेटे के अंदर सुसंस्कार पड़े। जब लघु पुत्र गर्भ में आया, उस समय सासु–माँ चल बसी थीं, तो बढ़ई के यहाँ गर्भ की अवस्था



में मुगरिया आदि बनवाने जाती थी, तो उस बेटे पर वसूले के संस्कार काम कर गये। जब द्वितीय पुत्र गर्भ में आया तो उस समय माँ चप्पलें आदि सुधरवाने जाती थी। तीसरा बेटा गर्भ में था तब तेली के यहाँ तेल पिराने, खरीदने आदि के लिये जाती थी, सो कोल्हू के संस्कार संतान के ऊपर थे।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, संस्कार भी बहुत बड़ी विद्या होती है। यदि आपके अंतरंग में संस्कृति को जीवन्त रखने की परिणति है, तो संस्कारों को जीवन्त रखना पड़ेगा। संस्कार जीवन्त नहीं रहेंगे, तो अहिंसा की संस्कृति जीवन्त रहने वाली नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने परिवार के संस्कार को निर्मल रखें, जिससे हमारी संस्कृति निर्मल चले। अतः अभद्र भाषा का उपयोग होना ही नहीं चाहिये। इससे पता चलता है कि संस्कार गर्भ से शुरू होंगे। अतः पहली पाठशाला घर है, पहला अध्यापक माँ है, दूसरा अध्यापक पिता है; फिर बाद में दादा–दादी को देखना। परिवार के संस्कार ही व्यक्ति को महान बनाते हैं। एक पत्थर को आप संस्कारों के द्वारा परमेश्वर बना लेते हो, तो यह तुम्हारी चेतन प्रतिमाएँ–बच्चों को तुम शैतान क्यों बना रहे हो? संस्कार डाल दो, इनको भी तुम परमेश्वर बना दोगे। याद है आपको, सत्यता वाणी की नहीं, सत्यता चर्या की होती है। सत्यवादी हरिश्चंद्र सबकुछ देकर जब अपने बेटे राहुल को लेकर किसी देहात से गुजर रहे थे, बेटा कहता है–पिताजी! अब तो कंठ सूख चुका। उसी समय एक किसान अपने खेत से मटके में गन्ने का रस लिये आ रहा था। उससे रस लेकर बेटा राहुल के मुख की ओर ले जाते हैं तो एक तोता कहता है–जिसने अपने राज्य को दे दिया वह आज कैसे अपने बेटे को एक घूँट रस पिलायगा? भो सत्यवादी! आज तुम दान देने के बाद भी एक घूँट रस पिलाकर कितना बड़ा पाप का संचय कर रहे हो। अहो बेटा! तेरे प्राण देखूँ कि अपना प्रण? लाल कहता है–पिताजी! मेरे प्राणों के पीछे और अपना प्रण मत छोड़ो। मनीषियो! आप जैन हो, कम–से–कम अपनी पहचान को मत मिटाओ। तुम्हारी पहचान रात्रि में खाना–खाने से नहीं होगी, अभक्ष्य खाने से नहीं होगी।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि आप अपने पुण्य को पैसे के पीछे बरबाद मत कर देना। कितना प्रबल पुण्य–संचय किया होगा आप लोगों ने कि इतना सबकुछ मिला। अहो! जो माँस का सेवन करता है, खाना तो दूर, छूता भी है, वहीं करोड़ों जीवों का घात हो गया। अब सोचना, यदि खानेवाले को भी यह ज्ञान नहीं है, यदि जिनवाणी सुनने के बाद मन भी करेगा, तो विश्वास करना वह चला जायेगा, क्योंकि अज्ञानता में जीव उसे जीव ही नहीं मानते। अरे! मछली भी जीव है, यह कोई फल–फूल नहीं है, यह जीव ही है, इनमें भी संवेदना/चेतनत्व है। इसलिये, भो ज्ञानियो ! अपनी सम्वेदनाओं को जागृत करो, सम्वेदनशील बनो, किसी जीव के प्राणों का विघात मत करो।





शहद का सेवन भी हिंसा है

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम्।।६९।।

अन्वयार्थ : लोके मधुशकलमपि = इस लोक में मधु का कण भी। प्रायः = बहुधा। मधुकर हिंसात्मकं = मक्खियों की हिंसारूप। भवति = होता है। यः मूढधीकः = जो मूर्खबुद्धि पुरुष। मधुभजति सः = शहद का भक्षण करता है वह। अत्यन्तम् हिंसकः= अत्यन्त हिंसा करने वाला होता है।

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्।।७०।।

अन्वयार्थ : यः छलेन वा = जो कपट से अथवा। गोलात् = छत्ते में से। स्वयमेव विगलितम्= स्वयमेव टपके हुए। मधु गृह्णीयात् = मधु या शहद को ग्रहण करता है। तत्रापि = वहाँ भी।
तदाश्रयप्राणिनाम् = उसके आश्रयभूत जन्तुओं के। घातात् हिंसा भवति = घात होने से हिंसा होती है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने बहुत सुन्दर सूत्र दिया। जीवन में तूने अनन्त क्षणों को अनन्त भोग के लिये समर्पित किया है, अनन्त पर्यायों को तूने कषायों को सौंपा है। अहो! अल्प विचार तो कर कि हमने निज के लिए कितने क्षणों को दिया है, साधना को कितना समय दिया है? हे चेतन! अनन्त–चतुष्टय की संपदा तेरे अन्दर भी है, फिर भी तू गरीब है। अरे! हीन मान के चलोगे तो हीनता ही दिखेगी। जिसकी परिणति में हीनता है, मनीषियो! वह कभी प्रभु नहीं बन पाएगा। जिस स्थान को तुम चाहते हो, उस स्थान को सोचना तो पड़ेगा,। यही द्रव्यानुयोग है। द्रव्यानुयोग तुम्हारे संयम को नहीं मिटाता है, चर्या को नहीं बिगाड़ता, परिणति को नहीं बिगाड़ता है। द्रव्यानुयोग तो तेरी 'प्रभुत्व–सत्ता' का भान कराता है। आचार्य कुंदकुंद देव कह रहे हैं कि तू विभुत्व–शक्ति से समृद्ध है। तेरी प्रभुत्व–शक्ति भी है, विभुत्व–शक्ति भी है और प्रभु–शक्ति भी है। उस शक्ति को उद्घाटित करनेवाले रत्नत्रय–ध्वज को तो तुझे ही फहराना पड़ेगा। सैनिक भी तू ही होगा, शंखनाद भी तेरा होगा; परंतु शत्रु तू नहीं होगा; शत्रु पर ही होते हैं। एक–सौ– अड़तालीस तो सम्राट हैं, जिनसे तुझे जूझना है; लेकिन असंख्यात् लोक–प्रमाण उनके अनुचर हैं। ध्यान रखना, शत्रु बाहर से कभी भी सेना लेकर नहीं आता, देश के अन्दर ही जो आपसे नाखुश हैं, वे ही आपके शत्रु होकर शत्रु की सेना के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

भो ज्ञानी! तुम्हारे देश में जो अंग्रेज आये थे, वह कितने–से आये थे ? वह तो व्यापारी थे, लेकिन आपको ही परिवर्तित किया था; परस्पर में ही लोगों को ज्यादा कषाय थी। अहो! बाहर के शत्रु कम



होते हैं, अन्दर के शत्रु जो मित्र बने होते हैं, वे ही परिवर्तित होकर शत्रु का रूप बना लेते हैं। कार्माण–वर्गणाएँ कर्मरूप होने के लिए बाहर से बहुत कम आती हैं। जो तेरे पास पुण्यरूप वर्गणाएँ होती हैं, वे पुण्य–वर्गणाएँ ही तेरी अशुभ–परिणति से पापरूप संक्रमित हो जाती हैं और वे ही पापरूप में उदय में आकर फल देना प्रारंभ कर देती हैं। देखिए, प्रबल पुण्यात्मा जीव के पास पाप–वर्गणाएँ कम आती हैं, लेकिन प्रबल पुण्य के योग में तुमने अशुभ–कर्म करना प्रारंभ किया, अतः वह सारा–का–सारा तुम्हारा पुण्य–द्रव्य पापरूप संक्रमित हो गया। शत्रु की अल्प सेना ने आपको परास्त कर दिया। मनीषियो! राम अयोध्या से कितने लोगों को लेकर रावण से युद्ध करने के लिये गये थे? लेकिन उनके पुण्य की प्रबलता ने तीन के कितने कर दिये? ऐसे ही मुमुक्षु जीव अल्प पुण्य के योग में प्रबल पुण्य कर लेता है। भगवान् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि उस द्रव्य को देखो, उस विभुत्व–सत्ता को देखो, अपने आपको पराधीन मत मानो। आप अभी एक–सौ– अड़तालीस सम्राटों से परतंत्र हो। जिस दिन आप स्वतंत्र हो जाओगे, सिद्ध बन जाओगे। अरे! बाँस की जड़ों में उतना घुमाव नहीं होता, जितना हमारी परिणति में घुमाव होता है। प्रभु! मैंने आपके चरणों में अनुपम दृश्य देखा–चोर तो बदल गया, पर अर्धांगिनी का हृदय चोर बन गया था। जिसे तुम अर्धांगिनी कह रहे हो, जिसके पीछे तुम पूरे जीवन को बर्बाद कर रहे हो। प्रभु! तेरा स्वतंत्रता– दिवस उसी दिन मनेगा, जिस दिन परिवार से स्वतंत्र हो जायेगा।

भो ज्ञानी! सत्य पर विश्वास तभी मानकर चलना, जब स्वयं पर विश्वास हो। भो मनीषी! यहाँ क्यों बैठे हो? अभी तक तो आपके हाथ में पिच्छी–कमंडल आ गये होते, परन्तु आपको स्वयं पर विश्वास नहीं है। ध्यान रखो, संयम का इतना सुहावना जीवन आप स्वयं की आँखों से देख रहे हो, तभी तो झुक रहे हो, लेकिन विश्वास कमजोर है। ऐसा नहीं है कि आप लोग जानते नहीं हो। जानते भी हो और मानते भी हो, लेकिन कर नहीं पा रहे हो। कौन–सी वस्तु है जो आपके चलने के लिये पकड़े हुए है। अहो ज्ञानियो! आपने जान लिया कि वह वस्तु मोह है। अब तो आपको रोग भी पकड़ में आ गया। अब ठीक क्यों नहीं हो रहा है? जब मोह–रोग तुम्हें पकड़ में आ गया है तो औषधी खा लो। तीन पुड़ियाँ हैं–सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ज्यादा बड़ी बीमारी हो तो सबसे बड़े विशेषज्ञ–डाक्टर (आचार्य महाराज) के पास भेज देंगे, वहाँ पूरी शल्यक्रिया हो जायेगी। यदि फोड़ा भी होगा तो ठीक हो जायेगा। भो ज्ञानी! अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि मोह की दशा में बैठकर तुम अभक्ष्य का सेवन कर रहे हो। जुकाम हो गया, मुख में बलगम आ गई और मंदिर में खड़ा है, उसे निगल गया। बाहर निकाल देता तो क्या था? आचार्य भगवान् समन्तभद्र स्वामी ने लिखा–"अनुपसेव्यो", अभक्ष्य है। चिंतन तो कर लिया करो। माँस का सेवन नहीं करते हो, लेकिन ध्यान रखना कि दो–इन्द्रिय जीव से माँस–संज्ञा प्रारम्भ हो जाती है। घी का डिब्बा रखा था, उसमें चींटी गिर गयी, अब बताओ उस घी का तुम क्या करते हो, जिसमें पूरा शव पड़ा है? शव को तुमने निकालकर फेंक दिया और घी खा लिया, ऐसे त्यागी हैं। मुनिचर्या की बात तो बाद में करना, लेकिन श्रावक की चर्या तो बताओ। मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि बोलकर आठ दिन की रखी मलाई से घी निकालकर उससे रोटी चुपड़कर कह रहा है–महाराज! अन्न, जल शुद्ध है।

भो ज्ञानी! सूखा खिला देना, सूखा खा लेना, पर जिनवाणी कहती है कि दूध आया तो वह अड़तालीस



मिनिट में तपना चाहिये। **चौबीस** घंटे के अन्दर आपने मक्खन निकाला, **अड़तालीस** मिनिट के अन्दर आपने उसका घी निकाल दिया, तब तो ग्रहण करने योग्य है अन्यथा जिस जाति के जीव का दूध था उसी जाति के पंचेंद्रिय जीव उसमें उत्पन्न हो रहे हैं, शव का पिण्ड (कलेवर) तुमने तपाकर रख दिया। अहो! विभुक्त–शक्ति की बात कर रहे हैं आप, जिनको आपने तपाया, वह भी विभुत्व–शक्ति से युक्त थे। अभक्ष्य नहीं छोड़ पाए तो तुम्हारी आत्मा सम्यक्दृष्टि कैसे है? बाजार के घी–दूध के बारे में आप ही सोच लेना। मुझे मालूम है कि किसान रोज–रोज नहीं तपाते, पंद्रह–पंद्रह दिन का मक्खन रखकर तपाते हैं, फिर घी निकालते हैं। अब सोचो जिसका अभक्ष्य, अनीति, अनाचार का त्याग नहीं है, वह भगवती–आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है? अरे! यह मत कह देना कि यह क्रियाकाण्ड बाहर का है, वह अन्दर की बात है। बिना संयम के बात बनेगी कैसे? करुणा नहीं, दया नहीं, तो आगम में लिखा है कि निर्दयी को भगवान् बनने का अधिकार नहीं है। बच्चों को बुखार आ गया तो मधु में डालकर औषधि चटा दी, बच्चा ही तो है। ध्यान रखना, शहद की एक बूँद का सेवन करने में सात गाँव जलाने के बराबर हिंसा होती है, पाप होता है। शहद कैसे बनती है, सब जानते हो। चार–इन्द्रिय जीव (मक्खियों) को बहेलिया अग्नि लगा देता है या फिर पानी डाल देता है, छत्ते के छत्ते टपक–टपककर नीचे गिरते हैं। उनसे टपक रही है मधु, जिसका सेवन आप अमृत कहकर कर रहे हो। ध्यान रखो, तुम्हारे घर को जलाकर कोई तुम्हारे धन को उड़ा ले जाये, तब बताओ कैसा लगेगा? कितनी मेहनत से मक्खियों ने पुष्पों से पराग लेलेकर एकत्रित किया और आपने सबकुछ छीन लिया। इससे लगता है कि मनुष्य से बड़ा स्वार्थी जीव कोई नहीं है, जो एक–इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक का शोषण कर रहा है और फिर भी कहता है कि मैं श्रेष्ठ हूँ। अरे! श्रेष्ठ तो है, पर इन कामों से श्रेष्ठ नहीं है।

भो मनीषियो! देश की स्थिति बड़ी विचित्र है। लोग माँस की खेती करने लगे हैं, मछली पालन, मुर्गीपालन, मधुमक्खीपालन। अहो! हिंसा की कोई खेती नहीं होती है, यह तो पूर्णतया संकल्पी हिंसा है। चिरगाँव में एक शर्माजी थे। उन्होंने ऋण लेकर ऐसी खेती के लिए फार्म भर दिया, स्वीकृति मिल गयी और 'पुरुषार्थ सिद्धि' के प्रवचन चल रहे थे, अचानक सुनने बैठ गये। प्रवचन के तुरन्त बाद आये, महाराज! बचा लिया आपने, मैं तो फार्म भर चुका था, स्वीकृति आ चुकी है। तैयारियाँ चल रही हैं। अतः ध्यान रखना, महीनों का आसव (सीरप) रखा है, वह भी मधु से कम नहीं है। बहुत सारी औषधियों में भी मधु होता है। जो मधु का सेवन करता है, वह अत्यंत हिंसक होता है। मधु स्वयं भी क्यों न टपक रहा हो या छल से उस शहद के गोले को ग्रहण करता है, उसमें भी हिंसा होती है, क्योंकि उसके आश्रय से उत्पन्न होनेवाले जीवों का घात होता है। अरे! किसी भी प्रकार से शहद का प्रयोग नहीं करना चाहिये। अतः मधु का सेवन न स्वयं करना, न कराना, न सेवन करने वाले का अनुमोदन करना है। अपने जीवन में अहिंसा–धर्म मात्र की ओर बढ़ना है।



हेय हैं चार महाविकार

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्म्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र।।७१।।

अन्वयार्थ : मधु मद्यं नवनीतं = शहद, मदिरा, मक्खन। च पिशितं =और माँस। महाविकृतयः = महाविकारों को धारण किये हुए। ताः व्रतिना = ये चारों पदार्थ व्रती पुरुष के। न वल्म्यन्ते = भक्षण करने योग्य नहीं हैं। तत्र तद्वर्णाः= उन वस्तुओं में उसी जाति के। जन्तवः =जीव रहते हैं।

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा।। ७२।।

अन्वयार्थ : उदुम्बरयुग्मं = ऊमर, कदूमर अर्थात् अंजीर। प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि = पाकर, बड़ और पीपल के फल। त्रसजीवानां योनिः = त्रसेजीवों की योनि है। तस्मात् तद् भक्षणे = इस कारण उनके भक्षण में। तेषां हिंसा = उन त्रसजीवों की हिंसा होती है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने अनुपम सूत्र दिया कि जिन–जिन निमित्तों से आत्मा कर्म से बंधता है, वे सारे के सारे निमित्त आत्मघात के हेतु होने से हिंसक हैं। यहाँ पर आवश्यक नहीं है कि तू निमित्तादि द्रव्य का सेवन करे तभी बंध होगा, क्योंकि सेवन करने से पहले भावों द्वारा द्रव्य के पास पहुँचने से बंध हो जाता है।

सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य नेमिचंद्र स्वामी ने 'गोम्मटसार (जीव कांड)' में परिणामों के दस कारणों की चर्चा की है कि जिसने जैसा भाव किया, उसको वैसा बंध हुआ; लेकिन बिना भाव के किसी को बंध होता नहीं। मनीषियो! बंध क्षेत्र में नहीं, बंध द्रव्य में नहीं, बंध पदार्थ में नहीं, बंध तेरी परिणति में होता है। जैसे टेलीविजन का काम अशुभ चित्र दिखाना नहीं, उसका काम तो चित्र दिखाना है। वैसे ही ज्ञान का काम शुभ या अशुभ नहीं होता, उसका काम तो जानना होता है; परंतु परिणति जैसी होती है वैसा शुभ या अशुभ होता है। इसी प्रकार जैसी कैसेट है, जैसी आपने फिल्म बनाई है, वैसा उसमें आयेगा। ध्यान रखना, कर्म–उदय को दोष देना सबसे बड़ा दोष है, क्योंकि कर्म के विपाक को दोष देना नवीन कर्म–बंध का कारण है। कर्म–विपाक याने कर्म का फल। अरे! नल में जो पानी आ रहा है वह नल का दोष नहीं है। टंकी में जैसा पानी भरा है, उस भरनेवाले को दोष दो। टोंटी का काम तो निकालना है, पानी भरना नहीं। अतः नल की टोंटी पर हथोड़े मत पटको। नल में पानी खारा नहीं है, भूमि में पानी खारा है। उदय में पानी खारा नहीं होता तो परिणति खारी क्यों होती ? इसी कारण कर्म का फल भी खारा है।



भो ज्ञानी! कर्म–बंध की प्रक्रिया को देखना। आज बध्यमान काल में विचारने की आवश्यकता है, पर बध्यमान निर्मल तभी होता है, जब भुज्यमान निर्मल होता है। भुज्यमान में नहीं सम्हल पाये, तो बध्य अशुभ होगा–ही–होगा। जिस आयु को आप भोग रहे हो, यह भुज्यमान–आयु कहलाती है। उस आयु के काल में आप जो बंध कर रहे हा, यह बध्यमान कहलायेगी। बध्यमान में तुम क्या करोगे, भुज्यमान में संभल जाओ। भुज्यमान को आप मिटा नहीं सकते जबकि बध्यमान का उत्कर्ष भी कर सकते हो और अपकर्ष भी कर सकते हो और संक्रमण भी हो सकता है, लेकिन निधत्ति व निकांचित का कुछ नहीं कर सकते, वह तुमको भोगना ही पड़ेगा। निधत्ति व निकांचित आठों कर्मों में होता है। जैसे कि संत निकल रहे, उनकी भक्ति–आराधना करके तुम अपने पुण्य को संचित कर लो। इसी प्रकार कर्म आ रहे हैं, जा रहे हैं, तुम अपनी परिणति सुधार लो। लेकिन तुम कहो कि हमारे पास शुभ–कर्म आ जाएँ तो वह आनेवाले नहीं। तुम्हारी अवस्था जैसी होगी, वैसा ही होगा। इसलिए कर्म किसी के नहीं हैं। जिसने शुभ परिणति की, उसे शुभरूप फल देते हैं। इसके विपरित अशुभ–परिणति में अशुभ फल देते हैं। आँखों से कर्म दिखते नहीं हैं। वह कर्म–विपाक साता या असाता के रूप में आता है। वेदनीय–कर्म का काम तो अनुभव कराना है, कर्म को लाना नहीं है। वेदनीय तो कर्म वेदन कराता है। अन्तराय–कर्म का क्षयोपशम लाभ– आन्तराय कर्म को लाता है, मोहनीय कर्म उस पर कब्जा करा देता है और वेदनीय कर्म भोग कराता है।

भो ज्ञानी! निघत्ति व निकांचित कुछ नहीं करता, वह तो यह कहता है कि तुमको उतना भोगना पड़ेगा जितना तुमने ग्रहण किया है, जैसा तुमने स्वीकार किया है। वह तो इस प्रकार कहना चाहिए कि राजा ने पहरेदारों को आदेशित कर दिया कि जाओ, उस व्यक्ति को फाँसी पर चढ़ा दो। उनका काम फाँसी पर चढ़ाना है, लेकिन न वह कम कर सकता है, न वह बढ़ा सकता है। फाँसी के फंदे खींचना हीन काम है, जो बुद्धिशाली के नहीं, प्रज्ञाहीनों के होते हैं। ऐसे ही निघत्ति व निकांचित कह रहा है कि मेरे पास विवेक नाम की वस्तु नहीं है। मुझे आदेशित किया गया है, हम तो इतने समय तक तुमको रोके रखेंगे। और ऐसे ही क्षेत्र में तुमने अशुभ कृत्य कर डाला। भो ज्ञानी! अन्य भेषों में कोई पाप किया जाये, उसके परिहार के लिये जिनभेष होता है; लेकिन जिनभेष में ही तुमने पाप कर डाला तो ध्यान रखना, वहाँ भी निधत्ति व निकाचित होगा–

अन्यलिंगे कृतम् पापम्, जिनलिंगे विनश्यति!
जिनलिंगे कृतम् पापम्, वज्रलेपो भविष्यति।। अ.पा.टीका।।

भो ज्ञानी आत्माओ! क्लेश आदि कुछ भी परिणति आपने की, तो बंध होगा। इसीलिये कर्म कहता है कि मेरा कोई दोष नहीं है; तेरे भावकर्म न हों, तो द्रव्यकर्म कभी नहीं होगा। देखो, कांसे की थाली में सुइयाँ भरो और नीचे से घुमा दो चुम्बक को तो सुईयाँ अपने आप थाली में घूमने लगेंगी। लोग इसे चमत्कार कहेंगे कि क्या गजब की महिमा है ? भो चेतन! आत्मा घूम रही है, आकाश में उड़ रही है, नीचे देखो पुण्य–कर्म की चुम्बक लगी है तो, भो ज्ञानी! यह मनुष्य–पर्याय आपको मिली है और जिस दिन नीचे की चुम्बक के शक्त्यांश अधिक बढ़ जायेंगे। और ऊपर के शक्त्यांश कम रहेंगे तो नीचे टपक जाओगे। इसका नाम नरक है। जिस दिन ऊपर की चुम्बक के शक्त्यांश ज्यादा होंगे



और नीचे की चुम्बक कम हो गई तो तुम ऊपर चले जाओगे। अब बताओ, चुम्बक का क्या दोष? लेकिन चुम्बक कह रही हैं कि मैं तो घुमाती हूँ। यदि आप में जरा भी लोहा होगा तो मैं खींचती रहूँगी और जिस दिन शुद्ध सोना बन जायेगा तब सोने पर चुम्बक नहीं चलेगी। ऐसे ही शुद्ध आत्मा पर कर्मों की चुम्बक नहीं चलती। इसीलिये उदय को दोष नहीं देना। उदय काल में साम्य-परिणामों से नवीन कर्मों का बंध नहीं होगा और पुराने कर्म झड़ जायेंगे।

भो ज्ञानियो! अब पुनः समझना। यह उदाहरण मैं आपको कई बार दे चुका हूँ। पंच परमगुरु का स्थान, देव-शास्त्र-गुरु का स्थान चूल्हा सदृश है। विवेकी-ज्ञानी रोटी को चूल्हे में डालकर घुमाता जाता है और यदि रखी छोड़ दी तो जल जायेगी। ऐसे ही पंच-परम-गुरु के चरणों में आप रोज आना, वंदना करना, प्रदक्षिणा देना। वहाँ आप बैठोगे तो राग की बातें शुरू करोगे और राग-द्वेष की बातें शुरू हुई कि जलना शुरू हुआ। इसीलिये जब भी धर्मक्षेत्र में आओ तो, भो ज्ञानी! जैसे चूल्हे में मां रोटी को घुमाती रहती है, ऐसे तुम घूमते रहना, लेकिन वहाँ अपना स्थाई भाव बनाकर मत बैठ जाना। और जहाँ तुमने कर्त्ता-भाव बनाये, समझ लेना तुम्हारे ही भगवान तुम्हें अशुभ का बंध कराने लगेंगे। क्योंकि राग परिणति है तो अशुभ का बंध, भक्ति-भाव है तो शुभ कि बंध। अब चाहे तुम्हारा बेटा मुनि बन गया हो, चाहे पड़ोसी का बेटा, यदि भावलिंगी यति है और आपने उसके सामने कोई गड़बड़ काम किया तो ध्यान रखना, अशुभ का बंध नियम से होगा। संयम वीतरागी अरहंतदेव का वेष है, यह मत सोचना कि यह तो हमारे घर के महाराज हैं, इस प्रकार यह जीव बंध तो हँस-हँस के करता है और जब कर्म का विपाक आता है तो आँखों से आँसू टपकते हैं, नाक से नाक बहती है, बाल बिखर जाते हैं और अशुभ-कर्म शरीर पर प्रकट होता दिखता है। यह कर्म-सिद्धांत मुनि को भी नहीं छोड़ता, तीर्थंकर को भी नहीं छोड़ता।

भो ज्ञानी! कर्म-सिद्धांत को ध्यान में रखो। भगवान् आदिनाथ स्वामी ने उसी पर्याय में राज्यकाल में पशुओं को आहार करने से रोकने के लिए उनके मुँह को बंधना (मुशीका) लगवाया था। अत छह माह तक आहार-विधि नहीं मिली, क्योंकि सिद्धांत याने सिद्धांत। तीर्थंकर पार्श्वनाथ पर उपसर्ग आया, तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ पर उपसर्ग आया, अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी पर उपसर्ग आया, यह सब पूर्व के विपाक थे। अहो! कर्मों ने तीर्थंकर को भी नहीं छोड़ा, तो अब तुम किसी की भलाई-बुराई के बारे में मत सोचना। एक ग्रामीण व्यक्ति बहुत लम्बा कपड़ा सिर पर बांधे हुये था। वह इतना लम्बा था कि नीचे तक लटरते चला जा रहा था। जमीन पर कपड़े को देखकर सेठजी बोले, भैया! क्यों फाड़ रहे हो, तनिक ऊपर कर लो। वह कहने लगा-जिसने इतना बड़ा दिया है, फट जायेगा तो और दे देगा। सेठजी शांत हो गये। तनिक आगे चले सो एक भैया मिले। जो पैर की जूतियाँ ऐसे दबाये थे जैसे बच्चे को दबाये हों। सेठजी बोले-भैया, इन्हें पहन लो, भूमि गरम है। भैया बोले-सेठजी! आपका पुण्य है तो फिर खरीद लोगे, पर हम कहाँ से लायेंगे? हम तो तनक-तनक पहन लेते हैं और जब कोई गाँव/शहर आ जाता है, तो पहन लेते हैं। इतने में वहाँ से राजा के कर्मचारी गरीबों को मदद देने हेतु निकल पड़े। उन्होंने फटे फेंटा वाले को देखा और नोट कर लिया कि इसकी व्यवस्था करना पड़ेगी। परंतु जूतियाँ लेनेवाले व्यक्ति के बारे में कुछ नहीं लिखा।

भो ज्ञानी आत्माओ! यह तो दृष्टान्त था। जो अपने आप में स्वयं व्यवस्था किये बैठे हैं, कर्म भी



कहता है कि ठीक है तुम इतने ही ठीक हो। और जो अपनी जैसी व्यवस्था किये होता है उसकी वैसी व्यवस्था होती है। अतः आप चिंता मत करो, कर्ता बनकर मत जिओ, लेकिन वस्तु व्यवस्था विधि है, संचालक है और जो संचालक है वही कर्म है, कर्म–सिद्धांत कहता है कि घृणा किसी से मत करो। जिससे आप घृणा कर रहे हो, वह भी कल भगवान् बन सकता है, यह ध्यान रखो। गहरे पानी में बुलबुले कम आते हैं, उथले पानी में बुलबुले ज्यादा उठते हैं। जिनके पास तनिक–सा पुण्य है और वर्तमान में दिखने लगा, तो फूल जाते हैं। ऐसे उथले लोग खाली गगरी की तरह होते हैं, जो ज्यादा छलकती है, पर भरी गगरी नहीं छलकती। १३वें गुणस्थान में केवली भगवान् तीर्थंकर से बड़ा पुण्य किसी का नहीं होता है। ध्यान रखो, तुम्हारे पास थोड़ा–सा तो पुण्य है और इतने फूलते हो, अतः उतने ही नीचे गिर जाते हो।

मनीषियो! ऐसे अल्प पुण्य के योग में निधत्ति व निकाचित–जैसे कर्म का बंध मत कर लेना, अन्यथा जिनके चरणों में किया है वे भी तुम्हें नहीं छुड़ा पायेंगे। धवलाजी में लिखा है कि पंच-- परमगुरु की भक्ति ऐसी होती है जो इन कर्मों में भी शिथिलता ला देती है। एकमात्र उन्हीं पंच परमेष्ठी की भक्ति के अलावा और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसलिये ऐसे पुण्य के योग में और ऐसी निर्मल पर्याय में उस पुण्य की वृद्धि तो करना, लेकिन अभक्ष्यों को खा–खाकर अपनी हालत खराब मत कर देना। आजकल कच्चा मक्खन (बटर) खाने का बड़ा रिवाज चल चुका है। 'मूलाचार' जी में कहा है–मधु, मद्य, मांस और मक्खन, ये चारों महाविकृतियों/ महामद को उत्पन्न करनेवाली हैं। जब मक्खन का पिंड खा रहे हो, तब चिंतन जरूर कर लेना कि यह क्या हो रहा है? अरे भाई! किसी डेरी पर दूध लगवा लो पाँच किलो और घर में जमा दो, उसमें से घी निकाल लो। शुद्ध खाओ।

अहो! ऐसे अभक्ष्य घी की अपेक्षा से रूखा खाना श्रेष्ठ है, पर वह मक्खन भक्षण करने योग्य नहीं है। उस मधु, मक्खन आदि में उसी वर्ण के, उसी रंग के जीव होते हैं। आप कहोगे कि दिख तो रहे नहीं हैं। अरे! मिट्टी में मिट्टी के जीव कभी दिखते नहीं हैं, परंतु जीव होते अवश्य हैं। पंच–उदम्ब–फल–(ऊमर, कठुमर, पाकर, अंजीर और पीपल के फल) अभक्ष्य हैं, क्योंकि फोड़ने पर उड़ते हुए जीव दिखते हैं। उसके भक्षण में नियम से हिंसा होती है। इसलिये पंच–उदम्बर–फलों का त्याग अवश्य ही करना चाहिए।





जिन देशना की पात्रता, अष्टमूलगुण की धारणा

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात्।।७३।।

अन्वयार्थः तु पुनः = और फिर। यानि शुष्काणि = जो पांच उदुम्बर फल सूखे हुए। कालोच्छिन्नत्रसाणि = काल पाकर त्रसजीवों से रहित। भवेयुः= हो जावें। तान्यपि = उनको भी। भजतः=भक्षण करनेवाले के। विशिष्टरागादिरूपा = विशेषरागादिरूप। हिंसा स्यात् = हिंसा होती है।

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।। ७४।।

अन्वयार्थः अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि = दुःखदायक दुस्तर और पापों के स्थान। अमूनि अष्टौ = इन आठ पदार्थों को। परिवर्ज्य = परित्याग करके। शुद्धधियः = निर्मल बुद्धिवाले पुरुष। जिन-धर्मदेशनायाः=जिनधर्म के उपदेश के। पात्राणि भवन्ति = पात्र होते हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने बड़ा अच्छा सूत्र दिया। राग की दशा कितनी विचित्र है कि बंध को समझता हुआ भी बंध की क्रियाओं को बंद नहीं कर पा रहा है। अहो! बाहरी भावों पर जिसकी दृष्टि है, (भाव यानि पदार्थ और भाव यानि परिणाम) वह पर-भावों से हटना नहीं चाहता, पर भगवान बनना चाहता है। लेकिन जब भी भगवान् बननेवाले होंगे, तब आपको परभावों से हटना ही होगा। अज्ञ प्राणी जब तक पर-द्रव्य और निज-द्रव्य में भेद नहीं कर पा रहा है, तब तक भेद-दृष्टि नहीं बनेगी, क्योंकि पहले भेदविज्ञान होता है, उसके बाद अभेद-रत्नत्रय-धर्म होता है। जो भेदविज्ञान के अभाव में रत्नत्रय-धर्म की सिद्धि करना चाहता है, वह तो अग्नि में कमल-वन को देखना चाहता है। मनीषियो! भोगों की अग्नि में झुलसक तुम शुद्ध-आत्मा के वेदन/अनुभव करना चाहते हो, यह तीनकाल में संभव नहीं हैं। ये भोग उन रिश्तदारों के समान हैं, जो आते हैं और सहानुभूति-सी दिखाकर चले जाते हैं; लेकिन ध्यान रखो सगा भाई इनसे अलग ही होता है। ऐसे ही भगवती-आत्मा को जो सगा है, वे दो हैं, एक ज्ञान और दुसरा दर्शन। उसे आप भूल रहे हो।

मनीषियो! ध्यान रखना, अंतिम दशा में, अंतिम अवस्था में क्रोध काम में आनेवाला नहीं है। लोभ, मान, माया काम में नहीं आयेगी। जब आत्मा शुद्ध बनेगी तो तेरा ज्ञान-दर्शन ही काम में आएगा। इसलिए जो तुम्हें कभी नहीं छोड़ेगा, उसके साथ जुड़ो। सुहावने शरीर को पाकर जो देह आपकी आज नजर आ रही है, भो ज्ञानी! पता नहीं वह कब धोखा दे दे। अतः, भगवान् अमृतचंद्रस्वामी कह रहे हैं, तीर्थेश की देशना वही सुनें, जिसकी बुद्धि सुबुद्धि हो।



हे सुधी आत्माओ। अपना कल्याण चाहते हो तो राग–बुद्धि को छोड़ दो। पयूर्षण आएगा तब हरी नहीं खाएँगे, इसलिये सुखाकर रख रहे हैं। अहो, ज्ञानी आत्माओ! कब खाओगे और क्या मालूम कि खाओगे या नहीं खाओगे? लेकिन कर्म का आस्रव तो तब से शुरू कर दिया, जिस दिन से आपने सोचना प्रारंभ किया। जबकि अभी तो खरीदा ही नहीं है, परंतु सुखाना सामने खड़ा हो गया। कभी–कभी व्यर्थ में ही कर्म को बुलाते हो। अतः विवेक लगा लो तो बहुत से कर्मआस्रव से आप बच जाओगे। पर आवश्यकता निर्मल चिंतन की है। आप शुद्ध बोलते–बोलते कुछ व्यर्थ शब्द बोलते हो, जैसे "फल–मल सब खा लिये"। बात को पकड़ना कि व्यर्थ शब्द जोड़कर आपने कितना गलत शब्द बोल दिया है। हम मनुष्य हैं, मल नहीं खाते हैं, तो यह 'मल' शब्द आपने क्यों बोल दिया अलग से? संपादक तो कागज पर कलम चलाता है, लेकिन योगी निज भावों को शब्दों में लाने पर ही संपादित कर लेता है, और वाणी में तो संपादित–वाणी ही आती है। पंडितप्रवर दौलतरामजी ने लिखा है–"जिनके वचन मुखचंद्रतें अमृत झरे"। जो इस भावना से ओतप्रोत होकर निर्विकल्पभाव में लीन होता है, तो वह शब्दों का श्रावक नहीं कहलाता, चर्या का योगी बन जाता है। लेकिन आँखों का खोलना, बंद करना, मुख से "अहा" बोलना, ये बाहरी क्रियायें है।"

भो ज्ञानी! तुम देशना सुनने के पात्र तब होगे, जब तुम्हारी आत्मा अष्टमूल गुणों के संस्कारों से संपादित हो जाएगी। अतः इतनी तो योग्यता तो रख लेना कि कहीं भी जाओ तो कह सको कि मैं जिनेंद्र की वाणी सुनने की योग्यता रखता हूँ। एक दिन ऐसा भी आएगा जब आप वाणी देने की भी योग्यता रखोगे? क्योंकि तब आप संयम से समन्वित हो जाओगे। फिर आपके मुख से भाषण नहीं होंगे, फिर आपके मुख से प्रवचन ही होंगे। "प्रकष्ट वचनं इति प्रवचनं" जिसने भाषासमिति को स्वीकार कर लिया है, वचनगुप्ति को स्वीकार कर लिया है, अब उसको शैली बनाने की क्या आवश्यकता है ? इसलिए जो भावों से उत्पन्न हो, जिनेंद्र की वाणी से समन्वित हो, वही प्रवचन है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि ऐसी देशना सुनने का पात्र वही होगा जो अष्टमूलगुण से युक्त हो।

आपने जिज्ञासा प्रकट की कि उदम्बर फलों के त्याग की बात ठीक है, हम गीले नहीं खाएँगे। भो ज्ञानी! चाहे वह सूखा कलेवर हो, चाहे वे माँस के टुकड़े हों, ध्यान रखना, यह कोई सूखे केले के चिप्स नहीं हैं। फिर तो कल आप ये भी कहेंगे कि माँस के टुकड़ों को सुखाकर भी खा सकते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो कच्चे आलू तो नहीं खाते हैं। पर चिप्स खाते हैं, बोले, रात्रिभोजन का त्याग होता है तो फलाहार कर लेते हैं। भो चैतन्य आत्माओ! जीवों का पिन्ड था, वही तो सूख गया। इसलिए धर्म का पालन तो करना, लेकिन उसमें कोई बहाना मत निकाल लिया करो। सुनो, हरी का त्याग है, और नीबू भी हरी में आता है। कुछ लोग नीबू, केले को हरी नहीं मानते, क्योंकि वह रंग से हरा नहीं होता है, परंतु वह सत् से हरा माना जाता है। चाहे आम हो या केला हो, हरा ही है। यह जो भुट्टा खा रहे हो, यदि आपका नियम दो हरी का और दो अनाज का है, तो भुट्टा एक अनाज भी हो गया और एक हरी भी हो गया। अहो! बड़े चतुर हो, दूध का त्याग है, इसलिये मावा तो चल सकता है। अहो! आपने रसना–इंद्रिय की विजय के लिए त्याग किया था या मात्र खाने के लिए त्याग किया। जिसने गो–रस का त्याग किया, वो न दूध ले सकता है, न मावा, न घी ले सकता है, न छाछ ले सकता है, परंतु घी का त्यागी दूध ले सकता है। दही का त्यागी दूध ले सकता है।



पर ध्यान रखना, तुम्हारी मायाचारीवाली छाछ नहीं, आपने एक ग्लास दही लिया, उसमें थोड़ा–सा पानी मिला दिया और चम्मच से घुमा दिया, लो बन गयी छाछ। भो ज्ञानी ! छाछ यानि मठा। जिसमें से मक्खन निकाला जा चुका है, वो छाछ है। जो बिलकुल तरल हो चुका है, उसको ही स्वीकार करना।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, यह रूढ़ियों का धर्म नहीं है। यह तात्विक, सैद्धांतिक एवं वैज्ञानिक तत्त्वों से समन्वित धर्म है। यदि श्रमणाचार और श्रावकाचार की चर्या के अनुसार जीव चले तो रोग तुम्हारे घर में कभी नहीं आएँगे। माँ–जिनवाणी कह रही है, बेटा! पेट के चार भाग कर लो, मौसम के अनुसार, एक भाग में तरल, दो भाग में खाद्य तथा एक भाग खाली। ग्रीष्मकाल में एक भाग में भोजन, दो भाग में तरल तथा एक भाग खाली। वर्तमान में बारिश चल रही है, ऐसे में गरिष्ठ भोजन अर्थात् जो सामग्री आपको नहीं पचती है, उसे भी जो खाता है, वो अभक्ष्य ही खाता है। जिनवाणी कहती है, कि आपको हलुआ नहीं पचता है, फिर आप जबरदस्ती खाते हो तो आप अभक्ष्य खाते हो, क्योंकि वह आपके शरीर को अस्वस्थ करेगा और शरीर अस्वस्थ होगा तो साधना अस्वस्थ होगी। अहो! इस पुद्गल की रक्षा करना, जब तक तू निष्पृह भगवती–आत्मा को प्राप्त न कर ले; लेकिन राग दृष्टि से नहीं। शरीर को चलाने के लिए बहुत कुछ खाने की आवश्यकता नहीं; परंतु इंद्रियों की लिप्सा के लिये संसार में बहुत कुछ खा सकते हो। भगवान् समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है, "अल्प–फल बहु विघातान" अर्थात् जिसमें फल अल्प हों और विघात ज्यादा हो। बेर, मकुईयाँ सुखा–सुखा के रख लिया, बरसों तक चलता है। अचार डाल दिया, मुरब्बा बना लिया, इसमें त्रसजीव पड़ जाते हैं। मर्यादा के बाहर अचार और मुरब्बा का सेवन जो करता है, वह अपने आप को माँस एवं मदिरा से अछूता न समझे। अहो! नरक के चार द्वार संधान, रात्रि–भोजन, सुरापान, और पर–स्त्री–सेवन ये ही तो हैं।

भो ज्ञानी ! जीवन में तत्त्व को समझो और तत्त्व प्राप्ति का उपाय भी समझो। 'समयसार' तत्त्वज्ञान है और 'मूलाचार', 'श्रावकाचार' यह तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के उपाय हैं। तत्त्वज्ञान कर लिया, परन्तु तत्त्वज्ञान से तत्त्वज्ञ नहीं बन पाओगे। पंचास्तिकायों में शुद्ध जीवास्तिकाय बनना है, सात तत्त्वों में शुद्ध जीव–तत्त्व बनना है, नौ पदार्थों में शुद्ध जीव–पदार्थ, छह–द्रव्यों में शुद्ध जीव–द्रव्य बनना है, तो मनीषियो! अशुभ भावों को एवं अशुभ क्रियाओं को छोड़ना पड़ेगा। "पंचास्तिकाय" ग्रंथ में जब ग्रंथकार ने नमस्कार किया तो भगवान् का नाम नहीं लिया, उन्होंने लिखा शुद्ध जीवास्तिस्तकाय को नमस्कार। उन्होंने अर्हन्तों तक को नमस्कार नहीं किया, शुद्ध 'जीवास्तिकाय' को नमस्कार किया है। आप शुद्ध 'जीवास्तिकाय' हो क्या? जबकि प्रत्यक्ष में आप पुद्गल में लिपटे दिखते हो, प्रत्यक्ष में आप कर्म से बद्ध हो। भो ज्ञानी! यदि शुद्ध 'जीवास्तिकाय' की प्राप्ति करना चाहते हो, तो अशुद्ध परिणति का परित्याग करो। जो शुद्ध 'जीवास्तिकाय' नहीं होता, वह द्रव्य से भी अशुद्ध होता है, पर्याय से भी अशुद्ध है और गुणों से भी अशुद्ध होता है।

भो चेतन्य! ऐसी दृष्टि रखो, कि मेरे अंदर जो जीवत्त्व–शक्ति है, वो शक्ति इन उदम्बर फलों के अंदर भी है। औषधियाँ खा रहे हो, उनमें जो जीव बैठे हैं वे कौन हैं? वे भी सिद्ध–शक्ति सहित हैं। शक्ति सर्वत्र लगाओ। जब तुम माँस को नहीं खा सकते हो तब दूसरों के रक्त की बोतलों को कैसे ले सकते हो? रक्त, माँस कोई दान नहीं है। हमारे आगम में चार ही दान कहे हैं– औषध, अभय,

आहार, शास्त्र। लेकिन औषध के नाम पर रक्त नहीं लिखा। पहले भी औषधियाँ थीं, क्या पहले ताकत की आवश्यकता नहीं पड़ती थी? माँ जिनवाणी कहती है कि आप श्रावकाचार के अनुसार चलो। भोजन भी करो, वह भी विवेक के साथ करो। सुरविज्ञान कहता है कि स्वस्थ रहना चाहते हो तो दिन के बारह बजे भोजन नहीं करना, थोड़ा आगे या पीछे कर लो। भोजन कर लिया और सो गये। वैज्ञानिक दृष्टि से समझो, जो भोजन करके तुरंत सो जाते है। उसका भोजन वैसा ही रखा रहता है, पच नहीं पाता, इसलिए वह बीमार हो जाता है। इसी प्रकार इच्छानुसार मत खाया करो, भूख के अनुसार खाया करो। जो इच्छानुसार खाएगा, वह कभी निरोग नहीं रह सकता। जो भूख के अनुसार खाएगा, वह कभी अस्वस्थ नहीं रह सकता।

भो ज्ञानी! भगवान् अमृतचंद्र स्वामी समझा रहे हैः यस्मात्मकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथमात्मनात्मानम् 'जो कषायों से युक्त होता हैं, वह पहले तो अपनी ही आत्मा का घात कर ही लेता है। क्योंकि जहाँ राग होता है, वहाँ हिंसा होती है। तुम साग–भाजी क्यों सुखा रहे हो? क्योंकि तीव्र राग लगा हुआ है। एक जगह लोगों ने कहा–हम मठा नहीं खाते, हरी और द्विदल का त्याग है, इसलिए नींबू की कढ़ी बनी है। दूसरे ने कहा अरे! मेरा हरी का त्याग है। भाई! यह तो सूखे नींबू की बनी है। नींबू कैसे सुखाया? बोले–एक कपड़ा लिया, उसमें नींबू निचौड़ा और उसको सुखाने रख दिया, जब उतना सूख गया, फिर उसी पर दूसरा नीबू निचोड़ दिया, ऐसे दस–बारह नींबू कपड़े में निचोड़ दिए और जब कढ़ी बनानी हुयी, तो कपड़ा को पानी में डुबो दिया। धन्य हो तुम्हारी महिमा! इतना राग कि पर्यूषणपर्व में कढ़ी खाना है। अहो! राग की दशा कितनी विचित्र है? इसलिए अमृतचंद्र स्वामी कहे रहे हैं–जो पंचउदम्बरफल को सुखा लिया है, उसमें भी हिंसा है; क्योंकि विशेष राग है। ध्यान रखो, मत सोच लिया करो कि हमने भाजी सुखा ली, पत्ती सुखा ली तो वो जीव से रहित हो गयी। ऐसा नहीं है। रोटी सुखा ली, फफूँद चढ़ रही है। अहो! इतना राग, इतना लोभ? ध्यान रखो, जिनेन्द्र की देशना में बासे भोजन को अभक्ष्य कहा गया है। अब तो कहते है कि फ्रिज में रख देंगे, लेकिन आपको यह ज्ञान नहीं है कि फ्रिज की कोई भी सामग्री भक्ष्य नहीं है, क्योंकि मर्यादा के बाहर की है, उस सामग्री में उसी की जाति के सम्मूर्च्छन जीव विराजे हैं। शुद्ध–घृत माँस नहीं है, शुद्ध–दूध जीव का द्रव्य नहीं है; यदि आप दुग्ध को रक्त की संज्ञा दोगे तो आप जो मल–मूत्र जाते हो, इसे क्या कहोगे? आपके शरीर में मूत्र की नलिकाएँ भी हैं, आप कितनी ही मशीनों से जाँच करा लो, उसमें आपको कोई भी माँस का कण नहीं मिलेगा। जल की तरह दुग्ध भी शुद्ध अजैविक ही है। अहो! प्रकृति का परिणमन देखो– माँ के आँचल में दूध आता है, भोग–भूमियों में शेर माँस नहीं खाता, वह कल्पवृक्ष से फल आदि का ही सेवन करते हैं।

भो ज्ञानी! वास्तविकता यह है कि रक्तदान से रक्षा नहीं होती है। संयम धारण करके समाधि कर लो। रक्षा औषधियों से नहीं होती, औषधियाँ तो निमित्त मात्र हैं, रक्षा तो तुम्हारे आयुकर्म से होगी। अहो! मणि, तंत्र, मंत्र, औषधियाँ काम कर जाती तो मनुष्य मरना कभी नहीं चाहता। इसलिए जो अभक्ष्य हैं, पाँच उदम्बर–फल और तीन मकार, वह बहुत ही दुष्कार हैं। उन आठों को त्याग दो। आचार्यश्री चौहत्तरवीं कारिका में तो कह रहे हैं कि जिनदेशना को सुनने का उसे ही अधिकार है, जो अष्टमूलगुण का धारी और शुद्ध बुद्धि वाला है। **''जिनधर्म देशनाया भवन्ति पात्राणी शुद्धधियः।''** इसलिए सब आज अष्टमूलगुण के पालन का नियम लेकर ही जाना, उसमें छल नहीं करना।



आचार से संस्कारित विचार

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा।।७५।।

अन्वयार्थः– औत्सर्गिकी निवृत्तिः = उत्सर्गरूप निवृत्ति अर्थात् सामान्य त्याग। कृतकारितानुमननैः = कृत, कारित, अनुमोदनारूप। वाक्कायमनोभिः = मन वचन काय करके। नवधा इष्यति = नव प्रकार मानी है। तु एषा = और यह। अपवादिकी = अपवादरूप निवृत्ति। विचित्र रूपा =अनेक रूप है।

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वंतोपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुंञ्चन्तु।।७६।।

अन्वयार्थः– ये अहिंसा रूपं धर्मम् = जो जीव अहिंसा रूप धर्म को। संशृण्वन्तः अपि = भले प्रकार श्रवण करके भी। स्थावर हिंसाम् = स्थावर जीवों की हिंसा। परित्यक्तुम् असहाः = छोड़ने को असमर्थ हैं, ते अपि = वे भी। त्रसहिंसाम् = त्रस जीवों हिंसा को। मुंचन्तु = छोड़ें।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! इस जीव ने बहुत साधन प्राप्त किये हैं, पर साधनों का होना साधन (हेतु/कारण/प्रत्यय)नहीं है। जिस साधन से साध्य की सिद्धि हो,वो ही साधन उपादेय हैं। जिससे हमारे साध्य की सिद्धि न हो, वह हमारे लिये साधन नहीं है, यद्यपि वही साधन दूसरे के लिये साध्य की सिद्धि करा रहा है। इससे लगता है, कि जीव की होनहार ही है या कि जीव की भवितव्यता; एक चाण्डाल के लिये साधन बन गये और वहीं बैठे एक क्षत्रिय के लिये साधन नहीं बन पाये। तो हम साधना में दोष क्यों दें? हमारी आदत दूसरों को दोष देने की रही है, पर ध्यान रखना, मिथ्यात्व–अवस्था में, कषाय की तीव्रता में धोखे से भी भगवान् के दर्शन हो जायें तो वह भी पुण्य का ही योग है। परंतु उसने दर्शन किये नहीं, मात्र देखा और चला गया। माँ जिनवाणी कह रही है–मिथ्यादृष्टि भी सत्य जानता है। जो इन प्रतिमाओं को कभी नहीं पूज रहा है, उसने प्रतिमा बनाई हैं। समझना बात को, जिसकी प्रतिमा बनी है, वह भी एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि है। पाषाण की प्रतिमा में विराजा एकेन्द्रियजीव है और एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव नियम से मिथ्यादृष्टि ही होते हैं; परंतु जो वंदना कर रहा है, वह सम्यक्दृष्टि है। जो पाषाण में विराजा जीव है, उसकी आप वंदना तो नहीं कर रहे हो, लेकिन ध्यान रखना, उस जीव का तीव्र यशकीर्ति– नाम–कर्म का उदय है। क्योंकि एक पाषाण प्रतिमा के आकार में है और एक पाषाण तुम्हारे संडास में लगा हुआ है। दोनों में जीव है। यह मत कह देना कि खदान से निकल गया तो अजीव हो गया, क्योंकि सिद्धान्त यह कहता कि घनांगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना एकेन्द्रियजीव लेता है और निगोदियाजीव की सबसे सूक्ष्म अवगाहना बनती है। निगोदियाजीव भी जब जन्म लेता है तो सबसे पहले आयताकार बनता है अर्थात् लंबाई



अधिक, चौड़ाई कम। द्वितीय समय में वह जीव चतुर्कोण होता है यानि क्षेत्र कम हो गया। तृतीय समय में वृत्ताकार अर्थात् गोल हो जाता है। ऐसा घना–अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना से युक्त एक ही शिला में पता नहीं कितने जीव अपना शरीर बनाये बैठे हैं। अब देखना कि एक पूजा रहा है एवं एक पुज रहा है, दोनों जीव हैं।

अहो पंचमकाल की ज्ञानी आत्माओ! एकेन्द्रिय पाषाण में परमेश्वर का उपचार करके तुम तीर्थंकर की वंदना कर लेते हो, तो चेतन निर्ग्रंथों में तुम्हें मुनि–दृष्टि क्यों नहीं दिखती है? पाषाण में भगवान् हो सकते हैं, तो भगवानों में भगवान् जिसे नहीं दिखे, उसकी दृष्टि क्या होगी? यदि किसी जीव ने धोखे से भगवान् को देख लिया ('धोखा' शब्द याद रखना) और धोखे से जिनवाणी सुन ली, धोखे से मुनिराज देख लिए परन्तु 'दर्शन' नहीं किये क्योंकि 'दर्शन' श्रद्धा से होते हैं और 'देखना' अश्रद्धा का विषय होता है। मुमुक्षु पंच–परमेष्ठी के दर्शन करता है और मिथ्यादृष्टि पंच–परमेष्ठी को निहारता है, देखता है।

अज्ञानता से कोई पंच परमगुरु को न माने तो, भो ज्ञानी! पंच–परमगुरु का अभाव नहीं है। जिसकी पंच–परावर्तन की दृष्टि चल रही है, उसे पंच–परमगुरु नजर नहीं आते। उसे पंचपरमेष्ठी कभी नहीं दिखेंगे, क्योंकि दिख गये कहीं तो उसका परावर्तन समाप्त हो जायेगा। जिस जीव ने एक बार भी पंच–परमगुरु के दर्शन श्रद्धा पूर्वक कर लिए, उसको अर्द्धपुद्गल–परावर्तन से ज्यादा भगवान् भी संसार में नहीं रख सकते। 'सर्वार्थ–सिद्धि' में 'दृश' धातु यद्यपि देखने के अर्थ में आती है, लेकिन मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से उसको श्रद्धा के अर्थ में रखा है। अतः, दर्शन सम्यक्दृष्टि करता है और पंच परमेष्ठी को जो देखते हैं, वह मिथ्यादृष्टि होते हैं। जो तीर्थों को देखने जाते हैं, वह तो मिथ्यादृष्टि होते हैं और जो तीर्थों के दर्शन करने जाते हैं, वो सम्यक्दृष्टि होते हैं। देखने तो प्रदर्शनी को जाया जाता है, प्रभु को नहीं। प्रभु के तो दर्शन करने जाया जाता है, जो दर्शन करने जाता है वो दर्शन ही करता है और जो देखने जाता है, वो देखकर ही आता है। जब एक सम्यक्दृष्टिजीव अरहंतदेव के गुण–पर्याय को देखता है, तो वह दर्शन करता है। 'दृश' धातु देखने के अर्थ में भी आती है और 'गम' धातु गमन अर्थ में आती है और ज्ञान अर्थ में भी आती है।

भो ज्ञानियो! पाषाण में अरहंतदेव को देख रहे हो, तो जो उदम्बर फल हैं, इनमें कौन विराजा है? आपको सम्मेद–शिखर की मिट्टी में सिद्ध भगवान् नजर आ रहे हैं तो केंचुए की पर्याय में सिद्ध क्यों नहीं दिख रहे? भगवान् की पूजा करने के लिए वाहन पर बैठ कर मंदिर में गया, उधर नीचे भगवान जा रहे हैं, पर उन भगवान् पर कोई ध्यान नहीं हैं। पाँच मिनिट पहले चल देते, ईर्यापथ से चलते। मनीषियो! ध्यान रखना, कम–से–कम जिनालय में तो पैदल आ जाया करो। जिस अहिंसा की बात अमृतचंद स्वामी कर रहें हैं–उसे समझो। एक ओर आप पाषाण में स्थापित परमेश्वर की वंदना कर रहे हो और दूसरी ओर उस पर्याय में बैठे भावी भगवान् को तुम कुचलते चले जा रहे हो। अहो! बोले–मेरे भाव मारने के थोड़े थे, भगवान् की वंदना के भाव थे। अच्छी बात है। पर एक बात और बता देना कि वध भावों मात्र से होता है कि मन–वचन–काय से होता है? यदि भावों से सबकुछ आप कर लेते हो, तो आज से भावों का भोजन करना शुरू कर देना।

भो ज्ञानी! विवेक लगाओ,। हमारे पास दो बगीचे हैं। एक देह है, एक देही है! पर पानी बहुत कम है। यदि मैं आत्म–उद्यान में जल देता हूँ तो देह का उद्यान सूखता है और देह के उद्यान में नीर देता



हूँ तो देही का उद्यान सूखता है। मनीषियो! यहाँ यह देख लो कि तुम्हारी दृष्टि में कीमत किसकी है? आयुकर्म का नीर अल्प है। देही में दोगे तो परमेश्वर बन जाओगे और देह में दोगे तो नरकेश्वर बन जाओगे। अब जो आप की इच्छा हो, वह कर लेना। आचार्य भगवान् उमा स्वामी कह रहे हैं, भाव सुधार लेते तो तेरी भवितव्यता निर्मल हो जाती। मुमुक्षु भाव व भव की बात बाद में करता है, पहले भावनाएँ सुधारता है। तुम्हारी भावनायें निर्मल हैं, इस बात को तुम कैसे प्रमाणित कर सकते हो? भोजन होटल में चल रहा है, रात्रि में भोजन चल रहा है, रात्री में काजू किशमिश चल रहा है, फिर भी कहता है कि भाव निर्मल हैं और भावनायें निर्मल हैं। अहो! परमात्मा बनता कैसे है ? भावों से बनता है कि भावनाओं से? चाहे दर्शन की बात करो, चाहे ज्ञान की बात करो, चाहे कोरे संयम की करो, लेकिन जब तक तीनों की एकता नहीं हो रही है तब तक मोक्षमार्ग संभव नहीं है। आचार्य अमृतचंद स्वामी ने बहुत विवेक के साथ लिखा है ता कि ये मुमुक्षु बेचारे भटक ना जायें। शुद्धि की बातें करते–करते वह आचार को अशुद्ध करके बैठ गये। कभी कल्याण नहीं होगा। ध्यान रखना, भारतीय संस्कृति में विचारों की पूजा बिल्कुल नहीं की गयी है। विचार पूज्य नहीं हैं, पर आचार से समन्वित विचार हैं; तो पूज्य हैं।

भो ज्ञानी! गौतम स्वामी को सामान्य जीव मत समझ लेना। वे बहुत बड़े विचारक थे, उनके पाँच–सौ–शिष्य थे, परंतु आचारक नहीं थे और जब तक आचारक नहीं थे तब तक किसी जैन ने नमस्कार नहीं किया। जिस दिन वही विचार आचार में ढल गये तो आज भगवान् महावीर स्वामी के बाद ''मंगलम् भगवान् वीरो, मंगलम् गौतमोगणी'' गौतम स्वामी को दूसरे स्थान पर रखा है, क्योंकि आचार से समन्वित हो गये तो उनके विचार भी वन्दनीय हो गये। अहो! आचार व विचार हीन व्यक्ति का ज्ञान, ज्ञान नहीं है तथा चरण, चरण नहीं है और विचार, विचार नहीं है। इसीलिए ध्यान रखना कि आज तक हमने जिनवाणी को बहुत सुना है, विचारों को बहुत सुना है, अब विचारों को विचारना है। पर बेचारे विचारों को विचार नहीं पा रहे हैं, इसीलिए आचार से शून्य हो जाते हैं। आचार्य योगीन्दुदेव सूरि ने 'परमात्म प्रकाश' में बड़ा दयनीय शब्द लिख दिया–''अन्तरंग में विषयों की वासना चल रही है, बाहर में लोकलाज सता रही है, इसीलिये बेचारे दीन संसारी और दीर्घ संसारी मनुष्य संयम को धारण नहीं कर पाते। ''प्रभु ने दीन कह दिया, फिर दीर्घ कह दिया।

मनीषियो! सिद्धान्त ध्यान रखना कि–अभव्य जीव में भी भगवान् हैं। फिर वो अभव्य कैसा ? भव्य के भगवान तो प्रकट हो जायेंगे, लेकिन अभव्य के भगवान् कभी नहीं प्रकट होंगे, इसीलिए अभव्य है, पर भगवत–सत्ता तो उसके अन्दर भी है। जिसके केवलज्ञान पर आवरण पड़ा हुआ है जो कभी हटेगा नहीं, उसे अभव्य कहते हैं और जिसके केवलज्ञान पर आवरण तो पड़ा है, पर नियम से हटेगा, उसका नाम भव्य है। भो ज्ञानी! ध्यान रखना, कभी अपने आप को अभव्य मानना भी मत। अभव्य वे हैं जिनको श्रुत में प्रीति नहीं है, जिनदेव में प्रीति नहीं है; जिनवाणी में और निर्ग्रंथ धर्म व गुरु में प्रीति नहीं है परन्तु जिनका इन सब में चित्त अनुरक्त है, वे भावी भगवंत ही हैं। इसलिए भो मनीषियो! उत्साह भी भगवत्ता को उठा देता है। जब एक क्षपक श्रमण रात्रि में कह उठा था कि प्रभु पानी चाहिए, भूख लगी है, प्यास लगी है तो आचार्य शांति सागर महाराज पहुँच गये। नमोस्तु! आँख खुली तो क्षपकराज ने देखा कि प्रभु नमोस्तु कर रहे हैं। भगवान्! आप नमोस्तु मुझे कर रहे हैं? बोले–मैं तो यहीं खड़ा हूँ, आप तो सल्लेखना ले रहे हो, आप तो परमतीर्थ हो। 'भगवती आराधना' में लिखा है सल्लेखना चाहे छोटे की हो रही हो, चाहे बड़े आचार्य महाराज की हो रही हो, यदि किसी जीव के



सल्लेखना देखने के भाव नहीं आते हैं तो समझना कि उसकी सल्लेखना के प्रति प्रीति नहीं है, उसे समाधि के प्रति अनुराग नहीं है। यदि आप सम्मेदशिखर की वंदना को जा रहे हो, उसको निरस्त कर देना, परंतु समाधि चल रही हो तो क्षपक के दर्शन पहले कर लेना, क्योंकि तीर्थ पुनः मिल जायेगा, यह तीर्थ गया सो चला जायेगा। ध्यान रखना, उस समय आचार्य महाराज ने जैसे ही नमोस्तु किया और बोले–पानी चाहिए? नहीं चाहिए। देखो, नमोस्तु में कितनी शक्ति है कि मना कर दिया। आचार्यश्री बोले–हे मुनिराज! रात्रि–काल का प्रायश्चित कर लो, कायोत्सर्ग कर लो, त्याग कर दो। हाँ प्रभु! त्याग है। अहो! स्थितीकरण के दोनों उपाय हैं, कभी डांटना, तो कभी पुचकारना और जब पुचकार के काम चल जाये, तो डाँटने की कोई आवश्यकता नहीं है। भो ज्ञानी! मेरी समझ में तो नहीं आता कि मनुष्यों को डाँटा जाये, क्योंकि मनुष्य की परिभाषा बहुत ही उत्कृष्ट है। जो मननशील हो, चिंतनशील हो, मनन ही जिसका धर्म है, चिंतन ही जिसका धर्म है और जो मनु की संतान है, उसे मनुष्य कहा है। यदि मनुष्य को बार–बार डाँटा जाये, फटकारा जाये, तो वह मनुष्य तो है नहीं, करुणा का पात्र है। यद्यपि मनुष्य की खोल में तो है, पर परिणति तिर्यंच है, क्योंकि जो घोर अज्ञानी हो, पाप–बहुल और माया से भरा हो, उसका नाम तिर्यंच है। आज घर में जाकर चिंतवन करना है कि हम मनुष्य हैं कि तिर्यंच? इसीलिए कारिका में अमृतचंद्र स्वामी यह कह रहे हैं कि–मननशील हो, तो कुटिलता छोड़ दो। ध्यान रखना, अभी विवेक काम कर रहा है, बुद्धि काम कर रही है और पुण्य काम कर रहा है, इसलिए सुकृत्य के काल में सुकृत्य कमा लो, दुष्कृत्य के काल में सुकृत्य के भाव नहीं आते हैं। सिद्धांत का नियम है कि आयुबंध के काल में अशुभ परिणाम जिनके होंगे, जब उनका मृत्यु का समय आयेगा, नियम से संयम छोड़ देगा और जो जीवन भर आपको पाप में लगा दिखा, परंतु उस के आयुबंध के काल में परिणति निर्मल थी और मृत्यु का काल आयेगा तो सब पाप छोड़ देगा। कहेगा–मेरी सल्लेखना करा दो, ऐसे भाव करता है। यह आपके जीवन की निर्मल घड़ी है। अपने 'अपने' की निहारना।

भो ज्ञानी! आपको उत्कृष्ट मार्ग यही है कि नव कोटि से हिंसा का त्याग होना चाहिये। लेकिन अहिंसारूपी धर्म को अच्छी तरह से सुनकर भी जो स्थावर–हिंसा को नहीं छोड़ पा रहे हैं कि तो उन्हें त्रस–हिंसा तो छोड़ ही देना चाहिए। गृहस्थों के लिये कह रहे है आप भोजन बनाते हो, व्यापार आदि करते हो, इसमें एकेन्द्रिय जीव का घात हो रहा है। लेकिन वहाँ भी ध्यान रखना। नल खोल दिया तो पानी बह ही रहा है, अग्नि जल रही है तो जल ही रही है। किसी जीव का न वध करना, न करवाना, न अनुमोदना करना, न मन से करना, न वचन से करना, न शरीर से करना। कृत कारित अनुमोदना से, नवकोटि से त्याग किया है, वही यथार्थ मार्ग है। यदि आपसे उतना पालन नहीं हो सके तो आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जितना आपसे बने, उतना ही आप पालन करें, उसमें प्रमाद न करें। ऐसा भी न कहें कि त्याग थोड़ा है, अतः त्यागी नहीं हो। अहो! किसी के विराधक और विदारक भी मत बनो। इतने स्वच्छंदी मत हो जाओ कि जिसमें अगली पर्याय का भी ध्यान न रहे। ध्यान रखना जो आपको पुण्य के योग से सम्पत्ति मिली, सुख मिला , सुविधाएँ मिली है। उसमें इतने तल्लीन मत हो जाओ कि आगे खोखले–के–खोखले रह जाओ। यहाँ तो आप पुण्य से भर कर आये थे और यहां से पाप से भर कर चले गये। इसीलिए, जितने पुण्य से भर कर आये थे, उससे भी अधिक भर कर जाओ, जबकि उत्तम तो यही है कि दोनों से खाली होकर जाओ। यदि नहीं जा पा रहे हो तो कम–से–कम पाप के मल से भरकर तो मत जाना।



परम रसायन है अहिंसा

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम्।। ७७।।

अन्वयार्थ : सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् = इन्द्रियों के विषयों का न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले। गृहिणाम् =श्रावकों को। स्तोकैकेन्द्रियघातात् = अल्प एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त। शेषस्थावरमारणविरमणमपि = अवशेष स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों के मारने का त्याग भी। करणीयम् भवति = करने योग्य होता है।

अमृतत्वहेतुभूतं परमंमहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमंञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम्।।७८।।

अन्यवार्थ : अमृतत्वहेतुभूतं = अमृत अर्थात् मोक्ष के कारणभूत। परमं अहिंसारसायनं = उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन को। लब्धवा = प्राप्त करके। बालिशानाम् = अज्ञानी जीवों के। असमंञ्जसम्=असंगत बर्ताव को। अवलोक्य = देखकर। आकुलैःन भवितव्यम् = व्याकुल नहीं होना चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने परमतथ्य को प्रकट करनेवाली परम– अहिंसा का कथन किया है कि विश्व में यदि कोई धर्म, कोई चारित्र, कोई संयम है, तो मात्र अहिंसा ही है। जितना व्याख्यान है, जितनी चर्यायें हैं, क्रियायें हैं, सब अहिंसा के लिए हैं। चाहे वह लौकिकदृष्टि हो, परमार्थदृष्टि हो अथवा नैतिकता की दृष्टि हो, सभी अहिंसा की दृष्टि है। अतः द्वादशांग का सार एकमात्र अहिंसा है। भो ज्ञानी! कोई जीव शरीर से हिंसा करता है, कोई वचन से, कोई बैठे–बैठे मन से ही कर लेता है। जगत में वचन के हिंसक कम हैं, तन के हिंसक भी कम हैं, पर मन के हिंसक बहुत ज्यादा हैं, क्योंकि वचन और तन से हिंसा करेंगे तो पकड़े जायेंगे; लेकिन मन की हिंसा इतनी विचित्र होती है कि क्षण में विश्व के प्राणियों के घात के परिणाम कर लेते हैं। मन द्वारा एक समय में अनंत जीवों के वध द्वारा मनुष्य पापस्वरूप बंध को प्राप्त कर लेता है। ध्यान रखो, किसी का मरण तो उस जीव के आयुकर्म के क्षय से ही होता है, लेकिन आपका बंध आपकी परिणति से ही होगा। मनीषियो! जब हम भावों से हिंसा कर सकते हैं, तो भावों से अहिंसा भी तो कर सकते हैं। तीर्थंकर--प्रकृति का बंधकजीव भी शरीर से उतने जीवों की रक्षा नहीं कर पाता है, जितनी परिणामों से करता है। अविरत–सम्यंक्दृष्टिजीव भी मन से सोलहकारण भावना भाकर तीर्थंकर--प्रकृति का बंध कर लेता है।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि जब तक तुम्हारे जीवन में तीव्र पुण्यप्रकृति काम नहीं करेगी, तब तक पुण्य करने का परिणाम भी नहीं होगा और किसी जीव की रक्षा के भाव भी नहीं आयेंगे। खाली बैठा रहेगा, गुनगुनाता रहेगा। यहाँ--वहाँ की कहानी–कथाओं पर दृष्टि चली



जायेगी, पर इतना पुण्य ही नहीं होता कि हम धर्म का सोच पाएँ। अरे! आप भोजन में, निहार में, यात्रा में, कोई काम करते समय सोचते हो। जब आप घर में होते हो, ऑफिस में होते हो, तब भी सोचते हो। तीर्थंकर भी इतना ही तो सोचते हैं। मंदिरजी आप जायेंगे तो रास्ते में कोई काम करते चले जाते हो। वह समय आपके पास था या नहीं? लेकिन लोगों ने यह समझ लिया कि धर्म तभी होगा जब मंदिर में बैठेंगे,। अरे! चाहे श्मशान हो, चाहे मंदिर, सभी तेरे धर्म के स्थान हैं। जिनवाणी कहती है कि मुनियों के विहार के समय उनका अंदर में चैतन्य–विहार होता है। अहिंसाधर्म के लिए निर्ग्रंथ–योगी पैदल चलते हैं; और चैतन्य–विहार में निजधर्म के लिए चलते हैं। आप लोग रुके हो इसलिए रुके हो; विहार करने लगो, तो विहार हो जायेगा। रुके में राग होता है, रुके में मल होता है, अतः कीचड़ हो जाता है। पर जो प्राणी विहार करता है, वह निर्मल होता है। ऐसे ही चैतन्य–विहार में जो लोग होते हैं, वे निर्ग्रंथ होते हैं। अतः, धर्म के लिए स्थान की खोज नहीं करना। चिन्तन तो चलता रहता है। अरे! गाड़ी को आगे ले जाओ, चाहे पीछे ले जाओ, डीजल/ पेट्रोल तो जलता ही है। ऐसे ही भो ज्ञानी आत्माओ! चाहे परिणति को शुभ में ले जाओ अथवा अशुभ में, वीर्य का क्षय तो होता ही है, आयुकर्म का क्षय तो होता ही है और क्षयोपशम का व्यय तो होता ही है। अतः, धर्म को कहीं खोजने की आवश्यकता नहीं है। दीपक के प्रकाश के लिए कौन–सा प्रकाश लाओगे? तुम्हारे ज्ञान–दर्शन की खोज करने कौन–सा ज्ञान–दर्शन लाओगे। जो धर्म की खोज करे, उसने धर्म को जाना ही नहीं। धर्म तो धर्म होता है, खोज तो धार्मिक की क्रियाओं की की जाती है। मंदिर बना रहे हो, जिनालय बनाकर पूजा कर रहे हो, यह धर्म की खोज नहीं है। यह धर्म की क्रियाओं की खोज है, जिससे हम अपने धर्म को पा सकें। धर्म कहीं गया ही नहीं है। आप ही बताओ, दुग्ध गरम है, दूध को ठंडा करने के लिए आप पंखा कर रहे हो। ऊष्णता तो पर के संयोग से है। जो विकृति आई, उस विकृति को हटाने के लिए पंखा चल रहा है। अहो मुमुक्षुओ! धर्म की खोज के लिए धर्म नहीं होता, अधर्म को भगाने के लिए हम धर्म की क्रियायें करते हैं। जो मेरा धर्म नहीं है उसको हमने लपेट लिया है। इसलिए आप उसको हटाने का पुरुषार्थ कर रहे हो। धर्म को कभी खोजना मत। धर्म तो अपने पास है। प्रत्येक जीव के पास धर्म है। अधर्म किसी के पास नहीं। कुछ लोग शास्त्रों में, तो कुछ तीर्थों में धर्म खोज रहे हैं। जबकि जिनवाणी कह रही है कि तुम धर्म को खोज रहे हो या खो रहे हो? तीर्थंकर की भूमि का परिचय वही देगा, जो यहाँ से रत्नत्रय–धर्म को लेकर जायेगा। इसलिए धर्म के लिए स्थान की खोज वह करेगा, जिसने धर्म को समझा नहीं! एक जगह एक सज्जन ने कहा–महाराजश्री! हम ध्यानकेंद्र बना रहे हैं। अरे! ध्यान यदि केंद्र पर चला जाये तो ध्यानकेंद्र बनाने की आवश्यकता ही नहीं। ध्यानकेंद्र तो पूरा ढाई द्वीप है। अन्यथा जितने निर्वाण को प्राप्त हुए है उन सबको पहले ध्यान–केन्द्र बनाना पड़ता, लेकिन तेरी विशुद्ध आत्मा ही ध्यान केंद्र है, जिसमें निज ही ध्याता है और निज का ही ध्यान होता है। अतः, कोई स्थान खोजने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि तीर्थ बाद में बने हैं, तीर्थंकर पहले हुये हैं, 'जे गुरु–चरण जहाँ धरें, जग में तीरथ होए' अर्थात् निर्ग्रंथों ने तीर्थ नहीं बनाये; निर्ग्रंथ के जहाँ चरण पड़ गये, वहाँ तीर्थ बन गये। तीर्थंकर भगवंतों की देशना जहाँ खिरी, वह तीर्थ बन गया। जहाँ साधना की, वह तीर्थ बन गया और जहाँ निर्वाण को प्राप्त हुये, वह तीर्थ बन गये। इसलिए अब बताओ, कौन–से क्षेत्र को अतीर्थ कहें? भारत के कौन–से प्रदेश पर



तीर्थंकर भगवंतों व निर्ग्रंथों का विहार नहीं हुआ? तथा तीनलोक में ऐसा कौन–सा प्रदेश है, जहाँ केवली भगवंत की केवली–समुद्घात के समय आत्म–प्रदेश स्पर्शित न हुए हो? अतएव तीनों लोक तीर्थ है। आप एक काम कर लो, जहाँ पाप करने का निर्जन स्थान मिले उसे खोजो, लेकिन जहाँ तीर्थकरा भगवंतों के चरण, उनकी वर्गणायें और प्रदेश फैले हों, ऐसे क्षेत्र को छोड़ देना। इसलिए ध्यान रखना, पुण्य–क्षेत्र खोजने की आवश्यकता नहीं है। पुण्य–क्षेत्र तो सर्वत्र है। आज पाप–क्षेत्र खोजने की आवश्यकता है, जहाँ तुम पाप कर सको। इतना गंभीर चिंतवन जब तक नहीं ले जाओगे, तब तक पाप से परिणति नहीं हटेगी, क्योंकि आप लोग सोच लेते हो कि यहाँ कोई नहीं देख रहा, यह तो अशुद्ध–स्थान है। अरे! जिस दिन तुम्हारे घर में निर्ग्रंथ गुरु के चरण पड़े, उसी दिन तुम्हारा घर तीर्थ हो चुका।

भो ज्ञानी! शौक के पीछे इतना ध्यान नहीं रख पा रहा है कि कितना शोक मुझे आगे सहन करना होगा। शोक से बचना है तो शौक करना छोड़ देना। ध्यान रखना, ये ठीक नहीं कि इस उत्तम पर्याय का तुम विघात कर रहे हो। पुरुष बनकर रहो, पुरुषार्थ करो, श्रेष्ठ काम करो। भगवान कह रहे हैं–हिंसा के भाव मत बनाना, स्त्रियों से कभी मत झगड़ना। झगड़ा करने से तनाव बढ़ता है और तनाव से पाचन–तंतु काम नहीं करते, उसका भोजन नहीं पचता, खाने को मन नहीं करता, बीमारियाँ होती हैं। पहले शरीर बीमार हुआ, फिर मन बीमार हुआ, फिर धर्म भी बीमार हो गया। इसलिए ऐसे काम मत करो। जिनवाणी में कितना अच्छा लिखा है–मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहार–जल शुद्ध है। इन चारों शुद्धियों का ध्यान रख लो। आज से कषाय मत करना, झगड़ना मत। आचार्य भगवान् गृहस्थों की समुचित व्यवस्था बता रहे हैं। यदि एक बाल्टी पानी से काम चल रहा हो तो टंकी भर पानी का उपयोग मत करो, विवेक से काम करो। तुम्हें आरती करना है तो उतना ही घी का उपयोग करोजो आरती पढ़ने के बाद ही जावे। आपने घी भरकर रख दिया और पंखियाँ आकर गिर गई, अतः हिंसा हो रही है। अर्हन्त भगवान् हमारी पूजा से न तो प्रसन्न होते हैं और हमारी निंदा से नाराज भी नहीं होते। पूजा तो अपने चित्त को पवित्र करने के लिए है और दुष्ट कर्मों का शमन करने के लिए आराधना है।मनीषियो! यह मत सोचना कि हम बहुत घृत भर देंगे तो भगवान् और खुश हो जायेंगे। यह विवेक रखो। बरसात चल रही है, जीव आ रहे हैं, खत्म हो रहे हैं। ठीक है, निषेध न करो, पर विवेक तो रखो। आराधना करो, भक्ति करो, पूजा करो, उसका निषेध नहीं, लेकिन विवेक और मर्यादा का पूर्ण ध्यान रखो।

भो ज्ञानी! आजकल एक नई प्रथा शुरू हो गई है कि भगवान् के सामने बल्ब जलता है। अहो ज्ञानियो! अहिंसा की बात करते हो तो विद्युत जहाँ से उत्पन्न होकर आ रही है उसमें कितने जीव मर रहे हैं? तुमने बल्ब जला दिया और रात भर जल रहा है। तनिक विवेक तो रखो, सुबह आपने वेदी खोली तो उसमें कितने सारे कीड़े–पतंगे मिले आपको ? यही तो हिंसा है। मार्ग को मार्ग रहने दो, उन्मार्ग मत बनाओ। जैसा आगम में मार्ग है, वैसा रहने दो। अगर इतिहास की खोज की जायेगी कि जैनदर्शन कब से है? तुमने प्राचीन ग्रंथ अलमारी में बंद करके रख दिये। संस्कृत की पूजायें, प्राकृत की पूजायें आप लोग पढ़ते नहीं हो। सब की हिन्दी कर डाली। वे संस्कृत की पूजाएँ, दस धर्म की पूजाएँ आप लोगों ने पुराने लोगों से सुनी होंगी। जब वे दसधर्म की पूजाएँ संस्कृत में करते



थे तो मंदिर गूँजता था, भले समझ में नहीं आये, लेकिन बड़ा अच्छा लगता था। अब कोई हिंसक/अनाचारी है और उसके पास खूब धन भरा है, तो बहुत सारे धर्मात्मा ऐसी विभूति को देखकर विचलित हो जाते हैं। आज जिनके घर में हिंसक काम चल रहे हैं, वे सम्मान पा रहे हैं। अहो! यह हिंसा का सम्मान नहीं है, यह हिंसा से धर्म नहीं आ रहा, बल्कि इनके पूर्व पुण्य का उदय चल रहा है। इसलिए आप कहीं यह मत सोच बैठना कि हमारे अच्छे काम करने से पैसा नहीं आता तो हम भी बुरा काम करें। इसलिए आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि ऐसे परम अहिंसा रसायन का पान करना अमृत का हेतुभूत है। अतः अहिंसा–रसायन का पान करो। भ्रम में मत पड़ जाना कि हिंसक/पापी बहुत सुखी देखे जा रहे है। वे हिंसा से सुखी नहीं, वे पूर्व के पुण्य के योग से सुखी हैं। हिंसा का फल उनको नियम से भोगना ही होगा। कहावत है–"एक लख पूत सवा लख नाती, ता रावण घर दिया न बाती"।





धर्मदेवता के निमित्त की गई हिंसा भी हिंसा ही है

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्म मुग्ध हृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः।।७९।।

अन्वयार्थः– भगवद्धर्मः = परमेश्वर–कथित अर्थात् भगवान् का कहा हुआ धर्म। सूक्ष्मः = बहुत बारीक है। धर्मार्थं हिंसने = धर्म के निमित्त हिंसा करने में। दोषः नास्ति = दोष नहीं है। इति धर्ममुग्ध हृदयैः = ऐसे धर्म में मूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हुए हृदय सहित। भूत्वा = होकर। जातु = कदाचित् शरीरिणः न हिंस्याः = शरीरधारी जीव नहीं मारने चाहिये।

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्त देहिनो हिंस्याः।।८०।।

अन्वयार्थ : हि धर्मः = निश्चय करके धर्म। देवताभ्यः प्रभवति = देवताओं से उत्पन्न होता है। इह = इस लोक में। ताभ्यः सर्वम् प्रदेयम् = उनके लिये सब ही दे देना योग्य है। इतिदुर्विवेककलितां = इस प्रकार अविवेक से ग्रसित। धिषणां = बुद्धि को। प्रायः = पाकर के। देहिनः न हिंस्याः =शरीरधारी जीव नहीं मारना चाहिए।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने अध्यात्म व सिद्धान्त की गहराइयों को स्वयं लख–लखकर लिखा है। भो ज्ञानी! अपनी कृति को अमरत्व देना चाहते हो तो पहले लिखो नहीं, लखो। अहो! धर्म की पुस्तक लिखना बहुत सरल है, लेकिन धर्म की पुस्तक का जीवन जीना बहुत महान है। हमारे आचार्यों ने पहले धर्म की पुस्तक को बनकर देखा है, फिर लिखा है। इसलिए आचार्य कुंदकुंद देव ने 'समयसार' जी की पाँचवी गाथा में स्पष्ट लिखा है कि मैं जो कथन कर रहा हूँ, वह मैंने स्वानुभव किया है, आत्मा की शान्ति का उपाय एकत्व–विभक्त–स्वभाव ही है।

तं एयत्तविहत्तं दाएहं, अप्पणो सविहवेण। ५।

भो ज्ञानी! जिस समय आपके परिणाम प्रभु–वन्दना के हों, जिनवाणी सुनने के हों, गुरुओं के पास बैठने के हों, समझ लेना आपकी लेश्या पीत है। पीत–लेश्या प्रेम उत्पन्न कराती है; परिणामों को निर्मल बनाती है। ये अशुभ नहीं, शुभ लेश्या है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि अग्नि आप को प्रकाश दे रही है और पीत सोना भी आपको प्रकाशित कर रहा है। सोने को इतना पीतत्व–भाव देनेवाली अग्नि है। हे चेतन्य! तुझे पीला करनेवाली पीत–लेश्या ध्यान–की–अग्नि है। कहीं सोने–चाँदी में खो मत जाना, लिखना हो तो लखकर ही लिखना। किसी भी आचार्य ने यह नहीं लिखा कि मैं दूसरों के लिए लिख रहा हूँ, प्रत्येक आचार्य ने पुस्तक के अन्त में यही लिखा–'परिणाम शुद्धयर्थम्,



विषय कषाय वंचनार्थम्' विषय–कषायों से बचने के लिए और परिणामों की विशुद्धि के लिए मैं ग्रंथ का सृजन कर रहा हूँ। मनीषियो। जिस पदार्थ से स्वयं की परिणति में निर्मलता न हो वह दूसरे की परिणति को निर्मल कैसे करायेगा? हमारे परिणामों में जो निर्मलता उत्पन्न करा सकता है, वह दूसरे के परिणामों में भी निर्मलता का हेतु बन सकता है। दिगम्बर आचार्यों की शैली तो देखो, पहले अनुभव किया, अनुभव सिद्ध करके जो पदार्थ आपको जिसने दिया है, उसके प्रति आपको सहज विश्वास होता है। निर्ग्रंथों की वाणी पर इसीलिए विश्वास होता है, क्योंकि उन्होंने लायी हुई नहीं दी, वेदन के बाद ही लिखा है। आचार्य कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं कि मैंनें अनुभव करके कहा है– कि एकत्व–विभक्त, चिन्मय–चैतन्य की जो दशा है, वही निर्मल है। वही लोक में सबसे सुन्दर है। एकत्व में कोई विसंवाद नहीं होता। द्वैत में ही विवाद होता है, अद्वैत में कोई विवाद नहीं है। इसीलिए सबके बीच में रहना, परन्तु वेदन एकत्व का ही करना। यदि आप सबके साथ रहकर, सब को अपना मान बैठे, तो आचार्य अमृतचंद स्वामी फिर कहेंगे कि हिंसा समाप्त होनेवाली नहीं है, क्योंकि पर में परिणति को ले जाना ही हिंसा है।

भो ज्ञानी! स्वानुभव करके कोई भी हिंसा नहीं कर पायेगा। मुनिराज ने चोर को सोते समय–वध–नहीं–करने का नियम दिलाया। आप भी नियम ले लेना कि सोते हुए हम किसी का वध नहीं करेंगे, जागृत होकर करेंगे। तुम निद्रा में नहीं सोये हो; मोह, राग, द्वेष में सोये हो; क्योंकि निद्रा का सोनेवाला इतना वध नहीं कर पाता, जितना राग–द्वेष का सोया हुआ व्यक्ति वध करता है। अतः, वध करने के पहले तनिक सी संवेदना को जन्म दे देना कि मैं वधिक हूँ , मैं हिंसक हूँ। लोक में हिंसक की कितनी प्रशंसा होती है ? जिसका मैं वध कर रहा हूँ, उसकी वेदना कितनी हो सकती है ? मैं उसके प्राण हरण करने तो जा रहा हूँ , क्या मैं किसी को प्राण भी दे सकता हूँ? मनीषियो! जब तुम उत्तर प्राप्त करोगे, तो तलवार में वार नहीं दिखेगा, तुम्हें भेदविज्ञान मिलेगा कि मैं एक सिद्ध प्रभु के ऊपर तलवार उठा रहा हूँ। वे भी तो सिद्ध–शक्ति से सम्पन्न हैं। अहो! प्रभु पर वार कैसा? अतः, वध करने के पहिले संवेदना को जन्म जरूर दे देना।

भो ज्ञानी! अक्सर हिंसक विभूतिसम्पन्न देखे जा रहे हैं। यदि वैभव हिंसा–का–फल हो गया तो अहिंसा का फल क्या होगा और नरक की प्राप्ति किसको होगी ? मनीषियो! यह श्रमण– संस्कृति है, यहाँ तलवार का वार तो दूर, तलवार का विचार करना भी तुम्हारे लिए हिंसा है। तलवार मकान में रखना भी हिंसा है, क्योंकि रखी क्यों है? उद्देश्य क्या है? जिस आगम में यह लिखा हो कि प्रभु की भक्ति के परिणाम कर लेना भी शुद्ध–उपयोग की हिंसा है, उस आगम में किसी जीव का वध करने को अहिंसा कैसे कहा जा सकता है? जिनवाणी कह रही है कि तुम किसी से यह भी मत कहो कि आपने लम्बा शब्द बोल दिया, क्योंकि उस शब्द को सुनकर उसके हृदय में ठेस पहुँच गई। अगर तुम्हें समझाना है तो धीरे से कहो। जोर से बोलने में मर्मभेदी शब्दों का उपयोग कर देना तो महाहिंसा है। कभी–कभी आप किसी का वध नहीं करना चाहते, परंतु उसको बिना मारे भी नहीं छोड़ना चाहते हो, तो एक ही उपाय है कि उसके संयम के बारे में, उसके चारित्र के बारे में उससे ऐसे शब्द बोल दो कि वह कभी जीवन में सिर नहीं उठा पायेगा, क्योंकि बोली गोली से ज्यादा कठोर होती है।

हे भावी भगवन्त आत्माओ! महापुराण में लिखा है कि बड़ी मछली छोटी मछली को निगल रही



है, परंतु उस मछली को ज्ञान नहीं है कि मेरे सामने मगरमच्छ है। हे छोटी मछलियो! तुम मत घबराओ, परिणाम खराब करके भाव–हिंसा मत करो। क्योंकि द्रव्य हिंसा करने की ताकत तुम्हारे अन्दर है नहीं। अतः, भाव–हिंसा करके तुम सातवें नरक का बंध मत कर लेना। आप 'तन्दुल मच्छ' मत बन जाना। राघव–मच्छ तो मछली खाकर नरक जा रहा है, तुम खाने की सोच–सोच के नरक जा रहे हो। खजुराहो के म्युजियम में प्रत्येक वेदिका पर एक–एक टेलीविजन सेट है, आप सोचो कि कोई नहीं देख रहा, धीरे से एक प्राचीन सिक्का निकाल लूँ अथवा कोई प्रतिमा जेब के अंदर रख लूँ। भो ज्ञानी! तुम क्या कर रहे हो, बाहर सब दिख रहा है। हो सकता है खजुराहो में लगे टेलीविजन–कैमरे फैल हो जायें, लेकिन केवली के ज्ञान का कैमरा इतना विशाल है कि तुम कमरे के अंदर कमरे में छिपकर कितने ही गुप्त कृत्य कर लेना, वहाँ जैसे ही तुमने स्पर्श किया, उन कर्मों ने बांध लिया। केवली के कैमरे में यह भी झलक रहा है कि तुम क्या सुन रहे हो और क्या करने की सोच रहे हो। मोहनीय–कर्म–राजा के सैनिक चारों ओर फैले हुये हैं, वे तुरन्त तुझको वहीं पकड़ लेंगे।

भो ज्ञानी! जो कर्मों से दबे होते हैं, उनकी कोई जय नहीं बोलता है। तीर्थंकर महावीर स्वामी की आज तक क्यों जय बोल रहे हैं? क्योंकि उन्होंने कर्मो को दबा दिया था। इसलिए कभी किसी को दबाने, सताने का भाव भी मत लाओ, क्योंकि वह कम से कम मुझे समता का पाठ तो सिखा रहा है। अरे! जितना सुन रहे हो, शतांश भी तुमने अनुशरण कर लिया तो आप पंचमकाल से क्या, छठवें–काल से भी बच जाओगे; अन्यथा आगे की भूमिका का भी ध्यान रखना।

सोचो पंचमकाल के बारे में, हम लोग कितने हीन–पुण्यात्मा है। हमारे सामने विद्याधर नहीं आते, वैमानिक देव नहीं आते, इनका अभाव हो गया है। पंचमकाल में जीव का इतना पुण्य नहीं है कि कोई ऋद्धिधारी मुनिराज तक नहीं हैं, कोई अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, केवली भी नहीं हैं, फिर भी हम खुश हैं क्योंकि हमारे पास देव–शास्त्र–गुरु तो मौजूद हैं, श्रद्धा तो मौजूद है। भो ज्ञानी! यह बीज है, पर उसे मिट्टी भी तो चाहिए है। भूमि नहीं है, तो बीज क्या करेंगे ? संयम नहीं है तो श्रद्धा क्या करेगी ? क्योंकि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के अभाव में शिवमगचारी नहीं होगा। इसलिए अहिंसा की दृष्टि, रूढी–दृष्टि बनाकर चलना। अहिंसा को कहने की आवश्कता नहीं, प्रत्येक ह्रदय ही अहिंसामय है। बस इतना ही ध्यान रखो कि आप अपने साथ जैसा चाहते हैं, वैसा आप दूसरों के साथ करो। यदि हमने बीज को ही वृक्ष कह दिया और वृक्ष को ही फल कह दिया तो सब गड़बड़ काम हो जाएगा। शक्ति, शक्ति है; अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति है। शक्ति में अभिव्यक्ति छिपी हुई है, पर अभिव्यक्ति तो शक्ति से पार हो चुकी है। क्योंकि तिल–तिल में तेल होता है। तिल तेल नहीं होता, पर जब भी तेल निकलेगा तो तिल से ही निकलेगा। लेकिन ध्यान रखो, तिल में कभी पूडियाँ नहीं सिकती हैं, तेल में ही सिकती हैं। जब भी मोक्ष होगा तो सम्यक्त्वपूर्वक ही होगा, कोरे सम्यक्त्व से मोक्ष नहीं होगा। भो ज्ञानी! सम्यक्त्व का टिकिट ले लो। टिकट खरीदने के बाद भी अर्द्ध–पुद्गल–परावर्तन काल तक तुम यहाँ रह सकते हो, क्योंकि टिकिट तो खरीद लिया, परंतु तुमने पुरुषार्थ सम्यक् नहीं किया तो टिकिट महत्वहीन हो जाएगा। परंतु यह पक्का हो गया कि अर्द्ध पुद्गल–परावर्तन काल अन्दर निर्वाण की प्राप्ति होगी।

भो ज्ञानी! विभूति देखकर, वैभव देखकर, खुश होकर कभी तुम हिंसा में तल्लीन मत हो जाना।



विश्वास रखना, कोई संशय मत रखना कि सर्वार्थसिद्धि में तैतीस सागर कैसे निकलते हैं? तैंतीस सागर तत्त्व चर्चा करते हुए निकल जाते हैं। श्रुत में बड़ा आनंद होता है ऐसा भगवान कह रहे हैं। संसार में अनन्त अज्ञानीजीव हुये हैं, जिन्होंने हिंसा में धर्म स्वीकार कर लिया। कोई भी देव माँस भोजी नहीं होता है और वे मदिरापान भी नहीं करते। यह तो रसना के लोलुप लोगों ने निरीह प्राणियों के टुकड़े करके स्वयं रक्त पिया, सेवन किया और कहा कि प्रभु प्रसन्न हो गये। अहो जैनियो! ध्यान रखना, चाहे प्रभु की पूजा हो, चाहे पात्र का दान हो, चाहे जिनालय का निर्माण हो, चाहे धर्म का प्रवर्तन हो, कभी हिंसकप्रवृति को बढ़ावा नहीं देना, विवेक से काम करना; क्योंकि जैनदर्शन का प्राण ही अहिंसा है। जहाँ एक पत्ते को तोड़ने में हिंसा कही गई है, वहाँ किसी के प्राणों को तोड़ने को अहिंसा कैसे कहा जा सकता है ? इसलिए, धर्मात्मा तो होना, पर धर्मान्ध मत बनना। यह बड़ी अज्ञानता है कि धर्म के नाम पर कितनी–कितनी खून की नदियाँ बह जाती हैं ? यह धर्म नहीं है, सम्प्रदाय है, धर्म कभी द्वेष नहीं सिखाता। अरे! धर्म तो अहिंसा है या फिर आत्म–धर्म धर्म है। तीसरा कोई धर्म है ही नहीं। जिसमें प्राणी का बलिदान हो, वह कैसा धर्म? जिसमें एक–दूसरे के भाईचारे का भाव नष्ट हो जाए, वह कैसा धर्म? भो ज्ञानी! पिता पुत्र से नहीं मिल रहा है, ऊपर नीचे रह रहे हैं। माता बेटी से बात नहीं कर रही है, यह कैसा आत्मा का धर्म है? इसीलिए ध्यान रखो, आत्मा का धर्म तो अहिंसा है, करुणा है, दया है, प्रेम है, वात्सल्य है। ध्यान रखना, भीड़ तो धर्म के नाम पर जुड़ जाती है। किसी को अपना स्वार्थ सिद्ध करना हो तो धर्म का नाम ले लो और जो कुछ करना हो सो कर लो। नहीं। ये वीतराग–धर्म है, यह वीतराग विज्ञान का धर्म है, इसमें रूढ़ियों को कोई स्थान नहीं है। अतः, प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

'गीता' में स्वयं नारायण कृष्ण ने कहा है कि– हे पार्थ! प्रत्येक प्राणी अपने कर्म का फल स्वयं भोगता है, कोई किसी के सुख या दुःख का दाता नहीं है। तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में स्पष्ट लिखा है–**कर्म प्रधान विश्व कर राखा, जो जस करहिं सो तस फल चाखा।** आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी 'भावनाद्वात्रिंशक्तिका' में लिखते हैं:–

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।३०।।

अहो ज्ञानियो! स्वयं के किये कर्म स्वयं भोगोगे, दूसरों का किया दूसरा भोगता है। इसलिए ध्यान रखना, जीवों का वध करके यह कहना कि यह शिवालय चले जायेंगे, यह बहुत बड़ी अल्पज्ञता होगी। इसलिए कभी भी धर्म के नाम पर किसी जीव का वध नहीं करना। इस प्रकार अविवेक से ग्रसित जिसकी बुद्धि है–ऐसी दुर्बुद्धि को प्राप्त करके भी किसी जीव की हिंसा नहीं करना।



पूजन के निमित्त भी हिंसा अकरणीय है

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्य नातिथये सत्वसंज्ञपनम्।। ८१।।

अन्वयार्थ : पूज्यनिमित्तं = पूजने योग्य पुरुषों के लिए। छागादिनां = बकरा आदिक जीवों के। घाते = घात करने में। कः अपि दोषः नास्ति = कोई भी दोष नहीं है। इति संप्रधार्य ऐसा विचारकर। अतिथये = अतिथि व शिष्ट पुरुषों के लिए। सत्वसंज्ञपनम् =जीवों का घात। न कार्य =करना योग्य नहीं है।

बहुसत्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्य न महासत्वस्य हिंसनं जातु।।८२।।

अन्वयार्थ : बहुसत्वघातजनितात् = बहुत प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए। अशनात् =भोजन से एकसत्वघातोत्थम् =एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन। वरम् = अच्छा है।– इति अकलय्य = ऐसा विचार करके। जातु = कदाचित् भी। महासत्वस्य = बड़े जीवका। हिंसनं न कार्य= घात नहीं करना चाहिए।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! आचार्य भगवान् अमृतचंद स्वामी ने बहुत ही अनुपम सूत्र दिया है कि इस जीव ने अनेक बार देशना को सुना, लेकिन देशना को प्राप्त नहीं कर सका। मनीषियो! विनयपूर्वक जिसने जिनवाणी का श्रवण किया और निश्चल/निष्कम्प होकर जिसने श्रुत की आराधना की, उस जीव को वर्तमान का श्रुत भविष्य में देशनालब्धि का कारण होता है। कदाचित् अशुभ कर्म के योग से जीव को दुर्गति का भाजक भी बनना पड़े, फिर भी देशना नहीं छोड़ना। क्योंकि देशना से आपके दुर्गति में भी शुभ के संस्कार जाग्रत हो जाएँगे, वहाँ सम्यक्त्व प्राप्ति हो जाएगी। यह जिनवाणी नरक में भी देशनालब्धि का काम करेगी। यदि आपने जिनवाणी का अविनय कर लिया, श्रुत को निर्मल दृष्टि से नहीं समझा, तो आपको अशुभ गति का बंध हो जायेगा। ध्यान रखना, जब आप भगवान् की पूजा ऐसे भक्तिभाव से करते हैं कि अन्य भी आपकी आवाज को सुनकर ऐसा सोचने लगें कि थोड़ा सुन लूँ , पूरा ही सुन लूँ। अरे! ऐसा कभी नहीं बोलना कि बगल में पूजा करनेवाला सोचे कि यहाँ से जल्दी चला जाऊँ। इस प्रकार तुम्हारी परिणति दूसरे के लिए सम्यक्त्व का हेतु भी होती है और दूसरे के लिए मिथ्यात्व का भी हेतु हो जाती है।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, मेरी चित्तवृत्ति ऐसी हो जो चैतन्य के चमत्कार को प्रकट करा दे। मेरी वृत्ति ऐसी न हो कि मेरे कारण कोई दूसरा सम्यक्क्षेत्र को छोड़कर असम्यक् क्षेत्र में चला जाये। अतः प्रभु से आप प्रार्थना करना, हे नाथ! अरिहंतदेव की वन्दना करने के भाव मेरे बने रहें; क्योंकि भोगों



में जीव इतना अंधा हो जाता है कि भगवान् को भूल जाता है, वह सुकृत्य तथा यश के जीवन में सँभल नहीं पाता। हे नाथ! यदि कहीं मुझे तिर्यंच--आयु का बंध हो गया हो, तो अब मैं तिर्यंच बनकर ऐसे क्षेत्र में जन्म लूँ जहाँ पंचपरमेष्ठी भगवान् के, जिनेन्द्र की वाणी के शब्द मेरे कानों में पड़ते रहें। मनीषियो! एक वृत्ति छिद्रान्वेषी होती है और एक वृत्ति गुणान्वेषी होती है। जिसकी प्रवृत्ति गुणों के खोज की होती है, उसे सर्वत्र गुण ही गुण नजर आते हैं और जिसकी वृत्ति छिद्रान्वेषी होती है, उसे छिद्र--ही--छिद्र मालूम होते हैं।

भो ज्ञानी! एक बार चार व्यक्ति बनारस से अध्ययन करके आये। उनके गुरुजी ने उन्हें बड़ी--बड़ी नीतियों का ज्ञान कराया था। लेकिन नीतियाँ भी उसे ही काम आती है, जो नीतिवान् होता है। यदि अंतरंग तुम्हारा नीति--कुशल है, तो ग्रंथ की नीति काम कर सकती है और स्वयं प्रज्ञा ही नहीं है तो लोगों ने नीतिग्रंथ तो पढ़े, विद्वान् बन गये; लेकिन बुद्धिमान नहीं बन पाये। अहो! शास्त्रों से विद्वान् तो बना जा सकता है, पर शास्त्रों से बुद्धिमान नहीं बना जा सकता है। बुद्धि क्षयोपशम से होती है और प्रज्ञा स्वयं के प्रबल पुण्य से सहज प्राप्त होती है। विद्या कहीं भी सीखी जा सकती है, क्योंकि वह कला होती है और बुद्धि कुशलता होती है। यदि कुशलता नहीं है, तो एक--जैसे दो छात्रों ने वकालत पढ़ी, उनमें एक जज बन गया और दूसरा जहाँ था वहीं रह गया। यद्यपि ग्रंथ तो दोनों के समान थे, पर प्रज्ञा समान नहीं थी। पंडित शिखरचंद्र जी का नाम आपने सुना होगा, भिन्ड के बहुत प्रसिद्ध प्रतिष्ठाचार्य थे। कहीं पढ़ने नहीं गये, घर में ही वह पढ़े; 'रत्नकरण्ड--श्रावकाचार' और 'तत्त्वार्थ--सूत्र' का अध्ययन किया। जब प्रज्ञा जाग्रत हुई तो देश के ख्यातिप्राप्त प्रतिष्ठाचार्य बने। आर्यिका सुपार्श्वमति माताजी बाल विधवा हैं, चौथी क्लास तक पढ़ी हैं; पर 'राजवार्तिक' जैसे ग्रंथों की टीका की है। अतः प्रज्ञा/कुशलता अलग है, विद्या अलग है, क्योंकि कुशलता सहज प्रकट होती है।

भो ज्ञानियो! गुरु ने शिष्यों को समझाया कि-- (१) जहाँ महाजन चलें, वहाँ चलना। (२) जिसमें छिद्र हो, उसे छोड़ देना। (३) डूबते हुए को सहारा दे देना। (४) यदि कोई तुम्हें कुछ दे, तो लेकर बाँट लेना। शिष्यों ने सभी बातें नोट कर लीं। जैसे ही वह मार्ग में चले कि वहाँ कुछ महाजन लोग श्मशान घाट जा रहे थे तो वे भी उसी ओर चल दिये; क्योंकि विद्या थी, परन्तु बुद्धि नहीं थी। रास्ते में भूख सता रही थी, लोगों नें उन्हें मालपूये खाने को दे दिये। उन्होंने सोचा, डायरी देख लो कि क्या लिखा है? लिखा था, जिसमें छिद्र हों उसे छोड़ देना, सो मालपूये छिद्रों का पिन्ड ही होता है। उन्होंने उनको छोड़ दिया और भूखे ही रह गये। चलते--चलते नदी मिली, पर पार करने हेतु नौका नहीं थी। अतः नदी में जैसे ही उतरे कि एक मित्र डूबने लगा। उन्होंने कहा--डायरी खोलो, क्या करना है? भो ज्ञानी! हर क्षेत्र में डायरी नहीं खोली जाती, विवेक भी खोला जाता है। उसमें लिखा था--डूबते हुए को सहारा दे देना। भैया! डूबते हुए को ऐसा सहारा दिया कि बेचारा सर्वांग डूब गया। गये थे चार, बचे तीन। अब उनके पास एक सूत्र बचा कि कोई दे तो बाँट लेना। लेकिन ठीक से नहीं समझ पाये कि बाँटें कैसे? क्योंकि 'बाँटे' के बहुत अर्थ होते हैं। एक बाँट लेना याने विभाग कर लेना, दूसरा बांटना याने पीस देना। उनके पास बुद्धि तो थी नहीं, आगे चलकर रोटी खाने को दी, उन्होंने डायरी खोली और उन्होंने कहा, भैया! पहले बांटो। अहो! बुद्धि के अभाव में विद्या कभी सफल नहीं होती है। विद्याहीन--बुद्धिमान सफल हो सकता है, किन्तु बुद्धिहीन--विद्वान् कभी भी सफल नहीं होते। आपके



पास विद्या है, पर आपको मालूम नहीं है कि हमें किस समय, क्या करना है? किसी के घर में शोक था और आप जाकर श्लोक सुनाने लगे।

भो ज्ञानी! प्रज्ञा कहती है कि कुशलता को हासिल करो। मोक्षमार्ग तो पूरा कुशलता का ही मार्ग है, अकुशलता का उसमें स्थान है ही नहीं। अप्रमत्त–अवस्था प्रमादरहित वृत्ति है।जहाँ प्रमाद है, वहाँ कुशलता नहीं है। इसलिए आगम में कहा है 'कुशलेषु अनादरा प्रमाद': कुशल–क्रिया में अनादर–भाव का होना, प्रमाद कहलाता है। अतः पूजा भी करना तो कुशलता से, ताकि अकुशल भी कुशल हो जाए। किसी को धर्म के प्रति अनास्था न हो, वही कुशलता है। हमारी किसी भी वृत्ति से एक व्यक्ति के भाव धर्म से विमुख हो रहे हैं, पंचपरमेष्ठी से हट रहे हैं, तो आपने बहुत बड़ा अनर्थ कर डाला। आचार्य भगवान् कुंदकुंद स्वामी यही तो कह रहे हैं। कानों का सुना भूल जाओगे, पर जो दृष्टिपटल पर आया है वो अंदर अमिट हो गया है। इसलिए जिनशासन में सवा महिने के बालक को सबसे पहले अरहंतदेव की प्रतिमा के दर्शन कराये जाते हैं कि, बेटा! तुम सुनकर तो समझ नहीं पाओगे, लेकिन तुम देख लो कि वीतरागी भगवान् ऐसे होते हैं। अहो! तुम्हारी शुभ–वृत्ति देख दूसरे की दृष्टि सम्यक् हो जाये अथवा अशुभवृत्ति देखकर दूसरे की दृष्टि विपरीत हो जाये। मिथ्यादृष्टिजीव जिनबिम्ब को देखकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर रहा है। वह बिम्ब दो प्रकार का है–चैतन्य जिनबिम्ब और अचेतन जिनबिम्ब है, अचेतन–जिनबिम्ब–अरहंतप्रतिमा और चैतन्य जिनबिम्ब है। आचार्य, उपाध्याय, साधु। समवसरण में विराजमान अरहंतदेव को देखकर ही तो कितने तिर्यंचों ने सम्यक्त्व को प्राप्त किया है।

भो ज्ञानी! संगीत से प्रभावित करके किसी को बुला लेना, डमरू बजाकर बुला लेना, यह तो मदारी भी कर सकते हैं। बाहर की भीड़ तो मदारी भी जुटा सकते हैं, संगीत आदि किसी के माध्यम से किसी को रिझा लेना अथवा कर्ण इन्द्रिय का विषय बनाकर किसी को भी बिठाया जा सकता है। लेकिन जिनवाणी को अन्तःकरण का विषय बनाकर जो बैठा दे, उसका नाम संत होता है। संत के हृदय में तो मृग में भी भगवान् दिखते है और असंत के हृदय में तो भगवान् में भी भगवान् नहीं दिखते। अहो! जो निर्मलता से श्रुत को सुने, उसी का नाम श्रावक है। श्रुत–वंदना, श्रुत– आराधना के प्रभाव से वह मृग का जीव बालि मुनिराज हुआ। मनीषियो! ध्यान रखना–कभी भी, कहीं भी बैठे हो, तो यह कभी नहीं सोचना कि यहाँ तो पशु खड़ा है। अहो! उसने कुछ किया था, तो बेचारा आज पशु बना है। तुम भगवानों और इंसानों के साथ छल करोगे तो फिर कहाँ जाओगे? पशु भी नहीं बन पाओगे, निगोदिया ही बनोगे। जिनवाणी कहती है कि तुम्हारे घर में तुम्हारे कारण पशु बंधा है। एक तो तुम उसे बांधे हो और समय पर उसे भोजन पानी भी नहीं देते हो, तो ध्यान रखो, आपको नियम से वहीं अशुभ–कर्म का आस्रव होगा, क्योंकि जिनवाणी पर्याय को नहीं देख रही है, जिनवाणी पर्यायी को देख रही है। आपकी आत्मा और एक पशु की आत्मा (इन दोनों आत्माओं) में मात्र पर्याय का अंतर है, पर्यायी का कोई अंतर नहीं है।

भो ज्ञानी! करोड़ों संकट झेल लेना, करोड़ों विपत्ति को सह लेना और एक बार तुझे कोई अज्ञानी भी कह दे तो उस घूँट को भी पी लेना, लेकिन अपनी वृत्ति से जिनशासन के प्रति किसी को अनास्थावान् मत बना देना। ध्यान रखना, धर्म के क्षेत्र में आकर यदि आपने धर्म को हिंसारूप कह डाला, वह सबसे बड़ी मायाचारी है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने स्पष्ट कहा है कि धर्म के नाम पर हिंसा, हिंसा ही



है। हिंसा कभी धर्म नहीं हो सकती, कषाय कभी धर्म नहीं होगी। धर्म में कषाय आ जाये तो वह कषायरूप ही परिणित होगी, धर्मरूप परिणित नहीं होगी। ध्यान रखना–दूध में पानी मिला दो, लेकिन वह रहेगा पानी ही। आपने पुण्य के योग में धर्म में भी कषाय की है, मायाचारी की है, तो तुम्हारा पुण्य भी उतना पतला हो जायेगा, जितना पानी डालने से गाढ़ा दूध पतला हो जाता है। ऐसे ही शुद्ध–पुण्य का संचय आपने किया, पर मायाचारी करने के परिणाम स्वरूप तिर्यंचों में जन्म लेना पड़ेगा। नारी–पर्याय में पुण्य कर देव–आयु का बंध कर लिया, फिर मायाचारी की,, तो देवी बनना पड़ेगा। इसलिए विवेक के साथ जीना। एक ग्वाले ने प्रभु के चरणों में समर्पित करने हेतु तालाब से पुष्प निकाला, तो कीचड़ में उसके हाथ–पैर बिगड़ चुके थे। पर भक्ति के आवेश में उसी कीचड़ के साथ वह मंदिर में पहुँच गया। भगवान् की भक्ति की थी, सो उसको इतना पुण्य का आस्रव हुआ कि अगली पर्याय में सम्राट (करकण्डूक) बना, मगर कीचड़ भरे पैर–हाथ सहित भगवान् के जिनालय में प्रवेश किया था, सो हाथ--पैरों में खाज हो गई। ध्यान रखना, मंदिर में बिना पैर धोए प्रवेश मत कर जाना। भक्ति तो है, पर भावों को भी तौलो, द्रव्य भी देखो, क्योंकि आस्रव भावों से ही नहीं, मन वचन काय के योग से होता है। कुछ लोगों की सोच है कि भाव तो शुद्ध है, पर भाव के साथ–साथ द्रव्य की शुद्धि भी अनिवार्य है। अहो! सूतक पातक लगा हो अथवा मुर्दा को जलाकर आये, यहाँ भगवान् का अभिषेक करने लगे। बोले–हमारे भाव शुद्ध हैं। अहो! ऐसा अनर्थ मत कर देना, द्रव्य की शुद्धि भी रखना, साथ में भाव–शुद्धि भी रखना परम आवश्यक है। आचार्य भगवान् कह रहे हैं–पूज्य के निमित्त से यदि आपने छल–कपट की, मायाचारी की, हिंसा की है, तो कर्म का बंध होगा, निर्बंधता नहीं मिलेगी। घर में मेहमान आये, सत्कार करने बाजार से मीठा खरीद लाये, गोली–बिस्कुट खरीद लाये, लेकिन यह नहीं पूछा कि इनमें है क्या? अतिथि–सत्कार तो करना, पर रात्रि में भोजन नहीं कराना। उनसे कहना कि मैंने गुरुचरणों में नियम लिया है। हम आपका कल अच्छा सत्कार करेंगे, लेकिन रात्रि में हम नहीं खिला पाऐंगे। संबंध कल टूटता था, तो अभी टूट जाये, लेकिन यदि नियम तोड़ा, मायाचारी की, तो तुम्हारा व्रत भंग हो गया। ध्यान रखो व विवेक लगाओ, अनंत पर्याय बीत गई संसार के दुःखों को भोगते–भोगते, अब मायाचारी न करो।





हिंसक जीवों का घात भी हिंसा है

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्।।८३।।

अन्वयार्थ :– अस्य ="इस। एकस्य एव = एक ही। जीवहरणेन = जीव घात करने से। बहूनाम् = बहुत से जीवों की। रक्षा भवति = रक्षा होती है"। इति मत्वा =ऐसा मानकर। हिंस्रसत्त्वानाम् = हिंसक जीवों का भी। हिंसनं = हिंसा। न कर्त्तव्यं = नहीं करना चाहिये।

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः।। ८४।।

अन्वयार्थ :–बहुसत्त्वघातिनः = बहुत जीवों का घाती। अमी = ये जीव। जीवन्तः = जीते रहेंगे तो। गुरुपापम् = अधिक पाप। उपार्जयन्ति = उपार्जन करेंगे। इति = इस प्रकार की। अनुकम्पां कृत्वा = दया करके। हिंस्राः शरीरिणः = हिंसक जीवों को। न हिंसनीयाः = नहीं मारना चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की पावनदेशना को आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने हम सभी को प्रदान करते हुए बहुत ही सहज सूत्र दिया है कि जब अंतरंग में विशुद्धता का उद्‌गम होता है, तब अंदर की अग्नि शमन को प्राप्त हो जाती हैं और बाहर की अग्नि कुछ भी नहीं कर पाती। जिसके अंतरंग में भेदविज्ञान की निर्मल सरिता बह रही हो, उसका बाहर के ओले–शोले कुछ भी नहीं कर पाते और जिसका अंतरंग वासनाओं से दहक रहा हो उसके लिए बाहर से चंदन के छींटे कुछ भी नहीं कर पाते। कितनी ही चंद्रमा की चांदनी हो, सुगंधित समीर बह रही हो, किन्तु कलुषिता की परिणति आपके अंदर लहरें ले रही हो तो शीतल समीर भी तुम्हें शांति प्रदान नहीं करेगी। अतः,आवश्यकता है अंतरंग की अग्नि को बुझाने की।

भो मनीषियो! आज भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी का निर्वाणदिवस है। कौन कहता है कि भगवान् पारसनाथ स्वामी ने कमठ का उपसर्ग सहा है। भो ज्ञानी ! जिस पर उपसर्ग किया था, वह पारसनाथ नहीं, मुनिराज थे। क्योंकि मुनि पारसनाथ पर उपसर्ग हो सकते हैं, पर प्रभु पारसनाथ पर उपसर्ग नहीं हो सकते। केवली पर उपसर्ग नहीं होते, छदमस्थ–अवस्था में ही उपसर्ग होते हैं। तत्त्व की गहराइयाँ एवं तत्त्व की दृष्टि देखो, यही तो समयसार है। अहो! पूरे दस भव जिसे सताया हो, उस अंतर–आत्मा में कितनी शक्ति होगी? जिस आत्म–तत्त्व ने किंचित भी आह नहीं भरी अरे! चीखता–चिल्लाता वह है, जिसे चैतन्य की सत्ता का भान नहीं होता। जिसे अपने प्रभु का ज्ञान हो जाता है, वह परद्रव्यों को पर ही देखकर कभी खीझता नहीं है। ज्ञानी सदैव यही सोचता है कि इन पर–द्रव्यों की मेरे में



कुछ करने की ताकत ही नहीं है। यदि मेरी अपयशःकीर्ति–प्रकृति काम नहीं कर रही होती, तो दूसरे के मुख में अशुभ कहने की शक्ति ही नहीं थी। यदि मेरी यशः–कीर्ति उदय में न होती तो दूसरे का मुख मेरी प्रशंसा में खुल ही नहीं सकता था। अतः, ज्ञानी पर–को कर्त्ता नहीं बनाता तथा पर–का कर्त्ता भी नहीं बनता। वह तो स्वयं का कर्त्ता, स्वयं ही होता है और स्वयं के फल का भोक्ता भी स्वयं होता है।

भो ज्ञानी! एक माँ के दो सुत थे। ज्येष्ठ कमठ और लघु मरुभूति। राजा अरविंद एक दिन मंत्री से सलाह कर मरुभूति के साथ विदेश यात्रा को जाते हैं। बड़ा पुत्र कमठ था, परंतु उसमें ज्येष्ठत्व नहीं था, क्योंकि ज्येष्ठ से ज्येष्ठत्व नहीं आता, श्रेष्ठता से ज्येष्ठत्व आता है। जिनवाणी कहती है–ज्येष्ठ बनने की होड़ मत लगाओ, श्रेष्ठ बनने की होड़ लगाओ। जिसके अंदर श्रेष्ठता होती है उसे आप छुपा नहीं सकते; क्योंकि कौए और कोयल की पहचान वर्ण से नहीं, वाणी से होती है। इसी तरह सज्जन व दुर्जन की पहचान रंग–रोगन से नहीं, उसकी परिणति से होती है। अज्ञानी कमठ अपने लघु भ्राता की पत्नी को देख, कुदृष्टिपात कर अपने मित्र से कहता है कि जब तक मेरे भाई की पत्नी अरुंधती मुझे प्राप्त नहीं होगी, तब तक मेरा जीवन व्यर्थ है। मित्र समझाता है कि लघु भ्राता पुत्र के तुल्य होता है, उसकी पत्नी तुम्हारी बेटी के तुल्य अथवा पुत्र–वधु के समान है, ऐसा मत करो। महान नीतिकार आचार्य वादीभसिंह सूरि "क्षत्रचूड़ामणि" ग्रंथ में लिख रहे हैं–

विषयासक्तचित्तानां, गुणाः को वा न नश्यति।
न मानुष्यं वैदुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्।।10।।

जिसका चित्त विषयों में आसक्त है, वह जीव मनुष्यता का ध्यान नहीं रखता। जो काम के बाण से बिंधित हुआ है, भगवती माँ जिनवाणी कहती है कि वह तिर्यंच है, उसके वचनों में भी सत्यता नहीं है, उसका देवत्वपना भी नष्ट हो जाता है, पुण्य भी नहीं दिखता, वह पिता को भी दुश्मन देखता है।

भो ज्ञानी! व्यसनी, कामी, भोगी राजा के तुम मित्र बनकर मत जीना। भीख माँगकर चाण्डाल के पत्तल का भोजन कर लेना, पर चाण्डाल हृदयी के हाथ का नीर मत पी लेना। उस कामी ने उसके शील को भंग कर दिया। जब भाई मरुभूति वापस आया, तो कमठ कहने लगा–भाई के नाते आप मुझे क्षमा कर दो। यह जानकर सम्राट अरविंद कहता है कि नीति कहती है कि यदि सम्राट की भुजा भी गलत काम करती है तो उस भुजा को निकाल देना चाहिये। जो व्यक्ति सर्प के द्वारा डसे जाने पर, एक अंगुली के अभावजन्य दुःख से दुःखित हो, अंगुली को नहीं काटता है, वह अपने पूरे जीवन को नष्ट कर लेता है। यदि आज मैंने कमठ को दंड नहीं दिया, तो कल इसके उपद्रव और बढ़ जाएँगे। अतः उसको खर (गधा) पर विराजमान कर, काला मुख करके बाहर निकाल दिया। अहो!संसार में अपमान से बड़ा कोई दंड नहीं है, क्योंकि जब तक श्वाँस रहती हैं, तब तक अपमान चलता है। उधर कमठ पर्वत की चोटी पर पाषाण की शिला को ले कर खड़ा है और साधु का रूप बनाकर तपस्या करने लगा।

भो मनीषियो! मरुभूति ने महाराजा अरविंद से कहा–स्वामी! मैं अपने भाई के दर्शन करने जाना चाहता हूँ। राजा बोले–किसके दर्शन? जिस दुष्ट ने तेरी पत्नी के शील को भंग किया है उस व्यभिचारी



के दर्शन? मरुभूति बोले–स्वामी! अब वह साधु है। मरुभूति नहीं माना और जैसे ही राग–वश वह जाकर सिर झुकाता है, उसे देखकर कमठ सोचता है–अहो! इसी के कारण मुझे यह भेष बनाना पड़ा। अतः जो चट्टान हाथ में तपस्या के लिए थी, वही भाई के ऊपर पटक दी। जिससे मरुभूति मरकर हाथी की पर्याय को प्राप्त हुआ। अहो! उसे करुणा नहीं आयी, बनने वाले भगवान् के ऊपर शिला पटक दी। भो ज्ञानी! इस पर्याय में कमठ का जीव ऐसा पाप कर बैठा कि कुर्कुट जाति का सर्प बना। उधर पारसनाथ बनानेवाला हाथी जंगल में विचरण कर रहा था। महाराजा अरविंद निर्ग्रंथ योगी होकर जंगल में ही विराज गये। मनीषियो! रात्रि में मुनि मौन रखते हैं। आचार्य शुभचंद स्वामी ''ज्ञानार्णव'' ग्रंथ में लिखते हैं–

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे, सुसिद्धांतार्थविप्लवे।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं, तत्वस्वरूप प्रकाशने।।१५।।

हे निर्ग्रंथ! आपको मौन रखना चाहिए, लेकिन जहाँ पर धर्म का ध्वंस हो रहा हो, क्रियाओं का विप्लव हो रहा हो, धर्म के नाम से हिंसा का तांडव चल रहा हो और मनमाने सिद्धांत की बातें चल रही हों, वहाँ पर तुमसे कोई न भी पूछे, फिर भी तुमको बोलना चाहिए।

मनीषियो! वह हाथी अनेक जीवों को कुचल रहा था। मुनिश्री ने कहा–हे भावी भगवंत! राग की महिमा में तथा भाई के मोह में तुमने वीतरागता को नहीं समझा। आपको भी मैंने समझाया था, पर तुम नहीं माने और उस दुष्ट कमठ के पास पहुँचकर आर्त्त–ध्यान से प्राणों का विसर्जन किया, सो आज तुम हाथी बने हो। यह सुनकर हाथी के नैनों से पश्चाताप का नीर बहने लगा और सूँड उठाकर मस्तक चरणों में टेककर विनती करने लगा–हे धरती के देवता! आप अब मेरी पर्याय का सुधार करो। मुनिराज बोले–हे जीव! अब तो तूने पर्याय को प्राप्त कर ही लिया है, लेकिन तिर्यंच पर्याय में भी पंचमगुणस्थान होता है। अतः तुम देशव्रत का पालन करो। हाथी ने प्रतिमा लेकर बारह व्रत अंगीकार कर लिए। वह सूखे पत्ते खाता था, सो सचित्त–त्याग हो गया। जमीन को फूंक–फूंक कर चलता था; करवट लेता था तो देख लेता था, जब पानी पीने जाता था तो देख लेता था कि दूसरे जानवर पानी में प्रवेश कर चुके कि नहीं अथवा सूर्य की किरणें पड़ चुकी हैं। 'मूलाचार' जी में कहा है–जहाँ सूर्य की किरणें पड़ रही हों, ऐसे नदी–तालाब का पानी ले सकते हैं, परंतु सहजता में नहीं, अशक्य–अवस्था में। क्योंकि यह राजमार्ग नहीं है, अपवाद मार्ग है। अष्टमी–चतुर्दशी का प्रोषध कभी कर लेता था। एक बार जैसे–ही वह गजराज पाड़ना के लिए पानी पीने गया, पर दुष्ट ने दुष्टता नहीं छोड़ी, कुर्कुट जाति का वह सर्प सिर पर बैठ गया और डस लिया। सल्लेखनासहित समाधिमरण कर श्रावक गजराज बारहवें स्वर्ग में देव हुआ और सर्प–नरक पर्याय को प्राप्त हुआ।

भो ज्ञानी! अब देखना संसार की दशा। अब वह देव स्वर्ग से च्युत होकर चक्रवर्तीपद की विभूति प्राप्त कर वज्रदंत चक्रवर्ती बना और वह कमठ का जीव भी नरक से उठकर तिर्यंच योनि में सिंह बना। उन वज्रदंत चक्रवर्ती ने छः मास के पोते को राजतिलक कर बेटों के साथ जैनश्वरी दीक्षा धारण कर ली। मुमुक्षु आत्माओ! जो सारी विभूति को सड़े तिनके के समान त्यागकर चला गया, उसे सिंह ने आकर पुनः खा लिया, अतः वे पुनः स्वर्ग में देव हुए और वह सिंह पुनः नरक में चला गया। वहाँ



से च्युत होकर अंत में वह गजराज मुनि महाराज ने आनंद की पर्याय में तीर्थंकर–प्रकृति का बंध किया और कमठ का जीव अजगर हुआ। जब आनंद मुनिराज साधना में लीन थे, तब अजगर ने उन्हें सीधा आकरके उठाकर मुख में रख लिया। अहो ज्ञानियो! देखो उन्हें सांप निगल रहा है और वे कषायों को निगल रहे हैं। यही तो था तत्त्वसार, यही था समयसार, यही था प्रवचनसार। ध्यान रखना, उस समय वे योगी सोच रहे थे कि जिसे निगल रहा है वह देह है, देही (मैं) नहीं है। मैं तो एक शास्वत हूँ। मुझे कौन निगल सकता है, कौन मार सकता है? मैं तो चिन्मय चैतन्य ही रहूँगा। देखते ही देखते मुनिश्री को अजगर ने निगल लिया। अतः वे स्वर्ग को प्राप्त हुए तथा कमठ का जीव पुनः मरकर नरक की वंदना करने चला गया।

भो ज्ञानी! परपंरा से वे बनारस के राजा अश्वसेन और महारानी वामा के यहाँ तीर्थंकर बालक के रूप में उत्पन्न हुए। संसार की विचित्रता तो देखो, प्रभु पारसनाथ के नाना थे, उनकी माँ के पिता कमठ का जीव। नाना के घर में बधाइयाँ चल रही हैं कि मेरी बेटी के तीर्थंकर बालक उत्पन्न हुआ है। फिर देखना संसार की विडंबना, जब बालक पारसनाथ सैर करने जा रहे थे, तो वही नाना का जीव पंचाग्नि तप कर रहा था, जिसकी लकड़ियों में नाग–नागिनी झुलस रहे थे। पारसनाथ ने कहा–आप इन जीवों को क्यों जला रहे हो? तू बालक मुझे समझाता है। हे तपस्वी! यदि आप मेरी बात नहीं मानते तो इस लकड़ी के विभाग करके देख लो। क्योंकि तपस्वी चर्म चक्षु से देख रहा था और प्रभु तो अवधि के चक्षु से देख रहे थे। अतः, जैसे ही लक्कड़ का विभाग किया, अर्धजले नाग–नागिनी निकल पड़े। तब प्रभु ने महामंत्र "णमोकार" सुनाया। वे नाग–नागिनी मरकर धरणेन्द्र–पद्मावती हुए। भो ज्ञानियो! ध्यान रखना, कोई भी जीव परेशान हो, मर रहा हो तो कम से–कम पंचपरमेष्ठी–वाचक महामंत्र तो सुना ही देना। यह मत सोचना कि इसकी कौन सी पर्याय है? ग्लानि नहीं करना, पर्याय को नहीं देखना, बल्कि ज्ञानी! पर्याय में बैठे प्रभु को देखना, क्योंकि पर्याय को देखते रहोगे, तो कभी भी तुम परमात्मा को नहीं देख पाओगे।

भो ज्ञानी! पारसनाथ वन की ओर चल दिये तथा वह तपस्वी आर्त्तध्यान से मरकर ज्योतिष्क जाति का देव होता है। वे प्रभु पारसनाथ अहिक्षेत्र में ध्यान कर रहे थे। जैसे ही उन्हे कमठ के जीव ने देखा तो शत्रुता की अग्नि भड़क पड़ी, उसने खूंखार रूप बनाकर गंभीर गर्जना करते हुए मेघ आच्छादित कर दिये, मूसलाधार वर्षा की, ओले भी गिराये। उस समय प्रभु पारसनाथ लख रहे हैं कि संसार का परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, यह तन भी मेरा नहीं है। चैतन्य ध्यान में लीन प्रभु पारसनाथ ने पूर्व में जिनको "णमोकार" सुनाया था, उसका आसन हिलने लगा। अहो! तीर्थेश्वर पर उपसर्ग आया है, तुरन्त पहुंच गये। हे श्रावक, श्राविकाओ! धर्मात्माओ के उपसर्ग को दूर करने के लिए सभी को धरणेन्द्र–पद्मावती बनने की आवश्यकता है, क्योंकि जब–जब तीर्थों अथवा मुनियों पर उपसर्ग आये हैं ये श्रावक शांत बैठ गये, मुनियों ने ही उपसर्ग दूर किये हैं। देखो! जब रावण कैलाश को हिला रहा था, तब एक भी श्रावक नहीं पहुँचा, मुनिराज को ही अपना अँगूठा दबाना पड़ा। आज तुम सब शांत बैठे हो। देखो, प्रथम तीर्थंकर की निर्वाण–भूमि दिख नहीं रही है? कहीं ऐसा न हो कि बीस–तीर्थंकरों की निर्वाणभूमि भी तुम्हारे हाथ से चली जाये? क्योंकि बाईसवें तीर्थंकर की निर्वाणभूमि में तुम नहीं जा पा रहे हो, सब शांत बैठे हो।



भो ज्ञानी! जब अकम्पनाचार्य पर उपसर्ग आया तो विष्णुकुमार मुनिराज को दीक्षा छोड़नी पड़ी, लेकिन श्रावकों ने कुछ नहीं सोचा। आज आवश्यकता है आपको भगवान् पारसनाथ और उन तीर्थ–भूमियाँ के उपसर्ग दूर करने को, परन्तु आप सब शांत बैठे हो। वे विष्णुकुमार तो अकम्पनाचार्य के संघ के नहीं थे, यदि वे भी सोच लेते कि कौन हमारे संघ के साधु हैं? लेकिन यहाँ संघ नहीं, दिगम्बर धर्म था। जहाँ श्रमण दिखते है, वहाँ धर्म होता है; जहाँ संघ दिखते है, वहाँ धर्म होता ही नहीं है। भो ज्ञानी! आपको तीर्थ दिखेंगे तो धर्म दिखेगा, अन्यथा आपको भेद की दीवार ही खड़ी दिखेगी। कमठ का उपसर्ग दूर हुआ और प्रभु को कैवल्य–ज्योति प्रगट हो गई। देखो संसार की दशा, जिसे तुम शत्रु कहते हो, उपसर्ग करनेवाला कहते हो, उस कमठ को सम्यक्दर्शन प्राप्त हो गया। अहो! उपसर्ग करनेवाले ने केवली बना दिया और स्वयं को सम्यक्दृष्टि बना लिया। ध्यान रखना, जिन–जिन ने उपसर्ग किये वे सब सम्यक्दृष्टि बन गये। वे प्रभु साधना करते हुए, विहार करते हुए सम्मेदाचल पर पहुँचे और योगों का निरोध कर श्रावण शुक्ला सप्तमी को चरमोत्कर्ष फल निर्वाणश्री को प्राप्त किया।

भो ज्ञानी! वे पारसनाथ हमें शिक्षा देकर चले गये कि, हे साधको! तुम हमारी निर्वाण–पर्याय को मत देखो, कैवल्य–पर्याय को मत देखो, तुम हमारी उस पर्याय को देखो, जिसदिन उपसर्ग चल रहा था। तुम्हें उससे सम्बल मिलेगा। यह मोक्षमार्ग है, ये घबराने का मार्ग नहीं है। भो चेतन! चिंतवन कर लेना, पर धैर्य को मत छोड़ देना। पारसनाथ के निर्वाण–दिवस महोत्सव पर इतना सीख जाना कि, हे पारसनाथ! वह शक्ति मेरी आत्मा में प्रकट हो, जिस शक्ति से आपने कमठ–जैसे शत्रु के उपसर्ग को सहन कर निर्वाणश्री का वरण किया है। हे जिनदेव! आपके गुणों की संपत्ति मुझे भी प्राप्त हो जाए। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि ऐसी निर्वाणश्री की प्राप्ति तभी होगी, जब अहिंसा–सखी तुम्हारे साथ होगी।

भो चेतन! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने कितना गहरा चिंतन किया है? संसार में कितने प्रकार के विचित्र लोग होते हैं कि नागपंचमी में सर्प को पूजने जाएँगे और घर में निकल आये तो लाठी लेकर पहुँच जाते हैं। देश में खोज करना कि वर्ष में सर्प के काटे कितने मरे हैं और इन मनुष्यों ने कितने सर्पों को मारा है? विचार करो, एक जीव को मारकर क्या बहुतों की रक्षा की जाएगी? सर्वज्ञ शासन में यह जिनोपदेश है कि लोक में सर्वत्र अपनी रक्षा बात की जाती है, परंतु वीतराग वाणी कहती है कि "जिओ और जीने दो", अपनी रक्षा तो करो, पर किसी के प्राणों का हरण मत करो। क्योंकि हिंसक को मारना भी हिंसा ही है। उसको भी कभी नहीं मारना। अहो! कोई तड़प रहा है, शरीर में कीड़े पड़ गये हैं तो इंजेक्शन लगा दो जल्दी, जिससे इसकी मौत हो जाए। हे अज्ञानियो! ऐसा कर मत बैठना। तुमने दया कहाँ की? यह मत कहना कि हमने कष्टों से दूर कर दिया। उसे तो तुमने समय से पहले मार दिया, तुमने उसकी पर्याय को नष्ट किया कि उसके कर्म को नष्ट किया? जितना कर्म सत्ता में रखा है, वो भोगना पड़ेगा। इसलिए किसी पीड़ित को जहर का इंजेक्शन मत लगा देना, ऐसी करुणा मत कर लेना। कोई तड़पता हो तो "णमोकार' मंत्र" सुना देना। जितनी बने, उसकी सेवा कर देना। इसलिए ध्यान रखना, कभी भूलकर भी साँप निकल आए तो मारने नहीं देना। तुम उसे दूसरी जगह छुड़वा देना, क्योंकि हर प्राणी को अपने प्राण प्रिय होते हैं।



दुःखी एवं सुखी जीवों का घात करना हिंसा है

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयांति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासना कृपाणीमादाय न दुःखिनोपि हन्तव्याः।।८५।।

अन्वयार्थः तु = और। बहुदुःखांसज्ञपिताः = बहुत दुःख से सताये हुए प्राणी। अचिरेण=जल्दी। दुःखविच्छितिं = दुःख नाश को। प्रयांति = पा जाएँगे। इति बासना कृपाणीं = इस प्रकार विचार–रूपी तलवार का। आदाय = लेकर। दुःखिनःअपि न हंतत्याः =दुःखी जीव भी नहीं मारने चाहिए।

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवंन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमंडलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः।। ८६।।

अन्वयार्थः सुखावाप्तिः = सुख की प्राप्ति। कृच्छ्रेण भवति =बड़ी कठिनता से होती है। सुखिनः हताः = सुखी ही होती है। सुखिनः एंव भवन्ति = सुखी ही होते हैं। इति = इस प्रकार। तर्कमंडलाग्र = कुविचार रूप तलवार। सुखिनां घाताय = सुखी पुरुषों के घात के लिये न आदेयः = न ही पकड़ना चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अन्तरंग के भ्रमों को शमन करने की विद्या, माँ जिनवाणी, अमृत का काम करती है। विपरीत–श्रद्धान, लोक–रूढियाँ, अंधविश्वास सभी का शमन करती जिनवाणी माँ कह रही है कि प्रत्येक जीव अपने शुभ–अशुभ कर्मों के योग से उत्पन्न हुए और नष्ट हो रहे हैं। अतः आप करुणा करो, हिंसा भी मत करो, और जो हिंसा कर रहे हैं, उनकी हिंसा भी मत करो और जो हिंसा नहीं कर रहे, उनकी भी हिंसा मत करो।

भो ज्ञानी! गन्ना पेरने की मशीन में ऊपर व नीचे दो बेलन लगे होते हैं। यदि उनमें अंतर पड़ जाये तो रस अच्छे–से नहीं निकाल पाओगे। ऐसे ही अन्तरंग व बहिरंग चारित्र के बीच में अंतर पड़ जाए तो भेदविज्ञान द्वारा शुद्धात्मानुभूति का वह समरसी–भावरूप रस निकलनेवाला नहीं। अतः कठोरता में ही रस निकलता है। याद करो, अपने विद्यार्थी–जीवन में जिस गुरु से आपने अध्ययन किया या जो अनुशासनप्रिय गुरु थे, विद्या का रस उनसे ही अधिक मिला, और जो स्वयं ढीले थे उस समय तो अच्छा लगता था कि अध्यापक कुछ नहीं कहते, लेकिन उन्होंने तुम्हारा जीवन बनाया नहीं, बल्कि बिगाड़ा है। इसीलिए जिनवाणी कह रही है कि उस गुरु के चेले भी नहीं बनना जो स्वयं शिथिलाचार में डूब जाये और दूसरे को डुबा दे। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि धर्म की चर्चा में मधुरता की कोई आवश्यकता नहीं। भो आत्माओ! शिथिलाचार में धर्म मानोगे, तो आपको अपने आप में ही हीन भावना आ जाएगी कि मेरे पास धर्म है कहाँ, मैं तो वाह्य लेप को किये हूँ? अहो! जीवन में व



वाह्य लेप देर तक टिकता नहीं है। धर्म के क्षेत्र में मायाचारी का धर्म बहुत समय तक टिकता नहीं, वास्तविकता नजर में आ ही जायेगी। सोने के आभूषण चमकदार हों, यह आवश्यक नहीं। सोना मिट्टी में भी मिला होगा तो भी सोना है। वीतरागधर्म चमक दमक का धर्म नहीं है, वस्तुस्वभाव का धर्म है। यहाँ ऊपरी चमक की कोई चर्चा नहीं है, यहाँ अन्तरंग परिणति की चर्चा है। जिसके अन्तरंग में तीव्र हिंसा के भाव हैं, उसकी वाणी में भी शिथिलाचार है। जिसका अन्तरंग हिंसा से शुष्क है, वह कभी हिंसा से समझौता नहीं कर पायेगा। ध्यान रखना, तुमसे पालन जितना हो रहा सो ठीक है, लेकिन वाणी में कभी शिथिलाचार मत लाना। इस शरीर के सुख, यश और ख्याति के पीछे आत्मख्याति को मत भूल जाना। इस चर्म के शरीर में विराज कर अहम् में मत डूब जाना। धर्म को अपने अनुसार चलाने का विचार मत करना, जितना बने धर्म के अनुसार चलने का विचार रखना। शरीर की तो वह दशा होगी ही, जो सबकी होना है। जब तक राग रहेगा, तब तक राख ही होगी और जिस दिन राग चला जाएगा, उस दिन तू वीतरागता को प्राप्त कर लेगा। तब राख नहीं होगी, कपूर की भाँति उड़ जायेगा। निर्णय आपको करना है। केवली भगवान् के शरीर को कोई जलाता नहीं है, उनका परम औदारिक शरीर होता है। मात्र नख व केश अवशेष बचते हैं, सारा शरीर कपूर की भाँति उड़ जाता है, परंतु रागियों का नहीं। अहो! अपने शरीर के पीछे ही नहीं, पर–शरीर के पीछे भी कितने पाप कर रहे हो? पर–शरीरों की रक्षा के पीछे भी पर के शरीर का घात मत करो। अनेक जीवों की रक्षा होगी, इसीलिए एक को मार दो, ऐसा भी मत करो। जो खोपड़ी श्मशान घाट में पड़ी है, उससे खड़े होकर चर्चा करना। शत्रु की खोपड़ी हो या मित्र की, उससे भी चर्चा कर लेना तो समयसार दिख जायेगा। हे मित्र! मैंने आपके पीछे पता नहीं राग के वश होकर कितने दुराचार किये, आपके साथ बैठकर कितने व्यसनों का सेवन किया; परंतु हुआ कुछ नहीं, अन्त में निर्णय कुछ नहीं निकला। चोरी गया धन मिल सकता है, परंतु निकला समय मिलनेवाला नहीं। सागर में मोती मिल जायेगा, परंतु जो समय निकल चुका वह मिलनेवाला नहीं है।

भो ज्ञानी! शरीर को स्वच्छ करना चाहते हो, तो अध्यात्म से आर्द्र होना पड़ेगा। गहराई में जाए बिना भोगों से अरुचि हो ही नहीं सकती। सर्वज्ञदेव कहते हैं कि आपको शुद्धात्मा में रुचि हो जायेगी ,धर्म में भी रुचि हो जायेगी, यदि आपने भोगों से अरुचि उत्पन्न कर ली और योग में रुचि लगी। नही तो तेरी दशा क्या होगी? क्योंकि भोगों से बलात् अरुचि उत्पन्न करके ही योग में रुचि लगती है। अहो! उपयोग तो तेरा बाहर ही बाहर में घूमता है। यदि अन्तरंग की रुचि हो जायेगी, तो बाहर अपने आप अरुचि हो जायेगी। वैराग्य राग नहीं है और वैराग्य में भी राग नहीं है। वैराग्य जिस क्षण आता है उस क्षण राग के जितने क्षण होते हैं वे सब राखरूप झलकते हैं। रागी को राख में भी राग होता है और वैरागी को रागमयी द्रव्य में राख झलकती है, लेकिन राग शाश्वत नहीं। राग की परिणति नियम से बदलेगी और राग का द्रव्य भी बदलेगा, यह वास्तविकता है। जिसे आप अपना बेटा कह रहे थे, सुंदर लगता था, वह जब युवावस्था से प्रौढ़ावस्था में प्रवृत्त होता है तो वही आपको फीका–फीका लगने लगता है।

भो ज्ञानी! अन्तरंग में अनादि से वासनाओं की जो लघार लगी हुई है, कषाय भाव बैठे हुये हैं, वे कैसे समाप्त हों? यदि आप अपने आपको कुछ समय देना शुरू कर दोगे तो विश्वास रखना कि



नियम से आपको अपने द्रव्य का भान होगा, अन्यथा जीवनभर धर्मस्थान में बैठे– बैठे निकल जायेगा, लेकिन आप कभी भी धर्म का अनुभव नहीं कर पाओगे। जैसे तीर्थराज सम्मेदशिखर शाश्वत निर्वाणभूमि में बैठे प्रबंधक से पूछना कि वह सम्मेदशिखरजी की अनुभूति कितने क्षण करता है? अहो! उसने अपना दिमाग खाली छोड़ा ही नहीं, उसके पास समय ही नहीं है। जब आप धर्मात्मा बनकर जिनालय आते हो, तब भगवान् के दर्शन का आनंद आता है। किसी को भगवान् के दर्शन छुड़वाना हो तो मंदिर की समिति का मंत्री बना दो। वह जब भी मंदिर जायेगा, तो पहले भगवान् को नहीं, जमीन को देखगा कि झाड़ू लगी कि नहीं, ईंटों में क्या हो रहा है? अब उसके वह भगवान् चले गये। भो ज्ञानी! डाकू मुनि बन गया। सुंदरियों का राग उन्हें डिगा नहीं पाया। जिसको आत्म–सुन्दरी नजर आती है, उसको पुद्गल की सुंदरियाँ दिखती ही नहीं हैं।

भो ज्ञानी! अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं–कभी भूलकर भी हिंसा को धर्म नहीं कहना, राग को धर्म नहीं कहना, शिथिलाचार को भी धर्म नहीं कहना और असंयम को धर्म नहीं कहना। धर्म असंयम नहीं, धर्म संयम है। पॉलिश कभी सोना नहीं बनेगा, सोना ही सोना होगा। पॉलिश तो उतर जायेगी। इसीलिए ऊपरी चमक से प्रभावित होकर भीतर खोखले मत हो जाना। ऊपरी चमक वाली संसार की विभूतियाँ अन्दर का शुभत्व नहीं हैं। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि अन्दर जो कुछ है, उसका नाम परम अहिंसा है। लोक में जितने दर्शन हैं, सब अपनी बात कर रहे हैं। लोगों की कैसी कल्पना थी कि दूसरे का सिर फोड़ दो तो उसका मोक्ष हो गया। अब पंचमकाल में सिर तो नहीं फोड़ा जा रहा, पर श्रद्धा के सिर तोड़े जा रहे हैं। आयतनों से हट गये हैं, अनायतनों में जाने लगे हैं। मंगल–आयतन तो आगम में चार ही कहे हैं। अरहंत मंगल, सिद्ध मंगल, साधु मंगल और केवलीप्रणीत जिनशासन मंगल है। इन चार मंगलों के अलावा विश्व में कोई मंगल–आयतन नहीं है। जिस स्थान पर इनकी आराधना हो रही है वे तो मंगल आयतन हैं और जहाँ इनकी आराधना नहीं हो रही है, वे अमंगल आयतन है।

भो चेतन! जहाँ अहिंसा, सत्य, संयम है, वह धर्म–मंगल है। अन्यथा मंगल–नाम मोक्ष का कारण नहीं है। किसी का नाम आपने वर्धमान रख दिया, तो क्या आप तीर्थंकर वर्धमान हो गये? तीर्थंकर वर्धमान तो वह ही थे, जो सिद्धार्थ के बेटे थे। ध्यान रखना, लोक में आँक का दूध भी होता है, गाय का दूध भी होता है, वृक्षों का भी क्षीर होता है। आँखों में जलन पड़े तो दूध का फोहा (रुई को दूध में भिगोकर) रख लो, पर आँक के दूध से आँख ठीक नहीं होती है, उससे आँखें फूट जायेंगी। इसी प्रकार से धर्म नाम से धर्म नहीं होता है। धर्म के गुण जब तक नहीं हैं, तब तक धर्म, धर्म नहीं है। धर्म वही है, जिसमें अहिंसा हो।

भो ज्ञानी! जहाँ अहिंसा विराजी है, जहाँ वात्सल्य विराजा है, वहाँ देव, शास्त्र, गुरु तीनों विराजें हैं। वह ही मंगल है और वही उत्तम है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह अहिंसा के लिये ही बनाये गये हैं और यह सब अहिंसा का ही कथन करनेवाले हैं। अहिंसा से बढ़कर न कोई सत्य हैं न कोई अचौर्य है, न ब्रह्मचर्य है, न अपरिग्रह है। संक्षेप में इतना समझ लेना कि जैसे हिंसा पाप है, ऐसे पाँचों ही पाप हैं और परिग्रह पाँच पापों का सरदार है। जितने अनर्थ करा रहा है, हिंसा करा रहा है, परिग्रह ही करा रहा है। परन्तु लोग पाँचवे पाप को पाप ही नहीं समझ रहे। जबकि बहुआरंभ



व परिग्रह का संचय करने से तथा उसमें राग की तीव्रता से नरक आयु का बंध होता है। इसीलिये ध्यान रखना, जिसके पास बाहर की विभूति है, वही परिग्रह है; ऐसा सर्वथा नही है क्योंकि मूर्च्छा परिग्रह है। यहाँ पर कोई यह माने कि बाहर पुद्गल पर पुद्गल, मूर्च्छा के अभाव में है। पर यह कैसे संभव है कि मूर्च्छा न हो, और द्रव्य रहे? अरे! अंदर में तो कुछ नहीं, कपड़े तो ऊपर ही ऊपर पड़े हैं। सत्य तो यह है कि वसन तभी तक है, जब तक वासनाएँ हैं। यदि वासनाएँ उतर जायें तो वसन उतरने में देर नहीं लगेगी। काललब्धि को तेरा पुरुषार्थ ही बुलायेगा, तेरा पुरुषार्थ ही तेरी काललब्धि बनायेगा। भाग्य भी पुरुषार्थ से ही है। जिस समय जो कार्य हो, वह ही होनहार है। अतः काललब्धि तभी आयेगी जब तुम वासना को उतारोगे, इसके पहले आने वाली नहीं है।

भो ज्ञानी! यदि कोई जीव अनेक दुःखों से पीड़ित है तो आप सोचते हो कि भगवान् इसे जल्दी उठा ले। ओहो! वह तो तभी उठेगा जब उसको आयुकर्म उठायेगा। लेकिन आपने तो अपने भावों से एक जीव को उठा दिया, पंचेन्द्रिय का घात कर डाला। अतः, खोटे शब्द कभी मत बोलना। दुःखी जीव दुःखी जरूर है, लेकिन वह तुम्हारे द्वारा जबरदस्ती मरना नहीं चाहता। इस तरह मरना कोई समाधि नहीं है, यह तो आत्मघात है। शुद्धात्म–चिंतन में लीन होकर आयु–कर्म का क्षय होने पर, परमेष्ठी का ध्यान करते हुये, प्राणों के वियोग होने का नाम समाधि है। यदि आप ऐसा कहते हो कि अच्छे चले गये, क्योंकि वे बहुत कष्ट में थे, अरे! तुम ऐसा क्यों कह रहे हो? अब तो चले ही गये, अब भी तुम हिंसा कर रहे हो। आचार्य महाराजको यह इसलिए लिखना पड़ा कि लोगों के ऐसे भी विचार होते हैं। यह भी बहुत प्रबल रूढ़ी है कि सुख बड़े कष्टों से मिलता है, इसीलिए जो सुख से मर जाये तो सुखी होता है, दुःख से मरेगा तो दुःखी होगा। ऐसा आप कभी मत सोचना। क्योंकि वर्तमान में तुम सुखी हो, यदि अशुभ कर्म किये तो दुःखी होंगे और वर्तमान में तुम दुःखी हो, यदि अच्छे काम किये तो सुखी हो जाओगे। लेकिन यदि ऐसा सोचकर कि यह अभी बड़ा सुखी है, यदि इसको अभी खत्म कर दो, तो वह हमेशा सुखी ही बना रहेगा–यह पुरानी बातें मिथ्यात्व में रंगी हुई हैं। ऐसे कुतर्करूपी खड्ग (तलवार) के द्वारा सुखी जीव का कभी घात नहीं करें। ऐसे भी सम्प्रदाय हुए हैं जो ऐसा मानते थे। गुरु समाधि में बैठे हैं, उसी समय मार दो, जिससे वे सिद्ध बन जायें। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने आपको जो हेतु दिये हैं, इन हेतुओं पर विवेक से चिन्तन करना और कभी भी अशुभ–भावों का प्रयोग नहीं करना।



पुरुषार्थ देशना

अंधविश्वास खतरनाक

उपलब्धि–सुगति–साधनसमाधिसारस्य–भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलषिता।।८७।।

अन्वयार्थ :–सुधर्मम् अभिलषिता = सत्य धर्म के अभिलाषी। शिष्येण = शिष्य के द्वारा। भूयसः अभ्यासात् = अधिक अभ्यास से। उपलब्धिसुगतिसाधन समाधि सारस्य= ज्ञान और सुगति करने में कारण–भूत समाधि का सार प्राप्त करनेवाले। स्वगुरोः =अपने गुरु का। शिरः = मस्तक। न कर्तनीय=नहीं काटा जाना चाहिये।

घनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्।
झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम्।।८८।।

अन्वयार्थः–धनलवपिपासितानां =थोड़े से धन के प्यासे। विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् = शिष्यों को विश्वास उत्पन्न करने के लिये दिखलाने वाले। खारपटिकानाम् =खरपटिकों के। झटितिघटचटकमोक्षं = शीघ्र ही घड़े के फूटने से चिड़िया के मोक्ष के समान मोक्ष को। नैव श्रद्धेयं = श्रद्धान में नहीं लाना चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! यह जीव अपने विचारों को अपने आप में सोचना प्रारंभ कर दे, तो सत्य निर्णय होगा। पर जब हम दूसरों के उधार विचारों से विचार करते हैं तो कभी निज के सत्य का निर्णय नहीं होता, क्योकि पर के द्वारा दिखलाया गया मार्ग मार्गदर्शक तो हो सकता है, पर मार्ग का पथिक नहीं हो सकता। पथिक बनकर तो स्वयं ही चलना पड़ेगा। और जिसने मार्गदर्शक को ही पथिक बना लिया तो, भो ज्ञानी! तुम गंतव्य (मार्ग) को प्राप्त नहीं कर सकोगे। मनीषियो! लोक चिंतवन अनंत है, लेकिन ज्ञानी लोक चिंतवन में नहीं जीता है। ज्ञानी हमेशा लोकोत्तर चिंतन में जीता है, क्योंकि लोक चिंतवन अपनी सीमा में है। जिस देश में, जिस परिवेश में जो रहता है, उसका वैसा चिंतन होता है। लेकिन मुमुक्षु देश/परिवेश से परे होकर सोचता है, इसीलिये उसका चिन्तन लोकोत्तर चिंतन होता है। एक पिता अपने बेटे को घर का मुखिया बना देता है अथवा आप उसे नगर का मुखिया बना देते हैं तो उसके चिंतवन में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार सम्राट की दृष्टि में राज्य व्यवस्थाएँ आयेंगी, जबकि संत के चिंतवन में संपूर्ण विश्व पुत्र के समान दिखता है, क्योंकि उसके चिंतवन में नगर, देश, राष्ट्र की सीमायें नहीं होती हैं, जननी, परिजन की सीमायें नहीं होती हैं, उसकी दृष्टि में प्राणीमात्र की सीमायें होती हैं। इसीलिये निर्ग्रंथों की शैली में और सग्रंथों की शैली में बहुत अंतर होता है। निर्ग्रंथ निज की बात करते हैं।



भो ज्ञानी! भगवान् कुंदकुंद देव के 'समयसार' ग्रंथ पर आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने 'आत्म–ख्याति टीका' लिखी, जिसमें सैंतालीस शक्तियों की चर्चा की है। अनंत शक्तियों को उद्भव कराने वाली वह शक्तियाँ प्रत्येक जीव के अंदर हैं। उन सैंतालीस शक्तियों में चवालीसवीं शक्ति सम्प्रदान–शक्ति है। सम्प्रदान क्या कह रहा है? ''किसके लिए''? आप कहते हो ''नमः श्री समयसाराय'', समयसार को नमस्कार। किसके लिये नमस्कार? स्वानुभूति में जो प्रकाशित होता है, ऐसे समयसार के लिये नमस्कार है। वह स्वभाव किसके लिये? स्वयं के लिये, स्वयंभू के लिये। स्वयंभू संज्ञा किसके लिए है? भोग के लिये, योग के लिये? नहीं, उपयोग के लिए। मनीषियो! ध्यान रखना, स्वयंभू जब भी बनता है उपयोग ही बनता है, स्वयंभू में योग नहीं होता है। स्वयंभू के तो मात्र उपयोग ही होता है। सयोगकेवली तक ही योग है, अयोगकेवली को योग नहीं है।

भो ज्ञानी! अब आपको ४४वीं शक्ति का एकान्त में बैठकर चिन्तन करना है। धन कमा रहे हो, संतान को जन्म दिया है, किसके लिये? ये संबंध स्थापित कर रहे हो, किसके लिए? तूने दूसरे को गाली दी, किसके लिये? सम्मान करा रहे हो, किसके लिये? सोचो तनिक, जिसके लिए तुम कहना चाहते हो वह कुछ भी नहीं चाहता है। लेकिन लोक में देखो कितना सम्प्रदान जोड़कर रखा है? आपने पुत्र के लिये भवन खड़ा किया, उसको खोदते समय नींव में चुहिया निकली थी, उसे आपने उठाकर बाहर रख दिया था। उसके बच्चे भी थे, उसका परिवार भी था। उसके परिवार को आपने बिगाड़ा है, किसके लिये? आपने खेत में हल चलाया, किसके लिये? आचार्य अमितगति स्वामी लिख रहे हैं–अहो मनीषियो! आषाढ़/श्रावण के महीने में ये भूमि गर्भनी हो जाती है, अनंत जीव अपने गर्भ में रखती है और तुम हल को चलाकर सबका गर्भपात करा देते हो। गर्भनी माँ के गर्भपात कराने में जो हिंसा लग रही है तुम्हें भी वैसी ही हिंसा लगती है। यह किसके लिये? अहो किसानो! जब हल चलता है तो लाखों जीव एक–एक इंच पर मरते हैं। अहो! ये किसके लिये? भो चेतन! अभी तो सम्प्रदान की ही चर्चा कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त षट्कारक तथा छियालीस शक्ति और हैं। यह किसके लिये? जब तू भोग–दृष्टि को लेकर चला था, उस प्रदेश पर नवकोटि सम्मूर्च्छनों का घात तूने किया, किसके लिये किया? जो संतान जन्म लेगी, वो किसके लिये? इसीलिए सम्प्रदान कह रहा है, किसके लिये? तुम जो कुछ कर रहे हो, उसका उत्तर तुम्हारे पास नहीं है। यह सब किसके लिये है? ये सब तेरे साथ नहीं चलेंगे। इनके साथ आप भी जाओगे नहीं।

भो ज्ञानी! गुरु नहीं हैं, पंचपरमेष्ठी नहीं हैं, तो बाहर के द्रव्य तुम्हारे साथ हैं; किसके लिये? सब यहीं के संबंध हैं और संबंध जो–जो होते हैं, वह सब असत्यार्थ होते हैं। ये संबंध अभूतार्थ हैं, भूतार्थ नहीं हैं। संबंध किसके लिये? जब आपने किसी से कहा–आइये साहब बैठिये। जिससे आइये कहा है, वह पुद्गल की पर्याय है। जिसका आपने आह्वान किया है, जो चर्म–चक्षु से दिख रहा था, वह पुद्गल था। इसीलिये पर्याय ने, पर्याय को, पर्याय से, पर्याय के लिये, पर्याय में तुमने सत्कार किया है। अतः पर्यायों का सत्कार करने वाला पर्याय में ही भटकता है और जो पर्यायी का सत्कार करता है, वह परमात्मा बन जाता है। जिसने आज तक पर्याय का सम्मान किया है, पर्याय का दुलार किया है, पर्याय को पुकारा है, पर्याय को पुचकारा है, वह पर्यायों में पड़ा हुआ है।

भो ज्ञानी! षट्कारक की व्यवस्था को समझ लो। बिना षटकारक के कोई भी वस्तु व्यवस्था नहीं



बनती। कुंभकार प्रथम कारक कर्ता है और कुंभकार कहता है कि मिट्टी कर्म–कारक है। मिट्टी से सम्प्रदान कहता है कि पानी भरने के लिये घट क्यों बनाया ? अपादान कह रहा है कि पानी को पीने के लिये बनाया। अधिकरण कहेगा कि अपने घर में बैठकर बनाया। ये भेदकारक है। अब अर्थ कारक की चर्चा करो। अहो कुंभकार! तू कर्त्तत्व भाव में लीन है कि तूने घट बनाया। तेरा चर्म घट में है या तेरा धर्म घट में है? तेरा अंश–मात्र भी घट में नहीं है। आँखों से निहार लो, देख लो, कहीं लेशमात्र भी कुंभकार नहीं है। तो घट को किसने बनाया? मिट्टी ने, मिट्टी को, मिट्टी के द्वारा, मिट्टी के लिए, मिट्टी से घट को निर्मित किया। यह अभेद षट्कारक है। सैंतालीसवीं शक्ति कहती है कि षट्कारक लगा दो। किसने बनाया? स्वयं ने बनाया। किसको बनाया? स्वयं को बनाया। किसके द्वारा बनाया? स्वयं के द्वारा। किसके लिये? स्वयं के लिये। किससे? स्वयं से। किसमें रचना की तूने? स्वयं में बैठकर मैंने स्वयंभू की रचना की। वह मेरा स्वयंभू है।

अज्ञानियो! वस्तुओं में आत्मा भी एक वस्तु है। व्यक्ति तो पर्याय है, वस्तु द्रव्य है। आचार्य कार्तिकेयस्वामी ने धर्म की परिभाषा में "वत्थु सहावो धम्मो" कहा। अरे, चवालीसवीं शक्ति में भी कहा है। भो चेतन! तू स्वचतुष्ट्य में है। अरे! एकान्त में बैठ जाना, फिर कहना यह सब किसके लिये? जब चवालीसवीं शक्ति का चिंतन आप करें तो अपनी आयु कर्म को सामने रख लेना। जैसे बालों की कंघी के समय दर्पण को सामने रख लेते हो, ऐसे ही आयु कर्म को सामने रख लेना, फिर चर्चा प्रारंभ करना। शिशु–अवस्था निकल गई, किसके लिये? अब प्रौढ़ हो गये, किसके लिये? जो कुछ हो रहा है, किसके लिये? मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, लोभ किसके लिये? व्रती तू बना, किसके लिये? लगता है तुझे शक्तियों का भान नहीं है।

भो ज्ञानी! कर्म की विचित्रता में राजवैद्य भी राजा की रक्षा नहीं कर पाते। इसीलिये आप औषधि का भी विकल्प छोड़ दो। अब कहना, किसके लिये? आप पंचपरमेष्ठी की पूजा कर रहे हो, किसके लिये? अपने कर्मों का क्षय करने के लिये। आपने व्रत स्वीकार किये हैं, अपने कर्म क्षय के लिये। आप जो प्रतिमा लेकर आये हैं, समाज के लिये नहीं तो किसके लिये? त्यागी–व्रती फर्श पर नहीं बैठते, वे आये और धीरे से पैर से फर्श उठाकर फेंक दिया, वहाँ आपको ध्यान रखना था कि, अहो! मेरा संयम कितना निर्मल है? मैं दूसरे का असंतुष्ट करने के लिये नहीं आया हूँ। आपने भोजन करने के लिये सोला के वस्त्र पहने और नाती ने धोती छू ली, अब बताओ वह सोला किसके लिये किया था? भोजन के लिये, कि भावों के लिये? आपने धीरे से बच्चे के गाल पर चाँटा मार दिया, किसलिये? क्या सोला बन जायेगा, इसीलिये? सोला तो करना ही चाहिए, लेकिन भावों के सोलों का भी ध्यान रखना। चलो अब तो छू ही लिया, धो ही सकते हैं, लेकिन दूसरों के परिणामों को कलुषित मत करो।

भो ज्ञानी! अभी तो आपने कर्म का धर्म सुना है। धर्म को धर्म में कुछ भी नहीं करना पड़ता। जहाँ कुछ न करना पड़े, उसी का नाम है धर्म। इसीलिये आप मुमुक्षु कहला रहे हैं, किसके लिये? विघटन करने के लिये? परस्पर के वात्सल्य को नष्ट करने के लिये? समाज में बिखराव करने के लिये? अहो मनीषियो! मुमुक्षु स्वयं के लिये बने हैं, मोक्ष की इच्छा के लिये। इतने सारे प्रश्न जब आप एकसाथ करोगे, तो कितने ही दिन क्या, पूरी पर्याय निकल जाए तो भी चिंतन समाप्त नहीं होगा।



अब उसको समेट लो, पर इतना ध्यान रखना, ४४वीं शक्ति सम्प्रदान–शक्ति कहती है कि एकान्त में जब तुम जाओगे और वहाँ सोचना कि यह सबकुछ मैंने बुना है, तो हे मकड़ी! बताओ ये जाल किसके लिये है? देखना, यह मकड़ी जितना खाती है, उतना जाल फैला देती है। उसमें जीव आकर फंस जाते हैं और सब मृत्यु को प्राप्त हो जाते है। अहो मकड़ी! तूने ताना–बाना बुना है, किसके लिये? और अंत में उसी में फँसती है स्वयं के लिए। अहो मनीषियो! ये भवन किसके लिये? प्रभु मेरी अर्थी यहीं से निकलेगी। क्या इसीलिये? बुरा मत मानना, क्योंकि जिसे तुम मरघट कहते हो, वो असत्य है। मरघट शब्द अपने आप में कहता है जिस घट पर मरा जाये, उसका नाम मरघट है। पर उसे कभी मरघट नहीं कहते हो। उस जलाने के स्थान को जलघट कहना चाहिये। जो तुमने भवन खड़े कर लिये, किसके लिये? अब प्राप्त करो उत्तर। जिस दिन सत्य को कहने लगोगे, तो तुम भगवान् बन जाओगे। यदि हमने ४४वीं शक्ति को समझ लिया तो हमें हमारा असत्य मिटाना पड़ेगा। इसीलिये आज घर में बैठकर जरूर सोचना कि यह सब होता है, किसके लिये? इतना ही सोचना है, ज्यादा सोचना ही नहीं है अपने को। अतः आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि यह हिंसा के कर्म छोड़ दो। ये किसके लिए कर रहे हो?

मनीषियो! अज्ञानता के विश्वासों से दर्शन खड़े हो जाते हैं, यानि समझते जाओ और हृदय की ग्रंथियों को सुलझाते जाना कि गुरुदेव ध्यान में विराजे हैं। ध्यान रखना, गुरु तो सबके हैं। गुरु समाधि में बैठे हैं, अब शुद्धोपयोग में चले गये, परमेश्वर में चले गये। अब एक काम करो, यदि ये जीते रहेंगे तो फिर से संसार में आ जायेंगे, सो इनका सिर काट दो, तो परमेश्वर के पास ही रह जायें। तो, मनीषियो। ऐसे भी दर्शन थे इस भारत देश में, जिन्होंने अपने कितने ही गुरुओं को भगवान् के पास भेज दिया। लेकिन वह भी हिंसा ही है। ऐसे कोई सिद्धालय में नहीं जाता है। अपनी परिणति से ही जाता। इसीलिये ऐसी हिंसा नहीं करना।

भो ज्ञानियो! जिनवाणी कहती है कि जो सामने दिखे, वह सत्य है। इसलिये ध्यान रखना, पानी के प्यासे हिंसक नहीं होते, वह तो पानी पीकर शांत हो जाते हैं, लेकिन लोभ के वश होकर धन के प्यासे सबसे बड़े हिंसक और कसाई होते हैं। धन के प्यासे व्यक्ति शिष्यों को विश्वास दिला देते हैं, देखो, ऐसा करने से मोक्ष मिलता है। बड़े–बड़े धन के लोलुप व्यक्तियों ने अपने भक्त बना लिये। जो आगम विरुद्ध होते हैं, वे बड़े–बड़े को ही पकड़ते हैं। अतः, अंधविश्वास नहीं करना, वह बड़ा खतरनाक होता है।



जिनमत–रहस्यज्ञाता हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता

दृष्टवा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्माऽपि।। ८९।।

अन्वयार्थ : च = और। अशनाय= भोजन के लिए। पुरस्तात् आयान्तम् = सन्मुख से आये हुए। अपरं = अन्य। क्षामकुक्षिम् = दुर्बल उदरवाले अर्थात् भूखे पुरुष को। दृष्ट्वा = देखकर। निजमांसदानरभसात् = अपने शरीर का माँस देने की उत्सुकता से। आत्माऽपि = अपने को भी। न आलभनीयः=नहीं घातना चाहिए।

को नाम विशति मोहं नयभंगविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः।। ९०।।

अन्वयार्थ : नयभंग विशारदान् = नयभंगों के जानने में प्रवीण। गुरून् उपास्य = गुरुओं की उपासना करके। विदितजिनमतरहस्यः = जिनमत के रहस्यों को जाननेवाला। को नाम = ऐसा कौन–सा। विशुद्धमतिः = निर्मल बुद्धिधारी है जो। अहिंसां श्रयन् = अहिंसा का आश्रय लेकर। मोहं विशति = मूढ़ता को प्राप्त होगा।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! भगवान् वर्द्धमान स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने आपको सहज सूत्र प्रदान किया कि भगवान् तीर्थेश की वाणी तभी समझ में आती है, जब स्वयं का तीर्थ पवित्र होता है। जब तक तुम्हारा रत्नत्रय–तीर्थ नहीं जागता है, तब तक तीर्थ पर शीश भी नहीं झुकता है। जिसको श्रद्धा का तीर्थ उद्भव होता है, उसका शीश तीर्थ भूमि को स्वयमेव झुक जाता है अन्यथा तीर्थेश के पधारने पर भी वो तीर्थंकर नहीं मान पाता। भगवान् आदिनाथ के तीर्थ में कोई दूसरा नहीं, उनका ही नाती था, जिनकी आँखों में भगवान् नहीं झलके। वर्द्धमान स्वामी के तीर्थ में भी छह व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने–आपको तीर्थंकर घोषित किया था। लेकिन ध्यान रखना, तीर्थ कभी अपने आप को तीर्थ नहीं कहता। "बड़े बड़ाई न करें, बड़े न बोलें बोल, हीरा मुख से न कहे, लाख टका मेरा मोल।" जो मेरा सत् है, जो मेरी सत्ता है, वह कभी असत्ता नहीं होती है। सत्ता त्रैकालिक होती है और असत्ता तात्कालिक होती है। द्रव्य त्रैकालिक होता है, पर्याय तात्कालिक होती है।

अहो मुमुक्षु! किसी जीव की विकारी–पर्याय को देखकर तुम उसे विकारी–द्रव्य ही मत मान बैठना। किसी से ग्लानि मत करना, किसी को हीन मत मानना। जो निगोद में विराजा है और जो सिद्धालय में विराजा है, वे सब जीवतत्व हैं। माँ जिनवाणी कह रही है कि तुम किसी की जीवत्व– शक्ति का



विनाश नहीं करा सकते। रिश्ते पर्याय के होते हैं, उपयोग पर्यायी का होता है। अहो! रिश्तों के मिलने–बिछुड़ने पर ज्ञानी खिन्न नहीं होता। जब इष्ट का वियोग होता है, तो अज्ञानी रोता है और जब अनिष्ट का संयोग होता है तो अज्ञानी रोता है, पीड़ा होती है। ज्ञानी यह सबकुछ होने पर कहता है–यदि नहीं होगा, तो हम संसारी कैसे कहलाएँगे? दुःख भी होगा, सुख भी होगा; सम्मान भी होगा, अपमान भी होगा। जब हम सम्मान को सहन करने की शक्ति रखते हैं तो अपमान को भी सहन करने की शक्ति रखना चाहिए। चन्द्रमा ही बढ़ता है, चन्द्रमा ही घटता है। मनीषियो! तारे न कभी बढ़ते हैं, न कभी घटते हैं। महापुरुषों के ही सम्मान होते हैं और महापुरुषों पर ही उपसर्ग होते हैं। यह तो सबकुछ होता ही है। द्रव्य नानारूपता को प्राप्त होता है, क्योंकि पर्याय नानारूप में नहीं रहेगी, तो भव्यत्व भाव घटित नहीं होगा।

भो ज्ञानी! कभी पाप की कीचड़ गली में होती है, तो कभी पुण्य की धूल उड़ा करती है; लेकिन यह सबकुछ होता है, घबराना नहीं। जहाँ धूल उड़ रही थी, उसी गली में आज कीचड़ फैली है, परंतु चिंता नहीं करो, कुछ दिन ज्ञाता–दृष्टा बन जाओ; आपको वहीं धूल भी उड़ती मिलेगी। मनीषियो! जो आज धूल पर विराजे हैं, वो कभी फूल पर विराजे थे और जो फूल में विराजे होते हैं, वे धूल में विराज जाते हैं। पुण्य–पाप की परिणति से ही सबकुछ होता है। अहो ज्ञानियो! वही पुष्प कोई पुनः लेकर आता है। माला बनाई, गले में पड़ी और पुनः धूल में मिल गयी। श्रद्धा का तीर्थ तेरे पास है तो तीर्थ दिखेगा, अन्यथा तीर्थों में ढूँढने पर भी भगवान् नहीं दिखेंगे। अतः, यह श्रद्धा बनाकर चलो कि जो मेरे साथ घटित हो रहा है, वह कोई अनहोनी नहीं है और जो सम्बंधियों/ पड़ोसियों के साथ घटित हो रहा है, वह भी कोई अनहोनी नहीं है यह तो सबकुछ होता था, होता रहेगा और होता है। अनहोनी घटना उस दिन तेरे साथ घटेगी, जिस दिन तू कर्मों से मुक्त हो जायेगा। हे भगवन्! वह दिन कब आए जब मैं होनी से बचकर अनहोनी में चला जाऊँ। भो ज्ञानी !कोई अमल कहता है, कोई अनुपम कहता है, कोई निर्मल कहता है, कोई कृत–कृत्य कहता है, कोई परमेश्वर कहता है, तो कोई परम ब्रह्म कहता है। मैं सब उपमाओं से रहित, चिद्रूप हूँ। ये मेरी जीवत्व–सत्ता है। लोगों ने पुद्गलों को देख–देखकर अपने परिणामों को बिगाड़ रखा है। पर जीवत्व–सत्ता का भान आज तक नहीं किया। यही जिनेंद्र–देशना है, यही धर्म है, यही वस्तु का स्वभाव है। परन्तु कोई रंग को देख रहा है, कोई ढंग को देख रहा है और कोई राग–रंग में जा रहा है, पर चैतन्य के ढंग को समझ ही नहीं पा रहा है। अहो जीव! तेरा वास्तविक स्वरूप तो अरस, अरूपी, अगंध और अवक्तव्य है। तू पुद्गल पर पुद्गल रगड़कर अपने आप को कहता है–'मैं ही चमकता हूँ।' मनीषियो! यदि एक बार भी शुद्धात्म–तत्त्व की चर्चा कर लेते, तो फिर तू व्यर्थ की चर्चा नहीं करता। तुम 'नाम' संज्ञाओं में पड़े हो। संज्ञाओं को छोड़ो। इसलिए ध्यान से समझना, चार संज्ञाओं की सीमा है, पर एक संज्ञा असीम है। चार सँज्ञाएं जीवत्व–भाव से समन्वित हैं, जबकि 'नाम' वाली संज्ञा जीवत्व–भाव से रहित है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह यह तो जीव का विकारी– भाव है। 'नाम' पुद्गल है, इसमें जीवत्व–भाव लेशमात्र भी नहीं है। आहार संज्ञा में आसाता–वेदनीय कर्म की उदीरणा जब आती है, तब भूख लगती है। अहो! देखना संसार की दशा, अशुभ कर्म से भूख लगती है और शुभ कर्म से भोजन मिलता है। लाभ अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से लाभ होता है और साता के उदय से स्वाद आता है। साता नहीं



है तो कितने ही पकवान रख देना, भोजन में कड़वाहट रहेगी, स्वाद ही नहीं आएगा और लाभ अन्तराय कर्म का क्षयोपशम नहीं है तो दुनियाँ में घूम लेना, तुम्हें खाने को नहीं मिलेगा। लाभ–अन्तराय का क्षयोपशम है तो एक रोकेगा, दूसरा हाथ पकड़ लेगा। यह संसार की दशा है, यह सब भी होता है।

भो ज्ञानी! जब आग लगे तो उसको बुझाओ मत, वह स्वयं बुझ जाएगी। बुझाने का पुरुषार्थ ज्यादा करोगे तो भड़क जाएगी। ध्यान रखना, लकड़ियाँ मत डालना, बुझ जाएगी। आपने पानी फेंका और यदि अशुभ कर्म का उदय होगा, तो वह घी का काम करेगा। अहो! पत्नी कहने लगी– स्वामी! निर्ग्रंथ योगी के चरणों में जाकर मैंने रविव्रत स्वीकार किया है। छप्पन कोटी दीनार का स्वामी अहंकार में भरकर कहता है–'व्रत वे करें, जो घास खोदकर सिर पर रखें।' व्रत–संयम वह करें जिनके घर में खाने को नहीं है। अहंकार में आकर पत्नी को व्रत नहीं करने दिया। एक दिन स्वामी शयनकक्ष में विश्राम कर रहा था, अग्नि लगी, एक क्षण में सब विलय को प्राप्त हो गया। देखते ही देखते करोड़पति बेचारा सड़कपति हो गया। सातों बेटे बिलख रहे हैं। अहो! संसार की दशा, जिसको दूध के कटोरे भर–भर कर सामने रखे जाते थे, वह आज चुल्लू भर पानी को रो रहे हैं। जिनके यहाँ अनेक अनुचर काम करते थे, वह आज किंकर बनकर गलियों में घूमने लगे। सात भाइयों को एक मित्र ने काम पर रख लिया, लाखों रुपए दिये, पर सब खाक हो गए। मनीषियो! कर्म के विपाक में संयोग भी काम नहीं करता। संयोग भी वहीं सहयोग करता है, जहाँ स्वयं को सुकृत का संयोग हो। एक बार मैंने आपको बताया था कि आचार्य महावीरकीर्ति महाराज सम्मेद शिखर पर ध्यान कर रहे थे। एक भील भाला ले कर मारने आया था। जैसे ही उसने मुनि की ध्यान–मुद्रा को देखा और भाव बदल गया। भाला फिक गया और चरणों में भाल टिक गया। जिसका पुण्य भला है, उसके चरणों में भाल गिरते हैं और जिसका पुण्य भला नहीं है, उनके चरणों में भाले ही गिरते हैं। इसलिये भला करना चाहते हो तो पुण्य के भाव करो, अशुभ से बचो। मित्र ने सातों भाइयों को सोने की दुकान पर बिठाया, कुछ नहीं हुआ। अन्त में कहा, भाई! अब कुछ तो करना ही होगा। जाओ, यह हँसिया ले जाओ। देखो, हीरे–मोती की दुकान पर बैठने वाले बेटों के हाथ में जब मजदूरी के लिये हँसिया पकड़ाया गया होगा, तब उनके हृदय की वेदना क्या हुई होगी? परन्तु ज्ञानी कहता है कि यह सब कुछ भी होता है। भाभी ने कहा–लाला! आप को भोजन तभी दिया जाएगा, पहले सेठजी की घास लेकर आओ। चल दिया। लघु भ्राता ने जब घास को खोद के गट्ठा बना लिया और देखा कि हँसिया गुम गया, सोचता है–कोई नहीं मानेगा कि हँसियां गुम गया– सब यही कहेंगे कि हँसिया बेचकर कुछ खाकर आ गये। दृष्टि डालता है, एक नाग–नागिन के ऊपर हँसिया रखा हुआ है। बोला–हे सर्पराज! या तो हँसिया दे दो या मुझे डस लो। आपके डसने से मुझे पीड़ा नहीं होगी, लेकिन हँसिया विहीन होकर घर मैं जाऊँगा, तो जो पीड़ा होगी वो मेरा हृदय सहन नहीं कर पायेगा। वह साँप नहीं, धरणेंद्रदेव था। कहता है–भगवान् पारस प्रभु की पूजा करो। आपके पिताजी ने व्रत का अपमान किया था। मनीषियो! व्रत का अपमान करने मात्र से जब इतना घात हो गया तो जो व्रती का अपमान करेगा उसका कितना घात होगा ? इसलिए जीवन में उस गली से नहीं चलना, जिस गली में फिसलकर गिर जाओ। कर्म–पंक तो कहता है कि मेरा काम तो गिराना है। जल से पंक उत्पन्न होता है, जल से ही पंक धुलता है। चित्त से पाप होता है और चित्त से ही पाप धुलता है। व्रत की अवहेलना की थी पिताश्री ने, और

भीख माँगनी पड़ी पुत्रों को। हे पुत्रो! तुम्हारा भी पाप का उदय था कि ऐसे पिता के घर तुम जन्मे हो। जब पुनः रविव्रत किया और माता–पिता को समाचार भेज दिया कि आप भी रविव्रत करो। जिसने अवहेलना की थी, आज वह दो उपवास कर रहा है। मालूम चला, कुछ ही दिन में ऐसा पलड़ा पलटा कि धनी हुआ। ऐसा रविव्रत की कथा में लिखा है।

भो ज्ञानी! यह सब कुछ भी होता है। ज्ञानी उसमें भी न खिलता है और न दुःखित होता। ज्ञानी विपत्तियों में कूलते नहीं और सम्पदाओं में कभी फूलते नहीं। कौतुहली वे होते हैं, जो अज्ञानी होते हैं। वैभव था, ठीक है; चला गया, ठीक है। द्रव्य अपने स्वभाव में है, गया कहाँ? बोले–मर गए। कहाँ मर गए? सैंतालीस शक्तियो में पहली शक्ति जीवत्व–शक्ति है। मनीषियों! जीवत्व–सत्ता सर्वत्र है, सम्पूर्ण पदार्थों में सर्वव्यापी है। इसलिए ध्यान रखना, कभी मत सोचना, कि कौन है किसका है? किसको कहूँ? क्या कहूँ? किस लिए कहूँ? कैसा कहूँ? किससे कहूँ? अरे! निज ने कहा, निज को कहा, निज से कहा, निज के लिए कहा, निज में कहा, तो सत्ता है। अहो! शुद्धात्म–तत्त्व की चर्चायें इतनी मधुर हैं तो कैसे कहें कि अध्यात्म में आनन्द नहीं होता? जो चर्चाओं का आनन्द लूट रहा है, भो चेतन्य! एक दिन ब्रह्मचर्य का आनंद भी लूटेगा। इसलिए अमृतचंद्र स्वामी कह रहे कि हैं–अब तुम जीवत्व–सत्ता को समझ कर यह भी नहीं कहना कि यह भूखा है, यह प्यासा है, इसको अपना तन दे दूँ , इसको अपना रक्त दे दूँ। पर्याय नष्ट होगी, पर सत्ता त्रैकालिक है। तू कभी नहीं मरेगा। भो चेतन! आहार का दान होता है, औषधि का दान होता है; पर रक्तदान दान नहीं है। भूखा आये तुम्हारे पास, एक रोटी है, चार विभाग करके उसे खिला देना, लेकिन शरीर के मांस को, स्वयं के मांस को निकालकर कभी नहीं खिलाना। जैन–सिद्धांत उसे धर्म नहीं कहेगा। वह हिंसा ही है। अर्हन्त विहार कालोनी में एक मकान के नीचे बहुत सारी रोटियों का ढेर लगा था और गाय खा रही थी, उन सबमें फफूँद लगी थी। अहो! यदि खिलाना ही था तो शाम को खिला देते। लगता है कि खिलाने की दृष्टि ही नहीं थी, वह तो हो गयी। इतना लोभ होता है। अरे! कोई गरीब है, उसे खिलाना ही है तो अच्छा खिला दो। आत्मघात करके या शरीर का घात करके किसी को खिला देना धर्म नहीं है, हिंसा ही है और अभक्ष्य खिलाया है, वह तो प्रत्यक्ष ही हिंसा है। इसलिए भगवान् कह रहे है कि जिसकी मति विशुद्ध नहीं है, वह अहिंसा को नहीं समझ पाएगा। जिस जिनेंद्र की देशना में राग–द्वेष को, हँसी–मजाक करने को, चुगली करने को, खरी–खोटी बातें करने को हिंसा कहा हो, उस जिनेंद्र की देशना में प्राणी के घात को कैसे अहिंसा कहा जायगा?

भो ज्ञानी! जो भगवान् जिनेंद्र की वाणी के रहस्यों को जाननेवाला है, वह विशुद्धमति, निर्मल बुद्धिवाला जीव नयों को जान लेता है। वह जीव लोक की पाखण्डता को, लोक के प्रलोभन को जानकर, मूढ़ता को छोड़कर, तत्त्व–मनीषा का प्रयोग करके, इतना ही ध्यान रखता है कि यह सब कुछ होता है। इसलिए रागद्वेष नहीं करता। भो मनीषियो! आज कोई मारे, पीटे, लूटे, कुछ भी कहे, फिर भी सोचना, 'यह सबकुछ होता है।'



मत करो किसी से घृणा

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः संति चत्वारः।।९१।।

अन्वयार्थ : यत् किं अपि = जो कुछ भी। **प्रमादयोगात्** = प्रमाद के योग से। इदं असत् अभिधानं = यह असत्य कथन। विधीयते = कहा जाता है। तत् अनृतं = वह असत्य। विज्ञेयं = जानना चाहिये। तद् भेदाः अपि = उस असत्य के भेद भी। चत्वारः संति = चार हैं।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र।।९२।।

अन्वयार्थ : स्वक्षेत्रकालभावैः = अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से। सदपि हि वस्तु = विद्यमान होने पर भी वस्तु। यस्मिन् = जिस वचन में। निषिद्धयते = निषिद्ध की जाती है। तत् प्रथमं असत्यं = वह पहला असत्य है। यथा अत्र = जैसे यहाँ पर। देवदत्तोऽत्रः नास्ति = देवदत्त नहीं है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! कुन्दकुन्द स्वामी के 'समयसार' में वर्णित ४७ शक्तियों में दूसरी शक्ति है 'चिति–शक्ति'। यह आत्मा जड़ नहीं, चैतन्य है, चिद्रूप है, चैतन्यरूप है। अजड़त्व–स्वभावी है, जड़–स्वभावी नहीं है। जड़ याने विवेकहीनता, जड़ याने चैतन्य–शून्यता। अहो! प्रबल पुण्य के योग से जीव ने पंचेन्द्रियजाति में मनुष्यजाति को प्राप्त किया है, फिर भी तुम प्रपंच में पड़े हो। विवेक तो लगाओ, क्षेत्रीय भेदों में आकर अपने स्वभाव को मत खो देना। चिति–शक्ति कह रही है कि यदि यह जीव विवेक से देखे, तो भेद ही नहीं है। विवेकहीनता में भेद है, विवेकशून्यता में भेद है; विवेक में कोई भेद नहीं है। पानी चाहे गिलास में हो, कटोरे में हो, सकोरे में हो, घड़े में हो, चाहे स्वर्णकलश में, परंतु बर्तनों के भेद से नीर में भेद नहीं होता।

भो ज्ञानी! चिति–शक्ति कहती है कि यह आत्मा चाहे निगोद–पात्र में हो, चाहे नरक–पात्र में, चाहे तिर्यंच–पात्र में, चाहे मनुष्य–पात्र में यदि बर्तनों को देखोगे तो भेद नजर आएगा और नीर को देखोगे तो अभेद नजर आएगा। आपने बर्तनों को देखा है, पानी को नहीं देखा। यदि हम अवगाहना देखेंगे तो आदिनाथ स्वामी पाँच सौ धनुष के दिखेंगे, महावीर स्वामी सात हाथ के दिखेंगे। यदि तुम वंशों को देखोगे तो इच्छ्वाकुवंश दिखेगा, नाथवंश दिखेगा, हरिवंश दिखेगा। जब आप नगर देखोगे तो अवधपुरी दिखेगी, सिंहपुरी दिखेगी, बनारस दिखेगा और सौरीपुर नजर आयेगा। पता नहीं क्या–क्या दिखेगा? लेकिन तीर्थंकर नजर नहीं आयेंगे, क्योंकि आपने नगरों को देखा, आपने भवनों को देखा। 'समयसार' की चिति–शक्ति आपसे कह रही है कि चैतन्य भगवान् तीर्थंकर को देखो तो आपको भगवान्



नजर आयेंगे, अवगाहना नजर नहीं आयेगी। जो चैतन्य शक्ति सवा पाँच सौ धनुष की अवगाहना में है, वही साढ़े तीन हाथ की अवगाहना में भी है।

अहो मानव! तू तो विवेकी है। एक बालक जब विवेकशील हो जाता है तो वह प्रज्ञा का उपयोग करना प्रारंभ कर देता है। यदि प्रज्ञा का समीचीन उपयोग कर लिया, तो परमात्मा बना देगी और असमीचीन उपयोग कर लिया, तो प्रज्ञा ही तुझे नरक भेज देगी। नगर में दिन के दस बजे मुनिराज पधारे, अब विवेक लगाओ कि पहले इन्हें आहार करायें, कि इनकी परीक्षा करें? अहो! विवेकशील परीक्षा के लिये समय नहीं खोजता, वह तो चर्या में ही परीक्षा कर लेता है। भो ज्ञानी! वहाँ तो आप चर्या कराना। चिति–शक्ति कहती है कि हमने आपको सूत्र दे दिया कि चिति का उपयोग करो। जिसने चिति की इति कर दी, वह कभी चैतन्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा। अतः चिति की इति मत कर देना। आज विवेक से निर्णय करना कि मुझे किस मार्ग पर चलना है?

भो ज्ञानी! मान लो आपके परिणाम साग खरीदने के हो रहे हैं, वहाँ चिति–शक्ति काम करायेगी। जब साग खरीद रहा था, उस समय चिति–शक्ति कहती है कि तुम हर समय मुझे लगाओ। ज्ञान मेरा स्वभाव है, वह किसी को मारने या गिराने के लिये नहीं, प्राणीमात्र को मिथ्या मार्ग से सन्मार्ग पर लाने के लिये है। जब साग खरीदते हो, तो साग उठाकर सोचते हो कि बढ़िया–बढ़िया छाँट लूँ और विक्रेता सोच रहा है कि बीच में कुछ खराब भी रख दूँ। अहो! कर्म सिद्धांत कहता है कि केवली भगवान् जान रहे हैं, परन्तु उसमें वे आप जैसी चिंता नहीं कर रहे हैं। क्योंकि उनका ज्ञान क्षायोपशनिक नहीं, क्षायिक है। देखो, भाजी खरीदते–खरीदते हमने मायाचारी कर ली, कहाँ गई थी चिति–शक्ति? भगवान् की पूजा करने आया, भाग्य से एक थाली पर दो पुजारी फँस गए। यह द्रव्य ज्यादा चढ़ा रहे हैं, हम भी ज्यादा चढ़ा दें। भाग्य से थाली में दो बादामें थीं, पूजा भी दो थी। मैं चाहता हूँ कि दोनों पूजाओं में फल पर बादाम ही चढ़ायें। अतः जब तक उन्होंने भगवान् को नमस्कार किया, मैंने धीरे से अपनी द्रव्य में एक बादाम छुपा डाली।

भो ज्ञानी! तीर्थंकर की वंदना कर रहा है कि कर्म का बंध कर रहा है। अहो! चर्मचक्षु से वंदना चल रही है, और केवल–चक्षु में बंध दिख रहा है। बस इतना ही अंतर होता है आपकी चिति–शक्ति में और केवली की चिति–शक्ति में। उनके ज्ञान में तुम्हारा छल भी झलक रहा है। यहाँ चिति–शक्ति को चैतन्य पहचान नहीं सका। अहो! निज के प्रभु को पहचान लेना, संभाल लेना और समझ लेना, क्योंकि इससे बड़ा विवेक और कोई नहीं होता। देखो, जैसे निर्ग्रंथ योगी को स्वानुभव में आनंद आता है, ऐसे ही रागी को परिग्रह के अनुभव में आनंद आता है।

भो ज्ञानी! आपके स्वभाव में ऋजुता है, परिणामों में कोमलता है, व्यक्ति को व्यक्ति मानते हो, किसी पर कटाक्ष नहीं करते हो, किसी को हीन नहीं मानते हो और अल्प आरम्भ–परिग्रह में संतुष्ट हो, यदि ऐसे परिणाम हैं कि जितना आ रहा है उतने में संतुष्ट हैं, हाय–हाय नहीं करते, तो ठीक है। यदि मृदु–परिणाम हैं, तो सम्यक्दर्शन को कोई टालनेवाला नहीं है। यदि आपने बंध नहीं किया तो नियम से देव ही होंगे और यदि मनुष्य, तिर्यंच आदि आयु का बंध कर लिया हो, तो पक्का है कि आप भोगभूमि में जाओगे, कोई नहीं टाल सकता। शीतल पानी में ही चेहरा दिखता है, उबलते पानी में कभी भी चेहरा नहीं दिखेगा।



भो ज्ञानी! इसलिये धवलाजी में आचार्य वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि अतिहर्षातिरेक में सिद्धांत–ग्रंथों का अध्ययन नहीं करें, दुःख में भी न करें, पर्व आदि के दिनों में भी नहीं करें। इन दिनों में निषेध है। इन दिनों में भक्ति करो, आराधना करो, साधना करो; लेकिन रहस्य/सिद्धांत ग्रंथों का स्वाध्याय नहीं करना, क्योंकि समझ में नहीं आयेंगे। जब तेरी चारों कषायें शान्त हो जायेंगी तब वह चिति–शक्ति, जिसकी तू चर्चा कर रहा है, वह शुद्ध चेतना–शक्ति के रूप में प्रकट हो जायेगी। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि यदि चिति–शक्ति को समझ लिया है, तो वही सत्य है। जिसने चैतन्य–शक्ति को नहीं समझा, वही तो असत्य है। अतः निज–विवेक ही सत्य है। जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा कहना, यह विवेकसत्य है अन्यथा उद्रेक है, विवेक नहीं है। भो ज्ञानी! विवेक में उद्रेक नहीं होता है। विवेक आपका काम कर रहा है कि कर्म का बंध कैसे–कैसे होता है? कहाँ–कहाँ होता है? कैसी–कैसी परिणति पर होता है? कैसी–कैसी क्रिया पर होता है? यहाँ पर चिति–शक्ति लगाओ तो एक ही निर्णय निकलेगा कि जो हम कर रहे हैं वह सब मिथ्या है। तो फिर सम्यक् करो और सम्यक् तो महाव्रत–अणुव्रत या ही हो सकते हैं। अहो! अणुव्रत या महाव्रत के अभाव में विवेक की बात करना तो 'कहना' भर है। अणुव्रती से कहा जा रहा है कि पानी छानकर पियो और वह बाजार में जाकर मिठाई खाए, तो कहाँ गई चिति–शक्ति? विवेक का तात्पर्य यह नहीं है कि हम बुद्धि के मात्र व्यायाम करते रहें। अरे! विवेक तो हमारी हर परिणति में दिखना चाहिये, झलकना चाहिये। जब तुम फर्श अथवा चटाई पर आकर बैठ गये, तब तुम्हारे विवेक का पता चल गया कि कितना सत्य था? कितनी करुणा थी? क्योंकि एक ज्ञानी पहले उठाकर देख लेगा और विवेकहीन आकर बैठ जायगा। बस, लग गया पता विवेक का।

भो ज्ञानी! विवेक की कोई सीमा नहीं है विवेक असीम है। अतः जो भी काम करो, विवेक से करो। यदि किसी से लड़ना भी हो, तो विवेक से लड़ना। क्योंकि जब मैं लड़ूँगा तो कर्म का बंध किसे होगा? ऐसा विवेक लगाना और जैसे ही आपने विवेक लगाया, वह चिति–शक्ति कह रही है कि कर्म का बंध तो स्वयं को होगा, अतः छोड़ो, अपन धीरे से निकल चलें। देखो, विवेक ने इतना काम किया कि लड़ाई टल गई। चिति–शक्ति कह रही है कि तुम जड़ नहीं हो, चैतन्य हो। अतः अपने ही धर्म को देखो तो विवाद नहीं हो पायेगा। अपना घर सिद्धालय है। इन बाहर के लोगों के बीच में पड़ कर अपना घर मत उजाड़ देना, ये स्वार्थी लोग हैं। अहो! भड़काने वाले लाखों होते हैं और विकारी भाव भी शाश्वत नहीं हैं। घर उजाड़ने के लिए वे एक मुहूर्त को आते हैं, पर अपना साम्य–भाव सदा रहता है। यदि साम्यभाव नहीं रहेगा तो तुम गृहस्थ की कोई भी क्रिया नहीं कर सकते। सामने वाला तो तुम्हारी कषाय को फैलायेगा, जबकि संत अपनी कषाय को दबा लेता है। इसी का नाम उपशम–भाव है। अतः बाहर की बातों में मत डूब जाना, कषाय को दबा लेना। यदि उपशम–भाव से बैठोगे तो सत्य नजर आयेगा, अन्यथा सत्य दिख ही नहीं सकता।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने कथन किया कि वाणी तुम्हारी बाण न बने, वीणा बने। क्योंकि वीणा की ध्वनि को सुनकर सर्प भी नाच उठता है। इसलिये बोलना ही है तो अच्छा बोलो। चिति–शक्ति कह रही है कि जिससे परजीवों को पीड़ा उत्पन्न हो, वह सब असत्य है। यदि आप सत्य भी बोल रहे हो और आपकी नारद वृत्ति है, तो जिस वाणी से दूसरे को क्लेश पहुँचे, समझ



लेना असत्य ही है। पता नहीं कितने जीवों के स्वभावों का तुम घात करा आये, अतः हिंसा भी है। एक जीव निर्मल भावों से शान्त बैठा था और आप जाकर उल्टी–सीधी बोलकर आ गये। यदि उसके परिणाम खराब हो गये, तो आपने उसके शुभ–भावों का घात कर दिया। इसीलिये, मनीषियो! ऐसी प्रयोगशाला मत खोलना जिससे सबके परिणाम कलुषित हो जायें। अहो! अन्दर की वीतरागता, अन्दर की सत्यता या असत्यता को आपकी आँखें बता देती हैं, क्योंकि व्यक्ति के अंदर का प्रतिबिम्ब दिखाने वाली आँखें हैं। तुम किसी व्यक्ति को जबरन पकड़कर भगवान् के पास बिठा देना, सिर पकड़ कर चरणों में टिका देना, परंतु उसकी आँखें कहेंगी कि हमारे अंदर श्रद्धा ही नहीं है। क्योंकि दृष्टि है तो दृष्टि है, दृष्टि नहीं तो दृष्टि नहीं। दृष्टि याने सम्यग्दर्शन, श्रद्धा और दृष्टि याने दर्शन। अंदर की दृष्टि है, तो दृष्टि के भाव बनते हैं और दृष्टि नहीं है तो फिर भाव भी नहीं बनते।





सत्य का विनाश नहीं होता

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः।।९३।।

अन्वयार्थ :– हि यत्र = निश्चयकर (जिन वचन में)। तैः परक्षेत्रकालभावैः = उन परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के। असत् अपि = अविद्यमान होने पर भी। वस्तुरूपं=वस्तु का स्वरूप। उद्भाव्यते = प्रकट किया जाता है। तत् द्वितीयं = वह दूसरा। अनृतम् स्यात् = असत्य होता है। यथा अस्मिन् = जैसे यहाँ पर। घट अस्ति = घड़ा है।

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः।।९४।।

अन्वयार्थ :– च यस्मिन् = और जिस वचन में। स्वरूपात् = अपने चतुष्टय से। सत् अपि = विद्यमान होने पर भी। वस्तु = पदार्थ। पररूपेण = अन्य के स्वरूप से। अभिधीयते = कहा जाता है। इदं = यह। तृतीयं अनृतम् = तीसरा असत्य। विज्ञेयं = जानना चाहिए। यथा = जैसे। गौः = बैल। अश्वः = घोड़ा है,। इति = ऐसा कहना।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! यहाँ आचार्य भगवान् ने सत्य की चर्चा की है, यदि दृष्टि मैं विपर्यास है अर्थात् सोच विपरीत होता है तो समीचीन कहनेवाले के प्रति भी असमीचीन विचार आते हैं, क्योंकि दृष्टि विकृत है। अतः सत्य को समझने के लिए बाहर के दर्पण की आवश्यकता नहीं है, सत्य को समझने के लिए परिणामों की निर्मलता के आदर्शों की आवश्यकता है। वास्तविकता को समझ लेने पर प्रत्येक पदार्थ में आपको सत्यता महसूस होगी। मनीषियो! सत्य में भ्रम होने पर आपको द्रव्य में असत्यपना महसूस होने लगता है। संसार में अनेक रोगों की औषधियाँ हैं, लेकिन भ्रम के रोग का निवारण करनेवाली एकमात्र औषधि जिनवाणी ही है। विश्व में सबसे बड़े भ्रम के रोग के पीछे जीव कलुषित परिणाम रखता है। उस कलुषित परिणति से शरीर में विकार उत्पन्न होते हैं, फिर तन में रोग हो जाता है। इसलिए सत्य–दृष्टि पवित्र है। पवित्रता की खोज अंतरंग में होती है। जिसका हृदय पवित्र है, उसकी वाणी में निर्मलता निकलेगी। जिसके हृदय में पवित्रता नहीं है, उसकी वाणी सत्य/समीचीन नहीं निकल सकती। ध्यान रखना, यदि हृदय की असत्यता से आप सत्य भी कहना चाहोगे तो वह वाणी तुम्हारी लड़खड़ा जाएगी, शब्द नहीं मिलेंगे वाणी में तुम अयथार्थ कहना चाहते हो तो वहाँ तुम लड़खड़ा जाओगे। अतः शुद्ध–दृष्टि अंतरंग की पवित्रता पर निर्भर है। अंतःकरण पवित्र है, तो आचरण भी पवित्र होगा।

मनीषियो! शब्द में पहले असत्य नहीं आता। पहले हृदय में असत्यता आती है। पाप पहले इन्द्रियों में नहीं आता, किंतु पहले मन में आता है। जब मन कहता है कि ऐसा कह दो, तो वचन को बोलना



पड़ता है। संसार के कानून तो शरीर और आँखों से दिखने पर पापी को दण्ड दे पाते हैं, परन्तु कर्म–सिद्धांत मन में आने से पहले ही दण्ड की प्रक्रिया को प्रारम्भ कर देता है। संसार में जब बोल पाओगे तब ही असत्यवादी कहलाओगे; लेकिन माँ जिनवाणी कहती है, बेटा! असत्य बोलने के परिणाम जबसे किये, तभी से तुम असत्यवादी हो चुके हो। इसीलिए आचार्य अमृतचंद स्वामी कह रहे हैं कि द्रव्य सत्य है। द्रव्य घर में है, अस्तिरूप है, फिर भी उसे नास्ति कह रहा है। मैं पुद्गल–रूप नहीं हूँ, मैं जड़रूप नहीं हूँ, पररूप नहीं हूँ , फिर भी तू पर को अपना मान रहा है, असत्य को भी सत्यरूप में स्वीकार रहा है। भो ज्ञानी! यदि जन्म व मृत्यु रूप प्रकृति का परिणमन सत्य है, तो हर्ष–विषाद किसके ऊपर? ज्ञानी दोनों में मध्यस्थ होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जानकर रो रहे हो या बनावटी रो रहे हो। दिखाने के लिए रो रहे हो, रोना भी परम्परा है,। रोएँगे नहीं, तो कोई क्या कहेगा।

भो ज्ञानी! सत्य का जीवन बहुत कम जी पाते हैं। १०० वर्ष की उम्र में दो वर्ष भी सत्य का जीवन जी पाते हों, तो भी ज्यादा है। इसीलिए सत्य का जीवन शुद्ध–उपयोग, यथाख्यात–संयम है और सत्य की प्राप्ति सिद्ध–पर्याय है। अतः दर्शन–शक्ति कह रही है कि अभी सत्य को देखने के भाव भी तुम्हारे नहीं हैं। अहो व्यापारियो! चैतन्य का व्यापार बहुत दूर है। ५० रुपए की साड़ी है, ग्राहक से कहते हो कि हम ७० की तो खरीद के लाये हैं इसीलिए आपको ८० में दे रहे हैं। अब नहीं मानते हो तो ७५ की ले जाओ। अहो! कितना झूठ बोले? क्या यह तुमको परमात्मा बनवा देगा? असत्य के पीछे पूरा जीवन नष्ट कर दिया। यदि असत्य का सहारा नहीं लिया होता तो आप सिद्धालय में विराजे होते। हर दृष्टियों में लगाना। हमारे लिए नौकरी दो घंटे की है, पांच मिनिट काट लिये। क्या हुआ? असत्य हो गया, चोरी भी हो गई। प्रवचन सुनने के लिए घर से गये थे और रास्ते में कोई व्यक्ति/मित्र मिल गया, चर्चा में लग गये। घर से क्या बोल कर आये थे? वहाँ जाकर क्या कहोगे? व्यर्थ का झूठ बोलता है। कहाँ जा रहे हो? बोले–कहीं नहीं जा रहे। जबकि जा रहे हैं। महाराज! व्यवहार है। इसीलिए व्यवहार को अभूतार्थ कहा ह। वह जगह–जगह झूठ बुलवाता रहता है। अरे भाई! मीठी–मीठी कहकर सीधी कह दो या मौन ले लो, क्योंकि सत्य का पालन मौन के बिना हो नहीं सकता।

मनीषियो! अस्ति को नास्ति कर दिया, नास्ति को अस्ति। जैसे किसी ने पूछा अमुक पदार्थ परन्तु कह दिया अन्य पदार्थ। यह दूसरा असत्य है। पंचमकाल में कोई ऋद्धियाँ नहीं होती, तीर्थकरों का जन्म नहीं होता, तीर्थंकर–प्रकृति का बंध भी नहीं होता, क्षायिक–सम्यक्त्व नहीं होता, मोक्ष भी नहीं होता और पंचमकाल में केवलज्ञान भी नहीं होता। अब अन्तरंग से पूछो कि जो परिणति तेरी नहीं है, जो अवस्था तेरी नहीं है, जो धर्म तेरा नहीं है, जो भूमिका तेरी नहीं है, उस भूमिका में तू जी रहा है। अतः जिनवाणी कह रही है कि तू निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। आचार्य शुभचंद्र स्वामी ने स्पष्ट लिख दिया–

धर्मनाशे क्रियाध्वंसेः सुसिद्धांतार्थ विप्लवे।
अप्रष्टेरपि वक्तव्यं, तत्स्वरूपप्रकाशने।। 15/सर्ग–9/ज्ञाना.।।

हे मुनि! आपको मौन रहना चाहिए। लेकिन जहाँ धर्म का नाश हो रहा हो और तुम मौन बैठे हो, तो क्या आप धर्मात्मा हो? तुम्हारे देखते–देखते व्यक्ति व्यसनों में जा रहा है और आप समझ रहे हो कि



यदि मैं समझा दूँगा तो यह मान लेगा। हित की बात कहने में यदि आपको बुरा भी बनना पड़े, तो भी कोई बात नहीं। पर उससे बोल ही देना बाद में क्षमा माँग लेना। जब धर्मात्मा ही नहीं बचेंगे, सभी पापों में लिप्त हो जायेंगे तो धर्म का नाश तो अपने आप होगा। इसीलिए प्रत्येक धर्मात्मा के परिणामों को संभालकर रखना तुम्हारा कर्तव्य है। ऐसा नहीं है कि उनकी वह जानें। ये धर्मात्मा–भाव नहीं हैं, स्वार्थ–भाव है। इसीलिए वहाँ आप जरूर बोलना, जहाँ आगम–विहित क्रियाओं का ध्वन्स किया जा रहा हो।

भो ज्ञानी! जिनशासन में सिद्धान्त शाश्वत है। जिनशासन तीर्थंकर–शासन नहीं होता है, जिनशासन शाश्वत संस्कृति है और अनादि है। संस्कृति का संचालन करने के लिये तीर्थंकर जन्म लेते हैं। यदि तीर्थंकरों से सिद्धांत बनाओगे तो सादि हो जायेगा। तीर्थंकर सादि–सान्त होते हैं और सिद्धांत अनादि–अनन्त होता है। भगवान् आदिनाथ स्वामी ने वही कहा है, जो पूर्व के तीर्थंकर कह चुके थे। भगवान् महावीर स्वामी ने वही कहा है, जिसे आदिनाथ/आदि–भगवान् कह चुके थे। यदि अलग से कहते तो कहलाता कि तीर्थंकर ने कहा है। तीर्थंकर भगवान् ने वही कहा है–जो है, और जो होता है। जो होता है, वह अनादि होता है। सत्य को दबाया जा सकता है, सत्य को ढाँका जा सकता है, सत्य को गौण किया जा सकता है और सत्य को पीटा जा सकता है, लेकिन सत्य को तुम नष्ट नहीं कर सकते। सत्य तो सूर्य होता है। कितने ही असत्य के बादल ढँक ले, लेकिन एक दिन के उन बादलों को हटना ही पड़ता है। हे मेघ! तुम कब तक ढँकोगे। पर ध्यान रखना एक बात को कि जो सत्य को ढँकता है, उसका चेहरा काला ही होता है। मेघ जब सूर्य को ढँक लेते हैं तो स्वयं काले होते हैं। कोई अपराध करके आता है तब उसका चेहरा देखना। जो सत्य–हृदय होता है, तो उसका काला चेहरा भी खिला होता है। असत्य की सफेदी मुरझाई होती है। अतः सत्य सिद्धांत का प्रकाश करने के लिए बिना पूछे भी आपको बोलना चाहिए, ऐसा 'ज्ञानार्णव' में आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने लिखा है। सम्यक्दृष्टि जीव अपने चिंतन को आगम नहीं बनाता, सम्यक्दृष्टि जीव आगम के अनुसार अपना चिन्तवन बनाता है। ध्यान रखना, चिन्तवन को आगम के अनुसार बनाकर चलना और अपने चिन्तवन से आगम को तो उठाना, पर अपने चिन्तवन को उठाने के लिए आगम की बलि मत चढ़ा देना। आजकल यह हो रहा है कि अपनी बात पुष्ट करने के लिए कहीं की गाथा छाँट ली और कि दिया–देखो, आगम तो ऐसा है। कहीं की भी एक गाथा उठाओगे तो आप भी वह सिद्ध करके बता सकते हो। लेकिन यह ध्यान रखो कि सूत्र सोपस्कार होते हैं यानि कि पूर्व के विषय को लेकर चलता है। अब देखना, मोक्षशास्त्र (तत्वार्थसूत्र) में 'नाणो' सूत्र क्या कह रहा है? इसको संस्कृत व्याकरण से देखो कि इसका अर्थ क्या निकलता है? आप तो एक अर्थ निकालोगे–नः+अणु अर्थात् अणु नहीं होता है, तो आपने पूरा सिद्धांत समाप्त कर दिया। जबकि अर्थ क्या निकलता था? कि इस सूत्र के पहले का सूत्र क्या कह रहा, उसको देखिए। 'नाणो' सूत्र कह रहा है कि अणु बहुप्रदेशी नहीं होता, परंतु आपने अर्थ निकाला कि अणु ही नहीं होता है। इसी प्रकार 'न देवो' जिसको देवों से ईर्ष्या हो, सो यह सूत्र निकालकर रख दिया कि 'तत्वार्थ सूत्र' प्रमाण है। प्रमाण तो दे रहे हो, पर विवेक तो लगाओ। देव नहीं होते हैं क्या? अहो! अस्ति को नास्ति कर रहे हो। जबकि 'न देवो' का अर्थ है कि देव नपुंसक नहीं होते। 'देव' नियम से स्त्री या पुरुषवेदी ही होते हैं। इसलिए ध्यान रखना, जब तक सूत्र को दस बार आगे पीछे नहीं देख लोगे, तब तक आप सूत्र–ज्ञाता नहीं बन सकते। अहो! विद्वानों को पहले अन्य विद्वान् संस्कार देते थे। आपने देखा होगा कि एक गाड़ी–चालक भी बगल



में बैठकर दूसरों को सिखाता है। इसी प्रकार आचार्य भी अपने शिष्य को सीधा आचार्य नहीं बनाते, पहले बिना किसी विधि के बगल में बिठाते हैं, फिर कहते हैं कि देखो, हम कैसे संघ का संचालन कर रहे हैं,? कैसे प्रायश्चित देते हैं? कैसे समझाते हैं? इसके उपरांत ही बालाचार्य बनायेंगे। जब देख लेंगे कि यह ठीक–ठाक है, तो फिर उनको आचार्य बना देंगे। यदि बिना अभ्यास के और बिना सामर्थ्य के कोई डाक्टर बन जाये, तो वह क्या करेगा? कितनों को असमय में विदा कराएगा? आचार्य वैद्य हैं, जो संसार में जन्म, जरा, मृत्यु से पीड़ित रोगियों को रत्नत्रय–धर्म की औषधि देनेवाले हैं। अतः, यदि आपके अंदर योग्यता नहीं है, तो प्रार्थना कर लेना, प्रभु! सामर्थ्य नहीं है।

भो ज्ञानी! कटनी के पास तेवरी गांव में सुधर्मचंद जी नाम के अच्छे ज्ञानी व्यक्ति हैं। कुशल वक्ता हैं। वहाँ पंचकल्याणक हुआ, तो उन्होंने बाहर से विद्वान् बुलाया। मैंने पंडित जी से एकांत में पूछा–पंडितजी! आप इतने बुजुर्ग हो, और इन लोगों से अच्छा बोल लेते हो, आप ही प्रतिष्ठा कर लेते तो क्या दिक्कत थी? बोले–महाराज जी! वक्तृत्व कला भिन्न है। मैंने गुरुओं की कृपा और जिनवाणी के सतत् अध्ययन से वक्तृत्व कला को प्राप्त कर लिया, पर मैंने प्रतिष्ठा–ग्रंथ में पढ़ा था कि यदि विधिपूर्वक प्रतिष्ठा नहीं करवा पाये तो प्रतिष्ठाचार्य नरक जाता है। महाराज! जिस दिन से हमने पढ़ लिया तो हमें योग्यता महसूस नहीं हुई। मैं प्रतिष्ठाचार्य के साथ रह सकता हूँ, लेकिन मुख्य–प्रतिष्ठाचार्य नहीं बनूँगा। पंडितजी की लघुता देखकर मेरा हृदय खिल गया। देखो, यदि वह चाहते तो प्रतिष्ठा करा सकते थे। अतः, जिस विषय में अपनी सामर्थ्य नहीं है, उसका अभ्यास तो करते रहना चाहिए, लेकिन उसके विशेषज्ञ नहीं बनना चाहिए। एक वैद्य ऊँट का उपचार करने पहुँचे। वह दो दिन से घास नहीं खा रहा था। वैद्य बहुत समझदार था। उसने शरीर को देखा और जब गले पर हाथ फेरा, तो उसने पूछा–भैया! ये बताओ इसे तीन दिन पहले कहाँ चराने ले गये थे? बोले–कछवारी में तरबूज थे, उधर चर रहा था। बस, वैद्य समझ गया। उसने कहा–ठीक है, आप इसको छोड़ दो और एक मुगरिया लाओ। वैद्य ने ऊँट को लिटा दिया। उसके गले के नीचे जहाँ वह फूला था, वैद्यजी ने मुगरिया मार दी। तरबूज जो अड़ गया था तो फूट गया। ऊँट झट मुँह चलाकर खड़ा हो गया। कम्पोंडर–साहब ने सोचा कि इनकी नौकरी करते–करते जीवन चला जा रहा है। डाक्टरी कुछ नहीं है, मुगरिया मारो, पैसा कमाओ। अतः कम्पोंडरी छोड़ दी, वैद्यखाना खोल दिया। भाग्य से एक बुढ़िया माँ के गले में पीड़ा थी, सूजन आ गई। उनने कहा–ठीक है, चलो पहले मुगरिया लाओ और एक काठ लाओ। बेचारी बुढ़िया को मार दिया। भो ज्ञानी आत्माओ! देखा–देखी और पुस्तकों से वैद्य बन गये होते तो वैद्यों की और अध्यापकों की, मेडीकल कॉलेजों की कोई आवश्यकता नहीं थी। ऐसे ही ग्रंथों से ज्ञान हो जाता तो निर्ग्रंथों की कोई आवश्यकता नहीं थी। मनीषियो! ध्यान रखो, गुरु–चरणों के सान्निध्य में जाये बिना सम्यक्ज्ञान हासिल नहीं होता। जब तक आप गुरु नहीं चुनोगे, तब तक स्वयं भटकोगे और दूसरों को भटकाओगे। नास्ति को अस्ति में लगाओगे और अस्ति को नास्ति में। जब तक आलाप–पद्धति, बोलने की शैली का ज्ञान नहीं होगा, तब तक आप नय–चक्र को समझ नहीं पाओगे और नय–चक्र के अभाव में सत्य निर्णय नहीं कर पाओगे। बैल को घोड़ा कह देना भी झूठा है। बैल को घोड़ा कहने पर घोड़ा तो घोड़ा ही रहेगा और बैल भी बैल ही रहेगा।

मनीषियों! हम असत्य का उपयोग कर समझते यही हैं कि हम सत्य बोल रहे हैं। इसीलिए अपने जीवन में परमसत्ता को प्राप्त करना हो तो परमसत्य को प्राप्त कर लेना।



मत करो चुगली किसी की

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु।। ९५।।

अन्वयार्थ : तु इदम् तुरीयं अनृतं = और यह चौथा असत्य। सामान्येन गर्हितम् = सामान्य रूप से गर्हित। अवद्यसंयुतम् अपि = सावद्य अर्थात् पाप सहित और। अप्रियम्= अप्रिय। त्रेधा मतम् = तीन प्रकार माना गया है। यत्, वचनरूपं भवति = जो कि वचनरूप होता है।

पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्।।९६।।

अन्वयार्थ : पैशुन्यहासगर्भं = दुष्टता अथवा चुगली रूप हास्य युक्त। कर्कशम् असमञ्जसं = कठोर मिथ्याश्रद्धानपूर्ण। च प्रलपितं = और प्रलाप रूप (बकवाद)। अन्यदपि यत् = और भी जो। उत्सूत्रं =शास्त्र–विरुद्ध वचन है। तत्सर्वं गर्हितं = उस सबको गर्हित अर्थात् निंद्य वचन। गदितम् =कहा है।

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्त्तन्ते।। ९७।।

अन्वयार्थ : यत् = जो छेदनभेदनमारणकर्षण वाणिज्य = छेदने, भेदने, मारने, शोषण अथवा व्यापार, चौर्यवचनादि = चोरी आदि के वचन हैं। तत् सावद्यं = वे सब पापयुक्त (वचन हैं)। यस्मात् = क्योंकि ये। प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते = प्राणीहिंसा (आदि पापरूप) प्रवृत्त करते हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! लोक में शाश्वत रहनेवाला कोई द्रव्य है तो सत्य है। पर जिसे नष्ट होना है, जिसको भस्म होना है, उसके पीछे हम सत्य को खो रहे हैं। अरे! जिस देह का विनाश होना है, उसके संरक्षण में इतने तन्मय हो कि परमात्मा को भूल रहे हो। भूल तो भगवान् ने भी की थी, पर तब भगवान् नहीं थे। परंतु जिसने भूल को सुधार लिया, वह भगवान् बन गया। इसलिए जितने भगवान् बने हैं, सब भूल को सुधारकर ही बने है। रहस्य को समझना, शुभाशुभ अनादि की भूल नहीं सुधरी होती तो उन्हें भी मुक्ति नहीं मिलती। जिसका चिन्तवन निर्मल नहीं है, ज्ञान निर्मल नहीं है उसकी कोई भी क्रिया साकार हो ही नहीं सकती।

भो ज्ञानी! पदार्थों से ज्ञान की प्रामाणिकता नहीं की जाती है, क्योंकि पदार्थ आज पीला दिख रहा है, कल नीला दिखेगा; तो फिर ज्ञान कैसा होगा? जिनवाणी कहती है कि सम्यक्ज्ञान प्रमाण है और सम्यक्ज्ञान से जैसा पदार्थ है वैसा ही पदार्थ को जानना, पदार्थ का परिणमन जैसा हुआ वैसा पदार्थ समझना, यह ज्ञान की प्रामाणिकता पदार्थ को प्रमाणिक कह रही है। जिसका ज्ञान प्रमाणित



नहीं होता है, वह पदार्थ को सत्य नहीं कह सकता। इसीलिए ज्ञान से प्रत्याख्यान किया जाता है, परन्तु ज्ञान–प्रत्याख्यान का तात्पर्य ज्ञान का त्याग नहीं कर देना। जब भी प्रत्याख्यान होगा, ज्ञान से ही होगा, परंतु मिथ्या–ज्ञान अथवा विपरीत–ज्ञान त्यागने योग्य ही होता है। अहो! प्रभु से प्रार्थना कर लेना, भगवान्! मैं अज्ञानी बन जाऊँ। जब तक अज्ञानी नहीं बनोगे, तब तक ज्ञानी भी नहीं बनोगे। इसीलिए सम्यक्ज्ञान प्रत्याख्यान नहीं है, ज्ञान प्रत्याख्यान है, जो हमने वेशों का ज्ञान, कषायों का ज्ञान कर रखा है, उन सम्पूर्ण ज्ञानों से, भगवन! मैं अज्ञानी हो जाऊँ। मुझे ऐसा ज्ञान नहीं चाहिए जो अहम् को जन्म दे। वे अज्ञानी श्रेष्ठ हैं, जो परमेश्वर के चरणों में झुके होते हैं तथा अन्दर भक्ति भी भरी होती है। वह ज्ञान किस काम का, जो भक्ति से रिक्त कर देता है। इसीलिए अज्ञानी बनना, पर अज्ञान–मिथ्यात्व में नहीं चले जाना। पाँचों मिथ्यात्व में एक अज्ञान नाम का मिथ्यात्व होता है।

भो ज्ञानी! सम्यक्दृष्टिजीव अपनी चेतना से काम करता है। ज्ञानवैराग्य शक्ति सम्यक्दृष्टिजीव के नियम से होती है। वह एक कदम भी चलता है तो ज्ञान से चलता है, एक कदम भी रखता है तो वैराग्य से रखता है। हेय को जान लेना ज्ञान है और हेय को छोड़ देना, वैराग्य है। वैराग्य ही चारित्र का जनक होता है। वैराग्यशून्य ज्ञान व चारित्र खोखला होता है।

अहो संयमी! वैराग्य की डोर तेरे साथ है, तो चारित्र की वह पतंग सिद्धालय की ओर है और यदि मन्जा टूट गया अर्थात् डोर टूट गई और पतंग उड़ाने वाले गुरु के हाथ से डोर छूट गई तो वह पतंग गड्ढे में गिर जायेगी। मनीषियो! यह दशा चारित्र, वैराग्य एवं शिष्य के बीच की है। माणिक्यनन्दि स्वामी महान न्याय–ग्रंथ "परीक्षामुखसूत्र" में लिख रहे हैं कि – **हिताहितप्राप्ति– परिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।।2।।** जिससे हित की प्राप्ति हो, अहित का परिहार हो, वही प्रमाण है, वही सम्यक्ज्ञान है। यही तो न्याय है। 'भगवती आराधना' में आचार्य शिवकोटी महाराज ने लिखा है, अहो चेतन! हाथ में दीपक इसलिए है कि गड्ढे में न गिरूँ, किसी सर्प पर पैर न पड़े, मल पर पैर न पड़े। दीपक लेकर मल पर फिसल गये तो दीपक ने तेरे लिए क्या किया? अहो चैतन्य आत्माओ! यह ज्ञान दीप इसलिये है कि भोगों के मल पर न गिर जाऊँ, कषाय के गड्ढे पर न गिरूँ और वासनाओं के सर्प से न डस जाऊँ। यदि तीनों काम हो रहे है तो ज्ञानदीप नहीं है। अहो! अन्धे को दिखाने के लिए दीप नहीं होता, बहरों को सुनाने के लिए गीत नहीं होता। भो चेतन आत्माओ! ध्यान रखो, मूर्खों के लिए शास्त्र नहीं होते।

भो ज्ञानी! नीतिकार लिख रहे हैं कि बढ़िया पकवान का थाल लगाकर लाओ और सूअर के सामने रख दो, किन्तु उसको तो नाली में ही जाना है। उसी प्रकार अज्ञानी को शास्त्रों के प्रसंग सुनाओगे, तो वही होगा। वे स्वयं सूखे में नहीं बैठ पाते हैं और दूसरे को भी सूखे में नहीं बैठने देते। जैसे भैंसा तालाब में पहले अच्छे से मचा लेता है और उसी में लघुशंका कर लेता है, फिर पीता है। अहो! यही अज्ञानी की दशा है।

भो चेतन! विश्व में अगर सगा सखा कोई है तो सम्यक्ज्ञान ही है। मित्रता ज्ञान से ही होती है और बाहर के मित्र भी ज्ञान से ही मिलते हैं। मित्र से मित्रता बनाकर रखना भी ज्ञान का ही काम है। गुरु भी मिलते हैं तो ज्ञान से मिलते हैं और गुरु को बनाकर रखना यह भी सम्यक्ज्ञान का ही काम है। विपरीतता झलकने लग जाये तो गुरु में गुरु नजर नहीं आते, प्रभु में प्रभु नजर नहीं आते।



अतः विवेक सर्वत्र आवश्यक है और जहाँ विवेकशून्यता आ गई, ध्यान रखो, वहीं आप नीचे गिर जाओगे। इसीलिए अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं– सत्य को समझो। पर्याय सत्य नहीं है, ज्ञान सत्य है, दर्शन सत्य है। पर्याय त्रैकालिक साथ नहीं जाती, पर्याय क्रमवर्ती है, छूटने वाली है। जब तक उबाल नहीं आ जाता है, तब तक हँडिया पर पारा रखा है और उबाल आया कि वह भाग जाता है। जब तक यमराज नहीं आया तब तक पर्याय कहती है हम आपके तथा आप मेरे,! जैसे ही आयु–कर्म आया वह भाग जाती है। लेकिन गुण त्रैकालिक होते हैं। ऐसे ही ज्ञानदर्शन शक्ति कहती है कि चाहे निगोद चलना, चाहे नरक चलना, हम तुम्हारे साथ होंगे, क्योंकि गुण त्रैकालिक– सत्तावाला है जो कभी छूटता नहीं है, पर्याय नियम से छूटेगी। हे भूपतियो! आपने अपने–आपको पति जरूर कहा है कि मैं भू–पति हूँ , पर उस कन्या से तो पूछ लो, उसने आपको पति चुना कि नहीं चुना? वह तो अभी तक कुँवारी है। पति–पति कह कर पतन को प्राप्त हो गये, लेकिन वह भूमि जैसी है, वैसी है। तुम क्यों अहंकार में डूबे हो कि मैं भू–पति हूँ। शीतलनाथ स्वामी को तो आप देख ही रहे हैं, जब वे ही यहाँ नहीं बचे तो तुम क्या हो? आचार्य समन्तभद्रस्वामी–जैसे संत इस विदिशा नगरी में आ चुके। उनके चरणों से पवित्र हुई है यह नगरी विदिशा। यहाँ से बनारस में जाकर समन्तभद्र स्वामी ने कहा था कि मैं भेलसा से होकर आया हूँ। काँचीपुरम में मैंने शास्त्रार्थ किया है। कर्नाटक से, तामिलनाडू से आये थे और विदिशा से निकले थे, और बनारस में जाकर शास्त्रार्थ किया था। यह वही भेलसा है जहाँ अनेक सम्राट होकर चले गये, परन्तु पता ही नहीं है। तुम अंहकार की धरा पर धरे रह गये। ध्यान रखो, माटी के पुतलो, माटी में मिल जाओगे। यह धरा तुम्हारे साथ नहीं जायेगी। इसीलिए आचार्य भगवान् ने कहा कि जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना। पुरुषार्थ सिद्धि सुन रहे हो, आज यह कारिका अच्छी तरह से समझकर जाना। क्योंकि दुनिया को सुनने में कल्याण नहीं है, कल्याण तो जिनवाणी के सुनने में है।

मनीषियो! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि सत्य को समझने के लिए शान्त होना पड़ेगा। अतः सत्य को वही समझ सकता है जो तटस्थ होता है। मध्यस्थ व्यक्ति ही सत्य को समझ पाता है। जो जीव किसी धारा में बहता है, लहरों में बहता है, वह कभी भी सत्य को नहीं समझ सकता। विपरीत कारण से विपरीत कार्य करेगा, तो, मनीषिया! यह कारण कार्य विपर्यास है। आप लोगों के हाथ में पेन है। यदि कोई व्यक्ति पेन से कान खुजला रहा है, तो वह जिनवाणी के उपकरण का अनादर कर रहा है। यह कारण–कार्य विपर्यास है। इसीलिए भगवान् कह रहे हैं कि पहले विपरीतता को समझ लो, फिर सभी बातें समझ में आयेंगी। अहो! सामनेवाले को दोष देने के पहले अपनी समझ का दोष देख लेना। मनीषियो! विश्व में कोई दोषी है ही नहीं, हम किसको समझायें? सब के अपने अपने कर्म हैं। इसलिए गर्हित वचन बोलना, सावद्य (हिंसा सहित) वचन बोलना, अप्रिय वचन बोलना, यह तीन प्रकार का असत्य है। मनीषियो! आपने पहला असत्य अस्ति को नास्ति कहना समझा, दूसरा असत्य है नास्ति को अस्ति कहना, तीसरा असत्य है गर्हित वचन बोलना, याने हिंसाजन्य वचन बोलना और अप्रिय वचन बोलना। तीसरा असत्य जो गर्हित है उसको सुनो। देखो भइया! मैं सत्य कह रहा हूँ, वह भैया आपके बारे में ऐसा बोल रहे थे। अरे भैया! तुमने असत्य तो पहिले ही बोल लिया, चुगली करना ही असत्य है।



आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि पैशुन्य कर्म, याने चुगली करना असत्य है। भो ज्ञानी! अशुभ भाव होते हैं तो अशुभ बंध होता है। क्यों ऐसे काम करते हो, दूसरें के घर का भांड फोड़ आते हो। कभी ऐसा काम नहीं करना। आजकल तो फोन घुमा दिया, मालूम चला कि यहाँ कुछ था ही नहीं, फोन पर बड़े बड़े युद्ध हो चुके। झूठे लेख लिख दिये, इससे अशुभ आयु का बंध होगा, दुर्गति में जाना होगा। हँसी नहीं करना, हँसी का परिणाम देख लो, महाभारत हो गया था। हास्य भी असत्य है। मनीषियो! अहंकारयुक्त भाषण गर्वीली भाषा का उपयोग, यह भी असत्य है। कर्कश, ओहो! कांटे चुभाओ तो इतनी पीड़ा नहीं होती, कुछ लोगों के ऐसे शब्द होते है कि कांटे से ज्यादा कसते हैं तथा पत्थरों–जैसे कर्कश लगते हैं। कुछ लोगों की ऐसी भाषा होती है मानो यह वचनों के बाण छोड़ रहे हैं। वह मिथ्या पूर्ण, संशय में डालने वाली भाषा है। अरे! सुनो– सुनो, ऐसा हो गया और धीरे से भाग गये, पूरी बात ही नहीं बता रहे; पूरी बता देंगे तो रहस्य खुल जायेगा। सोचते रहो। ऐसे बहुत सारे लोग होते हैं कि आधी बताई और आधी छुपा गये। ध्यान रखो, इससे हिंसा का दोष लगेगा, क्योंकि दूसरे को संक्लेषता में डाल गये। इसीलिए स्पष्ट, मृदु , यथार्थ बोलो, समय देख कर बोलो, सत्य ऐसा बोला कि युद्ध हो गया। वहाँ ऐसा सत्य नहीं बोलना। विवेक पूर्वक बोलो। आगम के विपरीत कथन करना उत्सूत्र कहलाता है। यह भी असत्य है। कोई व्रत लेने जा रहा था और उसे ले गये होटल में, ऐसे उन्मार्ग में लगा देना यह भी असत्य है। यह सारे के सारे वचन गर्हित हैं यानि निन्दनीय हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना। घर में क्लेश क्यों होता है? वाणी के पीछे। वाणी–संयम आ जाये तो प्राणी–संयम अपने आप पलने लग जाये। अहो द्रोपदी! आपकी जीभ नहीं हिलती तो तलवारें नहीं हिलतीं। "अंधे की औलाद अंधी होती है" इतना ही तो कहा था। इसलिए ऐसे शब्द उपयोग नहीं करना। अरे! इसको छेद दो, इसको भेद दो, तू मर जा, सुनो यह सावद्य–हिंसा के वचन हैं। तुम यहाँ से पशु खरीदना और वहाँ जाकर बेच देना, ऐसे हिंसा के व्यापार आदि का उपदेश करना, वह भी असत्य है और हिंसा है। आरंभ की सलाह दूसरों को क्यों दे रहे हो, सलाह दो तो ऐसी दो कि, भइया! तुम साधु बन जाना और साधना करना। इसीलिए ध्यान रखो, संयम की बात तो करना, पर असंयम की बात कभी नहीं करना। भो ज्ञानी आत्माओ! विवेक से सोचो, चोरी न करो, झूठ न बोलो सब सावद्य वचन हैं जिससे प्राणी का वध हो। यह सब असत्य है, झूठ है। मनीषियो! अपने जीवन में इनसे दूर रहना।



प्रिय-वचनों में क्या दरिद्रता

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्।। ९८।।

अन्वयार्थ : यत् परस्य = जो (वचन) दूसरे (जीवों) को। अरतिकरं = अप्रीति करनेवाला। भीतिकरं खेदकरं = भयकारक खेदकारक। वैरशोककलहकरम् = वैर, शोक तथा कलहकारक हो। अपरमपि = अन्य जो भी। तापकरं = आतापों को करनेवाला हो। तत् सर्व अप्रियं = वह सर्व ही अप्रिय। ज्ञेयम् = जानना चाहिए।

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति।। ९९।।

अन्वयार्थ : यत् अस्मिन् = चूँकि इन। सर्वस्मिन्पि = सभी वचनों में। प्रमत्तयोगैकहेतु कथनं= प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहने में आया है। तस्मात् अनृतवचने = इसलिए असत्य वचन में। अपि हिंसा नियतं = भी हिंसा निश्चित रूप से। समवतरति = आती है।

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम्।। १००।।

अन्वयार्थ : सकलवितथवचनानाम् = समस्त झूठे वचनों का। प्रमत्तयोगे = प्रमाद सहित योग। हेतौ = हेतु। निर्दिष्टे सति = निर्दिष्ट करने में आया होने से। हेयानुष्ठानादेः = हेय-उपादेय आदि अनुष्ठानों का। अनुवदनं असत्यं न भवति = कहना झूठ नहीं है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! भगवान तीर्थेश की पावन पीयूष वाणी जन-जन की कल्याणी है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने सूत्र दिया कि सत्य को सत्य समझो। सत्य जो अवक्तव्य है और अपने आप में अनुपम है।

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामिसमयपाहुडमिणमो, सुदकेवली भणिदं।। १।।

आचार्य 'कुंदकुंद देव' ने 'समय पाहुड' ग्रंथ के मंगलाचरण में ही कह दिया है कि जो सिद्ध परमेश्वर सत्ता है, वह अनुपम है। सत्य को समझने के लिए वाणी की आवश्यकता नहीं होती। सत्य मौन होता है। मनीषियो! यह दृष्टि समझना। जब धर्म का स्वरूप दिखता है, तब धर्मात्मा दिखते हैं, वहीं सुख दिखता हैं, परन्तु आनंद नहीं। आनंद कहना है तो फिर परमानंद कहना, खुशी नहीं कहना। खुशियाँ चेहरे की होती हैं, खुशियाँ पुद्गल पर झलकती हैं। सुख तो सुख होता है। सुख में गीलापन



नहीं होता, क्योंकि गीलेपन से फिसलन होती है, जीव फिसल जाते हैं। सुख निर्बन्ध--दशा है और खुशियाँ बंध--दशा है। खुशियों के लिए दूसरों की खुशियाँ भी देखनी पड़ती हैं। खुशी के लिए स्वयं के सुख को भी खोना पड़ता है। सुख अंदर की दशा है। खुशी परावलंबी है, जबकि सुख स्वावलंबी है। मनीषियो! सुख चित्‌रूप होता, सुख आत्मा की सैंतालीस शक्तियों में जीवत्व--शक्ति, चिद्‌--शक्ति, दर्शनशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा पाँचवी शक्ति का नाम है सुख--शक्ति। सुख आत्मा का धर्म है। अज्ञानी सुख को खोज रहा है पुद्‌गलों में। अहो! दुःख में सुख खोजना इससे बड़ी अल्पज्ञता क्या हो सकती है?

भो ज्ञानी आत्माओ! तीनलोक में अनंत जीव हैं। सभी सुख चाहते हैं तथा दुःखों से भयभीत हैं, परंतु सुख समझते नहीं; दुःख को ही सुख मान लिया है। भोगों को सुख मान लिया है। बंध को कराने वाला, विछिन्न होने वाला, ऐसा इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाला सुख तो दुःख ही है। सुख उसे कहते हैं जिसके भोगने से पश्चात्ताप नहीं होता है, संताप नहीं होता है। सुख उसे कहते हैं जो सबके सामने भोगा जाता हो। वह कैसा सुख जिसके पीछे काली रात्रि याद आ जाती है, जलते दीपों को बुझाया जाता हो? अहो ज्ञानी! उस इन्द्रिय--सुख के लिए तू क्या कर रहा है? तूने अपने पुण्य का एक दीप बुझा दिया, जैसे कि आप जन्मदिन की मोमबत्तियाँ बुझाते हो। कितना बड़ा अविवेक का काम चल रहा है? अपने हाथ से अपनी आयु को नष्ट होते देख मिठाइयाँ बाँट रहा है। खुशियाँ मना रहा है। अरे! उस दिन तो रोना चाहिए फूट--फूटकर कि, ओहो! मेरा एक वर्ष चला गया। भो ज्ञानी! सिद्धांत तो कहेगा कि यह मरणदिन है, क्योंकि एक वर्ष मर चुका है।

भो ज्ञानी! जीवन को जी लेना कोई बड़ी बात नहीं। जीवन को संभलकर जीना, यह ज्ञानियों की समझ होती है। जीवन तो तिर्यंच भी जीते हैं, नारकी भी जीते हैं, परन्तु जो जीवन की कीमत समझकर जी रहा है, उसका नाम ही जीवन है। अतः जब तक उतरोगे नहीं, तब तक तरोगे कैसे?

मनीषियो! वसन उतर जायेंगे, वासनायें उतर जायेंगी, तो फिर तुम भी अंदर में उतर जाओगे। जब अंदर में उतर जाओगे, तो संसार से तिर जाओगे। देखो! यह श्रमण--संस्कृति प्रकृति की संस्कृति है। सत्य में कोई धोखा नहीं होता है। क्योंकि वस्त्रों में विश्वास को दिखाया नहीं जा सकता है; अविश्वास को छुपाया जाता है। भो ज्ञानी! स्वयं की बात बताओ। पर से छिपाते--छिपाते स्वयं से छिपा रहे हो, स्वयं को ही छिपा रहे हो। अहो! यह अध्यात्म विद्या है। इसीलिए सत्य नग्न ही होता है; निर्दोष होता है, शाश्वत होता है। वही 'सुख शक्ति' है। ध्यान रखो, नाटक में दर्शकों को राम दिखा सकते हो, पर स्वयं में तुम राम नहीं हो सकते। यहाँ सब लीलाओं के राम बैठे हैं, लीलाओं के नाटक चल रहे हैं। सत्य राम तो तेरा आतम--राम है। उसे जान नहीं पा रहे हो कि कौन है आतमराम? इसीलिए राग कर रहे हो, असत्य से द्वेष कर रहे हो। अहो! आप को हँसी आ रही है। किसकी हँसी उड़ा रहे हो? भो ज्ञानी! जब तक धन और धरती में राग--परिणति है, तब तक निराकुलता कहना सफेद--असत्य है। पंडित आशाधर जी ने 'सागार धर्मामृत' में लिखा है--श्रावक यानि गृहस्थ। जो चार संज्ञाओं से और परिग्रह से दूषित हो, उसी का नाम गृहस्थ है। जब तक गृहस्थ है, तब तक वह छूट नहीं सकता। इसीलिए पंडित दौलतरामजी ने कह दिया "आकुलता शिवमाँहीं", (शिवालय में) नहीं है, सिद्धशिला पर नहीं हैं। स्वरूप में नहीं है आकुलता। इसीलिए शिवमार्ग पर चलना चाहिए।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि आप सत्य को समझते जाओ, लेकिन



असत्य की भाषा को मत बोलना, असत्य के भाव नहीं बनाना। भावप्राणों का वियोग हो जाये, संक्लेषता की वृद्धि हो जाये और शुभ परिणामों का विघात हो जाये, ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना। आप बनिया हो। कैसे–कैसे तौल–तौलके देते हो, कांटे पर रख–रखकर देते हो, वैसे ही वाणी को तौला करो। वाणी नहीं तौलते इसी का परिणाम है कि शांति भंग हो जाती है। अरति को उत्पन्न करने वाला सत्य नहीं बोलना। जिससे परस्पर का प्रेम समाप्त हो, उसका नाम अरति–भाव है। रति यानि अनुराग, और अरति यानि द्वेष। द्वेष को उत्पन्न करने वाले शब्दों को बोलना, अप्रीति को बढ़ाने वाले शब्दों को बोलना, यह भी असत्य है। अरे! दूसरे को डरा देना, धमकी दे देना, मैंने कहा है वह होना चाहिए, आपने इधर से उधर कुछ किया तो समझ लेना। अहो! हमने आपको तो समझ लिया कि आप नहीं बोल रहे हो, यह आपकी कषाय बोल रही है, आपका अहम् बोल रहा हैं, आपका मिथ्यात्व बोल रहा है, अश्रद्धान बोल रहा है। आपके भयभीत करने से उसको इतनी घुटन पैदा हुई कि वह मूर्च्छा खाकर गिर पड़ा और मर भी गया। बोले–मैंने तो कुछ नहीं किया। अरे! तुमने सबकुछ तो कर डाला, अब बचा ही क्या ? ऐसा भय होता है कि लोग बीमार हो जाते हैं। बच्चा रो रहा है तो चुप कराने के चक्कर में कह दिया–वह 'हऊआ' आ गया। तुमने उसका जीवन बर्बाद कर दिया, 'हऊआ' कहकर हऊआ ही बना दिया। अरे भाई! उसको समझाओ। आचार्य कुन्दकुन्ददेव की माता भी तो अपने बच्चे को खिलाती थीं, कहती थीं– "शुद्धोऽसी बुद्धोऽसी", आप बेटे को 'तत्वार्थसूत्र' पढ़ाना, 'भक्तामर' सिखा देना, अच्छी बातें सिखा देना। इसीलिए ध्यान रखना, भयभीत नहीं करना, उसको पुचकारना, समझाना; लेकिन डराना मत। डराने के संस्कार डाल दोगे तो चिंता मत करो जब वह जवान होगा और आप वृद्ध होंगे तब वह धमकायेगा। इसीलिए दोष उनका नहीं, आपका है।

भो ज्ञानी! तुम्हारे द्वारे पर कोई भिखारी आया हो, प्रेम से बोल दो। आपके वचनों में कौन–सी दरिद्रता है? प्रियवचन सुनने से सभी जीव संतुष्ट हो जाते हैं। प्रसन्नता का माहौल था और खड़े हो गये, भाषण ऐसे कर दिये कि सभी की भावनाएँ खिन्न हो गयीं। अरे! खिन्न करने के, बैर को बढ़ाने वाले, शोक को उत्पन्न करने वाले शब्द नहीं बोलना। शांति की गंगा बह रही थी, आपने पत्थर पटक दिया, कीचड़ कर दिया, कलह कर दिया। कई लोगों को कलह करने में बड़ा आनंद आता है। लेकिन ध्यान रखो, हिंसा का दोष लगेगा। असत्य तो है ही, पर हिंसा भी है। जैनशासन वास्तव में सुखमय जीवन जीने की कला बताता है यानि परिणामों से भी सुखी रहो, शरीर से भी सुखी रहो। कलह करोगे तो भोजन नहीं पचेगा। आयुर्वेद में लिखा है कि गैस बनेगी, पेट के रोग होंगे और फिर पूरे शरीर में रोग हो जायेंगे। ऐसा शब्द बोल देना कि 'हम जानते हैं तुम्हारे चरित्र को', और चले गये कहकर, फिर दिखे भी नहीं और बाद में पूछ रहे हो कि क्या हो गया? यानि किसी की बुद्धि को क्षीण करना हो तो क्लेश में डाल दो, उसका ज्ञान–ध्यान सब नष्ट। इसीलिए करुणा करना उन जीवों पर, क्लेश करके बुद्धि को नष्ट नहीं करना। ये सभी वचन अप्रिय हैं, सभी में प्रमाद का योग है, इसलिए झूठ वचनों में नियम से हिंसा होती है। अतः जो झूठ बोलता है, वो हिंसक ही है। आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि जहाँ प्रमाद है, वहाँ असत्य है। असत्य को छोड़ो, जीवन में सत्य को स्वीकारो।





मत हरो किसी का धन

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमाः मोक्तुम्।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु।। १०१।।

अन्वयार्थ : ये = जो जीव। भोगोपभोगसाधनमात्रं = भोगोपभोग के साधन मात्र। सावद्यम् =सावद्यवचन। मोक्तुम् = छोड़ने को। अक्षमाः = असमर्थ हैं। तेऽपि शेषम् = वे भी शेष। समस्तमपि =समस्त ही। अनृतं = असत्य भाषण को। नित्यमेव मुञ्चन्तु = निरन्तर ही छोड़ो।

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य ग्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्।। १०२।।

अन्वयार्थ : यत् = जो। प्रमत्तयोगात् = प्रमाद (कषाय) के योग से। अवितीर्णस्य =बिना दिये। परिग्रहस्य = (सुवर्ण, वस्त्रादि) परिग्रह का। ग्रहणं = ग्रहण करना है। तत् स्तेयं प्रत्येयं = उसे चोरी जानना चाहिये। च सा एव = और वही। वधस्य हेतुत्वात् = वध के हेतु से। हिंसा =हिंसा है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने सहज सूत्र दिया है कि यदि दृष्टि सत्य है तो सृष्टि सत्य है। यदि दृष्टि सत्य नहीं है, तो सत्य भी सत्य नहीं है। असत्य कहने से सत्य कभी असत्य होता भी नहीं है। क्योंकि जो सत्य है, वह सत्य ही होता है। सैंतालीस शक्तियों में भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने 'आत्मख्याति टीका' में छठवीं 'वीर्य–शक्ति' का कथन किया है। अपनी वीर्य–शक्ति को नहीं समझने के कारण ही इन पुद्गलों में आप लिपटे बैठो हो। तेरा वीर्य अनन्त है। क्षयोपशम तेरा स्वभाव नहीं है, क्षायिक तेरा वीर्य है और क्षायिक–वीर्य तभी सामने खड़ा होता है जब तेरे सामने क्षायिक–ज्ञान होता है। अनंतज्ञान को वही स्वीकार कर सकता है जिसके पास अनंतबल होता है।

मनीषियो! अल्प उपसर्ग को देखकर आप आँखों में नीर भर लाते हो। उनसे पूछो जिन्होंने सात दिनों तक भोजन–पानी ही नहीं, अपने प्राणों से ममत्वभाव भी छोड़ दिया। प्राणों को छोड़कर जो चलता है, वही साधना के जीवन को सार्थक कर पाता है। जहाँ प्राणों का राग है, वहाँ संयम के प्रति अनुराग संभव नहीं होता। धन्य हो उन सात–सौ योगियों को। वे निर्ग्रंथ योगी कह रहे थे कि शील की बाड़ी को कोई उखाड़कर फेंक नहीं सकता। शील की बाड़ी के कारण ही अनन्त– वीर्य–शक्ति काम कर रही थी।

अहो आत्मन्! इस शरीर की वेदना को देखकर तू व्यथित मत हो जाना। यह सत्य है कि तेरे अन्तरंग में अनन्तबल विराजा है, तू तो सिद्ध बनने वाला है, कर्म–शत्रु को उखाड़ कर फेंकने वाला। यह सत्य रुकता नहीं है, सत्य बहता रहता है। जो प्रवाहमान होता है, पर बदलता न हो, उसी का नाम सत्य होता है। इसीलिये द्रव्य सत्य होता है, पर्याय असत्य होती है, क्योंकि द्रव्य बदलता नहीं है, पर्याय बदलती है और जो बदलती है, वह झूठी होती है। इसलिये सत्य शरीर नहीं, सत्य तो आत्मा ही है, जो हर समय साथ रहती है, कभी बदलती भी नहीं है और कभी बदला भी नहीं लेती है।



आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि सत्य सत्ता को समझो और नव कोटि से झूठ को छोड़ दो। फिर भी यदि गृहस्थ अवस्था में आप अपनी आजीविका नहीं चला पा रहे हो, तो ऐसा झूठ मत बोलना जिससे दूसरे के प्राणों का घात हो।

भो ज्ञानी! व्यर्थ में असत्य भी मत बोलना। कभी–कभी निष्प्रयोजन झूठ बोलते हो। इसे जिनवाणी अनर्थदण्ड कहती है। यह ध्यान रखना कि वाणी के द्वारा व्यक्ति का व्यक्तित्व सामने खड़ा हो जाता है। एक नेत्रहीन व्यक्ति मार्ग में बैठा है। वहाँ एक सिपाही उससे पूछता है–क्यों अंधे! क्या यहाँ से सम्राट निकला? थोड़ी देर बाद सेनापति आते हैं। क्यों साधुजी! क्या यहाँ से महाराज निकले? मंत्री आते हैं। क्यों, आपको मालूम यहाँ से राजा निकले हैं? जब राजा स्वयं आता है–सूरदासजी! आप यहाँ कब से विराजे हैं। क्या यहाँ से मंत्रीजी, सेनापति आदि निकले हैं? अहो राजन्! अहोभाग्य कि आप पधारे हैं। कुछ क्षण पहले आपका सिपाही निकला था। इसके उपरान्त सेनापति निकला और कुछ ही क्षण पूर्व मंत्रीजी निकल चुके हैं। अरे! आपको तो दिखता ही नहीं है, फिर आपने जाना कैसे? राजन्! क्षमा करना। नेत्र फूट जायें तो कोई दिक्कत नहीं, लेकिन प्रज्ञा का नेत्र नहीं फूटना चाहिये। राजन्! हमने आँखों से तो नहीं देखा, पर कानों से जरूर देख लिया। राजन! कोयल और कौए की पहचान वर्ण से नहीं, वाणी से होती है। हमने आपकी वाणी के माध्यम से आपको पहचान लिया। जब आप पधारे, तो आपको क्या मैं अंधा नहीं दिखा? अन्धा तो था, फिर भी आपने कहा कि सूरदासजी, आप यहाँ कब से विराजे हैं? यह सम्राट की भाषा थी।

भो ज्ञानी! वाणी आपके भावों को प्रकट कर देती है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि आप बोलते तो रहना, परन्तु तौल–तौल के बोलना। हे मुनिराज! तुम चिन्ता मत करो। समिति की तराजू पर तौल लेना और दस धर्म का काँटा लगा देना, उसमें सत्य–धर्म है। जो सत्य को नहीं मानता है, जिनवाणी कहती है कि वह चोर है, डाकू है। अतः कभी किसी के साथ छल नहीं करना, झूठ नहीं बोलना।

भो ज्ञानी! झूठ बोलने और छल से बचने के लिए सात स्थानों पर मौन का कथन हमारे आगम में है। आप जो बोल रहे हो, वह शब्दागम है। आप गाली दे रहे हो, रोष में बोल रहे हो, तो आप शब्दागम का दुरुपयोग कर रहे हो। जब आप भोजन कर रहे थे, उस समय मुख जूठा था, अशुद्ध था। अशुद्ध मुख से आपने कुछ बोला तो आपने जिनवाणी का अवर्णवाद किया। मौन से भोजन करने लगें तो बहुत सारी विडम्बना समाप्त हो जायें। जो भोजन करते–करते बोलता है, उसको दीनता प्रकट होती है। मौन से खाते हो तो सन्तोष आता है, तुम्हारी हीनता प्रकट नहीं होती है। इसलिये जैन–योगी सर्वथा मौन से ही चर्या करते हैं। माँगते भी नहीं और संकेत भी नहीं करते।

भो ज्ञानी! स्नान के समय यदि मुख से बोल रहे हो तो पानी मुख में चला जायेगा। अतः स्नान के समय श्रावक मौन रहता है। मल–विसर्जन के समय वह क्षेत्र कितना अशुद्ध होता है? दाँत और मुख बिलकुल बन्द रखना चाहिये, जिससे अशुद्ध वर्गणायें आपके मुख में न जा सकें। मनीषियो! वमन हो जाये तो मौन ले लो। मैथुन क्रिया के समय मौन रहना चाहिये, क्योंकि इससे बड़ा पापाचार क्या होगा जहाँ नवकोटी जीवों का घात हो रहा है और तुम प्रसन्न हो रहे हो? भगवान् जिनेन्द्र की पूजन–भक्ति के समय भी मौन रहना चाहिये। जितनी जिनभक्ति कर रहे हो, उतना ही बोलना चाहिए।

भो चेतन! मौनी मूक नहीं है। मूक तो पशु होते हैं। साधक मूक नहीं, मौनी होता है। देखो, सात



सौ वीतरागी मुनि कैसे मौन हुये थे? जिस जीव की वाणी मनोहर होती है, वह निर्मल मौन–व्रत का पालन करता है। उसका सत्य भी अपने आप पलता है। जितना ज्यादा बोलोगे, उतना ही झूठ बोलने में आयेगा। हमारे आगम में सत्य–व्रत में मौन को भी व्रत कहा है। बहुत अच्छा होता कि जब बिजली पर टैक्स चल रहा है, पानी पर टैक्स चल रहा है, तब वाणी पर और टैक्स लग जाता। लेकिन आप लगाओ न लगाओ, हमारे जैनशासन में तो लगा है। देखो, सत्यव्रत, सत्य–अणुव्रत, सत्य–महाव्रत, सत्य धर्म, वचन गुप्ति और भाषा समिति यह सभी व्रत वाणी पर ही क्यों लगाये गये हैं? क्योंकि मालूम था आचार्य भगवन्तों को, तीर्थंकरों को, कि सबसे ज्यादा उपद्रव वाणी से ही होते हैं। लोक में जितने विसंवाद होते हैं, वह सब वाणी से होते हैं। आचार्य सोमदेव सूरि ने लिखा है कि जैसे निर्ग्रंथ योगी का कमण्डल होता है, वैसे ही राष्ट्र के, समाज के, परिवार के मुखिया को खजांन्ची होना चाहिये। देखो, जब कमण्डल में पानी भरा जाता है, तो बड़े मुख से भरा जाता है और टोंटी से निकालते हैं। इसी प्रकार, आय तो बड़े मुख से करना चाहिये और व्यय संकरी टोंटी से करना चाहिये, तब तुम समाज को चला सकते हो। जैसे पैसे में लोभ करते हो, वैसे वाणी में लोभ करो, व्यर्थ मत बोलो।

भो ज्ञानी! दूसरे के द्रव्य को ग्रहण करना, रखी हुई या किसी की पड़ी हुई, भूली हुई वस्तु पर का द्रव्य है। आपने उठाकर रख लिया। सुनो! जिसकी गुमी सामग्री है, उससे पूछना कि कैसे तड़फता है? जिसका कोई स्वामी नहीं होता है, उसका स्वामी शासन होता है। भूमि का द्रव्य आपका नहीं होता, शासन का होता है। घर में घड़ा निकला, क्या करोगे? जाओगे शासन को देने? नियम बड़ा कठिन है। क्या कहेंगे? पुण्य के योग से मिला है। लेकिन जिस दिन पकड़े गये उस दिन पता चल जायेगा कि पुण्य कितना बड़ा था? गुणभद्र स्वामी ने 'आत्मानुशासन' ग्रंथ में स्पष्ट लिखा है।

शुद्धेर्धनैर्विवर्धन्ते सत्तामपि न संपदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः।।४५।।

समुद्र कभी शुद्ध जल से नहीं भरा, नालों से भरा है। ऐसे ही जितनी विभूतियाँ विशाल दिख रही हैं, इधर–उधर के छल–कपट से ही भरी हैं। कोई गरीब रख गया धरोहर और सेठजी के मन में आए 'अब वह कभी न आए'। जितने वैद्य हैं, सब निरोग कर रहे हैं। यदि परिणाम निर्मल हैं तो श्रेष्ठ, नहीं हैं तो कहो कि ठंडी का मौसम आ गया। सीजन नहीं चल रहा। महाराज! बीमारी बढ़े तो हमारा सीजन चले। आचार्यों ने कितना सूक्ष्म लिखा है कि तुम न्याय करना, पर अन्याय की मत सोचना। रोगी बनाने के विकल्प नहीं लाना।

भो ज्ञानी! जैसे एक निर्ग्रंथ योगी अपने परिणामों को संभालकर रखता है, ऐसे ही आप लोगों को उस समय परिणाम संभालने की आवश्यकता है। यह अणुव्रतों की चर्चा है, जो पहले सच्चा श्रावक बनता है, वही सच्चा योगी बन सकता है। आचार्य महाराज ने अचौर्य व्रत की चर्चा की है कि चोरी करना भी हिंसा ही है, क्योंकि व्यक्ति को प्राणों से भी प्रिय अपना धन होता है। अतः दूसरे के धन का हरण करना उसके प्राणों को हरण करने के तुल्य है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी का यह पहला ग्रंथ है जहाँ धन को प्राण लिखा है, क्योंकि व्यक्ति को पैसा प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है। इसलिये किसी की रखी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई, गिरी हुई वस्तु उठा नहीं लेना। यदि आपको मालूम चल जाये कि अमुक व्यक्ति की है, तो उसको दे देना, लेकिन अपने घर में रखने के लिये नहीं उठाना।



मत हरो किसी का प्राण

अर्थानाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्।। १०३।।

अन्वयार्थ : यः जनः यस्य = जो पुरुष जिस (जीव) के। अर्थान् हरति = पदार्थों को या धन को हरण करता है। सः तस्य = वह पुरुष उस (जीव) के। प्राणान् हरति = प्राणों को हरण करता है। (क्योंकि जगत में)। ये एते = जो ये। अर्थानाम = धनादिक पदार्थ (प्रसिद्ध है)। एते पुसां =वे सब ही पुरुषों के। बहिश्चराः प्राणः सन्ति = बाह्य प्राण हैं।

हिंसायाः स्तेयस्य चनाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः।।१०४।।

अन्वयार्थ : हिंसाया च स्तेयस्य = हिंसा में और चोरी में। न अव्याप्तिः = अव्याप्तिदोष नहीं है। यस्मात् अन्यैः = क्योंकि दूसरों के द्वारा। स्वीकृतस्य = स्वीकृत किये। द्रव्यस्य ग्रहणे प्रमत्तयोगः = द्रव्य ग्रहण करने में प्रमाद का योग। सा–वह (हिंसा)। सुघटमेव = अच्छी तरह घटता है, इसलिये।

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्।। १०५।।

अन्वयार्थ : च नीरागाणाम् = और वीतरागी पुरुषों के। प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् = प्रमादयोगरूप एक कारण के विरोध से। कर्मानुग्रहणे = द्रव्यकर्म, नोकर्म की कर्मवर्गणाओं के ग्रहण करने में। अपि स्तेयस्य = निश्चयकर के चोरी के। अविद्यमानत्वात् = उपस्थित न होने से। तयोः अतिव्याप्तिः न = उन दोनों में अर्थात् हिंसा और चोरी में अतिव्याप्ति भी नहीं है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की पावनपीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य कुंदकुंद देव ने अहिंसा व सत्य की चर्चा करते हुए कहा है कि सत्यता तभी होगी, जब निश्छल वृत्ति, निःकांक्षित दृष्टि और आस्तिक परिणति होगी। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि यदि वृत्ति की सत्यता नहीं है तो वाणी की सत्यता कुछ नहीं कर सकती। यदि वृत्ति तुम्हारी सत्य है, तो वाणी की सत्यता में थोड़ा दम है। एक व्यक्ति रोज चोरी करता हो और कहे कि मैं सत्य बोलता हूँ, परन्तु उसकी वृत्ति बता रही है कि वह सत्य पर चल नहीं पा रहा है, तो तुम बोलोगे क्या ? वास्तविकता यह है कि जिसकी वाणी में सत्यता है, अंतःकरण में सत्यता है, उसकी ही चर्या में सत्यता है।

भो ज्ञानी! सैंतालीस शक्तियों के कथन में सातवीं शक्ति' का नाम है 'प्रभुत्व शक्ति'। अहो ज्ञानी! जो स्वयं प्रभु है, तो धन–दौलत पर दृष्टि क्यों जा रही है? दिखाना चाहते हैं। अरे! भोजन करने



के लिए धन का संग्रह नहीं हो रहा है, दिखाने के लिए धन का संग्रह हो रहा है। पेट भरने के लिए नहीं, पेटियाँ भरने के लिए कमाना पड़ता है। अब तो बैंक भरे जाते हैं, विदेश में भेज देते हैं। अनेक गरीबों के तन के वस्त्रों को आपने पेटियों में छिपाकर रखा है, अनेक गरीबों की भोजन की व्यवस्था को आपने गोदाम में छुपाकर रखा है। अहो ज्ञानी आत्माओ! आवश्यकता से अधिक द्रव्य का जो संग्रह करके रखता है, वह दूसरे के उपभोग में अंतराय डालता है। अहो! जिसने वैभव को जान लिया है, वह वैभव को तृण के समान छोड़कर चला जाता है। जिसने वैभव को वैभव माना है, उसने वैभव को जाना ही नहीं है। यदि विभूतियों में वैभव था, तो चक्रवर्तियों ने क्यों छोड़ा ? धन में सुख था, तो तीर्थंकरों ने क्यों छोड़ा ? जन–परिजन में सुख था, तो वे जंगल में क्यों चले गये? अहो पिताश्री! चाबियाँ खनक रही हैं, तिजोरियाँ भरी हैं और बेटा दूसरे की दुकान में काम कर रहा है। परंतु जब बेटे के मन में ईर्ष्या की झनकार होती तब एक दिन डाका डालने के लिए पिताजी के घर में प्रवेश करता है। इसलिये प्रेम से दे दो तो चोरी तो न हो, ईर्ष्या तो न हो, शत्रुता तो न हो।

भो ज्ञानी! प्रभुत्व शक्ति आपसे कह रही है– ध्यान रखना, अखण्ड, अविनाशी, चिद्रूप– चैतन्य, टंकोत्कीर्ण , ज्ञायकस्वभावी, परमपारिणामिक चेतन सत्ता पर तेरा शासन चलता है। ऐसा तू विभू है। कहाँ पुद्गल के टुकड़ों का प्रभु बनने जा रहा है? अहो! आज से भूल जाना कि मैं गरीब हूँ। गरीब वह है, जो धर्म से रिक्त है। दरिद्र वह है, जो चारित्र से शून्य है। भिखारी वह है, जो शील से समाप्त हो चुका है। विभुत्व–शक्ति कह रही है कि आपके पास वह जिनगुण संपदा है, उसको भूलकर आप बाहर की संपत्ति मत माँग बैठना। अहो चेतन प्रभु ! मैंने तुम्हें सम्राट बनाया और काम, क्रोध, मान, माया और लोभ यह लुटेरे चारों ओर घूम रहे हैं। यदि गाँव के साहूकार सहयोग नहीं करें तो चोर में कोई ताकत नहीं कि चोरी कर सके। अहो आत्मा! यदि काम, क्रोधादि तेरा सहयोग न करें, आत्मा मान का सहयोग न करे, आत्मा मायाचारी का सहयोग न करे, तो कषायरूपी लुटेरों की कोई ताकत नहीं है कि वह हमारे धन को लूट सके। ध्यान रखना, पर्याय चोर नहीं है, यह पर्यायी का ही परिणमन है। अतः पर्याय को दोष नहीं दो, इस पर्यायी को दोष दो। पर्याय तो कहती है कि आप मेरा जैसा उपयोग करना चाहो वैसा कर लो, क्योंकि हम तो निश्चित समय तक बंधे हैं। आयु बंध कह रहा है कि जिसने सौ वर्ष की आयु का बंध किया है, हम तब तक उसके साथ हैं। इस बीच जितना उपयोग करना चाहे कर सकता है। भो ज्ञानी! प्रति समय पर दृष्टि रखोगे, तो एक समय पर दृष्टि रखी रहेगी और प्रति समय पर–दृष्टि नहीं रख पाए तो एक समय पर–दृष्टि कभी भी नहीं जा सकती। इसलिये प्रभुत्व सत्ता आपसे कह रही है कि मैं अखंण्ड हूँ। मेरा शासन अखण्ड है, अविचल है।

भो ज्ञानी! मेरी सत्ता बदलने वाली नहीं है। सत्ता को वास्तविक रूप में समझना चाहते हो तो अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं– हे ज्ञानी! आप किसी के द्रव्य का हरण मत करो। कर्त्तव्य का पालन नहीं करना ही चोरी है। अहो! शासक की आज्ञा का पालन नहीं करना चोरी है, तो तीन लोक के शासक वर्द्धमान तीर्थंकर के शासन में हम विराजते हैं और उनके शासन की अवहेलना करना यह तो महाचोरी है। रोज पूजा, दान, स्वाध्याय, उपासना, तप, त्याग आदि करना कर्त्तव्य है। इनको प्रतिदिन ही नहीं, क्षण–क्षण करना है। सामायिक के काल में आपकी दृष्टि अन्यत्र चली जाती है, तो आपने सामायिक के समय की चोरी की है। आप प्रवचन सुन रहे थे परन्तु बगल में बैठे व्यक्ति से बातचीत



करने लगे तो आपने स्वयं के साथ ही नहीं वरन् दूसरे के साथ भी धोखा किया। आपने उसकी दृष्टि चुरा ली। अतः ज्ञानावर्णीय कर्म का बंध भी किया और चोरी भी की। वस्तु की कीमत सौ रुपए है और पचास में मिल रही है, इसका तात्पर्य ही है कि चोरी से ली गई है, तभी तो दे रहा है। कभी किसी के धन या धरोहर को हड़प लिया है, तो वह भी डाका है। यह ध्यान रखना, मिलेगा उतना ही जितना तुम्हारे भाग्य में है। यह मन की संतुष्टि है, सो कर लो जितनी करना है। चोखे में खोटा भर दिया, दिखाया अच्छा और दिया बुरा, सोचो हमने क्या किया? केवल ऊपरी तत्त्व–ज्ञान को समझा और भीतर से खोखले हो चुके हो। अरे! जब तक चरणानुयोग को नहीं समझोगे, विशुद्धि बनना त्रैकालिक असंभव है। डाका डालें और जाप करें और फिर कहें की विशुद्ध हो रहा हूँ। केवली के ज्ञान में सब झलक रहा कि तुम क्या हो रहे हो। डाकू भी चोरी करने को जाता है तो माला फेरकर जाता है, कि भगवन्, अच्छा मिल जाये। अहो! धन भी तभी मिलता है, जब तेरा पुण्य होता है। इसलिये चोरी नहीं करना, चोरी की अनुमोदना नहीं करना, चोरी का द्रव्य भी नहीं खरीदना। रविवार के दिन शासन की अनुमति नहीं है दुकान खोलने की, फिर भी आधी दुकान खुली रहती है।

ध्यान रखना, आप जैसा कमाते हो, वैसा ही खाते हो, तो वैसे ही भाव बनते हैं। माँ ही बच्चों को चोरी करना सिखाती है। पतिदेव ऑफिस से घर में आये, कपड़ा टाँगे और उन्होंने धीरे से सौ रुपए का नोट निकाल लिया। वह बच्चे देख लेते हैं कि जब माँ ऐसा कर सकती है, तो हमें करने में क्या है ? यह मत सोचना कि दूसरे के घर में चोरी करें तो ही चोरी है। अपने घर में भी यह चोरी है। अहो ज्ञानियो! देखो, एक साधु दूसरे साधु के कमण्डल के पानी का उपयोग नहीं करते, कोई ग्रंथ चाहिए तो पूछते हैं। अचानक कभी पानी की आवश्यकता भी पड़ जाये तो उनको कहेंगे कि आपके कमण्डल का पानी ले रहे हैं, क्योंकि उनका अचौर्य महाव्रत है। चरणानुयोग कह रहा है कि जब आचरण तुम्हारा निर्मल होगा, तो करण तुम्हारा निर्मल होगा। यदि आचरण तुम्हारा निर्मल नहीं है, तो करण भी तुम्हारा निर्मल नहीं होगा। करण यानि परिणाम। करण की पवित्रता के लिये ही आचरण होता है। यदि धोखे से अज्ञानता में भूल हो भी गई हो तो उसे छोड़ देना और प्रायश्चित कर लेना।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं– चोरी करने वाला हिंसक ही है, सभी पाप उसके पास हैं, वह झूठ भी बोलता है, परिग्रह का संचय करता है, वह कुशील सेवी है, चोरी कर ही रहा है। भो ज्ञानी! उसके पास हिंसा भी दौड़ रही है और पांचों पाप चोर के सामने खड़े हुये हैं। जो दूसरे के धन का हरण करता है, वह दूसरे के प्राणों का हरण करता है। यदि आप अहिंसक हो तो भीख माँग कर खा लेना, पानी पीकर सो जाना, नहीं मिले तो णमोकार पढ़कर समाधि ले लेना, लेकिन दूसरे के द्रव्य का हरण नहीं करना। दूसरे के द्रव्य का हरण उसके प्राणों के हरण–तुल्य रहता है। यह तो तभी पता चलता है, जब स्वयं का गुम जाए। चैन नहीं पड़ता, भगवान् का पूजन–भजन सब छूट जाता है। एक सज्जन पूजा कर रहे थे और धोती बदलते समय उन्होंने सोने की चैन वाली घड़ी उतार कर रख दी। वह कोई उठा ले गया तो चिल्लाने लगे, बोले–हमें नहीं करनी पूजन। इसलिये ध्यान रखना, दूसरे का धन अपने–जैसा ही समझना। हाँ, आपके मित्र की चैन गिर गयी थी तो आप उठा लेना और उसको जाकर दे देना, यह चोरी नहीं है। चोरी के परिणामों से अथवा अपने घर में



रखने की दृष्टि से जो भी उठाते हो, वह चोरी है। अतः दूसरे के द्रव्य को संग्रह करना चोरी है। बिना दिये किसी की वस्तु को स्वीकार करना/लेना, चोरी है।

भो ज्ञानी! ऐसे भी लोग मिलेंगे जिनकी स्वयं की दुकानें किराये पर हैं, परंतु मंदिर की दुकानों में पचास या पच्चीस रुपए लग रहे हैं, उसमें अपना काम चला रहे हैं। अरे! जब कर्म का विपाक सामने आयेगा तब मालूम चलेगा। स्वयं के घर हैं, बड़ी–बड़ी हवेलियाँ हैं, लेकिन दूसरे का मिल गया तो क्यों छोड़ो ? अहो! जमाना देखो कि किराये पर जिसने दिया वह उल्टे पैसा दे रहा है कि भैया! खाली कर दो। भो ज्ञानी! ऐसे काम करना भी चोरी है। यदि मंदिर के द्रव्य से पूजा करते हो तो आपको उतनी द्रव्य वहाँ रखनी चाहिये, क्योंकि पर–द्रव्य से भगवान् की पूजन नहीं होती है। इसलिए जितना सुना है उसको अपने जीवन में ग्रहण करना।





परधनपाषाणवत्

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम्।।१०६।।

अन्वयार्थ : ये = जो लोग। निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम = दूसरों के कुआँ, बावड़ी आदि जलाशयों के जल आदि को ग्रहण करने का त्याग। कर्तुम् असमर्था = करने को असमर्थ हैं। तैः अपि = उन्हें भी। अपरं समस्तम् = अन्य संपूर्ण। अदत्तं = बिना दी हुई वस्तुओं का। नित्यम् परित्याज्यम्=हमेशा त्याग करना योग्य है।

यद्वेदरागयोंगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्।।१०७।।

अन्वयार्थ : यत् = जो। वेदरागयोगात् = वेद के रागरूप योग से। मैथूनं अभिधीयते = स्त्री पुरुषों का सहवास कहा जाता है। तत् अब्रह्म = सो अब्रह्म है। तत्र = उस सहवास में। वधस्य = प्राणी वध का। सर्वत्र = सब जगह। सद्भावात् = सद्भाव होने से। हिंसा अवतरति = हिंसा होती है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने आत्मा के गुणों का कथन करते हुए संकेत दिया है कि ज्ञानीजीव पर सम्पत्ति को लोष्ठवत् मानता है। लोष्ठ यानि पाषाण। अतः परद्रव्य पाषाण के तुल्य होता है। पर द्रव्य का हरण अपने धर्म का विनाश है, शांति का नाश है; क्योंकि द्रव्य का हरण ही नहीं होता अपितु निज की शांति का भी विनाश होता है। जब व्यक्ति छल से परद्रव्य को ग्रहण करके आता है, तब विकल्प यह होता है कि कोई देख न ले, अतः उसका शांति से उपभोग भी नहीं कर पाता।

भो ज्ञानी! लोग तीर्थों में जाते हैं, मंदिर के दर्शन करने आते हैं, परंतु धिक्कार हो उनकी उस परिणति को, वहाँ पर भी दूसरों की जेब को देख लेते हैं। सोचना, एक जीव कर्म का क्षय करने के लिए आया है, एक जीव कर्म बंध कर रहा है। अहो! उसे पाप से भी डर नहीं लगता और परमात्मा से भी डर नहीं लगता। ध्यान रखना, यदि आपका बेटा व्यापार कर रहा है तो आपका कर्त्तव्य बनता है कि उससे पूछ लेना, बेटा! तुम किसी के रक्त को निचोड़कर द्रव्य तो नहीं लाये हो? मुझे ऐसा दाना मत खिला देना, क्योंकि मैंने अपने जीवन में दूध ही दूध पिया है, किसी का खून नहीं पिया। बेटा! गरीबी की रोटी खा लेना, लेकिन पर–द्रव्य का हरण करके नीचे मत गिर जाना; क्योंकि जितने छल–छिद्र/कपट हैं, वह नियम से प्रकट होते हैं। माँ जिनवाणी तो आप पर करुणा कर रही है कि कम से कम हम पाप छोड़ पायें या नहीं छोड़ पायें, पर पाप का ज्ञान तो हो रहा है। अहो! जिनके



आप उपासक हैं, वे साधु तीन–तीन बार शुद्धि बुलवाते हैं, पूछते हैं, विश्वास रखते हैं कि मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और दान की शुद्धि है। यदि आहार व जल अशुद्ध है, पिण्ड अशुद्ध है, तो ध्यान रखना–ऐसे अशुभ दाने को किसी साधक के हाथ में मत रख देना। आपको मालूम है कि राजपिंड का निषेध है। यह जो राज्यकर से धन आता है, उसका आहार कभी मुनिराज को नहीं दिया जाता है; क्योंकि कर सबका है। जितने कतलखाने होंगे, उसका भी "कर" शासन में आता है। घर में आपको मालूम है कि अमुक सदस्य गलत काम कर रहा, आपने दृष्टि फेर ली और जानते भी हो कि हमारे घर में ऐसा द्रव्य आया है तो ध्यान रखो, घर के बुजुर्ग को भी उतना ही पाप होगा, क्योंकि तुम्हारे बैठे–बैठे तुम्हारी संतान ने ऐसा किया। जो सम्पत्ति सदाचार से, समीचीन बुद्धिपूर्वक अर्जित की जाती है, वह गृहस्थों की सम्पत्ति कहलाती है।

भो ज्ञानी! लाखों–करोड़ों जीवों के विघात से अर्जित धन कभी भी तुमको धन्य नहीं करायेगा। अति वैभव/विलासता में दया सूख जाती है। मनीषियो! अशुभ परिणति में कभी संतुष्ट मत होना। भले तुमसे दोष हो रहे हों, लेकिन दोष को दोष ही मानना; कहीं यह स्वीकार मत कर लेना कि जीवन जीना है तो कुछ भी करना होगा। अहो! जीवन तो चिड़िया भी जीती है, श्वान भी जीता है। भो ज्ञानी! वर्तमान के ही सुख को मत देखो, भविष्य को भी निहारो। देखो किसान भोग बाद में करता है, पहले बीज को बोने हेतु सुरक्षित रख देता है। ऐसे ही सम्यक्दृष्टि ज्ञानीजीव पुण्य के भोग को बाद में भोगता है, पहले पुण्य के द्रव्य को संचित करके रख लेता कि भविष्य भी तो देखना है। अतः अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि पर द्रव्य को लोष्ठवत् छोड़ दो, ग्रहण मत करो, क्योंकि धन ग्यारहवाँ प्राण है उसका हरण मत करो। मैं तो आपसे कहूँगा कि ऐसे स्थानों पर अपने द्रव्य को ब्याज पर भी मत देना, सहयोग भी मत देना, जमा भी मत करना। ध्यान रखना, वह पैसा कहाँ जा रहा है? मुर्गीपालन, मछली पालन केन्द्र खुल रहे हैं, वहीं तो तुम्हारा धन जा रहा है। अरे! ऐसा क्यों नहीं सोचते कि किसी गरीब परिवार को सहयोग कर दें। आगम में समदत्ती भी एक दान है, अर्थात् अपने साधर्मी को अपने समान बना लेना। बगल में एक मंदिर ऐसा भी खड़ा हुआ है जिसमें दीवाल नीचे गिर रही हैं क्या कभी मन में नहीं आता कि मैं इसको भी बनवा दूँ ? जब तक ऐसी दृष्टि नहीं आयेगी, तब तक तुम्हारी सम–दृष्टि नहीं है।

भो ज्ञानी आत्माओ! तत्त्व को समझो, प्रपंचों में मत जाओ। द्रव्य–दृष्टि को सोचो, यही वीतरागमार्ग है, अन्य सब व्यर्थ के मार्ग हैं। जिस मार्ग में शान्ति हो, सुख हो, वही यथार्थ मार्ग है। इसलिए आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि यदि आप धर्मात्माओं से विसंवाद करते हो, परस्पर में कलह करते हो, तो वह भी चोरी है। अहो! हमारे महाराज, तुम्हारे महाराज, लगता है कि 'तत्वार्थ सूत्र' तक का अध्ययन नहीं है। मनीषियो। श्री जहाँ दिख गई, वहीं किलकिल होती है; जबकि धन में धर्म होता ही नहीं। धन से धर्म के साधन तो उपार्जित किये जा सकते हैं, लेकिन धन से कोई धर्म माने, यह पूर्ण असत्य है। यदि आप धन से धर्म मानते हैं, तो आपके साधु तो पूरे अधर्मात्मा हो जायेंगे, क्योंकि उनके पास तो धन होता ही नहीं है, वे धर्म कैसे करें? इसीलिए ध्यान रखना, धर्म भावों का विषय है। भावों पर जीना, धन पर मत जीना। इसलिए परस्पर में कभी विसंवाद भी नहीं करना। भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है कि जैसे गाय अपने बछड़े पर प्रेम करती है, दुलार करती है, ऐसे आप



परस्पर में प्रेम से रहो। यदि आपने तीर्थंकर देव की आज्ञा का उल्लंघन कर दिया तो वह चोरी है।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि इतना अनर्थ मत करना जिससे दूसरे के प्राण ही चले जायें। मनीषियो! आपका दान क्षायोपशमिक दान है। तीर्थंकर भगवान् का क्षायिक दान होता है। उनकी वाणी का खिरना क्षायिक दान होता है। अहो! भगवान् भी दान करते हैं। श्रावक दान देता है तो साधु चर्या करते हैं और उस चर्या से साधु दान करते हैं, तो आपको उपदेश देते है। यह "परस्परोपग्रहोजीवानाम्" है, अर्थात् एक जीव दूसरे जीव का उपकार करता है। इसलिए आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि, हे श्रावको! दूसरे के कुएँ, बावड़ी, जलाशय आदि का आप पानी पी सकते हो, शुद्धि के लिए मिट्टी ले सकते हो, लेकिन मुनिराज तिनके को भी जमीन से उठा कर दाँत को साफ नहीं कर सकते, क्योंकि वह पर–द्रव्य है, ऐसी मुनि की चर्या है। अहो! ऐसा मत कह बैठना कि अब कोई पालन ही नहीं कर सकता, अब तो पंचमकाल में ऐसा हो ही नहीं सकता। भो ज्ञानी! आचार्य कुंदकुंद महाराज कोई चतुर्थकाल के मुनिराज नहीं थे। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी भी अभी के है। इसलिए अपनी असमर्थता तो कहो, लेकिन अपनी असमर्थता को परमेष्ठी का अभाव मत कर देना। जिनशासन पर करुणा रखना, "मोक्षमार्ग प्रकाशक" की पंक्तियाँ पढ़ लेना कि–"हंस पक्षी तो होता है, लेकिन हर पक्षी हंस तो नहीं होता है"। अब निर्ग्रंथ गुरु होते हैं, लेकिन सभी गुरु निर्ग्रंथ दिख नहीं रहे, अब गुरु कहाँ से लाये?

भो ज्ञानी! जिनवाणी का अपलाप मत करना। पंचमकाल की श्वासों तक देव, शास्त्र, गुरु रहेंगे, उनके भक्त भी रहेगे और अभक्त भी रहेंगे। हमारे अन्य विद्वानों ने भी कितनी सुंदर बात लिखी है "ते गुरु मेरे उर बसो", क्योंकि उस समय उनको मुनिराज नहीं दिख रहे थे, लेकिन तब उन्होंने यह नहीं लिखा था कि गुरु हैं ही नहीं। भवोदधि–तारणहार (अर्थात् भव के सागर से पार कराने वाले) मुनियों का मध्यकाल में उत्तर भारत में अभाव हो गया था, लेकिन दक्षिण भारत में फिर भी मुनिराज थे। कैसे भी हो, लेकिन मुनि परम्परा का विच्छेद नहीं हो पाया। तीर्थंकर भगवन्तों की देशना है कि इक्कीस हजार वर्ष के पंचमकाल में जिनशासन चलेगा, अभी तो मात्र ढाई हजार वर्ष निकले हैं। साढ़े अठारह हजार वर्ष तक कोई विकल्प मत करना कि धर्म नहीं है, धर्मात्मा नहीं हैं। उतार–चढ़ाव आते हैं, आते रहेंगे; लेकिन धर्म का विनाश नहीं होगा। इसके बाद छठवाँकाल आयेगा। तो इतना तो कर लो कि अपने को छठवेंकाल में नहीं जाना। ग्रंथराज 'त्रिलोय पण्णत्ति' की उस गाथा को पुनः दोहरा लो कि जब तक सिकी–सिकाई रोटियाँ खाने को मिलती रहेंगी, तब तक तुम भूलकर मत कह देना कि अब धर्म व धर्मात्मा नहीं हैं। जिस दिन तुम्हें रोटी मिलना बंद हो जाए, अग्नि का लोप हो जाए, फिर तुम जरूर कह देना कि अब धर्म नहीं है। जब तक भरत–क्षेत्र में अग्नि है, तब तक जिनशासन जयवंत है।





मत करो नवकोटि स जीवों की हिंसा

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्।। १०८।।

अन्वयार्थः यद्वत् तिलनाल्यां = जिस प्रकार तिलों से भरी हुई नली में। तप्तायसि विनिहिते = तप्त लोहे की शलाका के डालने से। तिला = तिल। हिंस्यन्ते तद्वत् = नष्ट होते हैं, उसी प्रकार। मैथुने योनौ = मैथुन के समय योनि में भी। बहवो जीवा हिंस्यन्ते = बहुत से जीव मरते हैं।

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्।। १०९।।

अन्वयार्थः अपि = और (इसके अतिरिक्त)। मदनोद्रेकात् = काम की उत्कटता से। यत् किंचित् = जो कुछ। अनंगरमणादि क्रियते = अनंग–क्रीड़ा आदि की जाती है। तत्रापि = उसमें भी। रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् = रागादिकों की उत्पत्ति के वश से। हिंसा भवति = हिंसा होती है।

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्।। ११०।।

अन्वयार्थः ये मोहात् = जो (जीव) मोह के कारण। निजकलत्रमात्रं = अपनी विवाहिता स्त्री मात्र को। परिहर्तुं हि = छोड़ने को निश्चय करके। न शक्नुवन्ति तैः = समर्थ नहीं है, उन्हें। निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं अपि = अवशेष अन्य स्त्रियों का सेवन तो अवश्य ही। न कार्यम् = नहीं करना चाहिए।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! भगवान् महावीर स्वामी की दिव्यदेशना के आधार पर आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी संकेत दे रहे हैं कि, हे मानव! जीवन में तेरी कीमत शील से है। मानव–जीवन में यदि तेज है, तो उसका नाम ब्रह्म है। उस ब्रह्म को जिसने खो दिया है, ध्यान रखना, वह चलता–फिरता मुर्दा है। लंकेश तो विद्वान् था, अर्धचक्री भी था, लेकिन कुशील की भूल ने उसके जीवन को बर्बाद कर दिया। एक काम–बाण के पीछे जिसने कुशील–सेवन किया है, उसके पास न सत्य है, न अचौर्य है, न अहिंसा है, बल्कि उसके चारों कषाय और पाँचों पाप विराजे हैं, क्योंकि संसार में जितना अनाचार है सब कुशील व्यक्ति के पास है।

भो ज्ञानी! वीतराग–शासन में ज्ञान से यश तो कह दिया, पर ज्ञान से पूजा प्राप्त नहीं होती। श्रद्धान से देवत्व की प्राप्ति होती है, ज्ञान से कीर्ति फैलती है, संयम से चारित्र की वृद्धि होती है और



जहाँ तीनों होते हैं वहाँ शिवत्व की प्राप्ति होती है। अहो ज्ञानी आत्माओ! तुम संयमी बन सको या नहीं बन सको, लेकिन संयम का अपमान कभी नहीं कर देना, क्योंकि जब भी मुक्ति मिलेगी तो संयम से ही। जिस भूमि (विदिशा) पर आप विराजे हो, वह आज चारित्र के माध्यम से पूजी जा रही है। ध्यान रखना, चारित्र तभी पुजता है, जब तेरह प्रकार का चारित्र विराज जाता है। जैनदर्शन के महान सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य भगवान् नेमिचन्द्र स्वामी, जिन्होंने गोमटेश बाहुबली स्वामी के श्रीकर्णों में सूरिमंत्र दिया, ऐसे महान धुरंधर दिगम्बर आचार्य कितनी गहरी बात कह रहे हैं:

वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणदि जीवो, हि गुणं व दोसं वा।। २७२।। गो.(जी.कां.)।।

जब वेद–कर्म की उदीरणा सताती है, परिणाम सम्मोहित होते हैं, तब स्वयं के शरीर को देखकर व्यक्ति की वासनायें भड़कती हैं। अपने ही शरीर के अवयवों को देखकर स्वयं ही अपने आप में मोहित हो रहा है। अहो चर्मकार! चमड़ी को देखकर रीझ रहा है। अरे! जब तुम्हारी भोग–भावना का उद्भव हो तो उसमें अशुचि–भावना को विराजमान कर लिया करो। इस कृमिकुल से भरे माँस के पिण्ड को देख। भोग–भावना में जीनेवाली आत्माओ! जब संयम धारण करने की बात आये तो भी कहना कि मैं भगवती–आत्मा हूँ और जब नारी के यहाँ जाने के भाव आयें, तब भी कहना कि मैं भी भगवान् तू भी भगवान्। जिस समय अपने भगवान् का नाश करने जा रहे हो और अनन्त भगवन्त नौ–कोटि जीवों की हत्या करने के भाव जब बन रहे हों, तब भी कहना–हे समयसार, वीतराग वाणी! मेरे मस्तिष्क में विराजमान हो जाओ। हे भोगी! उस समय सोचना कि भोग्या भी तो भगवती–आत्मा है, सिद्ध बनने वाली, मेरे से पहले भगवान् बनकर जा सकती है। याद करो सौधर्म–इन्द्र शची के चरण छूकर कहता है कि–अहो ! धिक्कार हो मुझ पापी के लिए, मैं यहीं पड़ा रहूँगा और मेरे देखते–देखते यह पावन–द्रव्य सिद्ध बनने जा रहा है, उस सिद्धस्वरूपी द्रव्य को मेरा नमस्कार हो।

भो ज्ञानी! जो नारी में माँ को देखे, उसका नाम ही ब्रह्मचारी होता है। लोक में ऐसा कौन जीवद्रव्य है, जो सिद्धत्व–शक्ति से रहित है। जिसका तूने उपभोग किया है, उसके सामने जाकर देखना कि तुम कैसे दृष्टि उठा पाते हो। हे प्रभु! मैंने अपने भोग का विषय आपको बनाया है। धिक्कार हो मेरी अशुभ–वृत्ति को। अरे ! मुमुक्षु को तो निगोदिया में भी भगवान् दिखता है और अज्ञानियों को संतों में असंत दिखते हैं। भगवंत–दृष्टि कहती है कि प्रत्येक जीव को समान समझो, वात्सल्य/प्रेम के साथ जिओ। यदि तुम यहाँ वात्सल्य से जी पाओगे, तभी एक सिद्ध में अनेक सिद्ध बनकर विराज पाओगे। अभ्यास तो करना ही पड़ेगा एकसाथ बैठने का। इसलिए जिन्हें तू अपने भोग का विषय बना रहा है, वे भोग्य नहीं हैं, वे योगी हैं। आचार्य भगवान् कह रहे हैं–वेदकर्म का उदय होने पर मोहित परिणाम हो जाते हैं। सम्मोहित व्यक्ति न दोष को देखता है, न गुण को, न जाति देखता है, न कुल, न धर्म, न समाज को, न शासन को देखता है। जो समाज–शासन के डर से छुपे बैठे हैं, उसे संमतभद्र स्वामी ने ब्रह्मचारी नहीं कहा। जो स्वशासन से आत्मा पर अनुशासन रखता है, उसका नाम ब्रह्मचारी कहा है। इसलिए ब्रह्मचर्य के लिए ब्रह्म को समझने की आवश्यकता है। ब्रह्म अर्थात् आत्मा। उस ब्रह्म में जो आचरण है, उसका नाम ब्रह्मचर्य है। अहो! जड़–द्रव्य की तो इतनी सुरक्षा, और तेरे शरीर के



भीतर जो अमूल्य धन निर्मित होता है, उसे तू भोगों की नाली में फेंक देता है। धिक्कार है तेरे लिए। अभी तो ब्रह्मचर्य–व्रत की बात है, ब्रह्मचर्य 'धर्म' की नहीं।

मनीषियो! संयम की सम्पत्ति किसी पर्याय में अर्जित नहीं की जाती। आपको संयम–सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए मनुष्य–पर्याय में भेजा गया है। अहो! तुमने इस पर्याय को मोह की मिट्टी में मिला दिया। भो ज्ञानी! भूल हो गई है, तो अब भूल नहीं करना। जैसे सेठ विजय और सेठानी विजया ने किया। पति का ब्रह्मचर्य–नियम शुक्लपक्ष का था और पत्नि का कृष्णपक्ष का। माता–पिता को मालूम नहीं था। सुहाग की रात्रि आती है, पत्नि हाथ जोड़ लेती है– स्वामी! क्षमा करना, रात अंधेरी है, मैंने निर्ग्रंथ योगी से ब्रह्मचर्य–नियम लिया है। शुक्लपक्ष आयेगा, तब हम आपकी इच्छा की पूर्ति करेंगे। अहो! ठीक है, आपके व्रत को भंग नहीं करूँगा। धन्य हो ऐसे महापुरुष को। शुक्लपक्ष आता है, पत्नि श्रृंगार करके पहुँचती है, तो पति हाथ जोड़कर कहता है–बहिन! आपका कृष्णपक्ष का नियम था, तो मैंने भी निर्ग्रंथ योगी (धरती के देवता) से शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य का नियम लिया है। इसलिए आप पंद्रह दिन को मेरी भगिनी हो और जैसे मैंने आपके व्रत का निर्वाह कराया था, ऐसे मेरे व्रत का निर्वाह आपको कराना है। पत्नि चरणों में गिरकर कहती है, प्रभु! एक नारी के तो अनेक पति नहीं होते, पर आप तो दूसरी शादी कर सकते हैं, कुल परंपरा बनी रहेगी। पर धन्य हो उस वीर को और एक नारी की दृढ़ता को, कि पति पत्नि, भाई–बहिन का जीवन जी रहे हैं। वह धन्य हैं।

अभुम्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै, कौमार ब्रह्मचारिणे।। १०९।। आ. शा.।।

भो ज्ञानी! आचार्य गुणभद्र स्वामी ने लिखा है–'उस अभोगी ने भोग छोड़ दिये।' जिसने भोगों को जाना ही नहीं, उसने ही भोग छोड़ दिये थे। वह पूर्वभव का योगी था। उस 'कुमार–ब्रह्मचारी' को मेरा नमस्कार है। परंतु आचार्य योगेन्दुदेव स्वामी कह रहे हैं कि मैं उस कुमार ब्रह्मचारी, ऐसे निर्ग्रंथ के चरणों का बलिहारी हूँ। अहो ! उत्तम पुरुष वह होते हैं जो स्वात्म की चिंता करते हैं। मध्यम पुरुष वह होते हैं जो चमड़ी और दमड़ी की चिंता में रहते हैं, लेकिन अधम वे होते हैं जो काम/भोगों की चिंता में जिया करते हैं और जो पर की चिंता में जिया करते हैं, वे अधमाधम हैं। अब समझ लो अपनी–अपनी गिनती कहाँ आ रही है। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्रस्वामी कितनी करुणा–दृष्टि से कह रहे हैं कि आप तो दया की मूर्ति हो, करुणाशील हो, सम्यक्दृष्टि हो, तो सुनो नौ कोटि जीवों का घात करने वाला भोगों की चिंता छोड़ नहीं पा रहा है, वह शुद्ध–उपयोग में कैसे विराजेगा? कैसे अनुभूति करेगा? अहो! आगम में देखो, बुरा नहीं मानना, जो लिखा है वही मैं बता रहा हूँ–अशुद्धि के चार दिनों में नारी को शूद्र–चंडालिनी की संज्ञा दी है। उस समय भी तू ब्रह्म का पालन नहीं कर पा रहा है। धिक्कार हो तेरे जीवन के लिए।

भो ज्ञानी! दिन संयम के लिए होता है, दिन साधना के लिए होता है, दिन पुरुषार्थ करने के लिए होता है। कम से कम आज अपने मन में एक कायोत्सर्ग करके यहाँ से जाना कि मैं कुशील का सेवन दिन में तो नहीं करूँगा। इतनी तो प्रतिज्ञा कर ही लेना। और इतनी भी नहीं कर पाओ तो आज अपने आप को अरिहंत–चरणों का भक्त कहना समाप्त कर देना। हे शील आत्माओ! काम–पुरुषार्थ



ही सब कुछ नहीं, धर्म–पुरुषार्थ ही सब कुछ है। अहो! तुम्हारी दृष्टि तो अर्थ और काम पर टिकी है, इसके अलावा कुछ नहीं है। परंतु ध्यान रखो, अर्थ भी पुण्य से मिलता है और काम भी पुण्य से मिलता है। यदि वह तुम्हारे पास नहीं, तो दोनों बेकाम हैं। रायपुर की घटना है। एक सज्जन आये, बेचारे आँखों से आँसू टपकाकर कहने लगे–मुनिश्री! मैं बहुत दुःखी हूँ। मैंने पूछा–क्या बात है? महाराजश्री! अर्थ–लक्ष्मी भी गई और गृह–लक्ष्मी भी गई। मैंने कहा–भैया! यह तो तुम्हारा परम सौभाग्य है, आप तो परम पुण्यात्मा हो गये कि राग की दृष्टि समाप्त हो गई, अब तो तुम चलो मुनि बन जाओ। अरे! ऐसे भी संसार में जीव हैं जो मोह के भिखारी बने बैठे हैं। घर में खाने को दाना नहीं है और प्रेम से कोई बोलता नहीं है, फिर भी बेचारे कामीपुरुष बनकर वासना में पड़े हैं। अरे! सोचो तो, जैसे कोई व्यक्ति एक घड़े में तिल भर दे और लोहे का गरम –गरम लाल सरिया उस तिल से भरे पिण्ड में डाल देवे, तो उन तिलों की क्या हालत होती है? चट–पट, चट–पट सब झुलस जाते हैं। इसी प्रकार से जीव जब काम–सेवन करता है, तो योनी–स्थान में करोड़ों पंचेन्द्रिय सैनी जीव चटपट–चटपट नष्ट हो, मर जाते हैं। आप सोचो कि एक व्यक्ति के मरने पर बारह दिन का सूतक है, तेरहवें दिन शुद्धि होती है, तो जिसने नौकोटि जीवों को मारा, उनकी कितने दिन में शुद्धि होगी? भो चैतन्य! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि काम–सेवन वासना के राग की अति तीव्रता है, तभी तो ऐसा दुष्कर्म है। इसलिए हिंसा ही है। अरे! आत्मरंजन के लिए यह पर्याय मिली है, मनोरंजन के लिए नहीं। आत्मा का भोग एकमात्र मनुष्य–पर्याय, निर्ग्रंथ–मुद्रा में ही संभव है। आगम कह रहा है कि स्वदार–संतोष–व्रत धारण करके कम से कम अन्य स्त्रियों के सेवन से तो बच जाओ। मनीषियो! आज शांतिनाथस्वामी के चरणों में अपनी–अपनी इच्छा कर लेना–प्रभु! मैं प्रतिज्ञा लेता हूँ कि आज से स्वदार–संतोष–व्रत का पालन करूँगा।





पाचवाँ–पाप परिग्रह

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः।। १११।।

अन्वयार्थ :– इयं = यह। या मूर्च्छानाम = जो मूर्च्छा है। एषःपरिग्रहो हि = इसको ही परिग्रह निश्चय करके। विज्ञातव्यः= जानना चाहिये। तु मोहोदयात् = और मोह के उदय से। उदीर्णः = उत्पन्न हुआ। ममत्व परिणामः = ममत्वरूप परिणाम ही। मूर्च्छा = मूर्च्छा है।

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः।। ११२।।

अन्वयार्थ :– परिग्रहत्वस्य = परिग्रहपने का। मूर्च्छालक्षणकरणात् = मूर्च्छा लक्षण करने से। व्याप्तिः = व्याप्ति। सुघटा = भले प्रकार घटित होती है। (क्योंकि) शेष संगेभ्यः = अन्य सम्पूर्ण परिग्रह के। विना अपि = विना भी। मूर्च्छावान् = मूर्च्छा करनेवाला पुरुष। किल = निश्चयकर। सग्रन्थः= बाह्य परिग्रहसंयुक्त है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! जब यह जीव निजब्रह्म में लीन होता है, तो पर–द्रव्य से दृष्टि सहज हट जाती है। निजब्रह्म में लवलीन हुई आत्मा वाह्य ब्रह्मांड की ओर नहीं निहारती। जो वाह्य ब्रह्मांड में विचरण कर रहा है, वह निजब्रह्म में त्रैकालिक विराजमान नहीं हो सकता। अतः आत्मब्रह्म में गया जीव वाह्य में विचरण नहीं कर सकता और वाह्य में विचरण करनेवाला जीव कभी निजब्रह्म में लीन नहीं हो सकता, क्योंकि भोगसत्ता और योगसत्ता युगपत् नहीं रहती। अहो! वैराग्य में राग और राग में वैराग्य, ये दोनों धाराएँ बहुत विपरीत हैं। अनुभव करके देखना कि वही ज्ञान, ज्ञान है, वही भेदविज्ञान है, जिससे निजात्मा का कल्याण हो। भेदविज्ञान यही कहता है कि निजद्रव्य को पर द्रव्य से भिन्न स्वीकार करके चलना ही भेद–विज्ञान है। नाना सत्ताओं में समाविष्ट होने पर भी निज सत्ता का ध्यान नहीं खोना, अपनी सत्ता को नहीं भूलना, इसका नाम भेदविज्ञान है। ऐसे ही विजातियों के बीच में, एक नहीं, दो नहीं, एक सौ अड़तालीस विजातियों के बीच में मेरी जाति विराजमान है। एक सौ अड़तालीस तो मुख्य हैं, इनके भेद–प्रभेद असंख्यात–लोक–प्रमाण हैं। उनके बीच में रहकर भी मैं अपनी प्रभुत्व–सत्ता को नहीं भूलता हूँ, यही मेरी सर्वज्ञ–शक्ति है।

मनीषियो! नौवीं शक्ति, सर्वदर्शित्व–शक्ति कहती है कि त्रैकालिक द्रव्यों पर दृष्टि डालकर निजद्रव्य की दृष्टि को मत खो बैठना। इससे बड़ा कोई भेदविज्ञान नहीं हैं। यह संयोग–संबंध सुहावने मिलेंगे, इनमें भूल मत जाना, क्योंकि संसार में रुलाने वाला कोई है तो पुण्य का फल है, पुण्य नहीं। चक्रवर्ती



आदि की विभूति अभ्युदय–सुख है और सिद्धत्व की प्राप्ति, अरहंत– अवस्था की प्राप्ति, यह सब निःश्रेयस–सुख है। सम्यक्दृष्टिजीव का पुण्य निःश्रेयसरूप फलित होता है और मिथ्यादृष्टि का पुण्य अभ्युदयरूप फलित होता है, लेकिन अभ्युदय की प्राप्ति होना गलत नहीं है, वह तो नियम से होगी, क्योंकि पुरुषार्थ कम था, इसलिए अभ्युदय नियम से फलित होगा। आपकी कोई ताकत नहीं है कि तपस्या करो और विभूति न मिले। आप रोक नहीं सकते। जिसकी तपस्या तीव्र होती है, परंतु तीव्रता में जहाँ मंदता होती है, वहाँ अभ्युदय फलित होता है और जिसकी तपस्या उत्कृष्ट में उत्कृष्ट होती है, वो निःश्रेयस फलरूप फलित होती है। लेकिन जो आस्रव हो रहा है, उसे कोई टाल नहीं सकता। पुण्य की प्राप्ति का हो जाना यह पुण्य का वेग है। पुण्य के वेग को सँभालकर पचा जाना, यह ज्ञान का और विवेक का काम है, क्योंकि पुण्य के वेग में अपने आपको परमात्मा समझकर पुण्य को पुण्य नहीं समझता। अहो! ध्यान रखो, परमात्मा तभी बनोगे, जब पुण्य व पाप दोनों विनश जायेंगे। जब तक तीव्र पुण्य का उदय नहीं आयेगा, तब तक परमात्मा नहीं बनोगे। आचार्य कुंदकुंददेव ने 'प्रवचनसार'जी में स्पष्ट लिखा है–'पुण्यफला अरिहंता' यह औदयिक–भाव है और जब उस औदयिक–भाव का अभाव होगा, तब ही निर्वाण की प्राप्ति होगी। सिद्धत्व की प्राप्ति भी तभी होगी जब भव्यत्व–भाव (पारणामिक–भाव) का भी अभाव होगा। अहो ज्ञानियो! अरिहंत–परमेष्ठी को भी पुण्य का क्षय करना पड़ता है, तो फिर तुम्हारे पुण्य की क्या बात है ? तेरहवें–चौदहवें गुणस्थान में पुण्य–प्रकृति का ही क्षय कराया जाता है। कर्मों की स्थिति को आयुकर्म के बराबर करने के लिए वे केवली–समुद्घात करते हैं।

भो ज्ञानी! जिसे जिनागम पुण्य कहता है, उसे आपने समझा ही नहीं। पाँचवें पाप को पाप नहीं, तुम पुण्य कहते हो। पाप से लिप्त जीव को पुण्यात्मा कहते हो, तो निर्ग्रंथों को पाप–आत्मा कहो। परिग्रह की प्राप्ति और परिग्रह का संचय, यह पुण्य नहीं है, यह पुण्य का फल है और यह निर्ग्रंथ–दशा पाप नहीं है और पाप का फल भी नहीं। निर्ग्रंथ–दशा को प्राप्त करके भी पुण्य का फल ही निहारा, तो धिक्कार है, तूने कुछ नहीं जाना। निर्ग्रंथ–दशा को प्राप्त करके मोक्ष मार्ग को देखना था, परन्तु तुने निर्ग्रंथ–दशा को प्राप्त करके चक्रवर्ती की विभूति को देख डाला। अहो ज्ञानी! निर्ग्रंथ–दशा की उस पावन चर्या को तूने पुण्य पर पटक दिया है; क्योंकि वह निर्ग्रंथ–दशा तो पुण्य और पाप के नाश के लिए थी परन्तु आपने निदान कर लिया कि मैं भी ऐसा बनूँ। भो ज्ञानी! आगम को समझो। देवसेन स्वामी ने 'भावसंग्रह' ग्रंथ में लिखा है–

सम्मादिट्ठी पुण्णं, ण होई संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्य हेउ होउ जहवि णिदाणं ण कुणइ।।

सम्यक्दृष्टि जीव का पुण्य संसार का नहीं नियम से मोक्ष का ही कारण होता है, यदि निदान नहीं करता तो। पुण्य संसार नहीं कराता, निदान संसार कराता है। पुण्य के फल की लिप्सा (मोह) बंध का कारण है। देह का मिलना बंध नहीं है, देह में चिपक जाना बंध है। अहो ! जिनेंद्र की देशना को प्राप्त करके जो भोग–सामग्री जुटाये, उस जीव का क्या परिणाम होगा ? आकिंचन्य धर्म की चर्चा करके कंचन बनकर भीख मांग रहे हो? इतना नहीं, और कुछ होना चाहिए। अब सोचो, तूने आकिंचन्य धर्म को किंचन पर न्यौछावर कर दिया। जिनवाणी सुनोगे तो कुछ सोचना। अहो आकिंचन स्वभावी



आत्माओ! आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि द्रव्य, धन, धरती, कुटुम्ब, परिजन आदि पुण्य नहीं, रत्नत्रय–धर्म पुण्य है। आचार्य भगवान् पूज्यपादस्वामी कह रहे हैं–

पुनात्यात्मानं पूयतेःनेनेति वा पुण्यम्। तत्सद्वेद्यादि।
पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। तदसद्वेद्यादि।

जिससे आत्मा पवित्र होती है, उसका नाम पुण्य है। आत्मा की रक्षा जिस पुण्य से होती है, उसका नाम पाप है। जो मोक्ष जाने से तेरी रक्षा करता है, मनीषियो! उसका नाम पाप है। भो भगवती आत्माओ! सोचो, पाँचवे पाप पर इतने मत रीझो कि सबकुछ नाश करके भी धन की प्राप्ति हो जाये। कुल का ध्यान नहीं, वंश का ध्यान नहीं, परंपरा का ध्यान नहीं, आम्नाय का ध्यान नहीं। यह भी विवेक नहीं कि क्या करना? शूद्रों के काम करने को तैयार हैं, पर पैसा आना चाहिए। द्वार पर लिखा है "वर्धमान जिनेंद्राय नमः" और नीचे लिखा है "ब्यूटी पार्लर", यह क्या हो गया ? धिक्कार है जो उज्ज्वल कुल में जन्म लिया। अरे! जिनशासन–जैसे उच्चकुल में जन्म लेकर भी तू शूद्रों के काम कर रहा है? मैं तो इसलिए कहता हूँ कि तुम्हें बुरा लग जाए, इसलिए नहीं कहता कि आप लोग खुश हो जाओ। ज्ञानी आत्माओ! ध्यान रखना, जीवन निष्कलंक जीना। कदम छूट सकते हैं, परंतु कलंक त्रैकालिक नहीं छूटता। कलंकी जीवन, क्या जीवन है? मनीषियो! काजल की कोठरी में कितना भी सयाना जाए, दाग तो लगाकर ही आयेगा।

भो मनीषियो! आचार्य भगवान् कुंदकुंदस्वामी 'समयसार'जी में कह रहे हैं–हे जीव! तू छूटना चाहता है, तो वैराग्य की सम्पत्ति को प्राप्त कर ले तुम सब भगवान् तो बनना चाहते हो, पर वैरागी नहीं बनना चाहते। भगवान् जिनेन्द्रदेव का उपदेश है कि कर्म में राग मत करो, पाँचवे पाप को पाप ही मानो। यदि पाँचवे पाप को पाप ही मान लिया तो विश्वास रखना कि चार पाप अपने आप छूट जायेंगे। अतः पूरा नहीं तो कम से कम परिग्रह का परिमाण भी आपने कर लिया तो आपके देश से गरीबी दूर भाग जायेगी। अहो आत्मन्! आपके घरों में ऐसी सामग्री रखी है जो कभी काम में नहीं आ रही, पर कोई माँगे तो, भैया! फिर काम आयेगी। पर कभी काम नहीं आयी। मालूम चला कि देखते–देखते हम भी पूरे हो गये, पर वे वस्तुएँ काम में नहीं आयीं। अहो! तू सोचता है कि भोग उसे कहते हैं जो भोगते–भोगते समाप्त हो जाए, लेकिन तूने भोगों को ऐसा भोगा कि तुमको ही भोगों ने भोगा। किसने किसको भोगा ? अच्छा बताओ कि पूरा कौन हुआ ? भोगों ने तुमको भोग डाला, लेकिन तुमने भोगों को नहीं भोगा। इसलिए संतोष को बुला लो, लक्ष्मी का दुःख समाप्त हो जाएगा।

भो ज्ञानी! परिग्रह–संज्ञा में संतोष लाओ, परिग्रह की संज्ञा को मिटा दो। अपने पिताजी से पूछ लेना कि पिताजी आपको संतोष है कि नहीं। बोले–बेटा! जब तुम नहीं थे, तब भी असंतोष था और जब से तुम आ गये तो दूना असंतोष हो गया। अब क्या बोले मत पूछो, मुठ्ठी में बंद रहने दो हमारी बातें। मनीषियो! सुखिया वही है, जो इच्छा को त्यागे, जब तक इच्छा नहीं छूट रही, सुखिया नहीं बन पाओगे। इसलिए पुण्य तो आयेगा ही, लेकिन उसमें फूल नहीं जाना, नहीं तो कूलना पड़ेगा। अहो! सम्पत्ति मिल जाए, बस। महाराज! और कुछ नहीं चाहिए। जितनी भी सभा दिख रही है, कोई हाथ देखनेवाला झूठ–मूठ इतना कह दे कि तुम यह पुड़िया ले जाओ और संदूक में रख देना, तो



देखो आजकल कैसी पेटियाँ बिक रहीं हैं? हाँ इतना अंतर रहेगा कि जो बिल्कुल अज्ञानी है, वह तो खुलेआम ही आयेंगे और जो कुछ ढँके हुये हैं, वह दूसरे को भेजकर पुड़िया मँगा लेंगे। भो ज्ञानी! वह ठीक तो कह रहे हैं–तत्त्व की पुड़िया ले जाओ, आत्म–संदूक में रख लो, रत्नत्रय के मोती निकल आएँगे। तुम कहाँ मोतियों की बातों में पड़े हो? यह मोह/ममत्व के परिणाम मोहनीयकर्म की उदीरणा से होते हैं। इसलिए जो–जो वस्त्रों में लिपटे हैं, वे निर्ग्रंथ नहीं हैं। जो निर्ग्रंथ नहीं हैं, उनकी मुक्ति नहीं है। कुंदकुंद आचार्य "अष्ट पाहुड़" ग्रंथ में स्पष्ट लिख रहे हैं कि–

ण वि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरे।
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे२३।। अ.पा./स.पा.।।

जिनेन्द्र के शासन में तीर्थंकर ही क्यों न हों, वस्त्र धारण करके मोक्ष नहीं जा सकते। अन्य उन्मार्ग हैं, मार्ग तो निर्ग्रंथ–मार्ग है। मनीषियां! अब सम्पूर्ण परिग्रह के बिना भी यदि मूर्च्छा है, तो परिग्रह है, इस प्रकार जानना।





ममत्व का हेतु परद्रव्य है

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छा निमित्तत्त्वम्।। ११३।।

अन्वयार्थः यदि एवं = यदि ऐसा। भवति = होता (अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह होता,)। तदा खलु = तो निश्चय करके। बहिरंगः परिग्रहः = बाह्य परिग्रह। कः अपि भवति न = कोई भी न होता। (सो ऐसा नहीं है,) यतः असौ = क्योंकि यह बाह्य परिग्रह। मूर्च्छा निमित्तत्त्वम् = मूर्च्छा के निमित्तपंने को। नितरां धत्ते = अतिशयता से धारण करता है।

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति।।११४।।

अन्वयार्थः एवं परिग्रहस्य = इस प्रकार (बाह्य) परिग्रह की। अतिव्याप्तिः स्यात् = अति व्याप्ति होती है। इति चेत् = ऐसा कदाचित कहो तो। एवं न भवेत् = ऐसा नहीं हो सकता। यस्मात् = क्योंकि अकषायाणां = कषायरहित (अर्थात् वीतरागी पुरुषों के)। कर्म ग्रहणे = कार्माण–वर्गणा के ग्रहण में। मूर्च्छा नास्ति = मूर्च्छा नहीं है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। उनकी पावन पीयूष देशना जन–जन की कल्याणी है। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने अलौकिक सूत्र दिया है कि 'जहाँ मूर्च्छा है, वहाँ परिग्रह है। मूर्च्छा का नाम ही परिग्रह है। द्रव्य की प्राप्ति पुण्य से होती है, लेकिन पाप की प्राप्ति परिणति से होती है। अरे भाई! तू बाजार में सामग्री लेने जाता है तो द्रव्य को देता है, तभी तो द्रव्य मिलता है। पुण्य का द्रव्य नहीं है। तो विश्व में चले जाना, तुम्हें कहीं भी कुछ भी नहीं मिलेगा। इसलिए इच्छाओं को कितना ही बढ़ा लो, इच्छा बढ़ाकर पाप का आस्रव तो कर सकते हो, लेकिन द्रव्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। परंतु यह मत सोचना कि जिसके पास कुछ नहीं है वो अपरिग्रही हो सकता है। जिसके पास सब कुछ है, वे कुछ नहीं हैं। जिसके पास कुछ नहीं है, वे सब कुछ हैं। अन्यथा जितने भिखारी हैं, वे सब अपरिग्रही हो जायेंगे।

अहो! जिनवाणी माँ कह रही है कि जिसके पास एक मकान है, वह एक मकान का आस्रव कर रहा है और जिसके पास एक भी मकान नहीं है, वह शहर में जितने मकान हैं उन सबका पाप कमा रहा है, क्योंकि जब–जब निकलता है भवनों के नीचे से, तब–तब विचारता है कि ऐसा ही मेरा होता। इसलिए आचार्य भगवान् अमृतचन्द्रस्वामी की बात को स्वीकार कर लो, परिग्रह की वृत्ति को परिमित कर लो। परिग्रह पाँचवाँ पाप है। जिसे तू पुण्य का योग कह रहा है, उसे माँ जिनवाणी पाप का



संयोग कह रही है। जितने पाप तुम कमा रहे हो वह सब परिग्रह के पीछे कमा रहे हो। धन मिल जाए, धरती मिल जाए और जब धन व धरती मिल जाती है, तो राग की वृत्ति तीव्र हो जाती है। फिर आप उपभोग की सीमा बढ़ा लेते हो; और जब उपभोग की सीमाएँ बढ़ती हैं, तो रोग की सीमा भी असीम हो जाती है; और कोई रोग है मनुष्य के अंदर, तो लोभ का रोग है।घर में बहुत सारी ऐसी सामग्री है जिसे आपने वर्षों से नहीं देखा, फिर भी यदि बाजार में कम कीमत में मिल जाए तो–ले लो, काम में आयेगी। यही लोभ की वृत्ति है।

भो ज्ञानी आत्माओ! परिग्रह के सद्भाव में भी तू निर्ग्रंथ बन सकता है। परिग्रही कभी निज शुद्धात्मा में लीन नहीं होता है। हे मुनिराज! ममत्व के बिना तुम्हारा आशीर्वाद का हाथ भी नहीं उठता। जो आशीर्वाद दिया जा रहा है, वह भी अनुराग है। परन्तु दृष्टि यह है कि जीव धर्म से जुड़ा रहे, धर्म–वृद्धि हो। हे प्रभु! जब तुम निज में होते हो, तो पर के धर्म का भी ध्यान नहीं होता है और जब तुम पर–धर्म को दृष्टि में रखते हो, तब तुम्हारा शुद्ध–उपयोग का निज–धर्म नहीं होता। देखो योगी को, जब आशीर्वाद देने में राग होता है तो, अहो भोगियो! घर को बसाने में तुम्हें वीतराग कैसे होता है ? ऐसा कहकर तू अपनी वृत्ति को स्वच्छंद बनाना चाहता है। जिस शासन ने राग को पुद्गल कह दिया हो, उस शासन में पर–पदार्थ को आत्म–तत्त्व कैसे कहा जा सकता है ? राग जो पुद्गल है, वह कषाय–परिणति की अपेक्षा से कहा है, पर वास्तव में राग पुद्गल का धर्म नहीं; राग जीव की विभाव–अवस्था, विभाव–परिणमन है। यह विभाव–परिणति पुद्गल–धर्म के संयोग के कारण हो रही है। इसलिए, जैसे वस्त्र से मेरा ममत्व नहीं, ऐसे भोजन से मेरा ममत्व नहीं। वस्त्र भी पहन रहा है, भोजन भी कर रहा है और फिर भी ममत्व से रहित हो रहा है ?

भो ज्ञानी! इस जीव के सामने जैसा द्रव्य आता है, उस जीव के ज्ञान का परिणमन वैसा होता है, क्योंकि रागियों, भोगियों को देखोगे, उनके पास बैठोगे तो नियम से तुम्हारी दशा वैसी ही होगी। हमारी जिनवाणी में लिखा है कि जिस जीव ने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली हो, उस जीव से कहा गया कि तुम युवकों के पास मत बैठो। जब युवकों के पास बैठने से मना किया है, तो युवतियों के पास बैठने को कैसे कह देंगे? अब सोचो, परिग्रह के साथ चौबीस घंटे तुम रहो और उसी को तुम दिन भर देखो, तो बताओ कौन–सा ध्यान चलता है ? परिग्रहानंदी, रौद्र–ध्यान है। आश्चर्य मत करना, एक ऐसे राजवैद्य थे, जो कह रहे थे कि सेठ जी! पहले पैसा दो, फिर उठाने देंगे पुत्र के शव को। ससुराल में रहकर वह वैद्य भी नगर का सेठ बन गया। पूरे नगर में खपरैल के मकान, परंतु वैद्य जी के तिमंजिले बने हुये थे देहात में। संसार की दशा देखो कि कुछ ही दिन बाद मालूम चला कि वैद्य जी के पुत्र और पत्नि की मृत्यु भी हो गई और लोगों को सहन नहीं हुआ तो डाका डाल दिया। फिर भी बहुत कुछ बचा, लेकिन देखते ही देखते जो नाती था उसने इतने कर्म किए कि मालूम चला कि ऋण ही ऋण सिर पर खड़ा हो गया। इसके बाद वह दिन मेरी आँखों में दिख रहा है कि जिस दिन उस भवन को बेचकर जा रहे थे। यह है परिग्रह की दशा।

भो ज्ञानी! यह बात असत्य है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, यह सब पुद्गल का परिणमन है। लेकिन तुम्हारे ममत्व का परिणाम क्या चल रहा है ? आचार्य कुंदकुंद देव की गाथा पुनः उच्चारित कर लो एक बार, कि "जिनेन्द्र के शासन में वस्त्रधारी को सिद्धि होने वाली नहीं है, वह तीर्थंकर



भी क्यों न हों। नग्नता ही मोक्षमार्ग है; शेष सभी उन्मार्ग है। इसलिए उन्मार्गों में मार्ग की खोज मत करने लगना। भो चैतन्य आत्माओ! आचार्य योगेन्दुदेव स्वामी 'परमात्म प्रकाश' ग्रंथ में कह रहे है कि जिसके हृदय में मृगनयनी निवास कर रही है, उसकी दृष्टि परमब्रह्म में हो, यह संभव नहीं है। एक म्यान में दो तलवार नहीं होती। इसलिए, व्यर्थ की बातें समाप्त करके उस परमब्रह्म की खोज करना है तो परिग्रह को छोड़ना पड़ेगा। देखो, जब वज्रनाभि चक्रवर्ती दीक्षा लेने लगा तो बेटे को बुलाकर कहता है, बेटा! इधर आओ, मैं आपको यह राज्य देता हूँ। पिताश्री ! आप क्यों छोड़ रहे हो ? बेटा! यह राज्य–समाज महापाप का कारण है। जिसका कोई बैरी न हो, उसके बैरी बन जाएँगे अपने आप। बेटा बोला--आप मेरे तात हो और बैर को बढ़ाने वाले इस राज्य को मुझे दे रहे हो ? अरे! पिता तो वह होता है जो पुत्र को पतन से बचा ले और आप मुझे पतन में डाल रहे हो ? प्रभो! जो तेरी समझ, वह समझ मेरी। मुझे नहीं चाहिए आपका राज्य। जब तक ऐसी दृष्टि नहीं आयेगी, तब तक मूर्च्छा, परिग्रह हटनेवाला नहीं।

मनीषियो! 'मूर्च्छा परिग्रह': शब्द को न समझने के कारण ही सग्रंथ होकर अपने आप को निर्ग्रंथ मानकर बैठ गए। चौदह उपकरण श्वेताम्बर आम्नाय में मुनियों के माने गये हैं। लेकिन आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी को यह अभिप्राय स्वीकार नहीं था। श्वेताम्बर साहित्य में प्रसिद्ध ग्रंथ है कल्पसूत्र। जैसे आप पर्यूषणपर्व में तत्त्वार्थसूत्र का पाठ करते हो, वे कल्पसूत्र का पाठ करते हैं। कल्पसूत्र में जिनकल्पी को दिगम्बरसाधु स्वीकारा है और स्थविरकल्पी को श्वेताम्बर साधु स्वीकारा है। परंतु जैनाचार्यों का ऐसा अभिप्राय नहीं है। वह कह रहे हैं कि जिनकल्प यानि जो साक्षात् जिनेन्द्र की चर्या होती है, वह जिनकल्पी कहलाती है, जो पंचमकाल में संभव नहीं है। पैर में काँटा चुभ जाये तो जिनकल्पी साधु कभी निकालेगा नहीं। यह चातुर्मास विदिशा के शांतिनाथ जिनालय में नहीं होना चाहिए था, यह चातुर्मास किसी पर्वत अथवा वृक्ष के नीचे होना चाहिए था। यह जिनकल्पी मुनिराज की साधना है। स्थविरकल्पी मुनिराज पंचमकाल के मुनिराज होते हैं। यदि जीव आता है तो पिच्छी से हटा सकते हैं। प्रत्येक तीर्थंकरकेवली जिनकल्पी ही होते हैं।यदि वर्तमान के मुनि के पैर में काँटा चुभ जाए, तुम निकाल लेना, निकलवा लेना। क्यों ? तुम्हारा बज्रवृषभनाराच संहनन नहीं है। तुम्हारा पैर सड़ जाएगा, और पैर सड़ेगा तो साधना में सड़न आयेगी। इसलिए तुम संभल के चलना। उतना संहनन नहीं। तुमको नाना उपचार कराना पड़ेगा तो उसमें ज्यादा विराधना होगी। इसलिए निकाल लो, जिनवाणी की आज्ञा है। आज्ञाभंग दोष नहीं है। जिस काल में जैसी साधना संभव हो वैसी करना, पर विराधना मत करना। 'मूर्च्छा ही परिग्रह है;' यदि आपने ऐसा मान लिया तो निश्चय ही बहिरंग परिग्रह कुछ भी नहीं होता, ऐसा नहीं है।

भो ज्ञानी! जो मूर्च्छा का निमित्त होता है, वह बहिरंग परिग्रह है। इसलिए निमित्त नहीं होगा, तो अंतरंग परिग्रह भी नहीं होगा। आचार्य भगवान् ने निमित्त होने के कारण को भी परिग्रह कहा है। परद्रव्य मूर्च्छा के हेतु हैं, ममत्व के कारण हैं, इसलिए कारण को भी परिग्रह कह दिया है। पर वास्तव में परिग्रह तो ममत्व–परिणाम ही है। लेकिन उस परिणमन का जनक तो परद्रव्य ही है। इसलिए उनको भी छोड़ना चाहिए। अतः, 'मूर्च्छा परिग्रहः' जो कहा है, परद्रव्य का सद्भाव ही परिग्रह है। कभी यह मत कह बैठना कि मूर्च्छा छोड़ो। मूर्च्छा भी छोड़ो, परद्रव्य को भी छोड़ो। जो कषाय से रहित वीतरागी



है, उनके भी कार्माण–वर्गणाएँ आ रहीं हैं, भो ज्ञानी ! वे मूर्च्छा के अभाव में ही आ रहीं हैं, मूर्च्छा के सद्भाव में नहीं आ रही हैं; क्योंकि वीतरागियों के राग नहीं होता है। इसलिए परद्रव्य का होना मात्र परिग्रह नहीं है, साथ में मूर्च्छा का होना भी परिग्रह है। यदि परद्रव्य को ही परिग्रह मान लोगे, तो समवसरण में विराजमान तीर्थंकरों से बड़ा परिग्रही कोई नहीं है और इतना बड़ा परिग्रही तो सिद्धालय में नहीं जाएगा, वे नरक में चले जाएँगे। इसलिए वहाँ क्या कहना ? उनके कषाय नहीं हैं। इसलिए बाहरी द्रव्यों का होना, भिन्न द्रव्यों का होना यदि बंध करा देगा तो अग्नि के देखने से आँखें जल जाएँगीं। इसलिए परिग्रह का होना व परिग्रह में लिप्त होना, इन दोनों से ही कर्म–बंध होता है, इसको समझना।



भोग नहीं, योग है निर्जरा का हेतु

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु।।११५।।

अन्वयार्थ : सः = वह (परिग्रह)। अतिसंक्षेपात् = अत्यन्त संक्षिप्तता से। आभ्यन्तरः च बाह्यः = अन्तरंग और बहिरंग। द्विविधः भवेत् = दो प्रकार का होता है।च और। = प्रथमः = पहिला (अर्थात् अन्तरंग परिग्रह)। चतुर्दशविधः = चौदह प्रकार का। तु = तथा। द्वितीयः =दूसरा (अर्थात् बहिरंग परिग्रह)। द्विविधः भवति = दो प्रकार का होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी की पावन–पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने अमूल्य सूत्र दिया है कि जहाँ ममत्व है, वहाँ बंध है; क्योंकि द्रव्य के सद्भाव में भी बंध होता है और द्रव्य के अभाव में भी बंध होता है। यह मोह की अग्नि बहुत उत्कृष्ट है। मोह की अग्नि की महिमा अनंत है। जब द्रव्य होता है, तो जलाती ही है; और जब द्रव्य नहीं होता तो भी जलाती है। जब द्रव्य होता है तो भोगों की लिप्सा झुलसाती है। जब द्रव्य नहीं होता, तो भोग–सामग्री की प्राप्ति की लिप्सा जलाती है। जब भोग को भोग चुकता है, तो पश्चाताप की भट्टी में झुलसता है। आत्मा के त्रैकालिक गुणों का जो दहन करे, उसका नाम भोग–अग्नि है, मोह–अग्नि है।

अहो चेतन आत्मा! संयमरूपी चादर के प्रभाव से तू अशुभ की ठण्डी से बच रहा था, पर भोगों की निद्रा में इतना लिप्त हुआ कि अपने पुण्य के चादर को ही फाड़ डाला। अरे ! जब पाप की ठण्डी लगने लगेगी, तब मालूम चलेगा कि, हाय! मैंने तो पुण्य का चादरा ही फाड़ डाला। मोह की विडम्बना तो देखो, जो विशाल काष्ठ में छिद्र कर देता है, वृक्ष की कोटर में अपने घर बना लेता है; लेकिन वह भ्रमर कोमल कमल को नहीं छेद पाता है।

भो ज्ञानी! पर्याय को मिटाने का भाव मत रखो। अज्ञानी पर्याय मिटाने की चिंता में मिट रहे हैं, जबकि ज्ञानी अशुभ–परिणामों को मिटाकर अमिट हो रहे हैं। अज्ञानी 'पर्याय निर्मल हो जाये, पर्याय सुधर जाये,' ऐसा चिल्लाकर पर्यायों में भटक रहे हैं और ज्ञानी अपने परिणामों को सुधारकर परमेश्वर बन रहे हैं। इसलिये, परमेश्वर बनना है तो परिणामों को सुधारो, पर्याय को नहीं; पर्याय तुम्हारी स्वयं सुधर जायेगी। भो ज्ञानी! षट् द्रव्य का परिणमन जहाँ होता है, उसी का नाम संसार है। सिद्ध भगवान् संसार में ही हैं। अतः, संसार से उदास मत होना, संसरण से उदास हो जाना। ज्ञानी संसार से उदास नहीं होता, ज्ञानी संतति/भ्रमण से उदास होता है। जो संसार से उदास होता है, वह संसार–भ्रमण के कारणों को पहले ही छोड़ देता है। यदि चार व्यक्तियों ने चार अच्छी बात कह दी तो संसार नजर



आने लगता है, अन्यथा संसार असार है। घर में कुछ हो गया हो तो द्वारे पर आकर बैठ गये। क्यों, भैया! क्या हो गया ? 'कुछ नहीं, सब असार ही है, सब स्वार्थ के हैं।' लेकिन कहीं बेटा आकर पाँव पड़ गया और दूध से भरा गिलास पकड़ा गया, तो तुम्हारी कोई ताकत नहीं है कि तुम उनसे कहलवा लो कि संसार असार है। यह संसार तभी तक असार होता है, जब तक स्वार्थ की सिद्धि नहीं होती और स्वार्थ की सिद्धि होने लग जाये, तो लगता है कि सार ही सार है। मनीषियो! जब तक सार या असार पर दृष्टि है, तब तक समयसार के पुजारी तो हो सकते हो, लेकिन समयसार नहीं हो सकते।

भो चेतन! देखो कषाय कम हो गयी तो दिख नहीं रहीं, वासनायें कम हो गयीं तो दिख नहीं रहीं। झूठ बोल रहे कि सत्य बोल रहे हो, यह क्या दिख नहीं रहा ? चोरी कर रहे हैं, पर समझ में नहीं आ रहा है, लेकिन पाँचवा पाप परिग्रह सबको बता देता है कि क्या है। धिक्कार हो ऐसे परिग्रह को जो मेरे भगवान् को ढँके हुये है।

भो ज्ञानी! सम्यक्दृष्टिजीव तो भोग को भोगकर कर्मों की निर्जरा कर रहा है, भोगों से निर्जरा हो रही है। आचार्य भगवान् कुंदकुंददेव बड़ी सहज भाषा में लिख रहे हैं कि जैसे मछली को खाने के लिये जल में कोई दाना डाला। वह दाना मछली को ही पुष्ट करता है, शंख या सीप पर प्रभाव नहीं डाल पाता, जबकि वह भी जल में है। ऐसे ही संसार में तुच्छ भोगों की क्या बात करो? जो भोग नश जाये, उन भोगों की क्या बात करो ? संसार में विश्व का सबसे बड़ा कोई भोगी है, तो वह तीर्थंकर अरहंतदेव हैं, क्योंकि आप जो इंद्रिय-भोग भोग रहे हो, वह क्षायोपशमिक है, नाश होने वाला है। पर तीर्थंकर के भोग क्षायिक हैं।

भो ज्ञानी! नौ लब्धियों में क्षायिकभोग और क्षायिकउपयोग लब्धि भी है। तीर्थाकर के भोगान्तराय-कर्म का क्षय हो चुका है। जो समवसरण में पुष्प-वृष्टि होती है, वह तीर्थंकरदेव का क्षायिक उपभोग कहलाता है। ऐसा भगवान् पूज्यपाद स्वामी व अकलंक स्वामी ने "सर्वार्थसिद्धि," व "राजवर्तिक" ग्रंथ में लिखा है। तीर्थंकर जिनदेव क्षायिक-भोग भोगते हुए भी कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं, क्योंकि उनके मोह का अभाव है। आगम यह कह रहा है कि भोग भोगने से निर्जरा नहीं होती तथा भोग भोगते हुये भी कर्म की निर्जरा हो सकती है। ध्यान रखो, सविपाक निर्जरा तो हो ही रही। चाहे तुम भोगो या न भोगो, लेकिन वो तो कर्म उदय में आकर खिर रहा है। भोगों से अविपाक निर्जरा नहीं होती। जो जीव क्षायिक-सम्यक्त्व से युक्त होकर बैठा है, या उपशम सम्यक्दृष्टि है, या क्षयोपशम सम्यक्दृष्टि है, वह जीव किसी भी कार्य में लिप्त हो, लेकिन सम्यक्त्व का जो श्रद्धा गुण है; उसका विनाश नहीं है। सम्यक्दृष्टि श्रावक जब व्यापार कर रहा होता है, तब उपयोग तो व्यापार में लगा हुआ है, परंतु उसका सम्यक् श्रद्धान उसका विचलित नहीं है, तो वहाँ पर निर्जरा हो रही है। सम्यक्दृष्टि जीव सम्यक गुण से समन्वित होने से मिथ्यात्व संबंधी जो आस्रव हो रहा है, उसका वह वहाँ पर संवर भी कर रहा है। लेकिन वहाँ भोगों से संवर व निर्जरा नहीं है, सम्यक्दर्शन से ही संवरा व निर्जरा कर रहा है। भोगों से निर्जरा नहीं है, वह श्रद्धा-गुण के कारण निर्जरा है, पर असंयमसंबंधी आस्रव अभी भी जारी ही है।

भो चैतन्य! जितने अंश में श्रद्धा काम कर रही है, उतने अंश में बंध नहीं है; पर जितने अंश में राग है, उतने अंश में बंध है। जितने अंश में सम्यक्ज्ञान है, उतने अंश में बंध नहीं है; पर जितने



अंश में राग है, उतने अंश में बंध है। जितने अंश में सम्यक्चारित्र है उतने अंश में बंध नहीं है; पर जितने अंश में राग है, उतने अंश में निश्चित बंध है। इसलिये, पुनः समझना भगवान् कुंदकुंददेव का अभिप्राय कि भोग भोगते भी निर्जरा होती है। जैसे, व्यापारी को व्यापार में, रागी को राग में जो आनंद आता है, योगी को भी वीतराग–भाव में वही आनंद आता है। वह वीतरागी निज चेतन–रमणी का भोग भोगता है। रागी विषय–रमणी का भोग भोगता हैं, वह भोग भोगते बंधता है और वीतरागी निज रमणी के भोग से निर्बंधता को प्राप्त हो जाता है। उसे भोग भोगने से निर्जरा कही है, परंतु संसार की रमणियों में रमण करने से निर्जरा नहीं कही है। वीतराग सम्यक्दृष्टि जीव वहाँ निजानन्द का उपभोग करते–करते कर्मों की निर्जरा करता है। जब तक निजानन्द का भोग नहीं होगा, तब तक शुद्ध उपयोग की दशा नहीं बनेगी। जब तक शुद्ध उपयोग की दशा नहीं बनेगी, तब तक जैसी निर्जरा मोक्षमार्ग में होना चाहिये; वैसी निर्जरा नहीं होगी।

भो ज्ञानी ! सम्यक्दर्शन कहता है कि पूर्णता तो तभी होगी, जब मैं चारित्र के शिखर पर बैठा दूँगा। क्योंकि मात्र सम्यक्दर्शन मोक्षमार्ग नहीं है, ''सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।'' जहाँ तीनों की एकता होती है, उसका नाम मोक्षमार्ग है। प्रत्येक मोक्षमार्ग नहीं है। इसलिये पंडित टोडरमल जी ने भी 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में लिखा है– 'सम्यक्दृष्टि मोक्षमार्गी होसी', अर्थात् सम्यक्दृष्टि मोक्षमार्गी नहीं है, होगा; अभी उपचार से मोक्षमार्ग है।

भो चेतन ! सम्यक्दर्शन बीज है, यह नकार मत देना। पर यह बीज तभी फलित होगा, जब चारित्र की भूमि में बोया जायेगा। सम्यक्दर्शन मोक्षफल देने वाला नहीं है। उसे आपको चारित्र की मिट्टी में डालना ही पड़ेगा। आचार्य योगीन्दुदेव स्वामी ने लिखा है–अहो ज्ञानी ! पिच्छी–कमन्डलों के ढेर लग गये, लेकिन मोक्ष नहीं हुआ। हे योगी ! पिच्छी–कमंडल लेने से मोक्ष नहीं मिलता, लेकिन ध्यान रखना, बिना पिच्छी–कमंडल लिये भी मोक्ष नहीं मिलता। इसलिये, 'सम्यक्दर्शन अभी प्राप्त कर लें, फिर पिच्छी–कमंडल ले लेंगे'–यह कथन दिगम्बर आम्नाय का नहीं है। ध्यान रखना, अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन काल के अंदर–अंदर उसका मोक्ष होगा, लेकिन तभी होगा जब नियम से निर्ग्रंथ–योगी बनेगा।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् कह रहे हैं–परिग्रह के सद्भाव में सम्यक्दर्शन कुछ नहीं कर पायेगा। परिग्रह जिसका उतर गया, वहाँ सम्यक्त्व की चर्चा करने की आवश्यकता ही नहीं है, वहाँ तो नियम से सम्यक्दर्शन होगा ही, क्योंकि पहला परिग्रह मिथ्यात्व है। इसलिये उभय परिग्रह का त्यागी ही सम्यक्दृष्टि है। वही सम्यक्ज्ञानी और सम्यक्चारित्र वाला है। भो चेतन! जो दिखता है, वह द्रव्यलिंग है; पर जो होता है, वह भावलिंग है। इसलिये द्रव्यलिंग होना जरूरी है। बिना द्रव्यलिंग के भावलिंग की पहचान नहीं होती। ऐसा आचार्य इंद्रनंदि स्वामी ने 'इंद्रनंदी–नीति सार' ग्रंथ में लिखा है। जैसे, देश में सिक्के की कीमत मुद्रा (सील) से होती है, ऐसे ही दिगम्बर मुद्रा की कीमत पिच्छी–कमंडल से ही होती है। अतः जब भी मोक्ष मिलेगा, तो पिच्छी–कमंडल से ही मिलेगा।





उभय परिग्रह के अभाव में फलती है अहिंसा

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः।।११६।।

अन्वयार्थः मिथ्यात्ववेदरागाः = मिथ्यात्व; स्त्री, पुरुष और नपुंसकवेद के राग। तथैव च = और इसी प्रकार। हास्यादयः षड्दोषाः च = हास्यादिक (अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक,भय, जुगुप्सा) छह दोष। चत्वारः कषायाः = चार कषायभाव (अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय और संज्वलन) ।आभ्यन्तरा ग्रन्थाः चतुर्दश = अन्तरंग–परिग्रह के चौदह भेद हैं।

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्।।११७।।

अन्वयार्थः अथ = इसके बाद (अनन्तर)। बाह्यस्य परिग्रहस्य = बहिरंग परिग्रह के। निश्चित्त सचित्तौ = अचित्त और सचित्त ये। द्वौ भेदौ = दो भेद हैं। एषः सर्वः अपि = ये समस्त ही। सङ्गः = परिग्रह। कदापि हिंसाम् न अतिवर्तते = किसी काल में भी हिंसा का उल्लंघन नहीं करते (अर्थात् कोई भी परिग्रह किसी समय हिंसा–रहित नहीं है।)

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः।।११८।।

अन्वयार्थः जिनप्रवचनज्ञाः आचार्याः = जैनसिद्धान्त के ज्ञाता आचार्य। उभयपरिग्रहवर्जनम् =दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को। अहिंसा इति = अहिंसा, ऐसे। द्विविध परिग्रहवहनं = दोनों प्रकार के परिग्रह के धारण को। हिंसा इति सूचयन्ति = हिंसा, ऐसा सूचन करते हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान् वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य भगवान् अमृतचंद स्वामी ने अलौकिक सूत्र प्रदान किया है कि ममत्वदशा आत्मा की वीतराग दशा की शत्रु है। जीव के स्वभाव की विराधना, अपने वीर्य को छुपाने की परमकला है। हे वर्द्धमान! आप वीर हो गये, क्योंकि आपने अपने वीर्य की चोरी नहीं की। जिन्होंने अपने वीर्य की चोरी की है, वह महावीर नहीं, दरिद्री हो गये, संसार में भटक गये। ममत्व–दशा के पीछे उन्होंने अपनी वीरत्व– शक्ति का विनाश कर लिया। अहो! ममत्व की महिमा तो देखो। वह ममत्व अनेक रूपों में बिखरकर आता है। कभी राग में बदलता है तो कभी द्वेष में भी बदल जाता है। ममता पहले माँ बनकर आती है,



जब ममता पूरी नहीं हो पाती है तो ममता अपनी समता को खोकर सियालनी के रूप में बेटी को ही खा लेती है। इसलिए ममता से डरकर जीना। इतिहास साक्षी है कि ममता ने ही समता को खाया है।

भो ज्ञानी! एक सेठ आँखो में आँसू भरकर बोला "भगवन्! मैं साधुजनों के दर्शन करने को तड़प रहा हूँ। लोग तो विभूति को देखकर खुश होते हैं, पर मैं वैभव को देखकर दुःखी हूँ, क्योंकि लोगों को हमारा वैभव तो झलकता है, लेकिन खर्च नहीं झलकता। मैं जहाँ भी जाता हूँ, वहाँ लोग मुझे पहले ही पकड़ लेते हैं कि इतना दान देते जाओ। मेरी हालत को नहीं समझते हैं। मैं क्या करूँ? प्रभु! आपके पास भी आया हूँ तो छिपकर आया हूँ। मेरी बड़ी विड़म्बना है। इस ममता ने मेरी समता को समाप्त कर दिया है, क्योंकि पहले लगता था कि जोड़ लो, अब लगने लगा है कि छूट न जाये।" हे अर्थ–लोलुपियो! तुम्हें धिक्कार है। जो सांस लेने न दे, उस संपत्ति से क्या प्रयोजन? एक गरीब खेत में मिट्टी के ढेलों में चैन की नींद सो रहा है, दूसरा जीव गद्दे पर पड़ा हुआ है तथा सोने की चैन गले में पड़ी है, जो उसे चैन से सोने नहीं दे रही थी। यह संसार की दशा है।

अहो मनीषियो! सुख–चैन का जीवन जीना चाहते हो तो चैनों को उतारकर चैतन्य प्रभु को ही देखना पड़ेगा। जब तक चैतन्य आत्मा पर दृष्टि नहीं है, तब तक चैन की नींद आने वाली नहीं है। आचार्य अमृतचंद स्वामी भी आपको छुड़ाने की बात नहीं कर रहे हैं, आपको चैन से सुलाने की बात कर रहे हैं। अहो! जिनवाणी को सुनने–सुनाने में जो आनंद है, लगता है इस पर्याय में दूसरा कोई आनंद नहीं है, क्योंकि निज समरस से भरी वाणी वर्द्धमान की देशना से ध्वनित होती है। सम्राट श्रेणिक बार–बार विपुलाचल पर जिनेन्द्र की देशना सुनने जाता था। अहो! जिस जीव ने साठ हजार प्रश्न किये हों, उस जीव के पुण्य की कैसी प्रबलता होगी? अंतरंग विशुद्धि से भरा जीव था। राजा श्रेणिक की वही प्रवचन–दृष्टि तीर्थंकर प्रकृति का बंध करा गयी। प्रवचन यानि जिनवाणी। जिसको तत्त्व पर श्रद्धा है, वही तो सम्यक्दृष्टि है, वही दर्शनविशुद्धि है। तत्त्वों के अनुसार प्रवृत्ति है, वही तो आचार है तथा तत्त्वों में गहन अध्ययन की प्रवृत्ति ही तो अभीक्ष्ण–ज्ञान का उपयोग है। तत्त्व को समझकर सम्यक्त्व को प्राप्त हो रहा है, वही तो संवेग–भावना है। तत्त्व को समझकर त्याग कर रहा है, वही तो त्याग है। साधुसमाधि, वैय्यावृत्ति, अर्हंत–भक्ति, बहुश्रुत–भक्ति, आचार्य–भक्ति, प्रवचन–भक्ति आदि सोलह भावनाएँ सभी प्रवचन–भावना पर टिकी हुई हैं। मनीषियो! विश्व में सबसे बड़ा प्रवचनकर्ता कोई है तो तीर्थंकर अर्हंतदेव हैं। प्रवचन भक्ति का यह प्रभाव है कि वर्द्धमान जिनेन्द्र की दिव्यदेशना जब श्रेणिक सुनता है तो गद्गद् हो जाता है। मिथ्यात्व की वह कणिका जो मुनिराज यशोधर के चरणों में गिर चुकी थी, वह सब भगवान् महावीर के समोवशरण में धुल गयी। नरक आयु का वह बंधक क्षायिक–सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है और सातवें नरक की आयु को क्षीण करके प्रथम नरक की चौरासी हजार वर्ष की आयु को प्राप्त कर लेता है।

भो ज्ञानी! जिनदेव की देशना को भूल मत जाना। जब भी आपको ममता की माँ पुकार रही हो तो उस समय समता की माँ (जिनवाणी माँ) आपको वहाँ से निकालकर समीचीन मार्ग पर रख देगी। ध्यान रखना, जो एक बार जिनवाणी माँ की गोद में आ गया, वह कभी माँ की गोद को छोड़कर नहीं जायेगा। जीवन में परिग्रह किसी का न हुआ, न होगा। ममता बढ़ने से विषमता आ जा जाती है। आप जितना ज्यादा कमाकर लाओगे, उतने शत्रु बनाकर जाओगे। मनीषियो! द्रव्य तुम्हारे प्राण



भी छिनवा सकता है। अहो! उस मृग से पूछो, जो कस्तूरी के पीछे अपने प्राणों को नष्ट कर देता है। उस हाथी से पूछो, गजमुक्ता के पीछे जिसके प्राण चले जाते हैं। तुम तो बहुआरंभ परिग्रह से युक्त परिणति बनाकर बैठे हो, यदि आयु–बंध आ गया तो नियम से नरक–आयु का बंध होगा, फिर कोई रोकने वाला नहीं है। तीर्थंकर के समवसरण में बैठे राजा श्रेणिक ने भले ही साठ हजार प्रश्न किये हों, परंतु वे भी नरक–आयु को समाप्त नहीं कर पाए। उन्हें भी नरक जाना ही पड़ा।

भो ज्ञानी! मोक्षमार्ग पर पुरुषार्थ किया नहीं, ममता व परिग्रह तथा भोगों को छोड़ा नहीं और कहने लगे कि योग–धारण की काललब्धि नहीं आयी। इसीलिए आचार्य भगवान् अमृतचंद स्वामी कह रहे हैं कि आत्मकल्याण में छल पूर्ण भाषा का उपयोग निज से छल है। मनीषियो! शक्ति तो आपके अंदर त्रैकालिक है, पर आप अपने वीर्य को छिपा रहे हो। इस ताकत को मत छिपाओ। तेरे पास तो लोकालोक को प्रतिबिंबित करनेवाली शक्ति है। उसी का नाम तो सैंतालीस शक्तियों में स्वच्छत्व की शक्ति है। जो कि बिल्कुल निर्लिप्त है। अहो! स्फटिकमणी के ऊपर कितनी ही धूल फेंक दो, उसमें कोई मलिनता नहीं आयेगी। ऐसे ही यह कर्म कितने ही खुश हो जायें, वे तुमको एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों से अलग नहीं होने देंगे। लेकिन स्वच्छत्व की शक्ति कहती है कि तुम कितनी ही कर्मों की धूल फेंको, वह ऐसी है जैसे दर्पण पर चढ़ी रज। वह उसके प्रतिबिम्बि धर्म को नष्ट नहीं करती।

भो ज्ञानी! आचार्य महाराज ने परिग्रह के दो भेद किये हैं, अतंरंग–परिग्रह और बहिरंग–परिग्रह। बहिरंग–परिग्रह के सचित्त, अचित्त, मिश्र–यह तीन भेद हैं। सचित्त–परिग्रह यानि स्त्री, पुत्र, गाय, भैंस आदि जो चेतना से युक्त है। धन–धान्य, सोना, चाँदी, घर, मकान–यह अचित्त–परिग्रह हैं। वस्त्र व आभूषण से सुसज्जित आपकी स्त्री, पुत्र आदि ये मिश्र–परिग्रह है।

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा।। २५।
आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि।
होहिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि।।२६।। (स.सा.)

'समयसार' में आचार्य कुंदकुंददेव कह रहे हैं–ऐसे तीन प्रकार के परिग्रह को अज्ञानी अपना त्रैकालिक मानता है। मैं इसका हूँ, यह मेरा है, ये भविष्य में मेरा होगा, ये भूत में मेरा हुआ था, ये मेरे रहे, इनका मैं रहूँ , इनका मैं था या ये मेरे थे, इनका मैं हूँ, ये मेरे हैं, ऐसे त्रैकालिक राग किये बैठा है। यह ममता करा रही है। अतः बंध का मूल–हेतु ममता है। ममता चाहे दर्शन– मोहनीय हो, चाहे चारित्रमोहनीय हो, लेकिन दोनों ही बंध कराती हैं। इसलिये आचार्य भगवान् अमृतचंद स्वामी ने स्पष्ट कह दिया है कि जब तक ममता है, तब तक अहिंसा नाम की वस्तु नहीं है।

भो चेतन! जहाँ शुभोपयोग की चर्चा चल रही हो, वहाँ ध्यान रखना, शुद्ध–उपयोग और अशुभ–उपयोग गौण है, परन्तु अभाव नहीं है; क्योंकि जैनदर्शन किसी पदार्थ का अभाव नहीं करता। अभाव पदार्थ का नहीं होता है, अभाव पर्याय का होता है। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अभाव ही है; परंतु स्वद्रव्य में स्वद्रव्य का अभाव नहीं होता; शुभ पर्याय में शुभ पर्याय का अभाव नहीं होता। लेकिन परिग्रह पुण्य नहीं है। यदि परिग्रह पुण्य होता, तो पाँच पाप में यह पांप का स्वामी क्यों कहा जाता ? और इसके



साथ जो लोभकषाय चलनेवाली है, उसे पाप का बाप कहा जाता है। परिग्रहसंज्ञा सबसे खोटी संज्ञा है। आहारसंज्ञा तो मात्र छटवें गुणस्थान तक चलती है, किन्तु शेष संज्ञाएँ चलती है आठवें गुणस्थान तक। मैथुनसंज्ञा नौवें गुणस्थान तक और परिग्रह'संज्ञा दसवें गुणस्थान तक चलती है।

भो ज्ञानी! परिग्रह के चौबीस भेद हैं। श्रावको! जब तक तुम परिग्रह का परिमाण नहीं करोगे, तो मुनिराज बनोगे कैसे? आप लोगों में से किसी को तीनलोक की संपदा आज तक नहीं मिली, लेकिन जब तक तुमने परिमाण नहीं किया, तब तक तीनलोक की संपदा का आस्रव जारी है। कम से कम आप लोग मध्यलोक की संपदा के परिग्रह का परिमाण कर लो और अधोलोक, ऊर्ध्वलोक के परिग्रह को छोड़ दो। मध्यलोक में भी तुम ढाईद्वीप के बाहर तो जा नहीं सकते हो, तो ऐसा कर लो कि ढाईद्वीप में जितने द्रव्य होंगे, उनका भोग करेंगे। आप पूरे भारत का ही भोग नहीं कर पा रहे हो, यदि ढाईद्वीप में परिमाण करने की भावना नहीं, तो पक्के में नरक–आयु का बंध हो चुका है। मनीषियो! परिग्रह उतना ही मिलना है, जितना पुण्य है, राग कितना ही कर लो। आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) ये चौदह अंतरंग–परिग्रह हैं।

भो ज्ञानी! जब तक आप जिनवाणी पढ़ोगे नहीं , सुनोगे नहीं, तो जिनेन्द्रदेव की आज्ञा मालमू कैसे होगी? अर्हत की आज्ञा क्या है और तुम्हारा सोच क्या है ? सोच में शिथिलाचार/ आडंबर है, किंतु जिनेन्द्र की आज्ञा नहीं है। जिनेन्द्र–आज्ञा तो शुद्ध है। जितनी आपकी सामर्थ हो, उतना पालन करो।



भिन्न-स्वरूपोऽहं

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरंग संगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्।।११९।।

अन्वयार्थ : हिंसापर्यायत्वात = हिंसा के पर्यायरूप होने से। अन्तरंगेषु = अंतरंग (परिग्रह) में। हिंसा सिद्धा = हिंसा स्वयंसिद्ध है। तु बहिरंगेषु = और बहिरंग परिग्रहों में। मूर्च्छा एव = ममत्व-परिणाम ही। हिंसात्वम् = हिंसा-भाव को। नियतम् प्रयातु = निश्चय से प्राप्त होते हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने बड़ा अनुपम सूत्र प्रदान किया है कि अपने जीवन में सत्य-स्वरूप को पहचानना है तो असत्य छोड़ने की आवश्यकता है, क्योंकि सत्य अपने आप में सहज है। सत्य की प्राप्ति के लिए कुछ नहीं करना पड़ता परन्तु असत्य जीवन जीने के लिए बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है। असत्य बनाना पड़ता है, असत्य छिपाना पड़ता है, छिपाने के पीछे न जाने कितने सत्य का बलिदान करना पड़ता है। यदि सत्य में जीना सीख लिया तो आपको किसी से डरने की जरूरत नहीं। डर तभी तक होता है, जब तक तेरा जीवन असत्य में होता है।

भो चेतन! सत्य किसी को ओढ़कर नहीं चलता, किसी का सहारा नहीं लेता। असत्य को सँभलने के लिए पर-का आलंबन लेकर चलना पड़ता है और सत्य अपने आप में शुद्ध होता है, इसलिए किसी की अपेक्षा नहीं रखता। यदि नेत्र में फुली है तो चश्मा चढ़ा लो, लेकिन यह तो बताओ कि चश्मे से क्या फुली समाप्त हो जाएगी ? परन्तु आपने असत्य के काले काँच को चढ़ा लिया दुनियाँ को अच्छा दिखाने के पीछे, पर तुम अच्छे कब हुए हो ? भो ज्ञानी! जो अच्छा दिखाना चाहता है, वह अच्छा होता नहीं है; अन्यथा सत्य को छिपाने के लिए चश्मा लगा क्यों? ध्यान रखो, जिस सत्य को आपने काँच में छिपा रखा है, प्रथम तो वह सत्य तेरे से नहीं छिपा तथा उस चश्मे को लगाकर आपने धोखा देने का प्रयास तो किया। दोष को छिपाने के लिए अनेक पर्दे डाल दिये हैं, लेकिन पीड़ा को छिपा कर बताओ, तब जानें। अहो! सत्य को केवली भगवान् से छिपा कर बताओ तो जानें। आपने चश्मे से अपनी विकृति को तो छिपा लिया, लेकिन आँख के दर्द को नहीं छिपा पाए। भो ज्ञानी! ध्यान रखो, तुम असत्य के पर्दे डालकर आत्मा को कितना ही ढँक लो, पर ऐसा कोई समय नहीं जब तेरी आयु का कपूर न उड़ रहा हो, प्रतिक्षण उड़ता है।

भो ज्ञानी! परिग्रह का संचय भी तेरी आयु को बचाने वाला नहीं है। आप कितनी व्यवस्थाएँ कर लो, वज्र-पटल बना लेना, जमीन के अंदर घुस जाना, पर आयु-कर्म तो आएगा ही। अहो! परिग्रह का संचय आप कितने दिनों के लिए कर रहे हो? बताओ, चार मंजिल भवन में तुम कितने दिन सो पाये हो ? जब कि कर्मसिद्धांत कह रहा है कि हमने आपको भवन दिया है, जब तक आयु है तब तक तुम इस मकान में बैठकर सुख-चैन से प्रभु का नाम लेना। परन्तु आपने यहाँ आकर इसका दुरुपयोग किया और गंदा कर डाला। ऐसे ही निर्मल पर्याय रूपी भवन तुझे प्राप्त हुआ है, परन्तु तुमने



विषय–कषाय की कीचड़ से इस भवन को इतना मलिन कर दिया कि उस कर्म को भी सोचना पड़ता है कि इस निकृष्ट जीव को मैं मनुष्य का आयुकर्म कैसे दूँ ?

अहो ज्ञानी! जिससे सिद्ध बना जाता है, उस सत्य स्वरुप को समझो। असत्य के पीछे सत्य का नाश मत करो। यदि इस पर्याय में संभल गये, तो अनंत पर्यायों से बच जाओगे। इसलिए परिग्रह में धर्म मत मानो और परिग्रह की बात को भी धर्म मत मानो। मनीषियो! धर्म वीतराग है और जिनेंद्र की वाणी वीतराग है। सम्यक्दृष्टि को अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल प्राप्त हुआ है, लेकिन उस जीव से कह देना कि उस अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में तुझे नियम से दिगम्बर होना पड़ेगा। हमारे आगम में पाँच प्रकार के वस्त्रों की चर्चा की है, लेकिन नमोस्तु–शासन कहता है कि भगवान् ऋषभदेव ने छल–मल (छाल–माल) के वस्त्रों को तो छोड़ दिया था। अहो दिगम्बर योगी! अब तुम छाल का वस्त्र भी धारण मत करो; क्योंकि माया, मिथ्या, निदान यह तीन शल्य हैं, यही आत्मा की छाल हैं, इसको भी धारण मत करो। यह मोक्षमार्ग छल का नहीं, चल का नहीं, दल का नहीं, यह तो सत्य–स्वरूप का है। यहाँ तो आत्मबल की आवश्यकता होती है। जो आत्मबली नहीं होता, पर वैसा दिखाना चाहता है, वह छलिया होता है। छल का बल सिनेमाघरों में आ सकता है, परंतु छल का बल भगवती आत्मा के सामने कार्यकारी नहीं होता।

भो ज्ञानी! एक पति–पत्नी योगी के चरणों में दर्शन करने गये। मुनिराज ने कहा – अब पर्याय बहुत निकल गयी, थोड़ा तो संयम के बारे में सोच लो। बोले–महाराज! मेरा तो जोड़ा अमर है। इसे मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? अहो! कोई जोड़ा नहीं है। कमा के ला रहे हो, इसलिए जोड़ा है। वाह महाराज! तुम्हें तो घर दिखता ही नहीं है, हमसे पूछो कि घर कैसे चलाना पड़ता है ? अहो! कोल्हू के बैल में और हम में अंतर इतना है कि उसके पूँछ और सींग है। बाकी दोनों के राग और द्वेष की पट्टी लगी है और बेचारा दुनियाँ में घूम आएगा, लेकिन सोएगा विदिशा में। महाराज ने कहा–देखो! बात मान लो। नहीं महाराज। हम तो दर्शन करने आएँ है, आप हमें चिंता में मत डालो। ओहो! कर्तत्वबुद्धि को छोड़ दो, यह कर्तत्वदृष्टि ही मिथ्यादृष्टि है। इसलिए ध्यान रखो, सत्य यही है कि जब तक श्रावक त्याग नहीं करेंगे, तो मुनिराज कैसे बनेंगे ? अतः सबसे पहले दस प्रकार के परिग्रह का त्याग श्रावक करते हैं, तभी मुनिराज बन पाते हैं और वे ही फिर अंतरंग परिग्रह को छोड़ पाते हैं। अहो! वास्तविकता समझो। यह खुशी ऊपर से है, पर अंदर शांति नहीं है। पूर्व–केंद्रीय मंत्री एक दिन आए और कहने लगे– महाराजश्री! एकांत में थोड़ी चर्चा करना है। सोचा, पता नहीं क्या बोलेंगे ? आँखों में आँसू भरकर बोले– महाराजश्री! धन है, वैभव है, यश है, कीर्ति है, पर शांति नहीं है, आप शांति का उपाय बता दो। मैंने कहा–कि शांति का उपाय तीर्थंकर महावीर स्वामी के पंचशील में अंतिम शील अपरिग्रह है। अहो! यदि शांति चाहते हो तो परिग्रह का परिमाण कर लो।

भो ज्ञानी! एक व्यक्ति कह रहा था, महाराजश्री! यह सबकुछ सुना, समझा कि मात्र आत्मा को विशुद्ध बनाकर चलो, पर–द्रव्य से कुछ नहीं होता है परंतु यह तो समझ में नहीं आया कि परिग्रह भी पाप हैं। अमृतचंद्र स्वामी ने कहा–जब तक परिग्रह रहेगा, तब तक स्वद्रव्य की प्राप्ति नहीं होगी। भो ज्ञानियो! प्रज्ञा, वैभव, विभूति से यदि मोक्ष मिलता होता, तो सौधर्मइंद्र जैसी वैभव–विभूति किसके पास है ? एक सौ सत्तर तीर्थंकर भगवंतों के पंचकल्याणक मनाता है, कितनी व्यवस्थाएँ करता है, इसका पुण्य कितना बड़ा होगा ? मुद्दे की बात करो, सर्वार्थ सिद्धि के देव पूरे तैंतीस सागर तक



तत्त्व चर्चा करते हैं। इससे ध्वनित होता है कि तत्त्वचर्चा से परिणामों में भद्रता आती है, विशुद्धि बढ़ती है; लेकिन निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। यदि तत्त्वचर्चा से मोक्ष हुआ होता तो सर्वार्थसिद्धि के देव को कितना चलना था? सिद्धिशिला और सर्वार्थसिद्धि में एक बाल के बराबर अंतर है, फिर भी सिद्धों–जैसा सुख उन्हें नहीं है। वे वहाँ बैठे–बैठे निहारते हैं और फिर से वहाँ से च्युत होकर सात राजू नीचे गिरना होता है। यहाँ से फिर निर्ग्रंथ वीतरागी जैनेश्वरीदीक्षा धारण कर "अहिमिक्को खलु शुद्धो" का पाठ करता है, तब वह सिद्ध बन पाता है। इसलिए तत्त्व–चर्चा सत्य की प्राप्ति के लिए है, पर शाश्वत–सत्ता की प्राप्ति संयम से ही होती है, परिग्रह से त्रैकालिक संभव नहीं है। मनीषियो! दृष्टि खोलकर सुनना कि जब तक धागा मात्र भी रहेगा, तब तक अहिंसा का पालन नहीं होगा और हिंसक कभी मोक्ष नहीं जा पाएगा। इसलिए स्वरूप की चर्चा का निषेध नहीं, आत्मा की चर्चा का निषेध नहीं; परन्तु जो जन्म दे रही है वह 'बाई' और जो जन्म दिला रही है, वह 'दाई' में इतना ही अंतर होता है कि जो आत्मा को जान रहा है वह बाई और जो जनवा रहा है वह दाई है। समझ लो, वेदन किसका कैसा है ?

भो ज्ञानियो! शास्त्रों को समझ लेने का नाम तत्त्वानुभूति नहीं है। यह तत्त्वानुभूति तो संयम की परिणति है। ज्ञान ज्ञान–गुण की पर्याय है और श्रद्धान, दर्शन–गुण की पर्याय है, अनुभूति चारित्र गुण की पर्याय है। भो ज्ञानी! ज्ञान तो करना चाहिए, क्योंकि अमृतचंद्र स्वामी ने क्रम से कथन किया है कि ज्ञान मानव–जीवन का सार है। जब तुम सामान्य–ज्ञान कर लोगे, तो श्रद्धान बढ़ेगा और जैसे ही सम्यक्त्व हो गया, तो जो पहले तूने सीखा था, पढ़ा था वह भी सम्यक् हो गया; लेकिन निर्वाण नहीं होगा। यदि ज्ञान से मोक्ष हो गया होता तो केवलज्ञान होते ही मोक्ष हो जाता, फिर दिव्य–देशना कैसे खिरती ? इसलिए छोटे–मोटे संयम से निर्वाण नहीं होता, यथाख्यात–चारित्र जब तक नहीं बनता, तब तक निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। दर्शन, ज्ञान, सामायिक यह सब यथाख्यात चारित्र के लिए हैं। अहो ज्ञानी! जिसने यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कर लिया, उसका भेद विज्ञान जगता है। अमृतचंद्र स्वामी ने कहा है कि आज तक जो भी सिद्ध हुए हैं, भेदविज्ञान से हुए हैं; जितने हो रहे हैं, भेदविज्ञान से हो रहे हैं। मैं शुद्ध हूँ , बुद्ध हूँ , निरंजन हूँ, यह भेदविज्ञान नहीं है। भेदविज्ञान से तात्पर्य 'पृथक् स्वरूपोऽहं', मैं सबसे भिन्न हूँ। ऐसी श्रद्धा जम जाए और फिर कोई आपके घर में आग लगा जाए, तब। देखो, भैया! घर जल गया, दिख रहा है; सब नष्ट हो गया, दिख रहा है, कुछ भी नहीं बचा, समझ रहा हूँ। अहो! जिस दिन इतनी क्षमता आ जाएगी, उसका नाम है भेदविज्ञान।

भो ज्ञानी! भेदविज्ञान के लिए आत्मा का अनंतबल चाहिए। एक भेदविज्ञान चतुर्थ गुणस्थान वर्तीजीव का सम्यक्त्व के सम्मुख मिथ्यात्व दशा में करोगे और दूसरा भेदविज्ञान आप छटवें गुणस्थान में करोगे, तब तुम सप्तम गुणस्थान में प्रवेश करोगे। एक मिथ्यात्व को विगलित करने की भूमिका में भेदविज्ञान होगा, एक श्रेणी के सन्मुख होगा, यानि सातिशय अप्रमत्त दशा की प्राप्ति करेगा। वहाँ भी करण परिणाम होते हैं। यह करण परिणाम दो जगह होते हैं, मिथ्यात्व का विगलन करते तथा श्रेणी में चढ़ते। आठवें गुणस्थान में चढ़ते हैं, तब करण परिणाम होता है। यहाँ मिथ्यात्व के दो टुकड़े किये थे। वहाँ भेदविज्ञान चारित्रमोहनीय के टुकड़े कर रहा है। भेद विज्ञान यह कहता है कि बच्चे को बुखार आ रहा है तो उपचार तो करवाना लेकिन बच्चे की मृत्यु हो रही है तो रोना मत। यह भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान निर्दयता नहीं सिखाता। भेदविज्ञान यह कहता है कि उपचार करिये, उसकी रक्षा करिये, लेकिन चला ही गया तो अब कहो 'पृथक् स्वरूपोऽहं'। तो 'शुद्धोहं बुद्धोहं' के पहले 'पृथक् स्वरूपोऽहं'सीख लेना। जब तक 'पृथक् स्वरुपोऽहं' पर दृष्टि नहीं जाएगी तो, भो ज्ञानी! भेदज्ञान भी नहीं होगा।



कारण कार्य विशेषता

एवं न विशेषः स्यादुंदुरुरिपुहरिणशावकादीनाम्।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छा विशेषेण।।१२०।।

अन्वयार्थ : एवं = यदि ऐसा ही है। उन्दुरुरिपुहरिणशावकादीनाम् = बिल्ली तथा हरिण के बच्चे आदिकों में। विशेषःन स्यात् = कुछ विशेषता न होवे। एवं न भवति = ऐसा नहीं होता। मूर्च्छा विशेषण = ममत्व परिणामों की विशेषता से। तेषां = उन (बिल्ली तथा हरिण के बच्चे) की। विशेषः = विशेषता है।

हरिततृणांकुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा।
उन्दुरुनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा।।१२१।।

अन्वयार्थ : हरिततृणांकुरचारिणि = हरे घास के अंकुर चरनेवाले। मृगशावके = हरिण के बच्चे में। मूर्च्छा मन्दा भवति = मूर्च्छा मन्द होती है। सा एव = वही मूर्च्छा। उन्दुरुनिकरोन्माथिनि = चूहे के समूह का उन्मथन करनेवाली। मार्जारे तीव्रा जायते = बिल्ली में तीव्र होती है।

निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारण विशेषात्।
औघस्यखण्डयोरिह माधुर्यप्रीतिभेद इव।।१२२।।

अन्वयार्थ : औघस्यखण्डयोः = दूध और खांड में। माधुर्यप्रीतिभेद इव = मधुरता के प्रीतिभेद के समान। इह हि = इस लोक में निश्चयकर। कारणविशेषात् =कारण की विशेषता से। कार्यविशेषः निर्बाधं = कार्य का विशेषरूप बाधारहित। संसिध्येत् = भले प्रकार सिद्ध होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने अनुपम सूत्र प्रदान किया है कि जीवन के सत्य को समझने के लिए तटस्थ होने की आवश्यकता है अर्थात् जीवन के सत्य को वही समझ सकता है जो मध्यस्थ होकर जिया है। आचार्य श्री उमास्वामी महाराज ने ग्रंथराज 'मोक्षशास्त्र' (तत्वार्थ सूत्र) और आचार्य श्री अमितगति स्वामी ने 'द्वात्रिंशतिका सामायिक पाठ' में प्राणीमात्र के प्रति मैत्री, करुणा, माध्यस्थ्य–भाव एवं प्रमाद–भाव की चर्चा की है। दुःखित प्राणी को देखकर उसके दुःखों को दूर करने के भाव होना, मैत्री–भाव है। मैत्री–भाव का तात्पर्य, प्राणियों के गले लगना अथवा उनसे हाथ मिलाना नहीं है, बल्कि उनके जीवन की रक्षा करना तथा उनके कष्टों से उन्हें मुक्त कराने का नाम मैत्री–भाव है। परंतु जैनदर्शन कहता है कि जब तक स्वकल्याण की दृष्टि नहीं बनेगी, तब तक पर कल्याण भी तुम्हारे द्वारा नहीं हो सकता। मुझे तो पहले समाज और राष्ट्र की सेवा करना है, पर–का कल्याण करना है, भो चैतन्य! यह भाषा बदल दो, क्योंकि मुमुक्षु की दृष्टि होती है कि मैं दूसरे का हित करूँगा तो मेरा स्वयं का हित ही



हो तो जायेगा। आपने किसी गरीब को दान दिया ताकि उसकी गरीबी दूर हो जाए। भो ज्ञानी! धन भी गया और निजकल्याण भी गया। परंतु आपने उस जीव की तो गरीबी दूर करने और स्वयं का लोभ दूर करने के हेतु से दान दिया तो आप ज्ञानी हैं, क्योंकि जीव पर–कल्याण से भी निज कल्याण खोजता है और अज्ञानी निज कल्याण को भी पर कल्याण में लगा देता है। इस प्रकार विवेक के साथ आपने दान दिया है, तो कल्याण निहित है। उमास्वामी महाराज ने पर–कल्याण को 'दान' कहा ही नहीं है। उन्होंने तो स्व–पर कल्याण के लिये जो सुद्रव्य का दान दिया जाता है, उसे दान कहा है। जब आप अपने द्रव्य का दान करते हो, परिग्रह को छोड़ते हो उस समय यह मात्र मत सोचना कि मैंने इनका कल्याण किया है। यह सोचना कि मैंने स्व–पर का कल्याण किया है, उसकी आवश्यकता की पूर्ति हो गयी और मेरी अनावश्यकता छूट गयी।

भो ज्ञानी! आप त्याग तो करना, दान तो देना, लेकिन पश्चात्ताप के लिये नहीं। मालूम चला कि देने में तो शुभ–आस्रव इतना नहीं कर पाया जितना पश्चाताप में अशुभ–आस्रव कर लिया। घर में द्रव्य कम बचा है, लेकिन सोच विशाल बन रही है। जितना विकल्प करोगे, आस्रव उतना ज्यादा होगा। व्यक्ति हजार रुपए कमाने का विचार करके बाजार में निकलता है, पर नौ–सौ ही कमा पाता है, तो उसे नौ सौ की अनुभूति नहीं होती, सौ रुपए कम मिल पाए, इस पर जरूर पछताता है। अरे! इस पर्याय में आपको जितना पुण्य मिला, जितना सुख मिला है, उसको तो अनुभव नहीं कर पा रहा है परन्तु भूत के दुःखों को देख रहा है, भविष्य के सुखों को देख रहा है; इसलिये वर्तमान में दुःखी हो रहा है। भूत के दुःखों का चिंतन कभी–कभी बहुत गहरा होता है। नगरसेठ बनने का उसे आनन्द नहीं मिल पाता, क्योंकि उसे भूत की याद सता रही है कि अमुक व्यक्ति ने मेरा अनादर किया था। वही ईर्ष्या आज काम कर रही है। अरे भाई! यदि वे परिणाम तुम याद करते रहोगे, तो तुम्हारी परिणति कभी निर्मल हो नहीं पाएगी। अरे! भूत के कुसंस्कारों का स्मरण नहीं करना। भो ज्ञानी! सैंतालीस शक्तियों में 'प्रकाशत्व शक्ति' कहती है कि अपने अंदर का प्रकाश करो। धन्य हो दीपक को, जो जड़ होकर भी जड़ और चैतन्य दोनों को प्रकाश देता है। यदि तेरा चैतन्य ज्ञान– दीप तेरे अंदर के भवन में प्रकाश नहीं कर पाए तो प्रकाशत्व–शक्ति कैसी ? भो ज्ञानी आत्माओ! अब उस दीप को अंदर ले जाकर देखो कि मेरे अंतरंग में कौन–कौन से द्रव्य रखे हुये हैं ? अनंत– ज्ञान, दर्शन–वीर्य–सुख से संपन्न भगवती–आत्मा! तुम पुद्गल के टुकड़ों को कहाँ खोज रहे हो ? कोई देने में हर्षित हो रहा है, कोई लेने में हर्षित हो रहा है, परंतु 'प्रकाशत्व शक्ति' कहती है कि हम तो सबको दिखा रहे हैं। यहाँ का पेन आपकी जेब में पहुँच गया, उस पेन से पूछना कि तू कहाँ गया है ? वह कहता है कि स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव मेरा चतुष्ट्य मेरे में है; मैं कहीं गया ही नहीं हूँ। पर देखो, भोले भगवान् उस जड़ पेन को प्राप्त कर प्रसन्न हो रहे हैं। पेन कहेगा कि धन्य हो मेरे सौभाग्य को, कि मेरे द्वारा यह भगवान्–आत्मायें खुश हो रही हैं। पंडित दौलतराम जी लिखते हैं–"पुण्य पाप फल माँहि, हरख बिलखो मत भाई, यह पुद्गल पर्याय, उपजि विनसै बिरनाई।' अहो, सुखी जीव भी दुःखी है और दुखीजीव दुःखी हैं ही। एक पकड़े–पकड़े दुःखी है, दूसरा छोड़े–छोड़े दुःखी है। तीसरा न पकड़े है न छोड़े है, मात्र देखते–देखते ही दुःखी है। क्योंकि उनके पास छोड़ने को कुछ नहीं है, पर बेचारे देखते–देखते ही दुःखी हो रहे हैं।



भो चेतन! सच्चिदानंद चैतन्य की प्राप्ति तभी होगी, जब हम अचेतनों से दूर होंगे। धन, धान्य, स्त्री, पुत्र आदि स्थूल बातें अब पुरानी हो गयीं। राग तेरा भाव नहीं है, भाव का अर्थ होता है पदार्थ, और भाव का अर्थ होता है परिणाम। राग मेरा भाव नहीं है। राग मेरा स्वभाव नहीं है, जो 'मेरा' नहीं, वह सब 'पर' होता है, और जो 'पर' है, उसे चारों तरफ से मैं घेरे हुये हूँ। उसी का नाम परिग्रह है। ऐसे परभाव रागादिक विकारी–भाव और एक सौ अड़तालीस कर्म–प्रकृतियाँ आदि सब मेरे स्वद्रव्य नहीं हैं। इसी कारण अरिहंत परमेश्वर तेरहवें गुणस्थान में विराजकर उस पर–द्रव्य को नष्ट करने में लगे होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में फिर वे इस देहरूपी–परिग्रह का भी परित्याग किये होते हैं। उनका नाम है अयोगी–केवली भगवान् अर्थात् उन्होंने योगों का भी परित्याग कर दिया है और अब बचा आयु कर्म मात्र का परिग्रह, इसलिये वे भी परिग्रही हैं और जब आयु कर्म का परिग्रह नष्ट हो जाता है तो सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जाता है। इसलिये नियोगी, निष्परिग्रही, निष्फल, निष्कलंक, अशरीरी भगवती–आत्मा सिद्ध–परमेश्वर है। जिसकी प्राप्ति के लिये आपको योगी बनना पड़ेगा। योगी बने बिना विशुद्धात्मा बनना संभव नहीं।

भो ज्ञानी! भगवान् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि ममत्व–परिणाम और पर–द्रव्य के संयोग की दृष्टि जितनी गहरी होती है, उतनी ही संक्लेशता की गहराई होती है। जिसका व्यापार जितना गहरा होगा, उसके छल–छिद्र उतने गहरे होंगे। जिसकी गहरी कमाई, उसकी गहरी कषाय। भो ज्ञानी! जिसकी संचय की दृष्टि आ जाती है, वह व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह पायेगा। न वह अच्छा खा पायेगा, न खिला पायेगा; क्योंकि उसको एक ही दृष्टि रहती है–जोड़ना। पता यह चलता है कि संचित करके चल बसा और उपभोग किसी दूसरे ने किया। इसलिये जीवन में जीना है तो जीने की शैली से जीवन जीना। भो चेतन! जैनदर्शन में जीवन की शैली बाद में आती है, मरने की शैली पहले आती है; क्योंकि जैनशासन कहता है "जन्म–महोत्सव दुनियाँ मनाऐ, मृत्यु–महोत्सव जैनशासन मनाऐ।" जो वर्तमान में समीचीन नहीं जी सके, उनकी मृत्यु नियम से असमीचीन ही होगी। बिलखते–चिल्लाते ही होगी। ज्यादा कुछ मत देखो, बस श्वान की मृत्यु को देख लिया करो। कितनी लालसा है? खुजली पड़ रही है, परन्तु वासनायें नहीं छूट रहीं। इसे गंभीरता से विचार करो।

भो चेतन! आचार्य भगवान् निर्ममत्व और ममत्व का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। "मूर्च्छापरिग्रहः" सूत्र का दुरुपयोग करके आपने कह दिया कि ममत्व–परिणाम नहीं हैं और द्रव्य को जोड़कर रखा। गरीबों तक के पेट काटे हैं। द्वार पर किसान चिल्ला रहे हैं परन्तु सेठजी कह रहे हैं कि जाओ, अभी कुछ नहीं है। दूसरी ओर श्रावक की दृष्टि देखना कि स्वयं इतना अच्छा भोजन नहीं करेगा, बच्चों को भी पुचकारकर बिठा देगा, लेकिन अपने आराध्य को अच्छी चर्या कराता है। उसकी भावना देखो, सुबह छह बजे से लगे होते हैं। आपके आवश्यक कर्त्तव्यों में 'तप' नाम का कर्त्तव्य तो चल रहा है। फिर भी पात्र नहीं मिलते तो समता रखता है कि ठीक है तथा भावना भाता है कि आज नहीं तो कल पात्र अवश्य मिलेंगे। कल करते–करते दिनों के दिन बीत जाते हैं, फिर भी श्रावक की परिणति निर्मल चल रही है। एक घटना बतायें आपको कि 'एक व्यक्ति बीमार थे। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि यह मेरा फण्ड है, इसे मंदिर जी में पाठशाला संचालन के लिये दे देना। पत्नी ने समाज को बुलाकर फंड दे दिया। किन्तु वहाँ आवश्यकता धर्मशाला की थी। अतः वह द्रव्य उसमें लगा दिया। उस धर्मशाला



में शादी होने लगी, किरायेदार रहने लगे। आँखों में आँसू टपकाती महिला कहती है– "मैंने तो समाज को पाठशाला के लिए दिया था, क्योंकि मेरे पति ने यह कहा था कि जहाँ चैतन्य प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा होगी, बच्चों में जिनवाणी के संस्कार आयें, वहाँ लगा देना। इसलिये आप जो भी काम करना, सँभल कर करना। जहाँ का जो हो, वैसा करना।"

भो ज्ञानी! इसलिये करुणाबुद्धि से मैं कह रहा हूँ कि सब व्यवस्थाएँ देखना, लेकिन निर्लिप्त रहना। अपने घर में तो मंदिर का द्रव्य रखना ही नहीं। ब्याज का भी तुम्हें लेना हो तो बाहर से ले लेना, क्योंकि धर्म का द्रव्य है, जो वास्तव में कषाय का कारण है। पहले लोग व्यवस्थाएँ एक–दूसरे पर छोड़ते थे, भैया! आप देखो। परंतु आजकल बेचारे मंदिर के पीछे लड़ते हैं, क्या बात है ? यह आयतन है, इनकी तो रक्षा करना चाहिये। पर व्यवस्थाओं के पदों में मान का लोभ आ गया कि प्रतिष्ठा मिलेगी। लेकिन ध्यान रखो, कर्म–सिद्धांत कहता है कि मैं तुमको कभी नहीं छोड़ूँगा।लोग समझते भी हैं कि मैं इतने दिनों से कष्ट में आ चुका हूँ, मैं इतने दिनों से परेशानी में हूँ, कहीं न कहीं तो गड़बड़ी चल रही है, पर जोंक की तरह चिपके हैं।

भो ज्ञानी! कहीं लोभ में आकर ऐसी प्रतिष्ठादि भी मत करा लेना। आजकल तो प्रतिष्ठाचार्य महोदय भी कह देते हैं "इतना दान कर दो तो प्रतिष्ठा होगी अन्यथा ले जाओ, प्रतिमा में दोष है।" यदि प्रतिष्ठायोग्य नहीं है तो दान देकर योग्य हो जायेगी और दान नहीं दिया तो अयोग्य है जबकि प्रतिमा वही है। इसलिये कषाय की परिणति विचित्र होती है। उसके लिये आचार्य महाराज ने कहा है कि तुम बिलाव मत बनो। बिलाव एवं हिरण के बच्चे में मूर्च्छा की विशेषता है। हिरण तो हरे तृण खाता है, उसकी मूर्च्छा मंद होती है। जबकि बिलाव चूहे को खाता है, उसकी मूर्च्छा तीव्र होती है। यही कार्य–कारण विशेषता है।





करो रक्षा सम्यक्त्व–रत्न की

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये।
सैवोत्कटमाधुर्ये खंडे व्यपदिश्यते तीव्रा।।१२३।।

अन्वयार्थ : किल = निश्चय कर। मंदमाधुर्ये दुग्धे = अल्प मिठास वाले दूध में। माधुर्यप्रीतिः मंदा एव = मिठास की रुचि थोड़ी ही। व्यपदिश्यते = कही जाती है। सा एव उत्कट माधुर्ये = वही मिठास की रुचि अत्यंत मिठासवाली। खण्डे = खांड अर्थात् शक्कर में। तीव्रा = अधिक कही जाती है।

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथम–कषायाश्च चत्वारः।।१२४।।

अन्वयार्थ : प्रथमम् एव = पहले ही। तत्त्वार्थाश्रद्धाने =तत्त्व के अर्थ के अश्रद्धान में जिसे। निर्युक्तं=संयुक्त किया है। मिथ्यात्वम् च = मिथ्यात्व को तथा। सम्यगदर्शनचौराः = सम्यग्दर्शन के चोर। चत्वारः = चार। प्रथम कषायाः = पहले कषाय (अर्थात अनंतानुबंधी क्रोध, मान माया, लोभ) हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने आत्मा के अविनाशी स्वरूप की ओर संकेत दिया है कि आत्मा का स्वरूप पूर्ण निर्लिप्त है, असंग है। अर्थात् जिसमें कोई संग नहीं है, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। लेकिन राग की दशा के कारण इस जीव ने पर–द्रव्य को इतना स्वीकार कर लिया है कि मैं इससे भिन्न ही नहीं हूँ। अहो! विजाति–धर्म में सुजाति को मान बैठा, यही तत्त्व की सबसे बड़ी भूल है। जब तक यह भूल नहीं सुधरेगी, तब तक छोटी–छोटी बातें महत्वहीन होती जायेंगी। यदि एक व्यक्ति अनशन–तप करता है और वह बहुत साधना भी करता है, परन्तु शील का पालन नहीं कर रहा है और वह करोड़ों का दान भी कर देता हो, लेकिन लोगों की दृष्टि में वह सम्मान का पात्र नहीं हो सकता। धीरे से पत्नी पूछती है– स्वामी! आज यह प्रकोप किस बात पर है ? राजा कहता है– मेरे राज्य में परनारी सेवी हो, यह कैसे संभव है ? मुस्कराकर रानी पूछती है–प्रभु! आप इसको कौन सा दंड देना चाहते हो ? राजा उत्तर देते हैं–आज मैं उसको फाँसी की सजा सुना रहा हूँ। रानी ने भी कह दिया–प्रभु! पहले आप दो फँदे तैयार करवा लेना, क्योंकि आप भी परनारी--सेवन के इतने ही दोषी हैं। आपने मेरा हरण क्यों किया था ? आज मेरा पति पागल–सा आपकी नगरी में घूम रहा है। कुछ भी हो, आपके वैभव के कारण कोई कुछ कह नहीं पाए, इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राणीमात्र असत्य को स्वीकार कर रहा है।

भो ज्ञानी! अधिकार–क्षेत्र और धर्म–क्षेत्र भिन्न–भिन्न हैं। अधिकार–क्षेत्र के पीछे धर्म का बलिदान

न कभी हुआ है और न कभी हो पाएगा। लंकेश के पास भी अधिकार तो था, पर धन्य हो भाई विभीषण वैभव छोड़ने के लिए तैयार हो गया, लेकिन कुशीलसेवी का सहयोग करना स्वीकार नहीं किया। मनीषियो! जिनशासन कहता है कि पर–पदार्थ पर दृष्टि का पहुँचना ही व्यभिचार है। रावण ने एक परनारी को घर में रखा, तो आपकी दृष्टि रावण पर पहुँच जाती है।

भो ज्ञानी! बड़े आश्चर्य की बात है कि कुशील को हीनदृष्टि से देखते हैं तथा पाँचवें पाप को हम प्रेम से गले लगाते हैं। जबकि हमारे आचार्य अकलंकदेव स्वामी ने कथन किया कि कुशील तो परिग्रह में ही शामिल है। इसलिए बहिरंग परिग्रह में द्विपद (अर्थात् स्त्री– पुरुष आदि) परिग्रह है। अतः आचार्य कुंदकुंददेव की भाषा में जितने अशुभकर्म हैं, वे सब कुशील हैं।

यहाँ अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि 'श्री' की आराधना में मत लग जाना, निः–श्रेयस की आराधना की दृष्टि से आप लगना; क्योंकि परिग्रह भी पाप है। परिग्रह से धर्म नहीं, परिणति से धर्म है और धन को देखकर धर्म की जय–जयकार करने के जो तुम्हारे संस्कार पड़े है कि मैं धन से सब कुछ कर लूँगा, ऐसे भाव यदि तुम्हारे हैं, तो ध्यान रखना, धन से तुम भवन खड़े कर सकते हो, लेकिन धन से भगवान् की आराधना नहीं कर सकते। गोमटेश बाहुबली की स्थापना तो हो गयी, लेकिन मंत्री चामुण्डराय को अंहकार आ गया कि विश्व में इतनी विशालकाय प्रतिमा स्थापित करनेवाला यदि कोई है तो मैं हूँ; ऐसे भाव आ गये। और जैसे ही कलश लेकर भगवान् के अभिषेक के लिए वह पहुँचता है, वह प्रभु के चरणों का प्रक्षालन नहीं कर पाया, क्योंकि चरणों में अहंकारी आता ही कब है ? अहंकारी तो सिर पर ही बैठता है और श्रद्धा से ओत–प्रोत बुढ़िया जैसे– तैसे पहुँच गई। उसने जैसे ही नारियल की नरेटी से धार छोड़ी, तो प्रभु के चरण ही क्या, पूरे के पूरे अंग–प्रत्यंग का अभिषेक हो गया। यह सब निर्मल परिणति थी। जहाँ घट के घट, कलश के कलश प्रभु के चरण को नहीं धो पाए परन्तु नारियल की नरेटी का दुग्ध प्रभु के सर्वांग पर छा गया। सिर पर मुकुट बांध देना सरल है, सिर पर सेहरा लगा देना सरल है; लेकिन चरणों को धो पाना बहुत ही कठिन है। चरण उसी को स्पर्श करने को मिलते हैं, जिसका आचरण निर्मल होता है। जिसका आचरण निर्मल नहीं होता, उसको प्रभु के चरणों का स्पर्श करने को नहीं मिलता। चामुण्डराय ने अपना वैभव तो दिखा दिया, पर वैभव ही उसका नीचे आ गया।

जिस समय रावण सोने की लंका का वैभव महासती सीता को बता रहा था कि हे जानकी! हे सीते! आप चिंता नहीं करना, संपूर्ण स्वर्ण–लंका की आप सम्राज्ञी हो, आप मुझे स्वीकार करो। उसी समय सीता ने रावण से कहा– "मैं एक नारी हूँ। जिनवाणी (पद्मपुराण) में लिखा है– शीलवान् की दरिद्रता भी आभूषण है परन्तु कुशील का वैभव कोरा मल है। इस मल का लोभ मुझे मत दो। मेरे स्वामी आने वाले हैं, तुम्हारे मल और बल का पता नहीं चलेगा।" जिसके शील की तान जुड़ी है, उसी की आत्मा का संगीत निर्मल होता है। नीतिकारों ने लिखा है कि छल–कपट से कमाया गया धन दस वर्ष तक चल सकता है, ग्यारहवें वर्ष में मूल के साथ चला जाएगा। खजुराहो के मंदिर–निर्माता सेठ पाहिल ने प्रशस्ति में लिखा है–मैंने इस जिनालय के लिए आठ बगीचे, आठ बावड़ियाँ एवं भूमि दान में लगायी है। पता नहीं, इससे इसकी पूजा की व्यवस्था होगी कि नहीं। आगे लिखा है कि जब मेरा वंश भी नहीं बचेगा और मेरे द्वारा दिया गया दान भी नहीं बचेगा, तो मैं उस व्यक्ति के



दास का दास हूँ जो इस जिनालय की रक्षा करेगा। क्योंकि सेठ पाहिल को मालूम था कि जो वैभव मुझे मिला है, या तो मैं उसके पहले चला जाऊँगा या फिर मेरे पहले यह वैभव चला जाएगा। इसका नाम है पुण्यानुबंधी पुण्य। पुण्यात्मा जीव का द्रव्य पुण्य–क्षेत्र में ही लगता है और पापी–जीव का द्रव्य धर्म–क्षेत्र में नहीं लग पाता, और यदि लगेगा भी तो धर्मशाला स्थित संडास में प्रशस्ती लिखी मिल जाएगी। कुछ का नाम पंखे पर लिखा मिल जाएगा, क्योंकि उनके पाप का द्रव्य था तो पंखे में लगा है। मनीषियो! जब नाम लिखाते हो तो पहले 'श्री' लिखाते हो। यह वह 'श्री' है, जो तीर्थंकर के अभिषेक के समय भद्रपीठ पर लिखी जाती है। उस श्री पर तुम्हारे निमित्त से पैर रखा जा रहा है। अहो! एक–एक वर्ण मंत्र है। जब कोई मंत्र प्रारम्भ होता है तो 'श्री' से होता है। ज्ञानी आत्माओ! मैं निषेध नहीं कर रहा हूँ कि आप नाम न लिखवाएँ। यदि नाम लिखवाने का शौक ही है तो दीवार पर लिखवा दो, लेकिन फर्शों पर "श्री" नाम लिखाकर नाम को बदनाम मत कराओ।

आचार्य अमृतचंद स्वामी ने सूत्र दिया था कि जैसी राग की तीव्रता होगी, वैसी परिग्रह की लिप्सा होगी और जैसी परिग्रह की लिप्सा होगी, वैसे ही कर्म का तीव्र बंध होगा। दृष्टांत दिया था कि एक ओर बिल्ली का बच्चा, एक ओर हिरण का बच्चा। सोचो, हिरण का बच्चा तृण को खाकर, पानी पीकर, शांत होकर, विचरण करता है। जबकि बिल्ली का बच्चा चौबीस घंटा विचरण करता है कि कहीं चूहा दिख जाए। बस, ऐसी ही रागी की दशा होती है। मनीषियो दूसरे पर चाहे करुणा मत करो, लेकिन निज पर तो करुणा करो। वह माँ कैसी है जो अपने बेटे को ब्रेड खिला रही हो, जिसमें जैविक–द्रव्य पड़े हों और माँ कह रही है–बेटा! लो। बच्चे को अभक्ष्य–द्रव्य दे रही हो, कैसी जननी हो ? इसलिए ध्यान रखना, जिसमें प्रीति ज्यादा होती है, कीड़े वहीं ज्यादा होते हैं, क्योंकि अधिक मीठे में कीड़े ज्यादा होते हैं।

भो ज्ञानी! संसार में जिओ, लेकिन सबके साथ हिल–मिलकर रहना। सिद्धांत कहता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है और जिसे तुम अपना कह रहे हो, वह भी तो अत्यंत भिन्न है। जीवन में यदि आप किसी का दुलार/ प्रेम देखना चाहते हो तो जीवन में मधुरता लाओ, सब आपके होंगे। यदि स्वयं के अंदर माधुर्य है अथवा जिसके अंतरंग में गुणों का माधुर्य है, उसके पास चीटियाँ–रूपी जन–परिजन अपने आप चिपकेंगे। यदि तुम्हारे अंदर कर्कशता आ गयी, वहीं सब अपने आप छोड़ कर चले जाते हैं। इसीलिए, जीवन में किसी को अपना बनाना चाहते हो तो मधुरता लाना सीखो। अहो! तेरी आत्मा का गुण तो मधुरता है, लेकिन तेरी भोगों की ज्वाला ने उस मधुरता को जला डाला। जब तेरी दृष्टि भोगों पर हो, उस समय कोई भजन की बात करे तो, हकीकत बताना, कैसी कषाय भड़कती है? अपने भी पराये नजर आते हैं।

भो ज्ञानी! एक बार मैंने छोटी–सी कहानी पढ़ी थी। एक बालक अपनी प्रेमिका से मिलने जाता है। वह कहती है कि ऐसे नहीं मिला जाता, पहले आप अपनी माँ का हृदय लेकर आओ। वह जाता है और कहता है–माँ!आज मुझे आपका हृदय चाहिये है। माँ बोली, क्यों? उसने पूरी बात बता दी। माँ कहती है कि जैसा तुम उचित समझो। उस निर्दयी ने वासना के पीछे जन्मदेनेवाली जननी के हृदय को निकाल लिया। दौड़कर जाता है और रास्ते में फिसलकर गिरता है तो माँ के हृदय से आवाज आती है–बेटा! कहीं चोट तो नहीं लगी। वह प्रेमी जब प्रेमिका के पास पहुँचता है और कहता है कि



लीजिए तो वह प्रेमिका कहती है–तू भाग जा मेरे सामने से। एक प्रेमिका के पीछे तू जब अपनी माँ के हृदय को चीर सकता है, कल यदि दूसरी प्रेमिका तुझे मिलेगी तो मुझे भी चीर देगा। अहो! समझ में तब आयी जब कि माँ भी हाथ से निकल गई। ध्यान रखो, वीतराग जिनवाणी माँ कह रही है– बेटा! मेरी बात मान लो। इन परिग्रह के टुकड़ों में मत फँसो, एक दिन ऐसा भी आएगा जब यह भोग भी तुझे छोड़ देंगे और तू अकेला अग्नि पर झुलसेगा। फिर माँ भी गई, प्रेमिका भी गई। माँ जिनवाणी कह रही है कि सुन लो, समझ लो; लेकिन मेरे आँचल को छोड़कर मत जाओ।

भो आत्मन्! तीव्र माधुर्य के स्वाद में तू इतना तन्मय हो गया कि निज–रस का भान ही नहीं रहा। अरे! निर्मल–नीर–स्वभाव आत्मा का धर्म है, वही माधुर्य है। क्रोध, मान, माया, लोभ यह तो सम्यक्दर्शन के चोर हैं। आत्मा का पहला शत्रु मिथ्यात्व है, उस मिथ्यात्व के ये चारों चोर संयोगी हैं। अनंतानुबंधी क्रोध, माया मान, लोभ यह चारों कषाय सम्यक्दर्शन को चुरा रही हैं, क्योंकि सम्यक्–दर्शन से बड़ा विश्व में कोई रत्न नहीं है। "दंसणमूलो धम्मो", वह दर्शन धर्म–का–मूल है।

भो ज्ञानी! यदि देव, धर्म, निर्ग्रंथ गुरु, वीतरागवाणी के प्रति अश्रद्धान हो गया तो, भगवान् कुंदकुंददेव 'दर्शन–पाहुड (अष्ट पाहुड)' में लिख रहे हैं–जो दर्शन से भ्रष्ट है, वह भ्रष्टों में भ्रष्ट है। अरे! जिसका सम्यक्त्व गया, उसका तो भट्टा ही बैठ गया। सम्यक्त्व से भ्रष्ट का निर्वाण नहीं होता। एक बार कोई चारित्र से भ्रष्ट हो जाए तो पुनः चारित्र में उपस्थित होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, लेकिन सम्यक्त्व–विहीन को सिद्धि नहीं होती। इसलिए एक–सौ–चौबीसवीं कारिका में आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने कह दिया– इन चोरों से रक्षा करो, पहरा लगा दो, ज्ञान का दीप जला लो और शील की बाढ़ लगा लो, संयम के सरदार खड़े कर दो, जिससे यह मिथ्यात्व का चोर अंदर प्रवेश कर ही न पाये। दर्शनमोहनीय राजा बहुत चतुर है, वह कहता है कि इधर संयम का घात करो, उधर चारित्र का भी घात करो। दो मुँह वाले आदमी बड़े खतरनाक होते हैं, दो–दो बात करते, दोनों हाथों से लड्डू खाना चाहते हैं; मालूम चला कि दोनों हाथों के लड्डू गिर गये। इसलिए ध्यान रखो, एक ही नाव पर सवारी करो। दो–दो नाव पर सवार होओगे तो डूब जाओगे। उधर मिथ्यात्व में भी लगे हो, इधर महाराज! वीतरागधर्म भी सत्य है। मनीषियो! जो दोनों ओर घूमता है, हमारी जिनवाणी में उसे मिश्र गुणस्थानी कहा जाता है।





करो भावों की विशुद्धि मार्दव व शौच धर्म से

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः।
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति।।१२५।।

अन्वयार्थ : च = और। द्वितीयान् = दूसरे कषाय (अर्थात् अप्रत्याख्नावरणीय क्रोध,मान,माया, लोभ) को। प्रविहाय =छोड़कर। देशचरित्रस्य = एकदेशचारित्र के। सन्मुखायातः = सन्मुख आता है। हि ते कषायाः = क्योंकि वे कषाय। नियतं = निश्चितरूप से। देशचरित्रं = एकदेशचारित्र को। निरुन्धन्ति= रोकते हैं।

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्•ग रङ्•गनाम्।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया।। १२६।।

अन्वयार्थ : निजशक्त्या = अपनी शक्ति से। मार्दवशौचादिभावनया=मार्दव, शौच, संयमादि दशलाक्षणिक धर्म के द्वारा। शेषाणां सर्वेषाम् = अवशेष सम्पूर्ण। अन्तरङ्•ग रङ्•गनाम् = अन्तरंग परिग्रहों का। परिहारः कर्तव्यः = त्याग करना चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! आत्मा की सत्य–सत्ता को समझना है तो असत्य का विसर्जन करना अनिवार्य है। आचार्य कुंदकुंददेव ने 'प्रवचनसार'जी में लिखा है कि संपूर्ण आगम को आप अवधारण कर लेना, लेकिन जहाँ परमाणु–मात्र भी राग दृष्टि है, वहाँ मोक्ष नहीं है। इसलिए मुमुक्षु वही है, जो अंतरंग और बहिरंग से राग का त्यागी है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि अपने से पूछो कि रागदशा कितनी है, वैराग्यदशा कितनी है? यदि वैराग्यदशा का भाव नहीं है, तो वीतरागदशा की अनुभूति कहाँ ? जिसे वीतराग शब्द का आनंद है, जिनवाणी की भाषा में वह भी परिग्रही है। 'वीतराग' शब्द का राग भी जब परिग्रह हो सकता है, तो 'विषयों' का राग, वीतराग भाव कैसे हो सकता है ? अरे! वीतरागभाव का जनक वैराग्य भाव है, बिना वैराग्य के चारित्र नहीं और बिना चारित्र के वीतरागभाव नहीं। यह अनवरत है। अतः, पहले वैराग्यभाव का जन्म होगा, पश्चात् संयम का उद्भव होगा और संयम की स्थिरता जहाँ होगी, वहाँ वीतरागभाव का जन्म होगा। पर संयम का नाम वीतरागभाव नहीं है। संयम की स्थिरता, स्वरूप की निश्चयदशा का नाम वीतराग भाव है।

भो ज्ञानी! आत्मश्रृद्धा का नाम सम्यक्दर्शन है। जिसके पास सम्यक्त्व नहीं है, उससे चारित्र की बात करना व्यर्थ है। श्रृद्धा तो चारित्र नहीं है, पर श्रद्धा के बिना चारित्र नहीं होता, अन्यथा उमास्वामी महाराज को श्रद्धा को ही मोक्षमार्ग लिखना चाहिये था। वहाँ तो सम्यक्त्व से मोक्षमार्ग लिखा जाता है। किंतु सम्यक्दर्शन अकेला मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यक्त्व अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप है उसका



वैसा श्रद्धान। पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ बोध सम्यक्ज्ञान है और जैसा स्वरूप, है उसमें लीन होना यह सम्यक्चारित्र है। भगवान् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे है कि श्रद्धा (सम्यग दर्शन) के चार चोर हैं– अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चोरों की नियुक्ति करने वाला है मिथ्यात्व। अहो! देखो, तेरे सम्यक्त्व–रत्न की चोरी हो रही है। बात को गहरे में समझो। आज तक भेदी के बिना डाके नहीं पड़ते। भो चेतन! इस अनंतानुबंधी क्रोध को समाचार कौन देता है ? तेरा ही मिथ्याज्ञान–दर्शन है, क्योंकि मिथ्यात्व कोई बाहर का द्रव्य नहीं, वह भी तेरा कुटिल भाव है, और कषाय भी तेरा कुटिल–भाव है, असंयम भी तेरा कुटिल–परिणाम है। अतः, जितना घातक मिथ्यात्व है उतना ही घातक असंयम है। दोनों मोहनीय कर्म है। अब आप असंयम का अथवा मिथ्यात्व का सेवन जानकर करो या अज्ञानता में करो, लेकिन कर्म–सिद्धांत कहता है कि मेरा काम तो आपको बांधना है। लोक का ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ मेरे सैनिक न खड़े हों। आत्मा के प्रदेशों पर बध्य कर्म तो हैं ही, अबध्य कर्म भी विराजे हैं। जैसे ही आपके राग–द्वेष रूप परिणाम हुए, तुरंत ही कर्म रूप परिणत हो गये।

भो ज्ञानी! कर्मसिद्धांत कह रहा है यदि आपने हेय–उपादेय का विवेक रख लिया होता तो मुझसे बांधना–बंधना ही नहीं होता। आप अब कह रहे हो, जब अविवेक पूर्वक काम करके आ गये। हे प्रभु! मैं तो सिद्ध स्वरूपी हूँ, यह अबध्य–दशा सिद्ध स्वरूपी के लिए नहीं, परंतु जिसने स्वयं के भाव बिगाड़े, उसको तो बंध होगा। भो ज्ञानी! मत लो संयम, लेकिन असंयम के भाव आ रहे हों तो आप तो बस इतना सुना देना कि तुम कहाँ जा रहे हो ? किसके पास जा रहे हो ? किसका बिगाड़ने जा रहे हो ? वह बिगड़े या न बिगड़े परन्तु तेरा ब्रह्मस्वरूप तो बिगड़ ही जाएगा। अहो! जो साधना का माधुर्य है, जीवन का सच्चा सुख है, उसे अब्रह्म ने नष्ट कर दिया। अरे! निज उपादान को नहीं सम्हाला, निमित्तों को दोष दे–दे कर हम पंचमकाल में आ गये, अब क्या विचार है ? कर्त्तत्व भाव को छोड़ेंगे। अबुद्धिपूर्वक जो इष्ट–अनिष्ट होता है, वह तेरा भाग्य और बुद्धिपूर्वक जो इष्ट– अनिष्ट होता है, वह तेरा पुरुषार्थ है। बिना पुरुषार्थ के भाग्य नाम की कोई वस्तु नहीं होती। वर्तमान में जो तेरा भाग्य झलक रहा है, वह पूर्व का पुरुषार्थ है। मनीषियो! पुरुषार्थ ही जब काललब्धि के रूप में फलित होता है, तब वही प्रभु की कृपा बन जाती है, लेकिन वास्तव में कर्म के अलावा कुछ भी नहीं है। सब निज का कर्म है, और निज के कर्म सुधर जाएँ, इसी का नाम धर्म होता है। जब धर्म निर्मल हो जाता है, तो वही परमधर्म (वस्तु का स्वभाव), परमेश्वर बन जाता है। भो चैतन्य! अर्थ और काम पुरुषार्थ तो कर्त्तव्य रूप में है, पर वस्तुतः धर्म और मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। अर्थ एवं काम दो पुरुषार्थ संसार के हैं, इसीलिए उनको पुरुषार्थ नहीं कहो। परम पुरुषार्थ वही है, जो सिद्ध बना दे। ध्यान से समझना। दर्शन–ज्ञान आत्मा का धर्म है और आवरण करना कर्मों का धर्म। क्षयोपशम–शक्ति वीर्यांतराय–कर्म का काम है, लेकिन क्षयोपशम आत्मा में है।

भो ज्ञानी! इस धारणा को दूर कर देना कि आपके चश्मे के लैंस से दिखता है। बाहर का लैंस तो मंदता का प्रभाव कम करने में निमित्तभूत काम करता है। अतः, चश्मा निमित्तरूप है। उपादान बिना निमित्त कुछ भी नहीं कर पायेगा। वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम आत्मा में है। उस शक्ति को अभिव्यक्त कराने में निमित्त/ हेतु काँच है। पर कर्मसिद्धांत जहाँ आ जाता है, वहाँ द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, प्रथमानुयोग की कोई गणना नहीं होती है और जहाँ करणानुयोग ने जिसको 'हाँ' कह दिया, बस,



अब समझ लो कि कोई टालनेवाला नहीं। भगवान् भी बने, तो करणानुयोग से। गुणस्थान कैसे चढ़ रहे हैं? क्षपणा कैसे हो रही है ? उपशमन कैसे हो रहा है ? इन सब दशाओं का व्याख्यान करने वाला करणानुयोग है। परन्तु बंध या निर्बंध करणानुयोग से नहीं, करण से है, नहीं तो यहाँ करणानुयोग कर्त्ता बन जाएगा तेरे बंध–अबंध का। बंध या अबंध तो तेरे 'करण' यानि तेरे परिणाम से है।

भो ज्ञानी! अंतरंग परिग्रह छूटने लग जाए तो बहिरंग परिग्रह अपने आप भागने लग जाएगा। लेकिन कहीं छल ग्रहण नहीं कर लेना कि अंतरंग परिग्रह मेरा छूट गया, अतः मैं बहिरंग परिग्रह से भी छूट गया। बहिरंग परिग्रह का होना यह बता रहा है कि अंतरंग–परिग्रह भी है। जब नीचे का पानी सूखेगा, तब ही ऊपर की मिट्टी सूखती है। ऊपर की मिट्टी गीली हो और आप कहो कि नीचे बिलकुल सूखा है, ऐसा संभव नहीं। ध्यान रखना, धर्म जब अंतरंग में प्रवेश कर जाता है तो शूल भी फूल–से महसूस होते हैं और जिसके अंतरंग में धर्म नहीं होता, उसको हित की बात भी करोगे तो शूल–जैसी लगेगी। जिस जीव का पुण्य क्षीण हो जाता है, उसके सद्विचार भी विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। आप सम्यक् समझाएँगे, परंतु उसको विपरीत लगेगा। अहो रागी प्राणियो! आपको राग में अच्छा लग रहा है, क्योंकि आप वीतराग–दृष्टि से दूर हो। आप सोचते हो यदि वैराग्यदृष्टि से मेरी सिद्ध–अवस्था हो जाएगी, तो दुकानें कौन चलाने आएगा ? अभी तो यह दृष्टि है, लेकिन इसका विकल्प नहीं करना कि मैं सिद्ध बन गया तो संसार कौन चलाएगा ? इसीलिए तो तुम संसार में हो। अहो! तुझे घर चलाने की चिंता है।

भो ज्ञानी! माँ जिनवाणी कहती है कि कण–कण स्वतंत्र है, प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र है। अपने परिणमन से परिणामी बनकर प्रत्येक द्रव्य चलता है। उसमें राग करके कर्त्ता क्यों बन रहे हो ? यह भी बहुत बड़ा मिथ्यात्व है। तू पुण्य का करार देकर औगुण हजार कर रहा है। यदि ऐसा ही हो जायेगा तो करणानुयोग नाम की कोई वस्तु नहीं होगी। अरे! व्यवहारिकता, राष्ट्र–व्यवस्था, विश्व–व्यवस्था सब कर्म–सिद्धांत पर टिकी हुई है। बात को समझना। आपने अपने बच्चे की शादी कर दी। आप कहेंगे–महाराज जी! कहीं बच्चा व्यभिचार–जैसे गलत काम करने लगता, तो सामाजिकता बिगड़ती, इसीलिए हमने ऐसा किया। यहाँ करणानुयोग कहता है कि उत्कृष्ट तो यही था कि ब्रह्मस्वरूप में लीन रहता, परंतु इसके पास सामर्थ्य की कमी थी। अतः विश्व की अनेक स्त्रियों पर कुदृष्टि जाती, तो अनंत का बंध करता। अहो! पिता तूने श्रेष्ठ काम किया, जो अपने बेटे को अनंत स्त्रियों के भोग से बचाकर एक में संयमित कर दिया। इस अपेक्षा से जिनवाणी से पूछोगे, तो वह पुण्य कह देगी। परंतु वही जिनवाणी तुझे पापी भी कहेगी, क्योंकि तूने अपनी संतान को विषयों में डालकर पाप में डाल दिया। यदि वह स्वयं संयम की ओर जा रहा हो, तब तो जिनवाणी ऐसा ही कहेगी और जब वह अनंत असंयम की ओर जा रहा हो, तो जिनवाणी कहेगी कि तुमने अपने बच्चे की शादी करके एकदेश–संयम का पालन कराया है। यह जैनसिद्धांत है।

भो ज्ञानी! चर्चा परिग्रह की चल रही है और नारी भी सबसे बड़ा परिग्रह है, संसार को बढ़ानेवाली लता (बेल) है। अब समझ जाओ, संसार की लता (बेल) भी दूसरे पर चढ़कर ही बढ़ती है। हमने उनको लक्ष्मी बनाया, उन्होंने तुमको देव बना दिया। एक दूसरे को बढ़ोत्तरी देकर दोनों की सांसारिक बेल बढ़ गई। इसलिए भूल न जाना, फूल न जाना, वरना कूलना पड़ेगा। मनीषियो!सम्यक्दर्शन के



चोरों (अंनतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ) का सरदार मिथ्यात्व है, क्योंकि जीव द्वितीय कषाय (अप्रत्याख्यानावरणी, क्रोध, मान, माया, लोभ) के कारण देशसंयम को स्वीकार नहीं कर पाता। वह कषाय देशचारित्र का निरोध कर रही है, देशचारित्र को नहीं होने देती, व्रती बनने के परिणाम भी नहीं आते। ध्यान रखना, सम्यक्दर्शन को तो चारों गतियों का बंधक भी प्राप्त कर सकता है, लेकिन चारित्र को देवायु का बंधक अथवा अबंधक मनुष्य या संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही प्राप्त कर सकता है। इसलिए स्वयं का निर्णय कर लेना। जिस जीव को नरक आयु का बंध हो चुका है, वह देश संयम भी धारण नहीं कर सकता। मनुष्य अथवा तिर्यंच--आयु का जिसको बंध हो चुका है, उसके व्रत लेने के परिणाम भी नहीं होते। याद करो, राजा श्रेणिक ने तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामी के समवसरण में प्रश्न किया था-- प्रभु! मैं संयम स्वीकार क्यों नहीं कर पा रहा ? "राजन्! आपको नरकायु का बंध हो चुका, इसलिए संयम के भाव नहीं आ रहे हैं।" आप वृद्ध हो गये, मुनि नहीं बन पा रहे हो, लेकिन घर में बैठकर देशसंयम का पालन तो कर सकते हो, किसने रोका ?

भो ज्ञानी! साधना से भी ज्यादा शक्ति भोगों में लगती है। साधना में तो शक्ति क्रमशः बढ़ती है और भोगों में शक्ति क्रमशः घटती जाती है। पंचेद्रिय भोग वही भोग सकता है, जिसके शरीर में ताकत है और वही पंचमहाव्रतों का पालन भी कर सकता है। कमी तेरे पुरुषार्थ की है। किसने मना किया ? अहो! जीवन भर भोगों की भट्टी में झुलसे हो, अब तो कुछ सोच लो। बड़ा आश्चर्य है कि पाप करने के बाद पश्चात्ताप भी नहीं है। भो ज्ञानी आत्माओ! यह पर्याय अरहंत की है, यह पर्याय सिद्ध की है और इस पर्याय को आपने भोगों में लगा दिया। आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि अपनी शक्ति के अनुसार संपूर्ण अंतरंग परिग्रह को छोड़ देना। अहो! खाने के लिए कितना कमाना पड़ता है ? बहुत कम। एक दिन मैंने आपको बताया था कि जो मकान आपने बनाये हैं, उनमें कंगूरे घर के ऊपर क्यों बना दिये ? व्यर्थ का व्यय किया ईंट, चूने में। देखो, छिपाना नहीं, हकीकत कुछ और है। इतना सुंदर भवन इसलिए बनाया है कि अभी तो उसमें रह लेता है, लेकिन जब रौद्र--परिणामों से मरण करूँगा और फिर कौआ बनकर राग के वश जब घर में आऊँगा, तो बैठने को कोई स्थान देगा नहीं। अतः मैं अपनी व्यवस्था पहले से कर रहा हूँ।

भो ज्ञानी आत्माओ! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि तुम महाव्रती नहीं बन सकते हो तो अणुव्रती तो बन ही जाना, देशव्रती तो बन ही जाना; यदि वास्तव में अपनी आत्मा का कल्याण चाहते हो तो।



वस्तु का स्वरूप है त्याग

बहिरङ्गादपि सङ्गात् यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा।। १२७।।

अन्वयार्थ : वा तम् = तथा उस बाह्य परिग्रह को। (चाहे वह) अचित्तं = अचित्त हो। वा = अथवा सचित्तं = सचित्त हो। अशेषं परिवर्जयेत्= सम्पूर्ण ही छोड़ देना चाहिए। यस्मात् =क्योंकि। बहिरङ्गत् सङ्गात्= बहिरंग परिग्रह से। अपि अनुचितः = भी अयोग्य अथवा निंद्य। असंयमः प्रभवति=असंयम होता है।

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम्।। १२८।।

अन्वयार्थ : अपि = और। यः = जो। धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि = धन, धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदादिक। त्यक्तुं न शक्यः = छोड़ने को समर्थ न हो। सः अपि = वह परिग्रह भी। तनूकरणीयः = न्यून करना चाहिये। यतः निवृत्तिरूपं = क्योंकि त्यागरूप ही। तत्त्वम् = वस्तु का स्वरूप है।

।।पुरुषार्थ देशना।।७१।।

भो मनीषियो! जिनके अंतरंग में निर्मलता है, उन्हें किसी के दोष दिखते ही नहीं, क्योंकि उस जीव को निजस्वभाव में रमण के अलावा दोष देखने की फुरसत ही कहाँ। एक ज्ञानी योगी के अन्तरंग में जब भावों की निर्मलता होती है, तो उसकी दृष्टि में यही लगता है कि विश्व के प्राणी–मात्र भगवत्ता को प्राप्त करें। तीर्थंकर बनने वाली आत्मा यह नहीं देखती कि कौन कैसा है, वह आत्मा तो यह देखती है कि सभी जीव ऐसे ही हों। 'कौन, कैसा' है यह शब्द तो कषाय से भरा है तथा 'सभी ऐसे हों' इसमें दया/करुणा है। प्रत्येक जीव सत्स्वरूप हो, जीव करुणा से भीगा हो, जीव साम्यभाव से युक्त हो, प्रत्येक जीव वात्सल्य से युक्त हो, ऐसी भावना जिसके अन्तरंग में होगी, उसका वात्सल्य पहले झलकेगा और जिस जीव की भाषा में पत्थर से बरसते हों, वहाँ वात्सल्य टूट जाता है। भगवान् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि तुम्हारे जीवन में जब तक परिग्रह का विसर्जन नहीं है, तब तक वात्सल्य संभव नहीं, क्योंकि परद्रव्य का संचय–भाव ही तो दूसरे के प्रति रोष उत्पन्न कराता है। यह मेरा हो जाये, ये मेरे हो जायें–इसके पीछे तो आपको धर्म व धर्मात्मा नजर ही नहीं आते।

भो ज्ञानी! जैनसिद्धांत को समझो। जिसका जितना क्षयोपशम होगा, उसको उतना मिलेगा। अब चाहे तुम कितनी ही ईर्ष्या करो, दाह करो, स्थिरता लाओ; लेकिन ध्यान रखो, जब अशुभ–कर्म का बंध होगा, तो जो तुम्हारे पुण्य का द्रव्य था वह भी ईर्ष्या करने से नष्ट हो जावेगा। मनीषियो! जब तक निज भावों में निर्मलता नहीं है, तब तक तीर्थ की वन्दना भी तुझे पावन नहीं कर पायेगी और निज की परिणति निर्मल है, तो तीर्थ की वंदना भी निमित्त बन जायेगी। इसलिये ध्यान रखना, द्रव्य



की प्राप्ति प्रभु की प्राप्ति किसी की ईर्ष्या से नहीं बल्कि इसकी प्राप्ति जीव की तपस्या से होगी। कर्तृत्व–भाव में उलझकर स्व–पर के परिणामों में कलुषता उत्पन्न कर देना, यह बहुत बड़ी हिंसा है। अतः, परिग्रह का सबसे बड़ा हेतु आर्त्त और रौद्र ध्यान हैं। मोक्ष के हेतु तो धर्मध्यान व शुक्लध्यान हैं। अब यथार्थ बताना कि जीवन के कितने क्षणों में धर्मध्यान होता है?

भो मनीषियो! प्रश्न है कि एक साथ पुत्र रत्न, चक्ररत्न और भगवान् को कैवल्य की प्राप्ति ये तीनों तुम्हारे सामने आ रहे हैं, बताओ आप क्या करोगे ? कामपुरुषार्थ का फल भी सामने पड़ा हुआ है, अर्थपुरुषार्थ सामने खड़ा हुआ है और धर्मपुरुषार्थ प्रतिफलित हो रहा है। आप अंतरंग से प्रश्न करो कि मेरी विशुद्धता कितनी है, मेरी निर्मलता कितनी है ? बेटे के जन्म का उत्सव नहीं किया, तो कोई क्या कहेगा? फिर चक्ररत्न को सँभालो। परंतु भरतेश चक्रवर्ती कहेगा कि यह सब तुच्छ है। मना लूँगा बेटे के जन्मोत्सव को, और चक्ररत्न प्रकट हो चुका है तो जो पुण्य मेरी सत्ता में है, वह कहीं जाने वाला नहीं है, इसलिये मैं सर्वप्रथम परमेश्वर की आराधना करने जाऊँगा। नगर में घोषणा कर दी कि भगवान्, तीर्थेश, आदिब्रह्म आदीश्वर स्वामी को कैवल्य की प्राप्ति हुई है और कैलाश पर्वत पर हम सभी वंदना करने जायेंगे। भगवान् जिनेन्द्र की वंदना करने के बाद कहता है कि, चलो अब चक्ररत्न और पुत्ररत्न का भी उत्सव मना लें। भो ज्ञानी! पर्यूषण पर्व कह रहे हैं कि सबसे बड़ा रत्न तो दस लक्षण धर्म हैं सबसे बड़ा धर्म रत्नत्रय–धर्म है। और उस रत्नत्रय धर्म की साधना के लिये संस्कार कैसे उत्पन्न हों, सोच लेना, अन्यथा सारा जीवन निकल चुका है आर्त्त और रौद्र ध्यान में। अब रत्नत्रय की सिद्धि के लिये स्वयं के जीवन में दया लाओ, करुणा लाओ, तो नियम से स्वपद की प्राप्ति होगी।

भो ज्ञानी! जैनदर्शन में सबसे उत्कृष्ट साधना ध्यान है। ध्यान ही निर्वाण का साक्षात हेतु है। ध्यान के अभाव में कोई निर्वाण चाहता है तो हमारे आचार्य भगवन्तों ने कहा है– **ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्** (९/ परमा. स्तो.) जैसे कि जन्मांध को सूर्य के दर्शन नहीं होते हैं, वैसे ध्यान के बिना निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। तुम पंचम काल में विराजे हो, आर्त्त और रौद्र ध्यान किया है तथा परिग्रह ही आर्त्त रौद्र ध्यान की मूल वस्तु है, क्योंकि नष्ट हो जाये तो चिंता और नहीं आ रहा है, तो चिंता! चला जा रहा है तो चिंता, दूसरे का दिख रहा है तो चिंता। अहो! कितनी महिमा है पैसे में ? निर्मोही बनने के लक्षण जिनके पास हैं वह भी उससे मोहित हो जाते हैं, ऐसी महिमा परिग्रह की है। इसलिये आचार्य महाराज ने इसे ग्यारहवाँ प्राण कह दिया है। जहाँ देखो वहाँ धन–परिग्रह की पूजा है। लेकिन उसकी पूजा करने से पूज्य नहीं बन पाओगे और पूजा करने से लक्ष्मी भी नहीं आती है। भो ज्ञानी! यह सिद्धाँत है कि जब तक परद्रव्य का समूह विराजा है, तब तक धर्म ध्यान भी दूर है। इसीलिये चतुर्थ गुणस्थान में उपचार से धर्म ध्यान कहा है। पंचम गुणस्थान, छठवें गुण स्थान तक में शुद्ध धर्म ध्यान नहीं है। शुद्ध धर्म ध्यान तो सप्तम गुणस्थान से है। आचार्य देवसेन स्वामी ने ऐसा 'तत्त्वसार' में कहा है। शुद्ध धर्म ध्यान याने जहाँ आर्त्त व रौद्र ध्यान का लेश नहीं है, वह सप्तम गुणस्थान में है। छठवें गुणस्थान में रौद्र ध्यान तो नहीं होता; लेकिन आर्त ध्यान होता है। यह आर्त्त ध्यान तुम्हें प्रसन्न नहीं होने देगा, तुम्हें विशुद्ध नहीं बनने देगा, तुम्हें निर्मल नहीं बनने देगा; क्योंकि आर्त्त ध्यान को जन्म देने वाली सामग्रियाँ उपलब्ध है। संघ त्याग, परिग्रह का त्याग, कषायों का उपशमन, इन्द्रियों का दमन और व्रतों का धारण करना–यह ध्यान को जन्म देने वाली सामग्री



है। इसलिये जब अशुभ–चिंतवन होता है तो मानसिकता भी बिगड़ती है, विकार भी बढ़ते हैं और अशुभ–कर्म का द्रव्य भी बढ़ता है। वही योगी जब धर्म ध्यान में होता है तो जो शक्ति क्षीण हो रही थी, वही शक्ति ओज बन जाती है। अतः, ज्ञान की एकाग्रता का नाम ही ध्यान है। भगवान् पूज्यपाद स्वामी ने **'सर्वार्थ–सिद्धि'** ग्रंथ में लिखा है कि चित्त की एकाग्रता का नाम ही ध्यान है। 'ज्ञान से ध्यान और ध्यान से निर्वाण'– ऐसा **'रयणसार'** ग्रंथ में भी लिखा है। अहो! अपने आपसे चर्चा करने का, अपनी सत्ता का भान होने का, यदि कोई स्थान है तो उसका नाम ध्यान है। भो ज्ञानी! जिस जीव को आत्म ध्यान करना है, जिसे निज स्वभाव का स्वाद चखना है, उसे परिग्रह का विसर्जन करना होगा, त्याग करना होगा।

सेठजी एक दिन अपने पालतू तोते से कहते हैं कि मैं मुनि महाराज के पास धर्म–उपदेश सुनने जा रहा हूँ , आपको कुछ पूछना हो तो बताओ। तोता कहता है–महाराज जो उपदेश देंगे, वही आप मुझे सुना देना। जैसे ही दूसरे दिन सेठजी वापस आते हैं, तोते ने पूछा–सेठजी! आपने क्या उपदेश सुना? सेठजी बोले–मुनिराज ने धर्म–उपदेश में कहा कि त्याग करने से आत्मा बंधन मुक्त हो जाती है। तोता बड़ा भेद ज्ञानी था, समझ गया। उसे दोपहर को सेठजी ने भोजन रखा, उसने नहीं खाया और गिर गया। सेठजी बोले–हाय! यह क्या हो गया? मेरा तोता मर गया, अब इसको पिंजरे में न रखें। जैसे ही सेठजी ने पिंजरा खोलकर पक्षी तोते को निकाल कर बाहर रखा, वैसे ही तोता उड़कर डाली पर बैठकर कहता है–सेठजी! गुरुदेव ने यही तो उपदेश दिया था। देखो, मैंने एक दिन का त्याग किया तो मैं आपके बंधन (पिंजरे) से मुक्त हो गया। हे ज्ञानी मुमुक्षु आत्माओ! तुम भी त्याग कर दोगे तो इस पिंजरे से मुक्त हो जाओगे। अहो! ज्ञान किया, पर ज्ञान से मुक्ति तो नहीं मिली। ज्ञान तो त्याग के लिये किया था और त्याग किया तो मुक्ति मिल गई। ऐसे ही ज्ञान से मुक्ति नहीं मिलेगी, मुक्ति तो त्याग से ही मिलेगी।

भो ज्ञानी! छठवेंकाल में पछताने को भी नहीं मिलेगा। अभी तो कम से कम आप पश्चाताप कर लेते हो। ऐसा भी काल आयेगा जिसमें इतनी प्रज्ञा ही नहीं होगी कि हम पाप को पाप समझ पायें। यह तुम्हारे पुण्य का उदय है कि पाप को पाप समझ रहे हो। यह बात आपको अजीब सी लग रही होगी, लेकिन यथार्थ समझना। पाप को पाप वही समझ पाता है जिसका पुण्य का उदय होता है, अन्यथा पाप को पाप नहीं समझ पाता है, समझाने वाले भले ही समझाते रहें। देखो, जब रावण के पाप का उदय आया, कितना बड़ा विद्वान था, इतने लोगों के समझाने पर भी क्या उसकी समझ में आया ? जिसके ऊपर प्रबल पाप छाया होता है, उसे जिन–देशना भी सुहाती नहीं है। **'सर्प डसे तो जानिये रुचि सों नीम चबाये और कर्म डसे तो जानिये जिनवाणी ना सुहाये।'** धर्मसभा में नींद आ जाती है, यह तीव्र अशुभ–कर्म का उदय है। अहो! भोगों में नींद नहीं आती, यह सब अशुभ–कर्म का उदय है। इसलिये भगवान् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि अब तुम परिग्रह का विसर्जन कर दो, निद्रा को भंग कर दो। बहुत सो लिया है, अब मोह की नींद से जाग जाओ, अन्यथा संध्या होनेवाली है।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवन् एक बार पुनः करुणा दृष्टि से समझा रहे हैं। जो बहिरंग–परिग्रह है, उसको भी पूर्ण रूप से छोड़ देना चाहिये, क्योंकि इस परिग्रह से अपरिमित असंयम होता है। आपको



मालूम ह कि गोदाम में धान्य रख दिया, कीड़े पड़ चुके हैं, बाहर निकलते भी दिख रहे हैं, अब बताओ क्या करोगे ? ऐसे ही बेच रहे हैं अथवा जाकर के पिसवा रहे हैं? परिणाम का ध्यान रखना। अब सोचो, कि जैन दर्शन के अनुसार जीना चाहते हो तो विवेक रखो, अन्यथा अपरिमित असंयम होता है। अहो ! इतने महान संयम पर चलने वाला जैन शासन है। भगवन् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि कम से कम इतना तो विवेक रख लेना कि साक्षात् जीवों को पीसकर तो मत खाना। जो सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़ने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें परिग्रह को कम कर लेना चाहिये, परिमाण कर लेना चाहिये; क्योंकि त्याग वस्तु का स्वरूप है, ग्रहण करना वस्तु का स्वरूप नहीं है।





मत बनो निशाचर

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि।। १२९।।

अन्वयार्थ– यस्मात् रात्रौ = क्योंकि रात्रि में। भुञ्जानानाम् = भोजन करने वालों के। अनिवारिता हिंसा = जिसका निवारण न हो सके ऐसी हिंसा। भवति = होती है। तस्मात् = इसलिए। हिंसाविरतैः=हिंसा से विरक्त होने वाले पुरुषों को। रात्रिभुक्तिः अपि = रात्रि को भोजन करना भी। त्यक्तव्या = त्याग करना चाहिए।

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम्।
रात्रि दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति।। १३०।।

अन्वयार्थ– अनिवृतिः = अत्याग भाव (भोजन का त्याग नहीं करना)। रागाद्युदयपरत्वात् = रागादिक भावों के उदय की उत्कटता से। हिंसाम् = हिंसा को। न अतिवर्तते = उल्लंघन करके नहीं प्रवर्तते हैं। रात्रि दिवम् = रात्रि और दिन को। आहरतः = आहार करनेवालों के। हि हिंसा =निश्चयकर हिंसा। कथां न संभवति = कैसे संभव नहीं होती ?

।। पुरुषार्थ देशना।।

अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने अलौकिक सूत्र दिया कि राग का विनाश करानेवाली वस्तु वैराग्य भाव है, जो वीतराग भाव का दिग्दर्शन कराने वाला है। वैराग्य भाव राग के अभाव से हुआ है तो पर–द्रव्य से ममत्व नियम से हटेगा अर्थात् पर–द्रव्य से ममत्व हटा है, तो वैराग्य निश्चित है। जिसके पास वैराग्य है, उसके पास चारित्र आयेगा और जिसके पास चारित्र आयेगा, उसके पास नियम से वीतरागता आयेगी। मनीषियो! आज सबसे प्रबल रोग कोई है, तो देह का है। जिस दिन डाक्टर कहता कि उपचार संभव नहीं है, तब कहते हैं–डाक्टर साहब! आप जितना चाहे धन ले लो, लेकिन रक्षा कर लो।

भो मनीषियो! निज की ग्रंथि को खोलो, क्योंकि यहाँ तत्त्व की बात सुन रहे हो। समझना, निर्ग्रंथ वीतराग मुनिराज के चरणों में जीवंधर ने प्रश्न किया, प्रभु! मैंने ऐसा कौन–सा पाप किया था, जिसके प्रभाव से मुझे अपनी माँ का वियोग सहन करना पड़ा और मेरे जन्म होने के पूर्व ही मेरे पिता का वियोग हुआ। पिता सत्यंधर महाराज को उनके मंत्री काष्ठांगार ने मार डाला, माँ विजया को मयूर–विमान ने श्मशान में छोड़ा, जहाँ लोगों के अंतिम–संस्कार किये जाते हैं वहाँ मेरा जन्म हुआ। वीतरागी मुनि कहने लगे–जीवंधर कुमार इसमें तेरे जनक–जननी का ही दोष नहीं, तेरा भी दोष था। भो ज्ञानी! पंडित आशाधरजी ने 'सागार धर्मामृत' में लिखा है–



प्राणंतेऽपि न भंक्तव्यं, गुरु साक्षिश्रितं व्रतम्।
प्राणांतस्तत्क्षणे दुःखं, व्रतभंगो भवे भवे।। 52।।

प्राणों का अंत भी क्यों न हो जाये, गुरु की साक्षी में जो व्रत लिए हैं उन्हें भंग मत कर देना; क्योंकि जिसने व्रत को भंग किया है, वह भव–भव में दुःख को प्राप्त हुआ है!

भो ज्ञानी! जिसके निमंत्रण–कार्ड पर लिखा हो कि तुम्हारे आने तक की व्यवस्था है, उसे जैन किसने कह दिया है ? ओहो! कम–से–कम तुम इतना नियम आज ले लो कि आज से अपने कार्ड पर यह नहीं लिखवाऐंगे "स्वरुचि–भोज शाम पाँच बजे से आपके आगमन तक।" एक ओर "मंगलम् भगवान् वीरो" छाप रहे हो और दूसरी तरफ आप रात्रि में भोजन का निमंत्रण दे रहे हो कि आपके आगमन तक की व्यवस्था है। भो चेतन आत्माओ! केवली के ज्ञान में तुम्हारी करतूतें सब झलक रही हैं और तुमको स्वयं मालूम है कि हम क्या कर रहे हैं ? आश्चर्य है। बैनर लगाने की, परिचय देने की आवश्यकता नहीं, विदेशों में तुम्हारी पहचान है ! रात्रि–भोजन के त्याग का तात्पर्य यह नहीं है कि झुरमुट संध्या हो रही है, फिर भी खाते चले जा रहे हैं। बोले–अभी तो दिख रहा है। अरे! यह मायाचारी भी नहीं करना। रात्रि भोजन का त्याग यानि कि सूर्यास्त के दो घड़ी पहले भोजन हो जाना चाहिए। संध्या–काल में ही तो जीव की उत्पत्ति अधिक होती है। सोते जा रहे हैं और भोजन करते जा रहे हैं, सीधा का सीधा पेट में रखा। पच नहीं पा रहा है तो किसी को गैस के रोग हो रहे हैं, तो किसी का शरीर स्थूल हो रहा है। भगवान् महावीर स्वामी ने वीतराग विज्ञान में पहले ही कह दिया है कि आप सोने के लगभग तीन घंटे पहले भोजन कर लो। सूर्यास्त के अड़तालीस मिनट पहले भोजन कर ही लेना चाहिए। जैन–आगम कहता है कि आप को चार प्रकार के आहार–पानी का और पाँच पापों का त्याग करके रात्रि–विश्राम करना चाहिए। कहीं धड़कन बढ़ गई और अंत हो गया तो कम से कम सल्लेखना के साथ तो मरोगे, त्याग के साथ तो जाओगे।

भो ज्ञानी! प्राचीन पद्धति क्या थी? सुबह की पूजा–पाठ करके साधुओं की आहारचर्या कराके, श्रावक जाता था अर्थोपार्जन के लिए और शाम को अपनी अन्थऊ की बेला में घर आ जाता था। फिर अपनी सामायिक करता, भगवान् की वंदना करता, वचनिका सुनता था। वर्तमान में सुबह के अखबार में सुबह की सामायिक हो गई और संध्या के अखबार में संध्या की सामायिक हो गई और टेलीविजन के सामने वचनिका चलती है। बताओ क्या जीवन है? भोली आत्माओ! ऐसी मायाचारी करके तुम कहाँ जा रहे हो? मनीषियों! देवदर्शन, पानी छानकर पीना और रात्रिभोजन नहीं करना यह जैनी के तीन चिह्न आस्था के प्रतीक हैं। पुरातत्व एवं साहित्य ये संस्कृति के प्राण हैं, जो तुम्हारी पहचान हैं। भो प्रज्ञात्माओ! आचार्य भगवान कह रहे हैं कि रात्रि में भोजन करने से नियम से हिंसा होती है। विवाह में रात्रियों में भट्टियाँ चढ़ती हैं और दिन में परोसा जाता है। अहो! रात्रि में बना, दिन में खाया, वह भी हिंसक है और दिन का बना रात्रि में खाया, वह भी हिंसक है। इसीलिए जिसकी हिंसा में वृत्ति है, उसे छोड़ देना चाहिए।



छोड़ो रात्रि भोज

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा।।१३१।।

अन्वयार्थ : यदि एवं = यदि ऐसा है (अर्थात् सदाकाल भोजन करने में हिंसा है)। तर्हि दिवा भोजनस्य = तो दिन के भोजन का। परिहारः कर्त्तव्यः = त्याग करना चाहिये। तु निशायां = और रात्रि में। भोक्तव्यं = भोजन करना चाहिये। इत्थं हिंसा = इस प्रकार से हिंसा। नित्यं न भवति = सदाकाल नहीं होगी।

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य।।१३२।।

आचार्यश्री का उत्तर

अन्वयार्थ : एवं न = ऐसा नहीं है क्योंकि। अन्नकवलस्य = अन्न के ग्रास के (कौर के)। भुक्तेः = भोजन से। मांसकवलस्य = ग्रास के ग्रास के। भुक्तौ इव = भोजन में जैसे राग अधिक होता है, वैसे ही। वासरभुक्तेः = दिन के भोजन से। रजनिभुक्तौः = रात्रि भोजन में। हि रागोधिकः भवति = निश्चय कर अधिक राग होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

तीर्थेश महावीर स्वामी की पावन--पीयूष देशना हम आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी के माध्यम से सुन रहे हैं। अपने अन्तस्थ में पहुँचकर आगम के गहनतम् सूत्रों को आचार्य महाराज ने हम सभी के लिए प्रदान किया है कि, ज्ञान का श्रद्धान और ज्ञान का आचरण दोनों महत्वशाली हैं। क्योंकि श्रद्धा के अभाव में ग्यारह अंगों का भी ज्ञान हो जाता है, लेकिन वह ज्ञान अंत में संसार की ही यात्रा कराता है। श्रद्धा के अभाव में चारित्र भी ग्रेवेयक की वंदना करा देता है, जबकि श्रद्धा के सद्भाव में किया गया ज्ञान और आचरण सुव्रत को प्रदान कराता है। श्रद्धा यदि है, तो दया स्वतः ही ग्राह्य होती है। श्रद्धा नहीं होती, तो दया नहीं होती, वहाँ स्वार्थ हो सकता है। दया में स्वार्थ नहीं होता, दया निस्वार्थ होती है। करुणा में भी स्वार्थ नहीं होता। लेकिन ध्यान रखना, वही दया/ करुणा मोक्षमार्ग में कार्यकारी होती है, जो अनुकम्पा से युक्त होती है। करुणा और अनुकम्पा में अन्तस्थ की दृष्टि होती है, और दया बाहर में क्रियारूप होती है। दया दिखने में आती है, और करुणा अन्दर से उत्पन्न होती है तथा करुणा से युक्त दशा मोक्षमार्ग में कार्यकारी होती है। सक्रिय करुणा का नाम दया है। अहो! समझना, जिसको स्वयं पर दया नहीं है, वह दूसरे पर कभी भी दया नहीं कर सकता, दिखावा कर सकता है। ऐसे निर्दयी को बंध नियम से है, जीव का वध हो या न हो।



भो ज्ञानी! इसी प्रकार, जीव की रक्षा हो या न हो, पर दयाशील से निर्जरा सुनिश्चित होती है। अमृतचन्द्र स्वामी की कितनी दया है! वह कह रहे हैं कि अभी तुमको शरीर से जीव–वध का त्याग कराया था, अब तुम परिणति में भी जीव का वध मत करो और इतना ही नहीं, उन सूक्ष्मजीवों का भी वध मत करो, कर्म से भी मत बंधो। दृष्टि देखना। दया उभयपक्षीय है। जीव का वध नहीं किया तो उस पर तुमने दया की, अतः कर्म ने आपको नहीं बांधा। इस प्रकार तेरे कर्मों ने स्वयं पर दया की। मुमुक्षु जीव प्रतिपल/प्रतिक्षण स्वयं पर दयादृष्टि रखता है। इसीलिए सम्यक्त्व प्रकट तभी होता है, जब अनुकम्पा–गुण पहले सामने होता है। जो जीवदया से शून्य है, उसके पास प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य कहाँ ? आस्तिक्य का अर्थ होता है आत्म–तत्त्व में श्रद्धा। पंच परमेष्ठी पर श्रद्धा है, प्राणी मात्र पर करुणा दृष्टि है, जिनदेव ने जो कहा वह सत्य है, इसका नाम आस्तिक्य है। भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि किसी जीव का भक्षण मत करना, रात्रि में भोजन नहीं कराना, भोजन नहीं करना और रात्रि में भोजन की अनुमोदना नहीं करना। अब बताइये कि यदि आप रिक्त हो, तो धर्मात्मा हो और युक्त हो, तो स्वयं समझ लो। मैं एक गाँव में गया। जिनालय में पूरी वेदियों में आलू प्याज की गंध छाई हुई थी। मैंने श्रावकों से पूछा– क्यों भाई! यह क्या हो रहा है ? बोले– महाराज श्री! आज यहाँ पर शादी है, तो धर्मशाला किराये पर है, पांच सौ रुपए आयेंगे, जो धर्मशाला–मंदिर आदि की व्यवस्थाओं के काम आवेंगे। मैंने पूछ ही लिया– क्यों, कितनी समाज है ? कितने लोग कटोरा लेकर भीख माँगते हैं, जो कि जिनेन्द्रदेव के चरणों में आलू–प्याज बन रहा है और किसके लिए ? मंदिर और धर्मशाला की व्यवस्था के लिए ? अहो! द्रव्य का इतना लोभ! आचार्य नेमिचंद्र स्वामी कह रहे हैं–

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा, सव्वेण वितीदकालेण। गो.जी.कां.।१९६।।

अतीतकाल में जितने सिद्ध हो चुके हैं, उससे अनन्त–गुणे जीव आलू के एक अंश में होते हैं। वे सभी जीव सिद्धत्व–सत्ता से युक्त होते हैं। अहो भावी भगवंत आत्माओ! जब तुम प्राणीमात्र में भगवत्ता को निहारते हो, तो फिर सोचना कि किसमें हम छोंक/बघार लगवा रहे हैं? आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं– क्या अपने बेटे को आप माँस खाते देख सकते हो अथवा रात्रि में भोजन करते देख सकते हो ? भोजन से तात्पर्य खाद्य, स्वाद, लेह, पेय से है।

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
मणुउब्भवा य सव्वे तुम्हाते माणुसा भणिदा।। १४९–गो.(जी.कां)।।

अहो मानवो! आचार्य नेमिचंद्र स्वामी ने "गोम्मटसार" में आपको मनुष्य कहा है। जो मननशील, चिंतनशील, विवेकशील प्राणी होता है, जो उत्कृष्ट परिणामों से युक्त होता है, जो मनु की संतान है, उसका नाम मनुष्य है। मनीषियो! खाद्य, स्वाद, लेह्य, पेय चारों प्रकार के भोजन के त्याग का नाम त्याग है। ऐसा नहीं है कि रात्रि में दूध आदि चल जायेंगे। भट्टियाँ जल रही हैं, रबड़ी बन रही है, क्योंकि रात्रिभोजन का त्याग है, अतः हमारे लिए तैयार हो रही है। वीतराग–विज्ञान कहता है कि



खाना छोड़ो और आज के डाक्टर कहने लगे कि दिनभर खाओ, थोड़ा–थोड़ा खाओ, चार बार खाओ। वे ठीक कह रहे हैं, तुम बार–बार खाओगे, दिनभर खाओगे, तभी तो इनकी दुकानें चलेंगी। इससे लगता है कि आज के भगवान् तो डाक्टर ही बन गये। भो मनीषियो ! अरहंत की वाणी को नहीं मानता परन्तु डाक्टर की वाणी को मान लेता है। अभी कुछ दिन पहले की घटना है, इक्कीस वर्ष के नवयुवक को कैंसर था। माता–पिता की गोद में बैठा बेटा कहता है–पिताजी! अब तो सुनिश्चित है कि मुझे जाना है, पर आप बिलखना मत, आप तो ''णमोकार'' सुना दो। बता रहे थे उनके पिताजी कि ऐसी निर्मलता उसके परिणामों में थी। देखो, जिस जीव की भवितव्यता निर्मल होती है, उसी को ऐसे भाव आते हैं और जिसकी बिगड़ जाती है, वह पंचपरमेष्ठी के चरणों में पहुँच कर भी परिवार ही को देखता है। अब अपनी–अपनी भवितव्यता निहारना, लेकिन चौका को चौका ही रहने देना। जिसमें द्रव्यशुद्धि हो, क्षेत्रशुद्धि हो, कालशुद्धि हो, भावशुद्धि हो, वहाँ जो भोजन हो, उसका नाम चौका है। जहाँ चार शुद्धियाँ हैं, वहाँ चौका है।

अहो ज्ञानी! जब तुम चौके में बैठकर भोजन करते थे, तभी तो अनन्तचतुष्टय की साधना होती थी। अब तो तुम्हारे भाव ही नहीं आते। उन घरों को श्रावक का घर नहीं कहना, जिस घर में रात्रिभोजन होता हो। बोले–महाराज जी! अब क्या करूँ? बच्चे मानते ही नहीं हैं, वह तो रात्रि में ही भोजन करते हैं। ओहो! तुम कैसे माता–पिता ? वह कैसी सन्तान, जिस पर तुम्हारा अधिकार न हो? यह नीति है कि संतान और शिष्यों को अति नजदीक नहीं रखना चाहिए तथा नारी को देहरी के बाहर नहीं जाने देना चाहिए। इन तीन की मर्यादा आपने भंग की, समझ लो तुम्हारा घर सत्यानाश हुआ। जैनदर्शन में अहिंसाधर्म प्रधान है। कान्वेंट भेजकर इंग्लिश बोलना सिखा दिया, लेकिन ''णमोकारमंत्र'' नहीं सिखा पाये तो श्रमणसंस्कृति को आपने क्या दिया ? आज पाठशाला और धर्म की पढ़ाई की चर्चा करो तो, महाराजश्री! बच्चों को फुरसत नहीं है। चिंता नहीं करो, अंत में आपको गालियाँ सुनने मिलेंगी। इसीलिए ध्यान रखना, यह भी करुणा है कि स्वयं की संतान को संतान मत मानो, उन्हें भी जीव मान लो; क्योंकि पुत्र मानकर कहोगे तो राग झलकता है। उसे भी तुम एक सत्य मानो, उसे भी तुम जीव मानो। यह श्रमणसंस्कृति निवृत्ति व प्रवृत्ति उभय–मार्गी है।

अहो! उस घर की क्या दशा होगी, जहाँ दादाजी टेलीविजन के सामने रात्रि में पिक्चर देख रहे हों, वहीं बच्चों के साथ थाली में भोजन कर रहे हों? अब वे दादाजी कहें–बेटा! अब पर्युषण पर्व आने वाले हैं अतः रात्रिभोजन नहीं करना परन्तु तुम्हारी कोई नहीं सुन रहा। आप स्वयं बताओ, सिर पर सफेदी आ चुकी है, अब तनिक तो सोचो। बहुत देख लिया, बहुत कुछ कर लिया। यदि अभी भी न समझे तो मैं समझता हूँ कि अब भगवान् महावीरस्वामी तो समझाने आने वाले नहीं हैं। बालों को सफेद की जगह काले करा सकते हो, बत्तीसी लगवा सकते हो, पर जब आयुकर्म क्षीण हो जाये उसको और बढ़ा लेना, क्योंकि आजकल कोई बूढ़ा होना ही नहीं चाहता। हमारे आगम में एक प्रकार के वृद्ध की चर्चा नहीं है वरन् उम्रवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, तपवृद्ध आदि की चर्चा है। 'ज्ञानार्णव' ग्रंथ में आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने अलग से 'वृद्धसेवा अधिकार' लिखा है और साधुओं से कहा है कि वृद्धों की सेवा करना, क्योंकि वृद्धों की सेवा करने से शास्त्र–ज्ञान नहीं, अनुभव का ज्ञान मिलता है। अहो! वृद्ध संगति से ब्रह्मचर्य पलता है और वृद्धों के साथ रहने से संयम में निर्दोषता रहती है, क्योंकि वृद्ध के शरीर



अब वासनाओं से शिथिल हो चुके हैं, इनके शरीर को देखकर वासनाएँ नहीं सतायेंगी। युवाओं के शरीर को देखोगे तो वासनाएँ/कामनायें सतायेंगी। इसीलिए उन्होंने कहा कि वृद्धों के साथ रहो। वृद्धसेवा गुणों की वृद्धि के लिए करना, लालसा कि वृद्धि के लिए नहीं। ध्यान रखना, दादाजी की बात मान लेना, उनका काम धीरे से कर देना और कहना कि अब हम आपका काम करते हैं, लेकिन आप अपना काम करो, जाप करो, 'णमोकार मंत्र' करो, और कोई अन्य काम नहीं तुम्हारा। विश्वास रखना, तुम्हारे छोटे–छोटे नाती तुम्हें देखेंगे तो आँखें बंद करके माला करेंगे। मैने आँखों से देखा है, क्योंकि जैसा दृश्य सामने होता है, वैसा दृश्यमान सामने होता है।

भो ज्ञानी! जीवन में ध्यान रखना, यदि संस्कार निर्मल हैं, तो संतान निर्मल होगी और यदि निर्मल होने पर भी ठीक नहीं है, तो भी संक्लेषता नहीं करना; क्योंकि कर्म–सिद्धांत है। फिर यह कहना कि हमारे पूर्वभव का शत्रु है, क्योंकि हमने सब कुछ अच्छा किया। राजा श्रेणिक ने तो तीर्थंकर की देशना सुनी, पर बेटा ऐसा निकला कि पिताजी को ही बंदीगृह में डाल दिया। उसमें भी संक्लेषता नहीं करना; लेकिन सुधारने के विचार मत रखना। सुधार उसके उपादान से होगा और आपने समझाने को सुधार मान लिया तो संक्लेषता आपकी बढ़ेगी। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने पूर्व सूत्र में कहा था कि तीव्र राग के वश दिन–रात भोजन करता है, इसमें हिंसा तो होती है। यह तो जैन– आगम है। वैदिक–दर्शन के 'मार्कण्डेय पुराण' में भी लिखा है–दिन का नाथ अर्थात सूर्य के अस्त होते ही पानी रुधिर (रक्त) के तुल्य हो जाता है और अन्न माँस का पिण्ड हो जाता है। आज आप त्याग करो या न करो, पर एक नियम ले लो, कि जब भी भोजन करने रात्रि में बैठो उस समय इतना सोच लेना कि मैं क्या खा रहा हूँ ? क्या पी रहा हूँ ? और पुरुषार्थ– सिद्धि की एक सौ बत्तीसवीं कारिका का ध्यान कर लेना कि मेरे मुख में क्या जा रहा है ? जिस व्यक्ति ने पंद्रह दिन के लिये रात्रिभोजन का त्याग कर दिया, उसने सात दिन का उपवास कर लिया। जिसने एक महिने का रात्रिभोजन का त्याग कर दिया, उसे पंद्रह दिन का उपवास का पुण्य मिलता है। एक साल तक जिसने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया तो छह महिने के उपवास का फल मिल रहा है। इतने बड़े लाभ को तुम ऐसे ही छोड़ दोगे.? भैया! अंतरंग में रागदृष्टि रहेगी, तब तक छूटने वाला नहीं है। चिन्तवन करना, सोचना और अपनी पर्याय को धिक्कार लेना कि, हे भगवान्! धिक्कार हो, ऐसी मानव–पर्याय प्राप्त करके मैं तिर्यंच जैसी प्रवृत्ति कर रहा हूँ। इसीलिए ध्यान रखो, दिन के भोजन करने में राग कम होता है, रात्रि के भोजन करने में राग तीव्र होता है। अतः, जो भी रात में अन्न के ग्रास को खाता है, वह माँस के टुकड़े को खा रहा है। अब स्वयं सोचना, स्वयं समझना कि हमारी दशा क्या है? बस, मत बनो निशाचर।





साधना से साध्य की सिद्धि

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्।। १३३।।

अन्वयार्थ : अर्कालोकेन विना = सूर्य के प्रकाश के विना अर्थात् रात्रि में। भुञ्जानः = भोजन करने वाला पुरुष। बोधितः प्रदीपे अपि = जलाये हुए दीपक में भी। भोज्यजुषां = भोजन में मिले हुए। सूक्ष्मजीवानाम् = सूक्ष्म जंतुओं की। हिंसा कथं परिहरेत् = हिंसा को किस प्रकार दूर कर सकेगा?

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति।। १३४।।

अन्वयार्थः वा बहुप्रलपितैः = अथवा बहुत प्रलाप से। किं यः = क्या ? जो पुरुष। मनोवचनकायैः = मन, वचन और काया से। रात्रिभुक्तिं परिहरति = रात्रि–भोजन को त्याग देता है। सः सततं अहिंसां = वह निरंतर अहिंसा को। पालयति इति सिद्धं = पालन करता है, ऐसा सिद्ध हुआ।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण।।१३५।।

अन्वयार्थ : इति अत्र = इस प्रकार इस लोक में। ये स्वहितकामाः =जो अपने हित के इच्छुक। माक्षस्य = मोक्ष के। त्रितयात्मनि, मार्गे =रत्नत्रयात्मक मार्ग में। अनुपरतं =सर्वदा अटके बिना। प्रयतन्ते ते = प्रयत्न करते हैं वे पुरुष। मुक्तिम् अचिरेण प्रयान्ति = मुक्ति को शीघ्र ही गमनकरतेहै।

।।पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! भगवान् महावीर स्वामी की पावन–पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने आलौकिक सूत्र दिया कि जीवन में जब अध्यात्म का सूत्रपात होता है, तो बहिरात्मपने का विनाश सदैव के लिए हो जाता है। बहिरात्म–दशा का जब तक विनाश नहीं है, तब तक, मनीषियो! अंतर–दशा जाग्रत नहीं होती। जब शुद्धि के परिणाम जीव के अंतरंग में उत्पन्न होते हैं, तब संयम अपने आप झलकने लगता है। जो जीव जीवन में कभी एक दिन को अभक्ष्य नहीं छोड़ पाये, वे आज मुनि बनकर विचरण कर रहे हैं। आचार्य शांतिसागर महाराज के संघ में एक पायसागर मुनिराज हुए, जो सप्तव्यसनीजीव थे, जिसके नाम पर लोग भयभीत होते थे, लेकिन भवितव्यता को किसी ने नहीं जाना कि परिणति किसी जीव की कितनी निर्मल हो सकती है। जब वे निर्ग्रंथ–दशा को प्राप्त हुए, तब उनने इतनी घोर तपस्या की, कि उनकी तपस्या के आगे सभी ने सिर टेक दिया। कहते थे कि



पापों को मैंने किया है और कितनी तीव्रता में किया है वह मैं ही जानता हूँ। जितना गरम बर्तन होगा, उसको ठण्डा करने के लिए उतनी ही शीतलता चाहिए। जितनी कषाय के वेग से आपने कर्मों का बंध किया है, जितने उबाल आपके अंतरंग में आये हैं, उस आत्म–पात्र को शीतल करने के लिए उतनी ही आपको साधना की आवश्यकता है। यदि साधना नहीं हो पाती, तो अंतरंग की निर्मलता कहाँ से होगी?

भो ज्ञानी! जरा सँभलकर सुनना। भोगी की उम्र है परन्तु योगी के लिए कोई उम्र नहीं होती है। भोगों की सीमा है, जबकि योग असीम होता है। भोग एक आयु तक चलते हैं और अंत में आपको वैरागी बना देते हैं, पर वैराग्य कभी किसी को वैरागी नहीं बनाता है। वैराग्य अपने आप में अपने आप को शासक बना देता है। भोग मृत्यु के पहले छूट जाते हैं, लेकिन योग अंतिम सांसों तक चलते हैं। योग परम–योग बनता है, वही परम–नियोग को प्राप्त करता है। कषायों की सीमा है आक्रोश की सीमा है, परन्तु एक क्षण की साधना असीम होती है। मूलाचार में उल्लेख आया कि विनयपूर्वक जिसने श्रुत का अभ्यास किया, कदाचित् प्रमादवश वह जीव जाने हुये ज्ञान को भूल जाये, लेकिन वही ज्ञान भविष्य में केवलज्ञान का कारण बनता है। यदि कोई जीव जीवन में साधना से संस्कारित हो जाता है, ध्यान रखना, जरा सा संयोग मिलने पर संत के रूप में प्रकट हो जाता है। जिनवाणी कहती है कि जातिस्मरण नरकों में भी हो जाता है। नारकी वहाँ देखते हैं कि मैंनें पूर्व–पर्याय में सद्गुरुओं की वाणी को सुना था, जिनेन्द्र की देशना को सुना था। मुझे विश्वास है कि यदि आप नरक मे भी चले जाओगे, निगोद में भी चले जाओगे, लेकिन आज के संस्कार किसी न किसी रूप में नियम से उद्भूत होंगे, फिर वहाँ आयेगा जातिस्मरण कि, अहो! मैंने कहीं सुना था, लेकिन मैं नरक में आ कैसे गया ? अहम् के, काम के, वासना के मद में मैंनें उन संस्कारों को निवास नहीं दिया, इसलिए नरक में वास करना पड़ा।

भो ज्ञानी! हमारे आचार्यों ने गंभीर सूत्र लिखा है– दान देना, तो स्वयं के द्रव्य से देना। क्योंकि स्वयं के द्रव्य को देने पर भाव उमड़ते हैं, भक्ति उमड़ती है और लगता है कि इस द्रव्य का कितना निर्मल उपयोग होना चाहिए। पिता के द्रव्य को जब हम देते हैं, तो पता नहीं होता है कि कमाया कैसे जाता है। ऐसे ही वर्तमान पर्याय में किया गया पुण्य यदि वर्तमान पर्याय में उदय में आ जाये, तो उसकी आप सम्हाल करते हो और भूत के पुण्य में तुम इठलाकर भविष्य में पाप का बंध करते हो। भक्ष्य–अभक्ष्य सेवन किया, रात्रि में सेवन किया, यदि कोई जीव अंदर चला गया, और डाक्टर ने कहा कि एक लाख रूपया जमा करो, फिर महसूस होता है कि मेरी इतनी कीमत थी। अरे नर! तेरी इतनी कीमत है अभी तुझे मालूम नहीं। जिस समय भगवान् आदिनाथ स्वामी जैनेश्वरी–दीक्षा लेने जा रहे थे, उस दिन मनुष्यों ने कहा कि जिनदेव की पालकी हम उठाएँगे, देवों ने कहा कि जिनदेव की पालकी हम उठाएँगे। निर्णय कौन करे ? तब आदीश्वर स्वामी कहने लगे कि मेरी पालकी उठाने का अधिकार उसे है, जो मेरे साथ संयम स्वीकार करे। उस दिन देवों को भी पता चल गया था कि मनुष्य–पर्याय कितनी महान है। सौधर्म इन्द्र कहता है कि, हे मानवो! मेरे सम्पूर्ण सुख की अनुभूति आप स्वीकार कर लो और एक क्षण के लिए मनुष्य–पर्याय मुझे दे दो, क्योंकि मेरे पास सब कुछ है, पर संयम नाम की वस्तु मेरे पास नहीं है। मनीषियो! आत्मसुख निज में ही संयम से प्रकट किया जाता है, वही साधना है।



भो ज्ञानी! आचार्य अमितगति स्वामी ने कहा है कि, अहो! श्रावकों की साधना देखकर कितना आश्चर्य होता कि जितनी तपस्या योगी नहीं कर पाते, उतनी ये लोग कर लेते हैं। परंतु कहा भी नहीं जाता। अहो गज! तूने सरोवर में डूब–डूबकर स्नान किया और बाहर निकलकर धूल डाल ली। दस दिन तक साधना की, और ग्यारहवें दिन वही राग–द्वेष की धूल ऊपर डाल ली। अरे! स्नान करके ऐसा करो कि फिर धूल पड़े ही नहीं। अतः प्रत्येक समय की, प्रत्येक परिणाम की, प्रत्येक पर्याय की, प्रत्येक भाव की आप गणना करना प्रारंभ कर दो। कितने शुभ परिणामों का आना हुआ है, कितने अशुभ परिणामों का जाना हुआ? विश्वास रखना, विपरीत परिणति होना बंद हो जायेगी। जिस क्षण में विषयों के प्रति लालसा और उन विषयों का भोग तुम कर चुके हो, उतना पुण्य का द्रव्य नष्ट हो चुका है। जितना द्रव्य तुम्हारे पलड़े में था पुण्य का, वह सारा द्रव्य आपने लगा दिया इन्हीं उपभोग में, और मालूम चला कि आगे के लिए पुण्य का संचय किया नहीं तो उसका परिणाम अधोगति निश्चित है।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् अमृतचंद्रस्वामी करुणा–दृष्टि से समझा रहे हैं कि अब तो सम्हल जाओ, अन्यथा तीर्थंकर नहीं सम्हल पायेंगे, जिनवाणी नहीं संभाल पाएगी। सम्हलना तो स्वयं पड़ता है, किसने किनको सम्हाला ? मनीषियो! भव–के–भव बीत गये, लेकिन सम्हल नहीं पाये, सम्हलने के भाव आते हैं तो फँसानेवाले हजारों मिलते हैं। ध्यान रखना, सुई में जब धागे को पिरोया जाता है, तब कितना एकाग्र होना पड़ता है? आचार्य कुंदकुंददेव **"अष्ट पाहुड" ग्रंथ** में कह रहे हैं कि आत्म–सुई में सूत्र को डालने के लिए कितना एकाग्र होना पड़ेगा ? जब तक एकाग्र नहीं होंगे, तब तक यह सूत्र तेरी आत्म–सुई में जानेवाला नहीं है। अनादिकाल से यह आत्मा मिथ्यात्व एवं असंयमभावरूप विभिन्न प्रवृत्तियाँ–रूपी–छिद्र बना रहा हैं! फट रही है तेरी आत्मा। उनको तभी सिल पाओगे जब मन, वचन, काय योग स्थिर होंगे। पंडित दौलतराम जी लिख रहे हैं–जब तक मन स्थिर नहीं होगा, तब तक तत्त्व अंदर प्रवेश नहीं करेगा। जिसके तीनों योग सम्हल जाते हैं, उसका नाम ही योगी होता है। उसी का नाम योग है, वही ध्यान है, वही साधना है। यदि तीनों योग नही सम्हले तो, ध्यान नहीं हो सकता है। **अरे! आँखों को बंद करके मुख से "अहा" बोलने से भगवती–आत्मा झलक गई होती तो संसार में पता नहीं कितने जीव ध्यान में लीन हो गये होते।**

भो ज्ञानी! यह आँख के खोलने, आँख के बंद करने अथवा मुख से बोलने का विषय नहीं है। मनीषियो! आत्मानुभूति अवक्तव्य है। जो 'अहा' आवाज आती है, यह जिनवाणी के प्रति बहुमान की आवाज हो सकती है, पर आत्मानंद की आवाज नहीं हो सकती। जिनवाणी के प्रति बहुमान आता है तो आवाज सहसा निकलती है, यह तो ठीक है, लेकिन आत्मानंद में बैठा योगी आवाज करता नहीं, आवाज सुनता है। जो आवाज शब्द, स्पर्श, गंध, वर्ण से रहित होती है, वही आत्मानुभव है। ध्यान रखना, जब जीव निज के ध्यान में हो तब उसे आप ज्ञान का भी ज्ञान मत कराओ। क्योंकि ज्ञान का उद्देश्य ज्ञान नहीं होता, ज्ञान का उद्देश्य ध्यान होता है और ज्ञान के विकल्प में डालकर उसको ध्यान से वंचित कर दिया, उसका संसार बढ़ा दिया।

भो ज्ञानी! एक दिन आचार्य धर्मसागर जी के संघ का परिचय पढ़ रहा था। किसी विद्वान् ने लिखा था कि मैं आचार्य धर्मसागर महाराज जी के दर्शन करने गया। वे कुछ कर ही नहीं रहे थे, न उनके पास पुस्तक थी, न माला थी। पिच्छी रखी थी, कमण्डल रखा था, वह शांत बैठे थे, तो



पंडित जी का एकबार मन करता है कि देखो कैसे निठल्ले–से बैठे हैं, इनके पास कोई काम ही नहीं है। साधु को तो ज्ञान–ध्यान में लीन रहना चाहिए। ना तो कोई पुस्तक रखे हैं, ना कोई कापी रखे हैं, क्यों न उनके पास जाकर ही पूछ लूँ कि आप खाली क्यों बैठे हो? मुनिराज के पास पहुँचे और लोकाचार की दृष्टि से विद्वान् ने उनको नमस्कार/नमोस्तु किया। उन्होंने स्मित–भाव से ऊपर देखा और शांत बैठे रहे। विद्वान् का हृदय परिवर्तित हुआ कि चेहरे से लगता नहीं है कि यह निठल्ले बैठे हैं, क्योंकि आवश्यक नहीं कि जब शरीर कुछ करे, तभी कुछ हो। यदि शरीर के करने से मोक्ष होता है, तो अयोगकेवली गुणस्थान तो कभी बनेगा ही नहीं। इससे पंडितजी स्वयं मुनिराज को पढ़ रहे थे और स्वयं लिख रहे थे। साधु ने कुछ कहा नहीं, पर साधु के शरीर के रूप ने, निर्ग्रंथ दशा ने, उनकी पूरी भ्रम की ग्रंथि को खोल दिया। फिर पूछते हैं–महाराजश्री! आप क्या कर रहे हैं? मुनिराज सहज बोले थे–कुछ नहीं। बोले–आपके पास तो शास्त्र भी नहीं हैं। महाराज! हमने सुना है कि साधु ज्ञान–ध्यान में लीन होते हैं, फिर भी आप ग्रन्थ नहीं रखते? बोले–पंडित जी ! मैंने ग्रन्थों के अभ्यास के बाद ऐसा महसूस किया कि जब तक निर्ग्रन्थ में भी ग्रन्थ रहे, तब तक निर्ग्रन्थ का आनंद नहीं आता। ओहो! मैंने बाहरी ग्रंथि को तो बहुत दिन पहले छोड़ दिया। यहाँ बैठा मैं अनुभव कर रहा हूँ कि ग्रन्थों का पठन कब छूटे और ग्रंथों की ग्रंथि छूट गई तो मैं सच्चा निर्ग्रंथ बन गया। विद्वान् तुरंत लिखता है कि सम्पूर्ण दृष्टियों की अनुभूति तो बहुत लेकर आये थे, कोई समयसार का ज्ञाता था, जीवकाण्ड व धवला तक के ज्ञाता थे वहाँ, लेकिन सबसे बड़ा आनंद का संवेदन उस विद्वान ने किया, उस संत के चरणों में किया कि 'कुछ नहीं कर रहे हैं और कुछ नहीं हैं।'

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, योगी का पुरुषार्थ यही चलना चाहिए कि, भगवन्! वह दिन कब आए जब मुझे कुछ भी नहीं करना पड़े। उसी को कहते हैं कृत–कृत्य–अवस्था। जो कुछ करना था, सब कुछ कर चुके। उस अवस्था का अभ्यास जो किया जाता है, उसका नाम होता है ध्यान। लेकिन, ध्यान लगेगा तभी, जब अहंकार/अभिमान, अभक्ष्य छूट जायेंगे। आज उपदेश दे रहा हूँ–अरे! पड़ोसी से जैसी ईर्ष्या होती है, वैसी ईर्ष्या मुनियों से करनी चाहिए कि देखो हम इतने अच्छे कपड़े पहने हैं, फिर भी हम नीचे फर्श पर बैठे हैं और ये नग्न ऊपर बैठे हैं, चलो हम भी ऊपर बैठते हैं। लेकिन ध्यान रखना, उतारकर ही बैठना। इससे ज्यादा ईर्ष्या भगवान् से करो। पाषाण की प्रतिमाएँ ऐसे क्यों पुज रहीं है? उनसे पूछ लेना कि तुमने ऐसा कौन–सा काम किया था जो आज तुम नहीं हो, फिर भी तुम भगवान् के रूप में पुज रहे हो? तो वे कह देंगे कि हमने विषय, कषाय और अज्ञानता का नाश किया, तो भगवान् बन गये। तुम भी अज्ञान का नाश कर दो तो तुम भी भगवान् बन जाओगे, तुम भी पुजना प्रारंभ हो जाओगे। परंतु सबसे पहले रात्रि–भोजन छोड़ दो। ओहो! महाराज, आपको जितनी सुनाना है उतनी सुनाते जाओ, हम सुनते जा रहे हैं, परन्तु त्याग का नाम मत लेना। मालूम चल गया कि तुम कितने पानी में हो। कितने ही कुतर्क रख लेना, सब निष्फल हैं। अतः सूर्यप्रकाश के अभाव में रात्रिभोजन छोड़ देना चाहिए। वहाँ हिंसा कैसे नहीं होगी? कोई यों कहे कि हम तो दीपक जला लेंगे। लोक में रात्रि–भोजन करना है और डर लगा है उसको कि भोजन रात्रि में ना करना पड़े, इसीलिए अपना दीपक ढ़क दिया चलनी से, और कहता है कि बस अब तो मैंने सूर्य के प्रकाश में भोजन किया है। यह मायाचारी है, कोई आगम –प्रमाण नहीं। दीपक के प्रकाश में, बिजली



की रोशनी में कितने सारे जीव आते हैं, रात्रिभोजन के साथ उन जीवों का भी विघात होता है। रात्रि में विभिन्न प्रकार के (वर्ण के) जीव होते हैं, वे भोजन सामग्री में मिल जाते हैं और सारे के सारे तुम्हारे उदर में पहुँच जाते हैं। मुख में मकड़ी चली जाये तो कुष्ठ रोग हो जाता है, जुवां भोजन में आ जाए तो जलोदर रोग हो जाता है, मक्खी चली जाये तो वमन हो जाता है। इसीलिए दीपक आदि के प्रकाश में भोजन नहीं करना चाहिए, मात्र सूर्य के प्रकाश में ही भोजन करना चाहिए। जो मन, वचन, काय से रात्रिभोजन का त्याग करता है वह रस, फल, दुग्ध, पानी ये जितने पदार्थ हों, औषधियाँ हों या फल–फूल हों, मेवा मिष्ठान हों, लौंग–इलायची हो, नहीं ले सकता। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी का हेतु है कि नव कोटि से चारों प्रकार के आहार का त्याग। जो किसी प्रकार की छूट नहीं रखता, वही हमेशा अहिंसा का पालन करता है। जो एक भी प्रकार की छूट रखता है, उसका अहिंसा का पालन नहीं होता है।





अणुव्रत के रक्षक सप्त–शील

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि।।१३६।।

अन्वयार्थः किल = निश्चयकर। परिधयः इव = जिस तरह परिधियाँ(कोट; किला)। नगराणि = नगरों की रक्षा करती हैं, उसी तरह। शीलानि = तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत ये सप्त शील व्रतानि = पांचों अणुव्रतों का। पालयन्ति = पालन करते अर्थात् रक्षा करते हैं। तस्मात् = अतएव। व्रतपालनाय = व्रतों का पालन करने के लिए। शीलानि = (सात) शीलव्रतों का। अपि=भी। पालनीयानि = पालन करना चाहिए।

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्त्तव्या विरतिरविचलिता।।१३७।।

अन्वयार्थः सुप्रसिद्धैः = अच्छे प्रसिद्ध। अभिज्ञानैः = (ग्राम, नदी, पर्वतादि) नाना चिन्हों से। सर्वतः= सब ओर मर्यादां = मर्यादा को। प्रविधाय = करके। प्राच्यादिभ्यः = पूर्वादिक। दिग्भ्यः = दिशाओं से। अविचलिता विरतिः = गमन न करने की प्रतिज्ञा। कर्तव्या = करनी चाहिये।

।।पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी की पावन देशना से आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने अलौकिक सूत्र हमें दिये हैं। खेत की रक्षा बाड़ी से होती है, आत्मा की रक्षा शील स्वभाव से होती है। अतः संयम तो चारित्र की बाड़ी के तुल्य है। उपसर्ग/परीषह साधक के जीवन में बहुत बड़ी बाड़ी है। परंतु जब कठिनाईयाँ आती हैं, तो उन कठिनाईयों के काल में कषायों को पहले पीना सीख लेना, अन्यथा क्षमा का आना बहुत दुर्लभ है।

अहो ज्ञानी! कषायों को छिपाने का प्रयास तो अनंत बार किया है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि तेरे अंतरंग में जब तक निर्मल भावना नहीं है, कषाय का अभाव नहीं है, तब तक क्षमा नहीं है। अतः, कषाय को पीना सीख लेना। जो पीना सीख लेता है, वह बहुत बड़ा ज्ञानी हो जाता है। यदि कषायों की कलुषता नहीं जाती, तो तुम्हारा अहित सुनिश्चित है। आचार्य बट्टकेर स्वामी ने 'मूलाचार' में लिखा है कि ऐसे काल में यदि उद्वेग आता है तो, भो चेतन! उस उद्वेग को तुम परिवर्तित कर दो, क्योंकि तेरा तो अहित हो चुका है, लेकिन अब जो निर्मल नमोस्तु शासन है, उस पर आँच न आये।

जब हम शुरू–शुरू में संघ में आये, तो आचार्यश्री कहने लगे–ध्यान रखना, तुम धर्म की प्रभावना कर सको या नहीं कर सको, लेकिन एक जीव के प्रति भी तुम्हारे शरीर के द्वारा अनास्था भाव न आने पाए। यहाँ तक कहा कि इस वीतराग शासन के कारण तुमको कष्ट आ सकते हैं, उनको झेल लेना, लेकिन नमोस्तु शासन पर उपसर्ग नहीं आना चाहिए। देखना, माँ जिनवाणी का दुलार और गुरु



का प्यार शिष्यों को भगवान् बना देता है। एक दिन आचार्य महाराज बोल पड़े–पुस्तक के कीड़े कब तक बने रहोगे? कुछ बाहर का पढ़ना भी सीखो। उस समय समझ में नहीं आया कि पहले तो आचार्य महाराज कहते थे कि पढ़ा करो, जब पढ़ने लगे तो कहते हैं कि बाहर का पढ़ो और अंदर जो विकृति आ रही है, उसे प्रकृति से दूर करो। इसीलिए अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि अब तुम्हें धर्म की रक्षा करना है तो बाड़ी लगा दो, क्योंकि अँकुर उत्पन्न हो चुके हैं। जब आपने रात्रिभोजन आदि छोड़ दिये हैं, बहुत सारी चर्चा धर्म की कर ली है, और अब धर्म तुम्हारी आत्मा की ओर बढ़ रहा है तो बाड़ी लगा लो ताकि कोई असुरक्षा न हो जाए। भो चेतन! इस आत्म–नगर में कषायरूपी चोर प्रवेश न कर जाएँ। नगर विशाल है, रत्नों की खान है, दर्शन–ज्ञान–चारित्र यह तीन रत्न रखे हैं। इसमें यदि मिथ्यात्व, प्रमाद, असंयम, योग, कषायरूप चोरों ने प्रवेश कर लिया तो नगर उजड़ जायेगा, खोखला हो जायेगा।

मनीषियो! हमारी आकाँक्षाएँ जब बहुत बढ़ जाती हैं और उनकी पूर्ति नहीं हो पाती है, तो वह क्रोध के रूप में प्रकट होती हैं। **यदि आप संतोष को जन्म देना चाहते हो तो अपनी आकाँक्षाओं व अपेक्षाओं को सीमित करते जाओ, आपको गुस्सा नहीं आयेगा।** यदि संतोष रख लिया तो चारों कषाय दब जायेंगी और यदि संतोष नहीं आया, तो ध्यान रखो, चारों कषाय भड़केंगी, जो एक साथ तुमको मिथ्यात्व की ओर ले जायेंगी। ध्यान रखो, जीवन में कषाय हुई तो संयम गया और अश्रद्धा हुई तो सम्यक्त्व गया। **'कार्तिकेय–अनुप्रेक्षा'** एवं **'परमात्म प्रकाश'** ग्रंथों में आचार्य महाराज ने स्पष्ट लिखा है :

जीवो वि हवेइ पावं, अइ–तिव्व कसाय–परिणदो णिच्चं।
जीवो वि हवेइ पुण्णं, उवसम–भावेण संजुत्तो।।190।।का.अ.।।

जिस समय कषाय–परिणति है, उस समय पाप जीव है एवं असंयम–परिणति है। कषाय की मंदता ही संयम है, परंतु जिस गुणस्थान में जैसी हो इसका ध्यान रखना। लेकिन तत्क्षण परिणामों की निर्मलता का विघात तो करा ही देती है। इसलिए आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि लोगों से ज्यादा अपेक्षाएँ मत रखो। निज की अपेक्षा बनाके चलो कि मेरे अंदर वह शक्ति प्रादुर्भूत हो, जिस शक्ति के माध्यम से मैं दुनियाँ की कषायों को पीना सीख लूँ। कषाय को प्रकट करना तो वमन के तुल्य है।

मनीषियो! आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि जब जीवन में विशुद्धता आती है, तब वह भावों में भी अभिव्यक्त होती है। आपने देखा होगा कि पुष्प कहीं पर भी खिला हो, दिख भी नहीं रहा है, तो भी सुगंध के माध्यम से पता चल जाता है कि कनेर खिला हुआ है या गुलाब खिला है। ऐसे ही जीव के भावों की परिणति सुगंध के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है।

भो ज्ञानी! कषाय आकाश में उड़ती है, क्षमा पृथ्वी में होती है। कषाय वाला उड़ता ही दिखता है। इसलिए जब आप पृथ्वी के समान हो जाओगे, तो यदि कोई आप पर क्रोध करना चाहेगा तो वह भी शांत होकर चला जायेगा। अतः, बाड़ी लगाना है संयम और शील की। इसलिए यह तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत पालन करने की आचार्य भगवान् आपको आज्ञा दे रहे हैं।

भो चेतन! क्षुल्लक चिदानंद जी महाराज भाग्योदय तीर्थ सागर में ठहरे हुये थे। उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। हम महाराज लोग सब वहाँ गये, चर्चा हुई। उनकी चर्चा से बहुत अच्छा लगा। वह वर्णी



जी के सान्निध्य में रहे थे। हमने पूछा–क्षुल्लकजी! ठीक हो? बोले–महाराजश्री! खराब था ही कब? पूछा– अपने में हो? बोले–अपने में जब कहूँ, जब मैं बाहर में रहूँ। मैं तो कहीं बाहर गया ही नहीं। मनीषियो! ऐसे ही अपने से बाहर जाने का मन मत करो। उल्हास का मद जब व्यक्ति को चढ़ता है तो वह इतना होता है कि तीर्थंकर बना देता है। सभी जीवों का कल्याण हो, सभी जीव सुखी रहें, इस ध्येय से इतना गद्गद् भाव रहता है कि उसी क्षण तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। उसे कोई शत्रु नजर ही नहीं आता। बस दृष्टि रखो भावों पर।

ग्राम, नदी, पर्वत आदि सब ओर से मर्यादा करके पूर्व आदि दिशाओं में तथा विदिशाओ में गमन न करने की प्रतिज्ञा करना चाहिए। फिर ध्यान रखना कि मैं कहाँ हूँ, किस रूप में हूँ, क्या बनने जा रहा हूँ? तीन बात का ध्यान रख लिया तो त्रिलोकपति बन जाओगे। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ध्यान रख लिया तो चतुष्टय की प्राप्ति होगी। बस वेग में आवेग नहीं, वेग में वेग लग जाये। वेग यानि शीघ्र, आवेग यानि क्रोध। जिनको क्रोध आता है, उनका विवेक चला जाता है। जो वेग विवेक को बुला लेते हैं, उनका आवेग वेग से चला जाता है।

भो ज्ञानी! हमारा आगम कहता है कि जिस स्थान पर ब्रह्मचारियों को बैठना है वहाँ यदि कोई विषम–लिंगी बैठ गया हो, तो एक मुहूर्त तक उस स्थान को छोड़ दो। जैनदर्शन कितनी बड़ी बात कह रहा है कि जहाँ कोई स्त्री बैठ चुकी है, वहाँ तुम तुरंत नहीं बैठना। जहाँ कोई पुरुष बैठ चुका है, वहाँ आर्यिका आदि को तुरंत नहीं बैठना चाहिए। जो वर्गणाएँ वहाँ पड़ी हुई हैं, वे वर्गणाएँ निर्मल नहीं है। उनका आवेग अन्तर्मुहूर्त को छोड़ दो, तो तुम्हारी रक्षा हो जायेगी। अब उसे पर्यावरण कहने लगे हैं, पर जैनदर्शन कहेगा–आभा मण्डल, वर्गणाएँ, तरंगे, ऊर्जा। जब तुम्हारे मन में निर्मल तरंगें उत्पन्न हों, उस समय आप सबसे मिल लेना और जिस समय तुम्हारे स्वयं के परिणाम कलुषित हो रहे हों, तो कमरे में बंद हो जाना; क्योंकि वर्गणाएँ आपकी कलुषित हैं। आजकल कैंसर का रोगी, टीबी का रोगी अपना मुख व नाक बंद करके चलता है, इसलिए कि दूसरे को भी कीटाणु न लग जायें। हम तो पीड़ित हैं ही, मेरा तो अंत होने वाला है ही परन्तु दूसरे का भी न हो जाये। ऐसे ही, भो ज्ञानी! जब तुम्हारे अंदर कषाय/कलुषित भावों के रोग उत्पन्न हो रहे हों, उस समय तुम स्वयं कमरे में बंद हो जाना अथवा पट्टी डाल लेना, जिससे कम से कम दूसरे के ऊपर तो न फैल जायें। भो चेतन! मोक्ष पुरुषार्थ साध्य है, असाध्य नहीं। असाध्य कहोगे तो कभी भगवान् नहीं बन पाओगे। अहो ज्ञानी! वही वाणी क्षमा है, जिसके जीवन में जिनवाणी घुल–मिल रही है, लेकिन अंतरंग में किसी जीव के प्रति कलुषित भाव मत लाना। सामने वाला क्षमा करे या न करे, यह उसका विषय है, पर आप यह देखो कि कर्मबंध किसका होगा? इसलिए हम उसके ऊपर दृष्टि न डालें। हम यह दृष्टिपात करें कि मेरे परिणामों का आनंद समाप्त न हो। साधुजन तो दिन में मनुष्य भर से नहीं, वरन् एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि सभी जीवों से क्षमा माँगते रहते हैं। आप तो वर्ष में एक बार कहते हैं–"खम्मामि सव्व जीवाणां"। वह तो दिन में तीन–तीन बार जब–जब प्रतिक्रमण करेंगे, जब–जब सामायिक करेंगे, तो सबसे पहले समता धारण करेंगे। क्योंकि क्षमा नहीं होगी तो उनकी सामायिक नहीं हो पायेगी। मनीषियो! साधु का सामायिक चारित्र होता है, समता ही सामायिक होती है। सामायिक एक शिक्षा व्रत है और साधुजन के लिये सामायिक चारित्र है। भो ज्ञानी! "खम्मामि सव्व जीवाणां" इस सूत्र को अपने जीवन में उतारना।

छोड़ो रात्रि भोज

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम्।। १३८।।

अन्वयार्थः यः इति = जो इस प्रकार। नियमितदिग्भागे = मर्यादा की हुई दिशाओं की सीमा में। प्रवर्तते =बर्ताव करता है। तस्य = उस पुरुष के। ततः बहिः = उस क्षेत्र से बाहिर। सकलासंयमविरहात् =समस्त ही असंयम के त्याग के कारण। पूर्णम् अहिंसाव्रतं भवति =परिपूर्ण अहिंसाव्रत होता है।

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात्।।१३९।।

अन्वयार्थः च तत्रापि = और उस दिग्व्रत में भी। ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् = ग्राम,बाजार, मकान, मुहल्लादिकों का। परिमाणं प्रविधाय = परिणाम करके। देशात् = मर्यादित क्षेत्र से बाहर। नियतकालं = किसी नियत समय पर्यन्त। विरमणं करणीयं = त्याग करना चाहिए।

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसा–विशेष–परिहारात्।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण।। १४०।।

अन्वयार्थः इति = इस प्रकार। बहुदेशात् विरतः = बहुत क्षेत्र का त्यागी। विमलमतिः = निर्मल बुद्धिवाला श्रावक। तत्कालं = उस नियमित काल में। तदुत्थहिंसा विशेष परिहारात् = मर्यादित क्षेत्र से उत्पन्न हुई हिंसा–विशेष के त्याग से। विशेषेण अहिंसा = विशेषता से अहिंसा व्रत को श्रयति = अपने आश्रय करता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की पावन–पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्रस्वामी बहुत सहज कथन कर रहे हैं, कि खेत की रक्षा बाड़ी से और संयम की रक्षा शील से होती है, शील के अभाव में संयम की सुरक्षा संभव नहीं है। अतः तत्त्व को समझना और तत्त्व को समझाना दोनों अलग–अलग चीज हैं। तत्त्वज्ञान में लीन जीव कभी तत्त्व का व्याख्यान नहीं करता और जब तत्त्व का व्याख्यान करता है तब वह तत्त्व में लीन नहीं होता है। व्याख्यायी न तो चिद्रूप है, न कभी अपना व्याख्यान करता है। जो व्याख्यान करता है, वह व्याख्यायी हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता, क्योंकि व्याख्यान अनंत का होता है और व्याख्याता एक का होता है। अहो! एक व्याख्याता के व्याख्यान में अनन्त झलकता है और अनंत व्याख्यान को समझकर जो मात्र एक द्रव्य को जानता है, वह तत्त्व– ज्ञाता होता है। केवली व्याख्याता हैं, उनके व्याख्यान में अनंत झलक रहे हैं, पर अनंत प्रयोजनभूत नहीं होते। अनंतज्ञान जब तक नहीं होगा, तब तक तुम केवली



भगवान् भी नहीं बन सकते। तब तक निर्वाण नहीं होगा; अनंत ज्ञाता के ज्ञान में अनंत झलकता है, पर जिसे अनंत को जानने का विकल्प नहीं होता उसका नाम केवली भगवान् होता है। अनंत को सुधारने के जब तक विकल्प हैं, तब तक एक को भी नहीं सुधार सकते।

अहो ज्ञानियो! जो तेरा शत्रु बनके आया है, वह भी तेरा ही कर्म है। नवीन शत्रु को जन्म नहीं देना है तो शत्रु की शत्रुता को सहन कर लो। व्यक्तियों पर दृष्टि डालने से कभी कल्याण संभव नहीं है। जिस दिन समत्व भाव आ जाता है, वह दिन शत्रु से खाली हो जाता है और जिस दिन समत्व स्वभाव पलायन कर जाता है, उस दिन मित्रों से खाली हो जाता है। द्रव्य का न कोई मित्र है और न कोई शत्रु। शत्रु और मित्र दोनों मेरी आत्मा तक नहीं जा पाते। आत्मा तक तो स्वयं मुझे ही जाना होगा पर बिना खोए कुछ बन नहीं पाओगे। दूध पानी को खोता है, तब मावा बन जाता है। यही दशा आत्मा की है। जो कषायों को खो देता है, वह खोया(मावा)बन जाता। उसको भोगों का स्वाद नहीं आता, योग का स्वाद आता है। वही अर्हंत अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

भो ज्ञानी! आप कहेंगे कि हम तो संत स्वभावी हैं, किसी से शत्रुता नहीं रखते, सबसे मैत्री–भाव है। देखो, मैत्रीभाव तो है, कहीं राग–भाव तो नहीं है? मैत्री–भाव और राग–भाव में बहुत अंतर होता है। मैत्री–भाव में राग नहीं होता, प्राणी–मात्र का हित होता है। राग भाव में व्यक्ति विशेष हो सकता है। मैत्री नहीं कहती कि मेरे दादा, मेरे पिता, मेरे रिश्तेदार। मैं मनुष्यों में करूँगा या कि तिर्यंचों में करूँगा। जबकि राग–भाव कहता है कि मेरे दादा, मेरे पिता। सत्ता की बात करोगे, तो राग होगा। 'सत्वेषु मैत्रीम्' शब्द कह रहा है कि सबके प्रति जो मित्रता का भाव है, उसका नाम मैत्री है और एक व्यक्ति विशेष के प्रति जो भाव हैं, उसका नाम राग है। जब 'सत्वेषु मैत्रीं' तुम्हारे अंदर निहित हो जायेगा, अब बताओ शत्रु कहाँ है? जिसकी कामना मर जाती है, वासनायें मर जाती हैं, राग–द्वेष मर जाता है, वहाँ से संतभाव का उदय होता है। इतना हो जाएगा तो तुमको सत्व नजर आएगा।

अहो ज्ञानियो! सामायिक करना चाहते हो तो उसके एक घंटे पहले लोगों का सुनना बंद कर दो; क्योंकि हम बाहर के लोगों को ज्यादा सुनने लगे हैं। उसमें अपनी आवाजें टकराने लगी हैं, इसलिए साधना विफल हो रही है। चौबीस घंटे यदि सबका प्रवेश चल रहा है, तो ध्यान लगेगा कैसे? साधक की परीक्षा साधना है। आप यदि साधकों के मित्र बनो तो उनको यही कहना कि तुम्हारा काल सामायिक का है, तुम्हारा काल प्रतिक्रमण का है, स्वाध्याय का है। जब उसका परीक्षाफल आएगा, तो केवलज्ञान के रूप में चमकेगा और कहीं आपने बातों में लगा लिया, तो नरक–निगोद के शून्य आ जाएँगे। यदि वर्तमान का पुण्य है, तो सम्राट बन सकता है। पर ख्याति का नाम तपस्या नहीं, तपस्या में ख्याति हो सकती है।

भो ज्ञानी! तत्त्वज्ञान और तत्त्वदृष्टि में इतना ही अंतर है कि तत्त्वदृष्टि में मोक्ष झलकता है, जबकि तत्त्वज्ञान में ख्याति भी झलक सकती है। ज्ञानी को झुँझलाहट आ जाती है और तत्त्वज्ञ साम्य– सौम्य होता है। तत्त्वदृष्टि यानि एकांत में जाकर बैठ जाना। तत्त्वज्ञान तो ऐसा रहस्यमय होता है कि जो भावनात्मक दृष्टि बना दे। अतः, साम्य/शांत होकर वस्तु की जानकारी लेना तत्त्वज्ञान है और वस्तु को जान लेना तत्त्वदृष्टि है। सात तत्त्व का ज्ञान तत्त्वज्ञान है। तत्त्वों को जानने के बाद माध्यस्थ्य भाव का आना तत्त्वदृष्टि है। जिसकी तत्त्वदृष्टि बन जाती है, उसकी शत्रुदृष्टि और मित्रदृष्टि दोनों



समाप्त हो जाती हैं। तत्त्वदृष्टि वाले को मोड़ना बहुत कठिन है। जिसको मुक्तिवधू से शादी करना है, उसको फिर मोड़ नहीं सकते। श्रीकृष्ण, वासुदेव, बलभद्र, समुद्रविजय–जैसे कुटुम्बी नेमिनाथ को मोड़ नहीं पाए, क्योंकि तत्त्वनिर्णयपूर्वक तत्त्वदृष्टि बन चुकी थी।

अहो मनीषियो! तालाब में शैवाल (काई) छाया हुआ है, एक बूँद पानी नहीं दिख रहा है, पर विश्वास है कि सैवाल तभी हो सकती है जब उसमें पानी होगा। इसका नाम तो तत्त्व–ज्ञान है। किसान ने उसे दोनों हाथों से हटाया–यह भेद–विज्ञान हो गया और पी लेता है तो यह तत्त्व–दृष्टि में निबद्ध हो गया, तत्त्व दृष्टि ऐसी करनी पड़ती है। अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे है कि तत्त्व–दृष्टि बनाकर अपने शील में लीन हो जाओ।

मनीषियां! जब तक जिनवाणी सुनी जा रही है, तब तक जैन–शासन रहेगा और जिस दिन जिनवाणी सुनना बंद हो जायेगी, उस दिन इस भरतक्षेत्र में जिन–शासन समाप्त हो जाएगा। इसलिए, लाख काम छोड़ देना, पर जिनवाणी सुनना बंद मत करना। धर्म की वास्तविकता को समझो। महाराजश्री के प्रवचन सुनते समय मन में कोई अच्छी बात गूँज रही थी, तभी फोन गूँज गया और उठकर बाहर चले गये। इतने में हार्टअटेक हो गया और मर गया, यानि मरते समय जिनवाणी सुनते–सुनते बाहर चला गया; जबकि गुरु के चरणों में बैठा था। यहाँ निर्विकल्प रहने की कला सिखा रहे हैं।

भो ज्ञानी! दिग्व्रत जीवन–पर्यन्त के लिए होता है और दिग्व्रत की सीमा में और भी जो सीमा की जाती है उसका नाम देशव्रत है। आज इतने गाँव तक जाएँगे, उसके आगे नहीं जाएँगे। वृत्ति परिसंख्यान इतनी पंक्ति में कोई पड़गाहन करेगा तो आहार लेंगे, अन्यथा आगे नहीं जाएँगे। तो उनकी यह सीमा हो गयी और हो गया देशव्रत। इस प्रकार का जो व्रत होता है, वह देशव्रत कहलाता है। यहाँ गमन का त्याग करना। इसप्रकार से बहुदेश का त्याग जब हो जाता है तो जिस क्षेत्र में कोई हिंसक कृत्य हो रहा है उस क्षेत्र में खड़े भी मत होना।





न करो अशुभ चिंतन, अशुभोपदेश

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात्।।१४१।।

अन्वयार्थः पापर्द्धि–जय–पराजयसङ्गर = शिकार, जय, पराजय,युद्ध। परदारगमन = परस्त्री–गमन। चौर्याद्याः = चोरी आदिका। कदाचनापि = किसी समय में भी। न चिन्त्याः = चिन्तवन नहीं करना चाहिये। यस्मात = क्योंकि इन अपध्यानों का। केवलं पापफलं = केवल पाप ही फल है।

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम्।।१४२।।

अन्वयार्थः विद्यावाणिज्यमषी = विद्या, व्यापार, लेखनकला। कृषि सेवा = खेती, नौकरी और। शिल्पजीविनां = कारीगरी की जीविका करने वाले। पुंसाम् = पुरुषों को। पापोपदेशदानं = पाप का उपदेश मिले ऐसा वचनं। कदाचित् अपि = किसी समय भी। नैव वक्तव्यम् = नहीं बोलना चाहिए।

।।पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। अमृतचंद्रस्वामी ने संकेत दिया है कि मति विमल है तो श्रुति भी तेरी निर्मल है। मति निर्मल नहीं है, तो श्रुति निर्मल नहीं हो सकती है; क्योंकि सम्यक्दृष्टि जीव की मति निर्मल होती है और श्रुति भी निर्मल होती है। कितना ही श्रुत–अध्ययन कर लिया हो, जब तक दृष्टि निर्मल नहीं है, तब तक मति निर्मल नहीं और जिसकी मति निर्मल नहीं, उसकी श्रुति भी निर्मल नहीं। इसलिए आचार्य भगवान् ने कहा है कि अहिंसा का आश्रय लो और संपूर्ण क्षेत्र के गमनागमन का त्याग कर दो। बहुत घूमा। जितना देह से नहीं घूमा, उतना तू मन से घूमा है। अब इतना तो कम से कम कर लो। जब जाना हो तो चले जाना, पर दुनियाँ में घूमने के लिए मत घूमो। क्योंकि विमान की रफ्तार मंद है, पर मन की रफ्तार तो विमान की रफ्तार से भी तेज है। जिस स्थान पर पहुँचने के लिए आपको लोक अपमानित होना पड़ता है, ऐसे जघन्य स्थान पर आप एक क्षण में प्रवेश कर जाते हो। पानी के लिए छिद्र करना पड़ता है, तब निकल पाता है; पर यह मति तो बिना छेद का छेद कर देती है। मति कहती है कि तुम्हें अभी पता नहीं कि कहाँ–कहाँ पहुँच चुकी। श्रुति को पकड़ना सहज है। श्रुति को कैसेट में बंद कर लिया जाता है। जो मति को बंद कर लेता है, वह वंदनीय हो जाता है। जब तक मति बंद नहीं हुई है, तब तक तुम वंदनीय होने वाले नहीं हो, बदनाम जरूर हो जाओगे। मति यानि मन, बुद्धि। यह मति नहीं मानती है, इसलिए तुझे गतियाँ प्राप्त होती हैं। बारहवें गुणस्थान तक मति चलती है। तेरहवें गुणस्थान में भाव–मन का कोई उपयोग नहीं होता। इसलिए मोक्ष दिलाती है तो मति, संसार में घुमाती है तो मति। मति को अपना बना लेना, मति के बनके नहीं चलना। मति को अपना बना लिया तो, मनीषियो!



मोक्ष चले जाओगे। आप मति के बन गए तो वह संसार में भटका देगी। मन नहीं होगा, बुद्धि नहीं होगी तो संयम की साधना कैसे करोगे ? ज्ञान की आराधना व निर्दोष चारित्र कैसे पालोगे ? यह मति का ही काम है। लेकिन मति को दुर्मति मत होने देना। दुर्मति हुई, वहीं तुम्हारी दुर्गति हुई।

अहो मनीषियो! आत्मा का घात आत्मा से मत करो। शरीर से शरीर का घात होता है तो पला चलता है। प्रागभाव, प्रध्वन्साभाव, अन्यूनाभाव और अत्यंताभाव इन चार अभाव की चर्चा आगम/दर्शन–शास्त्र में की गई है। इस जड़ देह का और मेरा अत्यंताभाव है। अन्योन्या भाव में हम अपना स्वभाव मान रहे हैं, ये ही जड़मति है। यदि पश्चाताप है, तो संताप निश्चित नष्ट होगा और यदि नहीं है, तो संताप नष्ट होने वाला नहीं। जिस जीव में पश्चाताप नहीं आ रहा है, उस जीव को दुर्गति का बंध हो चुका है। भूल हो जाना सहज है। जो भूल को सुधार लेता है, वह भगवत्ता की ओर होता है। जो भूल को भूल ही स्वीकार नहीं कर रहा है, उससे बड़ा कोई अन्य अभगवान् नहीं है। जो अपनी भूल को स्वयं अपने मुख से कह रहा है, संसार में उससे बड़ा कोई भगवान् नहीं है। जो पश्चाताप से इतना भर जाता है तो वह जी नहीं सकता है, निश्चित गुरु–चरणों में निवेदन करेगा।

अहो! दिग्व्रत, देशव्रत की पालक आत्माओं को मात्र देह के गमनागमन का त्याग नहीं करा रहे, वह तो आप कर ही देना। बाहर के गमनागमन के त्याग के साथ बाहर जाते हुए मन को भी रोक लेना, इसका नाम होगा दिग्व्रत। फिर कलम चाहिए अमेरिका की, कपड़े चाहिए चीन के, नेपाल के। फिर तुम्हारा देशव्रत कैसा ? जिनवाणी कह रही है कि जिसने देशव्रत ले लिया है, वह दूसरे देश जाएगा ही क्यों ? स्वयं की भी शांति, दूसरों को भी शांति। अहो ज्ञानी! संयम की, शील की दीवारें खड़ी कर दो, तो कहीं पर भी झगड़ा नहीं होगा। यदि तुम्हारे परिग्रह का परिमाण नहीं है तो आस्रव हो रहा है। अहो! 'रावण के जीव ने बहुत दुराचार किया था, नरक में पड़ा हुआ है, अच्छा हुआ,' ऐसा नहीं कहना चाहिए। आप तो नहीं गए, पर आपने अपना मन नरक में भेज दिया और रावण के जीव को मार दिया। अपनी मति से पूछो, दुर्मति हो गयी थी। पिटते हुए को तुमने और पीटा, तो बंध होगा। मनीषियो! बंध–अपेक्षा चाहे स्वर्ग हो, चाहे नरक हो, चाहे तिर्यंच हो, चाहे मनुष्य हो, लेकिन चतुर्गति बंध ही है। दिग्व्रत में पूरे जीवन के लिए सीमा की जाती है और देशव्रत में सीमा नहीं की जाती है। विमलमति वे ही बन पाएँगे जिन्होंने श्री व श्रीमती से अपनी मति हटा दी है। जब तक इन दो में मति जाएगी, तब तक विमलमति होना कठिन है।

भो ज्ञानी! सबके बीच में रहकर भी स्वतंत्रता का वेदन करना ही मुमुक्षु–दृष्टि है। परतंत्रता में रहकर भी स्वतंत्रता का ध्यान रखना, यही मुमुक्षु की दृष्टि है और जो स्वतंत्र–स्वभावी होकर भी परतंत्रता मानकर बैठ चुका है, यही बहिरात्म–दृष्टि है। स्वतंत्रता के शब्द से स्वच्छंदी मत बन जाना। यहाँ शरीर के संबंधों का नाश नहीं कर रहे हैं। यहाँ शरीर में स्वभाव–दृष्टि से हटा रहे हैं। 'शरीर स्वभाव नहीं हैं' इतना विचार भी आ गया तो समझ लो कि जीवन में कभी अशांति आ नहीं सकती। जब तक हम किसी से जुड़े होंगे या किसी को जोड़ कर रखेंगे, तब तक हम निज से नहीं जुड़ पायेंगे। भगवान् महावीर स्वामी के विकल्प ने गौतम स्वामी को केवली नहीं बनने दिया। जब प्रभु का राग भी प्रभुता को उत्पन्न नहीं होने दे रहा है, तो भोगों का राग तुम्हें भगवान् कैसे बना देगा ? पहले भोगों का राग छोड़ो, भगवान् में राग लगाओ और जब भगवत्ता उत्पन्न होने लगेगी तो भगवान् का



राग भी छूट जाएगा। छोड़ना अच्छा नहीं लगता, तो ग्रहण कर लो। आप तो संयम, चारित्र को ग्रहण कर लो। जब चारित्र ग्रहण कर लोगे, तो अचारित्र अपने आप छूट जाएगा।

मनीषियो! आचार्य भगवान् ने अनर्थदण्ड के पाँच भेद कहे हैं अपध्यान, पापोपदेश, प्रमाद–चर्या, हिंसा–दान व दुःश्रुति, जिनके माध्यम से स्वहित तो किंचित भी नहीं हैं। दूसरे के अहित के बारे में सोचना अपध्यान है। कभी–कभी कितना विचित्र चिंतवन चलता है? देखना संसार की दशा। प्रभु ने दे दिया वरदान कि जो चाहो वह सब मिलेगा, पर पड़ोसी को दुगुना मिलेगा। बस, प्रभु! यही तो संकट है। अपने दुःख से दुःख कहाँ ? हमें तो पड़ोसी के सुख से बहुत बड़ा दुःख है। ठीक है, जो–जो मैं सोचूँगा, वो दुगना होगा। प्रभु! मेरा एक मकान हो। तो पड़ोसी के दो हो गए। मेरी दो संतान हो। पड़ोसी के चार हो गयीं। जहाँ उसने पूरा माल खजाना भर लिया, अब देखना उसकी दुर्मति, कहता है– भगवन् ! मेरे द्वार पर एक कुँआ खुद जाए। अहो! ईर्ष्या कितनी खतरनाक होती है ? भगवान् ! मेरी एक आँख फूट जाए, तो पड़ोसी की दोनों आँख फूट गयीं। यानि पड़ोसी की दोनों आँखों को देख नहीं सकते, चाहे खुद काना बन जाय।

भो ज्ञानी! एक बालक कहने लगा–महाराज जी ! आज तो हमने अपने पिता जी को हरा दिया। भैया! तुम तो छोटे से हो, तुमने कैसे हरा दिया ? बोले–आपको पता नहीं है। हम ताश खेल रहे थे, तो पिता जी हार गए। अरे! अपनी हँसी अपने से न कराओ। शिकार, जय–पराजय, युद्ध आदि का चिंतवन करना और परदारा, पर–स्त्री गमन, चोरी आदि करते, तब तो सप्त व्यसन हो जाते। इनका चिंतवन भी नहीं करना। कर रहा है तो अपध्यान हो गया, क्योंकि इनसे केवल पाप का ही फल होता है। बच्चे ने काम बिगाड़ दिया और आपने कहा–तू मर जा। ऐसा कहने से बच्चा नहीं मरेगा। कैसे–कैसे शब्दों का प्रयोग कर रहे हो ? विद्या व वाणिज्य में स्वयं तो कर ही रहे हो और दूसरे को उपदेश भी दे रहे हो। असि, मसि, कृषि, अस्त्र–शस्त्र, खेती, लेखन आदि के कार्य का उपदेश करना, यह सब हिंसा है। विदिशा की मण्डी में गल्ला खरीदो, गोदाम में भर दो, कीड़ा पड़ जाएँ फिर बेच दो। ओहो! आप तो स्वयं कर ही रहे थे और दूसरे को उपदेश भी दे दिया, तो दुगने पाप का बंध हो गया। किसी को आजीविका, खेती–बाड़ी आदि का उपदेश भी नहीं देना। आदिनाथ स्वामी से पूछ लेना कि, प्रभु। आपने एक ही दिन तो कहा था कि मूसिका लगा दो। एक दिन मूसिका लगवाया था, तो छह माह का मूसिका लग गया। जब तीर्थंकर जैसी आत्मा को कर्म ने नहीं छोड़ा, तो आप कैसे छूट पाओगे ? इसलिए अपने जीवन में अहिंसा धर्म के लिए कभी भी खोटा उपदेश, खोटा चिंतवन किसी को नहीं देना चाहिए। इसमें आत्मा का हित है, बाकी सब अहित के मार्ग हैं।



आत्मा का आत्मा से घात मत करो

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनचाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च।।१४३।।

अन्वयार्थ : भूखनन–वृक्षमोट्टन = पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना। शाड्वलदलन = अतिशय घासवाली जगह रोंदना। चाम्बुसेचनदीनि = पानी सींचना आदि और। दलफलकुसुमोच्चयाम अपि = पत्र, फल, फूल तोड़ना भी। निष्कारणं न कुर्यात् = प्रयोजन के बिना न करें।

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्।।१४४।।

अन्वयार्थ : असिधेनु विष हुताशन = छुरी, विष, अग्नि। लाङ्गल करवाल = हल, तलवार। कार्मुकादीनाम् = धनुष आदि। हिंसायाः उपकरणानां = हिंसा के उपकरणों का। वितरणम् = वितरण अर्थात दूसरों को देना। यत्नात् परिहरेत् = यत्न से छोड़ दें।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने संकेत दिया है कि बिना प्रयोजन/व्यर्थ पाप के काम मत करो। वचन से भी व्यर्थ मत कहो। एकेन्द्रिय जीव से पूछ लेना कि वचन वर्गणाएँ कितनी महत्वशाली होती हैं ? जब एक लकड़हारा कुल्हाड़ी लेकर जाता है तो वृक्ष को तीव्र वेदना होती है, परन्तु वह अपनी वेदना को प्रकट नहीं कर पाता। यह है कर्मफल चेतना। मनीषियो कभी कर्मफल चेतना भोगने के विचार मन में मत लाना; भोगना ही है तो उस परम ज्ञानचेतना की ओर बढ़ो। जिनवाणी माँ कहती है कि जो प्राणों से अतिक्रांत शुद्धात्मा है, वह परम ज्ञानचेतना का भोक्ता है। सारे स्थावर जीव कर्मफल–चेतना भोग रहे हैं। शुद्धज्ञान चेतना का भोक्ता तो एकमात्र सिद्ध परमेष्ठी हैं, जो द्रव्य प्राणों से अतिक्रांत है और शुद्ध भाव प्राण से युक्त है, उनसे किसी के द्रव्य व भाव प्राण की हिंसा नहीं होती।

भो ज्ञानी! सोचना, कि जब आप बोलते हो, तो क्या–क्या बोल देते हो, सोचते हो तो क्या–क्या सोच लेते हो? असंज्ञी जीव से पूछना कि उसे सोचने की शक्ति मिली है कि नहीं? व्यर्थ का सोचोगे, तो सोचने नहीं मिलेगा। मन रहित वे ही हुए, जिनने निर्मल नहीं सोचा। मन– रहित होना है तो, मनीषियो! अर्हंत बनो। इसकी स्त्री, पुत्रादि की मृत्यु हो जाए, उसका धन नष्ट हो जाए, परन्तु आपके ऐसा सोचने से इनका कुछ नहीं बिगड़ेगा; लेकिन आपका बिगड़ना सुनिश्चित है। मनीषियो! 'वरांग–चरित्र' आचार्य जटासिंह महाराज का एक पवित्र ग्रंथ है। 'वरांग चरित्र' में सौतेली माँ वरांग को घर से निकलवा देती है। एक बार वह तालाब पर गया तो घड़ियाल ने पैर पकड़ लिया। अहो! घड़ियाल का पकड़ा पैर जल्दी छूट सकता है, पर जिसको कर्म घड़ियाल ने पकड़ लिया, उससे छूटना कठिन है। मनीषियो!



आचार्य जटासिंह स्वामी लिखते हैं कि क्या सूर्य की रश्मियों को कोई मुट्टी में बंद कर सका है ? ऐसे ही किसी जीव के शुभ या अशुभ कर्म को तुम मुट्ठी में बाँध नहीं सकते हो। शुभ कर्म है, तो उसकी रश्मियाँ भी खिलेंगी; अशुभ कर्म है, तो उसकी रजनियाँ भी आएँगी। 'इसका विनाश हो जाय'–यह अपध्यान चल रहा है और इससे पाप का आस्रव होगा।

भो ज्ञानी! तूने "अप्पाणं हाणदि अप्पेण" आत्मा के द्वारा आत्मा का घात कर दिया। चिंतन करके आया था कि मैं दूसरे का विनाश करके आऊँगा। मत करो ऐसा अपध्यान, मत करो खोटा चिंतन। आर्त्त व रौद्र ध्यान बढ़ेगा तो दुर्गति को जाना पड़ेगा। 'श्रेणिक चरित्र' में सौतेली माँ कहती है कि पुत्र मेरा है, पर जिसका पुत्र था वह कहती है–मेरा है। विवाद बढ़ गया। राजा श्रेणिक उसको दूर नहीं कर सका तो कहा–बेटा अभय! अब आप निपटाओ। पिताजी ! कोई बात नहीं, बेटे के दो टुकड़े किए देते हैं, आधा–आधा पुत्र बाँट देंगे। लिटा दिया पुत्र को, चीख पड़ी माँ–नहीं, बेटा इसी का है, आप इसी को दे दो। उसने सोच लिया था कि जिएगा, तो देखती तो रहूँगी और यदि दो टुकड़े हो गए, तो न मेरा होगा, न इसका होगा। यह सौत नहीं बोल रही थी, माँ बोल रही थी। निर्णय हो गया, बेटा माँ के हाथ में पहुँच गया।

भो मनीषियो! ईर्ष्या ही सुत के दो टुकड़े करा देती है। अहो! जो पंचेन्दिय को कटवा के फिकवा रही होगी, उसकी गोदी का क्या होगा ? स्वयं सोचो, क्योंकि विषय 'समयसार' में जाने का है। यह कारण समयसार चल रहा है। आपका अपध्यान जैसा है, वैसा हो गया होता, तो विश्वास रखो विश्व में एक भी जीव जीवित नहीं मिलता; क्योंकि हर एक व्यक्ति के पीछे एक न एक मारने वाला बैठा है। अहो ज्ञानियो! तुम्हारे मारने से कोई नहीं मरता, आयुकर्म के क्षय से मरता है, और आयु कर्म तुम्हारे द्वारा दिया गया नहीं है। "मणि–मंत्र–तंत्र बहु होई, मरते न बचावे कोई"। दुनियाँ में घूम आना, कर्म का जब विपाक आयेगा तो कोई बचाने वाला नहीं मिलेगा। जब पुण्य का सितारा चमकता है, तो शत्रु के घर में भी तुझे सिंहासन मिलता है। जब चाण्डाल ने चतुर्दशी के दिन हिंसा नहीं की, तो सम्राट ने उसको बोरे में बांध कर नदी में फिकवा दिया। अहो सम्राट! तुम बोरे में बांध सकते हो, नदी में फिकवा सकते हो; लेकिन ध्यान रखो, किसी को मार नहीं सकते। उस क्षेत्र के यक्ष ने सिंहासन बना कर उस चाण्डाल को उस पर बैठा दिया। यह क्या हो गया ? अहिंसा धर्म की जय हो। जिन शासन जयवंत हो। इसलिये व्यर्थ में कर्म का बंध मत कर लेना। हम एक बार तुम्हारा राग मान लेंगे, पर द्वेष तो मत करो। ऐसा कहो कि मुझे ऐसा मिल जाए, पर ऐसा तो मत कहो कि इसका छूट जाए। अपने लाभ की बात करो, पर दूसरे के अलाभ की बात करना समझ में नहीं आती। रावण के पास अठारह अक्षौहणी सेना थी और दशरथ के बेटे राम व लक्ष्मण मात्र दो ही गये थे। भो चैतन्य आत्माओ! दूज का चाँद ही पूर्णिमा का चाँद बन गया। इसलिये आज से ध्यान रखो, व्यर्थ का सोचना बंद कर देना, क्योंकि आपके सोचने से कुछ नहीं होगा।

भो ज्ञानी! चार भैया एक साथ रहते थे। बड़े की पत्नी कहती है कि तीन तो कुछ करते नहीं हैं, आप ज्येष्ठ हो, कब तक इनका पोषण करोगे? इनको छोड़ दो। वह भूल गई थी कि प्रत्येक जीव अपने भाग्य पर जीते हैं। परन्तु आप कैसे पागल हो गये कि जिस आँगन में एक साथ खेलते थे, जिस माँ की गोद में तुम क्रीड़ा करते थे, उस माँ की गोद व आँगन और भाइयों को छोड़कर तुम



अकेले चले गये? बलभद्र और नारायण एक साथ रहते हैं। नारायण की सोलह हजार रानियाँ, और बलभद्र की आठ हजार रानियाँ। उनके कितने पुत्र होंगे ? इसलिये यह भावना छोड़ दो कि परिवार बड़ा हो गया है, इसलिये अलग हो जाते हैं। यह कहो कि, भगवन्! मेरी परिणति खराब हो जाती है, इसलिए मैं अलग हो जाता हूँ। जहाँ परिणति खराब हो जाती है, वहाँ तुम इकलौती माँ को भी अलग कमरा दे देते हो। यहाँ ऐसे भी बेटे होंगे, जो वर्षों से माँ से मुँह नहीं बोले होंगे। लेकिन, माँ! दुःखी नहीं होना; क्योंकि यह भी एक कर्म निर्जरा की साधना है। आपने पूर्व में ऐसा ही किया होगा।

भो ज्ञानी! इतिहास कह रहा है कि वैभव ने माँ–बेटों में, परिवारों में सदैव विवाद खड़ा किया है। वैभव ही आपको अलग–अलग करा रहा है। अहो! मन के चिंतन के बाद आचार्य महाराज कह रहे हैं कि हिंसा के वचन भी मत बोलो, आरंभ–समारंभ के उपदेश भी मत करो; प्रमाद चर्या भी मत करो। प्रमाद चर्या से व्यर्थ ही कर्म का आस्रव होता हैं। भो ज्ञानी ! कुछ पाप तो ऐसे करते हो जिसे आप पाप ही नहीं मानते। चटाई पर आराम से बैठ गये, वह अनर्थदण्ड है। जिसने इसको समझ लिया, उसे मुनि बनने में, समितियों के पालन करने में दिक्कत नहीं होगी, मात्र वस्त्र उतारना है, इसलिये इसका नाम शिक्षाव्रत है। जब तक आप श्रावक के व्रतों का पालन निर्दोष नहीं कर पा रहे हो, तब तक आप निर्मल साधना भी नहीं कर पाओगे। जरा सा गुस्सा आया, भड़भड़ा पड़े, पता नहीं किस को क्या बोल पड़े ? यह अनर्थदण्ड हो रहा है। धर्म–धर्मात्मा पर चिल्लाए हो, विसंवाद हो गया, यह चोरी हो गई। यह करणानुयोग है। भो ज्ञानी! परिणामों में निर्मलता नहीं है, तो चर्या निर्मल कैसे होगी ? वृक्ष पर फल लगा हुआ है, पीला दिख रहा है अर्थात् फल पक चुका है। आप कह रहे हैं कि मधुर है, जबकि आपने रसना पर नहीं रखा, आँख से मधुर है, सुवासित है, जबकि अभी तो ऊपर लगा है। यह चरणानुयोग चर्या को देखकर कहता है कि तेरी निर्मल परिणति त्रैकालिक संभव नहीं है, क्योंकि सप्त व्यसन का सेवन कर रहे हो। बाईस अभक्ष्यों को खा रहे हो, और कहो कि मैं तो शुद्ध स्वरूप में लीन रहता हूँ तो यह त्रैकालिक संभव नहीं है। अहो! असमय में पके फल को तो खा भी मत लेना। जो असमय में टपक जाता है; वह खतरनाक होता है। शोक के समय हास्य की बात करना शोभा नहीं देता; वैराग्य के समय राग की बात करना शोभा नहीं देता; क्योंकि तुम असमय में बात कर रहे हो।

भो ज्ञानी! मोक्षमार्ग घातक नहीं है, मोक्षमार्ग पर शिथिलाचार का जहर टपक जाये, तो वह घातक हो गया। शिथिलाचार की बूँदों से बचो। फल अभी नहीं है परन्तु यदि वृक्ष है, तो जब मौसम आयेगा, तो फल भी लग जायेंगें। मोक्ष मार्ग तो है, मोक्ष नहीं है; मौसम आएगा तो मोक्ष भी हो जायेगा। इसलिये वृक्ष की सुरक्षा रखना, वृक्षों को काटकर फेंक दोगे तो काललब्धि भी नहीं आयेगी। मौसम आ भी जायेगा, लेकिन द्रव्य नहीं होगा तो फल कैसे आएँगे? जब बाहर जाते हो तो स्टेशन पर गाड़ी के इंतजार में बैठना पड़ता है, ऐसे ही पंचमकाल में रत्नत्रययुक्त निर्ग्रंथ–मुद्रा एक स्टेशन है, जब चतुर्थकाल आयेगा तो गाड़ी आ जायेगी। धैर्य का फल मीठा होता है, इसलिये धैर्य रखो। मनीषियो! आप गृहस्थ हो, यदि बिना प्रयोजन के पृथ्वी को खोद रहे हो या कोई अस्त्र–शस्त्र मिल गया तो मिट्टी उखाड़ रहे हो, अहो! एक गर्भवती के गर्भ गिराने में हिंसा का जो पाप लगता है, मात्र एक अंगुल भूमि के खोदने में उतनी ही हिंसा का पाप लगता है। ऐसा आचार्य अमितगति स्वामी ने **"सुभाषित रत्न संदोह'**



ग्रंथ में कहा है–'गर्भवती माँ एक–दो संतान मात्र रखती होगी। यह पृथ्वी गर्भवती माँ है, जो अपनी कोख में अनन्त जीवों को रखती है। केचुएं, लट आदि कितने सारे जीव हैं।

भो चैतन्य! यह श्रावक की चर्या है। जब मुनिचर्या का कथन करेंगे, तो कहेंगे षट्काय जीव अनंत हैं। अतः आपको बिना प्रयोजन के कार्य नहीं करना चाहिये। प्रयोजन में भी विवेक रखना। जहाँ चुल्लू भर पानी का काम हो, वहाँ बाल्टी भर पानी मत फेंकना। अहो ज्ञानियो! हाथ में डंडा मिल गया तो रास्ते में पत्तों को मारते चले जा रहे हैं, उसके प्राण नहीं हैं क्या ? वह जीव नहीं है क्या ? यदि अज्ञानता में ऐसा अपराध हो गया हो, तो प्रायश्चित कर लेना। दूबा पर चलो तो नेत्रों की ज्योति बढ़ जायेगी। अहो सोचो! उस दूबा के नीचे कितने नेत्रों की ज्योति विलीन हो रही है ? घर, दुकान, गाड़ी–घोड़ा सब को नहला रहे हो और एक व्यक्ति प्यासा तड़प रहा है, जिसको पानी पीने को नहीं मिल रहा है। कर लो मौज, लेकिन ध्यान रखना "सिंधु–नीर तैं प्यास न जाये, तो पण एक न बूँद लहाए।" वे दिन भी आयेंगे। आज तुम अति कर रहे हो। नल की टोंटी खोलकर बैठ गये। अहो! जैसे घृत/तेल का प्रयोग करते हो, वैसे पानी का प्रयोग किया करो। विवेक से काम लो। दूसरे की सोच से आप सोचोगे, तो दुःखी हो जाओगे, संसार में शांति से नहीं जी पाओगे। बेटे की भावना है कि मेरे पिताजी, माताजी, दादा–दादी की अंतिम श्वासें धर्म–ध्यान से निकले। उधर कोई व्यक्ति पहुँच गये, क्यों बेटा! तुम माँ को मारना चाहते हो क्या जो कि महाराज के पास रख दिया? अहो ज्ञानी ! उसके भाव कितने निर्मल हैं, जो यह विचार कर रहा है कि जिसने मुझे जन्म दिया, मुझे इतना बड़ा किया हैं तो मेरा भी कर्त्तव्य बनता है कि उनकी अंतिम श्वासों में उनको पंच परमेष्ठी का उच्चारण कराके शुद्ध अवस्था की ओर ले जाऊँ। दुनियाँ की सुनोगे तो कभी तुम धर्म भी नहीं कर पाओगे।

भो ज्ञानी! यदि मेहमान भी आये तो एक बाल्टी में पानी प्रासुक कर के दे देना, कह देना–भैया! इतने से ही तुम्हें काम चलाना है। यदि पानी पीने बैठें तो मटका भरकर रख देना कि कितना ही पी लो, लेकिन व्यर्थ फैलाने के लिए नहीं है हमारे घर में। ध्यान रखना, किसी को चाकू, छुरी मत दे देना। उन्होंने साग बना दी, कीड़ा अंदर है, उसके दो टुकड़े हो गये। इसलिए समझना शुद्धि करने के लिये बहुत–कुछ नहीं चाहिए पड़ता, शौक करने के लिये बहुत–कुछ करना पड़ता है।





त्यागो दुःश्रुति व द्यूतक्रीड़ा

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि।।१४५।।

अन्वयार्थ : रागादिवर्द्धनानां = रागद्वेष मोहादि को बढ़ानेवाली (तथा) अबोध बहुलानाम् = बहुत करके अज्ञानता से भरी हुई। दुष्टकथानाम् = दुष्ट कथाओं का। श्रवणार्जन शिक्षणादीनि = सुनना सुनाना, पढ़ना, पढ़ाना (आदि)। कदाचन = किसी भी समय। नकुर्वीत = न करे।

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्।।१४६।।

अन्वयार्थ : सर्वानर्थप्रथमं = सप्तव्यसनों का प्रथम अथवा सम्पूर्ण अनर्थों का मुखिया। शौचस्य मथनं = संतोष का नाश करने वाला। मायायाः = मायाचार का। सद्म = घर और। चौर्यासत्यास्पदं =चोरी तथा असत्य का स्थान। द्यूतम् = जुआ का। दूरात् = दूर से ही। परिहरणीयं = त्याग कर देना चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अन्तिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचंद्रस्वामी ने बहुत ही अनुपम सूत्र दिया है। जिसका चित्त निर्मल नहीं होता, उसके प्रमाद के योग से प्रभुवाणी अन्तरंग में प्रवेश नहीं कर पाती। जिस जीव के अन्तरंग में कषाय–परिणति या अपध्यान चल रहा है, वह जीव क्रिया के करने पर भी क्रिया के फल को प्राप्त नहीं कर पाता है। यह जीव की दशा है।

भो ज्ञानियो! आँखें दो ही हैं, पर दृष्टियाँ अनेक हैं। देखो, दृष्टि नीचे देखने को है तो अपध्यान, ऊपर देखने को है तो धर्मध्यान। चकोर जमीन पर रहकर आकाश में देखता है और चील आकाश में उड़कर भी जमीन पर देखती है। ऐसी ही योगी और भोगी की दृष्टि है। एक जीव संसार में बैठकर सिद्धत्व को निहार रहा है और एक जीव मनुष्य–पर्याय प्राप्तकर सप्तव्यसनों को निहार रहा है। आँखें दो हैं, दृष्टियाँ अनेक हैं। आँख किसी को विकारी नहीं बनाती, भिखारी भी नहीं बनाती, परन्तु दृष्टि दोनों को विकारी या भिखारी बना देती है। अहो ज्ञानी! एक दरिद्री विकारी है, एक दरिद्र होकर भी भगवान् है, जिसे आप पंचपरमेष्ठी में लख रहे हो। भिखारी के पास तो कम से–कम भीख माँगने का एक कटोरा होता है परन्तु मुनियों के पास तो एक कटोरा एवं वस्त्र भी नहीं हैं। बताओ इनसे बड़ा दरिद्र कौन होगा ? विकारी की आँखें भिन्न होती है और भिखारी की आँखें भिन्न होती है। देखो, दृष्टि में बंध है, दृष्टि में संवर है, और दृष्टि में निर्जरा है। सृष्टि में कुछ नहीं है। एक व्यक्ति को



बेटी, एक व्यक्ति को भगिनी और एक व्यक्ति को पत्नी दिख रही है। अहो ज्ञानी ! आँखें वही हैं। यदि स्त्री भोग का हेतु है, तो माँ भोग का कारण क्यों नहीं दिख रही है ? वेद से देखो तो स्त्रीवेद है। यदि प्रत्येक नारी को माँ के रूप में देखने लगे तो विकार है ही कहाँ ? भगिनी/सुता के रूप में देखो तो विकार हैं कहाँ ? विकार तो दृष्टि में है, देखने के तरीके में है, स्वभाव में नहीं है। इसलिए वस्तु से बंध नहीं, वस्तु से निर्बंध नहीं। दृष्टि से बंध है, दृष्टि से निर्बंध है। इसे ही बदलना है।

भो ज्ञानी ! कषाय चेहरे पर नहीं होती। वह पुद्गल का विकार नहीं, आत्मा का विकार है, आत्मा की विभाव–अवस्था है। कषाय–परिणति यानी आत्मा के विभावगुण की परिणति चल रही है; क्योंकि, ज्ञान–दर्शन भी साथ में चल रहा है। कषाय को अपना मानने के चक्कर में जीव अपने ज्ञान को भी अपना मानना भूल जाता है। अरे! परिणति आत्मा की है, लेकिन विकार से मिश्रित है। अनादि की भूल के वश, अनादि के कर्मबंध के कारण जीव के रागादिक–परिणाम होते हैं और रागादिक–परिणाम के कारण कर्म का बंध होता है। अनादि अज्ञान, अविद्या, अविरति और प्रमाद के वश जीव के अंदर विभावभाव उत्पन्न होते हैं। 'कुन्दकुन्द स्वामी' **'समयसार'** में लिख रहे हैं–

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणिन्ता।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च।।१५५।।

लोगों के साथ कुशील तब तक रहता है, जब तक कुशील का भान नहीं होता है। जीव जब समझ लेता है कि अहो! इससे तो मेरा बहुत घात हो रहा है, मेरा पूरा संयम–धर्म नष्ट हो रहा है, तो वह धीरे से प्रयास करके कुसत्ता से अलिप्त हो जाता है।

भो ज्ञानी! मुमुक्षु को विभाव–के–स्वभाव का परिचय जहाँ हो जाता है तो वह स्वभाव के परिचय की ओर चल देता है। पर जिसने श्रद्धापूर्वक विभाव को नहीं छोड़ा, वह स्वभाव के स्थान पर पहुँचकर भी विभाव का ही वेदन करेगा। संयम के वेष में तो रहेगा, पर भावों को असंयम के पास बिठाएगा। इसी का नाम परिणति–का–व्यभिचार है। माँ जिनवाणी कह रही है– बेटा! जिसने शिक्षाव्रतों व शीलों में अपने आप को पका लिया है, तत्पश्चात् जो महाव्रतों मे प्रवेश करता है, वह खरा उतरता है। पर इतना ध्यान रखना कि नमोस्तु–शासन की प्रवज्या (दीक्षा) को भीड़ की प्रवज्या न बनाया जाए। इसे भीड़ का रूप न दिया जाए। वैराग्य को ही महत्व दिया जाए। उस वैराग्य में भीड़ आती है तो कोई दिक्कत नहीं। वीतराग–शासन को भीड़ के अभाव में ढाई–हजार वर्ष हो चुके, फिर भी जाज्वल्यमान है। कभी भी मिथ्यात्व से समझौता इसने किया नहीं, भले ही दो/तीन सौ वर्ष ऐसे निकले जहाँ निर्ग्रंथता का अभाव रहा, लेकिन **वीतरागता को माननेवाले श्रावकों ने किसी गृहस्थ को गुरु स्वीकार नहीं किया।** अहो! पंडित दौलतराम जी सरीखे विद्वानों के समय में निर्ग्रंथ–दशा नहीं थी, पर निर्ग्रंथों पर ग्रन्थ फिर भी लिखते रहे।

भो ज्ञानी! आँखों से तो देखो, पर दृष्टि को आँख पर मत लगा देना, तब तुम श्रद्धा के लक्ष्य को प्राप्त कर लोगे। श्रद्धा यानि आत्मा। दृष्टि को एक करके देखना कि जो–जो द्रव्य हैं, वह अपने–अपने स्वभाव में है। इतनी गहरी दृष्टि बन जायेगी जिस दिन, फिर नेत्रों से क्या, सर्वांग से देखोगे, चराचर सब कुछ दिखेगा। आचार्य कुंदकुंद स्वामी **'समयसार'** में लिख रहे हैं– कमल के पत्र पर पानी की



बूंद प्रथम तो टिकती ही नहीं और टिक भी जाये तो मोती के रूप में झलकती है। ऐसे ही वाह्य–दृष्टि तुम डालना नहीं, यदि चली जाये तो प्रत्येक वाह्य–आत्मा को भगवान्–आत्मा देखना। भो ज्ञानी ! मुझे भी एक योगी ने प्रभावित किया, जब वह आचार्य महाराज के पास आकर कहते हैं कि महाराजश्री ! नमक का त्याग था और मुख में नमक आ गया, अन्तराय करके आया हूँ। प्रायश्चित्त दे दो। मैं वहाँ बैठा था। मैंने सोचा– अहो! जीव की निर्मल दशा देखो। आचार्य महाराज भी देख रहे थे। किसी को पता नहीं था और वो जीव जाकर प्रायश्चित्त ले रहा है। सोचा कि बाकी के काम बाद में करना, पहले इसको वंदन करो। इसके शरीर की वंदना नहीं, उन भावों का वंदन करूँ जिन भावों के कारण इसके हृदय में सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह महाव्रत विराजमान हैं। उन भावों की वंदना कर लेना। उन भावों की वंदना भावलिंग की वंदना है, यही भाववंदना है।

मनीषियो! दृष्टि को दृष्टि बनाकर रखना, दृष्टि को कुदृष्टि नहीं बनाना, अन्यथा आँख– विहीन रह जाओगे। परमार्थ का लक्ष्य जिनका नहीं बना, वे सभी दृष्टिविहीन हैं। जिसके हृदय में श्रद्धा की आँख फूट गयी, विश्वास की आँख फूट गयी, आस्था व विवेक की आँख फूट गयी, तो ध्यान रखो, सब कुछ फूट गया। फिर चश्मे काम में नहीं आते हैं।

भो चेतन! अखबार के समाचार तो अनन्त बार प्राप्त किये, अब निज के समाचार को देख। आस्रव तो होगा, उसे कोई रोकनेवाला नहीं है। जैसी तुम्हारी दृष्टि होगी, वैसा ही होगा। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की १४५वीं और १४६वीं यह कारिका अमृतचन्द्रस्वामी ने बड़ी करुणादृष्टि से लिखी है। जितनी राग और प्रमाद को बढ़ानेवाली कथाएँ हैं, इन सबको दूर से ही छोड़ दो। क्योंकि स्त्रीकथा, चोरकथा, भोजनकथा और राष्ट्रकथा के अलावा समाचारपत्रों में कौन–सी कथा है ? क्वचित–कदाचित हमारी दृष्टि कहीं विकार में न चली जाए, अतः ज्ञानी पांच पापों से विरक्त रहता है। यदि द्वेष रखेगा तो समता छूट जाएगी, कर्म का बंध होने लगेगा। क्योंकि इनको देखकर हमारे परिणाम खराब होते हैं। इसीलिए हमारे आचार्यों ने कहा है कि जिनागम का अध्ययन करो, उसी का चिंतवन करो। जब आप समाचारपत्र पढ़कर सामायिक करोगे तो वहाँ सामायिक नहीं, समाचार ही गूँजेगा। देखो, पंचमकाल है, विभावों से बचने का उपाय खोजो। हमारे आचार्यों ने स्पष्ट लिखा है– निमित्तों से बचना चाहिये।





सामायिक है आत्मतत्त्व का मूल

एवं विधमपरमपि ज्ञात्वा मुंचत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते।।१४७।।

अन्वयार्थ : यः एवं विधम् = जो पुरुष इस प्रकार के। अपरमपि अनर्थदण्डं = अन्य भी अनर्थदण्डों को। ज्ञात्वा मुंचति = जान करके त्याग करता है। तस्य अनवद्यं = उसके निर्दोष। अहिंसाव्रतं अनिशम् = अहिंसाव्रत निरंतर। विजयम् लभते = विजय प्राप्त करता है।

राग द्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्।।१४८।।

अन्वयार्थ : रागद्वेषत्यागात् = रागद्वेष के त्याग से। निखिलद्रव्येषु = समस्त इष्ट–अनिष्ट पदार्थों में। साम्यम् = साम्य भाव को। अवलम्ब्य = अंगीकार कर। तत्त्वोपलब्धिमूलं = आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मूल कारण। सामायिकं = सामायिक। बहुशः कार्यम् = अनेक बार करना चाहिए।

।। पुरुषार्थ देशना।।

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की पावन–पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचंद्र स्वामी ने संकेत दिया कि, मनीषियो! जीवन में अपयश का हेतु जुआ है। जिसके अंतरंग में निर्मलता है, वह कभी दाँव नहीं लगाता है। धन के माध्यम से जुआ खेलनेवालों ने मात्र जड़–द्रव्य को दाँव पर लगाया है, पर तुमने वासनाओं के कारण अनंत भवों को दाँव पर लगा दिया है। मैं किसी से कम नहीं हूँ , मैं तुम्हारे सामने कैसे झुक सकता हूँ– इस भावना को लेकर न केवल पर्याय को दांव पर लगा दिया, बल्कि पूरे परिणामों को दाँव पर लगाया है। अनंत भवों की साधना एक मुहूर्त में नष्ट हो चुकी है। आपने तो अपना जीवन ही दाँव पर लगा दिया। भो ज्ञानी! अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि संपूर्ण व्यसनों में पहला व्यसन है 'द्यूत क्रीड़ा'। सोचता है कि आज नहीं तो कल जीत जाऊँगा, मालूम चला कि धन गया, कोष गया, घुड़शाला भी गयी, नारी के आभूषण जाने के बाद जब कुछ नहीं दिखा तो अंत में नारी ही दाँव पर लगा दी। अब समझना, संयम गया, तप गया। तेरी शील–स्वभावी आत्म–नारी भी तूने दाँव पर लगा दी, तू कंगाल हो गया। ऐसा जुआ खेल रहा है कि युधिष्ठिर को बदनाम किए हो। लेकिन आप विचारो कि यह सब तुम्हारे साथ खेलनेवाले जुआरी बैठे हुए हैं। तुम्हारा परिवार जुआरियों का अड्डा है, कहता है जो कि अब तुम कमाकर लाओ। भो ज्ञानी आत्माओ! अब जितना द्रव्य बचा है, उस द्रव्य को दाँव पर मत लगा देना। जितना आयुकर्म का द्रव्य बचा है, उतने द्रव्य को आप सम्हाल लो, अन्यथा वह तो जुए में जा रहा है। अभी मौका है। युधिष्ठिर सम्हल गए थे तो भगवान् बन गए। मत लगाओ दाँव पर इस पर्याय को। जुआ है तो उसमें भी माया है। मैं जीत जाऊँ, इस हेतु से कहीं से भी छल–कपट कर लेता है।



भो ज्ञानी! गुणभद्र स्वामी लिख रहे हैं कि सागर कभी स्वच्छ जल से नहीं भरा रहता। वह सभी नदी–नालों के गंदे पानी से भरा हुआ है। अमृतचंद्र स्वामी ने सामायिक का कथन करने के पहले सप्त व्यसन को रख दिया है कि पहले सप्त व्यसन का त्याग कर दो और इन व्यसनों का सम्राट जुआ है। जो शौच का नाश करने वाला, सत्ता का नाश करने वाला और माया का घर है। इसलिए जुए को तुम दूर से ही छोड़ दो।

भो ज्ञानी! आचार्य महाराज कह रहे हैं कि बिना प्रयोजन के खोटा चिंतवन मत करो, खोटे शास्त्र मत सुनो, पाप–उपदेश मत दो, हिंसा–दान मत दो, प्रमादचर्या मत करो। यदि प्रमाद चल रहा है तो वहाँ अहिंसा की बात तो चलती रहेगी, लेकिन अहिंसा की वृत्ति नहीं होगी; क्योंकि मोक्षमार्ग चर्चा/बात का नहीं, वृत्ति का है। अज्ञानी जीवों ने चर्चा करने मात्र को मोक्षमार्ग मान लिया है। पंखा खोलकर बैठ जाएँगे, पानी के नल की टोंटी खोल दी तो खुली है, ऐसे लोग भी आप को मिलेंगे जो मंदिर के द्वारे से दस बार निकलेंगे, लेकिन एक बार भी भगवान् को सिर नहीं टेकेंगे। क्योंकि कर्म तो टिकने ही नहीं दे रहा है। राजा श्रेणिक ने तीर्थंकर के समवसरण में बैठकर प्रश्न भी कर लिया, सबकुछ कर लिया, लेकिन सम्मेद–शिखर की वंदना नहीं कर सका। क्योंकि नरक आयु का बंध हो चुका था। इसलिए दृष्टि को बदल दो तो कर्म बदल जाएँगे और कर्म नहीं बदला तो दृष्टि बदलनेवाली नहीं है। आयु–बंध यदि निर्मल हो चुका है, तो मरण काल में वह नियम से शांत–भाव होगा, जिसने जीवन भर तीर्थंकर की देशना सुनी। पुरुषार्थ तुम्हारा अशुभ था, इसलिए तो आपको अशुभ कर्म–बंध हुआ। भो ज्ञानी! आप अर्थ पुरुषार्थ किसके लिए कर रहो हो? धर्म–पुरुषार्थ कितना कर रहे हो और अर्थ व काम पुरुषार्थ के लिए कितना समय निकाल रहे हो ? मोह कितना बड़ा है कि अंतिम सांसों तक चाहता कि मैं कुछ कर लूँ। इसलिए अपनी परिणति को दोष दो। सर्विस छोड़ने के बाद एक तीव्ररागी दुकान डालता है। दुर्ग में एक सज्जन बहुत बड़े आफिसर थे और छह महिना पहले वह रिटायर हो गए। तो वे अर्द्धविक्षिप्त से आकर बोले–महाराज जी! बहुत परेशानी है, धन तो इतना मिल चुका है कि पूरा जीवन ऐसे ही बैठे रहूँ और अपने बेटे तक का जीवन निकल सकता हैं। पर, महाराज जी! आदेश देना मेरी आदत बन गई, लेकिन अब कोई मुझे पूछता ही नहीं है। मैं खाली–खाली महसूस कर रहा हूँ। (भैया! आदत मत डाल लेना आदेश देने की) उनसे कहा–तुम सोनागिर चले जाओ, सम्मेदशिखर चले जाओ, जिनवाणी का स्वाध्याय करो। कहने लगे–महाराज जी! कहीं मन नहीं लगता है। सोचो जीव की दशा। भो ज्ञानी! आदेश तो करना, लेकिन जो स्वयं को आदेश देना प्रारंभ कर देता है उसकी वहाँ से सामायिक प्रारंभ हो जाती है। जहाँ 'पर' को आदेश दिया गया था, वहाँ पर–सामायिक थी।

भो ज्ञानी! जो पर–सामायिक का संचालन कर रहा है, वह निज–सामायिक से हट चुका है। सम+इक = समय में एक हो जाना, इसका नाम सामायिक है। समय यानि समता। समता में लीन हो जाना, इसका नाम सामायिक है। समय यानि आगम। आगम के सूत्रों में लीन हो जाना उसका नाम सामायिक। समय यानी जिनशासन। जिनशासन में श्रद्धान्वित हो जाना, इसका नाम सामायिक है। पंचपरमगुरु (परमेष्ठी) की आराधना में लीन हो जाना, इसका नाम व्यवहार सामायिक है और निजस्वरूप



में लीन हो जाना निश्चय–सामायिक है। द्रव्य–सामायिक, क्षेत्र–सामायिक, काल सामायिक, भव–सामायिक, भाव सामायिक, नाम सामायिक, स्थापना–सामायिक यह सामायिक के प्रकार हैं।

(१) द्रव्य सामायिकः–'मुझे यह द्रव्य अच्छा नहीं लगता,' आपकी सामायिक गई। क्योंकि 'समता सर्वभूतेषु' जो सम्पूर्ण विश्व में सम्पूर्ण जीव हैं, उन सब के प्रति समवृत्ति का होना सामायिक था। मार्ग में मेंढ़क मृत पड़ा था, दुर्गंध को जानकर तू नाक पकड़ने लगा। अहो चैतन्य! उस द्रव्य का अपना धर्म था। मृतक तिर्यंच ने अपनी दुर्गंध को नहीं छोड़ा, लेकिन तूने अपने निर्विचिकित्सा धर्म को छोड़ा है। अशुभ द्रव्य को देखकर अशुभ परिणामों का होना, यह द्रव्य–सामायिक का अभाव है। शुभ या अशुभ द्रव्य को देखकर भी शुभ या अशुभ परिणाम नहीं लाना, इसका नाम द्रव्य– सामायिक है। भो ज्ञानी! सामायिक करना सीख लो तो आपको कहीं शत्रु नजर नहीं आएँगे। किसी द्रव्य को देखकर तुम्हारे परिणाम बिगड़ रहे हैं, उसका कुछ नहीं बिगड़ेगा, लेकिन तुम्हारी सामायिक बिगड़ गयी, क्योंकि आप सत्ता देख रहे पुण्य–पर्याय की, और ज्ञानी सत्ता देखता है पुण्य–द्रव्य की। जब वह पुण्य द्रव्य की सत्ता को निहारता है तो शांत बैठ जाता है। भैया! सिंहासन पर यह नहीं बैठा, इसका पुण्य बैठा है। सामायिक कह रही है कि आर्त्तरौद्र परिणाम जब तक नहीं छूटे, तब तक सामायिक नहीं। इसलिए निर्दोष–स्थान की चर्चा की गई है। यह द्रव्य–सामायिक है।

(२) क्षेत्र सामायिकः– मुझे तो यही मंदिर अच्छा लगता है। मुझे तो यही तीर्थ अच्छा लगता है। वह तो बहुत बेकार स्थान है। क्षेत्रगत इष्ट/अनिष्ट का होना यह क्षेत्र–सामायिक का अभाव है। किसी भी क्षेत्र में इष्ट या अनिष्ट का भाव नहीं लाना, इसका नाम क्षेत्र–सामायिक है। जहाँ भेद आ रहे हैं, वहाँ सामायिक नहीं। (३) काल सामायिकः– मुझे तो शीत–काल अच्छा लगता है। बरसात में गलियों में कीचड़ हो जाता है, सो अच्छा नहीं लगता। एक व्यक्ति गर्मी में तड़प रहा है–भगवान! सर्दी का मौसम अच्छा रहता है, कम–से–कम प्यास तो नहीं सताती। दूसरा कहता है कि वो गर्मी अच्छी रहती है, कहीं भी बैठ जाओ। भो ज्ञानी! मौसम ने अपना मौसम नहीं छोड़ा, पर तूने अपना मौसम छोड़ दिया। यह काल–सामायिक भंग हो गयी। समय को देखकर विकल्प नहीं लाना कि ऐसा समय नहीं, ऐसा समय होना चाहिए। सामायिक करनेवाले का तो हर समय एक–सा होता है। बरसात में पीतल के बर्तन काले पड़ जाते हैं यानि पुद्गल पर काल का प्रभाव पड़ा, पर मुमुक्षु के भाव पर काल का प्रभाव न पड़े, इसका नाम काल–सामायिक है। (४) भाव सामायिकः– सबसे कठिन सामायिक भाव–सामायिक है। यदि भाव–सामायिक हो जाये, तो शेष सामायिक अपने आप हो जाए। परिणामों की विकृति का अभाव हो जाना, यह भाव–सामायिक है और कभी–कभी भव की भी सामायिक कर लेता है कि भगवान्! मैं नरक में न जाऊँ। अरे! तेरे कहने से नहीं, लेकिन तूने जो किया है, उस परिणति से तू कैसे बच जाएगा? (५) नाम सामायिकः– मेरा नाम अच्छा होना चाहिए। किसी के अच्छे नाम को बुरा कहना, दूसरे की अवहेलना करना, यह नाम–सामायिक का अभाव है (६) स्थापना सामायिकः– मिथ्यात्व की स्थापना करना, मिथ्या देवी–देवताओं की आराधना करना, यह स्थापना–सामायिक का अभाव है, और सच्चे देव–शास्त्र– गुरु की स्थापना करना, यह स्थापना–सामायिक है। आयतन की स्थापना करना, अनायतन की स्थापना नहीं करना–यह स्थापना–सामायिक है। रागद्वेष को छोड़कर बैठना और साम्य–भाव को लेकर बैठना। ध्यान रखना, यदि कोई पड़ोसी आपको परेशान कर रहा



हो तो भी आप समता के साथ रहा करो, कम-से-कम समता तो बनी रहेगी। यदि आपके यहाँ पुत्रवधु आपके मन की नहीं आयी, तो कुछ दिन आपको भी अभ्यास बनाना पड़ेगा साम्य-भाव का।

भो ज्ञानी! कुछ लोग ऐसा करते है कि यहाँ नहीं बनी तो वहाँ चले गए और वहाँ नहीं बनी, तो कहीं और चले गए। ठीक है, आप स्थान बदलो, लेकिन जब तक भाव नहीं बदले, कर्म नहीं बदले, तब तक स्थान बदलने से कुछ नहीं होगा। आप आश्चर्य करेंगे, एक सज्जन हैं सम्मेद शिखर में। उनके परिवार के लोगों ने उनको छोड़ दिया है, करोड़पति हैं। महिने में आते हैं उनके भैया वगैरह और होटल वगैरह का जितना खर्चा होता है वह चुकाकर चले जाते है। कहकर रखा है कि जिसकी दुकान पर भी जाएँ जो भी माँगे वह दे देना, मना मत करना। वह व्यक्ति सम्मेद शिखर-जैसी शाश्वत भूमि में वंदना के लिए नहीं घूम रहा, बल्कि घर के लोग परेशान थे इसलिए वहाँ छोड़ रखा है। एक नौकर भी साथ में लगा है। पुण्य की महिमा तो देखो कि एक मैनेजर साथ में लगा है। जहाँ भी, जो कुछ भी माँगता है, उसे हर व्यक्ति दे देता है। उसके पिताजी ने मरने के पहले उसके नाम पर बैंक में जो रुपया जमा कर दिया है था, उसका जो ब्याज आ रहा है, वह उसके उपयोग में जा रहा है। लेकिन पुण्य को तो देखो, तीर्थभूमि में पड़ा हुआ है, यह पहला पुण्य। दूसरा पुण्य कि नौकर सेवा कर रहे हैं। इस पुण्य के लिए घोर-घोर तपस्या की है और तीव्र मोह के आवेश में आकर भक्तों व श्रावकों से दूर रहकर मदिरापान कर रहा है। करोड़पति आदमी है, लेकिन दशा देखो परिणामों की। इसीलिए ज्यादा कमाकर मत रखना, बर्बाद दूसरा करेगा और बदनाम आप होंगे कि उनकी संतान ऐसा कर रही है। सम्पूर्ण द्रव्यों में समता का आलंबन करके, जो तत्त्व की उपलब्धि का मूल है, उसका नाम 'सामायिक' है। इसलिए अनेक बार 'सामायिक' करना चाहिए।





गुणों का स्थान है सामायिक

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम्।।१४९।।

अन्वयार्थ :– तत् = वह (सामायिक)। रजनीदिनयोः = रात्रि और दिन के। अन्ते अविचलितम् = अन्त में एकाग्रता–पूर्वक। अवश्यं भावनीयं = अवश्य ही करना चाहिए। पुनः इतरत्र समये = फिर यदि अन्य समय में। कृतं तत्कृतं = किया जावे तो (वह सामायिक) कार्य दोषाय न, गुणाय = दोष के हेतु नहीं, किन्तु गुण के लिए ही होता है।

सामायिकाश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य।।१५०।।

अन्वयार्थ :– एषाम् = इन। सामायिकाश्रितानां = सामायिक–दशा को प्राप्त हुए श्रावकों के। चरित्रमोहस्य = चारित्रमोह के। उदये अपि = उदय होते भी। समस्तसावद्ययोगपरिहारात् = समस्त पाप के योगों के त्याग से। महाव्रतम् भवति = महाव्रत होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य–भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने सूत्र दिया है कि जो वीतराग–संज्ञा को प्राप्त कर चुके हैं, जो सर्वज्ञता को प्राप्त कर चुके हैं, वह किसी को उपदेश देने नहीं आते, उनके तो सहज उपदेश होता है। उस सहज उपदेश की प्राप्ति के लिए यदि सामायिक है, तो ध्यान रखना, सबकुछ है। अर्थात् जीवन के बारे में जो कुछ सोचने का एक समय निर्धारित होता है, उसका नाम सामायिक है। अपने बारे में विचार करने का जो समय होता है, उसका नाम सामायिक है। अपने से मिलने का जो समय होता है, उसका नाम सामायिक है। ध्यान से समझना, एक टोकनी में मेढ़कों को शांति से बिठा के रखना सुरक्षा से, और कह देना कि शांति से बैठना। भो ज्ञानी! जब तक तू एक को सम्हालता है तब तक दूसरा भाग जाता है। अहो! यह तेरे संबंधों की दशा है। इन संबंधों को मत सम्हालो, निज संबंध को सम्हालो। निज की टोकनी में निज मन–मेढ़क को सम्हाल लो, उसमे कल्याण है। ये परिवार/कुटुम्ब सम्हलनेवाला नहीं है, क्योंकि इसकी दशा ही विचित्र है। इसलिए विश्वास रखो, सम्हाल किसी को नहीं सकते हो, किन्तु संभालने का प्रयास करना ही पुरुषार्थ करना है। अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि सम्पूर्ण राग–द्वेष की निवृत्ति हेतु अपने परिणामों को सम्हाल लो, उसी का नाम सामायिक है।

भो ज्ञानी! मुमुक्षु जीव यह भी नहीं देखता कि कहाँ बैठना है। वह स्थान की खोज नहीं, समय की खोज करता है कि मेरा समय, एक क्षण भी न चला जाए। जीवन में आपको कितने मिनिट मिले हैं और उन मिनिटों/समयों का उपयोग आपने कहाँ किया है? शिक्षाव्रत शिक्षा दे रहा है कि साम्यभाव जिस परिणति से हो, उसका नाम सामायिक है। इच्छाओं की पूर्ति को पूर्ण कर लेने का नाम साम्यभाव



नहीं है, इच्छाओं की पूर्ति का निरोध करने पर समता रखना, इसका नाम साम्यभाव है। प्यास लग रही थी, परिणाम खराब हों, इससे अच्छा है कि पानी पी लो, और बोलें कि साम्यभाव है। देखना, हम कितना विपरीत सोचते हैं ? जिनवाणी कहेगी कि जब तुमको प्यास लग रही हो और रात्रि का काल हो, तीव्र तृषा सता रही हो, उस समय साम्यभाव रखो। यदि पानी पीने का नाम साम्यभाव है तो, मनीषियो! भोग भोगने को भी सामायिक कहना पड़ेगा। अरे! परिणाम कलुषित नहीं रखना है, लेकिन पानी भी नहीं पीना है।

भो ज्ञानी! आज तू स्वतंत्र है। परतंत्रता में तूने सागरों प्रमाण पानी नहीं पिया। इतनी प्यास लगी थी कि 'सिंधु–नीर से प्यास न जाए,' पर एक बूंद पानी भी पीने को नहीं मिला। आपको तो सुबह मिल जाएगा। जल को पीते–पीते अनन्त पर्याय निकल गई। अब तू चैतन्य–नीर का पान कर। पानी पीना तेरा स्वभाव नहीं है, भोजन करना तेरा धर्म नहीं है। अहो प्रभु! आपके नाम की जाप करते–करते मेरे प्राण भी निकल जाएँ, वह भी मुझे स्वीकार है। इसका नाम साम्यभाव है। चारित्र को खोकर भोगों में लिप्त हो जाना, इसका नाम साम्यभाव कह देना, यह जिनवाणी का अवर्णवाद है।

भो ज्ञानी! चौबीस घंटे अपने साथ गुरु को बिठा के चलना। जो समय–समय पर तुझे तेरे त्याग को याद दिला दें, उसी का नाम गुरु है, उसी का नाम श्रुत है और वही आगम का ज्ञान है। विषमता के काल में हमें समता का ध्यान दिला दे, इसी का नाम श्रुत है, वहीं सम्यक् है। साम्यभाव के संस्कार डालो, पता नहीं कब उपसर्ग आ जाए, कब परीषह आ जाएँ? वे दिन अपने जीवन के श्रेष्ठ मान के चलना जिन दिनों तुम्हारे निकट–संबंधी तुम्हें दुःखित करें। क्योंकि उनके राग में हम वीतराग को भूल रहे थे। अहो संबंधी! तूने अच्छा संबंध स्थापित किया, कम से कम मुझे वीतरागता का भान तो करा दिया। मैं आपके राग में बैठकर पता नहीं कितने कर्मों का बंध कर रहा था ? इसलिए सामायिकचारित्र कहता है कि साम्यभाव का अर्थ भोग की लीनता नहीं है साम्य् भाव का अर्थ स्वभावलीनता है। इसलिए ध्यान रखना, जीवन में संयम की साधना वही कर सकता है जिसको तीव्र चिंता हो। जिसे सामायिक में स्वभाव का विकल्प होता है, उसे नींद नहीं आती और जहाँ विकल्प खो गया और आप बैठ गये शांत होकर, समझ लेना आपने साधना कर ली। जिस समय सीता का जीव प्रतीन्द्र हुआ, उसके मन में एक विकल्प आ गया, अरे! बलभद्र राम उत्कृष्ट साधना कर लेंगे तो वह निर्वाण को प्राप्त कर लेंगे। यदि मैं इनकी साधना को भंग कर दूँगा तो यह संसार में रहेंगे, जिससे हमारे फिर से संबंध स्थापित हो जाएँगे। देखना मोह की दशा, सीता का रूप धारण करके सामने खड़ा हो जाता है, स्वामी! आप क्षमा करो। मैंनें आपकी अवहेलना की, अज्ञानतावश मैंने आपकी बात को स्वीकार नहीं किया। अब आप चलो महलों की ओर, मैं आपकी महादेवी सीता हूँ। ध्यान रखना जीवन में, हिमालय हिल सकता है, परंतु निर्ग्रंथ मन कभी सग्रंथ नहीं होता। अग्नि शीतल हो जाए, लेकिन संत के हृदय में वासना और कषायों की ज्वाला नहीं आती है, यही भाव–लिंग है।

भो ज्ञानी! गृहस्थी में रहकर यदि साधु की याद आ जाए तो तू महान है। जीवन में यदि कुछ पाना चाहते हो तो गृहस्थ बनकर साधु को याद करते रहना। और कहीं गृहस्थी में तुम गृहस्थी ही को याद करते रहे, तो गृहीत–मिथ्यात्व से भी नहीं छूट पाओगे। देह से धर्मात्मा हो भी गये, तो भी कोई सार नहीं है। इसे आगम स्वीकार नहीं करता है कि परिणति धर्मात्मा की हो और देह से उसके धर्म न झलके, यह संभव नहीं है। जिसमें निश्चय–धर्म है, नियम से उसमें व्यवहार धर्म होगा। ऐसा

कभी नहीं हो सकता है कि अंतरंग में धर्म हो, और बाहर में धर्म न हो। भो ज्ञानी! प्रकृति भी आपसे कह रही है कि बिना द्रव्य–दृष्टि के पर्याय–दृष्टि नहीं और बिना पर्याय–दृष्टि के द्रव्य–दृष्टि नहीं। द्रव्य कहता है कि मैं द्रव्य–पर्याय से हूँ , तो गुण भी मेरे अंदर विद्यमान हैं। पर्याय को पर्याय मानना मिथ्यात्व नहीं है। द्रव्य को द्रव्य मानना मिथ्यात्व नहीं है। द्रव्य को गुण व पर्याय से युक्त मानना मिथ्यात्व नहीं है। पर्याय के भोगों में लीन होकर अपने को प्रभु मानना, यह मिथ्यात्व है। कुन्दकुन्द आचार्य भगवान् कह रहे हैं–**''पज्जयमूढा परसमया''।** जो पर्याय को ही आत्मा का लक्षण मान रहा है, वह मिथ्यात्व में जी रहा है। अमृतचन्द्र स्वामी कह चुके हैं **''द्रव्यगुणपर्ययसंवेता''**। उमास्वामी महाराज से पूछ लो द्रव्य की परिभाषा–**'गुणपर्ययवद् द्रव्यं'।** अतः, जहाँ सामायिक का अभाव है, वहाँ मूढ़ता है; क्योंकि पूरी पर्याय अपने शरीर के लिए सौंप दी है। पूरी पर्याय के क्षण आपने भोगों में लगा दिये हैं, उसी का नाम पर्याय–मूढ़ता है।

भो ज्ञानी! राग को जानना बंध नहीं है। राग को जानने से बंध नहीं होता, द्वेष को जानने से बंध नहीं होता, रागी–द्वेषी होना बंध है। अहो ! भोगी के भोग बंध नहीं हैं, लेकिन भोगों में लीन हो जाना बंध है। भोग तो सम्पूर्ण विश्व में हैं। जो भाव जहाँ बैठे, वो भी भोग है। एक जीव यहाँ निर्भोग में बैठा है और दूसरा भोग में बैठा है; क्योंकि एक सामायिक कर रहा है यहाँ बैठकर, और दूसरा यहाँ बैठकर अधिकार देख रहा है कि यह तो मेरा स्थान है। वह मंदिर में बैठकर बंध कर रहा है और एक यहीं बैठकर सामायिक कर रहा है। इसलिए ध्यान रखना, धर्म–स्थान धर्मात्मा के लिए होता है, रागी–द्वेषी के लिए नहीं। अन्यथा सम्मेदशिखर तीर्थ से सभी लोग मोक्ष चले जाते। यदि आप यहाँ से गए, तो आप यात्री कहलाते हो; परंतु जो शिवालय का यात्री है, उसने यात्रा का लक्ष्य बना लिया, इसलिए यात्री कहलाने लगा। ऐसे ही जो मोक्ष–मार्ग पर चलने लगता है, वह मोक्ष–मार्गी है, अन्यथा सभी संसार–मार्गी ही हैं।

मनीषियो! शास्त्र के ज्ञान और अनुभव के ज्ञान में इतना ही अंतर होता है जितना कि प्रसूति कराने वाली धाय और जन्म देने वाली माँ में। क्योंकि जो अनुभव–ज्ञान है, वह क्रिया के साथ होता है, अनुभूति के साथ होता है। अध्यात्म की भाषा में अनुभव–ज्ञान यानि कि आत्मा का ज्ञान और वाह्य–ज्ञान यानि कि शास्त्रों का ज्ञान। शास्त्र–ज्ञान में कथन तो होता है, लेकिन अनुभूति नहीं होती है और आत्म–ज्ञान में कथन नहीं होता है, संवेदन होता है। सामायिक के शास्त्र तो जीवन में कई पढ़ सकते हो और करोड़ों जीवन में पढ़ सकते हो, लेकिन जीवन में तुम सामायिक–चारित्र धारण नहीं कर सकते हो। सामायिक–चारित्र के बत्तीस भव है, इससे ज्यादा कोई जीव सामायिक–चारित्र धारण नहीं करेगा। लेकिन सामायिक–शास्त्र पढ़ने के लिए पता नहीं कितने भव लग जाएँ। अतः, सामायिक–शास्त्र पढ़ने का नहीं है वह संयम धारण करने का है।

भो ज्ञानी! हमारे यहाँ कितने ही गरीब श्रावक बंजी किया करते थे। पैसे से गरीब जरूर थे, पर धर्म से कभी गरीब नहीं हुए। ऐसा है कि बंजी करते–करते रास्ते में मार्ग भूल गया। जंगल से निकल रहा था, अचानक उसके सामायिक का समय हो गया तो सामायिक करता है। इसके बाद जैसे ही खड़ा होता है कि रास्ते में एक मुनिराज दिख गए। श्रावक के मन में भाव आए, अहो! इन योगी की पारणा किसी भव्य श्रावक के यहाँ होगी, मेरे तो पुण्य हैं ही नहीं, मैं कैसे इनको पारणा करा पाऊँगा ? मैंने तो दर्शन कर लिए, अब यहीं बैठकर सामायिक करूँगा। देखो, जैसी वर्गणाएँ होती



हैं, वैसे भाव बनते हैं। संत के चरणों में बैठकर भाव बदल गए और बंजी का ध्यान भूल गया। वहीं विश्राम कर लेता है। सुबह बंजी करने चला जाता है। अब तो रोज का नियम हो गया कि वहीं से निकलें, मुनिराज के चरणों में बैठकर सामायिक कर ली। और देखना कि उस जीव ने इतना पुण्य संचित कर लिया कि पारणा का दिन जब आया तब वे मुनिराज ईर्यापथ शोधन करते हुए आ रहे थे। वह श्रावक भी कलश लिये खड़ा था और सोच यही रहा था कि हमारे यहाँ तो कैसे संभव है ? मुनिराज की विधि भी यही थी कि कोई दुर्बल व्यक्ति हाथ में कलश लिए खड़ा होगा वहाँ मेरा आहार होगा। विधि का विधान देखो, पड़गाहन कर लिया और तीन प्रतिक्षणा देते–देते रोक नहीं सका अपने भावों को, आँखों के नीर से पाद प्रक्षालन कर लिया। आहार दिए और आहार देने के उपरांत एक क्षण को परिणाम में आ गया कि कहीं मेरी माँ न आ जाए। उसकी माँ दान देने से मना करती थी। एक क्षण के परिणाम प्रबल हो गए। उस दान के पुण्य–आस्रव से सेठ–पुत्र हुआ और उसका अकाल में अपहरण हो गया। एक अटवी में छोड़ा गया। उस अटवी से उसे उठाया गया। राजा की मृत्यु हो गयी तो नगर में उसको राजा बना दिया। मुनिराज विहार करते नगरी से निकल रहे थे। ये पुनः दर्शन करने पहुँचा। प्रभु निर्ग्रंथ वीतरागी मुनि को देखकर नमन करता है। मुनिराज अवधिज्ञानी थे। भगवन्! मुझे समझ में नहीं आ रहा है कि मैं आज सम्राट कैसे बन गया ? राजन्! जिस समय आप मुनिराज के चरणों में बैठकर सामायिक कर रहे थे और मुनि को आहार दान की भावना भा रहे थे, उस समय तुमने इतने पुण्य का संचय कर लिया। लेकिन आपने बीच में पुण्य–परिणाम का अपहरण कर दिया था कि मेरी माता न आ जाए, यहाँ पर तुम्हारे अशुभ कर्म का बंध हुआ। (यह कथा गुणभद्र स्वामी ने लिखी है 'जिनदत्त चरित्र' में) इसलिए ध्यान रखना, पुण्य क्रिया तो करना, पर शुभउपयोग की दृष्टि रखना, अशुभ उपयोग को स्थान मत देना।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी समझा रहे हैं कि प्रमादी मत बनो। दो समय के अलावा तीसरे समय में सामायिक कर लोगे तो उससे कोई दोष नहीं हो जायेगा। देखो, दो समय तो आपको निश्चित कर दिए शेष काल में आपको जब भी समय मिलता है तब आप सामायिक कर सकते हैं। वह सामायिक गुण वृद्धि ही कराएगी। इनके होते हुये जो सामायिक का आश्रय लेता है, वहाँ पर पूर्ण सावद्य योगों का परिहार हो जाता है। ध्यान रखना, ऐसी सामायिक नहीं करना है, कि मौन ले लिया है और मौन लेकर सारे काम कर रहे हो, पेपर (अखबार) पढ़ रहे हो। जितने पुराने काम हैं, कर लो, इसलिए वह धर्मध्यान नहीं है। सामायिक के काल में श्रावक महाव्रती के तुल्य होता है, क्योंकि तुमने सब कुछ त्याग दिया है। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने कहा है–

सामायिके सारम्भाः, परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्ट मुनिरिव, गृही तदायाति यतिभावम्–१०२। र.क.श्रा.।।

जैसे कोई मुनिराज ध्यान कर रहे हों तब किसी व्यक्ति ने उन पर कपड़ा डाल दिया तो भी वह मुनिराज ही कहलाएँगे। क्योंकि उन्होंने पहना नहीं है, उनके ऊपर डाल दिया है, उपसर्ग कर दिया है। इसी प्रकार से जब श्रावक सामायिक करने बैठता है तो ऐसे ही तुम मानना कि ये वस्त्र तो उपसर्ग के रूप में पड़े हैं, मैं तो निर्ग्रंथ–स्वरूप हूँ। लेकिन ध्यान रखना, जरा भी स्वरूप की झलक हो जाए तो कुरूप में मत चले जाना।



निज में वास ही उपवास

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः।।१५१।।

अन्वयार्थ – प्रतिदिनम् आरोपितं = प्रतिदिन अंगीकार किये हुए। सामायिक संस्कारं = सामायिकरूप संस्कार को। स्थिरीकर्तुम्= स्थिर करने के लिये। द्वयोः = दोनों। पक्षार्द्धयोः = पक्षों के अर्द्धभाग में अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के दिन। उपवासः = उपवास। अवश्यमपि कर्तव्यः = अवश्य ही करना चाहिये।

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ।।१५२।।

अन्वयार्थ – मुक्तसमस्तारम्भः = समस्त आरंभ से मुक्त होकर। देहादौ ममत्वम्= शरीरादिक में आत्मबुद्धि को। अपहाय = त्याग कर। प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे = उपवास के दिन के पूर्व दिन के आधे भाग में। उपवासं गृह्णीयात् = उपवास को अंगीकार करें।

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत्।।१५३।।

अन्वयार्थ – विवक्तवसतिं = निर्जन वसतिका को। श्रित्वा = प्राप्त होकर। समस्तसावद्ययोगम् = सम्पूर्ण सावद्ययोग का। अपनीय = त्याग कर और। सर्वेन्द्रियार्थविरतः = सम्पूर्ण इंद्रियों से विरक्त होता हुआ। कायमनोवचनगुप्तिभिः = मनगुप्ति,वचनगुप्ति और कायगुप्ति सहित। तिष्ठेत् = स्थित होवे।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सब विराजते हैं। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्रस्वामी ने सूत्र दिया 'आत्मा की पवित्रता, आत्मा की निर्मलता साधनों से नहीं, साधना से है। जो साधनों में उलझा है, वह कभी साधना को प्राप्त नहीं कर सकता।' साधना के साधन तो जीवन में अनन्त बार किये हैं, लेकिन साध्य की शुद्धि नहीं कि। किसी ने अच्छे मंदिरों को देखा, किसी ने अच्छे गुरुओं को देखा, किसी ने पिच्छी–कमंडल को देखा, किसी ने देह को देखा, किसी ने सुन्दर नारियों को देखा; लेकिन, भो ज्ञानी! साध्य को भूल गया। अरे! साधनों की निर्मलता से साधना की निर्मलता नहीं है, साधना की निर्मलता से साध्य की निर्मलता है। साधन बेचारा क्या करे, साधन की सीमा है। साधन कहता है कि आपकी उपयोग करने की शैली निर्मल है तो हम आपका साध्य निर्मल कर देंगे, यदि उपयोग करने की शैली निर्मल नहीं है तो हम आपका कुछ नहीं कर पायेंगे। अमृतचन्द्र स्वामी यही कह रहे हैं कि आपको निज 'समय' को समझने के लिए दो अथवा तीन समय सामायिक करना आवश्यक



है। ध्यान रखना, यदि आपको प्रति समय सामायिक करने का समय मिल रहा है तो उसे दोष मत मान लेना। हर समय साम्यभाव रखे जा सकते हैं और सामायिक प्रति समय की जा सकती है। आचार्य भगवान् कह रहे हैं– उपवास करना, एकासन करना, रस का त्याग, यह सारी की सारी बहिरंग तपस्याएँ वास्तव में तो सामायिक हेतु समय निकालने के लिए की जाती हैं। मुमुक्षु की दृष्टि से देखना, एक साधक का अपने उपयोग की निर्मलता पर लक्ष्य है, तो वह भोजन को महत्व नहीं दे रहा है, वह सामायिक को महत्व दे रहा है और एक जीव ऐसा भी है जिसे सामायिक में देर हो जाए लेकिन भोजन में देर न हो। दोनों की पहचान करना कि मुमुक्षु कौन है? सामायिक करने के लिए भोजन का त्याग कर रहा है, ज्ञानी और भोजन के लिए सामायिक का त्याग जो कर रहा है, वह है अज्ञानी। ज्ञानी–अज्ञानी की यही पहचान है। अरे! सामायिक का समय हो रहा है तो भोजन छोड़ देना चाहिए। दिन के बारह बजे (संधिकाल) में भोजन नहीं करना, यह तीर्थंकर भगवान् की दिव्य देशना का काल है। इस काल में भगवान् जिनेन्द्र की दिव्य ध्वनि खिरती है और एक पापी उसमें भोजन करता है, कितना अभागा हैं? भाग्य को निहार लेना कि हमारा कितना क्षीण पुण्य है।

भो ज्ञानी! तीर्थंकर के कल्याणक हुए हैं तो काल मंगल हो गया है। उन्होनें दिनों को नहीं देखा, दिनों ने उन्हें देखा है। वह काल सुमंगलभूत हो गया जिस काल में मंगलोत्तम शरणभूत तीर्थंकरों की आत्मा का अवतरण हुआ। इसलिए काललब्धि नहीं आयेगी, पुरुषार्थ ही काललब्धि को खड़ा कर देगा।

भो ज्ञानी! संसार में भटकने के लिए बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है, लेकिन मोक्ष जाने के लिए मात्र बैठना पड़ता है। देखो चौबीस तीर्थंकर हैं, सब हाथ पर हाथ रखे हुए बैठे हुए हैं। बस बैठ जाओ, कुछ मत करो। यदि उस सादि अनंत काल तक बैठने की भावना हो, तो दिन में कम से कम दो घंटे बैठने लगो। इसका नाम साधना है, इसका नाम सामायिक है। श्रावक को दो समय सामायिक तो निश्चित करना ही चाहिए। सामायिक करने बैठो तो मात्र बैठ ही मत जाना, देह से बैठना, भोगों से बैठना और उपयोग में दौड़ना। वह दौड़ तुम्हारी विपरीत नहीं हो। लेकिन जहाँ आज तक दौड़े वहाँ मत दौड़ना। कीचड़ में दौड़े हो, इसलिए तुम इस कर्म की दलदल में फँसे हो। किसी निर्ग्रंथ योगी की वाणी रूपी लकड़ी 'गुरुवाणी' का आलंबन ले लेना। फिर धीरे से भेद विज्ञान का चुल्लू भर नीर टपकाना। यह जो पाप है, वह कीचड़ है। इसके ऊपर तुम पुण्य का नीर डाल दो। भो ज्ञानी! भेद विज्ञान का चुल्लू भर पानी डाल दो, तू कीचड़ में नहीं फंसेगा। इसलिए अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि आप सामायिक कर लो जब परिणाम कषायों से भरे हों। लड़ाई होती है, तो सामायिक कर लो। कहना–भाई! हमारा सामायिक का समय है, हम आपसे थोड़ी देर बाद चर्चा करेंगे। जो तुम लड़ने के बारे में सोच रहे थे तो सामायिक में बैठकर आपने चिंतन को बदल दिया। पुनः आप लड़ने नहीं आओगे, क्षमा माँगने आओगे, कि भाई, हमसे भूल हो गई है।

भो ज्ञानी! सामायिक में सोचोगे कि अब क्या करूँगा? अरे! यह सोचना कि भूल मेरी है या कि सामने वाले की। अहो! भूल न तेरी है, न मेरी। यह कर्मविपाक उदय में आ गया, तो मुझे गुस्सा आ गया, मैं पराधीन हो गया और आज तक यह सोचा ही नहीं कि मैं भी कुछ कर सकता हूँ? आज तक यह नहीं जाना कि मैं जीव हूँ, तो एक जीव दूसरे जीव पर क्या क्रोध कर सकता है? उसने गाली दी, गाली को हमने सम्मान से स्वीकार किया है। अहो! गाली को स्वीकार करके तू गल रहा



है। अंतरंग की जेब में रखी हुई कषाय यदि निकल गई तो वह मित्र बन जायेगा। अपने आपको जैसा का जैसा समझ लेना, इसका नाम सामायिक है। ध्यान रखना, दूसरे के दोषों को देखने में समय मत गँवाना। अपने लिए जरा सा समय मिला है, उसे दूसरे को देखने में क्यों लगाते हो? अहो धोबी! तूने दूसरों के वस्त्र बहुत धो डाले, पर निज चुनरिया को तो देख कि कब से इसमें काम, क्रोध, मोह, माया के मैल छुपे हुए हैं। यह धोबी की पर्याय मानकर चलना, क्योंकि दूसरे के दोषों पर दृष्टि जा रही है। तुम दूसरों का अच्छा करना चाहते, पर तुम स्वयं अच्छे कब बन पाओगे? सामायिक अपने परिणामों को धोने का, अपने अंतरंग मल को देखने का और साफ करने का साधन है और बहुत पुरुषार्थ करना पड़ेगा, फिर नहीं झलकेगा कि संसार में कोई दोषी भी है, क्योंकि इन सबसे बड़ा दोषी तो मैं ही हूँ।

भो ज्ञानी! मिथ्या धारणा चली जाये तो मिथ्यात्व अपने आप चला जायेगा। इसलिए सामायिक करना शुरू कर दो। यहाँ सामायिक प्रतिमा अलग है, सामायिक शिक्षा व्रत अलग है और सामायिक संयम अलग है। कोई व्यक्ति सामायिक कर रहा है तो आप मना कर देंगे कि हल्ला नहीं करो, यहाँ पर वह सामायिक कर रहा है। देखो, उसकी साम्यता से तुम्हारे मन में भी साम्यता आ गई। जब एक घंटे की सामायिक में इतना आनंद आ सकता है, तो जीवन भर की सामायिक में कितना आनंद होगा?

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं कि यदि तुम मुक्ति–वधू से संबंध करना चाहते हो तो भोजन छोड़ दो सामायिक करने के लिए। कुछ लोग इसलिए सामायिक नहीं करते, क्योंकि मन नहीं लगता। कोई व्यक्ति एक घंटे पूजा कर रहा है और कहता है कि मेरा चित्त स्थिर हो गया है। अरे! तुम धोखे में बैठे हो कि हर्ष/उल्हास में बैठे हो? क्योंकि पूजन में चित्त स्थिर नहीं होता, चित्त चलायमान होता है। भगवान् के सामने चढ़ाने, रखने, उठाने में ध्यान की स्थिरता नहीं है। उन प्रकरणों में तुम इतने तल्लीन थे कि आप समझ रहे थे कि मेरा चित्त स्थिर हो गया, लेकिन चित्त स्थिर नहीं था। जब आप सामायिक करने बैठो, तब आपको लगेगा कि, हाय! यह चित्त तो मेरे पास है ही नहीं। अब हम इसको कैसे स्थिर करें? अभी तक आप मित्रों के साथ बैठे थे, क्योंकि तुम्हारे पास धन–वैभव था। जब सब कुछ नष्ट हो जाये, इसके बाद मित्रों को बुलाना। बुलाने पर भी नहीं आयेंगे। इसी प्रकार जब सामायिक करने बैठें और चित्त तुम्हारा भागने लगे, उसी समय आप सामायिक करना, वही श्रेष्ठ काल है सामायिक करने का। चित्त चलायमान होने के कारणों के उपस्थित होने पर भी चित्त को वहाँ से रोककर रखना, इसका नाम है सामायिक, इसका नाम है वीरता। यह ध्यान रखना, जब तुम्हारी कषायों में तीव्रता चल रही हो, उस समय मन्दता के भाव बनाओ और पुरुषार्थ करो। उस समय साम्यभाव रखकर पुरुषार्थ मत छोड़ देना, अन्यथा भोगों और कषायों की नदी गहरी है। प्रतिकूलता के काल में इतने सम्हल जाना कि ऊपर से कुट रहे हो, पिट रहे हो, फिर भी अंतरंग में सम्हलकर रहना, कुम्भकार का घड़ा बन जाना। अंतिम दृष्टि यही बनाकर चलना कि सबके बीच में मैं अकेला ही हूँ और अकेला ही भोगना पड़ेगा। सब साथ होंगे, फिर भी मैं सबके साथ नहीं रहूँगा। अब तो क्षमादिभाव से परिणत निज आत्मा ही शरण है। फिर वहाँ पर किसी को याद मत करना। कहीं मरण का काल आ गया और उस समय हम अपने आपको नहीं सम्हाल पाए, तो दुर्गति सुनिश्चित है। इसलिए मंद भाव बनाने का पुरुषार्थ करते रहना। पुण्य–पाप की मध्यम अवस्था के वेग से मनुष्य आयु का बंध होता है। कर्म–सिद्धांत



कहता है कि जब विकारों की, कषायों की तीव्रता होती है तो भी आयु कर्म का बंध नहीं होता। कर्म की तीव्रता में व मन्दता में भी आयु का बंध नहीं होता, मध्यम अंशों में ही आयु कर्म का बंध होता है। आयु बंध का काल त्रिभाग में आएगा, लेकिन उस त्रिभाग की तैयारियाँ आज से ही प्रारंभ कर देना।

भो ज्ञानी! वासना के संस्कार अनादि से हैं, इसलिए यह नहीं कहना कि मन नहीं लगता। उन अनादि के संस्कारों को कम करने के लिए आप धीरे–धीरे संस्कार डालना प्रारंभ करो, बैठना शुरू करो। आज आप यहाँ बैठे हो, वह पहले संस्कार पड़ चुके थे और आज जो संस्कार पड़ रहे हैं, वह आगे आपके काम आएँगे। उनको स्थिर करने के लिए आपको सरल मार्ग बताते हैं। एक महीने में दो पक्ष होते हैं, दो पक्षों में चार पर्व आते हैं, दो अष्टमियाँ दो चतुर्दशियाँ, ये शास्वत पर्व हैं। यदि घर में सब साधन हैं, तो उचित यही है कि तुम वास्तविकता में चले जाओ। सामायिक की वृद्धि के लिए अवश्य ही उपवास करना चाहिए। निज में वास करने का मतलब है उपवास। जो निज में वास करेगा, तो क्या वह भोजन में वास करेगा? ध्यान रखना, कभी व्रत, संयम, उपवास की अवहेलना मत करना। जैसे आज अष्टमी है तो कल सप्तमी को आपको एकासन करना चाहिए। एकासन करने के बाद तुरंत भगवान् के सामने या गुरु के सामने जाकर आपको उपवास ले लेना चाहिए। शाम को न मंजन करना, न पानी लेना। यदि कुछ पानी ले लिया, तो यह उपवास नहीं है, अनुपवास है। उपवास में चारों प्रकार के आहार पानी का त्याग होता है। कुछ लोग एकासन करते हैं और शाम को पानी लेते हैं, उनका तो एकासन भी नहीं होता है। भो मनीषियो! कम से कम उपवास के दिन आप साबुन–सोड़े का उपयोग तो न करें, क्योंकि आपका शरीर–संस्कार का भी त्याग है।

भो ज्ञानी! शरीर आदि से ममत्व–बुद्धि का त्याग करके उपवास के पूर्व दिन तथा अगले दिन को एकासन करें। उपवास का अर्थ है–भोजन का त्याग। चौबीस घंटे का नहीं बनता, एक घंटे का कर दो; लेकिन करो तो, कुछ तो करो। उसके बाद संपूर्ण योगों को छोड़कर हिंसादि कार्यों को उपवास के दिन न करें, वास्तविकता में वास करें। मंदिर में आकर साधना करें। संपूर्ण इन्द्रिय विषयों से विरक्त होकर मन, वचन, काय गुप्ति का भी पालन करें। उस दिन तो आप बिल्कुल मुनि–तुल्य हो जाओ। धोती– दुपट्टा में रहें तो बहुत अच्छा है। इतना विवेक जरूर रखना है कि जिन वस्त्रों में आप लघुशंका करके आ चुके हो उन कपड़ों में मंदिर के दर्शन करने नहीं आना चाहिए। हम आपका मंदिर नहीं छुड़ा रहे हैं, मंदिर आने की निर्मल विधि बता रहे हैं। क्योंकि आप गृहस्थ हैं। वास्तविकता तो यह है कि जिन वस्त्रों से भोजन किया हो, मल विसर्जन किया हो, ऐसे वस्त्रों को पहन कर देव, गुरु, शास्त्र का स्पर्श नहीं करना चाहिए। शाम को पूरे बाजार में घूम–घाम कर आते हैं और गद्दी पर बैठकर, वाचना शुरू कर दी। ठंडी आने दो, ऊन के कपड़े पहनोगे और बढ़िया चादर ओढ़कर स्वाध्याय करोगे। यह अनुचित है।

अहो मनीषियो! दूसरों के बालों को ओढ़कर तुम जिनवाणी छू रहे हो? सूती कपड़ों का उपयोग तो कर ही लेना। जैसा रुचे, वैसा करा;, लेकिन मार्ग यह है। जिनकी असमर्थता है, उनको ग्रहण मत करना। तुम समर्थ हो, जिनेन्द्र की वाणी को पाश्चात्य संस्कृति में मत बदलो। भो ज्ञानी! विवेक से समझना। यह तीर्थंकर–जिनेन्द्र की देशना, साक्षात् जिनेन्द्र की वाणी है। अपने जीवन में विनय सीखो, तभी सामायिक आएगी, तभी तुम्हारी साधना सफल होगी।



पूजा करो, पूज्य बनो

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम्।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः।।१५४।।

अन्वयार्थः विहितसान्ध्यविधिम् = कर ली गई है प्रातःकाल और संध्याकालीन सामायिकादि क्रिया जिसमें ऐसे। वासरम् = दिन को। धर्मध्यानासक्तः = धर्मध्यान में लवलीन होता हुआ। अतिवाह्य =व्यतीत करके। स्वाध्यायजितनिद्रः = पठन–पाठन से निद्रा को जीतता हुआ। शुचिसंस्तरे =पवित्र सांथरे पर। त्रियामां गमयेत् = रात्रि को पूर्ण करे।

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः।। १५५।।

अन्वयार्थ : ततः प्रातः प्रोत्थाय = तदुपरान्त प्रभात में ही उठकर। तात्कालिक= उस समय की। क्रियाकल्पम् = क्रियाओं को। कृत्वा = करके। प्रासुकैः = प्रासुक अर्थात् जीव–रहित। द्रव्यैः = द्रव्यों से। यथोक्तं = आर्ष–ग्रंथों में जिस प्रकार कही है उस प्रकार से। जिनपूजां = जिनेश्वर देव की पूजा को। निर्वर्तयेत् = करे।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं, आचार्य भगवान् अमृतचंद्रस्वामी ने अनुपम सूत्र दिया है –जीवन में समत्व भाव एक ऐसा अनुपम है जिसके माध्यम से सम्पूर्ण लोक की विषमता समाप्त हो जाती है, क्योंकि लोक में समता को भंग करनेवाला यदि कोई पदार्थ है तो 'मैं' और 'मेरा' भाव है। यह 'मैं' व 'मेरा' समत्व को प्राप्त नहीं होने दे रहा है। मैं क्या हूँ? मैं जो दिखता हूँ, वह 'मैं' नहीं हूँ। अहो! जिसे आप 'मैं' कह रहे हो, वह कभी मेरा है नहीं। फिर 'मैं' ही नहीं कहता, 'मेरे' भी कहता है। मेरा ज्ञान दर्शन है, चारित्र है, सुख है, अनंत चतुष्टय है, परंतु 'मैं' के पीछे अपने स्वचतुष्टय पर दृष्टिपात नहीं किया, क्योंकि समता प्राप्ति के उपाय के बीच में "कर्त्ताभाव" आ जाता है। अहो! विश्व अशांति का मूल सूत्र है यह कर्त्ताभाव। जिसके आप कर्त्ता हो, उसको आप सब–कुछ मानते हो और जिसके आप कर्त्ता नहीं हो, उसे आप तुच्छ मानते हो; जबकि मुमुक्षु की दृष्टि में सभी तुच्छ ही हैं। किसी भवन पर आपने एक ईंट रख दी तो उसमें भी अंह–भाव आता है, हृदय ईंट का बन जाता है। जब तुम्हारी ईंट नहीं थी, तो विनयपूर्वक आप आते थे, उस तीर्थ की वंदना करते थे, तब भावना कुछ ज्यादा निर्मल होती थी और सराहना करते थे कि धन्य हो उसको, जिसने इस भवन को निर्मित किया है, उसी के कारण यहाँ बैठकर मैं धर्म साधना तो कर रहा हूँ। वह भावना अब मर चुकी है, क्योंकि ईंट मेरी रखी गई है। इसलिए तीर्थों



में गुप्तदान देना ही ज्यादा उचित लगता है, जिससे मालूम नहीं चलता कि ईंट किसकी लगी है। हम तीर्थ भूमि में सामायिक करने गए थे, लेकिन वहाँ भी सामायिक नहीं हो पाई, क्योंकि हमने ईंट रख दी है। यदि किसी ने उस भवन में किसी त्यागी को विराजमान कर दिया तो आपकी त्यागी के सामने (पास) पहुँचने की ताकत तो है नहीं, पर मैनेजर को जरूर डाँट देते हो कि जब आपको मालूम था कि मैं यहाँ ठहरूँगा तो आप महाराजश्री को कोई दूसरा कमरा खोल देते। यानि परमेष्ठी के प्रति भी अनादर भाव आ गए, क्योंकि ईंट रखी थी। मनीषियो! ऐसी ईंट मत रखना जिससे कि संसार के नींव की ईंट बनना पड़े।

भो ज्ञानी! ईंट रखने का भाव दूसरा था– कि यदि मैंने ईंट रखी है तो मेरी संतति भी यहाँ आकर धर्म से जुड़ी रहे। लोग भी कहें कि तुम्हारे दादा ने ईंट रखी है, इसलिए आप भी धर्म से जुड़े रहो। अतः, उद्देश्य यही होना चाहिए था कि हमारे बुजुर्गों ने इतना विशाल मंदिर बनवाया है तो हम कम से कम पूजा ही करते रहें। इस भावना के लिए ईंट रख देना, लेकिन हृदय को ईंट बनाने के लिए कभी ईंट रखने का विचार मन में नहीं लाना। अहो! 'इदम्' कह रहा है कि मैं ऐसा हूँ, मेरा ऐसा है। यही 'मैं' विनाशक है। यह दो दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि तो यह बने कि देखो, हमारे दादाजी ने तो क्षेत्र में कमरा बनवाया, मेरी सामर्थ्य तो धर्मशाला बनवाने की है ताकि यात्री ठहरें। दूसरी दृष्टि में लगता है कि यहाँ मेरा नाम लिखा देना चाहिए, ताकि मालूम चल जाए कि इनके बुजुर्गों ने ऐसा पुण्य का काम किया है। अहो! कहीं ऐसे भाव आ गए कि यह हमारे परिवार का जिनालय है, हमारे परिवार की धर्मशाला है, इसमें आपको कोई अधिकार नहीं है, यहाँ से चलो, तो नाम कभी नहीं लिखाना। इसलिए हमारे बुजुर्गों ने मंदिर बनवाकर समाज को सौंपने के पहले व्यवस्था हेतु एक बहुत बड़ी भूमि (जायदाद) भी लगा दी, क्योंकि पता नहीं यह लोग पूजा भी करेंगे कि नहीं। भो ज्ञानी! एक को तो आल्हाद आ रहा है–अहो! 'मेरा सौभाग्य, मैं ऐसे कुल में जन्मा जिस कुल में ऐसे जिनालय निर्मित किए गए हों। मैं उस वंश का बीज हूँ, जिस वंश में जिनेन्द्र के मंदिर बनवाए गए थे। अब तुम जिनालय की रक्षा नहीं, जिनालय में जरूर आ जाना, क्योंकि जब तक जिनालय में रहोगे तब तक पाँच पापों से तेरी रक्षा होती रहेगी और जब तक तू यहाँ रहेगा तब तक जिनालय को नष्ट करने वाले भाव स्वयं भाग जाएँगे। मनीषियो! पवित्र भाव आना ही पुण्य भाव हैं, क्योंकि पाप की तीव्रता में पुण्य भाव आ नहीं पाते; कर्ता भाव आ जाता है। भो चैतन्य! ध्यान रखना कि कभी–कभी साधना करते–करते भी कर्म बंध हो जाता है और साधना न करते अथवा साधना की भावना करने मात्र से कर्म की हानि हो जाती है। एक जीव साधना में भी कर्तृत्व भाव लिए बैठा है और एक जीव साधना को करते हुए कह रहा है कि मैं क्या कर सकता हूँ? देखो, कैसी निर्मल दशा है। इसलिए कह दिया कि मन–वचन–काय को गुप्त कर लो। यदि आप साधना करना चाहते हो तो संपूर्ण इंद्रियों के विषयों को रोक लो और अपने आप को छुपा लो।

भो ज्ञानी! एक मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी भी यदि उत्कृष्ट साधना करता है तो वह उत्कृष्ट भोग पाता है। नागसेन आचार्य ने **"तत्त्वानुशासन"** ग्रंथ में लिखा है–अहो मुमुक्षु! यह संयम–साधना, ध्यान–आराधना चरम शरीरी के लिए मुक्ति और अचरम शरीरी के लिए भुक्ति प्रदान करती है। परंतु साधना विफल नहीं जाती। मोक्षमार्ग की आराधना चरम शरीरी करेगा तो नियम से उसको तो मोक्ष



होना ही है, लेकिन अचरम शरीरी की आराधना भी विफल नहीं जाती है, उसको संसार के भुक्ति की प्राप्ति होती है। लेकिन भुक्ति की प्राप्ति के लिए साधना मत करना। यद्यपि तुम भोगों में लिप्त हो, तो भी तुम मोक्षमार्ग की साधना करते रहना, क्योंकि जितना है उतना तो तुम्हारे हाथ में रहेगा, अन्यथा मूल से भी चले जाओगे। कम से कम इतना संयम तो कर लेना कि पुनः इसी पर्याय में आ जाएँ, अन्यथा बनिया के बेटे भी कहाँ बचे तुम। संयमी होकर भी तुम्हारी स्वभाव दृष्टि नहीं बन पा रही है, क्योंकि राग तुम्हारे अंदर है, परंतु द्वेष तो मत करो। अहो! जब द्वेष छूट जाएगा तो निश्चित है कि राग मंद पड़ेगा और जैसे ही राग मंद पड़ेगा तो वीतराग भाव का ज्ञान हो जाएगा। वीतराग भाव का ज्ञान हुआ कि वीतराग मार्ग पर चलना प्रारंभ हो जाएगा। इसलिए राग नहीं, द्वेष को छोड़ो। हमारे आगम में राग के तो दो भेद किये हैं (प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग) किये हैं, पर द्वेष के दो भेद नहीं किए।

भो ज्ञानी! द्वेष जब भी होगा अप्रशस्त ही होगा। राग तो प्रशस्त हो सकता है, लेकिन द्वेष अप्रशस्त ही होगा, और जहाँ द्वेष है वहाँ नियम से अप्रशस्त राग है। मैंने स्वयं अनुभव करके देखा है कि द्वेष तभी आता है जब हम कहीं किसी से जुड़ जाते हैं। एक परिवार में दूसरे पुत्र ने जन्म लिया तो बड़े भइया की विडम्बना प्रारंभ हो गई। उसी दिन से माँ का दुलार भी बँट गया और पिता का दुलार भी बँट गया। लेकिन ध्यान रखना, उन्हें तो दूसरा बेटा मिल गया, पर बेटे को दूसरे माता–पिता नहीं मिले। माँ दूसरी दृष्टि से देखना प्रारंभ कर देती है, पर बेटा दूसरी दृष्टि से नहीं देखता है। वह उतना ही ज्यादा गोदी में चिपकता है, पर माँ उसको पटकना प्रारंभ कर देती है। यहाँ से द्वेष प्रारंभ हो जाता है। व्यवहारिक दृष्टि से देखते हैं, तो जब प्रथम पुत्र पैदा होता है तो आप उसको कुछ ज्यादा ही दुलार देते हो और जिसको एक बार ज्यादा दुलार मिल गया हो, कालांतर में उसे तुम बाँटोगे तो बेटे को फीका लगता है। अहो मनीषियो! पर्याय के परिणमन को लेकर परिणामों का परिणमन विकृत मत कर लेना, क्योंकि संबंध शाश्वत नहीं हैं। किसी के जीते– जी विच्छिन्न हो जाते हैं, तो किसी के मरने के बाद। यदि हमारे जीते जी विच्छिन्न हो गए तो हमारा तीव्र अशुभ कर्म का उदय मानना। विच्छिन्न तो होते ही हैं, इसको तो कोई टाल नहीं सकता। लेकिन आज से जोड़ने का ही प्रयास करूँगा और नहीं जुड़े तो फिर इतना ध्यान रखना कि निज से जुड़ना मत छोड़ देना। कर्त्तव्य कर लेना, लेकिन उसमें भी संक्लेशता मत लाना कि, हाय! अब मैं क्या करूँगा? अरे भाई! तुम फिर चिंतवन करना एक तिर्यंच का। माँ कहीं रहती है और बेटा कहीं बिक जाता है, लेकिन फिर भी जीवन चलता है। यह स्वतंत्र रहने का सूत्र है।

भो ज्ञानी! 'दूर रहना' मोक्षमार्ग में बाधक नहीं है, पर 'दुर्भावना' मोक्षमार्ग में बाधक है। पास रहकर दुर्भावना रहेगी, तो मोक्षमार्ग में बाधक है। अहो! दूर रहना तो सूर्य बनकर। कितनी दूर है, पर सबको प्रकाश दे रहा है। लेकिन पास में रह कर भी अंधेरा हो तो जीवन में कोई सार नहीं है। इसलिए पास रहकर उपवास करना, लेकिन उपवास करके दूर मत हो जाना, क्योंकि आप ममता माँ की बातों में चले गए थे। यह जिनवाणी समता की माँ है। ममता की माँ ढकेल सकती है, दूर भगा सकती है पर, भो चैतन्य!समता की माँ तुझे संयम के पालने में ही थपकियाँ लगाएगी। इसलिए ममता की माँ छूटती है तो छूट जाए, पर समता की माँ को नहीं छोड़ना।



अहो मनीषियो! ध्यान रखना, माँ जिनवाणी की गोद में खेलने का पात्र वही होता है, जो यथाजातरूप होता है। तुम जब जन्मे थे तब निर्विकार थे, इसलिए हमारे जिनशासन में निर्ग्रंथ मुनिराज को यथाजात कहा है। यथाजात को देखने में किसी को विकार नहीं आते, कोई आँख नहीं सिकोड़ता, नाक नहीं सिकोड़ता। भो ज्ञानी! विश्वास करना, आप यहाँ नंगे खड़े हो जाओ तो यह सब भाग जाएँगे और बालक आ जाए तो आप उसे गोदी में बिठा लेंगे तथा मुनिराज जी आ जाएँ तो तुम सिर टेक दोगे। नग्न वेष तो सुन्दर ही होता है, क्योंकि वह प्रकृति का रूप है। अहो! विश्व में वस्त्रधारियों की संख्या तो अंगुलियों पर गिनने लायक है, लेकिन प्रकृति नग्न है। अतः सत्य पर कोई चिह्न लगाने की आवश्यकता ही नहीं। देखो पूरी प्रकृति कैसी नजर आ रही है?

भो ज्ञानी! जिसकी भोजन शुद्धि, भजन शुद्धि, आहार शुद्धि, विहार शुद्धि और निहार शुद्धि है, उसकी व्यवहार शुद्धि है। जिसकी व्यवहार शुद्धि है, उसकी परमार्थ शुद्धि है और जिसकी व्यवहार शुद्धि नहीं है, उसकी परमार्थ शुद्धि भी नहीं हो सकती। जहाँ व्यवहार शुद्धि हो जाती है, मनीषियो! वहीं निश्चय दृष्टि हो जाती है। आप संक्षेप में इतना ही समझना कि अभेद दृष्टि निश्चय है और भेद दृष्टि व्यवहार। अभेद स्वरूप की लीनता निश्चय है और भेद स्वरूप की दृष्टि व्यवहार है।

मनीषियो! आप क्रिया तो करते हो, लेकिन विधि के अभाव में निर्जरा नहीं कर पाते हो जैसे, आप लोग उपवास भी कर लेते हो तो इतनी क्रिया और कर लिया करो कि उपवास के दिन अनासक्त चित्त हो जाना। क्योंकि धर्मध्यान में ऐसा नहीं है कि भूख लग रही है या नींद भी नहीं आ रही है तो चलो टेलीवीजन खोलकर बैठें, कैसे भी समय निकालें ? जिन्हें नींद नहीं, आती वे पुण्यात्मा हैं, उस नींद का दुरुपयोग न करें। अतः, सामायिक करें, जाप करें, स्वाध्याय करें; पर नींद की गोली मत खाना। पागल होना हो तो खा लेना। अहो! जब नींद नहीं आए तो ग्रंथ ले कर बैठ गए, उस स्वाध्याय से दो उपयोग हो गए–तुम्हें नींद आ जाएगी अथवा तुम्हारा जो दुर्ध्यान हो रहा था, वह नहीं होगा। भो ज्ञानी! इस बात का ध्यान रखना कि उपवास किया है तो रोज के वस्त्रों में नहीं सोना। चटाई पर सोना। कुछ लोगों को जाप करने का शौक रहता है अतः चारपाई जिन पर तुम लोग सोते हो, उन्हीं पर माला फेरना प्रारंभ कर देते हो। यह तुम्हारी द्रव्य शुद्धि नहीं है। तनिक पलंग के नीचे बैठ जाया करो, परंतु करना उनी चादरों पर बैठकर, गद्दी पलंग पर बैठकर भगवान् की माला नहीं फेरना। प्रातः उठकर सामायिक आदि क्रिया के पश्चात स्नान आदि करके भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करो, 'प्रासुकैर्द्रव्यै। ऐसा नहीं कि आप अप्रासुक द्रव्य से कर लो, कच्चे पानी से अभिषेक कर डालो। प्रासुक द्रव्य से ही भगवान् का अभिषेक करके पूजन की जाती है। कोई आगम में नहीं लिखा कि अभिषेक न करो, पर पूजन की विधि अभिषेक पूर्वक होती है। वह तुम्हारी भूल है कि धूल झड़ाने के लिए भगवान का अभिषेक किया जाता है। भगवन् अहो! आप तो स्वयं पवित्र हो, हम आपको क्या पवित्र करेंगे? लेकिन दिन में एक बार प्रभु का अभिषेक कर लिया करो। समवसरण में भी चैत्य प्रसाद भूमि होती है, उसमें भी अभिषेक–पूजन सब होता है। नंदीश्वरद्वीप में तीन–तीन बार भगवान् की आराधना होती है। इसलिए, मनीषियो! ध्यान रखना, पुण्य अवसर को पाप में नहीं बदल देना। अपने जीवन में जो व्यवस्था जैसी हो, लेकिन आगम की विधि को ध्यान रखना, शुद्धि का लोप नहीं कर देना। द्रव्य की शुद्धि से ही परिणामों की शुद्धि बनती है। इसी कारण व्यवहार शुद्धि अंतरंग शुद्धि का हेतु है।

सप्तशील

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य।।१५६।।

अन्वयार्थः ततः = उसके बाद। उक्तेन विधिना = पूर्वोक्त विधि से। दिवसं = उपवास का दिन। च द्वितीयरात्रिं = और दूसरी रात को। नीत्वा च = प्राप्त होकर फिर। तृतीय दिवसस्य =तीसरे दिन का। अर्धं = आधा भाग भी। प्रयत्नात् = अतिशय यत्नाचारपूर्वक। अतिवाहयेत् = व्यतीत करें।

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति।। १५७।।

अन्वयार्थः— यः इति = जो जीव इस प्रकार। परिमुक्तसकलसावद्यः = सम्पूर्ण पाप–क्रियाओं से रहित होकर। षोडशयामान् = सोलह प्रहर। गमयति = व्यतीत करता है। तस्य = उसे। तदानीं = उस समय। नियतं = निश्चयपूर्वक। पूर्ण = सम्पूर्ण। अहिंसाव्रतं भवति = अहिंसाव्रत होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने अलौकिक सूत्र प्रदान किया है कि हमारे भावों की निर्मलता, परिणामों की विशुद्धि कैसे प्रादुर्भूत हो? अहो ज्ञानियो! तुमने जीवन में आज तक अनन्त पर्यायों में परिणामों को ही कलुषित रखा है। अब इस कलिकाल में भी अपने आप को नहीं सुधार पाये, तो आगे इससे भी काला काल आने वाला है, उसका नाम छठवाँ काल है। जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को कच्चा खायेगा, अग्नि नहीं होगी, नियम से नरक जायेगा। छठवें काल का जीव नियम से दुर्गति का पात्र होगा। आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव "नियमसार" जी में कह रहे हैं, यदि अपने परिणामों को नहीं समहाल पाये, अपनी आस्था का दीप नहीं जला पाये तो, भो चैतन्य आत्मा! अब बुझे दीप तेरे जलने वाले नहीं; यानि इन साढ़े अठारह हजार सालों में इस भरत क्षेत्र में तुम्हारे आस्था का दीप नहीं जल पाया, तो अब कहाँ जाओगे ? मनीषियो! निज चेतन पर करुणा करो, निज प्रभु पर करुणा करो। जहाँ आस्था तुम्हारी जन्म ले लेती है, वहाँ पाषाण में परमात्मा झलकना प्रारंभ हो जाता है। उस भील को देखना, जिसे मिट्टी में गुरु दिख गया, क्योंकि उसकी दृष्टि में गुरु उसकी श्रद्धा में बैठा था। अरे! श्रद्धा में गुरु नहीं है, तो तीर्थंकर आदिनाथ के समवसरण में पहुँचकर भी महामुनि तीर्थंकर भगवान् नजर नहीं आये, क्योंकि उसकी दृष्टि में मिथ्यात्व छाया था। अहो! वह कोई दूसरा नहीं था, नाती ही था। यह दृष्टि का खेल है। दृष्टि निर्मल है तो, मनीषियो! सर्वत्र आपको भगवान् नजर आते हैं और दृष्टि निर्मल नहीं है तो तीर्थों में भी घूम आयेगा, लेकिन तीर्थ नजर नहीं आयेगा। आचार्य योगीन्दुदेव ने 'योगसार' जी में लिखा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त आत्मा ही तीर्थ है।



रयणत्तय संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ८३(यो.सा.)।।

भो चेतन! ध्यान रखना, जो परिणति अंतरंग की हो, वही परिणति बाहर की रखना। मति व श्रुत ज्ञान के बल पर तूने विपरीत परिणमन कर लिया तो जिनदेव सामने नहीं हैं, जिनवाणी मूक है, गुरु ही हैं जो बोल रहे हैं। जिनवाणी माँ कह रही है– मेरे लालो! तेरी माँ ने तेरे पुद्गल को जन्म दिया है, पर मैंने तेरी प्रज्ञा को जन्म दिया है। तेरे माता–पिता ने तो तुझे यह रक्त व पीव से भरे मल–लिप्त शरीर को जन्म दिया है, पर मैंने तेरी भगवती आत्मा को दिखाने वाली प्रज्ञा को जन्म दिया है, और उस प्रज्ञा को प्राप्त करके कहीं तूने मेरी छाती पर पैर रख दिया तो? मनीषियो! सबके अपमान सहन कर लेना, पर माँ जिनवाणी का सम्मान मत मैटना। ध्यान रखना, कहीं भी पंचपरमेष्ठी भगवान् नहीं मिलेंगे, एक–मात्र जैन– शासन ऐसा है जिसमें अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को भगवान् की संज्ञा दी है। मनीषियो! भाग्य सुधार लो। भाग्य मानो, सौभाग्य मानो कि ऐसे कलिकाल में भी हमें भगवान् का रूप दृष्टिगोचर हो रहा है।

भो ज्ञानी! पंडित टोडरमल जी, दौलतराम जी, बनारसीदास जी जैसे विद्वान तो तड़फते–तड़फते चले गये, पर इन्हें गुरु के दर्शन नहीं हुये। इसलिए, जीवन में यदि वीतरागवाणी का संवेदन करना है, वीतराग वाणी के वास्तविक रूप को समझना है तो, भो ज्ञानी आत्माओ! पुनः दृष्टि डालना। एक मुमुक्षु जीव को पाषाण में परमेश्वर दिखता है। अज्ञानी ऊपर–ऊपर उछलता है, जबकि तत्त्व–ज्ञानी द्रव्यदृष्टि से देखता है कि, अहो! मुझे एक पत्ते में भी वही सिद्ध भगवान् नजर आते हैं। विश्वास रखना, चाहे आप मुनिराज बन जाना अथवा श्रावक बन जाना, यदि दृष्टि में साम्यता/निर्मलता नहीं लाओगे तो ये वेष भी तुम्हें मोक्ष नहीं दे पायेंगे।

भो ज्ञानी! द्रव्य चढ़ाने का मतलब लोभ कषाय का त्याग है। हमारे यहाँ तो भगवान खाते नहीं हैं, प्रसाद भी नहीं बँटता। लेकिन लोभ को समाप्त करने के लिए उत्कृष्ट द्रव्य को चढ़ाया जाता है और वह ही तुम बन्द करोगे क्या? दान देना, पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म है और यदि श्रावक नहीं करता है तो, भो ज्ञानी! तू श्रावक कहलाने का पात्र ही नहीं है। ध्यान करना, अध्ययन करना मुनि का मुख्य धर्म है। यदि ध्यान व अध्ययन मुनि नहीं करते तो वे मुनि कहलाने के पात्र नहीं हैं–ऐसा कुंदकुंद आचार्य महाराज ने "रयणसार" जी ग्रंथ में कहा है। हमारे आचार्यों ने किसी को नहीं छोड़ा है, दोनों को समझाया है। लेकिन दिक्कत यह है कि हम दूसरों को तो समझाते हैं परन्तु खुद नहीं समझते।

भो ज्ञानी! मोक्ष जाने के लिए कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं है, वह तो शुद्ध उपयोग की दशा है। सामान्यरूप से प्रत्येक सम्यक्दृष्टि मुमुक्षु हैं। जिस दिन सम्यक्त्व होता है, उसी दिन मोक्ष की दृष्टि होती है; पर संयम की अपेक्षा 'मुमुक्षु'–संज्ञा निर्ग्रंथ योगी को ही है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी और आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव कह रहे हैं कि चैतन्य चमत्कार का उद्भव तभी होगा, जब अन्तरंग से विषय वासना की गाँठ हट जायेगी। यदि वह नहीं हट रही, तो दुनियाँ के पुण्य–कर्म किसी रूप में कर लेना, लेकिन होंगे बंध के हेतु ही; छुड़ा नहीं पायेंगे। आचार्य अमतृचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि



जो व्यक्ति दान नहीं देता, पूजा नहीं करता, उपवास नहीं करता, वह महाहिंसक है। दान लोभ–कषाय के शमन के लिए दिया जा रहा है। पूजन की जाती है मिथ्यात्व एवं अशुभ भावों के शमन के लिए। भो ज्ञानी! परद्रव्य के प्राणों का घात करना द्रव्यहिंसा है, पर जो राग से युक्त है कषाय से युक्त हैं, वह अपनी आत्मा का अपनी आत्मा के द्वारा घात कर रहा है, यह कषाय ही आत्म–घात है। अहो! निज भावों का घात कर रहा है, इस कारण अमृतचन्द्र स्वामी ने लोभी को भी हिंसक कहा है, क्योंकि तूने पर–द्रव्य का राग छोड़ा, सोलह प्रहर तक तूने भोजन–सम्बंधी जो आरंभ–समारंभ उसका त्याग किया और जो तेरी गृद्धता थी उसका भी शमन किया, यह सब तूने पापों का त्याग करके व्रत का पालन किया है। इसलिए, उपवास करना अहिंसा है और उपवास नहीं करना हिंसा है।

भो ज्ञानी! बिना राग के तुम भोजन कर कैसे रहे हो? यह मायाचारी मत कर देना कि पुद्गल ने पुद्गल को खाया। भो मुमुक्षु आत्माओ! मेरी राग दृष्टि ने पुद्गल को चबाया है, यानि पाप भी कर रहा है और साथ में मायाचारी भी कर रहा है। विधि से उपवास की विधि को समझो, एक दिन पहले के मध्याह्न भोजन के बाद आपको उपवास धारण कर लेना चाहिए, वह धारणा कहलाती है और इस आधा दिन पहले आपको पाँच पापों का त्याग कर देना चाहिए। फिर जिस दिन उपवास करेंगे, उस दिन धर्म ध्यान में समय निकलेंगे। यहाँ द्वितीय दिवस, द्वितीय रात्रि (यानि जिस दिन उपवास कर रहे हैं उसकी बात कर रहे हैं) प्रयत्नपूर्वक किसी प्रकार का पाप न करें। यत्नाचारपूर्वक बैठें, चलें, किसी जीव का वध न हो। वास्तव में हमें लगना चाहिए कि आज उपवास किया है, आप बहुत उपवास करते हो, लेकिन विधि के अभाव में आप कर्म–निर्जरा नहीं कर पाते। और आप तीसरे दिन प्रातः काल की सामायिक करेंगे। दैनिक क्रिया के बाद भगवान् की पूजा करेंगे, फिर सामायिक के बाद आपका भोजन होगा। यह विधि है पारणा की।

भो चेतन! पात्र को दान दिये बिना यदि उपवासधारी भोजन करता है, तो उसका उपवास अधूरा है। भले आपको मुनिराज नहीं मिले, पिच्छीधारी नहीं मिले, तो कोई श्रावक को लिवा ले जाओ। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 'अष्टपाहुड' और 'रयणसार' ग्रंथ में लिख रहे हैं कि पंचमकाल में जिस व्यक्ति को सच्चा श्रावक और साधु नहीं दिखें, बस अब मिथ्यादृष्टि की खोज करने नहीं जाना। उसका हाथ पकड़ लेना कि मिथ्यादृष्टि तू ही है। 'तत्त्वसार' में भी यह गाथा आई है। इन तीन ग्रंथों को देख लेना। जो पंचमकाल के वर्तमान में सच्चे साधुओं और सच्चे श्रावकों को नहीं मानता है उन्हें स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि वह मिथ्यादृष्टि है। इसलिए तीसरे दिन यह नहीं होगा कि, महाराजश्री! सिर दर्द कर रहा है। आश्चर्य है कि उपवास कर लिया, परंतु चाय नहीं छोड़ पा रहा है। कम से कम तुम उकाली ले लेते। अतः तीसरे दिवस भी एक समय ही भोजन करेगा। वह दिन भी धर्म–ध्यान में निकालेगा। ऐसे ही साधना के संस्कार बनेंगे सम्पूर्ण सावद्य को छोड़कर। अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि श्रावक के पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन कर लिया करो अष्टमी और चतुर्दशी को।





महाव्रतों-में-वास उपवास है

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम्।
भोगोपभोगविरहाद् भवति न लेशोऽपि हिंसायाः।।१५८।।

अन्वयार्थः किल अमीषाम् = निश्चयकर इन देशव्रती श्रावकों के। भोगोपभोगहेतोः= भोगोपभोग के हेतु से। स्थावरहिंसा = स्थावर जीवों की हिंसा। भवेत् = होती है, (किन्तु) भोगोपभोगविरहात् = भोगोपभोग के त्याग से। हिंसायाः लेशोऽपि =हिंसा का लेश भी। न भवति = नहीं होता।

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहितः स्त्येम्।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेप्यमूर्च्छस्य।। १५९।।

अन्वयार्थः--वाग्गुप्तेः= (उपवासधारी पुरुष के) वचनगुप्ति के होने से। अनृतं नास्ति =झूठ वचन नहीं है। समस्तादानविरहतः = सम्पूर्ण अदत्तादान के त्याग से। स्तेयम् न = चोरी नहीं है। मैथुनमुचः = मैथुन को छोड़ देने वाले के। अब्रह्म न अङ्गे = अब्रह्म नहीं है और शरीर में। अमूर्च्छस्य = निर्ममत्व के होने से। सङ्ग अपि न = परिग्रह भी नहीं है।

इत्थमशेषितहिंसाः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लमते तु न संयमस्थानम्।। १६०।।

अन्वयार्थः--इत्थम् = इस प्रकार। अशेषितहिंसाः = सम्पूर्ण हिंसाओं से रहित। सः = वह प्रोषधोपवास करने वाला पुरुष। उपचारात् = उपचार से या व्यवहार नय से। महाव्रतित्वं प्रयाति = महाव्रतीपने को प्राप्त होता हैं। तु चरित्रमोहे = परन्तु चारित्र मोह के उदयरूप होने के कारण। संयमस्थानम् = संयम के स्थान को अर्थात् प्रमत्तादिगुणस्थान को। न लभते = नहीं पाता।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने अपूर्व सूत्र दिया है कि सम्पूर्ण विकारों का जनक असन है। असन दृष्टि ही वासना दृष्टि है। मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, आहार शुद्धि ये चारों तेरे पास हैं, लेकिन जिसका व्यापार शुद्ध नहीं, उसका व्यवहार कैसा? उसका भोजन कैसा? अरे! भोजन की शुद्धि नहीं अर्थात् असन शुद्ध नहीं तो वसन शुद्ध कैसा? जिसके घर में बर्तन ही शुद्ध नहीं हैं, उसकी भाव शुद्धि कैसी? जैनदर्शन में ऊपरी शुद्धि की चर्चा नहीं की है, अपितु वाह्य शुद्धि के साथ-साथ अन्तरंग शुद्धि की भी चर्चा की है। शुद्ध सोने की अपेक्षा कृत्रिम सोने में चमक ज्यादा आ सकती है। अतः, आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि मोक्षमार्ग कृत्रिम मार्ग नहीं है, भूतार्थ मार्ग है, सोलह-ताव का शुद्ध सोना है। आचार्य योगीन्दु देव 'परमात्म-प्रकाश' ग्रंथ में लिख रहे हैं--मो



चेतन! जो तेरा स्वभाव है, वह तू कभी कह नहीं पायेगा। इस कषाय के कारण तू जीवन में कसा जा रहा है और उसी परिणति में आज तू सन्तुष्ट हो गया। यानि व्यवहार में तू सन्तोष धारण कर रहा है, ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा को क्रोधी-आत्मा कहने में तुझे पाप नहीं लग रहा है?

भो ज्ञानी! जिनवाणी में कहा है कि देव का अवर्णवाद करने से दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव होता है। 'योगसार' ग्रंथ कह रहा है कि इस देहदेवालय में आत्मदेव विराजा है। इन कागजों के पृष्ठों को यदि कहीं हमने जमीन पर रख दिया तो वीतराग जिनेन्द्र की वाणी (द्रव्यश्रुत) का अवर्णवाद है।कोई जीव ध्यान में लीन है, यदि उसकी तूने अवहेलना कर दी तो भावश्रुत का अवर्णवाद कर दिया। एक छोटा सा शिशु भी तोतली आवाज में 'णमो अरिहंताणं' बोले तो तुम सिर झुका लेना। क्योंकि उसके भाव अरहंत की वन्दना के हैं, उसकी वाणी अरहंत की वन्दना कर रही है और उसकी काया अरहंत की वन्दना कर रही है। जो अरहंत की वन्दना कर रहा है, वह स्वयं वंदनीय हो चुका है। जीवन में ध्यान रखना कि पुण्यात्मा जीव के भावों में अरहंत वन्दना उत्पन्न होती है और पुण्यात्मा जीव का शरीर अरहंत वन्दना करता है। यदि अशुभ कर्म के योग में मिथ्यात्व की वंदना होती है तो असंयम की वन्दना होती है और जब अरिहंत वन्दना के भाव आते हैं तो अन्दर की क्रन्दना दूर होती है, अर्थात् संक्लेषता की हानि होती है।

भो ज्ञानी! कभी-कभी पुण्य-द्रव्य इकट्ठा होकर पापरूप में फलित होता है। परिणाम देखना, एक तिर्यंच स्वर्ग मे देव हो रहा है और एक तिर्यंच नरक जा रहा है। तिर्यंच ने संक्लेश- भाव से मरण किया, अतः नरक गया। इसीलिए गतिबंधक, गति दाता/प्रदाता कोई नहीं है। गतिमान-मन ही गतिदाता है और गतिमान-मन ही गतिप्रदाता है। गतिमान-मन ही नरक देता है, गतिमान-मन ही निगोद देता है। इसीलिए मन को मना ले तो तू भगवान् बन जाये। यदि खोटा मन मचल गया तो वही अधोगति में ले जाता है। एकान्त में बैठकर यदि आपके किसी के प्रति गलत विचार हो गये तो पता नहीं वो विचार कहाँ तक चले जाएँ और कहाँ तक नीचे ले जायें ? यदि वे ही विचार उत्कृष्ट हो जायें तो सिद्ध भगवान् दिखा देते हैं। अतः खोटे मन को मित्र बना लेना कि तुम मेरा सहयोग करो, मुझे नीचे मत ले जाओ।

भो ज्ञानी! पूर्णमासी के चन्द्र की तरह शुद्ध-उपयोग की परमदशा है। जहाँ चारित्र में इतनी निर्मलता आती है, वही ज्ञानघन अखण्ड आत्मा उस चन्द्रमा से भी पवित्र है। अहो चाँद! तू चमकता अवश्य है, पर तेरे मध्य में कलंक का टीका है। किंतु चेतन-चंद्र में जीने वालों के चारित्र की चाँदनी में कोई दोष नहीं हो सकता। यदि चारित्र की चाँदनी में दोष है तो उसमें चैतन्य पिंड आत्मा झलकता नहीं है। अल्पदोष भी संयम की निर्दोषता को समाप्त कर देते हैं और जहाँ संयम ही नहीं होता है, वहाँ आत्मदर्शन कैसे हो सकता है? अर्थात् दोषों (असंयम) के पिंड में निर्दोष चैतन्य आत्मा नहीं झलकता।

भो चेतन! अन्तरात्मा, बहिरात्मा, परमात्मा ये तीनों चैतन्य-रस का ही परिणमन है, लेकिन तीनों के स्वाद में अन्तर है। कभी एक दाढ़ के नीचे दबाना मिश्री, दूसरी दाढ़ के नीचे दबाना गुड़ तथा जीभ पर रख लेना खांड/शक्कर। अब बताना कि स्वाद कैसा आ रहा है? देखो, एक साथ तो आप बता नहीं पाओगे, अलग-अलग जीभ फेरना पड़ेगी। भो ज्ञानी! समझ लो। जिसकी जीभ घूम रही है, उसको भी घूमना है, और जिनकी जीभ स्थिर हो गई, उनका संसार अब स्थिर होने वाला है।



इस जीभ ने ही तो सबके काम बिगाड़े हैं। यदि यह जीभ वचन रूप से खिर जाये अर्थात् कान का विषय बन जाये, तो महाभारत करा देती है और यह जीभ यदि भोजन पर फिर जायें, तो सुन्दर पकवानों को मल बना देती है। जिसने बहिरात्मा का अनादि से स्वाद लिया हो, उसे अन्तरात्म भाव झलकता ही नहीं है। जैसे गुड़ को अन्य रसायन डालकर शुद्ध किया, तो पीत वर्ण की खाँड बन गया। उसी रस से समझ में आ रहा है कि स्वाद कुछ और भी है। जैसे ही वह पीला वर्ण गया कि शुद्ध मिश्री बन गई और डली के रूप में आ गई। यह है परमात्मदशा।

भो ज्ञानी! जिसने दो को नहीं जाना, वह तीसरे को प्रकट नहीं कर पायेगा और हम यही भूल कर रहे हैं कि पहली अवस्था में वह तीसरी को देख रहे हैं। यद्यपि पहली अवस्था में तीसरे की जानकारी रखना तो परम आवश्यक है, परंतु पहली अवस्था को तीसरी अवस्था मान लेना ही परम भूल है। अहो! ध्यान की ज्वाला पर आत्मा जब तक नहीं रखी जाती, तब तक हिंसात्मक–भाव नहीं मिटेगा, परंतु धर्मध्यान होने पर मिट जायेगा। लेकिन अज्ञानता यह चल रही है कि परमात्म– भाव और अन्तरात्मभाव का उदय हुआ नहीं, फिर भी बहिरात्मभाव में ही हम अपने आपको भगवान् मानना प्रारम्भ कर देते हैं। भो ज्ञानी! जहाँ प्रक्रिया बिगड़ी, वहाँ सब किरकिरा हो गया। अतः, पहले ये देखो कि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और श्रद्धा का रस टपक रहा है कि नहीं टपक रहा है? यदि कहीं अश्रद्धा का कीट बैठ गया, तो निगोद जाना पड़ेगा। अतः, मिथ्यात्व के कीट को हटा देना। अहो! इस पुद्गल से तूने भोग भोग लिया तो रोना–ही–रोना है और इस पुद्गल को निर्ग्रंथ बना दिया तो आनन्द ही आनन्द है। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि तीनों अवस्थाओं को समझ लो, तो परमात्मा बन जाओगे। भो ज्ञानी! यदि मुनि बनोगे तो वृत्ति–परिसंख्यान का नियम करना पड़ता है। अतः, उसका अभ्यास कर लो और भोगों का परिमाण कर लो। यह नहीं हो सके तो कम से कम जब रसोई घर में जाओ, तब मौन ले लेना। जो पहली बार परोसा गया, उतना ही लेना और बिल्कुल शान्त भाव से पानी पीकर चले आना। फिर देखना आज का दिन कैसा निकलता है? जब आज का दिन अच्छे से निकल जाये तो फिर तनिक और बढ़ा देना। ऐसा नहीं सोचना कि कल कर लिया, वह बहुत हो गया। यह तुम्हारे भोगो परि भोगपरिमाण–व्रत चल रहा है।

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः।। ८३। र.क.श्रा.।।

जो एक बार भोगा जाये, वह भोग कहलाता है और जो बार–बार भोगा जाये, वह उपभोग कहलाता है। यह भोगोपयोग परिमाण शिक्षाव्रत है। यदि जीव को साधु बनना है तो पहले शिक्षाव्रत का पालन करना अनिवार्य है। क्योंकि यहाँ से तुम्हारी गृद्धता कम होगी। ऐसा नियम लेकर दूसरे के घर में भोजन करने जाना।यदि ऐसे सज्जन फँस जायें जो पूछ–पूछ कर दें अथवा दस आदमी सामने बैठ जायें तो शर्म के मारे तुम हाथ धोकर बैठ जाओगे। अब सोचना, साधु का आहार करना ही तपस्या करना हो जाता है। भीड़ लगी हो और सब देख रहे हों, इसके बाद भी कोई कह रहा है तो भी यह नहीं लेते। "पराधीन मुनिवर की चर्या, पर घर जायें, माँगत कछु नाहीं।"

भो चेतन! आज अभ्यास जरूर करना, फिर देखना कि यदि आपने शांति से कर लिया तो घर



के लोग तुम्हारे ऊपर दूनी श्रद्धा करेंगे। बस, फिर आपको अनुभव हो जायेगा कि बाह्य--संयम की क्या महिमा है? लेकिन आप मौन रहना, कुछ माँगना नहीं। मौन सब इन्द्रियों को वशीकरण करने का उपाय है। यह गृद्धता को वशीकरण करने का उपाय है। अहो! रोटियों के टुकड़े के पीछे दीनता प्रकट मत करना। श्रावक के व्रतों को पालन करने वाले को आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी व समंतभद्र स्वामी ने महाव्रती सदृश कहा है। ध्यान रखना, पाषाण के भगवान् की आराधना भी उतना ही फल देती है जितनी साक्षात् परमात्मा की आराधना फलती है, ऐसा आचार्य पद्मनंदी स्वामी ने **"पद्मनंदी पंचविंशतिका"** में कथन किया हैं। अहो! पंचमकाल के मुनियों में तुम चतुर्थ काल को निहारो, तुम्हें वही पुण्य मिलेगा जो चतुर्थकाल के मुनियों की वन्दना में मिलता है। पर इतना ध्यान रखना कि अपने मन को खट्टा नहीं करना, क्योंकि खट्ठे मनों से कभी भगवान् नहीं बन सकते। एक साँप डाल रहा है और एक साँप निकाल रहा हैतो भी वह कह रहे हैं, अहो! यह भी भटकता भगवान् है, कभी निर्दोष हो जायेगा। देखो यशोधर मुनिराज का उदाहरण। संत हृदय वही होता है, जो शत्रु व मित्र दोनों को समान आशीष देता है। जैन संत किसी को श्राप नहीं देते, वरदान नहीं देते, मात्र आर्शीवाद देते हैं। यदि वरदान देंगे तो राग, श्राप देंगे तो द्वेष और आशीर्वाद देंगे तो हितोपदेश।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि जब तुमने भोगों का परिमाण कर लिया, जैसे आज आपने नियम ले लिया कि मैं एक बार भोजन करूँगा, तो एक बार भोजन में तो हिंसा होगी, पर दूसरे बार की हिंसा बच जायेगी। देखो, आपके अन्दर कितनी करुणा रहती है? कम खाने से काम चल जाता है तो कम ही खाया करो। भोगोपभोग--परिमाण व्रत में त्रसहिंसा का त्याग तो देशव्रती के होता ही है, लेकिन जो स्थावर हिंसा चल रही थी, उसमें भी परिमाण कर लो। यदि उपवास किया तो पूरे पाप छूट गये और उपवास नहीं किया, मात्र परिमाण किया तो एक बार में बनाने वाले भोजन की तज्जन्य हिंसा बच गई। आप मर्मभेदी शब्द किसी से मत कहना, क्योंकि हिंसा का दोष लगेगा। उस समय मौन ले लिया करो। कम से कम मंदिर में मौन रखा करो कि तत्त्व चर्चा के अलावा अन्य कोई चर्चा नहीं करेंगे अर्थात् राग--द्वेष की चर्चा नहीं करेंगे। अतः हिंसा चली गई और असत्य भी गया। सम्पूर्ण पदार्थों के ग्रहण करने का उसने त्याग कर दिया है, इसीलिए उसकी चोरी भी चली गई। जिसने उपवास किये हैं, वह अब्रह्म का सेवन कैसे करेगा? उसका मैथुन का त्याग हो गया तो कुशील भी गया। अतः, आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि जिसको शरीर से ममत्व नहीं होता, वही उपवास कर पाता है।



न करो भक्षण अभक्ष्य का

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ।।१६१।।

अन्वयार्थ : विरताविरतस्य = देशव्रती श्रावक के। भोगापभोगमूला = भोग और उपभोग के निमित्त से होने वाली। हिंसा = हिंसा होती है। अन्यतः न = अन्य प्रकार से नहीं होती। (अतएव) तौ अपि = वे दोनों अर्थात् भोग और उपभोग भी। वस्तुतत्त्वं अपि स्वशक्तिम् = वस्तुस्वरूप को भी अपनी शक्ति को। अधिगम्य = जानकर अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार। त्याज्यौ =छोड़ने योग्य हैं।

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्।।१६२।।

अन्वयार्थः ततः = क्योंकि। एकम् अपि = एक साधारण देह को अर्थात् कन्दमूलादि को भी। प्रजिघांसुः= घातने की इच्छा करने वाला पुरुष। अनन्तानि निहन्ति = अनन्त जीव मारता है।अतः अशेषाणां = अतएव सम्पूर्ण ही। अनन्तकायानाम् = अनन्तकाय का। परिहरणम् अवश्यं करणीयम् = परित्याग अवश्य ही करना चाहिए।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित्।।१६३।।

अन्वयार्थः च प्रभूतजीवानाम् योनिस्थानं = और बहुत जीवों का उत्पत्ति–स्थानरूप। नवनीतं त्याज्यं =मक्खन त्याग करने योग्य है। वा पिण्डशुद्धौ = अथवा आहार की शुद्धता में। यत्किञ्चित् = जो थोड़ा भी। विरुद्धम् अभिधीयते = विरुद्ध कहा जाता है। तत् अपि = वह भी त्याग करने योग्य है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! भगवान् अमृतचंद्रस्वामी ने अलौकिक सूत्र प्रदान किया है कि जीवन में यदि अमूर्तिक समरसी भाव का आनंद लूटना है, तो मूर्तिक विषयों की अनुभूति का विसर्जन करना होगा। मनीषियो! पौद्गलिक पिण्डों में आत्मानंद कहाँ और आत्मानंदी को पौद्गलिक पिण्डों की अनुभूति कहाँ? वह ग्रीष्म– काल में शीत–काल और शीत–काल में ग्रीष्म–काल की अनुभूति करना चाहता है। स्वात्मानुभव शीतल अनुभूति है। भोगों की ज्वाला ग्रीष्मकाल की तपती दोपहरी है।

भो ज्ञानी! मोक्ष आस्रव से नहीं, मोक्ष तो संवर से होगा और संवर तभी होगा, जब इच्छाओं का निरोध होगा। जिसकी इच्छाएँ असीम है, उनका संसार असीम हैं। जिनकी इच्छाओं की सीमाएँ हैं, उनके संसार की सीमाएं भी हैं। बस, समझना अपने परिणामों से कि मेरी इच्छाएँ कितनी हो चुकी



हैं। यदि इच्छाएँ सूख गई हैं, तो संसार सूख जाएगा। भो चेतन! प्रभु शीतलनाथ स्वामी के चरणों में बैठकर भी ऊपर चक्र चल रहा है और नीचे प्रवचन चल रहा है। एक ओर समयचक्र अर्थात् काल चक्र है तो दूसरी ओर कर्मचक्र है। भगवान् के चरणों में, पंखा लगाकर, ध्यान कर रहे हो, अब सोचना वायुकायिक की हिंसा हो रही है या नहीं? अब कई जगह मन्दिर में कूलर भी हो गये हैं, जिनसे त्रसजीवों का घात किया जा रहा है और "मैं तो चिद्रूप हूँ" कह रहा है। तू चिद्रूप है, पर अनंत सिद्धों के रूप का भी तुम घात मत करो। वह पूजा–पाठ का साधन नहीं है। अहो सुखियो! विद्यार्थी को सुख नहीं मिलता और सुखार्थी को कभी विद्या नहीं मिलती। भगवान् शीतलनाथ स्वामी के सुख तो निराबाध, अव्याबाध हैं। इनके सुख बाधा से मुक्त हैं, निर्बाध हैं। इसलिए ऐसे सुख की बात करो, जिसके बाद दुःख का लेश न हो। लेकिन मिलेगा तभी, जब वर्तमान के सुखों का स्वेच्छा से पलायन होगा। मालूम चला कि दाँत में कीड़ा लग गया तो वैद्य ने कहा– मीठा खाना छोड़ दो, नहीं तो दाँत निकालना पड़ेगा। चलो भैया, नहीं खाएँगे। अहो त्यागी! दाँत के लोभ में छोड़ा है, इच्छा का निरोध नहीं किया है। अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि उपवास के दिन तो आपने भोग व उपभोग छोड़ दिये थे, इसलिए अहिंसा व्रत आपके साथ था और आप महाव्रती के तुल्य थे।

भो ज्ञानी! किसी व्यक्ति को रामलीला का राम बनाया जाए तो वह सोचता है कि देखो मैं राम बना हूँ। जब नाटक के राम बनना इतना आनंद लाता है कि मैं राम हूँ तो, भो चेतन आत्माओ! कौशल्या के राम को कितना आनन्द होगा? महाव्रती को कितना आनंद होगा? पंडित दौलतराम जी से पूछ लो– "यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ आनंद जो लह्यो।" निज में लीन योगी को आचार्य योगीन्दुदेव 'परमात्मप्रकाश' में लिख रहे हैं कि करोड़ों देवांगनाओं के उपभोग में जो सुख देवों को नहीं है, वह सुख क्षणार्ध में एक निर्ग्रंथ योगी को है। युक्ति मत समझना, अनुभव करके देखना। इतने सारे लोग, फिर भी शांत बैठे हो। हकीकत बताऊँ–आप प्रवचन का आनंद नहीं लेते, आप वास्तव में यहाँ शांति का आनंद ले रहे हो। दिन में एक क्षण भी शांति का अनुभव हो जाए, तो दिन मंगलमय होता है। चौबीस घंटे में एक मिनिट भी ध्यान लग जाए तो इतनी ऊर्जा मिलेगी कि तुम दिनभर फूल जैसे महकोगे। आप एक घंटा सामायिक करना, जैसी होती है वैसी, फिर आप वेदन करोगे कि मुझे कुछ मिला है। जब मन सामायिक में होगा, उस समय भोजन में नहीं होगा, व्यसन में भी नहीं होगा, बस्ती में भी नहीं होगा। भो ज्ञानी! निज की बस्ती में, निज की मस्ती में जो लीनता होगी, उसका नाम सामायिक होगा। परंतु तुम पुद्गलों की मस्ती में झूल रहे हो। भौतिकता में जीने वाली आत्माओ! पुराने भवन को नवीन बना लेते हो, पर तेरा पुराने चर्म का खण्डहर बनने पर पुनः यह युवा का भवन नहीं बनेगा। भो ज्ञानी ! यह पुण्य के फूल खिले हैं जब मुरझा जायेंगे तब तुम्हें कोई दो कौड़ी को नहीं पूछेगा।

एक घटना छतरपुर की है। तालाब के किनारे राजमहल, उस महल के आगे "डेरा पहाड़ी" तीर्थ है। वहाँ से जब जा रहा था तब कुछ नवयुवक कहने लगे–महाराजश्री! देखो जिस भवन में सम्राट राज्य करता था, वह आज कटोरा लिए एक भोजन की दुकान के नीचे खड़ा कह रहा है कि एक जलेबी डाल दो। ओहो! जिसने पूरे देश को जलेबी खिलायी हो, छतरपुर नरेश छत्रसाल के वंशज उस व्यक्ति को आज कोई दो कौड़ी का नहीं पूछ रहा है। तब लगा, ओहो! संसार में सबसे बड़ा



धोखेबाज कोई है तो वह पुण्य है। इसलिए पुण्य तो करना, लेकिन पुण्य के फल में मस्त मत हो जाना। सातवें नरक में वही जीव जाता है जो सिद्धालय जाने की शक्ति रखता है। पुण्य–प्रकृति का जो दुरुपयोग कर लेता है, वह नरक का अधिकारी बन जाता है। इसलिए, दृष्टि तुम्हारे पास है, वस्तु तुम्हारे पास है, अब भी भूल को नहीं भूल पाये तो भगवान् बनना तो बहुत दूर है, इंसान भी नहीं बन पाओगे। भूल सुधार लो, अमृतचंद्र स्वामी की बात को मान लो। मौका है, अभी सम्हल जाओ। यह पुण्य का योग चल रहा है।

ऐसे जो द्रव्य भले ही भक्ष्य हों, उनका भी आपको परिमाण कर लेना चाहिए। यदि एक दाल, एक शाक, रोटी से काम चल रहा है तो जीने के लिए बहुत सारे पदार्थ खाने की कोई आवश्यकता नहीं। ध्यान से समझना–जीवन में जीने के लिए बहुत कुछ नहीं खाना पड़ता। पर इन्द्रिय की लोलुपता के पीछे पता नहीं तुम कितना खाते हो? कम खाओगे, तो शुद्ध खाने को मिलेगा। जितना ज्यादा खाओगे, उतना ही अशुद्ध मिलेगा। भो ज्ञानी! जीवन में ध्यान रखना, आपने धर्म तो बहुत किए हैं। जाप, अनुष्ठान, स्वाध्याय कर लिया, पर वास्तव में तुम्हें भक्ष्य–अभक्ष्य का विवेक नहीं है, हेय–उपादेय का ज्ञान नहीं है। जिसे आपा–पर का भेद–विज्ञान हो जाये, वह दूसरे की लाशों को खायेगा क्यों? आप जीव नहीं खाते, आप लाशें खाते हो; क्योंकि रात में दूध–पानी चल रहा है। जिन–जिन जीवों ने पंच–परमेष्ठी की अवहेलना की, भक्ष्य–अभक्ष्य का विवेक नहीं रखा, धर्म क्षेत्र में आकर मायाचारी की, वे ऐसी तिर्यंच पर्याय को प्राप्त हुए कि एक साँस में अठारह बार मरना पड़ा। क्या जीवन है? देखो! वे ही जीव टपक रहे हैं बेचारे, जिन्होंने भोगों की रोशनी में आत्मा के योग को नष्ट किया था, तो वे आज लाईट में झुलस रहे हैं। एक वाहन चला जाये, तो लाखों चले गये, करोड़ों चले गये। उस पर्याय पर भी ध्यान रख लिया करो कि, हे भगवन्! कहीं मेरी ये पर्याय न हो जाये। जिसने दुर्गति का बंध कर लिया, उस जीव के लिए जैसा जनम–मरण होना है, उसे जिनेन्द्रदेव भी नहीं बचा पायेंगे।

भो ज्ञानी! एक दिन की घटना है, छिपकली जा रही थी। बल्ब जल रहा है और पतंगा भी आ गया। छिपकली को भगाया जा रहा है और पतंगा दौड़–दौड़कर छिपकली के मुँह की ओर आ रहा है। एक बार दोनों को अलग कर दिया, लेकिन दशा देखो इस जीव की कि पुनः घूम–घाम कर आ ही गया और छिपकली ने उसको पकड़ ही लिया। अहो ज्ञानियो! दीपक नहीं, बल्ब जल रहा था और कीड़े गिर रहे थे और आप 'समयसार' पढ़ रहे थे और छिपकलियाँ खा रही थीं। भो ज्ञानी! तू शुद्धात्मा की बात कर रहा था, या कि हिंसा कर रहा था? ऐसे काल में वह दीपक बंद करके और आँख बंदकर तू ध्यान कर लेता, माला फेर लेता तो वह ज्यादा श्रेष्ठ होता। सोचो कि जिनवाणी पढ़ना उत्तम है या हिंसा? दोनों उत्तम नहीं है। जीव की रक्षा करना उत्तम है। यह किसी से मत कह देना कि कहाँ तुम यह सोले–मोले के ढोंग में हो? इतनी देर शास्त्र पढ़ लेते तो परिणाम अच्छे हो जाते। भो ज्ञानी! शास्त्र का फल है–शुद्ध आहार, शुद्ध विहार और गृहस्थों के लिए शुद्ध व्यापार। क्या इतना नहीं सीख पाए? यहाँ आप जिनालय में आकर स्वाध्याय करना और दुकान पर जाकर चालीस के चार सौ करना। थोड़ी ईमानदारी भी बरतो, परिणाम में ऋजुता भी लाओ। अपनी शक्ति के अनुसार भोगोपभोग में भी अब प्रमाण कर लेना। गाजर, मूली, कंदमूल, अदरक खाने वाली भगवान् आत्माओ!



ध्यान से सुनना। वह मगरमच्छ छोटी–छोटी मछलियों को दाँत में फँसाये रहता है, ऐसे ही जिनके मुख में बाजार की जलेबी रखी हो और कंद रखे हों और फिर माइक्रोस्कोप से देखना। जैसे घड़ियाल के दाँतो पर एक–एक मछली फँसी है, ऐसे इनके दाँतो में एक–एक जीव फँसे हैं, चबा रहे हैं और कहते जा रहे है "मैं तो त्रैकालिक शुद्ध हूँ " और सब त्रैकालिक की लाश को खा गये। सोचना, फिर भी ग्लानी नहीं आ रही। रात्रि में दूध, पेड़ा, मलाई खा रहे हैं, झींगुर और चींटा इन सबकी टाँगे चबा रहे हैं, फिर भी धीरे से कह देते है कि हम तो श्रावक हैं। भो ज्ञानी! यदि इतना नहीं छोड़ पा रहा, तो वह श्रावक कहलाने का पात्र नहीं है। सामूहिक शादी–विवाह में भोजन करने जा रहे हो? भैया! उसकी भट्टियाँ रात्रि में जलती हैं। दिन में खिला भी दिया, पर रात्रि में तो सब बनाया है। इसीलिए, सामूहिक भोज करने वाले! अपने आप को मत कह देना कि मैंने रात्रि में भोजन छोड़ दिया है। मूलाचार में सोंठ, पीपल इनको औषधि कहा है। वह काष्ठ वनस्पति है सुखाने पर रेशे निकलते हैं। वनस्पति के दो भेद किये–काष्ठ और कन्द। काष्ठ भक्ष्य है, कन्द अभक्ष्य है, ऐसा "मूलाचार"जी में लिखा है। तो सूखी सोंठ, सूखी हल्दी भक्ष्य है, पर गीली सोंठ और गीली हल्दी दोनों को आगम में अभक्ष्य ही कहा है। कुछ वनस्पतियाँ मूल में अभक्ष्य होती हैं, मध्य में भक्ष्य हो जाती है और कुछ वनस्पतियाँ मध्य में अभक्ष्य हो जाती हैं। इस प्रकरण को समझना हो तो "गोम्मटसार (जीयकाण्ड)" और "मूलाचार " में इसका विशेष कथन किया है।

भो मनीषी! आजकल परम्परा प्रारंभ हो गई है कि घी नहीं खायेंगे, पर मक्खन जरूर खायेंगे। लेकिन ध्यान रखो, मक्खन अभक्ष्य ही होता है और जिस व्यक्ति ने आठ दिन की मलाई रखकर, आठवें दिन उसको गरम करके घी निकाल लिया और कह रहे, महाराज! शुद्ध सोला का है। मर्यादा चौबीस घंटे की थी और आपने मलाई आठ–आठ दिन की निकाली। सुनो! सूखा खा लेना, सूखा खिला देना, लेकिन जीवों के निचोड़ को शुद्ध कहकर किसी व्यक्ति को ठगना मत। आगम कहता है कि अठपहरा होना चाहिए। सुनो! शुद्ध तेल निकलवा कर खा लेना, परंतु ऐसे घी का उपयोग नहीं करना। बताओ! तुम शुद्ध घी व दूध तो खा/पी नहीं पा रहे, शुद्ध आत्मा को कैसे निहारोगे?



करो सीमा में भी सीमा

अविरुद्धा अपि भोगाः निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया।।१६४।।

अन्वयार्थ : धीमता निजशक्तिम् = बुद्धिमान पुरुष के लिये अपनी शक्ति को। अपेक्ष्य = देखकर। अविरुद्धाः= अविरुद्ध। भोगा अपि = भोग भी। त्याज्याः = त्याग देने योग्य हैं। और यदि अत्याज्येषु = उचित भोगोपभोगों का त्याग न हो सके तो उनमें। अपि एकदिवानिशोपभोग्यतया = भी एक दिनरात की उपभोग्यता से। सीमा कार्या = मर्यादा करनी चाहिये।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या।। १६५।।

अन्वयार्थ : पूर्वकृतायां सीमनि पुनः अपि = प्रथम की हुई सीमा में फिर भी। तात्कालिकीं =उसी समय की अर्थात् विद्यमान समय की। निजां शक्तिम् समीक्ष्य = अपनी शक्ति को विचार करके।
प्रतिदिवसं = प्रतिदिन। अन्तरसीमा = अन्तरसीमा अर्थात् सीमा में भी थोड़ी सीमा। कर्तव्या भवति = करने योग्य है।

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात्।। १६६।।

अन्वयार्थ : यः इति परिमितभोगैः = जो गृहस्थ, इस प्रकार मर्यादारूप भोगों से। सन्तुष्टः बहुतरान् = सन्तुष्ट होकर अधिकतर। भोगान् त्यजति = भोगों को छोड़ देता है। तस्य बहुतरहिंसाविरहात् = उसका बहुत हिंसा के त्याग से। विशिष्टा अहिंसा स्यात् = उत्तम अहिंसाव्रत होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! भगवान् बनना है तो भगवत्ता की प्राप्ति के उपाय को समझना होगा। जब तक आपके अन्तरंग में वीतरागता के प्रति श्रद्धान नहीं है, वीतरागता का ज्ञान नही हैं और वीतरागता की प्राप्ति के उपाय का संयम नहीं है, तब तक भगवान बनना असम्भव है। राग के सद्भाव में वीतरागता का उद्भव नहीं होता। जिस तरह ऊसर भूमि में कभी बीज अंकुरित नहीं होता, उसी तरह असंयम भाव में वीतरागता का उद्भव सम्भव नहीं। जहाँ भक्ष्य–अभक्ष्य का विवेक नहीं, ग्राह्य–अग्राह्य का विवेक नहीं, हेय–उपादेय का विवेक नहीं। भो ज्ञानी! वहाँ आपा–पर का भेद–विज्ञान सम्भव नहीं है। कुंदकुंद स्वामी 'चारित्रपाहुड' में कह रहे हैं–जब तक तेरे जीवन में सप्त व्यसन और अभक्ष्य का त्याग नहीं है, तब तक सम्यकत्वाचरण–चारित्र नहीं है, संयमाचरण नहीं है और स्वरूपाचरण भी नहीं है। जीव



जिस पर्याय में पहुँच जाता है, वह उसी पर्याय में रमण करने लगता है और सोचता है कि मेरा जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है। "इष्टोपदेश" ग्रंथ में पूज्यपाद स्वामी लिख रहे हैं– एक अखण्ड' शुद्ध द्रव्य आत्मदशा में लवलीन योगी जब निजस्वरूप में रमण करता है तो अन्यत्र जाने का उसका मन नहीं करता और एक भोगी द्रव्य भोग–पर्याय में जब लीन हो जाता है तो भगवत्ता की पर्याय का उसे ज्ञान ही नहीं रहता है। भोगों की भी अतुल महिमा है। इन्द्रिय–सुखों ने अनन्त संसार में तुझे निवास करने का मौका दिया है। उनके साथ तू जी रहा है, मर भी रहा है, फिर भी मर नहीं रहा है। तेरी वासनाओं का मरण हो गया होता, तेरी कामनाओं का मरण हो गया होता, तो भी जन्म–मरण संसार में नहीं होता। जिया तो है, मरण तो किया है, लेकिन संसार की पर्यायों में नष्ट हो गया है। वहीं रति को प्राप्त हो जाता है। विष्टा का कीड़ा भी अन्दर ही प्रवेश कर रहा है, लेकिन मरना पसंद नहीं करता है। यह राग की दशा है। कितनी पारिवारिक यातनाओं में आप जी रहे हो।

भो ज्ञानी! जीव को भान ही नहीं हो पा रहा कि मैं मनुष्य हूँ। मनुष्य का भान तो उसे है जो मानवता के साथ बैठा हो, जो मृदु–भाव से बैठा हो। मक्खन खाने से मनुष्य नहीं बनोगे, मक्खन–जैसे मुलायम हो जाओगे तो मनुष्य बन जाओगे। इसीलिए ध्यान रखना जीवन में, तनिक से घृत की चर्चा की थी, तो मन में विकल्प आ गये थे कि, क्या भोजन फेकूँ? मुझको भी महसूस हो गया कि इतना भोजन कैसे फेकूँ? अरे! दृष्टि डालो कि मेरा राग कितना है। एक जीव वह है जो कोटि अठारह घोड़े और विशाल सम्पत्ति को तिनके के समान छोड़कर चला गया और हमसे एक दिन का भोजन नहीं छूट पाता। जब तक तुम परद्रव्य व निजद्रव्य पर दृष्टि नहीं डालोगे, तब तक पता ही नहीं चलेगा कि मैं भेद विज्ञानी हूँ या नहीं। महसूस करो कि हाथ में दुग्ध का गिलास है, मुख की ओर जा रहा था, कि उसी बीच एक जीव आकर गिर गया। यहाँ तुम्हारा भेद विज्ञान झलकेगा कि जीव को निकाल कर दुग्ध पीते हो या गिलास को अलग करते हो। एक भैया जी 'श्रेयान्सगिरि' गये। भेदविज्ञान की दृष्टि को समझना। ब्रह्मचारी जी कह रहे थे– सामग्री बाहर से मँगाने के बाद अपने हाथ से पिसे आटे की रोटी बनाई। (यहाँ तक तो सामान्य बातें थीं)। रोटी बनाने के उपरान्त थाली लगा ली, लेकिन ज्यों ही ग्रास तोड़ा तो उस ग्रास में बाल आ गया। अब बताइये आप क्या करोगे? कब से बन रहा था। पूजन करने के बाद गेहूँ पीसा, पीसने के बाद भोजन निर्मित किया, उसके बाद उसमें बाल निकल आया, यहाँ तेरा भेद–विज्ञान प्रबल होगा तो क्या कहेगा ? ओहो! भोजन बनाया जा सकता है, थाली परोसी जा सकती है, ग्रास तोड़ा जा सकता है पर, भो ज्ञानी! मुख में तभी प्रवेश होगा जब लाभ अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होगा। इसीलिए भूल जाना इस बात को कि मैं सबका कर्त्ता हूँ, मैं सबको खिलाने वाला हूँ। तुम अंजली पर रख सकते हो, परन्तु किसी के पेट में नहीं रख सकते। अब यहाँ पकड़ना भेद–विज्ञान की दृष्टि को, ऐसे काल में पूरी की पूरी थाली छोड़ देना, इसका नाम है भेद–विज्ञान। ऐसे काल में और गहरी बात करो। एक बाल्टी घृत आपके घर में आया, एक चींटी निकल आई। जबकि दो–इन्द्रिय से माँस संज्ञा शुरू हो जाती है। अहो मुमुक्षु आत्माओ! अब इस घृत का क्या करोगे ? घी कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। लेकिन आज के युग में आपके संयम की परीक्षा चल रही है। यहाँ मालूम चलेगा कि मेरा राग कितना कम हुआ है। अपने–अपने हृदय से पूछना कि क्या हालत हो रही है? और फिर सोले का मँगाया हो, बड़े पुरुषार्थ से आया, उसी समय कोई बाल निकल आया।



अहो! ज्ञानी आत्मा! मल था कि नहीं ? और ऐसे द्रव्य का उपयोग आपने पात्र को देने में किया तो पुण्य का आस्रव होगा कि पाप का आस्रव होगा? भो ज्ञानी! आप बोल रहे थे कि, महाराजश्री! मन शुद्धि! वचन शुद्धि! काय शुद्धि! अहो! परिणामों में जरा भी विकार आया कि भाव–शुद्धि गई। जितने अंश में भाव–शुद्धि थी उतने अंश में कर्म–निर्जरा हो रही थी, और पुण्य–आस्रव हो रहा था, लेकिन एक क्षण–मात्र में भाव–शुद्धि में विकल्प आया कि तत्क्षण पाप–आस्रव जारी होगा। द्विदल खाने वाली आत्माओ! हम कैसे कहें कि तुमको विरक्ति–भाव है? देखो, किसी को निहारना मत, अपने आप को निहारना कि हम निज के साथ छल कर रहे कि नहीं? बाजार के द्रव्यों को खाने वाला जैनदर्शन के अनुसार श्रावक नहीं है। अहो ज्ञानी आत्माओ! दूध को अड़तालीस मिनट के अन्दर तपना चाहिए था, आते–आते एक घण्टा बीत चुका, तो वह दूध तुम्हारे पीने योग्य बचा कहाँ? छानना चाहिए वस्त्र से। वस्त्र ऐसा नहीं हो कि पिताजी की धोती फट गई थी तो उसका छन्ना बना लिया। माँ की साड़ी तक का उपयोग तुम ऐसे काम में कर लेते हो, जिसमें सम्मूर्च्छन मनुष्य जन्मे थे, मरे थे, पसीना जिसमें सूखा था। पानी छान के पीना था, तुरन्त रूमाल निकाला और पानी छान लिया। अरे! धिक्कार हो। उस पानी में तो जीव थे ही, पर उस रूमाल से तूने नाक पोंछी, पसीना पोंछा और पानी छान लिया। कहते हैं–महाराज! हम पानी छान के पीते हैं।

भो ज्ञानी! आचार्य महाराज कह रहे हैं "अविरुद्धा अपि भोगा"। आप नहीं छोड़ पा रहे हो, तो आप इतना तो कर सकते हो, कि जो शास्त्र के विरुद्ध है, जो संयम के विरुद्ध है, धर्म के विरुद्ध है, ऐसे पदार्थों का सेवन तुम मत करो, उनका तो त्याग ही कर दो। जब आपको मालूम है कि इसको खाने से मेरा स्वास्थ्य बिगड़ता है, तो नहीं लेना। वैद्य ने कहा कि बीड़ी नहीं पीना, लेकिन पलंग से उतर कर ठूँठ धीरे से उठा ले जाते और पी लेते हो। यहाँ लगाना राग की तीव्रता। अहो ज्ञानी! हमारे जैनदर्शन में चार प्रकार का आहार होता है खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय। अब बताइये आप लोगों का पूरा पेट भर गया फिर भी लोंग इलायची मुँह में दबाकर आ जाते हैं। यानि पेट भर गया, परन्तु रसना की रसना नहीं भरी, वासना नहीं भरी। यदि वासना भर गई होती तो कहते कि भैया, मैंने कायोत्सर्ग पढ़ लिया, अब नहीं खायेंगे। भो ज्ञानी! ध्यान रखना, छन्ना शुद्ध लट्ठे का इतना मोटा होना चाहिए जिसमें सूर्य की रोशनी प्रवेश न कर पाये। परन्तु थैली छन्ना नहीं है। नल की टोंटी में थैली लगा दी, अब उसकी बिलछानी कब करेंगे? जिस दिन वह सड़कर टपक जायेगी तो अपने आप ही बिलछानी हो जायेगी और कहते हैं कि छान कर पानी पी रहे हैं। देखो, थैली लगी हुई है, जैनी का चिह्न झलक रहा है। हाँ, जैनी की रूढ़ी झलक रही है, लेकिन जैनी की अहिंसा नहीं झलक रही। अहो ज्ञानियो! जल गालन की कथा में लिखा है कि जब एक माँ ने पानी छाना, तो एक बूंद बिलछानी जमीन पर गिर गई, जिससे वह सात भव तक सूकरी बनी, सात भव कूकरी बनी, सात भव गधी बनी, सात भव सियारनी बनी। अहो ज्ञानी आत्माओ! उस माँ से भूल हो गई, उसने एक बूंद डाली थी, हम तो पूरा का पूरा फैला देते हैं। ओहो! सीधे नल के नीचे टोंटी खोली, बैठ गये। क्या होगा बिलछानी का ? भो श्रावको! अब सोचो हम किस स्थान पर हैं ? आज से ध्यान रखना, जिन वस्त्रों का उपयोग तुम पहनने में कर चुके हो, उन वस्त्रों का उपयोग भोजन सामग्री में मत करना और पानी छानने के लिए भी नहीं करना। तौलिया और रुमाल का छना पानी बिना–छना ही



है, क्योंकि वो इतना पतला होता है कि उसमें जीव बचते नहीं है। छन्ना दोहरा होना चाहिए और ठोस होना चाहिए। जीवाणी की बिलछानी नीचे सतह तक भेजो, जीवों की रक्षा होगी। अब कहेंगे कि पानी भरते–भरते दो घण्टे लग गये, इतनी देर में हम एक शास्त्र के दस पन्ने पढ़ लेते। ओहो! मैं कैसे चलूँ, मैं कैसे खाऊँ, मैं कैसे बोलूँ , इन सबके लिए ही तो शास्त्र पढ़ा जाता है। यदि पढ़ लिये और नहीं कर पाये, तो जिनवाणी कहेगी कि आपने कुछ नहीं किया, मेरा उपयोग नहीं किया। ज्ञान तो किया, लेकिन ध्यान नहीं किया। ध्यान रखना, जहाँ अहिंसा अर्थात् जीव–रक्षा होगी, वहाँ शेष रक्षा स्वयं हो जायेगी।

भो ज्ञानी! इसीलिए जितना बन सके कम से कम श्रावक की वृत्ति का तो पालन करो। कहीं आपके भाव मुनिराज बनने के बन गये, तो निर्मल मुनिवृत्ति का भी पालन कर सकोगे। दयाभाव के संस्कार तो यहीं से प्रारम्भ होंगे। जो फर्श को देखकर ही नहीं बैठ पा रहा, चटाई को भी देखकर नहीं बैठ पा रहा, उसके आगे के परिणाम क्या होंगे? बिछाने के बाद कोई चींटी प्रवेश कर गई हो, उसका क्या होगा? अब सोचना कि हम कितने प्रमादी हैं ? प्रमाद–योग से प्राणों का वियोग करना, इसका नाम हिंसा है।

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।। त.सू.।।

मनीषियो! जब तक गलती का भान नहीं कराया जाये, तब तक जीव को संयम के प्रति बहुमान आ ही नहीं सकता इसीलिए संयम की बात मत करो, असंयम की बात करो कि हमारा असंयम कितना चल रहा है। असंयम छूट जाये, उसी का नाम संयम है। 'कथाकोष' में एक कथा आई है कि एक कन्या खेलते–खेलते मुनिराज के चरणों में आ गई। मुनिराज ने उस कन्या को आशीष दिया और कहा कि बेटी, तू पाप नहीं, पुण्य करना। वह कन्या एक विद्वान् की बेटी थी। विद्वान् ने सुना कि मेरी पुत्री ने मुनि महाराज से पाँच व्रत ले लिये हैं। पंडितजी कहते हैं–बेटी! यह तो जैनियों के व्रत हैं, तूने क्यों धारण कर लिये ? चलो मैं चलता हूँ, छुड़ा के लाता हूँ। देखना, एक ऐसा भी जीव है जो व्रत छुड़वाने जा रहा है, उसके पाप का उदय देखना और कुछ ऐसे भी जीव हैं जो व्रत दिलाने जाते हैं उनके पुण्य को देखना। कन्या को लेकर चल दिया। रास्ते में देखा कि एक आदमी को फाँसी पर चढ़ाया जा रहा था। कन्या ने पूछा–पिताजी! इस आदमी को फाँसी पर क्यों लटकाया जा रहा है ? इस व्यक्ति ने एक व्यक्ति का घात कर दिया था, इसीलिए राजदण्ड में इसको फाँसी की सजा घोषित कर दी। तो, पिताजी! मैंने महाराजश्री से पहला व्रत तो यह ही लिया था कि जीवन में किसी जीव का वध नहीं करना। पिताजी! यह व्रत छोड़ूँ कि नहीं ? बेटी! ये व्रत तो अच्छा है, इसको तो रख लो। चलो, बाकी चार व्रत छोड़ आओ। आगे देखा कि एक व्यक्ति की जिह्वा का छेदन किया जा रहा था। पता चला कि उसने राज्य के विरुद्ध भाषण किया, असत्य बोला, इसीलिए इसकी जिह्वा छेदी जा रही है। पिताजी! मैंने भी यह व्रत लिया था कि मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगी, किसी की चुगली नहीं करूँगी। बेटी! यह नियम तो बहुत अच्छा है। लेकिन तीन तो छोड़ दो। आगे देखते हैं कि एक व्यक्ति के हाथ काटे जा रहे थे, क्योंकि इस व्यक्ति ने चोरी की थी। पिताजी! चोरी का तो मैंने भी त्याग किया था। हाँ, यह भी उचित है। आगे एक व्यक्ति को शूलों पर लिटाया जा रहा था। इस



जीव ने परांगनाओं का सेवन किया है, कुशील सेवन किया था; इसीलिए उसे दण्ड दिया गया है। पिताजी! मैंने यही तो नियम लिये हैं कि मैं जीवन में कभी परपुरुष पर दृष्टि नहीं डालूँगी, कुशील का सेवन नहीं करूँगी। बेटी! यह नियम भी बहुत श्रेष्ठ है। अहो! आगे जाने पर एक व्यक्ति को हथकड़ी डालकर खींचा जा रहा था। मालूम हुआ कि इस व्यक्ति ने चोरी से व्यापार किये और सम्पत्ति रख ली, राज्य के विरुद्ध धन इकट्ठा किया, इसीलिये आज इसको जबरदस्ती न्यायालय में ले जाया जा रहा है। पिताजी! मैंने यही तो नियम लिया था कि मैं परिग्रह का परिमाण कर रही हूँ। बेटी! यह नियम भी श्रेष्ठ है। अब बताओ पिताजी, मुनिराज के पास व्रत छुड़ाने ले जा रहे हो कि आशीर्वाद दिलाने चल रहे हो?

भो ज्ञानी! देखो, मुनिराज शत्रु से लग रहे थे जब तक इसे विवेक नहीं था, ज्ञान नहीं था। पिता जो बेटी को नियम छुड़ाने ले गया था, वह स्वयं भी नियम लेकर आ गया। बस यही तो संतों की महिमा होती है कि छुड़ाने वाले छूट जाते हैं। छुड़ाने तो स्वयं गौतम स्वामी गये थे भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में, परन्तु मानस्तंभ देखकर वे ही छूट गये और जो सिर में बाल थे वे भी नहीं बचा पाये, केश लुन्चन हो गये।

अहो प्रज्ञाशील! बुद्धि यदि है, तो इसका उपयोग करो। जो छोड़ा नहीं है आपने, उनकी भी सीमा कर लो। कितने कपड़े पहनते हो? पचास मान लो, सौ जोड़ी मान लो। और पेटियों में कितनी साड़ी रखी होंगी? क्यों इतने द्रव्य का उपभोग कर दूसरे का अन्तराय डाल रहे हैं। अनाज कितना खाते हैं आप लोग तथा कितना घर में रखा है? भले ही कीड़े लग गये हों, पर किसी गरीब को नहीं दे सकोगे। गरीब तो छोड़ो, पिता अपने पुत्र को नहीं दे पाता, पुत्र अपने पिता को नहीं दे पाता। संसार की विचित्रता है। तो सीमा में भी सीमा कर लेना। जीवन भर को नहीं छोड़ पा रहे तो कम से कम एक दिन को छोड़ दो, रात्रि को छोड़ दो, भोजन करने के बाद भोजन त्याग कर दो, सोते–सोते ही त्याग कर दो। सुकरात से पूछा कि जीवन में कुशील का सेवन कितनी बार करना चाहिए ? सुकरात एक विचारक थे, जैन नहीं थे, लेकिन उनका चिन्तवन था कि 'जीवन में कभी अब्रह्म का सेवन नहीं करना चाहिए'। यदि सामर्थ्य नहीं है, तो जीवन में एक बार; इतनी भी सामर्थ्य नहीं है तो वर्ष में एक बार। अब पुनः कहते हैं कि यदि व्यक्ति में इतनी भी सामर्थ्य नहीं तो महीने में एक बार। इतना भी न चले तो ऐसा करना, कफन ओढ़कर श्मशान में चले जाना। ओहो! इतना भी संयम नहीं पाल सकते हो? अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि कम से कम रात्रिभर को छोड़ दो, दिन भर को छोड़ दो। यदि फिर भी नहीं छोड़ पा रहे हो तो तुम्हारी दशा तुम जानो, अब नहीं समझा सकते। अतः सीमा के अन्दर सीमा करना। "कार्तिकेयानुप्रेक्षा" में सत्रह नियम का उल्लेख है। श्रावकों को प्रतिदिन सत्रह नियम लेना चाहिए। मंदिरों में आजकल नियमों की पर्ची रखी होती है जो नियम निकल आये, ले लो। पर उसे भी लोग घुमा फिरा के लेते हैं। कहीं कठिन निकल आया, तो फिर धीरे से दूसरी उठा लेते हैं। इस प्रकार से जो योगों को छोड़ देते हैं, उसके हिंसा का अभाव हो जाता है।



पाप-पंक घुलता है अतिथि-पूजा से

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः।। १६७।।

अन्वयार्थ : दातृगुणवता = दाता के गुणयुक्त गृहस्थ द्वारा। जातरूपाय अतिथये = दिगम्बर अतिथि के लिए। स्वपरानुग्रहहेतोः = आप स्वयं के और दूसरे के अनुग्रह के हेतु। द्रव्यविशेषस्य = विशेष द्रव्य का अर्थात् देने योग्य वस्तु का। भागः विधिना = भाग विधिपूर्वक। अवश्यम् कर्तव्यः = अवश्य ही करना चाहिये।

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनः शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः।।१६८।।

अन्वयार्थः च संग्रहम् = और प्रतिग्रहण उच्चस्थानं पादोदकम् = ऊँचा स्थान देना, चरण धोना। अर्चनं प्रणामं = पूजन करना, नमस्कार करना। वाक्कायमनः शुद्धि =मन शुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि रखना। च एषणशुद्धिः = और भोजन शुद्धि। विधिम् आहुः = नवधा-भक्तिरूप विधि को कहते हैं।

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः।।१६९।।

अन्वयार्थः ऐहिकफलानपेक्षा = इस लोकसंबंधी फल की अपेक्षा न रखना। क्षान्तिः = क्षमा या सहनशीलता। निष्कपटता अनसूयत्वम् = निष्कपटता, ईर्ष्यारहित होना। अविषादित्वमुदित्वे = अखिन्नभाव, हर्षभाव और। निरहङ्कारित्वम् = निरभिमानता। इति = इस प्रकार (ये सात)। हि दातृगुणाः =निश्चय करके दाता के गुण हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! भगवान् अमृतचन्द स्वामी ने अपूर्व सूत्र प्रदान किया कि प्राप्त वही होगा, जो तेरे पलड़े में होगा। आकाँक्षा बढ़ सकती है, लेकिन द्रव्य नहीं बढ़ सकते हैं। मेरा शरीर ऊँचा क्यों नहीं हुआ--ऐसा विचार करके संकल्प-विकल्प अवश्य कर सकता है; लेकिन द्रव्य को नहीं बदल सकता। परन्तु यह अवश्य है कि नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करके नवीन संक्लेशता को जन्म अवश्य दे सकते हो। अतः, जीवन में संक्लेशता का अभाव करने के लिए आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि आप अपनी सीमा बांध लो, तो परिणति निर्मल हो जायेगी। पदार्थों की नहीं, परिणति की सीमा बांध कर चलना। यदि परिणति में सीमा नहीं है और पदार्थों में सीमा है तो, भो ज्ञानी! पदार्थ का उपभोग तो वहाँ नहीं कर पाएगा, लेकिन परिणति न जाने कितने का उपभोग कर लेगी, अतः वहाँ बंध निश्चित होगा।



भो ज्ञानी! ध्यान रखना जीवन में, जैसे मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुणों में से यदि किसी भी मूलगुण का अभाव होता है तो मूलगुणों की पूर्णता नहीं कहलाती। उसी प्रकार श्रावकों के बारह व्रत होते हैं और बारह व्रतों में से अतिथि–संविभाग नाम का व्रत है। यदि आपने पात्र को दान नहीं दिया तो आपके बारह व्रतों का पालन नहीं हुआ। अतिथि संविभाग करना तुम्हारा धर्म है, पात्र का मिलना या न मिलना यह तुम्हारा धर्म नहीं है। अतिथि संविभाग करना श्रावक का कर्तव्य है, श्रावक का धर्म है।

अहो ज्ञानी आत्माओ! चार श्रेष्ठ जीव थे–सिंह, बंदर, नकुल और सुअर, जो सोच रहे थे कि काश! मेरी पर्याय भी मनुष्य की होती तो मैं दान दे देता, लेकिन आज मेरे पास शक्ति नहीं है, सामर्थ्य नहीं है। परन्तु परिणाम था। वही 'सिंह' का जीव, जो अनुमोदना कर रहा था, भरतेश बने। शेष वृषभ, बाहुबलि आदि महापुरुष बने। उन्होंने एक पात्र की अनुमोदना की थी और दान देने वाला, प्रथम तीर्थेश आदिनाथ बना। दान दिलाने वाली वह माँ (श्रीमती का जीव) महाराजा श्रेयांश बना अब दृष्टि समझना। हमने तो सोचा था कि आज मेरे यहाँ महाराज श्री आ जायेंगे। अहो ज्ञानी! अतिथि हैं, जब आयेंगे तभी सत्कार कर लेना। चंदना तो रोज चौक पूर रही थी, जैसे पात्र भी प्राप्त हो गये थे। विधि ली थी कि जिसके नयनों में नीर हो, हाथों में हथकड़ियाँ हों, पैरों में बेड़ियाँ हों, सिर मुड़ा हो। वीर चल पड़े, चंदना खड़ी–खड़ी देख रही थी। 'प्रभु सबने छोड़ा, आप भी छोड़कर चल पड़े' तो यह सोच चंदना रो पड़ी। वर्द्धमान खड़े हो गये। वह दाल के छिलके भात बन गये। यह पात्र और दाता के पुण्य का प्रताप था। दोनों की परिणति का परिणमन था। जिनकी कोई तिथि नहीं है, वे अतिथि हैं और आपने जो शुद्ध भोजन अपने लिये बनाया है उस भोजन से जो अतिथि को दिया है, उसका नाम 'अतिथि संविभाग' है। मैंने अपने लिये शुद्ध भोजन बनाया था, पात्र आ गये, तो मैंने उनके लिए भोजन करा दिया, इसका नाम है अतिथि–संविभाग।

भो ज्ञानी! जिसने अतिथि संविभाग नहीं किया, उसका भोजन राक्षसों का भोजन है। पात्र को दान दिये बिना आप भोजन कैसे कर रहे हैं? 'छहढाला' में पंडित दौलतराम जी ने लिखा है–'मुनि को भोजन देय फेर निज करहिं अहारै'। हम दान तो दे लेते हैं, लेकिन पुण्य का संचय नहीं कर पाते, क्योंकि भावों में भावना रहती है कि ऐसा तो नहीं कि हम राज–भय के कारण दे रहे हों, समाज के भय के कारण दे रहे हों। ज्ञानी आत्माओ! ऐसा कभी मत करना कि सभी तो चौका लगा रहे हैं, यदि हम नहीं लगायेंगे तो लोग क्या कहेंगे? यह दान नहीं है, भय है। इसमें भी तुम्हारा सम्मान निहित लग रहा है। यदि आचार्य भगवन् मेरे घर पहले ही दिन आ जाते हैं तो मेरा और सन्मान बढ़ जाता है। अहो ज्ञानी! यह दान नहीं है, यह तूने पात्र से अपने सन्मान की भावना भाई है। दान वह था जो देने के बाद भूल गया। ध्यान रखना, संयम के योग्य और संयम–वृद्धि के लिये जो द्रव्य दिया जाता है, उसका नाम दान है। भो ज्ञानी! आचार्य समंतभद्र स्वामी ने अतिथि–संविभाग व्रत को वैयावृत्ति में रखा है और अरहंतदेव की पूजा को भी वैयावृत्ति में रखा है।

भो ज्ञानी! यदि पात्रभक्ति है, तो व्यक्ति नजर नहीं आते हैं, वरन् निर्ग्रंथ–दशा नजर आती है। यदि पात्र–भक्ति नहीं है, तो आपको सागार नजर आते हैं, पात्र नजर नहीं आते। पात्र–भक्ति होती है, तो कद नहीं देखता, उम्र नहीं देखता, निर्ग्रंथ/रत्नत्रय धर्म देखता है और जिसमें पात्र भक्ति नहीं है, उसमें स्वार्थ–वृति है। देखा कि मंत्र–तंत्र मिल जायेंगे, इसलिए चौका लगा रहे हैं। तेरा लगाना



या न लगाना एक–सा है। ये बनिये की दुकान नहीं, पात्र का दान है। तूने अपनी मंत्र–सिद्धि के लिए दान दिया, वह दान नहीं है। जैसी विधि आगम में लिखी है, उस उत्कृष्ट विधि से दान दोगे तो दान फलित होगा। उत्तम विधि से उत्तम पात्र को सम्यक्दृष्टि दान देता है तो नियम से स्वर्ग में देव ही होता है और मिथ्यादृष्टि दान देता है तो उत्तम भोग–भूमि को प्राप्त होता है।

भो ज्ञानी! आपके पास द्रव्य–लिंग की परीक्षा करने की जानकारी नहीं है। परीक्षक वही होता है, जिसने परीक्षा उत्तीर्ण की हो। जिसे यह पता नहीं कि पिच्छी कैसे पकड़ी जाती है, पिच्छी से मार्जन कैसे किया जाता है, ओहो भोगियो! तुम क्या परीक्षा करने जाओगे? हमारे आगम में साधु की परीक्षा का कथन है कि तीन दिन तक परीक्षा करना चाहिए। लेकिन वह परीक्षा आचार्य या मुनि करेंगे। गृहस्थ के लिए किसी आगम में नहीं लिखा कि तुम मुनि की परीक्षा करने जाना। भो ज्ञानी! वे नेत्र नहीं, काँच के गोले हैं, जिनकी आँखों से दिगम्बर साधु का रूप नहीं दिखता, जिनकी श्रद्धा और विवेक की आँख फूट चुकी है। शुद्ध में जा नहीं सकते, शुभ को करना नहीं चाहते, अशुभ को छोड़ नहीं पा रहे, तो फिर पाप को धोने के लिए कहाँ जाओगे? पूर्व का पुण्य कमाकर रखा है, खा लो, लेकिन ध्यान रखना, खोखले हो जाओगे। यह वीतराग–वाणी है, यह सर्वज्ञ की वाणी है।

भो ज्ञानी! कुंदकुंद स्वामी ने 'पंचास्तिकाय' ग्रंथ में प्रश्न किया–हे नाथ! श्रावक का मोक्षमार्ग क्या है? भगवन् लिख रहे हैं–जिन्होंने मोक्ष के मार्ग को प्राप्त कर लिया है ऐसे अरहंत, सिद्ध तथा जो मोक्ष मार्ग पर लगे हुए हैं वे आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन पाँच की उपासना करना ही श्रावकों का मोक्षमार्ग है। इन पाँच को छोड़ दिया तो संसार–मार्ग ही है। कुछ बालक प्रवचन के समय ऊपर ऊधम कर रहे थे, मैं सोच रहा था कि इतने सारे लोग यहाँ बैठे हैं, किन्तु किसी को करुणा नहीं आ रही। वे बालक अज्ञानता में ज्ञानावरणीय कर्म का बंध कर रहे हैं और सब देख रहे हैं, जबकि करुणा आना चाहिए। यदि तुम्हारे सामने कोई जीव पाप में लिप्त हो रहा है, यथार्थ से दूर हट रहा है, ऐसा नहीं कि तुम उन्मार्ग का पोषण करो, तुम्हारा कर्तव्य यह बनता है, कहते–भैया! यह मार्ग उचित नहीं है। क्योंकि जब हल्ला वे कर रहे थे तब उन्हें ज्ञानावरणीय कर्म का आस्रव हो रहा था। आप तो यह सोचकर रह जाते हो कि जिसकी जो होनहार होना हो वह होगी। यह तो एकांत/विपरीत मिथ्यात्व है। जब कोई न सम्हले, फिर कहना, भैया! ऐसी होनहार है। ऐसा पहले कहकर मत बैठ जाना, अन्यथा मिथ्यादृष्टि, भाग्यवादी, ईश्वरवादी और आपमें कोई अंतर नहीं होगा।

भो मनीषी! कोई चंदा माँगने आ जाए तो तुरंत जेब में हाथ जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व को देने में कोई पाप नहीं लगता है, उसमें हम अध्यक्ष बन जायेंगे, सन्मान मिल जायेगा। महाराज! देना पड़ता है, नहीं देंगे तो कैसे जियेंगे? इससे मालूम चलता है कि भयभीत होकर तुम सब कुछ करने को तैयार हो। सामान्य जीव भी आ जाये, यदि वह अधिकारी है तो तुम मालाएं ले–लेकर घूमोगे और एक निर्ग्रंथ वेष दिख जाये तो तुम्हें मिथ्यात्व झलके। अहो! तुम्हारी दृष्टि को धिक्कार है। ध्यान रखना, जिन मुनिराज की चर्या में दोष होगा तो निगोद के पात्र वे होंगे, लेकिन आप तो पात्र मानकर ही उनकी सेवा कर रहे हो।

भो चेतन आत्मा! मंत्र–तंत्र, प्रतिष्ठा आदि के उद्देश्य से पात्र को दान मत देना। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि स्व पर अनुग्रह हेतु जो आपने दान दिया, उससे आपका लोक में उपकार हुआ



और जिस पात्र को दिया, उन्होंने साधना की, सामायिक की, स्वाध्याय किया है, उनका उपकार। 'अतिथिसंविभाग' गुण दाता का ही है। श्रद्धा, भक्ति एवं आह्लादपूर्वक दान देना दूसरा गुण है। ध्यान रखना जीवन में, संतान का जन्म, पात्र दान, जिनेन्द्र की पूजा कभी नौकरों से नहीं कराई जाती है, स्वयं के हाथों की जाती है। आगम में स्पष्ट लिखा है कि उस क्षेत्र में विहार कभी मत करो जिस क्षेत्र में चर्या न चले। वहाँ बैठे और भाव बिगड़ गये, तो परिणाम क्या होगा? नगर में रहकर स्वतंत्र होकर चर्या करना श्रेष्ठ है। श्रद्धापूर्वक आहार आप नहीं दोगे तो गुण तुम्हारा नष्ट हो गया। तीसरा गुण है तुष्टि। कुछ लोगों के भाव खराब होते हैं। छुल्लक जी आये हैं, ब्रह्मचारी जी आये हैं, मुनिराज नहीं मिले, आचार्य महाराज जी नहीं मिले। दान भी दिया, द्रव्य भी दिया और पुण्य भी नहीं मिला, क्योंकि संतुष्टि नहीं थी। अरे! विवेक रहित काम कर दिया। संतुष्टि होना चाहिए। एक को दे लिया, संतोष करो। विवेक कहता है कि कैसे देना है? कब देना है? रस चला रहे थे, मीठा चला दिया, और फिर दूसरे आए तो उस पर पानी चला दिया। हम क्यों दे रहे थे आहार? जिससे कि उनका शरीर स्वस्थ रहे। शरीर स्वस्थ रहेगा, तो संयम स्वस्थ रहेगा। यहाँ विवेक की चर्चा चली, बोले–हम तो महाराज को बादाम खिलायेंगे। भो ज्ञानी! गरिष्ठ है। ठीक है जो लेकर आए, अच्छी बात है, आपने अच्छा किया, यह होना चाहिए; लेकिन इतना ध्यान रखना कि हमें कितना देना चाहिए, कितना नहीं? यह विवेक है। मौसम के अनुसार निर्दोष आहार ही तो दवाई है। यह विवेक नामक चौथा गुण हो गया।

भो ज्ञानी! पाँचवाँ गुण है 'क्षमा'। शांति से खड़े रहो। गुस्सा आ रहा हो, तो दान मत देना। भाईचारे का भाव रखो। आप–ही आप दिये जा रहे हो, मुझे देने ही नहीं दे रहे हो। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जैसे द्वीपायन बनकर आ गये हों, परसुराम बनकर आ गये हों। तुम्हारे घर में महाराज के आहार क्या हो गये जैसे महाराज तुम्हारे ही हों। भैया! वह भी भक्तिपूर्वक आया है। कुछ लोग शोधन कम करते हैं, शोरगुल ज्यादा करते हैं। तुम भगो, तुम भगो। भगाने की आवश्यकता नहीं, शोधन करने की आवश्यकता है। कितनी भी भीड़ आ जाए, शोधन सही होना चाहिए। भीड़ से अंतराय नहीं होते हैं। जबरदस्ती दान देकर पुण्य कमाने की भावना मत रखना, कुभोग भूमि में जाना पड़ता है। सत्य गुण कहता है कि भूमि देखकर चलो, भक्ति में विवेक रखो, ईर्यापथ का ध्यान रखो, पवित्रता से युक्त होकर देना। भावों में पवित्रता रखना गुण है और देकर हर्षित होना, पश्चाताप मत करना, प्रमुदित होना, यह दाता के सात गुण हैं। विधि पूरी यह है कि स्वयं का चौका हो, तब नवधा भक्ति बनेगी। भगवन्! कोई तो आ जाता। कितनी भावना बना ली? जितने छठवें गुणस्थान तक जीव होंगे उन सबका पुण्य मिल गया। भाव खिन्न नहीं होना। कुछ लोग देने के बाद खिन्न होते हैं। शक्ति से अधिक देने वालों के पास नवधा–भक्ति होती ही नहीं है।

भो ज्ञानी! पहले पड़गाहन करना चाहिए, उच्च स्थान देना चाहिए। कुछ संघों में आँगन में पूजा हो जाती है। आँगन में पहले बैठ जाते हैं, फिर अंदर जायेंगे, फ़िर आहार शुरू होंगे। लेकिन आप लोग जो प्रदक्षिणा लगाते हो, यह विशेष भक्ति का प्रतीक है। इसलिए पहले तीन प्रदक्षिणा दी जाती हैं। प्रदक्षिणा नवधा–भक्ति में नहीं, विशेष भक्ति में होती है। ऐसा नहीं कि पड़गाहन करके ले गये और शांत हो गये। फिर उन्हें उच्च स्थान देना, फिर उनके पाद प्रक्षालन करना। मुनियों की, आचार्य भगवन्तों की, उपाध्यायों की पूजा–अर्चना होती है। नवधा–भक्ति में नमस्कार भी एक भक्ति है। कुछ



लोग नमोस्तु नहीं करते हैं, अतः उनसे आहार नहीं ले सकते। मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, आहार, जल शुद्ध है और बस आहार देना शुरू। उनसे बिलकुल आहार नहीं लेना। प्रश्न आ सकता है कि मुनि महाराज को अहंकारी कहना चाहिए, क्योंकि प्रणाम नहीं किया तो आहार नहीं ले रहे। भो ज्ञानी! यह अहंकार नहीं है, भक्ति पूरी होना चाहिए। आपका वात्सल्य/स्नेह दिख रहा है, पर दूसरी ओर आगम भी है। नमस्कार करने के बाद पहले आप शुद्धि बोल लो, फिर प्रासुक जल से हाथ धो लो, फिर ग्रास दो। देनेवाले व दिलानेवाले दोनों को विवेक रखना चाहिए। भैया! पहले शुद्धि बोल लो, फिर ग्रास देना, नहीं तो मुख की गंदगी, भाप और थूक भी उचकते हैं। थूक उचटता है तो मन में पाठ करो। अभिषेक करो, अरहंत के मुख पर थूक मत डाल देना।

भो ज्ञानी! अमृतचन्द्र स्वामी की अपेक्षा से दाता के गुणों में एक फलानुपेक्षा है। ऐसा सोचकर कभी दान मत देना कि महाराजश्री तनिक आशीर्वाद दे जायेंगे, दुकान-मकान अच्छे बन जायेंगे, चलने लग जायेंगे, पुत्र-पुत्रियाँ हो जायेंगे। कोई लौकिक फल की अपेक्षा मत रखना। शांति-क्षमाभाव से युक्त और निष्कपटता होना चाहिए। ये ध्यान रखना, वहाँ भी कपट न हो जाए कि थोड़ा-सा दिखाया, मुट्ठी में बंद किया और पटक दिया। धर्म-संकट में डाल दिया पात्र को। पथ्य के विरुद्ध लेता है, तो दोष और नीचे गिराता है, तो दोष। आपको तो भक्ति दिख रही है, पर यह नहीं मालूम कि महाराज का भी कोई गुण होता है। वह दोष महाराज को लगेगा और यदि ले लेते हैं तो बीमार हो जाते हैं। इसलिए श्रद्धा भक्ति, प्रकट करना, मगर छल-कपट के साथ नहीं। अरे! दुबारा दे देना, तीन बार प्रार्थना कर लो, परंतु घुमा-फिरा कर मत करना, कपटपूर्वक दान मत देना। यह भक्ति नहीं है। ईर्ष्या रहित होकर देना। कभी-कभी बड़ी ईर्ष्या आती है। बोले-यह जो उठाते हैं, वही हम उठायेंगे। दोनों के झगड़े में बेचारे पात्र की हालत खराब होती जा रही है। बोले-हम तो यही देंगे। इनके इधर तो चार दिन हुए नहीं और चारों महाराज के आहार हो गये और पहले ही दिन हो गये। अरे! आप तो एक नियम ले लो कि मुझे दस दिन शुद्ध भोजन करना है। कोई विकल्प नहीं है। छतरपुर में एक भैया को उन्नीस दिन हो गये, बेचारे की विधि मिल नहीं रही। अब उन्हीं की विधि लेकर चलो, हमने तो सिर्फ विचार किया, उन्होंने चौका ही बंद कर दिया। इक्कीसवें दिन उनके मन में आ गई, फिर चौका लगा लिया, सो फिर विचार किया तो वे सबेरे से कहने आ गये-महाराज! आज भी हमने चौका लगाया है। गया काम से। भाग्य की बात है, विधि मिली एक महीने बाद और प्रथम ग्रास में अंतराय आ गया। कभी-कभी ऐसा हो जाता है। लेकिन ईर्ष्या भाव मत रखना। देखो, आपके यहाँ आहार नहीं हो पाए, लेकिन आपने भावना कितनी बनाई कि कोई न कोई तो आ जाता। उनके यहाँ तो एक के ही आहार हुये, जिनने यह भावना भाई कि भगवन! कोई तो आ जाता। कितनी उच्च भावना? जितने छठवें, चौथे, पाँचवे गुणस्थान में जीव होंगे, सबका पुण्य मिल गया। जो शुद्ध भोजन आप करते हैं, वही देना। शक्ति से ज्यादा कर लेते हैं, फिर खिन्नता आती है। पात्र को दान देकर प्रमुदित होना चाहिए, हर्षित होना चाहिए। अहो दान! अहो दाता! ऐसे भाव आते हैं। भो ज्ञानी! अहंकार नहीं करना कि हमारे यहाँ तो पांच दिन में पांचों ही मुनिराज निपट गये और तुम लोग खड़े ही रह गये। ऐसे भाव मत लाना। जो दाता इन गुणों से युक्त होकर पात्र को दान देता है, वह सम्यक्-दृष्टि जीव नियम से मोक्षगामी ही होता है।



रत्नत्रय–धर्म का आधार–पात्र दान

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम्।।१७०।।

अन्वयार्थः– यत् द्रव्यं = जो द्रव्य। रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं = राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदिक। न कुरुते = नहीं करता है। और सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् = उत्तम तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला है। तत् एव देयं = वह ही देने योग्य है।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च।।१७१।।

अन्वयार्थ :–मोक्षकारणगुणानाम् = मोक्ष के कारणरूप गुणों का अर्थात् रत्नत्रय रूप गुणों का। संयोगः पात्रं = संयोग जिसमें हो, ऐसा पात्र। अविरतसम्यग्दृष्टिः = व्रतरहित सम्यग्दृष्टि। च विरताविरतः = तथा देशव्रती। च सकलविरतः = और महाव्रती। त्रिभेदम् उक्तं = इन तीन भेदरूप कहा है।

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम्।। १७२।।

अन्वयार्थ :– यतः अत्र दाने = क्योंकि यहाँ दान में। हिंसायाः पर्यायः लोभः = हिंसा की पर्यायरूप लोभ का। निरस्यते = नाश किया जाता है। तस्मात्= अतएव। अतिथिवितरणं = अतिथि दान को। हिंसाव्युपरमणम् = हिंसा का त्याग। एव इष्टम् = ही कहा है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान वर्द्धमान स्वामी की पावन–पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचंद्रस्वामी ने जीव को राग से मुक्त होने का अपूर्व सूत्र दिया कि 'त्याग धर्म को स्वीकार कर लो। जो अनावश्यक द्रव्य हो, उनसे दृष्टि हटा लो। जो तेरी वस्तु नहीं है, उसे स्वीकार मत करो, और जो तेरी वस्तु है, उसे स्वीकार कर लो।' आचार्य भगवान कुंदकुंद देव जी समयसार जी की एक सौ सड़सठवीं गाथा में कह रहे हैं:–

भावो रागादिजुदो जीवेण, कदो दु बंधगो होदि।
रागादिविप्पमुक्को, अबंधगो जाणगो णवरि।।

अहो मुमुक्षु! भाव त्रैकालिक हैं। भाव यानि पदार्थ, भाव यानि पर्याय, भाव यानि द्रव्य। जब यह



भाव रागादि से युक्त होते हैं, तब बंध होता है और जब राग आदि से रहित होते हैं, तब अबंध–दशा होती है। वह राग कैसे छूटे? अनादि की उस अविद्या की दशा को, अनादि के इस अभ्यास को, एकसाथ छोड़ने में पीड़ा हो रही है। इसलिए आप छोड़ने का अभ्यास प्रारंभ कर दो। यदि द्रव्य सुपात्र में जाता है, तो मोती के रूप में फलित होता है और कुपात्र में जाता है, तो कीचड़ के रूप में फलित होता है। अतः दान तो देना, लेकिन दाता को देख लेना। देनेयोग्य द्रव्य और देने वाला दाता और जिसको दिया जा रहा है वह पात्र। द्रव्य निर्मल, दाता निर्मल और पात्र निर्मल नहीं है तो परिणमन निर्मल नहीं होगा। पात्र निर्मल है, पर देय निर्मल नहीं, दाता निर्मल नहीं, तो परिणमन निर्मल नहीं होगा। तीनों का निर्मल होना आवश्यक है। भो ज्ञानी! जैन आगम में वीतराग धर्म को मानने वाले, वीतराग धर्म पर चलने वाले और सच्चे वीतराग धर्म में लीन होने वाले यह तीन पात्र हैं। सच्चे वीतराग धर्म को मानने वाले अविरत सम्यक्दृष्टि, देशव्रती और स्वभाव में लीन होने वाले महाव्रती मात्र तीन ही पात्रों का कथन जैनदर्शन में है।

आचार्य कुंदकुंद देव ने कहा है कि आप राग को छोड़ो। नहीं छूट रहा तो राग को छोड़ने का अभ्यास करो। पर एक दृष्टि ध्यान में रखो कि जो मिला है, छोड़ो न छोड़ो, वह तो छूटेगा ही। पर बंध कराके छूटे, इसके पहले छोड़ दो, तो निर्बंध हो जाओगे। आप नहीं छोड़ पाएँगे, पर वह आपको छोड़ देगा। जीते जी नहीं छोड़ पाए, तो मृत्यु के बाद छूट जाएगा। पर जीते जी जो छोड़ लेता है। वह निर्बंधता को प्राप्त होता है और जो मरने के बाद छोड़ता है। वो बंधता को प्राप्त होता है। बस इतनी दृष्टि समझना है। जैनदर्शन तो मात्र दृष्टि का धर्म है। एक दृष्टि 'भीख' दे रही है, एक दृष्टि 'दान' दे रही है, एक दृष्टि 'कर' दे रही है। एक में विशुद्धि है, एक में दया है, और एक में द्वेष और राग है।

भो ज्ञानी! सम्यक्दृष्टि जीव दया–वृत्ति रखता है और जब पात्र को देता है तो प्रमुदित हो जाता है। गरीब है, दे दो। जब कर (टैक्स) भरने जाते हो तब विशुद्धि नहीं थी, गद्गद–भाव नहीं था। उत्कृष्ट द्रव्य रखा है व्यक्ति के पास, फिर भी क्या कहता है? और लो, महाराज! और ले लो। वहाँ उसे लोभ नहीं आता। जब एक माँ अपने बालक को खिलाती है तो कहती है कि बेटा! यह कल ले लेना। लेकिन जब पात्र को दान देती है तो यह कभी नहीं कहती कि कल ले लेना। वह तो कहती है महाराजश्री! इतने दिन में मौका मिला है। यह भाव ही उसके असंख्यात गुण श्रेणी कर्म निर्जरा करा देते हैं। देने–लेने में कोई निर्जरा नहीं होती। यदि देने से विशुद्धि बनती होती तो कर (टैक्स) भरने में भी विशुद्धि बनती। एक जीव पूजा कर रहा है, तो वहाँ विशुद्धि बनती है। एक से कहा जा रहा कि आपका नंबर कल है, तो उसको थोड़ा भार–सा मालूम होता। अहो ! किसी व्यक्ति को धर्म के लिए उत्साहित तो करना, पर उसको बांधना मत। उससे भार महसूस होता है, विशुद्धि के स्थान पर संक्लेशता का वेदन होता है। एक व्यक्ति दान देते–देते बंध रहा है और एक जीव दान देते–देते छूट रहा है, क्योंकि उसके भाव आ गये कि नगर में मुझे ही देना पड़ता है। क्या करूँ ? नहीं दूँगा तो व्यवस्था नहीं बनेगी। एक जीव जाँच रहा है और एक देख रहा है। परंतु देखने वाला तो कर्म की निर्जरा कर रहा है, क्योंकि बेचारा सोचता है कि, प्रभु ! मेरी सामर्थ्य होती तो मैं भी दान करके अभिषेक कर लेता। पता नहीं मैंने कौन से अशुभ कर्म किये होंगे जो कि मनुष्य पर्याय मिली, उच्च



जैन कुल मिला, भाव भी हैं, पर मेरे पास द्रव्य नहीं है। जरूर मैंने पूर्व में ऐसे कोई दुष्कर्म किये, जिससे मैं तड़प रहा हूँ , निहार रहा हूँ।

भो चैतन्य! जब तक शरीर निर्मल है, तब तक सब कुछ 'मूलाचार' जी में लिखा है:–

अतिबाला अतिवुड्ढा, धासत्ती गब्भिणी य अंधलिया।
अंतरिदा व णिसण्णा, उच्चत्था अहव णीचत्था।। ४६९।।

जो अति वृद्ध, रोगी, अंगहीन, अति मूढ़ हैं, उनसे आहार नहीं लेना। मैं तो यही सोच रहा था कि, प्रभु! उसकी बुद्धि को तो हरण किया ही, लेकिन उसके द्वारा धर्म को भी खींच लिया। हाथ–पैर टूट गए, अपाहिज है तो नहीं कर सकता अभिषेक, नहीं दे सकता पात्र को दान। शरीर में कोई दाग हो गया, कोई कुष्ठ हो गया, खाँसी–जुखाम हो गया तो नहीं कर पा रहा अभिषेक। मनीषियो! उसे मनुष्य मत कहना, जिसके जीवन में स्वदार संतोष व्रत नहीं है। अब देखो, कैसे–कैसे आपको राग से हटा रहे हैं। राग से जो तुम्हारा असीम राग था, उसको सीमा में कर दिया। परिग्रह बढ़ाने की लिप्सा बढ़ी, तो कह दिया कि शुभ पात्रों को दान करो। सम्यक्दृष्टि जीव का धन समीचीन क्षेत्रों में जाता है और जिनके पास दुष्कर्म का धन होता है, वो असमीचीन क्षेत्रों में जाता है। घर में ऐसी संतान ने जन्म ले लिया कि जन्म से उसका उपचार कराना प्रारंभ करना पड़ा। ध्यान रखना, यह उस संतान का ही पाप–उदय नहीं है, माता–पिता के भी पाप का उदय है।

भो ज्ञानी! एक सज्जन भिलाई में नारियल बेचते थे। उनने कहा–महाराज जी! वह दिन मुझे याद है, जब मैं इस धर्मशाला में आया था। चार दिन बाद मुझे निकाल दिया गया था, तो नारियल बेचना प्रारंभ किया, लेकिन मंदिर जाता था। यहाँ कोई बाहर का सेठ आया, कहा कि, भैया! देखो आपके यहाँ यदि एक आँख वाला नारियल मिल जाए तो हमें बताना, हम आपको मुँह माँगा पैसा देंगे। नारियल बेचने वाला बेचने से पहले आँख देख लेता था। भाग्य का उदय, उसे एक दिन एक आँख वाला नारियल मिल गया और उन सज्जन ने उनको पंद्रह हजार रुपये दे दिये। आज उस व्यक्ति की यह स्थिति है कि साल में दो–चार लाख रुपये का दान जब तक न दे दे, तब तक उसे शांति नहीं मिलती। भो ज्ञानी! साता का असाता, में और असाता का साता में कर्म का संक्रमण श्रावकों के भी हो जाता है। श्रीपाल श्रावक ही तो थे। कुष्ठ रोग हो गया। भगवान की आराधना की। असाता सातारूप संक्रमित हो गयी। कर्म का विपाक संतों या श्रावकों को ही नहीं, तीर्थंकरों को भी नहीं छोड़ेगा। आदिनाथ स्वामी से पूछो कि आपने ऐसा बंध कर लिया कि तीर्थंकर बनकर भी आपको भोगना पड़ा।

मनीषियो! आचार्य भगवन् ने बड़ा सहज कथन कर दिया। यह रूढ़ी का धर्म नहीं; विवेक, विज्ञान का धर्म है। द्रव्य ज्यादा है तो कुएँ में पटकने को नहीं है। कुपात्र को, अपात्र को दिया गया दान कुभोग–भूमि का ही हेतु है। भो ज्ञानी आत्मा ! धन का दान तो देना, परंतु स्थान को देख लेना। यदि आप पात्र को दान दे रहे हो, तो ऐसा द्रव्य मत देना जिससे राग बढ़े। पिच्छी, कमंडल और जिनवाणी ये तीन उपकरण माने जाते हैं निर्ग्रंथों के–ज्ञान–उपकरण, शौच–उपकरण और संयम–उपकरण। तो पात्र को वही वस्तु दान में दें जिससे दुख व भय न हो, असंयम न हो, मादकता न बढ़े। उनकी



तपस्या व स्वाध्याय में वृद्धि का कारण बने, ऐसा ही द्रव्य देना। पात्र तीन प्रकार के कहे गए हैं, जो मोक्ष के कारण भूत हैं। अविरत सम्यक्दृष्टि, देशव्रती, महाव्रती–ये तीन प्रकार के पात्र जिन आगम में कहे हैं, चौथे प्रकार के पात्र की चर्चा नहीं है। आचार्य भगवन् कुंदकुंद देव ने ग्रंथराज 'अष्टपाहुड' में मात्र तीन लिंगों की वंदना का व्याख्यान किया। पहला निर्ग्रंथ–लिंग, दूसरा गृहीलिंग यानि एलक, क्षुल्लक और तीसरा आर्यिका–लिंग, यह तीन ही हमारे आगम में पूज्य हैं। अतिथि–सत्कार में दान अवश्य करना चाहिए। दान देने से लोभ का अभाव हो जाता है और लोभ हिंसा की पर्याय है। इसलिए दान देना भी अहिंसा है और दान नहीं देना हिंसा है। अपने जीवन में अहिंसा–धर्म की ओर बढ़ो।





आहार दानअहिंसा स्वरूप

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति।।१७३।।

अन्वयार्थ :– यः = जो गृहस्थ। गृहमागताय = घर पर आये हुए। गुणिने = संयमादि गुण युक्त को और। मधुकरवृत्त्या = भ्रमर के समान वृत्ति से। परान् = दूसरों को। अपीडयते =पीड़ा नहीं देता। अतिथये = अतिथि–(साधु) के लिए। न वितरति =भोजनादिक नहीं देता है। सः लोभवान् =वह लोभी। कथं न हि भवति =कैसे नहीं है?

कृतमात्मार्थं मुनिये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव।। १७४।।

अन्वयार्थ :– आत्मार्थं = अपने लिए। कृतम् = बनाये हुए। भक्तम् = भोजन को। मुनिये ददाति = मुनि के लिए देवे।इति भावितः = इस प्रकार भाव–पूर्वक। अरतिविषादविमुक्तः=अप्रेम और विषाद से रहित तथा। शिथिलितलोभः=लोभ को शिथिल करने वाला। त्यागः= दान। अहिंसा एव भवति = अहिंसा–स्वरूप ही होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी की दिव्य–देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने सहज–रूप से कथन करते हुए संकेत दिया है कि सहज–स्वरूप निर्ग्रंथों में होता है अर्थात् निर्ग्रंथ सहज–स्वरूप में चलते हैं। अहो मुमुक्षु! आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी तो मुनिराज की बात कर रहे हैं। परंतु तुम्हारे द्वारे पर श्वान भी आ जाये तो डंडा मार के मत भगाना। वह भी भावी भगवान है, भटका भगवान है। मुमुक्षु को श्वान में भी भगवान दिखते हैं। मिथ्यादृष्टि वह होता है, जिसे भगवान में भी भगवान नजर नहीं आता। अरे! द्रव्य–दृष्टि से देखते हो, तो भेद नहीं दिखते हैं। परंतु तुम्हारी दृष्टि तो पर्याय पर टिकी है। पुत्र का संबंध द्रव्य दृष्टि का नहीं है, पर्याय का है। द्रव्य से करोगे तो भो ज्ञानी! अज्ञानता है। द्रव्य तो चैतन्य है, द्रव्य तो जीव है, पर्याय पुत्र की है। पर्याय–दृष्टि को हटाने का उद्देश्य पर्याय का अभाव नहीं है। पर्याय–दृष्टि हटाने का उद्देश्य है कि तुम्हें जीव–विशेष में जो पुत्रपना झलक रहा है, कर्त्तव्य–भाव झलक रहा है, उसे हटा दो। वह कष्ट का हेतु है। पर्याय तो पर्याय है, पर्याय भगवान् नहीं है। भगवान् बनने वाला द्रव्य जरूर है, यदि भव्य है तो। अहो ज्ञानी! पंजा मार रहा है, रक्त निकाल रहा है, फिर भी देखने वाले को भगवान् दिख रहे हैं। अहो पंचम काल की मुमुक्षु आत्माओ! मुनिराज किसी को पंजा तो नहीं मार रहे हैं, किसी के रक्त को तो नहीं निकाल रहे हैं। युगल मुनियों की दृष्टि तो देखो कि रक्त निकालने वाले को



भी भावी भगवान कह रहे हैं। जब सिंह की पर्याय में पंजा मार दिया तो वे युगल मुनिराज बोले–तुम विश्व में अहिंसा का नाद करोगे, यह तुमने क्या कर डाला ? आँखों से आँसू टपक गये। वाणी तुम्हारी ऐसी निकले कि शेर के अंदर भी वात्सल्य का झरना फूट पड़े, टूटे–हृदय मिल जाएँ। श्रद्धा का दीप जल जाए वही वाणी, वाणी है। गंगा के नीर में शीतलता की कमी आ सकती है, पर प्रेम के नीर में कभी शीतलता की कमी नहीं आती। कुम्हार को मिट्टी में सुंदर घट नजर आता है, तभी तो घट निकाल पाता है। मूर्तिकार/शिल्पकार को पाषाण नजर आता ही नहीं है, उसे तो मूर्ति दिखती है। बस ध्यान रखना कि जिसे इस आत्मा में भगवान नजर न आए, उनकी आँखें पत्थर की हैं और जिनको इस आत्मा में भगवान नजर आ जाए, उनकी आँखें शुद्ध शिल्पकार की हैं।

भो ज्ञानी! तुम्हारी दृष्टि स्थूल है। पत्थर के भगवान के क्षेत्र में तो तुम कहते हो कि पाप मत करो, परंतु इस चैतन्य भगवान से मिलकर तुम पाप करते हो। क्या स्त्री व पुरुष भगवान नहीं हैं? किसी स्त्री को पुरुष में रमने के भाव आ रहे हों तो वह सिद्धों से विषय–भोग की भावना भा रही है। किसी पुरुष में स्त्री से रमने के भाव आ रहे हैं, तो वह भी सिद्धों से रमण के भाव कर रहा है। अब जियो, कहाँ जिओगे ? करो, क्या करोगे ? द्रव्य–दृष्टि कह–कर भोगों में लिप्त होना तो अज्ञानी की श्रेणी है। अरे! द्रव्य–दृष्टि को समझकर साधु–संत बन जाना, वह मुमुक्षु की दृष्टि है। अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि द्रव्य–दृष्टि की आँख से देखो, जो तुम्हारे द्वार पर अंजुली लगाए खड़ा हो, वहाँ साधु नहीं देखना, वहाँ तुम चलते–फिरते सिद्ध को देख लेना। मनीषियो! यही निर्विकल्प–अवस्था है, यही आत्म–सुख है जब तुमने योगी का पड़गाहन किया, उनकी अंजुली पर ग्रास रखा, गद्‌गद् भाव आया। जब संयमी के हाथ में ग्रास देने में इतना आनंद है तो तपोपूत बनने में कितना आनंद होगा? जैसे आपने एक श्रमण की अंजुली पर ग्रास रखा, आपको आह्लाद उत्पन्न हो रहा है, ऐसे ही जो स्वरूप में लीन योगी होता है उसे परम आह्लाद उत्पन्न होता है। उसका नाम आत्मानुभूति है। भो ज्ञानी–आत्मा! जिस उत्तम श्रावक को घर में तीर्थंकर–जैसा महामुनि पात्र मिला हो, नियम से वह जीव मोक्षगामी ही होता है। लेने वाला तो मोक्ष जा ही रहा है, देने वाला भी जायेगा। आज तक तुमने तीर्थंकर मुनि को आहार नहीं दिए, पर यह ध्यान रखना, नरकायु का बंधक सामान्य–मुनि को भी आहार नहीं दे सकता। सम्मेद–शिखर की वंदना और निर्ग्रंथ मुनि के हाथ पर दिया गया दान, यह तुम्हें द्योतित कर रहा है कि तुम्हारी नरक–आयु का बंध नहीं हुआ।

जिस जीव को अशुभ–आयु का बंध हो चुका है, वह त्यागी के हाथ पर ग्रास नहीं रख सकता, उसके भाव नहीं बनते, यह सिद्धांत है। अब कोई कहे कि हमारी व्यवस्था नहीं बन पा रही, तो अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि क्यों नहीं बन पा रही ? विषमताओं के मध्य में तुमने पुत्र की शादी की, उसमें भोजन भी किया, तुम बेटे की वर्षगांठ और अपनी जन्मगांठ भी मना रहे हो, यह कौन–सी सम्यक्त्व की क्रिया है? अब तो भोगों की वर्ष–गांठ भी मनाने लगे हैं, अर्थात् शादी की वर्ष–गांठ मनाते हैं, जो यहाँ मिथ्यात्व है। उधर श्मशान घाट तुम्हारी याद कर रहा है और इधर तुम भोगों की याद कर रहे हो। अरे! यह वीतराग–शासन है, इसमें मृत्यु महोत्सव मनाया जाता है। जीने की शैलियाँ तो अनेक ने सिखायीं हैं, एकमात्र नमोस्तु–शासन ही ऐसा है, जिसमें मरण की शैली सिखायी जाती है। यह वीतराग–विज्ञान मरण का विज्ञान भी है। तुम तीर्थों की वंदना छोड़ देना, भगवान् की पूजा छोड़ देना,



लेकिन बनने वाले भगवान की पूजा मत छोड़ देना। तुम सामायिक का प्रायश्चित कर लोगे, प्रतिक्रमण का प्रायश्चित कर लोगे, लेकिन क्षपक की सल्लेखना नहीं छोडना। समाधि काल में क्षपक की सेवा करना, सामायिक काल में भी चले जाना। समाधि भंग हो गयी तो उस जीव का तुमने क्या किया?

भो ज्ञानी! शरीर से मोक्ष नहीं होता, शरीर से साधना होती है। मोक्षमार्ग मन से होता है, क्योंकि मन से ध्यान किया जाता है। चित्त के निरोध का नाम ध्यान है। चित्त की निर्मलता का नाम चारित्र है। यदि तुम्हारा चित्त कलुषित है तो करते रहो सामायिक। वीतराग–वाणी कहेगी कि तेरे पास कुछ नहीं है। द्रव्य श्रुत से मोक्ष नहीं होता, मोक्ष तो भाव–श्रुत से होता है। 'बराबर' कहने से मोक्ष नहीं होगा। जब परिणाम बराबर होंगे, तब मोक्ष होगा। ध्यान रखना, यदि आपने ईमानदारी से व्यापार किया है और कोई आपको बदनाम भी करे, तो घबराना नहीं। परंतु यदि आप ईमानदारी से कार्य नहीं कर रहे, तो तुम्हें कितनी ही यश–कीर्ति मिल रही हो, वह पूर्व का पुण्य हो सकता है, लेकिन आगे तो ठोकरें खानी ही हैं। जिस दिन पकड़ा जाता है उस दिन सबको मालूम चल जाता है कितना ही घोटाला कर लो। यह शब्दों का मार्ग नहीं है, साधना का मार्ग है। धन्य हो, जो ऐसे उज्ज्वल कुल में आ गये। आपको ऐसा तो नहीं लगता, कि मैं ऐसे उज्ज्वल कुल में क्यों आ गया, जिससे पाप करने का मौका नहीं मिलता ? लोक में ऐसे भी लोग हैं जो जैन होकर भी कुकर्म के भाव लाते हैं। वे सोचते हैं कि मैं नीच–कुल में होता तो खुलेआम कुकर्म करता। यहाँ समाज का प्रतिबंध है। समझ लो, तुम्हें नीच–आयु का बंध हो गया।

भो ज्ञानी! उस जीव से पूछना, जिसने योगी के मुख से णमोकार मंत्र सुनते हुए आखरी सांस ली हो। बड़े–बड़े तपस्वी बिलख जाते हैं, पर अंतिम समय में कोई णमोकार मंत्र सुनाने वाला नहीं मिलता। एक वह तिर्यंच था जिसे राम ने पूर्व–पर्याय में णमोकार मंत्र सुनाया। वह था सुग्रीव का जीव –बैल, जिसको मरते समय राम ने णमोकार मंत्र सुनाया। इसलिए ध्यान रखना, कहीं तुम जा भी रहे हो, तो रुक जाना, उस व्यक्ति को णमोकार सुना देना, वह चूहा और चिड़िया ही क्यों न हो। काम तो बाद में भी हो सकते हैं, पर हंस आत्मा निकल जाये तो वह हंस मिलने वाला नहीं। मनीषियो ! लोभी कभी दान नहीं देता। नारी पूछे सूँम से, का तुमरो कछु गिर गयो। बोला–मेरा कुछ गिरा नहीं, मैंने किसी को कुछ दिया नहीं, पर मेरे तो दूसरे को लेते–देते देखकर ही प्राण खिसक रहे थे। अरे! ऐसा मत कर लेना कि कोई दान दे रहा है और तुम्हारे प्राण खिसक रहे हैं। मत करो दानान्तराय–कर्म का बंध। यह लोभ कषाय उसे छोड़ने नहीं देती।

भो ज्ञानी! कभी भी मुनि के उद्देश्य से भोजन मत बनाना, क्योंकि तुम शक्ति से ज्यादा बनाते हो। बेचारा शक्ति से ज्यादा कर लेता है। और यदि उसका नम्बर नहीं लगा, तो बेचारे को संक्लेषता होती है। जिनवाणी में यह लिखा है कि श्रावकों को शुद्ध भोजन करना चाहिए। तुम आलसी हो गये हो जो कि तुम शुद्ध भोजन नहीं करते। मूलाचार में 'उद्दिष्ट' की परिभाषा यह है कि महाराज को यह मालूम न हो कि आज तुम्हारे लिए अमुक व्यक्ति के यहाँ जाना है और व्यक्ति को मालूम न हो कि आज महाराज को अपने यहाँ आना है। अरे! न पात्र को मालूम होना चाहिए न दाता को मालूम होना चाहिए, इसका नाम 'अनुद्दिष्ट' है। बताओ, कौन से मुनिराज आपके निमंत्रण पर आपके घर आते हैं ? यह महादोष है, ऐसा कर मत देना, विकल्पों में मत डालना। पात्र नहीं मिले, कोई



बात नहीं है। आपने तो जो भाव भाए थे, उससे लोभ शिथिल हो रहा है। दान क्यों दे रहे हैं आप ? ताकि महाराज भूखे न रहें ? अरे! तुम कभी मत देना। देखो, जब क्षयोपशम--कर्म का उदय होता है, तो चौबीस –हजार मुनियों के आहार हुए हैं। कुछ लोग इसलिए मुनि नहीं बनते, कि सब ही मुनि बन गये तो आहार कौन देगा ? तुम्हें आहार की चिंता है तो मुनि बनना भी मत, लेकिन ध्यान रखना, तुम्हारे पुण्य का योग होगा तो जंगल में भी मिलेगा। तुम यह कभी मत सोचना, कि मैं चर्या करा रहा हूँ। जो आप सेवा कर रहे हैं, यह भी उनका भाग्य है। आप दान अपने लोभ को शिथिल करने के लिए देना, क्योंकि दान देना अहिंसा है और जो दान नहीं देता, वह हिंसक है।



समाधिमरण (मृत्यु–महोत्सव)

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या।।१७५।।

अन्वयार्थ : इयम् = यह। एका = एक। पश्चिमसल्लेखना एव = मरण के अंत में होने वाली सल्लेखना ही। मे = मेरे। धर्मस्वं = धर्मरूपी धन को। मया = मेरे। समं = साथ। नेतुम् = ले चलने को। समर्था = समर्थ है।इति = इस प्रकार की। भक्त्या= भक्ति। सततम् = निरन्तर। भावनीया = भाना चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो मनीषियो! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की यह पावन–पीयूष वाणी अंतरंग में परम विशुद्ध भावों को उत्पन्न करने वाली है। भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी उस अधिकार को प्रारंभ करने जा रहे हैं, जिस अधिकार के बाद सम्पूर्ण अधिकार समाप्त हो जाते हैं। जब तक अधिकारदृष्टि है, तब तक सल्लेखनादृष्टि नहीं। जब तक पूज्य–पूजक की दृष्टि है, तब तक समाधि नहीं है। जहाँ समाधि है, वहाँ पूजा सुनिश्चित है, पर पूजा की भावना वालों की समाधि किंचित भी नहीं है। सम्हलकर सुनना। साधना का शिखर, साधना का फल, साधना का साम्राज्य, उसका नाम सल्लेखना है। उस सल्लेखना की भावना सत्लेखना से ही होगी। सल्लेखना अर्थात् समीचीन लेखन। शरीर और कषायों को सुखा डाला, शरीर को दुर्बल कर डाला, पर कषाय दुर्बल नहीं हुई तो, भो ज्ञानी! शरीर चला जाएगा, पर सल्लेखना नहीं हो पाएगी।

भो ज्ञानी ! आज तक हमने जीवन में अनेक मरण किये हैं। जैनदर्शन में बाल–बाल मरण, बाल मरण, बाल–पंडित मरण, पंडित मरण और पंडित–पंडित मरण इन पाँच प्रकार के मरण की चर्चा की गई है। मिथ्यात्व के साथ जो मरण होता है, वह 'बाल–बाल मरण' है। अहो ! इस आत्मा ने बार–बार बाल–बाल मरण किये हैं। उस बार–बार मरण का ही प्रभाव है कि पंचम काल में आज सभी विराजे हैं। बार–बार मरण नहीं किया होता, तो आज तुम्हारी बार–बार वंदना होती। जन्म को सुधारने की बातें अनंत बार की हैं, लेकिन मरण को सुधारने की बात नहीं की। पूरा जीवन तूने जीने के लिए नष्ट कर दिया, परंतु मरने के लिए कुछ भी नहीं किया। यह मृत्यु–महोत्सव अंतिम उत्सव है जीवन में। सम्यक्त्व के साथ जो मरण है, वह 'बालमरण' है अव्रतदशा में। देशव्रती अथवा प्रतिमाधारी का जो मरण है, वह 'बाल पंडित मरण' है। महाव्रती का मरण 'पंडित मरण' है। केवली भगवान का निर्वाण 'पंडित–पंडित मरण' है। लेकिन ध्यान रखना, जब तक पंडित मरण नहीं करोगे, तब तक पंडित–पंडित मरण नहीं होगा। बिना निर्ग्रंथ मुद्रा धारण किये, पंडित मरण नहीं होता। बिना पंडित मरण किये, पंडित–पंडित मरण नहीं होता। यदि सल्लेखना रहित भी एक निर्ग्रंथ मुनि का मरण होता है, तो वह



बत्तीस भव से ज्यादा संसार में भटक नहीं सकता है। सच्चा भावलिंगी मुनि बत्तीस भव के अंदर-अंदर मोक्ष जाएगा और यदि सल्लेखना सहित मरण कर लेगा तो ज्यादा से ज्यादा सात/आठ भव, और कम से कम दो/तीन भव में मोक्ष हो जावेगा।

भो ज्ञानी! एक जीव जब साधना की कसौटी पर पहुँचकर जैसे ही श्रावक के बारह व्रतों को धारण करता है, वहीं से सल्लेखना का व्रत प्रारंभ हो जाता है। जिन जीवों को सल्लेखना करना हो, वे बड़े विवेक के साथ समझें। रसना इंद्रिय पर नियंत्रण करना प्रारंभ कर देना। अंतिम समय में वासनाएँ नहीं सताती, रसना सताती है। खाया नहीं जाता, पर खाने को माँगते हैं। जिस समय जिह्वा पर रखा, उसी समय हंस निकल गया तो, भो ज्ञानी ! पूरे जीवन की साधना व्यर्थ चली गई। सल्लेखना वाले प्राणी के लिए विश्व के प्राणीमात्र के प्रति समाधि भाव होता है। तभी, मनीषियो! समाधि होती है। एक बात का ध्यान रखना, समाधि में बहुत भीड़ आ सकती है, लेकिन भीड़ में कभी समाधि नहीं होगी, एकांत में होगी। समाधि निज में होगी और समाधि कोई करा नहीं पाएगा, समाधि स्वयं में होगी। जिनके सान्निध्य में सल्लेखना होती है, वे आचार्य 'निर्यापकाचार्य' कहलाते हैं और जिनकी सल्लेखना होती है, वे 'क्षपक' कहलाते हैं। निर्यापकाचार्य की खोज बारह वर्ष पहले से प्रारंभ हो जाती है।

भो ज्ञानी! पूरा प्रकरण अब ध्यान से सुनना। यमराज ने जिनके संकेत दे दिये, वह पुत्र से आज बोल दें, बेटा! मेरे आत्मज हो, मैंने तुम्हें जन्म दिया है, मैंने लालन-पालन किया, पर ध्यान रखना कि अंतिम समय तुम मुझे सल्लेखना जरूर करा देना। किसी हास्पिटल नहीं ले जाना, परंतु उस वैद्य को जरूर दिखा देना, जो रत्नत्रय की औषधि देने वाला हो। शरीर की सुरक्षा तो मैंने अनेक बार की है, परंतु आत्म धर्म की सुरक्षा मैंने आज तक नहीं की। साधक पूरा प्रयास करता है। ध्यान रखना, जरा-सा सिर दर्द हो या कोई विषमता आ गई, तो कहने लगे-मैं तो समाधि लेता हूँ। यदि आप मरने की भावना भाते हो, तो सल्लेखना में अतिचार है। समाधि ऐसे नहीं होती है कि घर में कोई विषमता आ गई, हम तो समाधि लेते हैं। यह कोई सल्लेखना नहीं। सल्लेखना की भाषा को समझना। रत्नत्रय का पालन हो रहा है कि नहीं? सल्लेखना कब करें ?

जीवन में ध्यान रखना, गुरु बनाकर चलना, पर गुरु के गुरु बनने का प्रयास मत करना। जीवन में गुरु रहेगा, तो हर समय तुम्हारी सुरक्षा होगी। मिट्टी के गुरु ने धनुर्विद्याधारी बना दिया, तो यह चैतन्य गुरु निर्वाण पर चलना क्यों नहीं सिखा पाएगा? गुरु आचरण नहीं कराते, गुरु आचार्य होते हैं, गुरु आपके आचरण पर सील लगाते हैं। आचरण तो आपको ही करना होगा। मुनि नहीं बना पाएँगे, मुनि बनकर तो आपको ही रहना होगा। मनीषियो! ध्यान रखना, बिना गुरु सान्निध्य के सल्लेखन लेकर मत बैठ जाना, अन्यथा व्रत को भंग करोगे, या कुमरण करोगे, दो बातें निश्चित हैं। क्योंकि जब तक आपकी पूरी आयु की अवस्था को नहीं जान लेते, तब तक कोई गुरु किसी को सल्लेखना नहीं देते। बारह वर्ष की समाधि आपने ले ली और आयुकर्म अधिक था, तो क्या करोगे? शरीर स्वस्थ्य है, यदि जबरदस्ती छोड़ दोगे, तो परिणाम कलुषित हो जाएँगे। इसलिए समाधि ऐसे नहीं ली जाती है। खेल/तमाशा मत कर लेना। आप अभ्यास करो। जैसे आप जिनालय में एक घंटे बैठे हो, एक घंटे चारों प्रकार के आहार पानी का त्याग करके बैठ जाओ, पंच परमेष्ठी का स्मरण करो, यह सल्लेखना का अभ्यास चल रहा है।



उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निः प्रतिकारे।
धर्मायतनु –विमोचनामाहुः सल्लेखनामार्याः १२२।।र.क.श्रा.।।

सल्लेखना के दो भेद हैं, यम सल्लेखना और नियम सल्लेखना। जब योगी विहार करते हैं, तब नियम सल्लेखना लेकर चलते हैं। जब जंगल से पार हो रहे हैं, नदी या अटवी से पार हो रहे हैं, उसमें सल्लेखना ले कर चलते हैं। क्या मालूम, कोई खूंखार जानवर ने आक्रमण कर दिया। वह नियम सल्लेखना है। जब तक मैं इस जंगल से पार नहीं हो जाऊँगा, तब तक मौनव्रत ले लेते हैं, और सिद्धभक्ति आदि बोल कर योग धारण कर लेते हैं, पंचपरमेष्ठी के स्मरण में लीन हो जाते हैं, यदि घोर उपसर्ग आ जाए, जिसमें समझ में आ जाए कि मैं अब जीने वाला नहीं हूँ। मनीषियो! पूछ लेना उस कन्या से, जिसे अजगर ने निगल लिया। पिता पहुँच गए, कुल्हाड़ी हाथ में उठा ली। सल्लेखना की दृष्टि देखना–हे तात! इसको मत मारो, हिंसा के भागीदार मत बनो, बेटी अब नहीं मिलेगी। हे जनक! यह अजगर मेरा परम मित्र है। आज मैं प्रभु का स्मरण करते–करते और प्रसन्नता के साथ यम के गाल में जा रही हूँ। पिता के देखते–देखते अजगर ने निगल लिया। अहो मुमुक्षुओ!

अहिमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवी, अण्णं परमाणु मित्तंपि।।४३(स.सा.)।।

'अहिमिक्को खलु सुद्धो' का नाद गूंज रहा है। अहो ! तू जिसे निगल रहा है, वह मैं नहीं हूँ और जो मैं हूँ, उसे तू कभी निगल नहीं सकता है। चर्म का मुख मेरे धर्म का चर्वण नहीं कर सकता। हे मुमुक्षु आत्माओ! ध्यान रखना–कोई छील दे बसूले से तो भी उसमें शांत हो जाना, लेकिन अपने धर्म को मत छील लेना। समाधि सम्यक्दृष्टि की होती है। जब देख लिया कि जीवन बचने वाला नहीं है, उस समय सल्लेखना की जाती है। ''दुर्भिक्षे'' घोर अकाल पड़ जाए। जहाँ श्रावकों को खाने को ही न हो, वहाँ संयमी को कैसे भोजन मिलेगा ? उस समय वह आत्मधर्म की रक्षा के लिए सल्लेखना धारण कर लेते हैं। जरा यानि बुढ़ापा। जब आँखों से दिखना बंद हो गया, कानों से सुनना बंद हो गया, समितियों का पालन होते नहीं दिखता; उस समय, मनीषियो! सल्लेखना धारण कर लेना चाहिए। रोग हो जाए, जिसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता। अज्ञानी रोएगा परन्तु ज्ञानी कहेगा, ''अहो! मेरा सौभाग्य है, जो मुझे पन्द्रह दिन पहले से मालूम चल गया। चलो, मैं अपनी साधना करता हूँ।'' भो ज्ञानी! सल्लेखना पर पहला ग्रंथ है शिवकोटि महाराज का 'भगवती आराधना'। ओहो! सल्लेखना शुरू नहीं की, स्थान बता रहे हैं कि कहाँ सल्लेखना हो सकती है। 'समाधि भक्ति' में आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी लिख रहे हैं–

गुरुमूले यतिनिचिते, चैत्य सिद्धांत वार्धिसद्घोषे।
मम भवतु जन्मजन्मनि, सन्यसन समन्वितं मरणम्।।

प्रभु! मेरा मरण हो तो कहाँ हो? 'गुरु मूले', गुरुदेव के चरणों में हो, जहाँ पर यतियों का समूह हो। एक निर्दोष सल्लेखना के लिए अड़तालीस मुनि चाहिए। अहो श्रावको! रागी तो पानी पिला डालेंगे,



जिनवाणी नहीं पिलाएँगे। गुरु तुम्हें पानी नहीं, जिनवाणी पिलाएँगे। आचार्य ब्रह्मदेव स्वामी ने 'परमात्म प्रकाश' की टीका में लिखा है कि अंतिम समय में निश्चित ही ऐसी मति हो जाएगी और जैसी मति है, निश्चित वैसी ही गति हो जाएगी। जैसी मति है, वैसी गति निश्चित है। इसलिए मति को अभी से सुधार लो, श्री और श्रीमती से हट जाओ। एक बेटे को औषधि का पान कराना हो तो माँ उसकी नाक पकड़ लेती है। तुम्हारे मुख को दबा सकती है, लेकिन तुम्हें गुटका नहीं सकती। गुटकना तो तुम्हें ही पड़ेगा। इसलिए समंतभद्र स्वामी कह रहे हैं कि "धर्मायतनं विमोचनं" धर्म के लिए शरीर छोड़ना, इसका नाम सल्लेखना है। वह सल्लेखना श्रावक भी करता है, साधु भी करते हैं। कहा भी है–

कालक्षेपो न कर्त्तव्याः आयुक्षीणे दिने–दिने।
यमस्य करुणा नास्ति,धर्मस्य त्वरितागति।।

भो ज्ञानी! मरण दो प्रकार का होता है–तद्भव मरण और नित्य मरण। आयु पूर्ण करके मरना, यह तद्भव मरण है और प्रतिदिन मरना, वह नित्य मरण चल रहा है। "यमस्य करुणा नास्ति" यमराज को कोई करुणा नहीं है। इसलिए "धर्मस्य त्वरितागति" धर्म में तुरंत गमन करो। भो ज्ञानियो! मरना तो होगा, निश्चित है। कुंदकुंद स्वामी 'मूलाचार' में कह रहे हैं··

धीरेण वि मरिदव्वं, णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं, वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं।। १००।।
सीलेणवि मरिदव्वं, णिस्सीलेणवि अवस्य मरिदव्वं।
जइ दोहिं वि मरियव्वं, वरं हु सीलत्तणेण मरियव्वं।। १०१।।

अहो मुमुक्षु! धीर को भी मरना पड़ता है और अधीर को भी मरना पड़ता है। जब दोनों को ही अवश्य मरना पड़ता है तो क्यों न हम धीरता के साथ मरण करें? यदि शील के साथ मरे तो 'समाधि मरण हो गया' कहेंगे। शव यात्रा नहीं, शिव यात्रा निकलेगी, क्योंकि मुमुक्षु की शवयात्रा नहीं होती। पंडित–पंडित मरण करने वाले की कभी शवयात्रा नहीं होती है। कपूर की भांति शरीर उड़ जाता है। न डंडे की आवश्यकता पड़ती है, न कण्डे की। घर से निकल चलो पिच्छी कमण्डल लेकर नहीं तो डंडे व कण्डे के साथ तुम्हारा बेटा निकालेगा। आचार्य अमृतचंन्द्र स्वामी कह रहे हैं–परमार्थ की दृष्टि बनाकर चलना, लेकिन व्यवहारिकता से खोखले मत हो जाना।

मनीषियो! यह धन साथ नहीं जाएगा, यह धरती साथ नहीं जाएगी, यह कुटुम्बी भी नहीं जाएँगे। नारी कहाँ तक जाएगी? जिसके पीछे तूने पूरी देह खोखली कर डाली, वह देहरी के पार नहीं जाती। बहिन कहाँ तक? मात्र शरीर तक। परिवार कहाँ तक? श्मशान घाट तक। इसके बाद क्या होगा? तेरी चिता जलेगी। अहो! जिनका चित्त निर्मल नहीं है, उनकी बार–बार चिता जलती है। जिनका चित्त निर्मल हो जाता है, वह चारित्र धारण कर लेते हैं। चारित्र धारण कर लेते हैं तो पंडितमरण हो जाता है और पंडित मरण हो जाता है, तो आगामी पंडित–पंडित मरण की भूमिका बनती है, फिर ये चिताएं नहीं जलतीं। हे मुमुक्षु! जब तक तुझे निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक पंचपरमेष्ठी भगवान के चरण छोड़कर मत बैठ जाना। वे ही चरण तुझे परम–चरण की शरण प्राप्त कराएँगे।



जन्म नहीं, मरण सुधारो

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम्।।१७६।।

अन्वयार्थ :– अहं = मैं। मरणान्ते = मरणकाल में। अवश्यम्= अवश्य ही। विधिना = शास्त्रोक्त विधि से। सल्लेखनां = समाधिमरण। करिष्यामि = करूँगा। इति = इस प्रकार। भावनापरिणतः= भावनारूप परिणति करके। अनागतमपि = मरणकाल आने के पहिले ही। इदं = यह। शीलम् = सल्लेखना व्रत। पालयेत् = पालना चाहिए।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भव्य आत्माओ! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की पावन–पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचन्द्रस्वामी ने अलौकिक/दिव्य सूत्र प्रदान किया है कि निर्मल जीवन उसी का है, जिसने जीवन में मरण की कला को सीखा है। मनीषियो! चतुर्गतियों के लिए तुमने अनंत बार जिया है। कितने भेष बदले, कितने भाव बदल दिए, भव बदल दिए; परंतु भवातीत नहीं हुये। अहो ज्ञानियो! पुण्य के सद्भाव में व्यक्ति को पाप की काली रात्रियाँ नजर नहीं आती हैं। ध्यान रखना, न पुण्य काम में आएगा, न भगवान काम में आएँगे। तेरे भाव ही काम में आएँगे। भव तेरा भावों से बनेगा। जैन सिद्धांत में तीन प्रकार के मरण की चर्चा है–इग्नी मरण, प्रायोग्य मरण, भक्त प्रत्याख्यान मरण। हम सभी इतने अशुभ कर्म से बंधे हुए हैं कि आज का एक श्रेष्ठ मुनि या आचार्य भी इग्नी मरण नहीं कर सकता, प्रायोग्य मरण नहीं कर सकता, क्योंकि पंचम काल में एकमात्र भक्त–प्रत्याख्यान मरण होता है। यह प्रकरण 'षट्खण्डागम' से प्रारंभ हो रहा है।

भो ज्ञानी! मरण के तीन भेद किए हैं–'च्युत, चावित, त्यत्'। जो मरण आयु को पूर्ण करके हो रहा है, वह 'च्युत मरण' है। जो कदलीघात मरण होता है, उसका नाम 'चावित मरण' है और जो सल्लेखना–पूर्वक मरण होता है, वो 'त्यत् मरण' कहलाता है। 'कदलीघात मरण' को ही जिनवाणी में अकालमरण कहा जाता है। 'कदलीघात मरण' का अर्थ होता है–जैसे केले के वृक्ष में एक बार फल आ जाते हैं, पुनः उसमें फल नहीं आते, उस केले के वृक्ष को निकाल कर अलग कर दिया जाता है, परंतु उसकी आयु पूरी नहीं होती है।

विसवेयण रत्तक्खय–भय–सत्थत्गहणसंकिलेसेहिं।
उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ।। गो.(क.का.)-५७।।

उसी प्रकार से विष कि वेदना से, रक्त के क्षय से, श्वांस के निरोध से, आहारपानी के न मिलने से, अतिशीत बाधा से, अतिउष्ण बाधा से, वज्रपात इत्यादि कारणों से जो मरण होता है, उसका नाम



है अकाल मरण। सल्लेखना 'आत्मघात' नहीं है। अहो ज्ञानियो! जब भी किसी जीव का अकाल मरण होता है, ध्यान रखना, आयु की पूर्णता की अपेक्षा से सुकाल ही होगा। जो आयुकर्म एक सौ वर्ष चलने वाला था, उसके निषेक अंतर्मुहूर्त में क्षय हो जाते हैं, इस अपेक्षा से सुकाल है; लेकिन जो सौ वर्ष चलने वाले थे, इस अपेक्षा से अकाल मरण है। उदयावलि में समय के पहले खिर जाना, इसका नाम है 'उदीरणा'। तपस्या के द्वारा समय के पहले कर्मों का खिरा देना, इसका नाम है–अविपाक निर्जरा। भो ज्ञानी! चावित का नाम 'कदलीघात मरण' है। 'च्युत' आयु को पूर्ण करके मरण होता है। 'त्यक्त' वह सल्लेखना–पूर्वक मरण होता है।

यह पंचम–काल दग्ध–काल है। संहनन हीन है, परिणाम अति विशुद्ध नहीं है। जीवों के उत्तम संहनन के अभाव में, मनीषियो! प्रायोग्य–मरण और इग्नी–मरण नहीं होता। क्योंकि इस समाधि की साधना में क्षपक अपने शरीर की स्वयं सेवा करता है, अपने शरीर की सेवा दूसरों से नहीं करवाता है। पात्र को स्वयं उठाएँगे। क्योंकि आपने मेरा कमण्डल ले लिया, विवेक की बात समझना, यदि मैं लेकर चलता और जब रखता तो मार्जन करके रखता। उपकरण मेरा है और आप कहीं भी रख देते हो। आदान–निक्षेपण समिति स्वयं की होती है। वे महान योगी किसी को अपना कमण्डल भी नहीं देते हैं। किसी को शरीर से स्पर्श नहीं होने देते हैं। जब थकेंगे तो स्वयं के हाथ–पैर नहीं दबाएँगे। शरीर का काम शरीर का है, मेरा काम मेरा है। इसको एक बार भोजन दिया है, एक बार पानी दिया है, उससे काम लेना मेरा कर्त्तव्य है। ऐसे उत्तम संहनन् धारी, ऐसी साधना करने वाला योगी ही सर्वार्थसिद्धि और सिद्धालय में जाता है। शेष योगी सिद्धालय नहीं जा पाएँगे। सम्यक्दृष्टि जीव का उसी भव से यह बाल–पंडित–मरण है। सामान्य अविरत सम्यक्दृष्टि जीव का बाल–मरण होता है। देशव्रती का बाल पंडित मरण होता है।

भो ज्ञानी! प्रायोग्यमरण में साधक न स्वयं अपने शरीर की सेवा करते हैं, न दूसरे से सेवा करवाते हैं। इग्नी मरण में दूसरे से सेवा नहीं करवाते, स्वयं की सेवा स्वयं करते हैं। यदि आवश्यकता पड़ जाए तो अपना पैर भी दबा सकते हैं। आवश्यकता पड़ जाए तो तेल भी लगा सकते हैं। थोड़ा समझना, क्योंकि लोगों के बीच में जो भ्रम है वह आगम के विपरीत है। आगम के अनुसार तेल 'आहार' नहीं है। इस भ्रम को निकाल देना। हमारे आगम 'भगवती आराधना,' जो समाधि का सबसे महान ग्रंथ है तथा गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में छह प्रकार के आहार की चर्चा है। पहला आहार मानसिक आहार, दूसरा कवलाहार, तीसरा ओजाहार, चौथा लेपआहार, पाँचवा कर्मआहार, छठवाँ नो कर्मआहार। इसमें मनुष्य और तिर्यचों का जो आहार होता है, वह कवलाहार कहलाता है। जो ग्रास तोड़–तोड़ कर लिया जाता है, वह 'कवलाहार' है। देवों का जो आहार होता है, अमृत झर जाता है, 'मानसिक आहार' कहलाता है। अंडों के अंदर पक्षियों का जो आहार होता है, सेते हैं, वह 'ओज आहार' कहलाता है। केवली भगवान का जो आहार होता है वह 'नो कर्म' आहार है।

भो ज्ञानी! आप तेल को लेप आहार कहते हैं, यह आगम के पूर्ण विरुद्ध भाषण करते हो, एक–इंद्रिय जीव का जो आहार होता हैं, उसका नाम 'लेप–आहार' है। वृक्षों को खाद पानी दिया जाता है, वह 'लेप– आहार' है। यदि शरीर के श्रृँगार के उद्देश्य से आप कर रहे हो, तो राग दृष्टि है, पर आहार नहीं है। सल्लेखना के काल में, मनीषियो! चार प्रकार के आहार का त्याग होता है। आगम में खाद्य,



स्वाद्य, लेह्य और पेय ये चार प्रकार के आहार हैं। तो लेह्य आहार है, 'लेप आहार' नहीं है। 'लेह्य' यानि जिसको चाट–चाट कर खाया जाता है, जैसे चटनी, रबड़ी आदि। सल्लेखना के समय में, यदि क्षपक को उचित निर्यापकाचार्य नहीं मिले और आगम–ज्ञान के अनभिज्ञ मिल गए तो असमाधि जरूर करा देंगे। शरीर में दाह हो रहा है तो शीतल उपचार कर दो। परिणाम विकृत न होने पाएं। ग्रीष्मकाल है तो उनके तलुवों में आप घी लगा दो। इग्नी–मरण की साधना जब करता है साधक तो, मनीषियो! पूर्ण स्वावलंबी होता है। अपने शरीर की सेवा स्वयं करेंगे। सभी श्रावकों को वैयावृत्ति करने का अधिकार नहीं है। सल्लेखना के काल में उसी साधु और श्रावक को अंदर प्रवेश देना जिसका निर्विचिकित्सा अंग, वात्सल्य अंग, उपगूहन अंग, स्थितिकरण अंग प्रचुर हो। वहाँ संयम के दोष नहीं देखे जाते, वहाँ परिणामों को सम्हाला जाता है। अज्ञानी जीव को तो यह लगेगा–अरे! इतने बड़े साधु, और भोजन माँग रहे थे? हाँ, भोजन भी माँग सकते हैं। लेकिन आपकी बुद्धि इतनी निर्मल होनी चाहिए कि भोजन भी न दें और संक्लेषता भी न होने दें।

भो ज्ञानी! मरण का तीसरा भेद भक्त प्रत्याख्यान मरण है। इसका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का होता है, जघन्य काल अंतर्मुहूर्त का है और मध्यकाल के असंख्यात भेद हैं। उसमें मुनिराज स्वयं भी अपने शरीर की सेवा कर सकते हैं और दूसरे से भी करवा सकते हैं। आप लोग परमेष्ठी को, जो जिस रूप में है, उसे वैसा मानिए। अरिहंत, अरिहंत हैं और साधु, साधु हैं। भूल तुम्हारी भावना की हो जाती है जो कि आपने साधुओं को भगवान मान लिया है। अठारह दोषों से रहित तो भगवान होते हैं, साधु नहीं। वे अट्ठाईस मूलगुणों के पालक होते हैं। महाव्रतों का पालन मुनिराज करते हैं। लेकिन उन्हें तुम भगवान बनाकर चलोगे तो तुमको दोष नजर आएंगे। उनको महाराज मान कर चलोगे तो निर्दोष नजर आएँगे। जहाँ तुमने जैसे को वैसा नहीं समझा तो सम्यक्ज्ञान भी नहीं होगा। अन्यून अर्थात् न्यूनता से रहित हो और अधिकता से रहित हो। 'यथातत्त्वम्', जो जैसा है उसको वैसा समझना, उसका नाम सम्यक्ज्ञान है। एक अविरत सम्यग्दृष्टि को हम महाव्रती का अवरोपण करके देखें तो उसका जीवन नहीं चल सकता। जो साधुचर्या का कथन करने का ग्रंथ है, उसे श्रावक अपने में देख लेगा तो श्रावक बनकर नहीं जी पाएगा। पंचम काल का साधु बारहवें गुणस्थान को लेकर चलेगा तो कभी साधु बनकर नहीं जी पाएगा, घबरा जाएगा।

भो ज्ञानी! 'नियमसार' की वाचना टीकमगढ़ में चल रही थी, आचार्यश्री क्लास ले रहे थे। जब निश्चय–गुप्ति का कथन आया तो मैं यह नहीं समझता था कि निश्चय–गुप्ति और व्यवहार–गुप्ति क्या होती है। वहाँ तो सीधा कथन चल रहा था कि गुप्तियाँ ऐसे होना चाहिए। सिर हिल गया, शरीर में रक्त का संचार चल रहा है, आत्म प्रदेशों मे चंचलता चल रही है, तो 'काय गुप्ति' गई। हम लोग कहने लगे– महाराज! तो फिर साधु कहाँ बचे। बोले–नहीं, पहले पूरी बात सुनो! यह निश्चय–गुप्ति का कथन है। व्यवहार–गुप्ति से स्थिर रहना काय–गुप्ति है। कुचेष्टा नहीं करना विहार करते समय, काय गुप्ति होगी, ईर्या समिति से जो चल रहे हैं। जब गुप्ति का पालन नहीं होता, तो समिति का पालन करते हैं; पर गुप्ति का अभाव नहीं है, वहाँ समिति का सद्भाव है। सामायिक के काल में एषणा समिति होगी, अट्ठाईस मूलगुण रहेंगे। लेकिन ध्यान रखना, क्रिया में एक ही होगा। आपने एक गुप्ति

का कथन समझ लिया और समिति को नहीं समझे। इसलिए गुप्तियाँ भी हैं और समितियाँ भी हैं, और दस धर्म भी हैं।

भो ज्ञानी! भक्तप्रत्याख्यान मरण की साधना के लिए जब साधक जाता है, तो बारह वर्ष की साधना एक–दो दिन में नहीं होगी। दो व्यवस्थाएँ हैं। मुनिराज यदि समाधि लें तो स्वगण में भी कर सकते हैं। आचार्य समाधि लें तो राजमार्ग यही है कि परगण में समाधि लें। स्वगण यानि जिस मुनि संघ में हैं, वहीं। पर–गण यानि दूसरा मुनि संघ। प्रत्याख्यान–मरण की भावना से युक्त होकर एक आचार्य परमेष्ठी अपने निमित्त ज्ञान से, ज्योतिष से। (जैन सिद्धांत में ज्योतिष व तंत्र–मंत्र को मोक्षमार्ग में उपादेय स्वीकार नहीं किया व जैन सिद्धांत का खगोल व ज्योतिष वृहद् है और दसवाँ पूर्व इसी से भरा है। 'करलक्खण' यानि हस्तरेखा ग्रंथ इसलिए लिखा है कि जब एक मुमुक्षु मोक्षमार्ग की इच्छा से आता है, तो मुझे उसे नख से शिख तक देख लेना चाहिए। यहाँ तक लिखा है 'भगवती आराधना' में कि यदि इस विषय का जानकार मिथ्यादृष्टि विद्वान भी है, तो उससे तद् विषयक जानकारी ले सकते हैं। मुहूर्त विषय किसी के शास्त्र का नहीं है। ज्योतिष विमानों का है, नक्षत्रों का है, तारों का है। इसमें सम्यक्त्व या मिथ्यात्व नहीं होता।) जब जान लेते हैं कि अब मेरा आयुकर्म नजदीक है, निषेक निकलने वाले हैं, तो वे आचार्य परमेष्ठी देखते हैं कि अब यह आचार्य पद भी मेरी समाधि का साधन नहीं है। मैंनें बहुत दीक्षाएँ दे दी हैं। अब तो सन्यास काल है, अब गणपोषण काल नहीं है। योग्य शिष्य को बुलाएँगे और पूरे संघ में मुनि परिषद लगेगी। फिर आचार्य चर्चा करेंगे– हे यतियो! वीतराग शासन जयवंत रहे, ऐसी चर्या करना। ऐसा कोई कदम नहीं रखना कि कुल को कलंक लगे। ऐसी भाषा सुनते ही अचानक साधुगण पिच्छी उठा लेते हैं और पूछते हैं– प्रभु! आज ऐसा क्यों कह रहे हैं आप। तब आचार्य कहते हैं–मैं चाहता हूँ कि संघ का संचालन सुनिश्चित व व्यवस्थित रहे। इसलिए आप लोगों में से किसी को मैं बालाचार्य पद देना चाहता हूँ। अभी नहीं कहा कि मैं सल्लेखना लेने जा रहा हूँ, क्योंकि उनके अहिंसा महाव्रत है। एकाएक कहेंगे तो धक्का लग सकता है साधुओं को। योग्य साधु को, जिनके लिए सम्पूर्ण संघ ने स्वीकृति दे दी है, जो गुणों में, ज्ञान में और संयम में वृद्ध हों, उनको बालाचार्य पद पर अधिष्ठित करते हैं। अब आचार्य महाराज के पास शिष्य आया कि, प्रभु! अमुक दोष हो गया है, तो कहेंगे– जाओ! बालाचार्य महाराज से प्रायश्चित ले लो। अभी वह देखेंगे कि यह किस प्रकार से प्रायश्चित देते हैं। इस प्रकार आचार्य ही आचार्य बनाते हैं। व्यवस्था को चलाने के लिए चतुर्विध संघ भी अपने आचार्य को स्वीकार कर लेता है। हमारे आगम में व्यवस्था है कि प्रायश्चित ग्रंथ उन बालाचार्य महाराज को आचार्य महाराज एकांत में पढ़ाते हैं।

आपको भी यह विचार करना है कि जब भी मेरा मरण होगा तो मैं समाधि सहित ही मरण करूँगा। चिंता नहीं करना, समाधि ही सुधारना है। जीवन तो बहुत सुधर गए, मरण सुधारना है।



सल्लेखना आत्मघात नहीं

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति।। १७७।।

अन्वयार्थ : अवश्यं = अवश्य ही। भाविनी = होनहार। मरणे 'सति'= मरण के होते हुए। कषायसल्लेखनातनुकरण मात्रे = कषाय सल्लेखना के कृश करने मात्र व्यापार में। व्याप्रियमाणस्स = प्रवर्त्तमान पुरुष के। रागादिमन्तरेण = रागादिक भावों के बिना। आत्मघातः = आत्मघात। नास्ति= नहीं है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की पावन–पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी ने अलौकिक दशा का कथन किया है कि जीव ने अनंत भवों से मरने की कला को नहीं सीखा है। सल्लेखना पूर्वक मरण ही व्यवस्थित मरण है, क्योंकि मुमुक्षु जीव का जीवन ही व्यवस्थित नहीं होता, वरन् मरण भी व्यवस्थित होता है। "भगवती आराधना" ग्रंथ में उल्लेख है कि संघ के आचार्य अपनी सल्लेखना प्रारंभ करने के पूर्व संघस्थ ज्येष्ठ साधु को बालाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। आचार्य ने अभी उन्हें आचार्य पद नहीं सौंपा है। पूरे संघ को विराजमान कर लेते हैं और विराजमान करने के बाद सारे गण को शिक्षा प्रदान करते हैं। पद ही नहीं देते, आचार्य उनको आचार्यत्व का श्रद्धान् भी देते हैं। जो श्रद्धाएँ मेरे प्रति थीं आपकी, वह सारी श्रद्धाएँ मेरे नवीन आचार्य के प्रति हो गईं। योग्य नक्षत्र, योग्य मुहूर्त में चतुर्विध संघ के सान्निध्य में, मनीषियो! वे आचार्य परमेष्ठी अपने सिंहासन से उतर कर, जिनके लिए दीक्षा व शिक्षा दी थी, उनके चरणों में नमोस्तु करेंगे। भो ज्ञानी! अहंकार की समाधि हो जाये तो समाधि हो गई। मरण तो हो जाता है, पर जो अंदर का गरूर, अहंकार है, उसकी सल्लेखना पहले कर देना। आगम में लिखा है कि पहले कषायों को कृश करो, फिर शरीर को कृश करो, इसका नाम सल्लेखना है। योग्य नक्षत्र/मुहूर्त को देखकर नवीन बालाचार्य को आचार्य पद पर संस्कारित कर देते हैं। फिर कहते हैं–इस सिंहासन पर विराजें आप। अब देखना कि गुरु खड़ा है तो शिष्य कैसे बैठे? नहीं–नहीं, मैंनें इतने दिन आप सबको दीक्षा दी है, शिक्षा दी है, आज आपको गुरुदक्षिणा देना है। यदि इतने विशाल संघ का संचालन करने वाला नहीं होगा, तो साधुओं की चर्या नहीं चल सकेगी। अनुशासन बहुत अनिवार्य है। जब एक गुरु अपने शिष्य को 'आचार्य' शब्द से संबोधित कर स्वयं नीचे बैठकर नमस्कार करते हैं. –हे आचार्य भगवन्! आपको नमोस्तु। इसमें बहुत बड़ा रहस्य है। जब मैं नमोस्तु कर रहा हूँ तो मेरे चेले तो अपने आप नमोस्तु करेंगे। क्योंकि आचार्य पद तो दिया और तुम समर्पण नहीं दिला पाए, तो आपको आचार्य पद देना या न देना समान था। आपको याद है जब राम जंगल में गये। न भी जाते तो काम चल सकता था। कारण यह था कि यदि मैं यहाँ रहूँगा, तो ज्येष्ठ के सामने लघु को कोई स्वीकार नहीं

करेगा। इसलिए राम अयोध्या छोड़कर चले गये, जिससे कि भरत को सब राजा स्वीकार करें। यह सत्य था कि राम वहाँ रहते, गद्दी पर भले भरत बैठे रहते, लेकिन लोगों की श्रद्धा तो राम पर थी। सम्मान सम्राट का नहीं होता, सम्मान श्रद्धावान् का होता है।

भो प्रज्ञात्मा! आचार्य परमेष्ठी आचार्य पद देने के बाद पुनः संघ में विराजते हैं। नवीन आचार्य के साथ बैठकर अब गण को संबोधित करते हैं और गण के पहले गणी (नवीन आचार्य) से कहते हैं--अभी तक आप गुरु की छाया में रहे हो, परन्तु अब आप गुरु छाया में नहीं, वरन् गुरु पद पर आसीन हो। गुरु पद को गुरू बनाकर चलना। गुरु पद पर पहुँचकर लघु तो बन जाना, पर पद को लघु मत बना देना। नमोस्तु शासन का रक्षण ऐसे करना जैसे तुम अपनी देह का रक्षण करते हो। तुम कष्ट सहन कर लेना, पीड़ाएं सहन कर लेना, लेकिन केशरिया ध्वज को कभी नीचे नहीं आने देना। आचार्य का पद मुनि के पद से बहुत कुछ भिन्न है। मुनि सुकल्याण में ही तल्लीन रहता है। मुनि बड़ा निर्मल स्वभाव है। पर आचार्य को संघ की ही नहीं पूरे जैनशासन की चिंता होती है। समाज की भी चिंता आचार्य को होती है; समाज हमारी बिखर जायेगी, समाज नहीं बचेगी तो अहो! मुनियों की चर्या कहाँ चलेगी? आचार्यों के आठ विशेष गुण मुनियों से, अलग से होते हैं। उनमें एक दूरदर्शी नाम का गुण भी होता है। अन्यथा मत समझना। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा बालक भी आयतन है क्योंकि देव, शास्त्र, गुरु और उनके भक्त कहलाते हैं आयतन। यदि आपने आयतन का अविनय किया है तो सम्यक्त्व की विराधना की है। देव, शास्त्र, गुरु से श्रद्धान हट जाए तो यह मिथ्यात्व में चला जाए। शिष्य माला के मणि जैसे एक धागे में पिरोये होते हैं। वे खिसक न जाएँ इसलिए तीन मणि ऊपर दिये जाते हैं। जैसे माला के मणि एक सूत्र में हैं। भिन्न होकर भी अभिन्न दिख रहे हैं, फिर भी भिन्न हैं। अहो गणी! तुम समाज को सम्हालना तो भिन्न-भिन्न को अभिन्न करके देखना, फिर भी तुम अपने स्वभाव में भिन्न ही रहना; उसको मत खो देना। संघ के गुरु तो एक हैं, पर गुरु के संग में तो अनेक हैं। संघ में रहना समाधि का घातक नहीं है, पर संग बनाकर रहना समाधि का नियम से घातक है। संघ में जहाँ 'ग' लग गया, वहाँ परिग्रह हो गया। जहां 'घ' है, वह चतुर्विध संघ है। साधुओं की ओर दृष्टिपात कर कहते हैं--आप सभी इन आचार्य महाराज की आज्ञा में चलेंगे। आज से प्रायश्चित्त यही देंगे, आलोचना यही सुनेंग, आदेश भी यही देंगे और अब मैं संघ से प्रस्थान कर रहा हूँ। स्वामिन, स्वामिन! ऐसा मत करो। आपने मुझे जीवन दिया है, संयम दिया है। ज्ञान दिया, मुझे सेवा का मौका तो दो।

आचार्य कहते हैं--'भो भव्यात्मन्! हमने आपको मोक्ष मार्ग पर चलने की दीक्षा दी है, अपनी सेवा के लिए दीक्षा नहीं दी है।' यह होती है निर्मल दृष्टि! शिष्य का सेवा करना धर्म है। पर आचार्य को सेवा नहीं चाहना ही धर्म है और शिष्य का विनय करना ही धर्म है। बारह वर्ष की यह भक्त- प्रत्याख्यान विधि अभी प्रारंभ नहीं कर रहे, संस्तर पर आरूढ़ नहीं हुए। अब जाकर विभिन्न संघों मे विचरण करेंगे और वहाँ जाकर यह देखेंगे कि यहाँ का समाचारी किस प्रकार का है। 'भगवती-आराधना' में लिखा है--छोटे मुनिराज, छुल्लक, एलक, ब्रह्मचारी आदि को राग बढ़ेगा, मेरे वियोग में रोयेंगे। सबसे बड़ा विकल्प था कि हम जिसका निर्देश देते थे, आज वे ही मुझे निर्देशन दे रहे हैं। यह अहम्-भाव यदि मन में आ गया, तो सल्लेखना बिगड़ जायेगी। जिनके प्रति विशेष अनुराग था, एकांत में शिकायत



लेकर पहुँच जायेगा, तो उनके भाव बिगड़ेंगे। मैं यदि ज्येष्ठ बनकर रहूँगा तो वह नवीन शिष्य यह कहेंगे कि मेरे पूर्व आचार्य ऐसा नहीं करेंगे तो मैं ऐसा क्यों करूँ? ऐसा करके, समझा करके, कुछ भी हो, सजल नेत्रों को छोड़कर एक अथवा दो मुनिराज को साथ लेकर निर्यापकाचार्य की खोज में जाते हैं। स्वात्मा की प्रभावना के लिए जाते हैं? सब साधु देखते रहते हैं। आगम में परगण की चर्चा सामान्य मुनि के लिए नहीं है। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणधर इन सबके लिए है। इन सबको गण छोड़ना पड़ेगा, यह राजमार्ग है, पद भी छोड़ना पड़ेगा, गणधर भाव भी छोड़ना पड़ेगा। गण छूटना तो सहज हो जाता है, पर, मनीषियो! गणधर भाव का छोड़ना बड़ा कठिन होता है। यहाँ मेरा निर्वाह होगा कि नहीं? अब निर्यापकाचार्य की खोज के साथ–साथ क्षेत्र की भी खोज करेंगे। जिस क्षेत्र में अति उष्णता हो, उस क्षेत्र में संल्लेखना धारण न करें। जिस क्षेत्र में अति शीत का प्रकोप हो, उस क्षेत्र में समाधि के लिए स्थापित न हों। समशीतोष्ण स्थान जहाँ पर हो, वहाँ संल्लेखना का स्थान निश्चित किया जाये। मुनिराज जब विहार करते हैं सहज रूप में, उसमें दो तीन हेतु हैं। पहला हेतु समाजों का ज्ञान हो जाता है कि यहाँ की समाज कैसी है? और वहाँ अंतिम समय का निर्णय करते रहते हैं कि किस समाज में सल्लेखना होती है। यदि शासक विधर्मी है, तो उस नगर में सल्लेखना स्वीकार नहीं की जायेगी। ये भी निर्यापकाचार्य के संघ में जब पहुँचते है तो, ध्यान रखो, श्रावक तो विधिपूर्वक उनकी चर्या करेगा। संघ में जाएँगे, तीन दिन तक एक दूसरे की चर्या देखेंगे। सल्लेखना के लिए स्वीकृति एकाएक नहीं दी जायेगी। जो निर्यापकाचार्य होंगे वे भी उनकी चर्या को देखेंगे। लघुशंका से लेकर विश्राम तक सब चर्या देखी जायेगी। यदि समझ रहे हैं कि इनके अंदर भावना निर्मल है, सल्लेखना चाहते हैं, तो चौथे दिन आचार्य महाराज उनको संघ में रहने की स्वीकृति देंगे, अन्यथा उनसे कह देंगे कि आप विहार कर सकते हो। तीन दिन तक यदि परीक्षा नहीं हो पाती और संभावना दिखती है, तो ज्यादा लंबे समय तक परीक्षा चल सकती है। वे आचार्य पूरे संघ से मंत्रणा करेंगे। क्योंकि अकेले आचार्य महाराज के दम पर समाधि नहीं होती है। सबसे पूछेंगे कि क्या इनको संघ में स्थान दिया जाये? सभी साधु इनको स्वीकृति दे देंगे कि हम सभी सेवा/ वैयावृत्ति करेंगे। तब ही उन्हें संघ में प्रवेश की अनुमति मिलेगी। वैयावृत्ति के अभाव में सल्लेखना संभव नहीं है। वैयावृत्ति बहुत बड़ा तप है। स्वयं के संयम की साधना व रक्षा और दूसरे के संयम की साधना।

भो भव्यात्मा! प्रथम चार वर्ष तक क्रम से अनाज का त्याग करते हैं। पूरा भोजन नहीं छोड़ देना। फिर रसों का त्याग करते हैं और जब आठ वर्ष बीत गये, अंतिम चार वर्ष बचे तो इसमें उपवास की वृद्धि करते हैं। अंतिम जो वर्ष होगा, उस वर्ष में गहनतम् अनशन तप करते हैं। ऐसे तपस्या को बढ़ाते हैं वे वीतरागी मुनिराज। अब क्षपक का अंतिम जो वर्ष चल रहा है उस वर्ष में साधना को और बढ़ायेंगे, कभी अनशन, कभी ऊनोदर। कुछ समय बाद घृत आदि रसों का त्याग कर केवल छाछ लिया। जब देखा कि अब छाछ भी लेने की सामर्थ्य नहीं है, तो उष्ण जल चल रहा है। यह सब क्रमिक है, एका एक नहीं छूटता। वह एक अंतिम दिन आता है जब शरीर शिथिल हो चुका है। उत्सात प्रतिक्रमण होता है, जीवन का अंतिम प्रतिक्रमण है, सात प्रतिक्रमण में अंतिम प्रतिक्रमण। पूरे संघ के पास अब क्षमा माँगने कैसे जाये। अंतिम समय में पिच्छी ला दी क्षपकराज की। भो ज्ञानी आत्माओ! एक मुनिराज की समाधि में सहायक अड़तालीस मुनिराज की चर्चा अपन करेंगे। भो ज्ञानी! ध्यान रखना,



एक मुनि के द्वारा कभी सल्लेखना नहीं होती, कम से कम दो मुनि चाहिए। एक–एक मुनि के पास उनकी पिच्छी रखी जायेगी और कहेंगे–देखो! आपके जीवन में कहीं हमारे क्षपकराज के द्वारा क्लेश पहुँचा हो, तो आज अपने हृदय से क्षमा कर देना। वे मुनिराज अपनी पिच्छी उठाकर क्षमा करेंगे और उनसे जाकर निवेदन–करेंगे कि आप विकल्प नहीं करो, संपूर्ण संघ के साधुओं की आपके प्रति निर्मल भावना है। पंचमकाल में, मनीषियो! चवालीस मुनियों की व्यवस्था का आगम में उल्लेख है। "आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी" कह रहे हैं–यह समाधि, समाधि है; अकाल–मरण नहीं है। समाधि 'आत्मघात' नहीं, समाधि 'सतीप्रथा' नहीं है। मनीषियो! शरीर और कषाय को कृश करने का नाम समाधि है। आयुकर्म के पूर्ण होने पर बचेगा तो नहीं इसलिए पंचपरमेष्ठी की आराधना करते हुए निर्मल भाव से प्राणों का विसर्जन करना, हंस आत्मा को परमहंस बनाकर ले जाना, इसका नाम समाधि है। ध्यान रखना, शरीर को तो सुखा डाला परन्तु कषाय नहीं सूखी, तो समाधि नहीं होगी। रागवश या द्वेषवश विष आदि खा लेना, फाँसी लगा लेना, उसे कहते हैं–आत्मघात। इसमें फाँसी नहीं लगाई जाती, अग्नि में नहीं कूदा जाता, वरन् निर्मल भाव से आयु पूर्ण की जाती है। अपने आत्म–परिणामों को निर्मल करने की प्रवृत्ति का नाम सल्लेखना है। इस प्रकार "दिन–रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ; देहांत के समय में तुमको ना भूल जाऊँ।" मनीषियो! इस सूत्र को रटते रहना आज से ही।



सिद्धि का हेतु समाधि

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः।। १७८।।

अन्वयार्थ : हि = निश्चय करके। कषायाविष्ट = क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ। यः = जो पुरुष कुम्भकजलधूमकेतु = श्वास निरोध, जल, अग्नि। विषशस्त्रैः = विष, शस्त्रादिकों से अपने। प्राणान् = प्राणों को। व्यपरोपयति = पृथक् कर देता है। तस्य = उसके आत्मवधः = आत्मघात। सत्यम् = सचमुच। स्यात् = होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् सल्लेखना या सत्लेखना का कथन कर रहे हैं कि समीचीन रूप से कषाय और शरीर को कृश करते हुए जो विवेक पूर्वक मरण होता है, उसका नाम समाधिमरण है। जिसने वर्तमान में शुभध्यान (धर्मध्यान,, शुक्लध्यान) किये हैं उसी का मरण समाधिमरण होता है। लोगों ने समाधिमरण का अर्थ समझ लिया है कि धर्मक्षेत्र में किसी को रख देना अथवा उसे धर्मात्मा के पास बिठाल देना, इसका नाम समाधिमरण है। अरे, यह तो व्यवहार दृष्टि है। समाधिमरण यानि स्वयं के साम्यरूप परिणामों से युक्त होकर जो मरण है, उसका नाम समाधिमरण है और वह धर्म स्थान पर धर्मात्माओं के बीच में होता है। किन्तु ध्यान रखना, जो समाधि में होगा, वही समाधिमरण करा सकता है। एक सल्लेखना के लिये ४८ निर्ग्रंथों की आवश्यकता होती है। अहो ज्ञानियो! वृद्धत्व से बड़ा कोई सखा नहीं, जो मृत्यु के पास ले जाता है। अतः, वृद्ध–अवस्था आपसे कुछ कह रही है कि गर्दन झुक गई, कमर झुक गई, अब आप कषाय की कषाय को भी झुका दो तो समाधि हो जायेगी।

भो ज्ञानी! सम्राट पद युवराज को राजा स्वयं देता है, इसी तरह आचार्य अपना आचार्य पद स्वयं दें देते हैं। परंतु आप अपनी चाबी क्यों नही छोड़ रहे हैं? क्या नरक के द्वार को खोलने के लिये चाबी रखे हुए हो? तुम क्यों इस परिग्रह में बंधे हो? अहो! रत्नत्रय का प्रतीक जनेऊ भी डाल लिया है और उसमें तुमने चाबी लटका दी है। यह चाबी का छल्ला नहीं था, यह रत्नत्रय– धर्म की याद दिलाने का प्रतीक था। भो ज्ञानी! जैसे आचार्य अपने चतुर्विध संघ को बुलाते हैं; ऐसे ही आप गृह त्याग करें। अपने बेटों को बुलाओ और समाज को भी आमंत्रित करो और कहो कि आप के जीवन में मेरे द्वारा आपके अंतःस् को जरा भी ठेस लगी हो, तो आज मुझे क्षमा कर देना। मैं अब अंतिम विदा की व्यवस्था कर रहा हूँ।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, यह संसार बड़ा स्वार्थी है। जब तक तुम घर में हो, तब तक पूरी सम्पत्ति उनके नाम भी मत कर देना, अपनी जीवन की सुरक्षा के लिए कुछ लेकर चलना; क्योंकि पड़ौसी



भीख डाल सकता है, लेकिन बेटे भीख भी नहीं देंगे। पूरी व्यवस्था समझना, अन्यथा तुम समाधि नहीं कर पाओगे और संक्लेशता में जीओगे। कोई पानी देने को नहीं आयेगा, तुम पानी–पानी चिल्लाओगे। आज सब अपने–अपने दिखते हैं, किंतु जब शरीर शिथिल होता है, मल फूटता है, तब कौन देखेगा? अहो पुत्रो! ध्यान रखना, जब तुम्हारे मल को इन माता–पिता ने उठा कर फेंका था, आज तुमने माता–पिता के मल के लिए नौकर लगा दिया है। सोचो, तुम्हें जन्म इसलिए नहीं दिया था कि तुम माता–पिता को अस्पताल में फेंक आना। तुम्हें जन्म इसलिए दिया था कि तुम अंतिम समय में भी शरीर को सम्हाल लेना। पिता को भी चाहिए कि बेटे ही नहीं और भी कोई गरीब तुम्हारे वंश का है, उसको भी बराबर अंश दे देना। यही समदत्ती है। समाधि के पूर्व अपने जीते जी सब को दे देना चाहिए। दीन–दुःखियों को करुणा दान, पात्रों–सुपात्रों को और तीर्थ क्षेत्रों में भी दान देना चाहिए।

भो ज्ञानी! जब तक तुम्हारी आँखें काम कर रही हैं, तब तक जिनवाणी पढ़ लो, पंच परमेष्ठी के दर्शन कर लो, अंतिम समय में पैर काम करें तो तुम तीर्थों कि वंदना कर लो। क्योंकि 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रंथ में स्पष्ट लिखा है कि जिनबिम्ब की वंदना सम्यक्त्व की उत्पत्ति का हेतु है। तीर्थ वंदना, स्वाध्याय एवं ज्ञान का फल है संयम, और संयम का फल है समाधि। बेटों को सब सौंपने के बाद अब पिता समझाता है–पुत्रो! जैसे हमने समाज को भाया, देश को चलाया, वंश को चलाया है, मेरे बेटो! तुम उसकी लाज रखना। निर्ग्रंथों को दान देते रहना, गरीबों पर करुणा रखना। संबंधों को संबंध मानकर चलना, परंतु अपने स्वभाव को मत खो देना। पिता ने एक–एक को बुला–बुलाकर और यहा तक कि नाती तक के भी पैर पड़ लिये। क्योंकि पिता कहता है कि मेरे संबंध इस पर्याय के हैं, परंतु द्रव्य तू भी अनादि है और मैं भी अनादि हूँ। मेरी पर्याय से तुम्हारे द्रव्य को जरा सा भी कष्ट पहुँचा हो, तो क्षमा कर देना। "खम्मामि सव्व जीवाणां, सव्वे जीवा खमंतु मे, मैत्री में सर्व भूतेषू, बैरं मज्जं ण केणवी"–सूत्र गूँजता है। ऐसा सोच करके वह श्रावक सभी धन व धरती का विभाग करके, संपूर्ण द्रव्य का विर्सजन करके, योग्य मुनिसंघ में प्रवेश कर लेता है। यदि सामर्थ्य होती है और तीव्र भावना है तो उसको दिगम्बरी दीक्षा दे दी जाती है। यदि शरीर में कोई ऐसा दोष है और दीक्षा का पात्र नहीं है, तो अंतिम समय में एकांत स्थान में उनको दीक्षा दी जा सकती है। लज्जाशील हो, नगर का सेठ हो, राज्य पुरुष हो, ऐसे लोगों को शीघ्र दीक्षा नहीं दी जाती। क्योंकि जब तक सर्व सम्मति नहीं होगी तो उनके कारण संघ पर उपसर्ग आ सकता है। यदि राज्य का कर्मचारी है तो जब तक शासन से पूर्ण निवृत्त होकर नहीं आता, उसे दीक्षा नहीं दी जाती है, क्योंकि शासन का उपसर्ग संघ पर हो सकता है।

हे यतीश्वर! कल जो श्रावक था, आज श्रमण के रूप में उनकी सेवा में सभी मुनिराज रत हो जाते हैं, क्योंकि वैयावृत्ति परम–तप है। वैयावृत्ति के अभाव में समाधि नहीं हो पाएगी। उस क्षपक की अब ४८ मुनिराज सेवा करेंगे। सल्लेखना का स्थान नगर से न अति–दूर हो, न अति–नजदीक। शीत, उष्णता तथा गाँव का कोलाहल क्षपक की सल्लेखना में बाधक न हो। वसतिका में खिड़कियाँ होनां आवश्यक है, क्योंकि भीड़ दर्शन के लिए आएगी। किसी को मना नहीं करना, परंतु ध्यान रखना कि अंदर असंयमी का प्रवेश न हो। 'भगवती–आराधना में' लिखा है कि जो उत्तमार्थ साधक की सल्लेखना के दर्शन नहीं करना चाहता, लगता है कि उसे उत्तमार्थ मरण से द्वेष है अथवा समाधि से प्रीति नहीं



है। भो ज्ञानी! निर्यापकाचार्य सम्पूर्ण–गण की स्वीकृति लेने हेतु कहते हैं कि यह क्षपक अंतिम–समाधि के उद्देश्य से आया है, इनकी सल्लेखना के समय सेवा आप करेंगे कि नहीं? इनको स्वीकार करें या नहीं? क्योंकि यह क्षपक सम्पूर्ण–संघ से आज स्वीकृति चाहता है। सभी मुनिराज–त्यागीजन कहते हैं कि, हे प्रभु आचार्य भगवन्! यह तो हमारा अहो भाग्य है कि वैय्यावृत्ति करना पड़ेगी। सोलहकारण भावनाओं में वैय्यावृत्ति एक भावना है। जो वैय्यावृत्ति से शून्य है, वह तो धर्म से शून्य है।

भो ज्ञानी! जिस संघ में वैय्यावृत्ति की भावना नहीं है, उस संघ में कभी प्रवेश नहीं करना चाहिए। यह दृष्टि कोई सिखाने की नहीं अपितु अंतरंग का ऋजु–परिणाम है, ऋजु–भाव है, मार्दव भाव है। और धर्म के प्रति ललक है, तो अपने आप ऐसे भाव बनेंगे कि अपन क्षपक की सेवा करेंगे। अहो! श्रद्धा–विहीन कोई वैय्यावृत्ति नहीं होती है। वैय्यावृत्ति अंतरंग से होती है। यह ध्यान रखा जाता है कि एकसाथ एक ही सल्लेखना कराई जाती है, दो की नहीं। क्योंकि क्षपक को कहीं भाव आ गये कि निर्यापकाचार्य दूसरे पर विशेष ध्यान दे रहे हैं, मेरे पर नहीं दे रहे हैं, तो समाधि बिगड़ जायेगी।

भो ज्ञानी! सबसे कठिन कषाय सल्लेखना है। प्रतिकूलता दिखने पर क्रोध की ज्वाला नाक पर नाचने लगती है। अहो! कमण्डल–पिच्छी कल्याण नहीं करा पाएँगे, कषाय–सल्लेखना ही काम कराएगी। अतः ऋषिराज पूरे संघ को व्यवस्था सौंपते हैं और चार–चार के ग्रुप बना दिए जाते हैं। चार मुनिराज साधक की आहार चर्या में सहयोग करेंगे, चार मुनिराज जहाँ क्षपक विराजमान है उसके दरवाजे पर बैठेंगे, चार मुनिराज उनके मल–मूत्र को उठाने की व्यवस्था करेंगे। निर्विचिकित्सा अंग जिसके पास नहीं हैं, वह ऐसी सेवा नहीं कर सकेगा। आचार्य वीरसागर महाराज की जयपुर में सल्लेखना चल रही थी। आचार्य महावीरकीर्ति महाराज जब पहुँचे तब क्षपक को कफ आ रहा था, तो उन्होंने अंजुली कर दी। अन्य मुनिजन बोले–नहीं–नहीं, आप तो मेहमान हैं। बोले–नहीं, महाराज! मेरी/वैय्यावृत्ति सेवा को आप मत ठुकराओ, मेरा कर्तव्य मुझे करने दो। अंजुली में कफ लेकर बाहर प्रमार्जन करके छोड़ दिया। पेट शुष्क है, भोजन नहीं जा रहा, तो 'भगवती–आराधना' में स्पष्ट कथन है कि अरण्य का तेल मल–शोधन के लिए बहुत उपयोगी है, मल सूखने पर पीड़ा होती है। अतः पेट पर लगाते हैं और आवश्यकता दिखे तो उनके आहार में भी एकाध बूंद चला सकते हैं। दुग्ध तो सल्लेखना वाले को देते नहीं, पर छाछ पेट को स्वस्थ रखने वाली वस्तु है। इसलिए अंतिम समय में छाछ का उपयोग किया जाता है। लेकिन मायाचारी वाला छाछ नहीं, क्योंकि दही में चम्मच घुमाकर तैयार की गई छाछ से तुम असमाधि करा दोगे, क्योंकि पित्त, कफ और वात बढ़ जाएगा। अतः तक्र यानी पानी की तरह छाछ हो। भो ज्ञानी! चार मुनिराज उनके पास बैठकर जिनवाणी सुनाते हैं। पर ऐसे नहीं सुनाई जाती, जिस तरीके से आप लोग सुनाते हो। आप लोग एकसाथ हल्ला करना शुरू कर देते हो। छपक के सामने तुम पाठ और ढोलक–मजीरा शुरू कर देते हो, वह गलत है। अहो! सुनाते–सुनाते उसको थोड़ा विश्राम भी दे दो। आप स्वयं चिंतन करो कि एक घंटे से कुछ ज्यादा प्रवचन हो जाएँगे तो आप ऊब जाते हो, फिर वह क्षपक तो कितनी नाजुक अवस्था में है ?

समाज में क्या चर्चा है, यह पता लगाने का काम चार मुनिराज करते रहेंगे। क्योंकि लोगों के अंतरंग में कहीं भ्रम जाल उत्पन्न न हो जाए, जिससे इस सल्लेखना के बारे में उदासीनता बढ़े। चार मुनिराज व्यवस्था के लिए छोड़ दिए जाते हैं, क्योंकि अनेक प्रकार के लोग आते हैं। आचार्य सोमदेवसूरि

ने लिखा है कि जो संयम से शून्य है, चारित्र पर श्रद्धान नहीं, ऐसे लोग असमय में आकर ऐसी बातें करते हैं कि शास्त्रार्थ की आवश्यकता पड़ जाए। अतः, वाद–प्रतिवाद करने के लिए, चार मुनिराज धर्म–उपदेश करेंगे। शास्त्रार्थ वाले भिन्न होंगे, जो आगम कुशल होंगे। धर्मोपदेश संवेगनीय व निर्वेदनीय भाषा में ही होगा और समाधि परक ही होगा। चार मुनिराज उस सभा की व्यवस्था भी देखेंगे। सभी व्यवस्थाएँ साधुओं के हाथ में ही होंगी। चार मुनियों से कहा जा रहा है कि क्षपक के लिए किसी भी प्रकार का क्लेश न हो, उनके इष्टजन, मित्र आदि आते हैं तो उनको बाहर से ही संतुष्ट करना। क्योंकि कुछ लोग आते हैं, महाराज श्री!नमोस्तु पहचान लिया? अरे! तुम्हें पहचानें कि अपने को पहचानें। चार मुनिराज पुनः निर्देशन कर रहे हैं कि कहीं एक न सम्हाल पाए, तो दूसरा तैयार है। चार मुनिराज रात्रि जागरण करेंग। पर रात्रि जागरण करने वाले वे युवा नहीं होंगे, वे वृद्ध होंगे, गंभीर, धीर, निद्राजयी होंगे और एक समय भी क्षपक को खाली नहीं छोड़ेंगे। आवश्यकता पड़ेगी तो रात में बोलेंगे भी, क्योंकि रात्रि में मौन रहना मुनि का कोई मूलगुण नहीं है। मौन इसलिए है कि अहिंसा व्रत के पालन के लिए अनावश्यक न बोले, परंतु सल्लेखना के समय में वे क्षपक को संबोधन जरूर देंगे।

भो ज्ञानियो! असयंमी लोग वसतिका में प्रवेश न कर पाएँ, इसलिए वहाँ चार मुनिराजों को खड़ा किया जायेगा। असंयमी लोगों को क्षपक के पास नहीं भेजा जाएगा। इस प्रकार भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में ४४ मुनियों की व्यवस्था है, पर विदेह क्षेत्र में ४८ मुनियों की व्यवस्था है। कम– से कम दो मुनिराज तो होना ही चाहिए। एक मुनिराज सल्लेखना नहीं कराएँगे, क्योंकि वे आहारचर्या को कब जाएँगे? शौच क्रिया को कब जाएँगे? क्योंकि जब जाएँगे, तब क्षपक अकेला हो जाएगा। एक समय भी क्षपक को अकेला नहीं छोड़ना है। यह ध्यान रखना कि जब भी वसतिका में प्रवेश करें तो निःसही–निःसही का उपयोग किए बिना क्षपक की वसतिका में प्रवेश न करें, क्योंकि उसकी साधना से प्रभावित होकर बहुत सारे व्यंतर देवी–देवता दर्शन को आते हैं। उनसे आप अनुमति लेकर पूर्ण शुद्धि से जाना। जैसे जिनालय में प्रवेश करते समय ध्यान रखते हो, वैसा ही ध्यान रखना।

मनीषियो! अब अंतिम दशा की चर्चा कर रहे हैं। योगीराज सल्लेखना में रत हैं, निर्यापकाचार्य उन क्षपक के सामने विविध प्रकार का भोजन दिखाते हैं कि जो चाहिए है वह ले लो। उत्तर देते हैं, स्वामिन्! मैंने जीवन में बहुत खाया है। वे श्रेष्ठ/उत्तम साधक हैं, जिन्होंने देखते ही निषेध कर दिया। पुनः पकवान खिलायेंगे नहीं, मात्र दिखायेंगे। क्षपकराज बोले–नहीं, स्वामिन्! बहुत खाया है। अब पुद्गल में खाने की ताकत नहीं। सल्लेखना में हैं। कदाचित नहीं रहा होश, रात्रि के १२ बजे भोजन माँग लिया। तब अज्ञानी तो हल्ला कर डालेंगे कि समाधि बिगड़ गई। रात्रि के १२ बजे भोजन माँगा तो उन्हें समझाते हैं–महाराज! आप मुनिराज हैं, अभी रात्रि के १२ बजे चर्या नहीं होती। अहो! 'तस्य मिच्छामि दुक्कडं', चलो त्याग कर दो। इस प्रकार सम्हाल लिया, क्योंकि उनको तो पता ही नहीं था। अब कहीं गृद्धता या कषाय ने काम किया और असमय में पुनः भोजन माँग लिया, तो इस अवसर पर स्वयं आचार्य महाराज आएंगे। संबोधन देंगे, हे जीव! तूने कितना खाया है, नहीं मानोगे? लाओ भैया। सामने लाकर रख दिया। खिलाऊँ क्या? उनके हाथ पर रख दिया और हाथ पकड़ लिया। लो, ले जाओ मुख की ओर। फिर हाथ पकड़ लिया। सुनो! तुमने जीवन भर साधना की है और आज पुद्गल के टुकड़ों के पीछे क्या तुम संयम को खो दोगे ? नहीं। छोड़ दिया खाना। स्वामिन! प्रायश्चित्त



दो। आचार्य तुरंत प्रायश्चित्त करा रहे हैं। ठीक है, स्थिर हो जाओ। कदाचित्, आहार की बेला पर माँग रहे थे, तो दे दिया, मुख में भी रखवा दिया, खा लो। अब खाने की ताकत तो थी नहीं, जीभ भी चल रही है। फिर भी बोले—नहीं,नहीं और खाना पड़ेगा, पर चेहरा हिला रहे हैं। अब तो नहीं चाहिये। ठीक है, निकाल दो। मुख—शुद्धि कर लो, अब प्रत्याख्यान कर लो। अब भोजन नहीं चाहिये। तो चारों प्रकार के आहार पानी का त्याग कर दो। प्रभु! दर्द हो रहा है। कोई बात नहीं, सहनशीलता लाओ। पुनः कराहने पर आचार्य भगवान् कहते हैं—हे क्षपकराज! तुम मृत्यु से मत भागना। सुकुमाल महाराज, सुकौशल महाराज और गजकुमार महाराज को तो देखो। तुम्हारे जीवन में कौन सा कष्ट है। अहो! इस पर्याय में तुम उलझे हो। पर्याय से दृष्टि को हटाओ।

क्षपक 'समयसार' में जी रहा है। जब तक समयसार में जीना नहीं सीखोगे, तब तक सल्लेखना संभव नहीं है। अंतिम दशा और सावधानी के विषय में समझो। शरीर की शक्तियाँ क्षीण हो गईं और हाथ का हिलना बंद हो गया, ऊपर दृष्टि हो गई। बस, आचार्य समझ लेते हैं कि नेत्रों के पलक का उठना भी समाप्त हो गया। पूछते हैं, जाग्रत हो? अब तक जो छाछ चल रहा था, वह भी समाप्त हो गया। अब उष्ण जल भी छूट गया। अब तो जिनवाणी का "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" चल रहा है और देखतेदेखते हंस परमहंस—अवस्था को प्राप्त हो गया। इस अंतिम दशा का स्वयं बोध हो जाता है। अतः, आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी इस कारिका में उल्लेख कर रहे हैं कि सल्लेखना आत्मघात नहीं, आत्म—साधना है। जल में कूद कर मर जाना, विष खाना, सती हो जाना, यह आत्मघात है। जबरदस्ती किया जाता है। लेकिन सल्लेखना जबरदस्ती नहीं है। विष के द्वारा, शस्त्र—अस्त्र के द्वारा प्राणों का वियोग नियम से आत्मवध है, लेकिन सल्लेखना आत्मवध नहीं है। साम्य—परिणामों से जो संयम के साथ अंतिम विदा है, उसका नाम सल्लेखना है।





अहिंसा की सिद्धिः है सल्लेखना–मरण

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम्।। १७९।।

अन्वयार्थ : यतः अत्र = क्योंकि सन्यासमरण में। हिंसाया हेतवः = हिंसा के हेतुभूत। कषायाः तनुताम् = कषाय क्षीणता को। नीयन्ते = प्राप्त होते हैं। ततः = उस कारण से। सल्लेखनामपि =सन्यास को भी आचार्यगण। अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् = अहिंसा की सिद्धि के लिये। प्राहुः = कहते हैं।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः।। १८०।।

अन्वयार्थः यः इति = जो इस प्रकार। व्रतरक्षार्थं = पंचाणुव्रतों की रक्षा के लिये। सकल शीलानि = समस्त शीलों को। सततं पालयति = निरन्तर पालता है। तम् = उस पुरुष को। शिवपदश्रीः = मोक्षपद की लक्ष्मी। उत्सुका = अतिशय उत्कण्ठित। पतिंवरा इव = स्वयंवर की कन्या के समान। स्वयमेव = आप ही। वरयति = स्वीकार करती है अर्थात् प्राप्त होती है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

अन्तिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी की पावन–पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी ने जीवन को प्रकाशित करने के लिए अलौकिक सूत्र दिया है कि, 'तुमने अनंत बार मरण किये लेकिन मरण को नहीं जाना।' वैसे मृत्यु का ज्ञान सभी को होता है, परन्तु जन्म–समय याद नहीं रहता। जन्म उल्टा लेना या सीधा–यह प्रकृति पर निर्भर होता है। लेकिन मृत्यु सीधी या उल्टी हो, यह प्रकृति पर नहीं, परिणामों पर निर्भर है। जन्म तो किसी घर में हो रहा है, यह पराधीनता है। जन्म भले ही भोगों की शैय्या पर हो, पर मरण तो सन्यास की शैय्या पर कर सकता है। जन्म के लिए दूसरे को तलाशते हैं, लेकिन मृत्यु तो स्वयं के ऊपर निर्भर है। जन्म कर्माधीन था, पर मृत्यु कर्माधीन नहीं है, पुरुषार्थाधीन है। चाण्डाल के घर में जन्म हो या दरिद्री के घर में, जन्म कर्माधीन होता है। चाण्डाल भी पुरुषार्थ करके सल्लेखना कर सकता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सूत्र दिया है–"यह मत बोलना आप, कि मैंने जैन कुल में जन्म लिया है, मैं ही सन्यास का पात्र हूँ।"

एक तिर्यंच की भी समाधि होती है और हुई भी है। 'भगवान् पार्श्वनाथ' और 'महावीर स्वामी' के जीव से पूछ लेना। अहो ज्ञानी आत्माओ! पुद्गल के अहम् में मत जीना, वर्तमान के वैभव में न झुलस जाना। कुछ लोग उदय को देखकर नेत्रों में आँसू को उदित कर लेते हैं। यदि पाप उदय में आ रहा है, तो पाप का खारापन तेरे उदय में ही तो था। पुण्य उदय में आ रहा है, तो पुण्य का मीठापन तेरे परिणामों में था। इसलिए किसी को इंगित मत करो, अपनी परिणति पर ध्यान रखो।



परिणति खारी होगी, तो उदय खारा होगा, परिणति मीठी होगी, तो उदय मीठा होगा। ध्यान रखना, चाण्डाल के अंदर भी सम्यक्त्वरूपी अंगार धधक सकता है। एक बहुत बड़े कुलीन के पास मिथ्यात्व की दुर्गन्ध छाई रह सकती है। उत्तम कुल में जन्म लेने का नाम श्रावक नहीं, उत्तम परिणति के होने का नाम श्रावक हैं। वह चाण्डाल भी श्रावक है, पर श्रावक--कुल में जन्म लेकर भी आपके अन्तरंग में यदि अश्रद्धान है, मिथ्यात्व है, तो आप भी चाण्डाल से कम नहीं हो। चाण्डाल की पर्याय में मोक्षमार्ग दिख रहा था। जिनसूत्र है कि 'सम्यक्दृष्टि नरक में रहकर भी मोक्षमार्गी है और मिथ्यादृष्टि स्वर्ग में रहकर भी संसारमार्गी ही है।'

सल्लेखना के लिए यह मत सोचना कि उत्तम कुल, उत्तम क्षेत्र चाहिए। सर्प ने सल्लेखना कर ली, सिंह ने सल्लेखना कर ली। एक स्वान ने सल्लेखना की, बैल ने सल्लेखना की। आप क्यों नहीं कर पाओगे? वहाँ पर्याय थी तिर्यंचों की, परन्तु पुरुष जाग्रत था, इसलिए समाधि कर सका। मरते हुए स्वान को जीवंधर कुमार ने 'णमोकार मंत्र' सुनाया। वह देव हो गया। वह स्वान कितना श्रेष्ठ था, उसका पुण्य कितना प्रबल था कि पर्याय स्वान की थी, पर परिणति भगवान की थी। पर्याय पर अहम् मत करो, गौरव करो तो परिणति पर करो। मोक्षमार्ग परिणामों का है। तेरे परिणाम उज्ज्वल, तेरा संयम उज्ज्वल, अब तुझे भगवान् नहीं देखना।

इस पर्याय में पुण्य का उदय है, तुझे सम्हलने का अवसर है। कहीं ऐसी पर्याय में चला गया, जिसमें तू नहीं सम्हल पाया, तो क्या करेगा? मुनिराज ध्यान में लीन थे। चील आई और नेत्र खींच कर ले गयी। अब तो समाधि निश्चित है। ईर्यापथ का शोधन कैसे करेंगे? एक कदम चल नहीं सकते। परंतु वह कह रहे हैं--अहो चील! तू मेरी दो आँखों के गोलों को तो खींच सकता है, लेकिन मेरे अंदर ज्ञान--दर्शन के नेत्र नहीं खींच सकता। चील दोनों आँखें निकाल ले गई, फिर भी चीत्कार नहीं निकली। निर्ग्रंथ की चीत्कार कहाँ? जहाँ चीत्कार है वहाँ निर्ग्रंथ कहाँ? कितनी गंभीर अवस्था होगी, रक्त भी बहा होगा, पीड़ा भी हुई होगी, जड़ तो नहीं थे। पीड़ा बंध नहीं है, पीड़ित होना बन्ध है। निज स्वरूप में लीन हो जाने का नाम ही समाधि है। जो समाधि नहीं कर पाता, वह 'आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी' की दृष्टि में हिंसक है। उसने अपने चेतनरूपी धर्म का घात किया है। यह स्व--पर की हिंसा है।

अब तुम्हें निज की ओर दृष्टिपात करना है। मरते समय मृत्यु बोध किसे होता है? सम्यक्दृष्टि, विशुद्धपरिणामी जीव को अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। जिसने जीवन को जीते--जीते जिया है, वह मृत्यु का बोध कर लेता है। जिसने जीवन को मरते--मरते जिया है, वह मृत्यु के समय मर जाता है। इसलिए जो बारह वर्ष की सल्लेखना है, वह जीवन की कला भी है। 'अमृतचन्द्र स्वामी' सूत्र में कह रहे हैं कि अहिंसक बनो। तुमने हिंसक होकर जीवन भर असंयम किया है। जिनवाणी को जीवन भर सुना है, धर्मआयतनों की सेवा की है। पर कषाय की है, सेवा नहीं। हमने आत्मा की सेवा की होती, तो समाधि हो जाती। किन्तु हमने पर्याय की पहचान विश्व में कराई थी, इसलिए तो हमारी समाधि नहीं हो पाई। चार व्यक्ति एकसाथ पूजा कर रहे है और इतनी जोर से बोल रहे हैं कि दूसरे की आवाज दब रही है। वह पाठ को भूल रहा है। यह असमाधि का कारण है। कोई त्यागी--व्रती आपके यहाँ हैं, परन्तु आप उनकी अविनय कर रहे हो, तो यह असमाधि का कारण है।

सूत्र ध्यान में ध्यान रखना, हे नाथ! मैं दोष बोलने के लिये मौन हो जाऊँ। दोष सुनने के लिए



बहरा हो जाऊँ। दोष देखने के लिए लंगड़ा हो जाऊँ। इतना तुमने सीख लिया तो समाधि निश्चित है। धर्म सुनने के लिए बहरे हो गये, पंचपरमेष्ठी को देखने के लिए अन्धे हो गये और तीर्थ--वंदना के लिए तुम लंगड़े हो गये, तो समझ लो तुम्हारी असमाधि सुनिश्चित है। बिना भावों की निर्मलता के झुकना होता ही नहीं। बिना झुके सल्लेखना होती नहीं है। जिन--जिन को समाधि करना है, उन्हें ज्यादा ग्रंथ नहीं पढ़ना हैं। आचार्य पूज्यपाद स्वामी समाधितंत्र में लिख रहे हैं--

शरीर कंचुकेनात्मा, संवृत--ज्ञान--विग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद्, भ्रमत्यतिचिरं भवे।। ६८।।

हे योगीन्द्र! केंचुली हटाने से सर्प निर्विष नहीं हो जाता। वस्त्र उतार देने मात्र से कोई वीतरागी नहीं होता। जब तक अहंकार/ममकार रूप विष की थैली नहीं निकलेगी, तब तक काम नहीं चलेगा। सल्लेखना कषायों को कृश करने से होती है। जिस जीव ने किसी जीव पर कषाय--भाव किया है, वह दूसरे का घात कर सके, न कर सके, लेकिन स्वयं का घात कर लिया है। इसलिए वह हिंसक है, कसाई है। किन्तु जो समाधि के काल में कषायों को कृश कर रहा है, वह अहिंसक है।

जो जीव कषाय--भाव से युक्त है, चाहे द्वेष जन्य हो चाहे राग जन्य हो, हिंसा दोनों में है। मरण के समय चाहे किसी को क्रोध न आ रहा हो, लेकिन लोभ लगा है, राग लगा है कि मेरे बेटे को बुला दो, मेरे पुत्र को बुला दो, मेरी पत्नी को बुला दो। जिसने तेरी पूरी दुनियाँ का पतन कर दिया उस पत्नी को अभी भी नहीं छोड़ पा रहा है। संयोग थे, संबंध थे, हो गये, लेकिन अब तो स्वभाव पर दृष्टि डालो। अब तो विवेक को जन्म दे दो। मत करो राग। जिसे तुम जोड़ा मानकर चल रहे हो, वह शाश्वत नहीं है। एकमात्र ज्ञान--दर्शन का ही जोड़ा है। इसलिए निज से जुड़ जाओ। अब तो तुम्हारे पास सब निमित्त मौजूद हैं, अभी तो आप अच्छे हो, क्षुल्लक तो बन ही सकते हो। जिसका शील निर्मल है, जिसका चारित्र निर्मल है, जिसका संयम निर्मल है, उसकी समाधि निर्मल है। उसको मुक्ति--कन्या स्वयमेव वर लेती है।



व्रतों में अतिचार न लगायें

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः।। १८१।।

अन्वयार्थ : सम्यक्त्वे = सम्यक्त्व में। व्रतेषु शीलेषु = व्रतों में और शीलों में। पञ्च पञ्चेति =पाँच–पाँच के क्रम से। अमी = ये। सप्ततिः = सत्तर। यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनः =यथार्थ शुद्धि को रोकने वाले। अतिचाराः हेयाः = अतिचार त्याग करने योग्य हैं।

शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम्।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतिचाराः।। १८२।।

अन्वयार्थ : शङ्का काङ्क्षा = सन्देह, वांछा। विचिकित्सा = ग्लानि। तथैव = वैसे ही। अन्यदृष्टीनाम् = मिथ्यादृष्टियों की। संस्तवः च = स्तुति और। मनसा = मन से। तत्प्रशंसा = उन अन्य–दृष्टियों की प्रशंसा करना। सम्यग्दृष्टेः = सम्यग्दृष्टि के। अतिचाराः = ये पाँच अतिचार हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने ग्रंथराज पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में सल्लेखना का कथन करते हुआ लिखा कि प्रशस्त स्थान, निर्मल वातावरण व सिद्ध क्षेत्र, क्षपक की साधना के लिए उत्कृष्ट स्थान हैं। जहाँ बाह्य वातावरण प्रवेश कर जाता है, वहाँ सल्लेखना समाप्त हो जाती है। इसीलिए ऋषियों ने, मुनियों ने, आचार्य भगवन्तों ने, तीर्थंकरों ने ऐसे प्रशस्त स्थान को चुना है जहाँ प्रकृति का मिलन प्रकृति में हो। जहाँ विकृति का लेशमात्र न हो। ऐसे प्रकृति के स्वरूप की प्राप्ति का जो शासन है उसका नाम जैन–शासन है। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि जो विकृति है, वही अतिचार है। विकृति ही अनाचार है। विकृति में जाने का जो परिणाम है वह अतिक्रम है। विकृति की प्राप्ति का परिणाम करने के बाद प्राप्त सामग्री को जोड़ना व्यतिक्रम है। प्रत्येक व्रत के पाँच–पाँच अतिचार होते हैं और ऐसे अतिचार सत्तर होते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी यहाँ कह रहे हैं कि संयम को प्राप्त कर लेना बहुत प्रबल पुण्य योग से होता है, परन्तु संयम को प्राप्त करने के उपरांत निर्दोष–भाव बनाकर चलना, यह उससे भी कठिन होता है। जीवन में व्रत तो दस मिनट में हो जाता है, पर व्रत का पालन जीवन– पर्यन्त के लिए किया जाता है। व्रत स्वीकार करके तुम्हारे भाव बिगड़ गये, तो आप कहीं के नहीं रहोगे। मन के अतिचार का प्रायश्चित कर लोगे, मन के दोषों का प्रायश्चित कर लोगे, लेकिन तन से पाप कर बैठे, तो वहाँ तो आपको पुनः व्रत ही लेना पड़ेगा। 'आचार्य भगवन्' कह रहे हैं कि एक देशव्रत का भंग होना अतिचार कहलाता है और सर्वदेश व्रत का भंग हो जाना अनाचार कहलाता है–



क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलव्रतैर्विलंघनम्।
प्रमोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्ताम्।।९-सा.पाठ।।

व्रतभंग के अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार यह चार भेद किये। किसी व्यक्ति ने रात्रिभोजन का त्याग किया है और रात्रि में क्षुधा सता रही है तो क्षुधा सताना दोष नहीं है, अतिक्रम है। भोज्य सामग्री की खोज करना अथवा व्रत का किंचित उल्लंघन होना, व्यतिक्रम है। पीड़ा का होना कोई कर्म–बंध का हेतु नहीं है, वेदना के विकार में चले जाना या वेदना को नष्ट करने का उपाय सोचना, इसमें बंध है। क्षुधा की वेदना है और वह वेदनीय–कर्म की उदीरणा से आती है। एक व्यक्ति प्रसन्न होकर भोजन कर रहा है, लेकिन ऐसा कौन–सा रोगी होगा जो औषधि को प्रसन्न होकर खा रहा होगा। एक मुमुक्षुजीव भोजन करते–करते कर्म–निर्जरा कर रहा है। देखना, कि साधक की प्रत्येक चर्या कर्म–निर्जरा का हेतु क्यों बन रही है? आहार को गये परन्तु, चिन्तवन क्या चल रहा है, कि भगवन् एक घंटा मेरा बर्बाद हो रहा है। एक घंटा मेरा यहाँ पौद्गलिक टुकड़ों को खाने में लगा है। हे नाथ! वह दिन कब आये जब क्षुधा वेदनीय कर्म का समापन हो जाये। मेरा यह एक घंटा स्वतन्त्र हो जाये। एक क्षण के पीछे कितना विकल्प, कितनी सोच, कितना चिन्तवन, और कितनी स्वतन्त्र दशा होगी? सप्तम गुणस्थान में शुद्ध–उपयोग इसलिए होता है, क्योंकि वहाँ भोजन का विकल्प ही नहीं होता है और सबसे अशुद्ध विकल्प उत्पन्न कराने वाली आहार–संज्ञा है। रोगों की पीड़ा को दूर करने के लिए औषधि खाने में खुश होना–ये तुम्हारी विज्ञता नहीं है, अज्ञता है। जीवन में ध्यान रखना, भोगों को मस्ती में मत भोगना।

जो आत्मा के स्वरूप की शुद्धि का घात करे, उसका नाम अशुद्धि है और अशुद्धि का नाम अतिचार है। व्यक्ति सोचता है कि मैं निर्दोष संयम का पालन करूँ, परंतु अंदर की कमजोरी आपको दोष लगाती है। आपने उदयगिरि की वन्दना का विचार किया, और विचार यह करके आये थे कि मैं पैदल चलूँगा, नंगे पैर चलूँगा। यदि यह दृढ़ता रखते, तो आप पहुँच भी जाते। लेकिन बीच में यह विचार आ गया कि अपन एक काम करते हैं कि कपड़ा बांध लेते हैं पैरों में, अथवा खड़ाऊँ पहिन लेते हैं। यह बीच का विचार आने से आपके मन में जो कमी आ गई, उसमें आपने रूढ़ी निभाई, कि अहिंसा निभाई? अगर उस खड़ाऊँ के नीचे चींटी आ गई, तो चींटी का क्या होगा? चींटी तुम्हारे नंगे पैर के नीचे आ जाये, तो बच सकती है, क्योंकि पैर का तलुआ मुलायम होता है। इसीलिए परिणाम मुलायम हैं, परिणाम निर्मल हैं, तो प्रत्येक व्रत निर्मल पलेगा।

सम्यक्दर्शन के पाँच अतिचार हैं। साक्षात् भगवान खड़े हों, पर जिसका हृदय शंका के रोग से ग्रसित है, जिसकी मानसिकता कलुषित है, वह जीव कहेगा– क्या मालूम यह भगवान सांचे हैं, कि झूठे? आजकल तो कोई सच्चा हो ही नहीं सकता, अब तो भगवान होते ही नही हैं। तत्त्व सात हैं पर उनके पास निर्णय नहीं है। निर्णय के अभाव में आप गृहस्थ–जीवन भी अच्छी तरह से नहीं जी सकते, ये शंका चल रही है। जिनेन्द्रदेव के वचनों में कभी शंका नहीं करना, यह निशंकित–भाव है और यदि शंका है, तो ये सम्यक्दर्शन का पहला अतिचार है। आपको किसी ने थाली लगा के दे दी, अब वो सोचता है–क्या मालूम इसमें जहर तो नहीं मिला? अब आपका पेट नहीं भरेगा, क्योंकि



शंका हो गई। एक सज्जन के यहाँ लीपा–पोती चल रही थी। पत्नि ने लाल मिट्टी लोटे में घोलकर पतिदेव की चारपाई के नीचे रख दी। प्रातः के पाँच बजे उनको शौच–क्रिया को जाना था, उसने देखा कि लोटा तो नीचे रखा है। उठाकर देखा कि पानी भरा हुआ है। लोटा उठाया और चल दिये शौच क्रिया को और जैसे ही शुद्धि करके हाथ देखा, तो पूरा रंगा हुआ था। पहले तो मूर्च्छा खाकर वहीं गिर गये। थोड़ी देर बाद मूर्च्छा हटी। घर पहुँचे और चारपाई पर पड़े, तो बोले कि आज तो एक लौटा रक्त बह गया, पता नहीं कौन–सा रोग लग गया। वैद्य बोले–सब बढ़िया है। तभी अचानक पत्नि बोली–अरे, कोई यहाँ से लोटा ले गया। मैंने रात्रि में मिट्टी को घोल कर रखा था। उसमें लाल मिट्टी थी। पति हँसने लगा, बोला–रोग ठीक हो गया। क्योंकि उसने लाल मिट्टी के पानी को खून मान लिया था, इसीलिए उन्हें पीड़ा होना प्रारंभ हो गई थी, क्योंकि शंका थी, और शंका का समाधान हो जाये तो सब पीड़ा समाप्त हो जाती। जीवन में न तो स्वयं शंकालु बनना, न दूसरे को शंका में डालना, क्योंकि ये सम्यक्त्व का अतिचार है। कांक्षा दूसरा अतिचार है। भगवन्! मैं आपकी पूजा कर रहा हूँ। प्रभु! मेरी दुकान अच्छी चल जाये। भो ज्ञानी ! पुण्य का उदय होगा तो सब काम अच्छे से चलेंगे। लेकिन पुण्य का योग नहीं है तो सभी काम बिगड़ेंगे। आप जो कर रहे हैं, उसके फल को आपने विफल कर दिया। ध्यान रखना, धर्म तो करना, लेकिन धर्म के फल में आकाँक्षा नहीं करना; क्योंकि मिलना उतना ही है, जितना तुम्हारे योग में होगा, परन्तु इतना अवश्य है कि मिथ्यात्व में जरूर चले जाओगे।

भो ज्ञानी! जब जीव का स्वार्थ निहित होता है, तो उसको धर्म के क्षेत्र में भी ग्लानि आने लगती है, उसके भाव भी बिगड़ते हैं और उल्टा ही सोचता है। परिणाम होते हैं कि धर्म क्षेत्र से उठकर अन्यत्र चला जाये। धर्मात्मा के बीच में एक क्षण भी अच्छा नहीं लगता है, दुष्टों की गोष्ठी में बैठकर प्रसन्नचित्त हो तो ध्यान रखना, कभी भी धर्म व धर्मात्मा के प्रति ग्लानि–भाव नहीं लाना, यह निर्विचिकित्सा भाव है। यदि ग्लानि–भाव आ रहे हैं, तो ध्यान रखना, सम्यक्त्व में ही दोष है। मिथ्यात्व की बहुलता को देखकर मन में सोचना व वचनों से कहना कि, भैया! हम वहाँ पर गये थे, अमुक मंदिर बहुत अच्छा था, अच्छी व्यवस्थायें थीं, वह देव भी सत्य हैं–ऐसे विचार मन में लाना, यह 'अन्यदृष्टि संस्तव' है। यह सम्यक्दर्शन के पाँच अतिचार में से एक हैं। समझना, चारित्र में दोष लग जाये, तो सम्हलने के बहुत अवसर हैं, परंतु जिसके सम्यक्त्व में ही दोष लग रहे हैं, उसको संभलने का कोई स्थान नहीं हैं। तुम्हारा शरीर अस्वस्थ है, तो आप महाव्रती या अणुव्रती नहीं बन पा रहे हो। इनमें आपको त्याग करना पड़ता है, परन्तु श्रद्धा करने में तो कुछ भी नहीं करना पड़ता। कितना सुन्दर दर्शन है कि श्रद्धा करने में तुम्हें कुछ छोड़ना भी नहीं पड़ रहा है। घर भी नहीं छोड़ना पड़ रहा है, व्रत भी नहीं लेना पड़ रहा है। बस, श्रद्धा ही तो करना है। जीवन में सब कुछ छोड़ देना, पर विश्वास को नहीं छोड़ना और विश्वास तुम्हारा चला गया तो समझ लेना कि तुम्हारे जीवन में कुछ भी तो नहीं बचा। पंचमकाल में आप मुनि नहीं बन पा रहे हो, त्यागी बन नहीं पा रहे हो, महाव्रती बन नहीं पा रहे हो, पर अन्दर की श्रद्धा को खोखली मत कर देना। क्योंकि न तो तीर्थ काम में आयेंगे, न तीर्थंकर काम में आयेंगे। श्रद्धा ही काम में आयेगी, वह ही तीर्थ नजर आयेंगे, वह ही तीर्थंकर नजर आयेंगे। श्रद्धा है, तो तीर्थ अपने हैं; श्रद्धा है, तो तीर्थंकर अपने हैं। श्रद्धा नहीं है, तो पत्थर का आकार। पत्थर



के, मिट्टी के, ईंट के, चूने के भवन कितने ही खड़े कर लो, तेरा निज भवन में प्रवेश होना संभव नहीं है।

बन्दर एक तिर्यंच है, जिसने एक साधक की चर्या को देखकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया। मुनिराज एक पहाड़ी पर ध्यान कर रहे थे, जिनवाणी पढ़ रहे थे। एक हिरण आता है और जिनवाणी सुनता है और इतनी तीव्र श्रद्धा के साथ सुना कि वह बाली नाम के मुनिराज हुए। उन्होंने श्रद्धापूर्वक माँ जिनवाणी को सुना था। यह बात ध्यान से समझना। जीवन में इतना ध्यान रखना, कि मेरी भाषा से, मेरी वृत्ति से, मेरी चर्या से किसी जीव के भाव खराब न हों। दिनभर आप रोगियों के उपचार करना और शाम को जाकर उसको धमकी दे देना, कहना—सुनो, हमारे माध्यम से तुम्हारे सारे रोग दूर हुये हैं। वह कहेगा—शरीर का रोग जितना ठीक हुआ, वहीं तूने मेरे मन को कितना रोगी कर दिया है? अरे! प्रेम से बोलो। गोली का धक्का तो सहन कर लेता है आदमी, लेकिन बोली का धक्का नहीं सहन होता है। इसलिए गुस्सा आ रही हो तो स्थान छोड़कर चले जाना, लेकिन गुस्से में किसी से कुछ कहना मत, अन्यथा तुम्हारा भी अहित होगा और सामनेवाले का भी अहित होगा। अपने जीवन में अपने सम्यक् रत्नत्रय को सम्भालो। पाँच अतिचारों से रहित होकर शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करो। यही प्रशस्त मोक्षमार्ग होगा।

अहिंसा और सत्यव्रत के अतिचार

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति।। १८३।।

अन्वयार्थ : अहिंसाव्रतस्य= अहिंसा व्रत के। छेदनताडनबन्धा =छेदना, ताड़न बांधना। समधिकस्य = अतिशय अधिक। भारस्य = बोझे का। आरोपणं = लादना। च = और। पानान्नयोः =अन्नपानी का। रोधः = रोकना अर्थात् न देना। इति पंच = इस प्रकार पाँच अतिचार हैं।

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च।। १८४।।

अन्वयार्थ : मिथ्योपदेशदानं = झूठा उपदेश देना। रहसोऽभ्याख्यान = एकांत की गुप्त बातों का प्रकट करना। कूटलेखकृती = झूठा लिखना। न्यासापहारवचनं = धरोहर के हरण करने का वचन कहना। च = और। साकारमन्त्रभेदः = काया की चेष्टाओं से जानकर दूसरे का अभिप्राय प्रकट कर देना। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

।।पुरुषार्थ देशना।।

जिसने संयम स्वीकार नहीं किया, उसे मात्र असंयमी शब्द से संबोधित किया जाता है। पर संयम को स्वीकार करने के उपरान्त जो संयम को छोड़ देता है, उसे तो असंयमी भी नहीं कहा जाता। इस कारिका में आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी अहिंसा–व्रत और सत्य–व्रत के अतिचार गिना रहे हैं। यदि किसी जीव ने अणुव्रत धारण किया है कि किसी जीव का घात नहीं करेंगे, परंतु यदि किसी ने किसी भी जीव के कान छेद दिये, नाक छेद दी, अंग–विशेष का छेदन कर दिया अथवा आपने गाय, भैंस, बैल आदि के अंगों को छेद दिया, तो यह 'छेदन' नाम का अहिंसा–व्रत का दोष है। आपने अहिंसा व्रत धारण किया है, परंतु जब वह छिदवाना नहीं चाहता था तो आपने उसको बचपन में जबरदस्ती नाक–कान छेद दिये। उसको पीड़ा तो हुई है। जहाँ पीड़ा है, कष्ट है, वेदना है, वहाँ हिंसा है। अंगों को छेद देना, अहिंसा–अणुव्रत का दोष है। वध नहीं कर रहे हो, लेकिन डंडा /चाबुक मार दोगे तो भी हिंसा हो जायेगी। अहिंसा– अणुव्रती किसी को चाबुक नहीं मार सकता। खेल–खेल में तुमने बच्चे को रुला दिया, कष्ट तो दिया है, पीड़ा तो दी है। पिंजरे में पक्षियों को बंद कर लिया, घर में कुत्ते पाले हो, आपको लगता जरूर है कि आप उसकी सुरक्षा कर रहे हैं, लेकिन उसकी स्वतंत्रता का तो हरण किया है, अतः हिंसा हो रही है। ध्यान रखना, हिंसक– जानवरों को पालना तो एक सामान्य जैन अव्रति भी नहीं करता। बालक जब तक आठ वर्ष का नहीं होता है, तब तक उसके पाप–पुण्य का फल माता–पिता को मिलता है। जिसके घर में हिंसक जानवर पले हैं, उसकी हिंसा

आदि का सारा दोष उसके मालिक को जाता है। कबूतर–कबूतरी के बच्चे को अलग करने पर सीता के जीव को उसका परिणाम पति वियोग के रूप में सहना पड़ा। इसी प्रकार जीवंधर ने जब मुनिराज से पूछा कि, प्रभु! मेरे जन्म के ही पूर्व पिता की मृत्यु हो गई और मेरी माँ मुझे श्मशान घाट में छोड़ कर चली गई, यह मेरे कौन से कर्मों का फल था। उस समय मुनिराज ने कहा था–जीवंधर! आपने अपने पूर्व पर्याय में एक बगुले के बच्चे को उसके माता–पिता से अलग किया था। उसका परिणाम वह कर्म का बंध आज तुम्हारी इस पर्याय में उदय में आया है। अतः यह मत मान लेना कि आज का फल आज ही मिल जाये। आज भी आ सकता है और अनेक भव के बाद भी उदय में आ सकता है। इसीलिए किसी की स्वतंत्रता का हनन करना भी हिंसा है।

कोई जीव स्वतंत्रता से विचरण कर रहा है। उसकी स्वतंत्रता का हनन कर देना, बंधन है। आपने रेल में कुली किया और कहा कि पचास पैसे और ले लेना, इतना सामान और लाद लो। वह तो लोभवश लाद लेगा, लेकिन पीड़ा तो होगी। गजरथ चलते हैं तब इन धर्मात्माओं को करुणा नहीं आती। उनको तो यह दिखता है कि मैंने एक लाख रुपए दिये, अतः परिवार और परिवार के रिश्तेदार लद रहे हैं। श्रीजी विराजमान हैं, महावत हाथी के ऊपर अंकुश चला रहा है, हाथी आँखों में आँसू बहा रहा है, रथ खिंच नहीं रहा है, यह कैसी अहिंसा है? अभी एक रहस्य और खुला कि गजरथ में ये हाथी वाले हाथी के साथ बड़ा दुर्व्यवहार करते हैं। गजरथ चलने के पहले एक बहुत बड़ा लकड़ी का पाटा कीले ठोककर एकांत में रख दिया जाता है और उसके ऊपर उस हाथी को जबरदस्ती चलवाया जाता है। उसके पैरों में अन्दर कीले घुस जायें, जिससे कि ज्यादा दौड़ने न पाये, अन्यथा वह विचलित हो जायेगा। उसको इतनी पीड़ा उत्पन्न करा दी जिससे वह सम्हल–सम्हल कर पैर रखेगा, इस प्रकार से चलाते हैं। यह आपको सोचना है कि गजरथ में दूसरी फेरी में बैठ जाते हैं, तीसरी फेरी में बैठ जाते थे, परन्तु उसके प्राण तो नहीं लो। बड़े–बड़े त्यागी–व्रती भी बैठ रहे हैं।

आज के जमाने में वैज्ञानिक–वाहन बहुत निर्मित हो चुके हैं। अतः प्राणियों के वाहन पर बैठना तो बंद कर दो। आप ताँगे पर बैठे हो, ऊपर से चाबुक लग रहा है, उसके मुख में लगाम लगा हुआ है और बेचारा ढो रहा है, जुता हुआ है। जो धर्म क्षेत्र में आकर छल–कपट, मायाचारी करता है। उनको ऐसे ही ताँगे में जुतना पड़ता है। घर में चूहे ज्यादा हो रहे हैं सो पिंजरा लगा दिया और रोड पर छोड़ दिया। बेचारे वाहनों में दब जाते हैं, उसके छोटे–छोटे बच्चे बिल में थे और दाना लेकर खिलाने आया था। अब बच्चे तड़प रहे हैं और आपने माँ को पिंजरे में बंद कर बाहर कर दिया। अब बताओ उन जीवों का क्या होगा? वे तड़पते–तड़पते समाप्त हो जायेंगे। ध्यान रखना, वे भी अपने भाग्य का खा रहे हैं। इसीलिए, ध्यान रखो कि छेदन, बंधन, मारण अतिभार लादना, घर में भैंस–बैल या नौकर को समय पर दाना–पानी न देना यह सब अहिंसाव्रत के अतिचार है। हम मंदिर से भगवान की पूजा करके आ रहे हैं, इतना काम और कर लेना। फिर १२ बजे भोजन कर लेना, पानी पी लेना। अब बताओ, नौकर को समय पर पानी भी नहीं पीने दे रहे हो। सोचो, आपने तो अन्न–पान का निरोध कर दिया। यह अहिंसा व्रत के अतिचार हैं। जो जिनवाणी में नहीं लिखा, जिनागम में नहीं कहा अथवा जो मोक्षमार्ग से विपरीत है, ऐसी बातों का उपदेश कर देना–मिथ्या–उपदेश है। कभी कोई जिनवाणी के विरुद्ध/विपरीत बोले तो आप तो हाथ जोड़कर कह देना कि आगम की विधि ऐसी है, हम तो



ऐसा करेंगे। हम जिनवाणी के साथ छल नहीं कर पायेंगे। अप्रतिष्ठित या प्रतिष्ठित प्रतिमा घर में ऐसे वैसे नहीं रखना। प्रतिष्ठित या को रखने के लिए आगम में गृह चैत्यालय की व्यवस्था है, ऐसा नहीं कि वहीं घर–गृहस्थी है, उसी में आप प्रतिमा रख लें। आप अलग से गृह–चैत्यालय बनवायें। गृह–चैत्यालय में आप प्रतिमा को विराजमान करें। ऐसा आगम में कथन है परन्तु ऐसा नहीं कि उसी में आप सो रहे हों, उसी में आप भोजन कर रहे हों और एक अलमारी में भगवान विराजमान करें। आगम की विधि का ध्यान रखना। मिथ्योपदेश नहीं देना और जब पंचकल्याणक तय हो जायें तो ही श्रीजी को लेकर आना। छह महीने से ज्यादा अप्रतिष्ठित प्रतिमा मंदिर अथवा समाज में कहीं भी रखी तो उसका उल्टा परिणाम प्रारम्भ हो जाता है।

किसी का रहस्य आप समझ गये, उसको कभी प्रकट नहीं कर देना। स्त्री–पुरुष आदि की गुप्त चेष्टा आपको मालूम है, परन्तु कभी किसी की बात को प्रकट नहीं करना। यदि करते हो तो सत्य व्रत में दोष है। कूटलेख क्रिया–झूठे आलेख लिख देना, झूठी गवाही देना, झूठी बात करना, यह भी सत्यव्रत में दोष है। कोई आपके यहाँ धरोहर (पचास हजार) रखकर भूल गया और वह पच्चीस हजार माँगता है तो आपने धीरे से निकालकर दे दिया, सोचा कि कौन हमने चोरी की? पर वह दोष ही है। गुप्त–चेष्टा को प्रकट कर देना, रहस्य प्रकट कर देना, धरोहरों को हड़प लेना, गुप्त क्रिया को प्रकट कर देना और ऐसी बातें करना जिससे लोग संशय में पड़ जायें। ये सभी दोष हैं। एक बात का ध्यान रखना, जो कहना हो उसे आप स्पष्ट कहें। पर मर्यादित कहें, ऐसा स्पष्ट भी मत कहना कि चार व्यक्तियों में परस्पर में झगड़ा हो जाये। किसी के प्राण चले जायें, ऐसे स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ आपको मौन रहना चाहिए। जिस स्पष्टीकरण से किसी में विसंवाद हो, ऐसा स्पष्टीकरण भी असत्य ही है। ऐसा सत्य भी श्रावक को नहीं बोलना चाहिए जिससे किसी का वध हो। इस प्रकार ये पाँच अतिचार सत्य अणुव्रत के हैं।





निर्माण से निर्वाण

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमानकरणे च।। १८५।।

अन्वयार्थ : प्रतिरूपव्यवहारः = चोखी वस्तु में खोटी वस्तु मिलाकर बेचना। स्तेननियोगः =चोरी में सहायता देना, तदाहृतादानम् = चोरी की वस्तु को ग्रहण करना। च = और। राजविरोधातिक्रम = राजा के प्रचलित किये हुये नियमों का उल्लंघन करना। हीनाधिकमानकरणे = नापने तौलने के मान हीनाधिक करना।

।। पुरुषार्थ देशना।।

अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजे हैं। भगवान शीतलनाथ स्वामी की यह त्रिकल्याणक भूमि हमें संकेत दे रही है कि 'निर्वाण' की प्राप्ति 'निर्माण' पर ही होती है। जब तक निर्माण नहीं है, तब तक निर्वाण नहीं। सूत्र को ध्यान रखना–अभाव के अभाव में सद्भाव कभी नहीं होता और सद्भाव के अभाव में अभाव भी नहीं होता है। अभाव ही सद्भाव का ज्ञान कराता है और सद्भाव ही अभाव का ज्ञान कराता है। भो ज्ञानी! असत्ता नहीं है। तो सत्ता भी नहीं है। जिसकी सत्ता है, उसकी पर्याय–दृष्टि से असत्ता भी हो जाती है। जिसकी असत्ता है, द्रव्य–दृष्टि से सत्ता भी होती है।

भो ज्ञानियो! आज भगवान शीतलनाथ स्वामी के निर्वाण–कल्याणक दिवस पर उस स्वरूप की सत्ता को समझने की आवश्यकता है, जिसको आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी ने समयसार जी ग्रंथ में लिखा है। इस जीव ने कभी सत्ता को देखा, कभी असत्ता को देखा, लेकिन द्रव्य का स्वरूप सदा सत्य होता है। जो 'निर्वाण' हुआ है, वह आत्मा का नहीं हुआ; जो 'निर्माण' हुआ है, वह भी आत्मा का नहीं हुआ। जिसे तुम निर्वाण कहते हो, स्याद्वाद वाणी उसे निर्माण ही कहती हैं। आज आपको निर्वाण नहीं, पहले निर्माण ही करना है। निर्माण और निर्वाण दोनों युगपत होते हैं। जहाँ कर्मों का निर्वाण होता है, वहाँ सिद्ध–पर्याय का निर्माण होता है। अहो! अशुद्ध पर्याय का निर्वाण होगा और सिद्ध पर्याय का निर्माण होगा। जब तक हमारे अशुद्ध भावों का निर्वाण नहीं होगा, तब तक शुभ भावों का निर्माण भी नहीं होगा तथा शुभ भावों के निर्माण के अभाव में निर्वाण का मार्ग भी प्रारंभ नहीं होगा।

ध्यान रखना, मोक्षमार्ग में मिथ्यात्व रूपी अंधकार को भगाने के लिए लाठी की आवश्यकता नहीं होती। मोक्षमार्ग यही कहता है कि आप ज्ञान के दीप को जला दो, चारित्र और श्रद्धा के दीप को जला दो, मिथ्यात्व का अंधकार आ ही नहीं पाएगा, भगाने का प्रश्न ही नहीं होगा। 'समयसार' तो यह कह रहा है कि न बुलाओ और न भगाओ, मात्र भुला दो–उसका नाम सम्यक्दर्शन है। बुलाने में खर्च होगा, भगाने में खर्च होगा, किन्तु भुलाने में कोई खर्च नहीं होगा। यहाँ से मोक्षमार्ग प्रारंभ



होता है। अतः, जिसे आज तक तुमने याद कर रखा है, आज तक तुम स्मृतियों में लाए हो, उन मिथ्यात्व की स्मृतियों को भुला दो, इसका नाम ही सम्यक्ज्ञान है। मिथ्यात्व/कुचारित्र के प्रति आपका गमन था, वहाँ जाना बंद कर दो, इसका नाम ही सम्यक्चारित्र है। जो आपके अंतरंग में विपरीत श्रद्धा बैठी थी। उसको समाप्त कर दो, इसका ही नाम सम्यक्दर्शन है। बस, मोक्षमार्ग बन चुका है।

याद करना बहुत सरल है, पर भुला पाना बहुत कठिन है। दस वर्ष पहले किसी ने कुछ कह दिया था, वह तुम्हें याद है। यदि यादें भूल जाएँ, तो सारा विश्व तुम्हारे नाम की जाप करेगा। आज आप उदयगिरी में शीतलनाथ स्वामी के निर्वाण–कल्याणक की याद कर रहे हो, क्योंकि उन्होंने विश्व को भुला दिया था, उन्होंने संसार की सम्पूर्ण विषमताओं को भुला दिया था। जब तुम जाप करने बैठते हो, तब याद आ जाती है कि दुकान पर तो ताला नहीं पड़ा है। जब आप जाप करने बैठते हो तो याद आ जाती है कि अब तो भूख लगी है। भूख–प्यास मिटती है, तो भोगों की याद आना प्रारंभ हो जाती है। इसलिए तुम्हारी कोई याद नहीं करता। अहो! आज तक निर्वाण क्यों नहीं हो पा रहा है? क्योंकि हमने चारित्र का निर्माण नहीं किया है, श्रद्धा की नींव नहीं भरी, संयम की दीवार को खड़ा ही नहीं किया। पत्थर के भगवान को तुमने संस्कारित करने का विचार किया, तो आपने प्रतिष्ठाचार्यों की सलाह ले ली। आचार्य कुंदकुंद देव यही कह रहे हैं कि अपने आपमें सलाह ले लेना। यदि भूमि में अस्थियाँ हैं, हड्डियाँ हैं, भूमि में नमी है, कंकर–पत्थर हैं, सर्प–मेंढक हैं, ऐसी भूमि पर कभी जिनालय स्थापना न करें। जिस भूमि पर श्मशान–घाट हो, उस भूमि पर कभी जिनबिम्ब की स्थापना न करें। अहो! तेरी आत्म–भूमि में मिथ्यात्व की वामी और कषायों के साँप जहाँ बैठे हों, वहाँ चारित्र की स्थापना नहीं हो पाती। यदि छिलका हट गया है, तो चावल अंकुरित नहीं होता। ऐसे ही, जिस आत्मा से कर्मों के छिलके हट जाते हैं वह आत्मा भवांकुर को प्राप्त नहीं होती, इसका नाम निर्वाण है। अष्ट–कर्म का दहन जिन्होंने किया है, वह आत्मा संसार में वापस नहीं आएगी। जब सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रकट हो जाता है तो, भो ज्ञानी! आत्मा के बल्ब में ज्योति उदित हो जाती है और संसार का अंधकार समाप्त हो जाता है, इसका नाम निर्वाण–कल्याणक है। एक बुझे दीप को लेकर आप जले दीपक के नीचे पहुँचकर उसको स्पर्श करा देते हो और बुझे दीप को जला लेते हो। बस ध्यान रखना, जीवन भी आप से कह रहा है कि हमारे जीवन में असंयम का दीप न जले, संयम का दीप जले। जो हम संयम से बुझे हुए हैं, चारित्र से बुझे हुए हैं, श्रद्धा से बुझे हुए हैं, तो जलते दीपक के नीचे पहुँच जाना। लेकिन इतना ध्यान रखना, जलते दीपक के ऊपर बुझे हुए दीपक को मत ले जाना, अन्यथा परिणाम यह होगा कि जो बुझा था वो तो बुझा ही था, किन्तु जो जल रहा था उसको भी बुझा दिया। अतः, प्रकाश के लिए दीप जलाना, किसी को जलाने के लिए दीप नहीं जलाना। मुमुक्षु जीव जलाने के लिए नहीं, प्रकाश करने के लिए दीप जलाता है। इसलिए अपने जीवन में बुझे दीपों को जलाने के लिये जले दीप के पास पहुँच जाना। यदि निर्माण से निर्वाण प्राप्ति की आकांक्षा हो तो कभी भी जीवन में न चोरी करना, न चोरी की वस्तु खरीदना या बेचना, न राज्य के प्रचलित कानूनों का उल्लंघन करना।





अतिचारों से बचो

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च।।१८६।।

अन्वयार्थ : स्मरतीव्राभिनिवेशः = कामसेवन की अतिशय लालसा रखना। अनङ्गक्रीड़ा = योग्य अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से कामक्रीड़ा करना। अन्यपरिणयनकरणम् = अन्य का विवाह करना। च = और। अपरिगृहीतेतरयोः = अविवाहित तथा विवाहित। इत्वरिकयोः = व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास। गमने = गमन। पंच = ये ब्रह्मचर्यव्रत के पांच अतिचार हैं।

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च।। १८७।।

अन्वयार्थ : वास्तुक्षेत्राष्टापदहरिण्यधनधान्यदासदासीनाम् = घर, भूमि, सोना, चांदी, धन, धान्य, दास–दासियों के। कुप्यस्य = स्वर्णादिक धातुओं के अतिरिक्त। वस्त्रादिकों के भेदयोः = दो–दो भेदों के। अपि = भी। परिमाणातिक्रिया = परिमाणों का उल्लंघन करना। एते अपरिग्रह व्रतस्य = ये अपरिग्रह–व्रत के। पंच = पांच अतिचार हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

अंतिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी ने कथन किया है कि जो श्रावक अतिचारों से रहित/निर्दोष बारह व्रतों का पालन करता है, वह सोलहवें स्वर्ग की यात्रा करता है। अहो! परिणामों की विचित्रता कि एक सम्यक्दृष्टि श्रावक उत्कृष्ट निर्दोष बारह व्रतों का पालन कर सोलहवें स्वर्ग तक जा सकता है और एक मिथ्यादृष्टि अभव्य भी वीतराग–मुद्रा को धारणकर नौवें ग्रैवेयक तक की यात्रा कर लेता है। यह द्रव्य–संयम और शुक्ल–लेश्या का प्रभाव है कि ग्रैवेयक में जो जीव जा रहा है वह अशुभ लेश्याओं से नहीं, शुभ लेश्याओं से जाता है। अनन्तानुबंधी कषाय की मंदता जब इतना पुण्य–आस्रव करा सकती है तो, भो ज्ञानी आत्माओ! संज्वलन कषाय की मंदता कितना पुण्य–संचय करा सकती है? जीव ने यदि अतिचारों पर विचार नहीं किया, तो अनाचार के प्रवेश होने में देर नहीं लगती। अतः अतिचार को समझने की बहुत ही आवश्यकता है। जिनवाणी कह रही है कि यदि व्रतों का पालन विवेक से करोगे तो अतिचारों से बच जाओगे, अन्यथा विवेक खोने पर तो अतिचार क्या, अनाचार में भी प्रवेश कर जाओगे।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, जीवन बनाने में बहुत समय लगता है, लेकिन मिटाने में कोई समय नहीं लगता। पुरुषार्थ करके कलकल भूमि निगोद से निकलकर एक जीव यहाँ तक आ गया, अब संभलने के अवसर यहीं पर हैं। इसलिए व्रत तो स्वीकार कर लिया है, पर जो दोष लग रहे हैं, उन



दोषों में लिप्त मत हो जाना अन्यथा दोषों का शमन बहुत कठिन होगा। यदि साधना निर्मल नहीं है, तो भविष्य में मोक्ष मिल ही नहीं सकता एवं वर्तमान के उत्कृष्ट इंद्रिय–सुख भी नहीं मिलेंगे। आचार्य भगवन् नेमीचन्द्र स्वामी ने गोम्मट्टसार '(कर्मकाण्ड)' ग्रंथ में कहा है कि मोह की दशा शहद लिपटी तलवार है। यदि जिव्हा पर फेरे तो मीठी तो लगती है, परंतु जीभ के विभाग हो जाते हैं, टुकड़े हो जाते हैं। ऐसे इंद्रिय भोग भी भोगने पर जीव को मधुर महसूस तो होते हैं, लेकिन यह भोग बाद में बड़े कष्ट देनेवाले होते हैं। इसीलिए विवेकी कुछ करने से पहले ही सोच लेता है कि इसका परिणाम क्या होगा? अहो! पाप करने से पूर्व पाप के विपाक का ध्यान आ जाए तो पाप करने के परिणाम हो ही नहीं सकते। नरक में पड़े जीव को जो वेदना हो रही है, वह वेदना नरक में जाने से पहले हो गई होती, तो वह नरक में जा ही नहीं पाता।

भो ज्ञानी! हम लोग भोपाल चातुर्मास में एक गली से निकले। वहाँ से कई लोग निकल रहे थे, लेकिन कोई बचा नहीं पा रहा था। खुले स्थान पर बकरे उल्टे लटके हुए थे। देखते ही देखते उनके दो टुकड़े कर दिये गये। हे प्रभु! यह सब क्या हो रहा है? कि साधु भी निकल रहे हैं, सज्जन भी निकल रहे हैं, लेकिन कोई उनको बचा नहीं पा रहा है। इस वेदना का वेदन यदि आज आपको हो जाए, तो विश्वास रखना कि ऐसी वेदना जीवन में कभी नहीं आएगी। किसी भी कषाय के वेग में, किसी भी आवेश में आप एक–मुहूर्त मात्र दे देना। सिद्धांत कहता है कि अड़तालीस–मिनिट के बाद नियम से परिणाम परिवर्तित हो जाते हैं। क्रोध मान में, मान मायाचारी में, मायाचारी लोभ में बदल सकती है, क्योंकि एक कषाय चौबीस घंटे नहीं चलती। लेश्या व परिणाम अवश्य ही बदलते हैं। मान और लोभ बहुत देर बाद प्रकट होता है। माया कषाय रेगिस्तान की नदी जैसी होती है कि अंदर प्रवेश करके फिर कभी विशाल रूप में दिखती है। मान और क्रोध में एक तो घास की आग की तरह है और दूसरी पत्थर पर पानी की एक बूँद की तरह है, जो गिर जाए तो तुरन्त दिख जाती है। दोनों जीव के परिणाम का घात तो करती ही हैं, साथ ही व्रतों से भी दूर भगा देती हैं।

भो ज्ञानी! अतिचारों को आप सामान्य मत गिनना। कल आपसे कहा था कि दोष कितना ही छोटा क्यों न हो, लेकिन वह संयम को टूक–टूक कर देता है। असंयम भाव भी प्रेम/वात्सल्य को तोड़ देता है। इसलिए आचार्य महाराज व्रतों के अतिचार गिना रहे हैं कि जो वस्तु आपने बहुत सुंदर–सुंदर दिखलाई थी, पर उसके अंदर मिलावट मिली हुई है। दिखाया कुछ, दिया कुछ। हम शरीर से बहुत अच्छे/उत्तम साधक के रूप में दिखते हैं, परन्तु भावना में साधना नहीं है, यह प्रतिरूपक–व्यवहार भी चोरी है। हम उच्च–धर्मात्मा के रूप में लोगों के बीच में आए हैं और परिणामों में कलुषता भरी हुई है। लोगों ने आपको बहुत श्रेष्ठ धर्मात्मा समझा है, परंतु परिणामों में तुम्हारी कलुषता रही तो इसका नाम प्रतिरूपक– व्यवहार है। प्रतिरूपक व्यवहार कह रहा है कि दिखाया कुछ, दिया कुछ। ऊपर–नीचे धो–पोंछ कर अच्छे से रख दिये। बस ऐसी ही तुम्हारी ऊपर की साधना कुछ और होती है और अंदर की साधना कुछ और होती है, जिसके कारण महाव्रत या अणुव्रत का पालन नहीं होता।

भो ज्ञानी! यदि आपको मालूम है कि यह व्यक्ति कोई वस्तु चोरी से उठा कर लाया है, फिर भी आपने उपयोग कर ली, तो चोरी की वस्तु का प्रयोग करना भी अचौर्य व्रत में दोष है। अहो! मुनिराज तो एक–दूसरे के कमण्डल का भी उपयोग नहीं करते, पूछ कर लेते हैं। आपको एक ग्रंथ किसी ने



अध्ययन करने के लिए दिया, तो अध्ययन ही करना था, आप अध्ययन कर लो, परन्तु यदि लंबा समय लगता है तो आप एक बार उससे बोल दो कि, भैया! आपका ग्रंथ हमारे पास है। अन्यथा उसके भाव बदल सकते हैं कि मैंने तो ग्रंथ पढ़ने दिया था, वह तो रख के ही रह गये। यानि दूसरे के भावों का भी ध्यान रखना। क्योंकि बाजार में कोई वस्तु सौ रुपए में आ रही है और सामने वाला वही वस्तु पचास रुपए में दे रहा है। कौन नहीं जानता है कि यह वस्तु चोरी की होगी? लेकिन धीरे से आपने खरीद ली, आपकी स्वयं की परिणति ही चोर हो गई। यह आदान अतिचार है।

भो ज्ञानी! राज्य के विरुद्ध अतिक्रम करना अथवा शासन की अनुमति नहीं है ऐसे किसी कार्य को करना विलोप–अतिचार है। इन्कम–टैक्स, सेल–टैक्स और तो और घर में जो विद्युत तार लगे हैं उनमें भी व्यक्ति ने मीटर में तार लगा दिया। आजकल मिलावट के काम का तो कहना ही क्या? घी में क्या–क्या नहीं मिलाते, काली मिर्ची में पपीते के बीज मिला दिये, घर पर माता–पिता से कहकर आए थे कि वंदना करने जिनालय जा रहा हूँ, किन्तु यहाँ आकर अशुभ परिणाम कर लिए। तो, बताओ! शुभ परिणामों में अशुभ परिणामों का मिश्रण किया कि नहीं? जैसे शासन ने आदेश किया कि आठ बजे दुकानें बंद करो। इसी प्रकार साधना का समय है, सामायिक का समय है, पूजन का समय है, परन्तु आप मंदिर जी में थाली लिये खड़े होकर मित्र से बातें कर रहे हो। भो ज्ञानी! अपने कर्तव्यों का निर्वहन नहीं करना, यह भी चोरी है। किसी के यहाँ से आटा लाने को कहा तो बर्तन में दबा–दबाकर लाया और जब देने गया तो पोला करके चोटी बनाकर गया, तुरंत उंड़ेला और भाग गये। कितना देकर आए हैं आप? अहो! चोरी तो नहीं की, लेकिन मायाचारी तो जरूर कर रहा है। आपने व्रत में दोष लगाया है। आपने मौन से भोजन करते समय तुम्हारे मन में कोई भाव आ गया, तो भो ज्ञानी! तू असत्य में चला गया। यह अचौर्य व्रत का अतिचार है।

भो ज्ञानी! ब्रह्मचर्य व्रत के पाँच अतिचार हैं। कामसेवन तो नहीं कर रहा है, लेकिन कामसेवन की तीव्र भावना रख रहा है। काम के अंगों को छोड़कर अनुचित क्रिया करना 'अनंगक्रीड़ा' नाम का अतिचार है। अनंगक्रीड़ा को अतिचार ही नहीं, अनाचार भी कहा है। 'राजवार्तिककार' ने स्पष्ट लिखा है कि यह जीव अनाचार में क्यों जा रहा है? वह इस प्रकार की क्रियाएँ इसलिए कर रहा है कि उसके इतने तीव्र कषाय भाव हैं कि एक क्षण को भी अपने आपको सम्हाल नहीं पा रहा है, अनंगक्रीड़ा में लीन है। अतः उनको अनाचार की संज्ञा दी है। अहो! स्वयं का ब्रह्मचर्य–व्रत है और दूसरे की शादी करा रहा है। कुछ लोगों का जीवन इसी दलाली में चल रहा है। पता नहीं कितने युवकों की कुंडलियाँ रखी होंगी। भो ज्ञानी! शादी के बाद वह नवकोटी जीवों की हिंसा करेंगे और आप करवाओ शादियाँ? अरे! एक–दूसरे के विवाह करवाना, 'अन्य– विवाहकरण' अतिचार है। जिसकी शादी नहीं हुई है उसके यहाँ आना–जाना, जिनका चारित्र ठीक नहीं है ऐसी स्त्रियों के यहाँ आना–जाना तथा उनसे हास्य–विलास की चर्चा करना, यह 'इत्वरिका–गमन' नाम का अतिचार है।

भो ज्ञानी! परिग्रह का परिमाण कर लिया था, लेकिन लोभ–कषाय ने पिंड नहीं छोड़ा। एक मकान का नियम ले लिया था, पर लोभ कह रहा है कि यह मकान तो छोटा–सा महसूस होता है परन्तु दो मकान करना नहीं है, अतः पड़ोसी के मकान को खरीदकर बीच की दीवार को तोड़ दिया। यानि व्रत भी नहीं पाल रहा और मायाचारी भी कर रहा है। मकान की सीमा को बढ़ा देना, क्षेत्र–खेत आदि



की मेड़ को तोड़कर, छोटे खेत को बड़ा बना देना, ये परिग्रह–परिमाण व्रत का अतिचार है। एक व्यक्ति ने नियम लिया कि दस आभूषण रखूँगा और जो दस रखे थे वह दस तोले के थे। अब वह दस की गिनती तो बराबर रख रहा है, पर उसने दस को तोड़कर एक बना लिया तथा नौ बजनदार आभूषण और बनवा लिये। अहा! लोगों को सोने में बहुत राग होता है, जबकि उससे कोई पेट नहीं भरता और वह शांति से सोने भी नहीं देता है। यदि शांति से सोना चाहते हो तो सोना रखना छोड़ दो। धन–धान्य, गाय–भैंस, दास–दासी आदि इतने रखेंगे, परंतु बढ़ा दी गिनती। यह ध्यान रखना कि यह भी दोष है। कुछ लोग तो नौकर को अपना परिग्रह मानते ही नहीं हैं। आपने बहुत सारे सेवक किसी कारण वश बुला लिये, लेकिन दोष तो लगेगा। चाहे शादी के निमित्त से बुलाए, चाहे अन्य किसी के निमित्त से। वे चलकर आ रहे हैं और वे जो कुछ भी क्रिया कर रहे हैं, उनका जो भी असंयम–भाव होगा, आपके निमित्त से, ही होगा। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि इन सबके भागीदार आप होंगे।

भो ज्ञानी! जो घर में चालीस–चालीस पेटियाँ कपड़ों से भरी हुई रखी है, उनमें से साथ में कितनी ले जाओगे? ठंडी के दिनों में कितने गरीब आपको वस्त्रों के अभाव में सड़क पर ठिठुरते मिलते हैं, सोचा कभी आपने? हमारे घर पर वस्त्रों में कीड़े लग रहे हैं, सड़ रहे हैं तो उन्हें सड़क पर फेंक देंगे, पर किसी के तन के ऊपर नहीं डाल सकेंगे। अहो! उन पेटियों को कम कर दो। एक सज्जन जूते पहनकर मंदिर आए थे और श्रीजी के दर्शन करते वक्त बाहर उतरे हुए पन्द्रह सौ रुपए के जूते पर बार–बार दृष्टि जा रही थी। कहीं चोरी न चले जावें। बताओ, वंदना किसकी हो रही थी? अगर वास्तव में कोई उठाकर ले जाए, तो परिणाम कैसे होंगे? इसीलिए माँ जिनवाणी कहती है–जिनेन्द्रदेव के मंदिर में निःसंग होकर आओ, परिग्रह का विसर्जन करके आओ।





अतिचारों से बचो

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यक् व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम्।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पंचेति प्रथमशीलस्य।। १८८।।

अन्वयार्थ : ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यक् = ऊपर, नीचे और समान भूमि के किये हुए प्रमाण का। व्यतिक्रमः= व्यतिक्रम करना अर्थात् जितना प्रमाण लिया हो उससे बाहर चले जाना। क्षेत्रवृद्धिः= परिमाण किये हुए क्षेत्र की लोभादिवश वृद्धि करना और। स्मृत्यन्तरस्य =स्मृति के अतिरिक्त क्षेत्र की मर्यादा का। आधानम् = धारण करना, अर्थात् मर्यादा को भूल जाना। इति पंच = इस प्रकार पाँच (अतिचार)। प्रथमशीलस्य = प्रथम शील के (अर्थात् दिग्व्रत के कहे गये हैं)।

प्रेषस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पंचेति।। १८९।।

अन्वयार्थ : प्रेषस्य संप्रयोजनम् = प्रमाण किये हुये क्षेत्र के बाहर अन्य पुरुष को भेज देना। आनयनं = वहाँ से किसी वस्तु का मँगाना। शब्दरूपविनिपातौ = शब्द सुनाना, रूप दिखाकर इशारा करना और। पुद्गलानां = कंकड़ पत्थरादि पुद्गलों का। क्षेपोऽपि = फेंकना भी। इति पंच = इस प्रकार पाँच (अतिचार)। द्वितीयशीलस्य = दूसरे शील के (अर्थात् देशव्रत के कहे गये हैं)।

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पंचेति।। १९०।।

अन्वयार्थ : कन्दर्पः कौत्कुच्यं = काम के वचन कहना, भांडरूप अयुक्त कायचेष्टा। भोगानर्थक्यम् = भोगोपभोग के पदार्थों का अनर्थक्य। मौखर्यं च = मुखरता या वाचालता और। असमीक्षिताधिकरणं = बिना विचारे कार्य का करना। इति = इस प्रकार। तृतीयशीलस्य = तीसरे शील (अर्थात् अनर्थदंडविरति व्रत के)। अपि पंच = भी पाँच (अतिचार) हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी जी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी ने अभूतपूर्व सूत्र दिये हैं कि चित्त की चंचलता ही भगवती–अवस्था की विघातक है। चित्त की निर्मलता ही भगवत्ता की जनक है। चारित्र में अतिचार नहीं आते हैं, चित्त में अतिचार आते हैं और चित्त के अतिचार चारित्र से दूर कर देते हैं। संसार का कोई भी प्राणी असंयम को श्रेष्ठ नहीं मानता, क्योंकि संसार को बढ़ाने वाला असंयम है। अतिचार इसलिए लगा, क्योंकि सावधानी की कमी थी, सजगता नहीं थी। अहो ज्ञानियो! जिस जहाज में जड़–रत्न रखे हों, उस जहाज का चालक



कितनी सावधानी रखता है? अहो रत्नत्रयधारी नाविक! तू श्रावकों के बीच रत्नों को ले जा रहा है, लेकिन दृष्टि यह रखना कि कहीं मेरे अंतरंग में तूफान तो नहीं आ रहा है, अन्यथा विभाव परिणति का तूफ़ान रत्नत्रय नौका को नीचे पलट देगा। अहो! जब-जब जीव का विघात हुआ है, बस एक क्षण की असावधानी से हुआ है। इसमें ज्ञान का दोष तो नहीं था। ज्ञान जानकारी देता है कि श्रद्धान कैसा था? जहाँ विश्वास होता है, वहीं गमन होता है। देखो, नमक के खुले बोरे पर चीटियाँ घूमते नहीं मिलतीं, किन्तु शक्कर के बंद डिब्बे के अंदर चीटियाँ घूमती नजर आती हैं। क्योंकि जहाँ राग था, जहाँ विश्वास था, वहाँ द्वार भी मिल जाता है। जब ज्ञानी को संयम के प्रति विश्वास हो जाता है तो चारित्र का द्वार खुल जाता है और अज्ञानी को संयम पर श्रद्धान नहीं होता है तो वह असंयम रूप ही रहता है, संयम उसे झलकता नहीं है। इसीलिए ज्ञान की संज्ञा दीपक है अर्थात् वह स्वपर प्रकाशक है।

भो ज्ञानी! जिनवाणी मौं कहती है कि मुझे जानने से ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान जिनवाणी का धर्म नहीं है, ज्ञान तो आत्मा का धर्म है। यदि शास्त्रों से ज्ञान होता तो सभी जीव ज्ञानी होते। अरे! ज्ञान तो बुद्धि का विषय है, चारित्र संयम का विषय है और दर्शन श्रद्धा का विषय है। ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम भिन्न तत्त्व है। संयम चारित्र मोहनीय-कर्मो के क्षयोपशम से होता है, और श्रद्धान-दर्शन मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से होता है और ज्ञान-ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से होता है। आज लोग विद्वानों पर अश्रद्धान करने लगे हैं और विद्वान चारित्रवानों पर अश्रद्धान करने लगे हैं, लेकिन वास्तव में दोनों एक-दूसरे को समझ नहीं पा रहे हैं। अहो! एक-दूसरे को मत समझो, आप जिनवाणी मात्र को समझ लो। जिससे आत्मा का उपकार हो, उसे उपकरण कहते हैं। हिंसा होगी तो कर्म-बंध होगा, अहिंसा होगी तो कर्मनिर्जरा होगी। यह पिच्छी अहिंसा का उपकरण है, इसलिए यह आपका उपकारी द्रव्य है। प्रत्येक तत्त्व में जितने गहरे में जाओगे उतना समझ में आएगा। आपमें तो ज्ञान होने के बाद भी संयम के भाव नहीं आते और आ भी जायें तो संयम धारण नहीं कर पाते। यदि संयम धारण कर भी ले, तो पालन नहीं कर पाते। पालन भी हो जाएं लेकिन शुद्ध-भाव नहीं होते। इसलिए श्रावक की भी यह सब व्यवस्थाएँ छठवें गुणस्थान तक ही हैं, इसके बाद कोई राग नही हैं। राग तो चलता है १०वें गुणस्थान तक, लेकिन वह व्याख्यान का विषय नहीं, वह सूक्ष्म है, वह अंतरजल्प है। यह है आपकी ज्ञान की महिमा।

भो ज्ञानी! आप लोकोपचार को समझ नहीं पाए, अतः जिनवाणी की धारा को समझना। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने "अध्यात्म अमृतकलश" में कहा है कि स्वरूपाचरण को समझ नहीं पाया और संयमाचरण में खो गया। अहो प्रमादी! तू क्या कर रहा है? संयमी-जीव संयम की साधना में लीन है। सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं कि विशुद्धि से क्षयोपशम की वृद्धि होती है और बिना संयम के विशुद्धि नहीं बढ़ती है। आल्हाद/ प्रसाद विशुद्धि है। वस्तु का मिल जाना, पूजन कर लेना, पाठ कर लेना, इसका नाम विशुद्धि मत कह देना। यह विशुद्धि व्यवहार-दृष्टि से है। इन स्थानों पर आकर जो आल्हाद तुम्हारे अंदर उत्पन्न होता है उसका नाम यथार्थ विशुद्धि है। प्रतिभा के देखने के बाद प्रतिभावान पर जो तुम्हारी श्रद्धा उमड़ती है, उसका नाम विशुद्धि है। अहो! उपयोग के विषय को पदार्थों से नहीं नापना। यदि जिनवाणी को सुन रहे हो तो इससे शुभ काय-योग तो



बन जाएगा, लेकिन यदि परिणामों में निर्मलता नहीं आ रही है तो उपयोग शुभ बनने वाला नहीं है। विशुद्धि से क्षयोपशम बढ़ता है। इसलिए घबराओ नहीं, साधना करते जाओ। याद हो या न हो, लेकिन आप पढ़ते जाओ। ये संस्कार तुम्हारे बन जाएँगे। शास्त्र–ज्ञान की बात मत करो, आप तो शुद्ध ज्ञान की बात करो। ये शास्त्र ज्ञानी यहीं बैठे रहेंगे, तुम केवली–भगवान बन जाओगे। शिवभूति महाराज का क्या हुआ था ? "तुषमास भिन्नं" जपकर वे अंतर्मुहूर्त में कैवल्य को प्राप्त हो गए थे। ये श्रद्धा की महिमा थी, शास्त्र–ज्ञान की नहीं थी। उनको तो "णमोकार मंत्र" याद नहीं था। यह विशुद्धि की भावना है। इसलिए, यदि संयमी के पास शास्त्र–ज्ञान नहीं है, तो शास्त्र–ज्ञान से संयम की पहचान नहीं करना, क्योंकि संयमहीन केवली बन जाएँ, यह कभी संभव नहीं होगा।

भो ज्ञानी! अतिचार का उद्भव ज्ञान के निर्मल परिणमन के कारण नहीं है, क्योंकि ध्यान पर दृष्टि नहीं जाने के कारण ध्यान नहीं है, ज्ञान तो है, इसलिए संयम में शिथिलाचार है। ज्ञान हो या न हो, यदि ध्यान तुम्हारे पास है तो संयम में दोष नहीं लग सकता। पर ध्यान से चलना, क्योंकि ज्ञान सामान्य है, ध्यान विशेष है। परंतु ज्ञान के अभाव में ध्यान नहीं होता। यह ध्यान रखना, कि जिस वस्तु का ज्ञान होगा, उसी का ध्यान किया जाएगा। लेकिन ध्यान तो ध्यान है, क्योंकि ज्ञान में असावधानी हो सकती है, पर ध्यान में असावधानी नहीं होती है।

भो ज्ञानी! चित्त में निर्मलता का प्रवेश कर जाना,चित्त का चंचलता रहित हो जाना, उसका नाम ध्यान है। सुई में धागे को पिरोते समय ध्यान नहीं होगा तो तुम कैसे सुई में धागा डालोगे? संसार भी ध्यान से होता है और मोक्ष भी ध्यान से होता है। ध्यान दोनों के साथ रहता है। यदि आर्त/रौद्र ध्यान हो गये तो संसार हो गया और धर्म/शुक्ल ध्यान हो गये तो मोक्ष हो गया। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि आपने व्रत ले लिये तो उसमें अतिचार लगाकर अपना अहित क्यों कर रहे हो ? थोड़ी सावधानी और बरत लो तो निर्जरा ही निर्जरा है। अहो! संयम का नीर तुम्हारे पास है, लेकिन अतिचार को मत कर लेना, नहीं तो किच–किच हो जाएगी। वर्ष में एक बार श्रावकों को श्रावकाचार और साधकों को मूलाचार का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए, जिससे प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान का आगम अनुसार अभ्यास बना रहे, मन की सफाई होती रहे। यदि कहीं अवरुद्धता आ गई तो संयम में किच–किच (कीचड़) हो जाएगी, फिर अतिचारों से भी नहीं बचेंगे, अनाचार की ओर जाएगा। अतः, स्वाध्याय आपको बता देगा कि देखो तुम सुधार कर लो, यह दोष है। संयम की सावधानी/सुरक्षा हेतु आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि आपने दिग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदंड विरति व्रत आदि को स्वीकार किया। आपने नियम लिया था कि दस–दस किलोमीटर तक ही चारों दिशाओं में गमन करूँगा किन्तु/तीन दिशाओं में नहीं गये हैं, इसलिए चालीस किलो मीटर एक ही दिशा में चले जाते हैं। ऐसा नहीं करना, यह व्यतिक्रम है अर्थात् क्षेत्र वृद्धि, क्षेत्र की सीमा बढ़ा लेना है।

भो ज्ञानी! कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो नियम तो बहुत सारे ले लेते हैं, लेकिन भूल भी जाते हैं। ध्यान रखना, यह भी अतिचार है। सम्पूर्ण नियमों का उद्देश्य इच्छाओं का निरोध करना और राग का अभाव करना था, लेकिन वह कुछ नहीं हुआ। कभी–कभी कहते हैं कि हमारा तो नियम है, अतः आप चले जाओ वहाँ। अहो! परिप्रमाण क्षेत्र के बाहर अन्य पुरुष को भेज देना और वहाँ से वस्तु को मँगा लेना, फोन कर देना भी अतिचार है। वह महापुरुष है, जो निमित्त के मिलने पर भी अपने



उपादान को सम्हालकर चलता है, उसका नाम संयमी है। नियम ले लिया बोलना कि नहीं है, पर कोई सामग्री चाहिए, हूँ–हूँ कर भूत से घूम रहे हो अथवा रूप दिखा रहे हो। एकदम आँखें बनाईं, भौंह चढ़ा ली। वह नहीं, यह लेकर आओ, ऐसा शरीर दिखा दिया, ये अतिचार है। इतना ही नहीं जब कोई नहीं समझ पाया, तो उठाया पत्थर और दे मारा, सुनो! वह उठा लाओ। महाराज का महाव्रत है, उनको झाड़ू लगाने का त्याग है। तुम भी महाव्रती हो, इतनी भाषा बोल दी, बस हो गया काम, लग गया दोष। क्योंकि आपने उपदेश दिया। भैया! बड़े सम्हलकर बोलना चाहिए। पुद्गल का क्षेपण करना, काम–चेष्टा के अश्लील वचन का बोलना, अशुभ वचन बोलना यह भी अतिचार है। ध्यान से सुनना, आज तुम्हारे पुण्य का योग है सो तुम भाग्य से मनुष्य बन गये तो कर्म भूल गये। सीमा के बाहर जो भी आप सोचेंगे वह अतिचार के अंतर्गत आयेंगा। जितनी भोग–सामग्री तुम्हें चाहिए, उतनी ही रखना चाहिए। भोजन में तुमको एक रोटी तक खाते नहीं बनती परन्तु लालसा है चार खाने की। अतः, चार रखकर बैठ गये। पदार्थों को अधिक नहीं रखना। इसी प्रकार कुछ लोगों की आदत होती है कि अकेले भी बैठे होंगे तो बड़बड़ाते रहते हैं। कुछ लोग सोते–सोते बड़बड़ाते हैं यानि व्यर्थ में बातें करना यह भी अतिचार है। ध्यान रखना, वचनों का भी संयम रखो, ज्यादा मत बोला करो। भोग और उपभोग की सामग्री को बिना प्रयोजन के अधिक जुटाकर रखना और बिना विचारे कोई काम करना भी अतिचार है। बिना विचारे कुछ लोग काम कर लेते हैं, बाद में पछताते हैं। पहले विचार कर लेते। इसी का नाम विवेक है, इसलिए आपका नाम श्रावक है। आप श्रद्धावान, विवेकवान, क्रियावान हों। अतः, अतिचारों से बचो।





अतिचार से अनाचार

वचनमनः कायानां दुःप्रणिधानंत्वनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पंचेति चतुर्थशीलस्य।। १९१।।

अन्वयार्थ : स्मृत्यनुपस्थानयुताः = सामायिक के समय आदि को भूल जाना। वचन मनः कायानां = वचन, मन और काय की। दुःप्रणिधानं = खोटी प्रवृत्ति। तु अनादरश्चैव = और अनादर। इति =इस प्रकार। चतुर्थशीलस्य = चौथे शील (अर्थात् सामायिक व्रत) के। पंच एव =पाँच ही अतिचार हैं।

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोत्र्पवासस्य।। १९२।।

अन्वयार्थ : अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं = बिना देखे और बिना शोधे ग्रहण करना। संस्तरः = बिछौना बिछाना। तथा उत्सर्गः = तथा मलमूत्र का त्याग करना। स्मृत्यनुपस्थानम् = उपवास की विधि भूल जाना। च अनादरः = और अनादर। उपवासस्य = उपवास के। पंच =पाँच अतिचार हैं।

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसम्बन्धः।
दुष्पक्वोऽभिषवोपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य।। १९३।।

अन्वयार्थः हि = निश्चय कर। सचित्तः आहारः = सचित्ताहार। सचित्तमिश्रः= सचित्त मिश्राहार। सचित्तसम्बन्धः = सचित्तसंबंधाहार। दुष्पक्वः = दुष्पक्वाहार (घी व दूध मिश्रित कामोत्पादक आहार)। च अपि अभिषवः = और अभिषवाहार भी। पंच = ये पाँच अतिचार। षष्ठशीलस्य = छठे शील अर्थात् भोगोपभोग परिणामव्रत के हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भगवंतो! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवन् अमृतचन्द्रस्वामी ने हमें सूत्र दिया कि अतिचारों को जिसने समझ लिया, वह अनाचारों से बच गया। अल्पदोष को भी महादोष के रूप में जो देखता है, वह जीव कभी भी महान दोष को प्राप्त नहीं होता है और महान दोष में जिसे अल्प दोष नजर आता है, वह कभी भी जीवन में निर्दोष नहीं हो सकता। राई के बराबर ही क्यों न हो, दोषों को कभी छोटा न मानें। दोष कभी छोटा नहीं होता। भो ज्ञानी! मन बहुत खोटा है, वह हर समय विश्राम की ओर ले जाता है। यदि मन ने साथ दिया तो एक वृद्ध भी सम्मेदशिखर के पहाड़ पर चढ़ जाता है। भो ज्ञानी! जीवन में उत्साह नहीं गिराना, न स्वयं का उत्साह गिराना न दूसरे का। उस व्यक्ति का संयम युवा होता है। जिसके पास उत्साह–शक्ति होती है और जिस दिन उत्साह–शक्ति का विराम हो जाता है, उसी दिन संयम से वृद्ध हो जाता



है। भगवान की वंदना के लिए एक वृद्ध सीढ़ियों पर चढ़ रहे थे। साथी बोले–दादा जी! नीचे से ही वंदना कर लेते। दादाजी बोले–इस शरीर को तो नष्ट होना ही है, मैं चाहता हूँ कि जब तक काम दे रहा है, तब तक उपयोग कर लूँ। एक व्यक्ति कह रहा है कि जैसे भगवान नीचे की वेदी में हैं, वैसे ही ऊपर भी हैं, इसीलिए हमने तो नीचे से वंदना कर ली। अरे! उत्साह–शक्ति को बढ़ाओ। कभी शरीर को वृद्ध मत मान बैठना और जिस दिन से आपने मन को वृद्ध किया तो शरीर का काम होना बंद हो जायेगा, फिर चारपाई से बाहर नहीं आ पाओगे। ध्यान रखना। वृद्ध–अवस्था साधना में सबसे बड़ा विघ्न कराने वाली होती है। अहो ज्ञानियो! यह तो मनुष्य का शरीर था। सूर्य को भी शाम को ढलते देखा गया, उसका तेज फीका हो गया। संध्या आने के पहले कुछ करके चले जाओ। प्रभु से प्रार्थना कर लेना, कि भगवन्! हाथ में लाठी टिक जाए, उसका विकल्प नहीं, चिंता नहीं है, पर मन में लाठी न टिके, वृद्ध अवस्था में उत्साह बना रहे।

भो ज्ञानी! अंतिम सल्लेखना के काल में कानों को ढोल–धमाके में मत ले जाना, संगीत मत सुनाना। अब तो मात्र अपने चैतन्य प्रभु का गीत सुनना, सभी अतिचार समाप्त हो जाएँगे। ज्यादा मत देखो, ज्यादा मत सुनो, स्पर्श भी मत करो, गंध को भी ज्यादा मत सूंघो। जब आपने सभी इंद्रियों को व्यवस्थित कर लिया, अब अतिचार क्यों लगेगा? अतिचार लगने का कारण था इंद्रियों का भागना। यदि इंद्रियों का भागना बंद हो गया तो आपने विषयों की प्रवृत्ति मंद कर ली, अब अतिचार नहीं लगेगा। इसलिए अंतिम समय में पराधीन होना बंद कर दो। बिल्कुल स्वाधीन रहो। जिस जीव ने अपने आपको नहीं सम्हाला, तो सल्लेखना के काल में उनको बड़ी परेशानी होती है। सभी रोग एकसाथ अपना योग बनाते हैं, सभी कर्म एक साथ घेरते हैं, क्योंकि कर्म कह रहे हैं कि यदि आयु–कर्म आ गया, तो मैं इसको फल कब दे पाऊँगा ? आपने अनेक बार देखा होगा कि एक वह जीव है जिसने साधना की है और साधना के अंतिम समय में भी उसका तीव्र यश फैल रहा हैं, उसकी एक श्वांश मात्र में हंस–आत्मा चली गई। न किसी से सेवा कराई, न किसी की सेवा की। वह भी एक जीव था, क्योंकि उन्होंने इंद्रियों का दुरुपयोग नहीं किया।

भो ज्ञानी आत्माओ! जो कम उम्र के हों, उन लोगों के साथ थोड़ी मित्रता बनाके चलना और कह देना–मेरे मित्र! जब तुमने हर घड़ी मेरे साथ सहयोग किया है, तो मृत्यु से पूर्व मेरे विषमता के काल में समता–सीख बताने अवश्य आना। अंतिमकाल में जिसने सहयोग कर दिया अथवा जिनके साथ तुम्हारा बिगाड़ हो गया हो, आयु ढलते–ढलते सबसे क्षमा माँग लेना।

भो ज्ञानी! जैसे परिणाम होंगे, वैसा बंध होगा। अमृतचन्द्रस्वामी बता रहे हैं–अहो ज्ञानी आत्माओ! तीन संध्या वेला हैं– सुबह, शाम, मध्याह्न।। यह सामायिक का काल आत्मा की पढ़ाई का सुंदर काल है। इसमें अपने लिए ही सोचा जाता है। उस काल में दूसरे बहीखाते नहीं खोलना, अपने जीवन के बारे में सोचा करो। उस काल में मन इधर–उधर नहीं ले जाना। आप पूजन दूसरे से करवा सकते हो, पाठ दूसरे से करा सकते हो, घर में भक्तामर जी कराना है तो मंडली बुला ली और स्वयं सो गये। एक गाँव में पूजा हो रही थी, टेप लगा हुआ था, बस आप अर्घ चढ़ाते जाओ। सब कुछ कर लोगे, लेकिन एक बात का ध्यान रखना कि सामायिक दूसरे से नहीं करा सकते हो, सामायिक तो स्वयं ही करना पड़ेगी। सामायिक के लिए समय नहीं है, उसमें विकल्प हैं कि जब–जब माला

फेरते हैं तब–तब जो कभी नहीं सोचा था वह विचार आते हैं। सुविचार नहीं आए और यदि उस बीच कहीं निद्रा देवी आ गई, तो उसने भी मुझे मार दिया। निद्रा में सम्पूर्ण विवेक नष्ट हो जाता है। इसीलिए सामायिक कर लो। यदि एक दिन भी सामायिक कर ली, तो समझ लो, तुम्हारा कोई शत्रु नहीं मिलेगा। आज पूजा–पाठों की वृद्धि हुई है और सामायिक में कमी आई है। सामायिक में कमी आने का ही प्रभाव है कि परस्पर में कलुषता बढ़ रही है, क्योंकि सैर–सपाटे में हम जी रहे हैं, ढोल–धमाके में जी रहे हैं, पर सोचने का समय दे ही नहीं रहे हैं। हे योगी! तू एकांत में बैठ जा, अपने निज के परिणामों को ठीक कर ले। विश्वास करना, जिनको मानसिक रोगों से छुटकारा पाना हो, वे एक घंटा सामायिक को देना प्रारंभ कर दें। मानसिक रोग ठीक हो जाएँगे।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवन् सामायिक व्रत के अतिचार गिना रहे हैं कि सामायिक तो आप कर रहे हो, लेकिन वचन–प्रवृत्ति अन्यथा चल रही है। हूँ–हाँ, हुँकार चल रही है। कभी नहीं लगता आपको कि हम अपने साथ कर क्या रहे हैं? सामायिक करने के लिये मैं आपको समय भी बता देता हूँ, बहुत समय है आपके पास। जा रहे हो, आ रहे हो, उस समय क्या करते हो? मौन ले लो, भगवान का नाम लो। जब आप सोने जाते हो, जब करवट बदलते हो, उतने काल में तुम परिणामों की करवटें बदल दो। ''णमो अरिहंताणं'' समाधि के लिये यह एक महामंत्र है। अन्यथा ध्यान रखना–करवट बदलते समय जो अशुभ विचार तुम्हें आएँगे, वे पता नहीं तुम्हें कहाँ ले जाएँगे। करवट बदलते समय ही कहीं आयु–कर्म की करवट बदल गई तो, भो ज्ञानी! गये। अतः, बहुत जागने की आवश्यकता है और जागने का स्थान ही सामायिक है। सामायिक के काल में अन्यथा वचनों की प्रवृत्ति मत करना। अकेले में बैठे हो तो बैठ–बैठे भी गुनगुनाना है। आपको मालूम नहीं है। सामायिक एकांत में ही करना, चौराहे पर कभी मत बैठना। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चौराहे पर बैठकर तुम सामायिक करोगे, तो कभी सामायिक नहीं होगी। उन चारों से भिन्न होने का नाम सामायिक है। रागादिक भाव जो आ रहे हैं, वे कर्मों के सहयोग के कारण हैं। 'वरधर्म' नाम के मुनिराज जब चौराहे पर ध्यान में बैठे हुए थे कि अचानक पथिक मुखरित हो गये। अहो! वे सम्राट थे, लेकिन उनके बेटे शासन नहीं सम्हाल पाये। पड़ौसी राजा ने इन बेटों पर चढ़ाई कर दी। अहो मनीषियों! सब व्यवस्थाएँ पहले से कर देना। दूर चले जाना साधना करने। अपरिचित होकर जीना। इसलिए आगम कहता है कि नाम बदलो, काम बदलो, गाँव बदलो; तब भाव बदल पाएँगे। देखना, अचानक ही शब्द कान में पड़ गये। परिणाम यह हुआ कि भाव बदल गये। मैं होता तो ऐसे चक्रव्यूह की रचना करता। समवसरण में ही धनुष–बाण की दृष्टि बन गई। भगवान महावीर की वाणी खिरी–हे राजा श्रेणिक! शीघ्र जाओ, तुम अंतर्मुहूर्त में नहीं सम्हाल पाए, तो जीव की हालत बिगड़ जाएगी। राजा श्रेणिक पहुँचकर बोले, भो–स्वामिन! नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु जोर से चिल्लाता है। धनुष पर डोरी चढ़ रही थी पर, भो ज्ञानी! पिच्छी पर डोरी चली गई। मैं तो मुनि हूँ। धिक्कार हो! यह क्या कर रहा हूँ? अहो! एक क्षण में वह योगीराज कैवल्य को प्राप्त हो गये। यह थी भावों की महिमा। इसलिए अशुभ वचनों को न कहें।

भो ज्ञानी! संत बनने के लिए वर्षों लग जाते हैं, असंत बनने में क्षण नहीं लगता। 'मैं संत–स्वभाव का विघात नहीं होने दूँगा,' ऐसी भावना मुमुक्षु श्रावक के अंदर गूँजती रहती है। ऐसे ही कहीं तुम्हें मालूम चल जाए कि अमुक जगह साधक के परिणामों में विकल्पता आ रही है तो हजार काम छोड़कर



पहुँच जाना और जोर से बोलना–'भो स्वामिन! नमोस्तु। अहो वीतरागी भगवन्!' अरे, मैं कहाँ राग में डूब रहा हूँ। बस तुम्हारी नमोस्तु ने ही समझा दिया। ऐसा मत कर देना कि शरीर में पीड़ा हो रही हो, तुमने उनके शरीर की भी सेवा कर दी, उनके भाव शांत हो गये। वैयावृत्ति में विवेक का होना अनिवार्य है। शरीर को दबाना सभी लोग कर सकते हैं, पर भावों को दबाना यह ज्ञानियों का काम है। भावों की दवा जिनेन्द्र–वचन ही परम–औषधी है। सामायिक के काल में अशुभ वचन नहीं बोलना, मन को यहाँ–वहाँ नहीं डोलने देना, शरीर को स्थिर रखना। सामायिक में पाठ भी करो तो चुटकी नहीं बजाना। दाँतों का पीसना, नेत्रों का लाल होना सामायिक का चिह्न नहीं है। यह रौद्र–ध्यान का चिह्न है।





अतिचारों से बचो

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने।। १९४।।

अन्वयार्थ : परदातृव्यपदेशः = किसी दूसरे के हाथों आहार दिलवाना। सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च = सचित्त निक्षेप और सचित्तपिधान, (आहार की वस्तुओं को हरे पत्तों में रखना)। कालस्यातिक्रमणं = काल का अतिक्रम, (भोजन काल का उल्लंघन करना)। च मात्सर्यं इति = और मात्सर्य,(आदरभाव न होना) इस प्रकार,। अतिथिदाने = अतिथि संविभाग व्रत के पांच अतिचार होते हैं।

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पंचैते भवन्ति सल्लेखनाकाले।।१९५।।

अन्वयार्थ : जीवितमरणाशंसे = जीवितशंसा मरणशंसा, (जीवन व मरण की आशंसा) सुहृदनुरागः सुखानुबन्धः = सुहृदानुराग,(अपनों के प्रति अनुराग)। सुखानुबन्ध च सनिदानः एते पंच = और निदान सहित, ये पाँच अतिचार। सल्लेखनाकाले भवन्ति = समाधिमरण के समय में होते हैं।

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात्।। १९६।।

अन्वयार्थ : इति एतान् = इस प्रकार गृहस्थ इन पूर्व में कहे हुए। अतिचारान् = अतिचारों को और। अपरान् = दूसरों को अर्थात् अन्य दूषणों के लगाने वाले अतिक्रम व्यतिक्रमादिकों की। अपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य = भी विचारकरके, छोड़कर। अमलैः सम्यक्त्वव्रतशीलैः = निर्मल सम्यक्त्व, व्रत और शीलों द्वारा। अचिरात् = थोड़े ही समय में। पुरुषार्थ सिद्धिम् एति = आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि को प्राप्त होता है।

।।पुरुषार्थ देशना।।

आचार्य श्री संल्लेखना के पाँच अतिचार का कथन कर रहे हैं। आशंसा का अर्थ चाहना है। जीने की चाह करना जीविताशंसा है और मरने की चार करणाशंसा है। पहले मित्रों के साथ पांसु क्रीडन आदि नाना प्रकार की क्रीडाएँ की थीं, उनका स्मरण करना मित्रानुराग है। अनुभव में आये हुये विविध सुखों का पुनः दुःस्मरण करना सुखानुबन्ध है। भोगाकांक्षा से जिसमें या जिसके कारण चित्त नियम से दिया जाता है वह निदान है।

भो भव्यात्माओ! आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी ने अलौकिक सूत्र प्रदान किये हैं कि संयम की लीनता ही समरस के झरने का स्रोत है। जैसे–जैसे जीवन में संयम घटित होता है वैसे–वैसे आनन्द



का स्रोत स्फुटित होने लगता है। 'लघुतत्वस्फोट' ग्रंथ में चौबीस तीर्थंकर भगवन् का स्तवन करते हुये अमृतचन्द्र स्वामी लिख रहे हैं–प्रभु! आप प्रकाशक हैं, प्रकाशमान हैं। अहो! विश्व ने जिसे प्रकाश माना है, उसे आपने अप्रकाश माना है। जहाँ सूर्य की किरण नहीं पहुँची, वहाँ आपकी किरण पहुँच चुकी है, इसीलिए आप प्रकाशमान हैं। आप शून्य हो, आप अशून्य हो। प्रभु! आप शून्य इसलिए हो, क्योंकि आप दोषों से शून्य हो अर्थात् आपके पास अब दोष नहीं बचे। हे नाथ! आप बुद्धिहीन हो, क्योंकि बुद्धि होती है मन वाले की, परन्तु आप मन से रहित हो, इसीलिए आप निर्बुद्धि हो।

भो ज्ञानी! जहाँ मन है, वहाँ विकल्प हैं एवं विषयों में प्रवृत्ति जा रही है। मन ही विवेक को शून्य कर रहा है, मन ही तुझे नय से भटका रहा है। प्रभु! आप राग–द्वेष से शून्य हो, पर चराचर को जानते हो, इसीलिए आप अशून्य हो। आचार्य भगवन् समझा रहे हैं कि शून्य का ध्यान करो। लेकिन शून्य–स्वभाव से तात्पर्य जड़त्व–दृष्टि नहीं, निज में स्थिरता है। शून्य से तात्पर्य मूर्खता नहीं, परम् विज्ञस्वरूप की लीनता है। अतिचार वहाँ होते हैं, जहाँ चित्त है और चित्त की प्रवृत्ति के साथ मोह बैठा होने से जहाँ राग–द्वेष की धारा चल रही है, वहाँ अतिचार सुनिश्चित है। जिसने अतिचार को मृदु बना दिया, उनके पास अनाचार सुनिश्चित बैठा हुआ है। देशजिन सम्यक्दृष्टि श्रावक ने मिथ्यात्व को जीत लिया है, जिनत्व का बीज बो दिया है। उस देश जिन से कहा जा रहा है कि सफल जिनत्व तब प्रकट होगा, जब चारित्र निर्मल होगा, निर्दोष होगा। निर्दोष चारित्र तब ही होगा जब अतिचार को पर्वत के रूप में मानना स्वीकार कर दें। उत्कृष्ट तो यही है कि आप अतिक्रम व व्यतिक्रम में ही सम्हल जाओ। अहो! मन की अशुद्धि अतिक्रम है और विषयों की प्रवृत्ति व्यतिक्रम है। व्रत का एक देश भंग होना अतिचार है और अतिचार में लीन हो जाना अनाचार है। जरा–सा दोष भी संयम के माधुर्य को खट्टा कर देता है और सारा–का–सारा माधुर्य खटाई के रूप में चेहरे पर आता है, प्रवृत्ति में आता है, वाणी में आता है, मन में तो आ ही चुका था। अतः दोषों में मग्न मत हो जाना। जिस व्यक्ति ने दोष छिपाने की आदत डाल ली, उसके तो अनन्त भव तैयार हैं। अहो! जब तक किसी ने नहीं, देखा तब तक लोक की दृष्टि में निर्दोष हो; परन्तु निजलोक की दृष्टि में निर्दोष कहाँ हो? जब भावलोक निर्दोष नहीं रहेगा, तो भवलोक निर्दोष नहीं बनेगा, क्योंकि भावलोक जिसका निर्मल है उसका भवलोक निर्दोष है और भवलोक जिसका सुधर गया तो उसके पास लोक बचा ही कहाँ? वह तो लोक से परे शुद्ध लोक में चला गया।

भो ज्ञानी! विश्व के प्राणी भवलोक सुधारने की बात तो करते रहते हैं, परन्तु भावलोक सुधारने की बात नहीं करते। मात्र वीतराग–वाणी ही ऐसी है जो भवलोक सुधारने के पहले भावलोक सुधारने की बात करती है। मनीषियो! एक क्षण का कषाय–परिणाम शाश्वत–द्रव्य की सत्ता को विकृत करा देता है। जितना असंयम–भाव संसार में रुलाता है, उतनी ही हीन–भावना संसार में रुलाती है।

भो ज्ञानी! यह बात ध्यान रखना कि किसी से दोष हो रहा तो उसे सम्बोधन देना, पर उसके दोष को उछालना मत, उस पर दया कर लेना। यहाँ अतिचार का कथन करने में बड़ा रहस्य चल रहा है, क्योंकि ग्रंथों में तात्कालिक बातें नहीं लिखी होती, ग्रंथ त्रैकालिक बातें करते हैं। ये अतिचार भी मात्र पंचम काल के नहीं, सर्वकाल के हैं। अट्ठाईस मूलगुण व बारह व्रत भी सर्वकाल के हैं। उन व्रतों में जो दोष लगते हैं उन दोषों को छोड़ना अनिवार्य है, क्योंकि शक्ति की हीनता और परिणामों



की चंचलता में जीव को दोष लगते हैं। इसी तरह कुसंगति के संयोग से भी श्रेष्ठ–पुरुष हीन हो जाता है। इसीलिए 'प्रवचनसार' में आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने लिखा है–

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं।।२७०।।

'हे यति! यदि दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो श्रेष्ठ यही है कि अधिक गुण वालों के साथ रहना चाहिए। यदि अधिक गुणी प्राप्त नहीं हो पा रहे तो समान गुण वालों के साथ रहो, पर हीनाचरण वालों के साथ मत रहना। अन्यथा ध्यान रखो कि संगति का बड़ा असर पड़ता है। एक ब्राह्मण माँ ने दो पुत्रों को जन्म दिया। एक पुत्र का चाण्डाल के यहाँ पालन–पोषण किया गया। दूसरे पुत्र का ब्राह्मण कुल में ही पालन कराया गया। दोनों सुत एक ही माँ के थे, परन्तु एक मदिरा में स्नान कर पाप कमा रहा है, दूसरा मदिरा को स्पर्श करने में पाप मान रहा है। मनीषियो! ध्यान रखना, ब्रह्म स्वरूप भगवती आत्मा के दो पुत्र हैं। एक का नाम शुभ–उपयोग है एवं दूसरे का नाम अशुभ–उपयोग है। शुभ–उपयोग कहता है कि पाँच पाप का स्पर्श करना ही महा–अधमकारी है। अशुभ–उपयोग कहता है कि पाँच पापों की लीनता ही परमात्म भाव है। पर यह अज्ञानता ही समझो। 'समयसार' कहेगा कि दोनों बेटे अशुभ हैं। शुद्ध तो एकमात्र शुद्ध–स्वभाव है अथवा शुद्ध तो केवल एक ही केवलज्ञान है। अतः उज्ज्वल चारित्रवान के साथ रहोगे तो अंतरंग में कमजोरी नहीं होगी। आप जब भी कमी महसूस करोगे तो दृष्टि सामने वाले की वृत्ति या उसके श्रेष्ठ चारित्र के पास जाती है, तब तुमको फीका महसूस होगा, तो आपके भाव भी श्रेष्ठ बनेंगे कि अपन भी ऐसा करें। इसीलिए भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि हीनाचरण के पास निवास मत करो। पुष्प के सामने बैठोगे, तो सुवास ही प्राप्त होगी।

भो ज्ञानी आत्माओ! अमृतचन्द्र स्वामी यहाँ पर संकेत कर रहे हैं कि व्यक्तित्व को निखारने के लिए आपको व्यक्तित्व के पास पहुँचना पड़ेगा। यदि परम् लक्ष्य की प्राप्ति करना है, तो अतिचारों में संतुष्ट नहीं होना। कुछ लोग इतने सन्तुष्ट हो जाते हैं कि अतिचार ही तो लगा, अनाचार तो नहीं हुआ। हम सामायिक पर बारह बजे की जगह साढ़े बारह बजे बैठे हैं, अतिचार ही तो लगा है। अहो! चिंता नहीं करो, कुछ दिन बाद आप इतने मस्त हो जाओगे कि आप एक भी बजाओगे। मालूम चला कि काम बहुत जरूरी था, इस कारण एक बज गया, चलो मौन बैठ जाओ, वह काम और निपटा लो। अब बताओ कि पहले दिन पाँच मिनिट लेट हुये थे, दूसरे दिन दस मिनिट। इस प्रकार पहले हम दूसरे काम निपटाने लगे, फिर सामायिक करने लगे।

भो ज्ञानी! ये कार्य मोक्ष–मार्ग नहीं हैं, सामायिक मोक्षमार्ग है। ध्यान रखना, पाठ करने का नियम है, परन्तु भाव लग नही रहे। अब इतनी उथल–पुथल है कि इधर सामायिक का समय हो रहा है, उधर पाठ भी करना है, क्योंकि नियम लिया है कि भोजन के पहले करना है। अब क्या करोगे? अहो! मार्ग यह है कि पाठ रोज समय पर होना था, पर आज क्यों नहीं हुआ? क्योंकि हमने अपने समय में कटौती की है, कोई दूसरे काम उस समय पर किए हैं, अतः अब परिणाम अधमरूप हो रहे हैं। मनीषियो! माँ जिनवाणी कह रही है कि ज्ञानियों के पास जाकर बैठ जाओ, तत्त्व–चर्चा करने लगो,



जिससे वह काल चला जाये, वह काल समाप्त हो जाये और तुम्हारे परिणाम फिर सहज हो जायें। ध्यान रखना, आपने अध्ययन किताबों में किया है, उसमें विवेक लगाकर काम करना। एक शिष्य बहुत सरल था। उसे गुरु ने पढ़ाया– बेटा! कोई सामग्री नहीं उठाया करो। जी, गुरुदेव! नहीं उठायेंगे। एक बार दोनों एक घोड़े पर माणिक मोती लेकर जा रहे थे। रास्ते में उनकी थैली फट गई। गुरुदेव आगे बैठे हुए थे। शिष्य ने देख भी लिया, परन्तु उसने मोती नहीं उठाये। जब मुकाम पर पहुँचे तो खाली थैली देखकर गुरु बोले--बेटे! यह क्या हुआ? गुरुदेव! मैंने तो देख लिया था, पर आपने हमसे कहा था कि किसी सामग्री को मत उठाना, इसीलिए मैंने नहीं उठाया। गुरुदेव बोले--भैया! अपनी वस्तु तो उठा लिया करो। 'जी, आगे से ऐसा ही करेंगे।' जैसे ही आगे बढ़े, तभी घोड़े ने लीद कर दी और शिष्य ने तुरन्त अपनी थैली फैला दी। यह देख गुरुजी बोले–बेटा! यह क्या कर रहे हो? 'गुरुजी! आपने ही तो कहा था कि अपनी सामग्री उठा लिया करो, घोड़ा तो अपना है ना।' भैया! ऐसी डायरियों में नोट करने की शिक्षा से तुम्हारा जीवन चलने वाला नहीं है। विवेक की डायरी पर भी कुछ सोचना। यहाँ यह अनुभव करना है कि हमारी दृष्टि में लाभ कहाँ है? संसार का लाभ नहीं, परिणामों का लाभ। एक समय में कितने बंध हो रहे हैं? भो ज्ञानी! एक पलक के झपकने में असंख्यात समय हो जाते हैं, इतना सूक्ष्म एक समय है। अतः यह मत देखना कि वैभव कहाँ है? लाभ के लिए वैभव तो छोड़ना पड़ेगा। वैभव नहीं छोड़ रहे हो, तो लाभ भी नहीं मिल रहा है।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि आपने लोभ किया, तो लाभ गया। व्यक्ति समय पर लोभ नहीं करता, असमय में लोभ करता है। वहाँ लाभ भी गया, धन भी गया और धर्म भी गया। अब ध्यान से समझना, अतिथि–संविभाग व्रत के अतिचार चल रहे हैं। देखो, आप द्रव्य भी देते हो, समय भी देते हो, परन्तु लाभ नहीं ले पाते हो। एक क्षण में परिणाम इधर से उधर हुए, मालूम चला कि जितना पुण्य का संचय किया था वह सब असावधानी के कारण संक्रमित कर दिया। सावधानी बहुत अनिवार्य है। जैसे कि भवन को बनाने में सावधानी रखी जाती है, वैसे ही आत्म–स्थित भवन को स्थिर करने के लिए अनन्त गुनी सावधानी रखना पड़ती है। अतः, मात्र एक तीर्थंकर भगवान का चारित्र पढ़ लीजिए, यानि उनके जीवन में घटित घटनायें, क्योंकि उनका चरित्र भी निर्मल है और चारित्र भी निर्मल है। भगवान महावीर स्वामी से मिल लेना कि जब आप अकउआ की पर्याय में थे, हम आपसे तो अच्छे हैं, कम से कम प्रवचन–सभा में तो बैठे हैं। सोचो, वे ही भगवान महावीर थे, इसीलिए पता नहीं यहाँ कौन भविष्य के भगवान बैठे हैं, उनका अविनय न हो जाये। हम रोष में/मेंतोष में घास पर फर्श बिछाकर बैठ गये। अहो! आप भगवान के ऊपर बैठ गये। यदि द्रव्यदृष्टि है, तो फिर आपको सब परमेश्वर दिखेंगे। इसीलिए महापुरुषों के चरित्र तो पढ़ते ही रहना चाहिए जब तक हम महापुरुष न बन जायें।

भो ज्ञानी! हमारे आचार्यों ने कहा है कि यदि दोष हो गया हो तो अब तुम आलोचना कर लो, गर्हा कर लो, प्रतिक्रमण कर लो। अभी प्रायश्चित नहीं देंगे, पहले प्रत्याख्यान तो करो। 'परदातृव्यपदेशः' ये पहला अतिचार है। हम बाहर जा रहे हैं, आप हमारे यहाँ चौका लगा लेना और जितना खर्च हो चिंता नहीं करना, पर हम तो आहार नहीं दे पायेंगे। अथवा दूसरे के द्रव्य को स्वयं दे देना। जैसे–कोई व्यक्ति आपके यहाँ दान के लिए फल रख जाये, लेकिन महाराज का त्याग था, इसलिये उन्होंने नहीं



लिया अथवा उस दिन पड़गाहन नहीं हुआ और आपको चौका बंद करना था तो बताओ क्या करोगे? स्वयं निर्माल्य खाओगे कि दूसरे को खिलाओगे? यदि दूसरे को खिलाओगे तो क्या दूसरे को निर्माल्य खिलाने में तुमको पुण्य मिलेगा? इसीलिए मैं आपको विधि बता रहा हूँ। बिल्कुल नहीं घबराओ। उससे पहले ही सब विधियाँ उससे पूछ लेना–भैया! आवश्यक नहीं कि महाराज यह लेंगे, इसके बाद इसका क्या होगा? तो वह स्वयं कह देगा, कि भैया! हम तो देकर जा रहे हैं, आप इनका उपयोग कर लेना। इस प्रकार उसमें दोष नहीं है।

भो ज्ञानी! सचित्त पदार्थ पर रखकर देना या कच्चे पानी आदि से बर्तन धो लिया, और उस पर कोई भोजन सामग्री रख ली और दे दी अथवा स्वयं कच्चे पानी से हाथ धोकर आ गये और सामग्री तुरन्त उठा ली, ऐसा करना दोष है। इसी प्रकार तुरन्त ही आपने कच्चे पानी से बर्तन को धोया और बटलोई पर रख दिया, तुम्हारी पूरी सामग्री अशुद्ध हो चुकी है। 'कालस्यातिक्रमणं' भी बहुत बड़ा दोष है कि बिठा लो महाराज को, अपन दूध थोड़ा ठंडा कर लें। अहो! एक कायोत्सर्ग–प्रमाण साधु खड़ा रह सकता है, इसके बाद भी यदि उनकी अंजुली पर तुमने कुछ नहीं रखा, तो वह सहजभाव से अंजुली छोड़ देंगे। वहाँ तुम्हारे सामने जो शुद्ध वस्तु है उसे दे दो, लेकिन ऐसा नहीं है कि रुक जाओ, हमें शुद्धि कर लेने दो, फिर हम आपको देंगे। चौके में भी खाली रूप से एक कायोत्सर्ग–प्रमाण ही बैठ सकते हैं। प्राचीनकाल में जंगलों से आते थे, यदि चाण्डाल के यहाँ प्रवेश हो जाता था, तो अन्तराय आता था, क्योंकि आपके आँगन तक तो महाराज बिना पड़गाहे भी जा सकते हैं। आगम की विधि है कि जहाँ तक जन–सामान्य जा सकते हैं, वहाँ तक साधु जा सकते हैं। प्रश्नचिह्न नहीं लगाना? नौका में भी बैठ सकते हैं। ऐणिक नाम के मुनिराज को नौका में बैठे–बैठे केवलज्ञान हुआ। यदि घुटनों के नीचे तक पानी है, तो मुनिराज पानी में भी जा सकते हैं। लेकिन वहाँ से जाकर सिद्ध–भक्ति आदि करके उसका प्रायश्चित्त करते हैं।





तप विधान

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः।।१९७।।

अन्वयार्थ :– आगमे = जैन–आगम में। चारित्रन्तर्भावात् = चारित्र के अंतर्वर्ती होने से। तपः अपि = तप भी। मोक्षांगम् = मोक्ष का अंग। गदितम् = कहा गया है। इसलिये अनिगूहितनिजवीर्यैः = अपने पराक्रम को नहीं छिपाने वाले तथा। समाहितस्वान्तैः = सावधान चित्तवाले पुरुषों के द्वारा। तदपि निषेव्यं = वह तप भी सेवन करने योग्य है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भगवन् अमृतचंद्र स्वामी ने अनुपम–अलौकिक सूत्र प्रदान करके इस संसार में आत्मार्थियों का परम कल्याण किया है। अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि 'जीवन में वैभव का मिल जाना, तन का मिल जाना तो सहज है, परन्तु तन और धन के मिलने के उपरान्त मन का परिणमन संयमित होना बहुत दुर्लभ है।' विभूति का मिलना तो मिथ्या दृष्टि को भी होता है, सुन्दर शरीर तो बहुत जीवों का है, पर पूछ लेना मखमली इन्द्रगोप कीड़े से कि तूने ऐसे कौन से कर्म का आस्रव किया जिससे इतना सुन्दर शरीर तुझको मिला। वह कह देगा–मैं वही भोगी/रागी हूँ जो वस्त्रों से बाहर नहीं उतरा और वस्त्रों से उतरा तो वासना में लिपट कर इतना तन्मय हो गया कि वैभव को ही सर्वस्य मान लिया; आत्मानंद को भूल गया; परमानंद को भूल गया। 'चारित्रं खलु धम्मो' सूत्र को तो शून्य कर दिया, चारित्र पर मेरी दृष्टि ही नहीं पड़ी। उस समय मैंने स्पर्शन इन्द्रिय को ढँकने के पीछे, शरीर को ढकने के पीछे पता नहीं कितने कोशों की कोशिकाओं का घात कर दिया, उसका परिणाम मुझे प्राप्त हुआ है।

भो ज्ञानी! यह जैनदर्शन है। जो पाप नहीं कर रहा, वह तो पूजा का पात्र है। ध्यान रखना, दुनियाँ के संतों की आरती उतर रही होगी, उन्हें मालाएँ चढाई जा रही होगी, लेकिन अष्ट द्रव्य से पूजा केवल दिगम्बर आम्नाय में ही की जाती है, क्योंकि पंचपरमेष्ठी को भगवान के स्थान पर रखा है। इसलिए दया का पात्र भगवान नहीं, पापी होता है। भगवान तो पूजा का पात्र होता है। पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं कि जिससे आत्मा पवित्र हो वही पुण्य है। आत्मा की पवित्रता रत्नत्रय धर्म से है। अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि सुनो, अणु–अणु की बातें तो हो रही हैं, अब महाव्रतों की चर्चा करो। सकल संयम महाव्रत कहा जाता है। जिन व्रतों को महापुरुष धारण करते हैं, उन व्रतों का नाम महाव्रत है। जिसको महंत धारण करे, उसका नाम महाव्रत है अथवा जिन व्रतों को धारण करने से आत्मा महान बन जाती है, उसका नाम महाव्रत होता है। जिनके स्वीकार करने से सकल क्लेश मिट जाये, उस व्रत का नाम सकलव्रत होता है। सकल यानि टुकड़े और सकल यानि सम्पूर्ण। आपके व्रत टुकड़े थे, अणु–अणु हो गये। जो संसार के टुकड़े, पुद्गलों के टुकड़े से पृथक करा दे और अखण्ड द्रव्य आत्मा के सर्वांग में प्रवेश करा दें, उसका नाम सकलव्रत होता है। इसलिये पंडित दौलतराम को लिखना पड़ा–"मुनि सकलव्रती बड़भागी", यदि विश्व में कोई बड़भागी है तो सकलव्रती है। पंडित टोडरमलजी, दौलतराम जी, बनारसीदास जी इनकी



अपेक्षा आप लोग भाग्यवान हो। उनको तो निर्ग्रंथों के दर्शन ही नहीं हुये, वह तो ग्रंथों मात्र को निहारते रहे। परंतु आज के श्रावक ग्रंथ और निर्ग्रंथ दोनों के दर्शन से निहाल हो रहे हैं। जिस षट्खण्डागम ग्रंथराज के दर्शन मूड़बद्री में टिकिट से होते थे, आज जिनालय की अलमारी शोभायमान हो रही हैं।

भो ज्ञानी! चेहरा बाहरी आवरण है, मगर तू पुद्गल में आनन्द मना रहा है। ध्यान रखो, मोह से आपकी आँखें तो अंधी हो गई और आपके राग से आपका विवेक बंद हो गया, लेकिन उस सर्वज्ञ के ज्ञान में सब कुछ नजर आ रहा है। छिपा लो, पर छिपाकर जा नहीं पाओगे। जाओगे कहाँ? दर्पण में सुन्दर दिखने से चेहरा सुन्दर नहीं होता, दर्पण सुन्दर नहीं बनाता। दर्पण असुन्दर भी नहीं बनाता। जैसा होता है, वैसा ही दिखता है। ऐसा ही केवली के ज्ञान में झलकता है। अभी तुम कषाय से भी काले हो, शरीर से भी काले हो। इसलिये तुमसे तो कौआ श्रेष्ठ है, क्योंकि अन्दर व बाहर एक सा है, पर मधुर भाषी कोयल अच्छी नहीं है, क्योंकि वह अपनी संतान को भी कौआ से पलवाती है, कौआ के घोंसले में रख देती है। समझ जाओ, अपने जीवन के पाप परिणामों को दूसरों पर थोप देती है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं– सकल महाव्रत काँच का शीश महल है। उस महल में जिसका प्रवेश हो जाये, वही चमकता है। इसी प्रकार साधु स्वयं चमकता है और उसके पास जो पहुँच जाता है, वह भी आनन्दित हो उठता है। जैसे एक काँच गिर जाये तो फीका लगने लगता है, इसी तरह एक व्रत में दोष लग जाये, तो साधु चर्या फीकी लगने लगती है। भो आत्मन्! आचार्य भगवान् कुंदकुंद स्वामी 'समयसार' जी ग्रंथ में कह रहे हैं कि–

वदणियमाणि धरंता सीलणि तहा तवं च कुवंता।
परमट्ठ बाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी।। १६०।।

तप को क्रिया–काण्ड कहकर निज आत्मा के शत्रु मत बन जाना। जो संयम–चारित्र की अवहेलना कर रहा है, ज्ञान की अवहेलना कर रहा है, वह अपनी आत्मा का आत्मा से घात कर रहा है। ध्यान रखना, कभी भी ऐसा मत कह देना कि तप तो क्रियाकाण्ड है। हाँ, यदि वह तप परमार्थ से शून्य है, तो क्रियाकाण्ड हैं, क्योंकि जो व्रती शील व संयम को धारण करके भी परमार्थ से शून्य होते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। परमार्थ से शून्य होकर जो कुछ भी करोगे वह सब संसार का हेतु बनेगा। इसलिये, जो तप को मोक्षमार्ग नहीं मानता, वह जैन आगम से बाह्यय यानि मिथ्यादृष्टि है। जो अपनी शक्ति को छिपा रहा है, तप नहीं कर रहा, वह तो डाकू है। अहो! चारित्र से विशुद्धि बढ़ती है और संयम–तप से चारित्र बढ़ता है। संयम पालन के भाव बनाओ। ज्ञान कहीं नहीं प्राप्त करना पड़ेगा, इसलिये ज्ञान का पुरुषार्थ मत करो; तुम संयम का पुरुषार्थ करो। संयम से विशुद्धि बनेगी। क्षयोपशम व उपशम अपने आप/स्वयं बनता है, सहज बनता है। ग्रंथों से निर्ग्रंथ के बारे में जान तो सकते हो, पर ग्रंथ निर्ग्रंथ नहीं बना पायेंगे; निर्ग्रंथों के पास निर्ग्रंथ बन पाओगे। ध्यान रखना, ज्ञान की किताब लिखना सरल है, **चारित्र पर पुस्तक लिखना सरल है, परन्तु चारित्र की पुस्तक बनकर जीना बहुत कठिन है।** चारित्र पर पंडित आशाधर जी ने तो "अनगारधर्मामृत" लिख दिया, लेकिन अनगार नहीं बन पाये।

भो ज्ञानी! आज से ध्यान रखना कि संयोग मिले हैं, मिलेंगे, पर इनको स्वभाव मान कर निज स्वभाव का घात मत करना। निर्ग्रंथता प्राप्त किये बिना वीतरागभाव का उदय नहीं होगा, यह पूर्णतः सत्य है। अतः उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ आज से ही चालू कर देना। भगवान् आत्माओ! समय कम है, समय को समझो।

तप के भेद

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम्।।१९८।।

अन्वयार्थ : अनशनम् = अनशन। अवमौदर्यं = ऊनोदर। विविक्तशय्यासनं = विविक्त शय्यासन। रसत्यागः = रसपरित्याग। कायक्लेशः = कायक्लेश। च = और। वृत्तेः संख्या =वृत्ति की संख्या। इति =इस प्रकार। बाह्यं तपः =बाह्य तप। निषेव्यम् = सेवन करने योग्य है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

आचार्य भगवान् अमृतचन्द्रस्वामी ने अलौकिक सूत्र प्रदान किया है कि जिन–शासन की प्रभावना के लिए और आत्मत्व की प्रभावना के लिए निज वीर्य को न छिपा कर, निज स्वभाव को निर्मल करने के लिए तपाया जाता है, उसे तप कहा है। मुनियों के उत्तर गुणों में और आचार्यों के मूलगुणों में ये बारह प्रकार के तप होते हैं। जैसे मुनियों को अठ्ठाईस मूलगुण अनिवार्य हैं, वैसे ही आचार्य परमेष्ठी को बारह तप अनिवार्य हैं। पहले आचार नहीं बनते, पहले विचार बनते हैं। जिसके विचार होते हैं, वह आचरण को स्वीकार करता है। विचारों की निर्मलता ही आचरण को जन्म देती है। आचरण ही आचायरत्व को जन्म देता है। अतः आचार महान नहीं, वे विचार महान थे। निर्मल आचरण ने आचार्यरत्व को प्रदान किया है। मुमुक्षु अपनी साधना में तप को अंग बना लेता है। यह मत सोचना कि कोई भी आचार्य इसलिए महान हैं क्योंकि उन्होंने बहुत सारी दीक्षा दी हैं, बहुत अच्छे ग्रंथों का सृजन किया है। दिगम्बर संतों को कभी शास्त्रों से नापना भी नहीं, प्रवचन की शैली से भी नापना नहीं, अन्यथा उन्हें बहुत ओछे कर दोगे। बहुत सारी भीड़ लगाये हैं इससे भी वे महान नहीं। जैन दर्शन में महान उन्हें कहा जाता है जिसने इच्छाओं का निरोध कर लिया है। जिसने दीक्षा दी, उसको लोग नहीं जानते, पर जिसने दीक्षा ली है वह इतना पहचानवान हो गया। कालीदास के बाद संस्कृत की प्रौढ़ भाषा लिखी सिर्फ ज्ञानसागर मुनिराज ने। फिर भी वह ग्रंथ से इतने महान नहीं बन पाए, लोग उनको नहीं पहचान पाए और जिसने ग्रंथ नहीं लिखे, युवा अवस्था में ग्रंथि को छोड़ दिया, वह इतने महान बन गये–आचार्य विद्यासागर।

भो ज्ञानी! आचार्य को सूर्य की ही उपमा देना, चन्द्रमा की उपमा भूलकर भी मत देना। आचार्य को सूर्य ही कहना, क्योंकि जो ताप देता हो और स्वयं शीतल रहता हो, उसका नाम सूर्य है। सूर्य शीतल है, परन्तु सूर्य की किरणें उष्ण हैं, चंद्रमा की किरणें शीतल हैं। सूर्य एक विमान है। यदि यह विमान उष्ण होता, तो देव झुलस जाते, क्योंकि इस विमान में देव बैठा हुआ है। जैसे कि आपके हाथ में टार्च होती है, आप हेलोजन भी ले लो, लेकिन आपका हाथ गर्म नहीं होता है, परन्तु उसकी किरणें जो अनुभव कर रहा है, उसे गर्म लग रहा है। जब सूर्य चमकता है, तो सारे अधोलोक से



ऊपर के ब्रह्माण्ड में (सारे विश्व में) प्रकाश देता है, परन्तु मूल में शीतल है। ऐसे ही आचार्य–परमेष्ठी शीतल होते हैं, पर शिष्य सम्पदा को कैसे सम्भालते हैं, इसलिए आपको उष्ण नजर आते हैं। अतः, उनको सूर्य कहा है। यदि अण्डे के ऊपर पक्षी न बैठे तो क्या होगा? वह जीव वृद्धि को प्राप्त नहीं होगा। वे आचार्य शिष्य के ऊपर न बैठें तो, भो ज्ञानी! शिष्य का शिष्यरूपी पक्षी उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इस पक्षी को तो सिद्ध शिला पर उड़ना है। जिसने अपने संघ में अनुशासन की ओज को खो दिया, वह संघ चंद्रमा की तरह चमकने वाला नहीं है। अनुशासन –हीनता के कारण सब खत्म हो जाता है। आचार्य परमेष्ठी के मूलगुणों में तप भी हैं। बारह तपों पर दृष्टिपात करें। अमृतचन्द्र स्वामी के प्राचीन ग्रंथों में नाम देखना, उन्हें अमृतचन्द्र 'सूरि' लिखा होगा। सूरि यानी आचार्य। आचार्य को तप निश्चित कर दिया। क्यों निश्चित कर दिया है? कुछ करने को गर्माहट चाहिए। जिस दिन आपके शरीर की गर्मी चली जायेगी, उस दिन आप शरीर में नहीं रहोगे। सूर्य का तेज सूर्य का ज्ञान करा देता है इसी प्रकार शरीर की गर्मी इस देह में चैतन्य का ज्ञान करा देती है। आचार्य का तेज भी तपस्या का ज्ञान करा देता है, ध्यान रखना, ललाट पर तिलक लगाना बन्द मत करना। जब तक तिलक लगाते सूखता रहेगा, तब तक मुझे मालूम होगा कि मेरी जीवन –यात्रा चल रही है। जिस दिन तिलक सूखना बन्द हो जायेगा, उस दिन तुम समाधि लेकर बैठ जाना, खड़े मत होना। यदि ललाट का तिलक नहीं सूखा, तो समझना बस आज ही १-२ घण्टे में तुम्हारी मृत्यु होने वाली है।

भो ज्ञानी! अब अनशन–स्वभाव पर दृष्टिपात करें। अनशन यानि चारों प्रकार के आहार–पानी का त्याग करना, फिर निजात्म तत्त्व का स्वाद लेना और जिनेन्द्र की वाणी का पान करना। बस, आचार्य परमेष्ठी यही तो करते हैं कि महीने–महीने उपवास कर लिये, घनघोर तप कर लिया, फिर भी आवश्यकों में शिथिलता नहीं बरत रहे। वे शक्ति के लिए, आत्म तेज के विकास के लिए, निर्मल स्वास्थ्य के लिए और राग–परिणति के विनाश के लिए अनशन नाम का तप किया करते हैं। जहाँ स्त्री, पुरुष, नपुंसक, पशु आदि का गमनागमन न हो, ऐसे शून्य स्थान पर ब्रह्मचर्य की रक्षा के हेतु, वह निर्ग्रंथ योगी एक करवट से अल्प विश्राम करते हैं। रसपरित्याग नाम का तप कह रहा है कि वे षट्रस का भोजन नहीं करते हैं। इन्द्रियों की चंचलता के निरोध के लिए जितना शरीर में आवश्यकता है उतना रस लेना। भो ज्ञानी! तुम्हें पता नहीं है कि तुम्हें सबकुछ क्यों लेना पड़ता है? क्योंकि तुम अपने जीवन का 'सबकुछ' रोज खो देते हो। उनके पास 'कुछ' है उसका क्या होगा? उस 'कुछ' की रक्षा के लिए तुम्हारा सबकुछ नहीं लेते हैं। उनको जितना चाहिए उतना ले लेते हैं, अन्यथा ब्रह्म की रक्षा नहीं होगी। इसीलिए षट्रस के त्याग में कोई न कोई रस का त्याग करके चर्या करते हैं। कायक्लेश यानि शरीर को कष्ट देना, क्योंकि सल्लेखना के काल में कोई तुम्हारी रक्षा करने वाला नहीं मिलेगा, उसमें परिणाम कलुषित होंगे। इसीलिए आचार्य भगवन्तों ने कह दिया कि तुम शरीर को कष्टसहिष्णु बना दो, दुःखों से भावित करो और दुःखों से भावित करके चलोगे तो दुःख आने पर तुम दुःखित नहीं होगे। जिसने अपने शरीर को सुखिया बना लिया है उसे जरा–सा दुःख आयेगा तो उनको सुखिया दिनों की यादें आयेंगी। भो ज्ञानी! अपने जीवन को पहले से दुःखों से भावित करके चलो। "वृत्ति परिसंख्यान" यानि नियम लेकर निकलना, आखड़ी। जो मन में आकर खड़ी हो गई, वो आखड़ी। राग–द्वेष की निवृत्ति के लिए, भाग्य की परीक्षा के लिए और भोजन से निर्ममत्व–भाव रखने के लिए मुनि–महाराज



वृत्ति–परिसंख्यान नियम लेकर निकलते हैं कि अमुक गली, अमुक मोहल्ला, यहाँ तक भी नियम हो सकता है कि अमुक दाता आहार देगा तो आहार लेंगे। मालूम चला कि वह दाता विदिशा के बाहर था, तो उपवास कर लिया। इस प्रकार से छः प्रकार का तप नित्य ही सेवन करने योग्य है। यह भी नियम होता है कि केवल एक गृह में प्रवेश करेंगे और उस घर में प्रवेश करने के बाद कोई विघ्न आ गया तो उपवास। माना कि उस घर से किसी कारणवश निकलना पड़ा तो ठीक है, नियम है कि आज तो मैं एक घर में ही प्रवेश करूँगा, दूसरे गृह में नहीं जाऊँगा। ठीक है, लाभान्तराय हो गया, अलाभ हो गया। इस प्रकार छः प्रकार के बहिरंग तप हैं। आचार्य–परमेष्ठी ऐसे तपों को तपते हैं, अपनी आत्मा को जाज्वल्यमान करते हैं।

ध्यान रखना, कुछ लोगों के मन में प्रश्न आ रहे होंगे कि जन्मजयंती तो ठीक है, पर संयम दिवस भी मनाना चाहिए। जन्मदिन तो रागात्मक है और पंचम काल में जन्म लेने वाले जीव सभी जन्म से मिथ्यात्व के साथ आते हैं। इसीलिए मुनियों को, आचार्यों को तो जन्मजयंती कदापि नहीं मनाना चाहिए। परन्तु आप उनकी इस जन्मजयंती का उद्देश्य, उनके उपकारों का उद्देश्य समझो कि उस आत्मा ने अपने दीक्षा दिवस पर एक योगी के रूप में जन्म लिया है और उन्होंने अपने जीवन को संस्कारों से संस्कारित किया है। इसीलिए हम उसे संयम के रूप में ही निहारें और उनके गुणों पर ही दृष्टिपात करें, क्योंकि यदि उस योगी का जन्म ही नहीं होता, तो आज संयम को धारण करने वाला कौन होता? आज के दिन इतना विशेष ध्यान रखना।'





चमकना है तो तपो

विनयो वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति।।१९९।।

अन्वयार्थ : विनयः = विनय। वैयावृत्त्यं = वैयावृत्य। प्रायश्चित्तं = प्रायश्चित। तथैव च = और वैसे ही। उत्सर्गः = उत्सर्ग, (शरीर में ममत्व का त्याग करना)। स्वाध्यायः= स्वाध्याय। अथ ध्यानं = पश्चात् ध्यान। एकाग्र चित्त होकर आत्मा का ध्यान करना। इति = इस प्रकार। अन्तरङ्गम् तपः =अन्तरंग तप। निषेव्यं = सेवन करने योग्य। भवति =होते हैं।

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि।। २००।।

अन्वयार्थ : जिनपुङ्गव प्रवचने = जिनेश्वर के सिद्धांत में। मुनीश्वराणां = मुनीश्वर अर्थात् सकलव्रतियों का। यत् = जो। आचरणम् = आचरण। उक्तम् = कहा है, सो। एतत् = यह। अपि = भी (गृहस्थों को।) निजां = अपनी। पदवीं = पदवी। च = और। शक्तिं = शक्ति को। सुनिरूप्य = भले प्रकार विचार करके। निषेव्यम् = सेवन करने योग्य कहा है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो भव्यात्माओ! जो दूसरे की वस्तु को उठा रहा है, उसे तो सब चोर कहते हैं; लेकिन जो निजात्मा की शक्ति को छुपा रहा है, उसे जैनशासन में चोर कहा जाता है। करने की सामर्थ्य रखता है, फिर भी संयम से विमुख है--ऐसे व्यक्ति के लिए भगवन् अमृतचन्द्रस्वामी कह रहे हैं कि निज शक्ति को छिपा कर बैठा हुआ है, अहो! जबकि तृतीय नरक में जाने की सामर्थ्य रखता है, और आठवें स्वर्ग में भी जाने की सामर्थ्य रखता है। पंचमकाल में लौकान्तिक देव भी तो बना जा सकता है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने "अष्टपाहुड"(मोक्ष पाहुड) में स्पष्ट लिखा है--

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति।। ७७।।

अर्थात् आज भी जीव रत्नत्रय से शुद्ध होकर निर्मल धर्मध्यान को आराधित करके लोकान्तिकदेव हो सकता है तथा फिर वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त करता है।

भो ज्ञानी! भगवान बनने की विद्या तो आज भी है। प्रथा जरूर बंद हो गई है, लेकिन भगवान बनने की विद्या दूर नहीं हुई। इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि तप करो, लेकिन अपनी/निज की शक्ति को छिपाकर नहीं बैठ जाना। शक्ति को विराधना में न लगाकर उसको साधना



में लगा दो, विराधना में लगाओगे, तो लोक निंदा भी होगी, अपयश भी फैलेगा। जिसका वर्तमान में ही जिस क्रिया से लोक–अपवाद हो रहा है, उसके भविष्य का परिणाम क्या होगा? जबकि साधना साध्य की सिद्धि के लिये है। मुमुक्षु जीव विषयों के जंजाल से अपने आप की रक्षा करना चाहता है, उसमें झुलसना नहीं चाहता है। अज्ञानी पतंगे की भांति दीपक के सामने जाकर झुलस रहा है। वह तो असंज्ञी है, चौइंद्रिय है; पर आप तो संज्ञी पंचेन्द्रिय हो, ज्ञानी हो। तुम विषयों के दीपक पर अपनी आयु को पूर्ण मत करो, अन्यथा तुम्हारे युवा अवस्था के पंख झुलस जाएँगे। फिर–वृद्ध अवस्था में तुम उसी कीड़े की भांति तड़पोगे। बस यही वृद्ध–दशा है, जब तुम्हारी सारी कामनाओं/ आशाओं का प्राण तो जीवित रहता है। परन्तु बल पौरुष के पंख क्षीण हो जाते हैं। नौकर /सेवक बात नहीं माने तो स्वामी को उतना कष्ट नहीं होता है, उससे कई गुनी वेदना पिता को पुत्र के व्यवहार से होती है। नौकर को तुमने वेतन दिया, पर संतान को जन्म देने के लिए तुमने तन दिया और तन ही नहीं, धर्म भी दे डाला। आज हालत यह हो रही है कि वृद्धों के आश्रम बन रहे हैं। अरे! अपने घर का ऐसा माहौल बना डालो कि घर ही आश्रम बन जाए। और नहीं तो किसी मुनि–संघ के सान्निध्य में बैठकर अपनी सल्लेखना की दृष्टि बना लेना। भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में आश्रम की चर्चा की है। उन्होंने यति–संघ को ही आश्रम कहा है और निश्यचनय से निज स्वरूप में लीन हो जाना ही निश्चय आश्रम है। पर ध्यान रखना, आप भूल नहीं करना, स्वतंत्र बनके रहना, लेकिन दर–दर पहुँचकर पंडा मत बन जाना। किसी स्थान पर राग हो गया और सल्लेखना के काल में विचार आ गये कि मेरी समाधि के बाद वहाँ की व्यवस्था कौन देखेगा या फिर कभी तूने शुभ आस्रव कर लिया और उस शुभास्रव के काल में आर्त्तध्यान हो गया, तो वहीं का व्यंतर बनना पड़ेगा। जिनवाणी में लिखा है – धर्मस्थानों पर आराधना करो, साधना करो, पर उनका भी राग मत करो, क्योंकि स्थान मोक्षमार्ग नहीं है। स्थानों से मोक्ष नहीं बनता, स्थानों के बढ़ाने से मोक्ष नहीं होता। मोक्ष तो गुणस्थानों की वृद्धि से होता है।

भो ज्ञानी! जैसे वृद्ध के लिए लाठी का सहारा है, वैसे ही आज की तपस्या तुम्हारे लिए मोक्ष का सहारा बन जाएगी। इसलिए मत सोचना कि मेरी आयु निकल गई। अभी भी तुम्हारे पास बहुत उपाय हैं। संसार में चलने के लिए जीव नये–नये उपाय खोज लेता है। बाजार के दूध की व राशन की डायरी है, परंतु जीवन की डायरी नहीं है। ओहो! सोचो, जीवन की डायरी बना लो। इतना तो कर दो कि अब इतनी उम्र तक कमाएँगे उसके बाद कुछ नहीं करेंगे।

भो ज्ञानी! अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि हमने आपको बहिरंग तपों का व्याख्यान कर दिया है। अब अंतरंग तपों की चर्चा सुनो। कैसे करेंगे आप अंतरंग तप ? अंदर में बैठकर। और बहिरंग क्यों करें? अंतरंग की सिद्धि के लिए। जैसे, बटलोई को तपाते हो, पर बटलोई के तपाने मात्र पर दृष्टि नहीं है, दृष्टि दूध पर है। उसी प्रकार मुमुक्षु जीव बहिरंग तप करता जरूर है, लेकिन दृष्टि अंतरंग आत्म–दुग्ध को शुद्ध करने की होती है। यदि अंतरंग पर दृष्टि नहीं है, तो बहिरंग तप कार्यकारी नहीं होगा। बटलोई के तपे बिना दुग्ध तपता भी तो नहीं। जब तक बहिरंग शुद्धि नहीं होगी, तब तक आत्मशुद्धि संभव नहीं है। समंतभद्र स्वामी 'स्वयंभू स्तोत्र' में लिखते हैं–



बाह्यं तपः परम–दुश्चरमाचरम्ब माध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वय मुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने।। ८३।

यह सुनिश्चित है कि बहिरंग तपस्या से मुनिराज तो बनते हैं, परंतु गुणस्थान तभी बनता है जब बहिरंग में निर्ग्रंथ–भेष तथा अंतरंग में तप होता है। भो ज्ञानी! तप गृहस्थ के

गौणरूप से और यतियों के प्रधान रूप से है। आपका तप अभ्यासरूप है तो यति का तप तपस्यारूप है। श्रावक कितनी ही तपस्या करे, लेकिन तपस्वी नहीं कहलाता। परन्तु साधु जब दीक्षा ले लेता है, उसी दिन से तपस्वी कहलाने लगता है। दीक्षा का नाम ही तप है। आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि विनय पहला तप है। जब तक कषाय–भाव समाप्त नहीं होंगें तब तक विनय–भाव नहीं होता है। इसलिए अंतरंग तप है विनय। सेवा के परिणाम तभी आते हैं, जब अंतरंग में भक्ति भाव होता है। इसलिए, निरपेक्ष भाव से सेवा वैयावृत्ति करने को अंतरंग तप में रखा है, क्योंकि अहंकारी किसी की सेवा नहीं कर सकता है। चित्त की शुद्धि के लिए तो स्वयं ही गुरु चरणों में दंड लेने के लिए जाया जाता है। प्रभु! मुझे शुद्ध करो। जिसके आत्मा में विशुद्धता नहीं है, उसके प्रायश्चित लेने के परिणाम त्रैकालिक नहीं होते हैं। निज चित्त की शुद्धि जिससे हो, उसका नाम प्रायश्चित है। कायोत्सर्ग का अर्थ है–शरीर से ममत्व छोड़ देना। जैसे भगवान बाहुबली स्वामी पर साँप चढ़ गये, बेलें लग गईं, बांमि बन गईं, घोंसले कान में बन गये; लेकिन प्रभु निज स्वभाव से नहीं डिगे। लोक में जितनी पदवियाँ हैं, वे सभी पदवियाँ मोक्षमार्ग में बाधक हैं। अंत में ये सब पद छोड़ना पड़ेंगे, तभी सुपद की प्राप्ति होगी। व्युत्सर्ग तप कहलाता है निज आत्मस्वभाव की लीनता। स्वयं के अध्याय का अध्ययन जिसमें हो, उसका नाम स्वाध्याय है। संयम के निर्विकार पालन के लिए और स्व में लीन होने के लिए सुसमय का अध्ययन करना चाहिए। यानि जिन–आगम का ही अध्ययन होना चाहिए। श्रद्धाएँ डिगते देर नहीं लगती, इसलिए प्रारंभ में जिन–आगम का ही अध्ययन होना चाहिए। चित्त के विच्छेद का त्याग हो जाना, इसका नाम ध्यान है। चित्त की विकल्पता का अभाव जहाँ है उसका नाम ध्यान है। आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि अंतरंग तपों में ध्यान ही तो सबकुछ है। यदि ध्यान नहीं है तो आप लोग यहाँ आ नहीं सकते थे। ध्यान से आना, ध्यान से जाना। पर ध्यान में आना और ध्यान में रहना तथा ध्यान रखना। आज ध्यान की चर्चा की है। तीर्थंकर देव ने कहा है – अपना पद और अपनी शक्ति को देखकर ध्यान कर लेना चाहिए। भो ज्ञानी ! तुम दो कदम तो बढ़ जाना।



षट् आवश्यक व तीन गुप्तियों का स्वरूप

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम्।। २०१।।

अन्वयार्थ : समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम् = समता, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण। प्रत्याख्यानं = प्रत्याख्यान (आगामी आस्रवों का निरोध)। च = और। वपुषो व्युत्सर्गः = कायोत्सर्ग (शरीर का ममत्व छोड़कर ध्यान करना)। इति इदम् = इस प्रकार ये। आवश्यकषट्कं = छह आवश्यक। कर्त्तव्यम् = करना चाहिये।

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम्।। २०२।।

अन्वयार्थः वपुषः = शरीर को। सम्यग्दण्डः = भले प्रकार अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से वश करना। तथा वचनस्य = तथा वचन का। सम्यग्दण्डः च = भले प्रकार अवरोधन करना, और। मनसः = मन का। सम्यग्दण्डः = सम्यक्तया निरोधन करना। (इस प्रकार।) गुप्तीनां त्रितयम = तीन गुप्तियों को। अवगम्यम् = जानना चाहिये।

।। पुरुषार्थ देशना।।

आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने बहुत ही सहज कथन किया है कि जीवन में आत्मा को उज्ज्वल बनाना है तो अंतरंग व बहिरंग तपों को तपो। भो ज्ञानी! यदि तूने निज–पर विवेक नहीं रखा, आत्म बोध नहीं हुआ, तो एक क्षण के कषायभाव पूरी साधना की फसल को नष्ट कर देंगे। शुभ परिणाम करोगे तो स्वर्ग आदि जाओगे और अशुभ परिणाम करोगे तो नरक आदि जाओगे। शुभ व अशुभ परिणामों से रहित अवस्था जब तुम्हारी बनेगी, तब कहीं तुम सिद्ध बनोगे। अतः मुमुक्षु जीव तपस्या करने के लिए तपस्या नहीं करता। भगवान महावीर स्वामी ने बारह वर्ष तप किया, लेकिन उन्होंने तपस्वी बनने के लिए तप नहीं किया, अपितु परमात्मा बनने के लिए किया था, क्योंकि तपस्या किये बिना परमात्मा बन नहीं सकते थे।

भो ज्ञानी आत्माओ! आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने 'समयसार' जी में बड़ा सुंदर उदाहरण दिया है–

पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि।।१७५।।

वृक्ष से पका फल जब जमीन पर गिरता है तो पुनः वृक्ष पर नहीं लगता है। तुम्हारा यह आयुकर्म पक गया है, अतः पुनः यह आयु तुम्हें मिलने वाली नहीं है। वह कर्म तो पक कर झर गया, वे कर्म–वर्गणाएँ



पुनः आत्मा में लगने वाली नहीं हैं। ऐसे ही तपस्या के द्वारा जब तपस्वी कर्मों को पका डालता है, खिरा देता है, तो फिर वे परमेश्वर ही बन जाते हैं। इसलिए तपस्या करो, परंतु ध्यान रखना यदि दुकान पर रात्रि हो गयी तो एक बार ही खा पाये, वह तपस्या नहीं कहलायेगी। तपस्या तब कहलायेगी, जब आप मन में विचार कर लेंगे कि आज तपस्या करना है कि एक ही बार भोजन करेंगे तो तपस्या है, क्योंकि हमारे आगम में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है कि जो बुद्धि पूर्वक स्वीकार किया जाता है, उसका नाम ही व्रत है, तपस्या है। संकल्प के अभाव में तपस्या नहीं कहलाती है। नहीं मिला तो संतोष है, लेकिन संकल्पपूर्वक की गयी ही तपश्या मानी गई है।

भो भव्यात्माओं! नियम और व्रत में बहुत अंतर है। जो भी व्रत होगा, नियम से होगा; पर व्रत होना नियम नहीं है। अष्टमी थी और अचानक कोई ऐसी व्यवस्था फँस गई कि दिनभर भोजन नहीं किया। हमने यह सोच लिया कि आज अष्टमी है, आज नहीं मिलेगा तो काम चलेगा। तुम्हारे संतोष के लिए धन्यवाद, लेकिन उपवास नहीं कहलाता, तपस्या नहीं कहलायेगी। जब देख लिया था कि आज तो भोजन प्राप्ति की संभावना नहीं है, तो कायोत्सर्ग कर लेना था, क्योंकि कायोत्सर्ग के अभाव में व्रत नहीं बनते।

भो ज्ञानी! बहुतेरे दिन ऐसे निकल जाते हैं कि भोजन नहीं मिलता और आपका तपस्या में भी नाम नहीं आता है। ऐसे समय में कायोत्सर्ग करने से लाभ यह होगा कि रात्रि–भोजन का चक्र बंद हो जायेगा। कई लोग बहिरंग तपों में ध्यान न देकर शाम को एक बार स्वाध्याय कर लेते हैं। वे सोचते हैं कि तपस्या हो गई। भो ज्ञानी! स्वाध्याय का अर्थ ग्रंथ का वाचन मात्र नहीं है। जिस दिन स्वाध्याय हो जायेगा, उस दिन आप निर्ग्रंथ ही हो जाओगे, क्योंकि निज का अध्याय, निज का वाचन, निज की पृच्छना, निज का उपदेश, निज की आम्नाय का नाम स्वाध्याय है। वास्तव में स्वाध्याय जिस दिन हो जायेगी, नियमसार व समयसार की भाषा में उस दिन तो शुद्ध–उपयोग ही होगा, यही निश्चय–स्वाध्याय है।

भो ज्ञानी! व्रत और तप में भी भेद है और कथंचित अभेद है। जब व्रत को स्वीकार करता है, तभी तप हो जाता है तथा व्रतों को धारण करने के बाद भी तप करता है, इसलिए अंतर आ जाता है। जब दीक्षा ली, तप स्वीकार कर लिया, तो तप–कल्याणक हो गया। अहो! जो व्रत लिया जाता है, उसमें कुछ किया नहीं जाता। व्रत लिया नहीं जाता, वह तो तप करने कि प्रतिज्ञा है। जो किया जाता है, उसका नाम तप होता है। व्रत जो लेने जा रहे हो, वह तप लेने गये थे। आप जो व्रत का पालन कर रहे हो, वह आप तपस्या कर रहे हो। मोक्षमार्ग में सम्यक्दृष्टि जीव के तप को ही तप कहा है। मिथ्यादृष्टि जीव की तपस्या को तपस्या स्वीकार नहीं किया है। वह बाल–तप है। उसे बाल–तप ही कहना, कुतप नहीं कहना। क्योंकि कुलिंग में तप धारण करे तो कुतप है और मिथ्यात्व के साथ सम्यक्–तप करे तो बालतप है, अन्यथा ग्रैवेयक नहीं जा पायेगा।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि यतियों के षट्–आवश्यक कर्त्तव्य होते हैं। (१) समता, सामायिक, साम्यभाव यही श्रमण का प्रतीक है। श्रमण की पहचान नग्न भेष से नहीं, समता भाव से है। यदि नग्न भेष से श्रमण की पहचान करते, तो लोक में जितने तिर्यंच हैं वे सभी श्रमण हो जाते। (२) चौबीस तीर्थंकर भगवंतों का एक साथ वंदन करना 'स्तव' कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति पढ़ा–लिखा



नहीं हो तो कैसे मूलगुणों का पालन करेगा, कैसे आवश्यकों का पालन करेगा? अरे! तिर्यंच भी बारह व्रतों का पालन करता है, जबकि वह मनुष्य नहीं है। अरे भाई! घबराना मत, तुमसे हाथ जोड़ते तो बनता है? (३) भगवान् महावीर स्वामी की जय हो। हे प्रभु! मेरे कर्मों का क्षय हो, दुखों का क्षय हो, बोधि की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो। हे प्रभु जिनेन्द्र! आपके गुणों की सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो। यह 'वंदना' है। जैसे चौबीस भगवंतों ने चतुष्टय को प्राप्त किया है, वैसे चतुष्टय की प्राप्ति मुझे हो। आप चौबीसों भगवान् को मेरा त्रिकाल नमोस्तु, यह 'स्तवन' हो गया। (४) मेरे दोष मिथ्या हों, इसका नाम 'प्रतिक्रमण' है। हे नाथ! धिक्कार हो मुझ पापी को, कि ऐसे निर्मल भेष को भी प्राप्त करके मेरे भाव बिगड़ गये। हे भगवन्! मेरे दुष्ट कर्म मिथ्या हो जाएँ। प्रतिक्रमण में दोषों को कहने से वे मिथ्या नहीं हुए, पर कहने के भाव जो तेरे मन में उत्पन्न हुए हैं, उन परिणामों की विशुद्धि से मिथ्या हुए हैं। परंतु जिसके मन में कहने के भाव नहीं आ रहे हैं, तो उसका तो प्रतिक्रमण होता ही नहीं, वह भाव प्रतिक्रमण नहीं है। अतः, द्रव्य प्रतिक्रमण तो करते ही रहना, कम-से-कम अशुभ से तो बचे रहोगे। लेकिन वास्तविक प्रतिक्रमण तो भावप्रतिक्रमण ही है। भाववंदना ही वंदना है। भाव-स्तवन ही स्तवन है। 'तस्य मिच्छामि दुक्कडं' बोल दिया। (५) अब मैं ऐसा अपराध नहीं करूँगा। पापों का त्याग कर देना 'प्रत्याख्यान' है। (६) शरीर से ममत्व का त्याग कर देना, उपाधियों व व्याधियों से बचकर रहना, 'कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग' है। यह दो प्रकार का है, अंतरंग और बहिरंग। बाहर में उपलब्धियाँ और अंतरंग में कषाय-भाव को जब तक नहीं छोड़ रहे हो, तब तक घोर तपस्या कर लेना, हज़ारों माला फेर लेना, परंतु यदि परिणामों में कलुषता है तो माला काम में नहीं आती। यदि परिणाम निर्मल हैं, तो एक माला ही तुमको मालामाल कर देगी। परंतु माला छोड़ मत देना, यह सब आवश्यक है। भो ज्ञानी! यहाँ स्वाध्याय नाम कहीं नहीं आया। पंडित दौलतराम जी ने 'छहढाला' में आवश्यकों में स्वाध्याय को रखा है। आचार्य कार्तिकेय स्वामी व आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने स्वाध्याय को आवश्यक में नहीं रखा, परंतु आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने 'प्रत्याख्यान' रखा है, क्योंकि स्वाध्याय का फल प्रत्याख्यान है। समीचीन रूप से शरीर को दंडित करो, यानि स्थिर करो। वचन को, मन को और काम को समीचीन रूप से वश करना-यह तीन गुप्तियाँ हैं। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने रयणसार ग्रंथ में एक बात गजब की लिखी है-

पुव्वं जो पंचिंदिय तणु-मण-वचि-हत्थ-पाय-मुँडाओ।
पच्छा सिर मुंडाओ सिवगदिपहणायगो होदि।।७६।। रयणसार।।

अहो मुमुक्षु आत्माओ! पहले हाथ-पैर का मुंडन करो, फिर मन वचन काय का मुंडन करो, इसके बाद तुम सिर का मुंडन करना तो शिव गति के पथिक हो जाओगे। हाथ-पैर का मुंडन कराने से तात्पर्य शरीर की इंद्रियों की चंचलता को समाप्त करो और मन, वचन, काय के मुंडन का तात्पर्य मन के, वचन के, शरीर के विकारी-भावों का मुंडन करो, त्याग करो, फिर तुम सिर का मुंडन करोगे तो शिव-गति के स्वामी बन जाओगे। यदि सिर का मुंडन कर लिया, किंतु हाथ-पैर अर्थात् मन-कषाय का मुंडन हुआ नहीं भी तो ज्ञानी! संसार के पथिक बन जाओगे। इसलिए भगवान कह रहे हैं कि जब भी तुम मुनिराज बनना, तो ऐसी ही वृत्ति करना।

पाँच समितियाँ

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः।।२०३।।

अन्वयार्थ : सम्यग्गमनागमनं = सावधान होकर भले प्रकार गमन और आगमन। सम्यग्भाषा =उत्तम हितमितरूप वचन। सम्यक् एषणा = योग्य आहार का ग्रहण। सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ = पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण और यत्नपूर्वक क्षेपण। तथा = और। सम्यग्व्युत्सर्ग = प्रासुक भूमि देखकर मलमूत्रादिक त्यागना। इति = इस प्रकार ये पाँच। समितिः = समितियाँ हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

हे भव्यात्माओ! भगवान महावीर स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने अलौकिक सूत्र प्रदान किया है कि विश्व में यदि कोई महिमा है, तो संस्कारों की है। एक पाषाण की प्रतिमा को परमात्मा बनाने की यदि कोई विधि है, तो उसका नाम संस्कार है। एक पत्थर की प्रतिमा भगवान के रूप में पुजना प्रारंभ हो जाती है और एक सामान्य मनुष्य गुरु के रूप में दिखना प्रारंभ हो जाता है। यह संस्कारों की ही महिमा है। पत्थर की प्रतिमा में तो सिर्फ सूरि मंत्र देने से उसकी पूजा प्रारंभ हो जाती है, लेकिन परमेष्ठी बनने के लिए संस्कार देने के साथ साधना भी की जाती है। साधना न की हो, संस्कार मात्र दिये हों, उसे साधु नहीं कहा जाता। ध्यान रखना, अरहंत के बिम्ब में अरहंत के गुणों का आरोपण तो किया ही जाता है, लेकिन उसके पूर्व उसमें निर्ग्रंथ के गुणों का आरोपण दीक्षा कल्याणक के दिन होता है। अरहंत के गुणों का आरोपण तो मात्र केवल ज्ञान कल्याणक के दिन होता है।

भो ज्ञानी! जब तक निर्ग्रंथ के गुणों का आरोपण नहीं है, तब तक निर्ग्रंथ बनेंगे कैसे? जब तक बालों के प्रति भाव नहीं गये, तब तक बाल उखाड़ने से कुछ भी होने वाला नहीं। बाल उखड़ चुके और परिणाम नहीं उतरे, तो निर्ग्रंथ नहीं।

पुव्वं जो पंचिंदिय तणुमणवचि हत्थः पाय–मुंडाओ।
पच्छा सिर मुंडाओ सिवगदिपहणायगो होदि।।७६।। (स.सा.)

पहले मन का मुण्डन करो। जिसने मन का मुण्डन कर दिया, वही सिर मुड़वाने का पात्र है। इसीलिए, 'भगवती आराधना' के मूलाचरण प्रकरण में दस प्रकार के मुंडन का कथन किया है। मुण्ड यानि वशीकरण। मन का मुण्डन यानि मन को वश में करो, वचन को वश में करो, शरीर को वश में करो, इंद्रियों को वश में करो और हाथ–पैर के मुण्डन का तात्पर्य चंचलता का त्याग करो। इस प्रकार से तीन गुप्तियों का कथन किया है। पर जब तक ये गुप्तियाँ तुम्हारे पास नहीं हैं, तब तक मोक्ष मार्ग में तुम्हारा प्रवेश भी संभव नहीं है। अहो! यहाँ संस्कारों की चर्चा कर रहे हैं। अनुभव करके



देखना कि एक क्षण का कुसंस्कार अथवा एक समय का कुसंस्कार लोगों की दृष्टि में आया न आये, लेकिन तुम्हारे परिणामों को उथल-पुथल करके चला जाता है।

भो ज्ञानी! तुम्हें पाप से डर नहीं लग रहा, मगर पापी कहलाने से डर लग रहा है। बहुतेरे लोग यहाँ भी ऐसे बैठे होंगे जो वास्तव में पापी तो हैं, पर पापी कहलाने से डरते हैं और पाप करने से नहीं डरते। जो पाप से डरते हैं, वे तो मुमुक्षु हैं, परन्तु जो पापी कहलाने से डरते हैं, उनका अनन्त संसार बंध चुका है, क्योंकि एक ओर पाप भी चल रहा है और दूसरी ओर मायाचारी भी चल रही है।

पुण्य के योग में कुछ भी कर डालो, लेकिन ध्यान रखो, पाप का योग नियम से सामने आयेगा और तुम्हारी परिणति ही तुमको दण्डित कर देगी। चाहे तुम कहीं भी चले जाना, चाहे समवसरण में बैठ कर आप अपने भव को तथा वर्तमान की भावनाओं को देख लेना। जिस क्षेत्र में प्राणी मात्र के लिए समान आश्रय मिलता हो, प्राणी मात्र के दुःखों का विलोप होता हो, उस सभा का नाम समवसरण सभा है। जहाँ तिर्यंच, देव और मनुष्य तीन गति के जीव एक साथ बैठते हैं, पर नारकी नहीं आ सकता, क्योंकि उसका ऐसा तीव्र कर्म है। अहो! तीन गति के जीव तो समवसरण में आ जाते हैं, चौथी गति का नहीं आ पाता। क्योंकि जो समवसरण में साम्य भाव से नहीं बैठ पाये, समझ लेना कि वह चौथी गति का बंध कर चुका है। देखो, तीर्थ-भूमि और सिद्ध भूमि में पहुँचकर भी कोई पाप का संचय कर ले, परंतु पाप धोने का एक मात्र स्थान मानस्तंभ है। जिसने मानस्तंभ के पास भी पाप का बंध कर लिया, उसको धोने के लिए कोई स्थान नहीं। उसको तो मात्र निगोद जाना है। चौबीस तीर्थंकर के समवसरण में कोई भी समवसरण ऐसा नहीं जो मानस्तंभ से शून्य हो। जितने पापी व अहंकारी हों, वे मानस्तंभ के सामने निहारें और देख लें कि हम कितने ऊँचे हैं? तुमसे ऊँचे वे जिनेन्द्र देव विराजे हैं। जिसने मानस्तंभ के सामने मानकर लिया हो, उसके मानगलन का स्थान कोई बचा ही नहीं। इंद्रभूति गौतम जैसे अहंकारी का मान मानस्तंभ के नीचे गल गया था।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि यदि संयम की ओर बढ़ना चाहते हो तो संस्कार निर्मल कर लेना और मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ देना। जो सरल स्वभावी होते हैं, वे आगम/ पुराण नहीं पढ़ते, किन्तु उनके ऊपर आगम/पुराण लिखे जाते हैं। तीर्थंकर किसी भी विद्यालय में पढ़ने नहीं जाते, किसी अध्यापक को अपना गुरु नहीं बनाते। वे स्वयं से स्वयं पढ़े होते हैं, इसलिए वे स्वयं-भू हो जाते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि यदि गुप्तियों का पालन करने में असमर्थता हो तो कम से कम समितियों का पालन तो करते जाना और साधु बनने के पूर्व जो श्रावक चर्या का कथन किया है कि उसका विशेष ध्यान रखना।

भो ज्ञानी! जो चारित्र की प्रवृत्ति में सावधान हो, उसका नाम साधु है। आहार नहीं लेना राजमार्ग है, आहार लेना अपवाद मार्ग है। उस अपवाद मार्ग को जो समीचीन रूप से पालन कर रहा हो, उसका नाम साधु है। मल-मूत्र का क्षेपण अपवाद मार्ग है, उसे समीचीन रूप से जो कर रहा हो, उसका नाम साधु है। जितना-जितना यत्नाचार है, उतना-उतना साधुभाव है। जहाँ-जहाँ अयत्नाचार है वहाँ-वहाँ असाधुभाव है। चार हाथ भूमि को निहार कर चलना, कहीं किसी जीव पर पग न पड़ जाये, ऐसा साधु-भाव है। नमोस्तु शासन कहता है कि घास-फूल को तो तुम छुओ भी मत, क्योंकि हिंसा हो जायेगी। जब गमन करें तो वनस्पति से कम-से-कम एक बालिश्त दूर रहें, क्योंकि उसमें नाजुक



जीव हैं, तुम्हारे शरीर की उष्ण वर्गणाओं से उनको पीड़ा होगी। उन पर पैर रखा तो महापाप हो जायेगा। अतः वह दूर से चलते हैं, यह ईर्या–समिति है। ऐसे स्थान पर गमन नहीं करते जहाँ पर फिसलने की संभावना हो अथवा अप्रासुक भूमि हो। सूर्य के प्रकाश में, जहाँ से वाहन आदि निकल चुके हों, लोगों का संचार हो चुका हो, ऐसे मार्ग में ही यति गमन करते हैं। मुनिराज प्रासुक भूमि में ही गमन करेंगे, अप्रासुक भूमि में गमन नहीं करेंगे। गमनागमन सम्यक्/समीचीन हो। देव वंदना, गुरु वंदना, तीर्थ वंदना, स्वाध्याय हेतु अथवा कोई आवश्यक कर्त्तव्य के लिए वे गमन करते हैं। व्यर्थ के गमनागमन का उन्हें निषेध है।

भो ज्ञानी! घूमो, लेकिन निज भाव में घूमना, बाहर घूमने की आवश्यकता नहीं है। हमारी वाणी मृदु हो, संयमित हो, सीमित हो, हित–मित हो और लाघवभाव से युक्त हो। जिनके "वचन मुख चन्द्रतैं अमृत झरे"। वाणी संयम में, प्राणी संयम भी झलकना जरूरी है। कोई कितना ही प्राणी–संयम का पालक हो, पर वाणी में पत्थर से पटकता हो, तो तुम प्राणी की रक्षा क्या करोगे? तुमने हमारे हृदय को ही विदीर्ण कर दिया। ध्यान रखना, प्रत्येक आत्मा में भगवान आत्मा को निहारो। हे भगवन्! मेरे द्वारा किसी का अन्तःकरण विदीर्ण न हो। मर्म भेदी शब्दों का उपयोग मत करो, यह भाषा–समिति है। छयालीस दोषों को टालकर निर्दोष वृत्ति करना–योगी की एषणा समिति होती है। सम्यक्–रूप से ग्रहण करना और रखना, यतियों की आदान–निक्षेपण समिति है अर्थात् पिच्छी से मार्जन करके ही स्वीकार करना, पिच्छी से मार्जन करके रखना। पहले पिच्छी चलाने का तरीका सीख लेना, फिर पिच्छी उठाने का प्रयास करना। मलमूत्र आदि का क्षेपण निर्जन्तुक एकान्त स्थान में करना व्युत्सर्ग समिति है। इस प्रकार से यतियों की पाँच समितियाँ होती हैं।



सरल बनो, सहज बनो

धर्मःसेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुताच शौचमथ सत्यम्।।
आकिंचन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति।।२०४।।

अन्वयार्थ : क्षान्तिः मृदुत्वम् = क्षमा, मृदुपना अर्थात् मार्दव। ऋजुता शौचम् =सरलपना अर्थात् आर्जव, शौच। अथ सत्यम् च आकिंचन्यं = पश्चात् सत्य तथा आकिंचन। ब्रह्म = ब्रह्मचर्य। च त्यागः = और त्याग। च तपः = और तप। च = और। संयमः = संयम। इति धर्मः = इस प्रकार दश प्रकार का धर्म। सेव्यः = सेवन करने के योग्य है।

'वीरों की सम्पदा क्षमा'

हे योगी! धर्म तो एक ही होता है। वह है, वस्तु का स्वभाव। "वत्थु सहावो धम्मो" जो वस्तु का स्वभाव है, वह धर्म है। उस धर्म को हम दस प्रकार से जानते हैं यानी कि एक प्रकार से हम धर्म को नहीं समझ सकते; इसीलिए दस भेदों से धर्म की मीमांसा कर समझाया, जो कि आत्मा निजगुण हैं; क्योंकि धर्म–धर्मात्मा के पास ही होता है। जहाँ धर्मात्मा होंगे, वहीं धर्म होगा। दस धर्मों में प्रथम भेद है "उत्तम क्षमा" जिसकी मीमांसा दिगम्बराचार्यों द्वारा बहुत सरल सहज भाशा में की है–

" कालुश्यानुत्पति क्षमा" अर्थात् कालुश्यता की उत्पत्ति न होना ही क्षमा है। क्षमा हमारे जीवन का अमृत है। क्षमाशील जगत् में पूज्य होता है। क्षमा आत्मा का परम मित्र है। यदि आत्मा का कोई 'अर' है, तो वह है–क्रोध। क्रोध के आवेश में मानव अपनी मानवता को खो देता है। क्रोधी की परिणती भाराबी–तुल्य होती है। जैसेः महापी के नेत्र लाल हो जाते है, भारीर काँपता है, विवेक हो जाता है, क्या करणीय है और क्या अकरणीय–इन सब विचारों से रहित हो जाता है; वही स्थिति क्रोधी व्यक्ति की होती है। क्रोधावेश में स्वबंधु व मित्रों से भी भात्रुता कर लेता है। जब कशायावेश भांत हो जाता है, तब पश्चाताप की भट्टी में झुलसता रहता है। क्रोध ज्ञान–तंतुओं को क्षीण करता है, क्रोधी बुद्धि को क्षीण करता है, यानी क्रोधी की बुद्धि नश्ट हो जाती है। क्रोधी व्यक्ति के जीवन में जहर घुल जाता है, क्योंकि जहरीला है। यदि भोजन के समय कोई क्रोध करता है, तो वह भोजन जहर–तुल्य हो जाता है। क्योंकि क्रोध की उत्पत्ति में भारीर के तंत्र विपरीत करने लगते हैं, रक्तकण विशैले हो जाते हैं, जो मानव जीवन को खतरे में डाल देते हैं। यानी रसस्रावी ग्रंथियों को विकृत कर देते हैं, जिससे ग्रंथि–तंत्र निश्क्रिय हो जाते हैं, जिस कारण से जैविक भाक्ति कमजोर पड़ जाती है, मस्तिश्कतंत्र असंतुलित हो जाते हैं। इन सबकी सुरक्षा एवं संतुलन के लिए क्षमा व सहनशीलता की परम आवश्यकता होती है, क्योंकि इन सब विकृतियों को कंट्रोल करने की अनुपम भाक्ति क्षमाशीलता है। एकता, मित्रता, सबन्धुता तभी तक हैं, जब तक क्रोधानल नहीं भड़कती। क्रोध वह आग है, जिससे सब गुण खाक



हो जाते हैं। अतः, हे योगी! क्रोध नहीं, क्षमामृत का पान कर, क्योंकि सुखों की खान क्षमाधर्म ही है। क्रोध का न आना मात्र क्षमा नहीं है। क्षमा का तात्पर्य है–कालुश्यता का अभाव। अंतरंग में कलुशित भाव भी नहीं होना, क्षमाधर्म का प्रथम सोपान है और यह संकेत देता है कि यदि तेरे प्रथम सोपान है, तो अंतिम को प्राप्त करके तू मोक्ष–मंजिल को तय कर सकता है, अन्यथा नहीं। क्रोध करना तेरा स्वभाव नहीं। जो क्रोध करता है, वह स्वात्म का स्व के द्वारा ही घात करता है। यदि तेरी रक्षा करने वाला कोई है, तो क्षमा से युक्त तेरी आत्मा को भारण रक्षक है। वास्तव में उत्तम–क्षमा रत्नत्रयधारी के ही होती है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामान्य लोगों को क्रोध करना चाहिए, यानी क्षमा धारण नहीं करना चाहिए। नहीं, उन्हें भी क्षमाधर्म पालन करना चाहिए। ध्यान रखो। क्षमा निर्बलों का धर्म समझना महामूर्खता है। क्षमाधर्म, निर्बलों का नहीं, वीरों का है। क्षमा धारण करने के लिए आपको आत्मशक्ति के साथ भाारीरिक भाक्ति चाहिए। नीतिकारों ने कहा भी है–

''क्षमा वीरस्य भूषणम्''।

क्षमा वीरों का आभूशण है, कायरों का नहीं।

भाारीरिक बल आपके पास नहीं था और आपने यह कह दिया कि अमुक के लिए क्षमा कर दिया, तो यह क्षमा नहीं कहलाएगी। क्षमा तो वहाँ है, जहाँ पराभव करने की भाक्ति भी आपके पास है, और क्रोध के कारण की उपस्थिति है, फिर भी क्रोध नहीं करना।

आचार्य भगवान् कुंदकुंद स्वामी ने महान नीति ग्रंथ 'कुरल–काव्य' में क्षमाधर्म की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है–

''तप करते जो भूख सहे, वे ऋशि उच्च महान्।
क्षमाशील के बाद ही, पर उनका सम्मान।''

तात्पर्य यह है कि हरे–पल/हर–क्षण हमारा क्षमा के साथ ही निकले। कौन हमारा भात्रु कौन मित्र? एक दिन इस संसार से सभी को विदा होना है, तो फिर क्यों न सभी के साथ क्षमाधर्म का व्यवहार करके इस भव में यश, पर भव में स्वर्ग/मोक्ष प्राप्त करें?

'रावण का रूप है मान'

हे मनीशी आत्मन्! मानव का मन मान का एक बहुत बड़ा वृक्ष है, जिसकी भाखाएँ अतिविशाक्त हैं, जिनसे मदरूपी वायु प्रवाहित होती है, जिस वायु के प्रभाव से आत्मा का तीव्र भाोशण हो रहा है। मान मानव को दानव बना देता है जिसके कारण मानव के अन्दर से मानवता मर जाती है, वह है–मान। मान के पीछे मानव मानवता खो देता है। मान यानी अंहकार। मान में व्यक्ति अपने से पूज्यों का बहुमान खो बैठता है। अंहकारी व्यक्ति पूज्यों का भी अनादर करने लगता है। अहंकार व्यक्ति को कठोर बनाता है। ध्यान रखना! अहंकार उसी व्यक्ति को आता है, जिसका कि विनाश निकट होता है, क्योंकि अहंकार पतनकारी है। दीपक जब बुझने लगता है, उसकी ज्योति भी बड़ी हो जाती है।

इसी प्रकार अहंकारी की दशा हो जाती है। जैसे की ज्योति बुझ जाती है, वैसे ही अहम् की ज्योति जीवनज्योति के साथ चली जाती है। अहंकार अधोगामी है, अर्थात् अधोलोक–यात्रा की सूचना देनेवाला है। अहंकारी मरना पंसद करता है, किन्तु झुकना नहीं। अहंकारी सिर कटा सकता है, परन्तु सिर झुका नहीं सकता। वह तो सूखे बांस की तरह होता है, जो टूटना उखड़ना पसंद कर लेता है, पर झुकना नहीं। घास झुकती हैं, इसलिए वह अपन अस्तित्व को कायम रखती है। उत्तम मार्दव का अर्थ यहीं है, कि जीवन में नम्रता का होना यानी अहंकार भाव न होना। मांर्दव धर्म यही शिक्षा देता हैं कि, हे मानव! तुझे यदि अपना वास्तविक सम्मान चाहिए, तो दूसरों का भी सम्मान करना सीख। मार्दव–धर्म विनयी बनने की ओर इंगित करता है, क्योंकि पूज्य महापुरूशों की विनय ही मोक्ष का द्वार है किन्तु ध्यान रखना, दिगम्बराचार्यों ने मात्र झुकने को ही विनय नहीं कंहा। विनय का तात्पर्य–मृदोर्भाव अर्थात् जीवन में मृदुता का आगमन। मृदुता का अर्थ–विनम्रता, शिश्टाचार मात्र नहीं, यह अपूर्ण समझ है। "मृदोर्भावो मार्दवम्" अर्थात् कठोरता का पूर्णतः विरेचन और क्रूरता का पूर्ण विराम्। जिसका हृदय मृदु नही, यदि उसका सिर भी झुकता है तो स्वार्थ के पीछे, शिश्चाचार के नाते। कभी–कभी विनय में भी मान छुपा रहता है। मुदुता अंदर का गुण है। अंतरंग की झलक बाहर भी दिखती है, किन्तु जो बाहर दिख रहा है वह मृदु परिणाम ही है, ऐसा नियत नहीं है। लोग अच्छा कहें, इस उद्देश्य को लेकर भी विनय झलक सकती है। अंदर से अकड़पन रहे और बाहर से विनय दृश्टिगोचर हो–यह मृदुता नही। अंदर के साथ बाह्य में नम्र वृत्ति होना ही मृदुता है, अंतरंग की कठोरता नहीं। क्योंकि कहा भी है–

'नमन्–नमन् में फेर है, अधिक नमे नादान।
दगाबाज दूना नमे, चीता चोर कमान।।'

अर्थात् नम्रता होने और दिखाने में बड़ा अंतर है। यह अपने स्वभाव पर निर्भर करता है। जैसे–चीता झुककर ही आगे छलांग लगाता है। चोर झुककर ही छोटी–सी खिड़की से अंदर प्रवेश पाता है। कमान के झुकने पर ही तीर छोड़ा जाता है। इसी प्रकार कपटी होता है। वह आवश्यकता से ज्यादा झुककर अदब करता है। ऐसी मृदुता, विनम्रता मार्दवधर्म नहीं है। इसीलिए आचार्यों ने मार्दव (मृदुता) के आगे अलग विशेशण लगाया है, वह है उत्तम।

विनय वह मंत्र है, जिसके माध्यम से हम आत्मविद्या सीख सकते हैं। विद्यायें तो मिल जाती हैं, परन्तु विनय के बिना सारी विद्यायें निश्फल हैं। अत;, से ज्ञानी! मन–वचन–काय तीनों में विनय की आवश्यकता है, मात्र वचन एवं भारीर की विनय, विनय नहीं होती है अर्थात् त्रियोग–विनय ही सच्ची विनय है। त्रियोग से मद् का अभाव ही वास्तविक विनय है। आचार्य भगवंतों ने मद के आठ भेद कहे हैं, जो कि संसार–भ्रमण के अश्ट द्वार–तुल्य हैं। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, रूप, भारीर का मद, ये आठ मद मानव के लिए पतन के स्रोत हैं। जिन्हें आत्मा को परमात्मा बनाने की आकाँक्षा है, उन्हें विनयपान करना आवश्यक है। जो मानव विनयशील होता है एवं सभी जीवों की रक्षा करता है, वह संपूर्ण लोक में प्रिय होता है, कभी अमान का पात्र नहीं बनता। यदि राम बनना है तो विनयी बनो, नहीं तो रावण जैसा जीवन होगा। राम का सभी जाप करते हैं, रावण का कोई



नहीं। और तो क्या, रावण का तो कोई नाम भी नहीं लेना चाहता। विनय राम है, मान है रावण का रूप। जो मानी है, वह रावण का वंशज है। अत:, विनयी बनकर श्रेयस–सुख को प्राप्त करो, यही मानवता का सार है।

'ऋजुता ही प्रभुता की जनक'

हे विज्ञात्मन्! आर्जव धर्म तेरी वास्तविकता की ओर संकेत दे रहा है कि जीवन में जो साधना करो, धार्मिक क्रिया करो, वास्तविक करो, निश्चल–वृत्ति से करो, बनावटी नही। सोचो! वास्तव में क्या हम सच्चे धर्मात्मा है या नहीं? कि मात्र दिखावा (बगुला भक्ति) तो नही कर रहे? दिखावा मात्र को धर्म मत कह देना, क्योंकि दिखावे या प्रदर्शन का नाम धर्म नहीं। धर्म वह है जिसमें आत्मदर्शन हो। तू जितना प्रदर्शन करता है, क्या उतना आत्मदर्शन तेरे पास है या नहीं? यह प्रश्न अपने आप से पूछ, तब कहीं आर्जव धर्म को समझ पायेंगा। आर्जव धर्म शील, प्रकृति, स्वभाव का ज्ञान कराता है। यानी प्राकृतिकता (स्वाभाविकता) की ओर इंगित करता है। आर्जव यानी निश्छलता, यानी क्रिया में मायाचारी का सत् नहीं होना। अल्प–धर्म साधना करना श्रेश्ठ है, पर छलकपट सहित बहुत तपस्या व्यर्थ है। क्योंकि वक्रपरिणाम गिरगिट के तुल्य होता है, जो कि हर समय अपने रूप बदलता रहता है, सही रूप का ज्ञान ही नही हो पाता। जो न कुटिल चिंतवन करता हो, न कुटिल वचन बोलता हो, न कोई कुटिल क्रिया करता हो, उसको ही सही मायने में आर्जव–धर्म होता है। मन में कुछ, वचन से कुछ, भारीर से कुछ, इसी का नाम मायाचारी है। संसार में यदि कोई दुरात्मा है तो वह हैं मायाचारी करने वाला। जिसका मन–वचन–काय एक है, वही सच्चा महात्मा है। यदि महात्मा बनना चाहते हो तो पहले वक्रता का विसर्जन करना होगा। दिगम्बराचार्यों ने आर्जव को पारिभाशित करते हुए लिखा है, ऋजो–र्भावःआर्जव," सरल परिणाम होना ही आर्जव है। कौन सरल, कौन वक्र, इसका ज्ञान तो तभी संभव है जब निकट जाकर निवास करें। क्योंकि नीतिकारों ने कहा है "सहवासी सः विचेशिटतम्" सहवासी ही सहवासी की चेश्टा जान सकता है। जिसका मन सरल है, उसके पास सबकुछ है एवं जिसका मन कुटिल है उसके पास कुछ नहीं। सहजता/सरलता ही उन्नति का सोपान है। धर्म सरल हृदयी के पास होता है, वक्र–परिणामी के पास धर्म की गंध भी नहीं आ सकती। धर्म के नाम पर आडम्बर तो दिखा सकता है, धर्म का वेश तो धारणप कर सकता है, लेकिन धर्म उसके पास नहीं हो सकता। मायाचारी करने वाला तिर्यचायु का बंध करता है। जिसे पशु योनि में जाने से भय है, उसे आत्मरक्षा हेतु मायाचारी को पूर्णरूपेण त्यागना अनिवार्य है। सच्चाई का ज्ञान तभी होता है, जबकि स्वयं की नग्न आँखों से स्वयं का सूक्ष्मावलोकन होता है। जब तक स्वयं की सच्चाई से परिचय न हो, तब तक स्व के परिवर्तन का कोई मार्ग नहीं सूझता। अस्तु, स्वयं का सूक्ष्म अवलोकन करो। जिसका मन दृढ़ सरल, उन्नतएवं श्रेश्ठ हो गया, उसका जीवन एवं भाग्य भी समुन्न/श्रेश्ठ होगा। आर्जव– धर्म में अघ (पाप) को विखंडित करने की अद्वितीय भाक्ति है। माया व्यक्ति को धूर्तता के शिखर पर पहुँचाती है, तो ऋजुता उच्चता/महानता के शिखर पर ले जाती है।

भो भोले मानव! आर्जव–धर्म को अपने जीवन में उतारो, क्योंकि इसी से खुलेगा तेरा मुक्ति का द्वार। सरलता के बिना किसी भी कार्य की सिद्धि संभव नहीं। यद्यपि सर्प वक्र चलता है, पर अपनी



वामी में वह सीधा ही प्रवेश करता है। बिना सीधे हुए प्रवेश संभव नहीं। सर्प जैसे स्वस्थान नहीं पहुँचा पाता, इसी प्रकार यह निज को सरलता के बिना प्राप्त नहीं कर सकता। अतः, मायाचारी को आर्जव–धर्म से नश्ट कर। यदि सच्चा सुख चाहता है, तो जीवन में सरलता का परिवेश धारण करना परम अनिवार्य है। सरलता ही दिव्यता का द्वार है। सरलता ही दिव्यता का द्वार है। सररलता में आत्मशांति का अक्षय भंडार समाविश है। सरलता में ही सहजता का मेल है। अतः, सरलता से सहजता को प्राप्त कर निज जीवन को पावन बना।

आत्मिक पवित्रता का सोपान "निर्लोभता"

हे विज्ञात्मन्! पवित्र भावों का होना ही भौच है। भूचेर्भावः इति भौचम्। मन–वचन–काय की पवित्रता ही आत्मिक पवित्रता की सूचक है। जब तक त्रियोग की पवित्रता नहीं होगी, तब तक आत्मिक पवित्रता कदापि संभव नहीं। उसमें से भी जब तक तेरी मन व वाणी भुद्ध नहीं होगी, तबतक बाह्य पवित्रता कितनी भी बनी रहे, वह भुचिता धर्म में कार्यकारी नही। बाह्य पवित्रता तक ही हमने विचारा एवं उसी में निमग्न रहे, अन्तः भुद्धि की ओर झाँक कर भी नहीं देखा कि हमारा अंतःकरण भुद्ध है या नहीं? ये कभी सोचा ही नहीं कि मुझसे अपवित्र अन्य कोई पदार्थ भी है? हमारी बाह्य दृश्टि जो रही है। जब मानव के अंदर में बात घर कर जाती है कि तू अच्छूत है और मैं पवित्र हूँ, तो उसी क्षण उसके अंदर अपवित्रता प्रवेश कर जाती है। धर्म किसी जाति, पंथ, सम्प्रदाय विशेश का नहीं होता है, वह तो प्राणीमात्र का होता है। धर्म अनेक नहीं होते, वह तो एक है और वह वस्तु का स्वभाव होता है। अंतरंग परिणामों में किसी के प्रति ग्लानि के भाव न होना, प्राणीमात्र के प्रति सद्भावना के भाव होना। और यह भाव किसी भी जाति के प्राणी के अंदर आ सकते हैं, वहीं धर्मात्मा की पहचान बाहर से करने के साथ उसके अंदर भी देखने की आवश्यकता है कि अंदर कितना मृदु है, जातिपांति की भावना का भूत सवार तो नहीं है। धर्मात्मा धर्म की भांति जन–जन का होता है। साधु–संत प्राणिमात्र के हितैशी होते हैं पर देखना ये है कि मात्र चर्चा ही करते हैं कि वास्तव में सब प्राणियों का हित चाहते हैं। जो पेड़–पौधों से लेकर चींटी, हाथी, मनुश्य आदि की रक्षा की भावना रखते हैं एवं उनकी रक्षा करते हैं, वास्तव में वही व्यक्ति सच्चा धर्मात्मा है। जब जक काम–क्रोधादि विभाव–भावों का अभाव नहीं होगा, तब तक भौच–धर्म प्रकट नहीं हो सकता। जिनके अंदर ब्रह्म–भाव है, वे पवित्र हैं।

"ब्रह्मचारिणामेव भुचित्वं न च कामक्रोधादिरतानां जल स्नानादि भौचेपि"।

अर्थात् ब्रह्मचारी ही पवित्र होता है, न कि काम–क्रोधादि से युक्त। जलस्नान से पवित्रता नहीं आती है। कहा भी है–

"जन्मना जायते भुद्रः, क्रिया द्विज उच्यते।
श्रुतेन श्रोत्तियो ज्ञेयो, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।"

अर्थात् जन्म से भुद्र होता है, क्रिया से द्विज कहलाता है, श्रुत (शास्त्रों) से श्रोतिय और ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण जानना चाहिए। इस प्रकार भुचिता की चर्चा करते हुए नारायण श्री कृश्ण ने युधिश्ठर से



कहा– हे पाण्डुपुत्र। आपने क्या अभी तक भाुचित्व को नहीं पहिचाना? पवित्रता कहाँ से प्राप्त होगी? जलस्नान से भारीर स्वच्छ हो सकता है, पर पवित्र नहीं हो सकता है। फिर उस जड़ जल से आत्मा पवित्र कैसे होगी? अतः गीता मे कहा है,

"आत्म नदी संयमतोयपूर्ण सत्यावहा भीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिशेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा भाुद्धयति चान्तरात्मा।"

अर्थात् जल से परिपूर्ण सत्य को धारणप करनेवाली, भीलरूप तट, और दयामय तरंगों की धारक आत्मारूपी नदी है। हे पाण्डुपुत्र! उसमें स्नान कर, क्योंकि अन्तरात्मा जल से भाुद्ध नहीं होती। हे मनीशी! निर्लोभ वृत्ति से आत्मा भाुद्ध होगी। दिगम्बराचार्यों ने भौच–धर्म को परिभाशित करते हुए कहा–"प्रकर्श प्रासलोभान्निवृत्ति भौचम्।" प्रकर्श प्राप्त लोभ का त्याग करना भौच–धर्म है। वास्तव में उत्तम–शौच–धर्म परमतपोधन वीतरागी दिगम्बर श्रमणों के ही पूर्णतया संभव है, जिन्होंने इच्छाओं को रोककर वैराग्य रूप विचारों से युक्त होकर, आत्मसाधना ही जिनका परम लक्ष्य बन चुका, चर्या–चर्चा जिसकी एक है, उसी श्रवण के उत्तम–शौच–धर्म होता है, फिर भी आप सभी के लिए भी अभ्याससरूप से भौच–धर्म की ओर अग्रसर रहने की परम आवश्यकता है। क्रोध आत्मा को पवित्र कर परमात्मा बनो।

'सत्यता ही पवित्रता'

हे चेतन! सत्य ही जीवन की परम कसौटी है, जिसके माध्यम से प्राणी के अन्तम् की परीक्षा हो जाती है एवं भीघ्र परीक्षा–परिणाम भी प्रकट हो जाता है। सत्य आत्मा की आत्मा है। सत्यरहित सारी धर्म–क्रियाएँ खोखली हैं। हे प्राणी! विचार कर कि मैंने झूठ बोलकर दूसरों को धोखा दिया है, पर सिद्धांत कहता है तूने दूसरों को धोखा नहीं, स्वयं के लिए धोखा दिया है। दूसरों को धोखा देना स्वयं के साथ छलावा है। झूठ या असत्य बहुत सारे पापों का जनक है। एक असत्य को छुपाने के लिए व्यक्ति कई असत्य बोलता है। पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि अग्नि को रूई में छिपा लिया जाए, वह तो प्रकट होगी ही। इसी प्रकार असत्य को कितना ही ढँकना, वह प्रकट हुए बिना नहीं रह सकता। सत्य को छिपाया नहीं जाता, दिखाया नहीं जाता, वह तो स्वयसेव दिव्य–ज्योतिर्मय सूर्य है। कितने ही असत्यरूपी बादल छा जाएँ, सूर्य को ढँक लें, पर आज तक बादलों द्वारा सूर्य का विनाश नहीं हो पाया। इसी प्रकार, असत्यवादी सत्यधर्म पर चाहे कितने कुहेतुओं के बादल तैयार करें, लेकिन सत्यरूपी सूर्य का विनाश नहीं कर सकता। सत्य को नश्ट में जीना पड़े, पर वह अपनी चमक नहीं खो सकता। विजय सत्य कीं ही होती है, असत्य की कदापि नहीं। पताका सत्य की ही फहरायी जायेगी, असत्य की नहीं। सत्यधर्म तभी संभव है, जबकि हमारा वाणी पर संयम होगा। जो व्यक्ति ज्यादा बोलता है तथा जब उसके अंदर बोलने का विशय नहीं रहता, तब वह यहाँ–वहाँ की चर्चा प्रारंभ कर देता है, जिसमें असत्य का पुट मिला होता है। सत्य का स्थान मुख नहीं, हृदय है। सत्य हृदय से प्रस्फुटित होता है। सत्य में सहजता होती है। सत्य में दम्भता का कोई स्थान नहीं। सत्य का झारोखा हर समय खुला रहता है। सत्य पर चमकीले या न. दो के लेबिल लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि सत्य ऊपरी चमक का नाम नहीं है, वह तो इंसान की जान है। यानी इंसान की इंसानियत का नाम



है सत्य। सत्य के लिए समर्थन की आवश्यकता नहीं। सत्य तो सत्य है, सत्य का क्या सत्य होगा। मिश्री का स्वाद मीठा होता, पर कोई बतला सकता है कि मीठे का स्वाद कैसा होता? मीठा मिश्री का गुण है। जैन सिद्धांत कहता है कि गुण का कोई गुण नहीं होता, उसी प्रकार सत्य का भी कोई अन्य समर्थक सत्य नहीं होता है। सत्य का यह नग्न सत्य है। जिसके जीवन में सत्य के संस्कार पड़ जाते हैं उसे फिर असत्य की आंधी हिला नहीं सकती, वह जीवन भर फलता है एवं यश के सर्वोच्च स्थान को स्पर्श करता है। सत्यधर्मी को कठोर वचन रूपी अजीर्ण से बचना अनिवार्य है या उसे बचाने के लिए द्राक्षा से भी मधुर सुभाशित वचनों का चूर्ण लेना होगा। मृदुभाशी सबका प्रिय होता है, जबकि कर्कश वाणी सबकी आँखों में किरकिराती है। क्या कोयल सबको प्रिय नहीं होती? कौए की कर्कश वाणी किसे सुहाती है? यद्यपि कोयल ने किसी को क्या दिया और कौए ने किसी से क्या लिया, उसने क्या बिगाड़ा? सच है कि बोली–बाली में छिपी है जादू किरण। हे साधक! पर–पीड़ाकारी वचन प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए। क्योंकि मनभेदी वचन बोलना भी हिंसा के कारण संसारवृद्धि का कारण होती है। दिगम्बराचार्यों ने सत्य–धर्म की बहुतही सुंदर परिभाशा की है जो दूसरे के लिए संताप करते हों, ऐसे वचनों का परित्याग कर, स्वपर हितकारक वचन बोलना सत्यधर्म है। जितने भी महापुरूश हुए वे सब सत्य, अहिंसा आदि के माध्यम से ही महान् बने। यदि हमको महान् बनना है, महानता की श्रेणी में आना है, आदर्शोपम बनना है, तो महापुरूशों के अनुसार सत्य–अहिंसा धर्म को धारण कर चर्या द्वारा जीवन में साकार करना होगा। सत्य ही परम धर्म है। अतएव परम धर्म का आश्रय लो, यही चैतन्य का परमसार है।

'आत्मा का अनुपम सौन्दर्यः संयम'

हे ज्ञानस्वरूपी पुज्ज! उत्तम–संयम–धर्म आत्मसिद्धि का अद्भुत मंत्र है। इसके अभाव में आत्मसिद्धि संभव नहीं। संयम वह सौरभ है, जिससे आत्मसौंदर्य सुरभित होता है। संयम मन व वाणी की अनर्गल प्रवृत्ति को रोकने के लिए कंट्रोलर है। जिसके जीवन में संयमरूपी लगाम नहीं है, उसका मनरूपी घोड़ा जीवन को कहीं भी पटक सकता है। संयम जीवनरूपी गाड़ी का ब्रेक है। संयम के बिना अर्थात् असंयमित–जीवन पशुत्व–जीवन है। संयम ही सर्वश्रेश्ठ आत्मसौंदर्य एवं मानव का अनोखा आभूशण है। संयम–सुरभि जिसके पास है, वह स्वयं में सुभाशित होता ही है, साथ ही अन्य प्राणियों को सुरभित कर देता है। संयमी की वाणी एवं चर्या में एक अनोखा ही सौश्ठव होता है। संयमी चाहे बालक हो या वृद्ध, पर वह अपने आप में वृद्ध होता है, लोकपूज्य होता है, परलोक में अनंतसुख का भोक्ता होता है। किन्तु हो वास्तविक। संयम अंदन व बाहर दोनों प्रकार से होना चाहिए। क्योंकि भाव संयम ही सिद्धिदायक होता है। भावसंयम से रहित बाह्य संयम का भेश लोकप्रशंसा करा सकता है, परन्तु आत्मप्रशंसा प्राप्त नहीं करा सकता। संयमित जीवन जीनेवाला ही सच्चा मानव है। मन–वचन–काय तीनों संयमित होना अनिवार्य है। तीनों की संयमित्ता ही सच्चा संयम है।

हे विज्ञ! आत्मा की चादर विशय–पंक से दूशित हो रही है। ये विशयों से स्वच्छ नहीं की जा सकती है। वासना–पंक को प्रक्षालित करने के लिए संयम–नीर ही समर्थ है। आत्मा की कालिमा संयम–नीर से ही धुलेगी और सही संयम ही जीवन का सुरक्षा–कवच है। दुर्ग के बिना जिस प्रकार



सम्राट की सुरक्षा नहीं होती, उसके ऊपर करोड़ों आपत्तियाँ एवं शत्रुओं का आक्रमण संभव है, उसी प्रकार आत्म–सम्राट की सुरक्षा संयमरूपी दुर्ग से ही संभव है, अन्यथा अनेक प्रकार के विकारीभावरूपी शत्रु आक्रमण कर इस आत्म–सम्राट को निर्बल करके असंयमरूपी घोर अटवी में डाल देंगे। दुःखों से छूटने का सरल उपाय आत्मसंयम ही है। जिसके जीवन में संयम है, उसके जीवन में शांति है। पर संयम में शांति का वरण कर पाएगा, जिसने संयम को स्वाधीनता से स्वकल्याण के उद्देश्य से स्वीकारा। दूसरे के कहने से या दूसरों को देखकर किसी विशमता के द्वारा धारण किया गया संयम अशांति एवं दुःख को ही महसूस कराएगा, क्योंकि संयम में असंयम की याद सताएगी। परिस्थिति ने संयमी बनाया, बनना नहीं चाहता था। ऐसा संयम कश्टकारी होता है, न कि स्वाधीनभाव सहित धारण किया गया संयम। संयमी (साधु) जीवन स्वाधीन जीवन है। स्वाधीनता के साथ स्वीकार करने पर संयम की शक्ति अजेय होती है। उसे कोई परास्त नहीं कर सकता। सत्य संयम के आगे माथा टेककर चला करता है। कमठ को भगवान् पार्श्वनाथ जी के चरणों में झुककर जाना पड़ा। अति उपसर्ग किया, पर भगवान् पार्श्वनाथ संयम में अडिग रहे, कमठ को पराजित होकर लौटना पड़ा। गांधी जी त्याग, संयम, सत्य के बल पर ही भारत को स्वतंत्र करा पाए, जिसके प्रभाव से असंयमी अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना पड़ा। संयम का तात्पर्य पराधीनता नहीं है, बल्कि स्व का स्व पर अनुशासन है यानी आत्मानुशासन है। जो आत्मानुशासन की सामर्थ्य रखता है, वही त्रिलोकीनाथ बनकर, त्रिलोकपूज्य होकर, सारे विश्व पर शासन करनेवाला परमात्मा बन जाता है। जिसने स्व पर शासन नहीं किया, वह दूसरे के ऊपर शासन कैसे कर सकता है? करता है तो हँसी का पात्र बनता है। जिसने संयमरूपी माँ की अंगुली थाम ली, वह नियम से मोक्ष महल तक पहुँच जाएगा। यदि उँगुली छूट गई तो नियम से भटक जाएगा।

मर्यादाओं में रहना संयम है। मर्यादा के बाहर किसी प्रकार के कृत्य को करना असंयम है। इस प्रकार की प्रवृत्ति करनेवाला जीव लोक, समाज, राश्ट्र, परिवार, बंधु, धर्मात्मा आदि की दृश्टि से गिर जाता है, किन्तु जो स्वपद की मर्यादा में चलता है, वह अपने व्यक्तित्व से सारी दुनियाँ को स्व के प्रति झुका लेता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व से सारी दुनियाँ को स्व के प्रति झुका लेता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व ही व्यक्ति को महान् बना देता है। व्यक्ति चाहे गरीब हो या अमीर, चाहे छोटा हो या बड़ा, परंतु व्यक्तित्व का धनी ही सर्वश्रेश्ठ हैं मनीशियो ने ज्येश्ठ की पूजा नहीं की, श्रेश्ठ की पूजा की है। भारतीय संस्कृति हर समय गुणों की पूजक रही है, व्यक्ति की नहीं। धन–वैभव को भारतीय संस्कृति ने कभी नहीं पूजा। रावण के पास वैभव तो था, लेकिन असंयमी था, इसलिए लोकनिंदा का पात्र बना। राम के पास भले ही सोने की लंका नहीं थी, पर उनके पास संयम था, इसीलिए वह पूज्य हैं। मर्यादा में जीनेवाले पुरुशोत्तम राम थे। इसलिए राम, महावीर का नाम लिया जाता है, किन्तु रावण, कंस, जरासंघ के नाम की माला नहीं फेरी जाती। जो संयम के साथ जीता है, वह सर्ववंद्य स्वयंमेव हो जाता है। माना कि कोई वहानबालक है, वह यदि संयमित नहीं चलता तो किसी –न–किसी से टकराएगा, मौत के घाट भी जा सकता है। कारण बना असंयम। इसीलिए जैनाचार्यों ने कहा–"प्राणीन्द्रियेश्वशुभवृत्तेर्विरति संयमः"। प्राणी एवं इन्द्रियों के प्रति अशुभ प्रवृत्ति का निरोध 'संयम' है। संयम के साथ एक क्षण भी जीना श्रेश्ठ है, अमृततुल्य है, परंतु असंयम के साथ सहस्त्र कोटि



वश भी जीना अच्छा नहीं है। अतः अपनी परिणति संयमी बनाओ। आत्मा को परमात्मा बनाने की इच्छा है तो संयम--पथ पर चलो।

'चमकना है तो तपो'

रे मानव! मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता है, पर बिना क्रिया किए मिट्टी घड़ा नहीं बन सकती। दुग्ध में घृत है, लेकिन घृत प्राप्त करने के लिए प्रक्रिया पूरी करनी पड़ेगी। बिना प्रक्रिया के दुग्ध से घृत संभव नहीं। इसी प्रकार आत्मा में परमात्मशक्ति मौजूद है यानी आत्मा में परमात्मा विराजमान है। पर जैसे बिना छैनी के पाशाण से प्रतिमा नहीं निकलती, वैसे ही बिना तप के आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती। तप–धर्म की परिभाशा करते हुए दिगम्बराचार्यों ने कहा "कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः"। जो कर्म–क्षय के लिए तपा जाता है, वह तप है। जो तप जाता है, वह चमक जाता है। यदि स्वर्ण–पाशाण को तपाया नहीं जाए तो स्वर्ण की प्राप्ति संभव नहीं। स्वर्ण–पाशाण को तपाने से ही स्वर्ण की प्राप्ति होगी।

इच्छा का निरोध करना वास्तविक तप है। तपस्वी का वेश धारण कर लिया, पर कामनाएँ ज्यों–की–त्यों मौजूद रहीं, तो कोरा तपस्वी–वेश तप का प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता, मात्र जगसमुदाय को पागल बनाना है और स्व आत्म–वंदना करना है। मन और इंद्रियों का दमन करना तपस्वी के लिए अनिवार्य है और इनका दमन या निग्रह तप के अभाव से संभव नहीं। क्योंकि मन व इंद्रियों को निग्रह करनेवाला साधन यदि कोई है तो वह है तप। तप से च्युत होने का कारण यदि कोई है तो वह है तपस्वियों की तपस्या में कमी। तपस्वी यदि आगमविहित विधि से तपश्चरण करता है तो वह कभी भी अपने पद से हट नहीं सकता। पर कारण यह बनता है कि य तो स्वशक्ति से ज्यादा तपस्या कर लेता है या फिर भाक्ति को छिपाता है। ये दोनों ही स्व–पद से च्युत करा सकते हैं। यथशक्ति तपश्चरण करना चाहिए, जैसे वर्तमान (कलिकाल) में साधकों के लिए जंगल–वास का निशेध आगम में है। क्योंकि वर्तमान में चतुर्थकाल–जैसी भारीरिक भाक्ति नहीं है, फिर भी कोई साधक जंगलवास करता है तो वह अपनी भाक्ति से अधिक अलग क्रिया कर रहा है। हो सकता है कि जीवन से भी हाथ धोना पड़े। इसीलिए आगम में उल्लेख किया गया है–

'जं सकइ तं कीरइ, जं च सकई तहेव सद्दहणं।
सद्दहमाणे जीवो, पावई अजमरामरं ठाणं।।"

अर्थात् जितनी भाक्ति हो उतना तप करो, यदि भाक्ति नहीं है तो आप श्रद्धान करो। श्रद्धान करनेवाला मानव भी जन्म–मरण का नाश करके क्रमशः निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। जिस ईंधन अग्नि की अनुपस्थिति में भोजन आदि का पकना कठिन है, उसी प्रकार तपाग्नि में तपे बिना कर्मक्षय असंभव है एवं सच्चे सुख की प्राप्ति कदापि संभव नहीं है। चिंतवन करें, आप स्वयं सोचें–तप के बिना आज तक किसी को मोक्ष हुआ है क्या? या आत्म वैभव प्राप्त हुआ है? नहीं। तप ही आत्मिक सम्पदा का मूल मंत्र–तंत्र है। किंतु तप सम्यक् होना चाहिए। मृत्तिका जब आर्द्र होती है, तब तक ही पैरों से रौंदी जाती है। जब वह सूखकर घड़ा बन जाती है एवं अग्नि में तप जाती है तो वही मांगलिक कार्यों



में मंगल कलश बनकर सौभाग्यशाली माताओं के सिर पर विराजमान हो जाती है। दुग्ध को जबतक तपाकर या जमाकर दही बनाकर नहीं मथोगे, तब तक घृत की प्राप्ति कैसे होगी? और जब मथकर मक्खन को तपाते हैं तो शुद्ध घी बन जाता है। अतः घृत से पुनः दुग्ध नहीं हो सकता। घृत को कितने ही गहरे पानी में डाल दो, पर वह स्वतः उपर आ जाता है। किसी को लाने की आवश्यकता नही पड़ती। इसी प्रकार जो सम्यक् तप करता है, उस तपस्वी की आत्मा स्वतः ऊर्ध्वगामी हो परमात्मा बन जाती है। जैसे घृत पुनः दुग्ध नही होता, वैसे ही वह आत्मा पुनः संसार के दुःखों को प्राप्त करने संसार में नही आती।

आचार्यों ने तप के बारह भेद किये, छह–बाह्य और छह–अंतरंग। बाह्य का तात्पर्य जो दिखने में आते है। अंतरंग तप यानी जो सामान्यतः लोगों के दिखने में नहीं आते।

छह बाह्य तप है–

1. अनशनः बिना किसी अपेक्षा के संयम की सिद्धि, राग के उच्छेद एवं इंन्द्रियों को वश में करने के उद्देश्य से अन्नजल का पूर्ण त्याग करना।
2. अवमौदर्यः संयम जाग्रत रखने, प्रमाद के परिहार के लिए, स्वाध्याय एवं ध्यान की सिद्धि के लिए भूख से कम खाना।
3. वृत्ति परिसंख्यान : भाग्य की परीक्षा एवं राग–द्वेश के अभाव के लिए मुनिराज विधि लेकर निकलते है, जैसे यदि दाता कलश आदि लिए मिलेगा तो आहार ग्रहण करेंगे अन्यथा नहीं।
4. **रस परित्याग** : इंद्रियों के दर्प को नश्ट करने हेतु, निद्रा विजय के लिए घृतादि छह रसों का त्याग अथवा एक दो रसों का त्याग करना।
5. **विविक्त भौयासन** : एकांत, स्त्री, पुरूश, बालक, नपुंसक, पशु आदि से रहित एवं निर्जन्तुक घर, मंदिर, धर्मशाला, गुफा आदि स्थानों में निर्वाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि के लिए विविक्त भौयासन तप किया जाता है।
6. कायक्लेश तप : वृक्षमूल योगादि भीत गर्मी की बाधा को सहन करना, भारीर को कश्ट देना। सुख–विशयक आसक्ति को कम करने के लिए साधुओं को ये छहों तप करना चाहिए। ये छहों अंतरंग तप के लिए साधन है।

प्रमाद एवं अन्य दोशों का परिहार करना प्रायश्चित्त है। पूज्य–पुरूशों का आदर करना विनय तप है। साधर्मी की सेवा करना वैयावृत्ति तप है। आलस्य का त्याग करके ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है। अहंकार/मान का त्याग करना व्युत्सर्ग है एवं चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान तप है। इस प्रकार से बारह प्रकार का तप कर्म–छह का कारण है।

अतः, हे साधक! तप करो, जीवन महान् बनेगा। तप सुप्त चेतना को जागृत करने वाला है।

'त्याग–धर्म महान्'

हे मनीशी ! उत्तम–त्याग–धर्म संकेत देता है कि भाांति जोड़ने में नहीं छोड़ने में है। जोड़ना अच्छा नहीं है, छोड़ना श्रेश्ठ है; क्योंकि जो जितना जोड़ता है, वह उतना स्वयं से छूट जाता है अर्थात् स्व से छूट जाता है। स्व से जोड़ने के लिए जीवन में त्याग अनिवार्य है, क्योंकि त्याग उच्चत्ता का



महान् मूलमंत्र है। विशय–कशायों का त्याग ही वास्तविक त्याग है। बुराइंयों का त्याग करना धर्म की सीढ़ी (सोपान) को प्राप्त करना है। जब तुम्हारे अंतर से संपूर्ण कुत्सित प्रवृत्तियाँ निकल जायेंगी, तब तुम त्याग धर्म की महत्ता को स्वतः ही हासिल कर लोगे। हाँ, त्याग या दान करना सर्वोच्च है, किन्तु मान/अभिमान के लिए नहीं। आपने बहुत दान दिया, पर मान के लिए, तो वह दान सम्यक् नहीं अपितु अहं–पुश्टि है। एक दान करने के लिए धन कमाता है या कहता है कि पहले धन कमा लूँ फिर दान करूँगा, यह तो ऐसा हुआ कि मुझे स्नान करना है इसलिए कीचड़ में लौट रहा हूँ। यह प्रक्रिया अज्ञानता है और वह अज्ञानी है, ज्ञानी नहीं। जो तेरे पास है उसका दान करना चाहिए। दान का उद्देश्य लेकर धनार्जन नहीं करना चाहिए।

"संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः" आचार्य पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा है कि संयत के योग्य यानी साधु–संतों एवं धर्मात्माओं के योग्य ज्ञानादि के उपकरणों का दान करना त्याग है। त्याग के लिए राग से रहित होना परम।अनिवार्य है। संप्रति (वर्तमान) में दान ने कुछ विकृत रूप धारण कर लिया है। पूर्व में धर्मात्मा दान छुपा कर दिया करते थे, पर आज छपाकर दिया जाता है। जहाँ आवश्यकता है, वहाँ पर दृश्टि कम जाती है, उस ओर तो ध्यान ही नही जाता, किन्तु गलत प्रयोग करने के लिए तैयार हो जाते है। दान का सदुपयोग होना चाहिए यानी जिस हेतु से दिया जाता है, उसका उपयोग वही होना चाहिए। यानी जो प्राचीन संस्कृति की रक्षा के लिए ही मिलता है, वह नवीनता में नहीं। आज आवश्यकता नवीन तीर्थों की उतनी नही है, जितनी कि प्राचीन तीर्थों की सुरक्षा की है। दान देने के पहले यह भी ध्यान देने की आवश्यकता हैं कि उपयोगिता कहाँ पर हैं। मात्र दृश्टि में इतना नहीं कि माला, पटिया कहाँ प्राप्त होगा।

दान ऐच्छिक फल की अपेक्षा से रहित होना चाहिए। निश्काम, निःकांक्षित भाव से दिया गया दान वट–बीज की तरह वृद्धि को प्राप्त होता है। आगम में चार प्रकार के दान की चर्चा की गई है। प्रत्येक दाता का कर्त्तव्य है कि अनंत चतुश्टय की प्राप्ति के लिए चार प्रकार का दान करते रहना चाहिए।

'आहार–दान' उत्तम, मध्यम, जघन्य संयमी पात्रों को देना चाहिए। जिसने संयमी महान् आत्माओं के लिए आहार दिया, समझो तप दिया है, अभय दिया है। क्योंकि आहार के बिना जीवन नहीं पचल सकता है। करुणा के साथ भूखे, गरीब, कारुण्यों, दरिद्रों को सहयोग करना करुणा–दान है।

'शास्त्र–दान' यानि ज्ञान–दान करना, क्योंकि यह भी अपना एक विशिश्ट महत्व रखता है। ज्ञान के उपकरण भेंट करना, भाास्त्र देना, अध्ययन कार्य हेतु व्यवस्था जुटाना, उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों के लिए एवं जो छात्र पढ़ना चाहता है, पर आर्थिक कारणों से वंचित है, उसके अध्ययन में बाधा पड़ रही है, और आप समर्थ हैं तो ऐसे छात्रों की सहायता करना मानव–धर्म है। विद्यालय, पाठशाला आदि का निर्माण कराने में दिया गया दान 'ज्ञानदान' के अंदर ही समाविश्ट है। जो श्रुतदान करता है, वह केवलज्ञान को प्राप्त करता है और सरस्वती–पुत्र बन जाता है। अतः इस परमदान में धन का सम्यक् उपयोग करना चाहिए।

"अभयदान' दुःखी/क्लांत प्राणियों की रक्षा करना। यदि किसी के प्राण हरण जैसी स्थिति भी क्यों न आ गई हो उसकी पूर्ण रक्षा करना, निर्भय कर देना एवं उत्तम मध्यम, जघन्य पात्रों को निर्भयता

के स्थान पर ठहराना, उन्हें स्थान देना, प्राणीमात्र की रक्षा करना अभयदान है, प्राण्दान है। यह अमूल्य दान है।

'औशधि दान' साधु संतों को संयम रक्षा हेतु निर्दोश, अहिंसक औशधि देना। गरीब–अपाहिज आदि के लिए सहयोग करना, औशधालय खुलवाना, मरीजों की आवश्यकतानुसार उचित रस, फल, औशधि आदि के लिए सहयोग करना, यह मानवता है। भगवान् महावीर स्वामी के संदेश को चरितार्थ करने की आवश्यकता है। स्वयं सुख से जिएँ एवं अन्य जीवों को जीने दें, उनके जीवन जीने में अहिंसक दृश्टि से सहयोग करना हर मानव का कर्त्तव्य है। जैसा कश्ट स्वयं अनुभव करता है, वैसा दूसरों के कश्टों को स्वयं अनुभव करने की आवश्यकता है। "त्याग–धर्म" सत्त्वेशु–मैत्री का पाठ पढ़ाता है एवं मानव–धर्म की शिक्षा देता है। हम परस्पर एक–दूसरे का निश्काम भाव से सहयोग करें। जो जीवन इस प्रकार औशाध दान देता है, वह निरोगमय भारीर को प्राप्त करता है, एवं क्रंमशः स्वर्ग, मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। अतः 'कर जन–जन की सेवा, तेरी सेवा नियम से होगी'। हे विज्ञ! त्याग–धर्म को अंगीकार कर आत्मा का उत्थान करो, पतित से पावन बनने का यही सुंदर उपाय है।

'संसार एक स्वप्न'

हे चैतन्य! उत्तम आकिंचन्य धर्म निज स्वरूप से संबंध स्थापित करने की ओर इंगित कर रहा है कि, हे प्राणी! आज तक पर को स्व मानता रहा, निज को नहीं पहचाना। जहाँ तु नहीं था। वहाँ पर अपनी खोज कर रहा है। कभी निज सुख की खोज भारीर में की, तो कभी खाद्य पदार्थों में या वस्त्राभूशणों में की, लेकिन फिर भी सुखी नहीं बन पाया। सच है कि दुःख में सुख कहाँ? यदि संसार के विशय भोगों, कामनाओं में ही सुख–शांती थी, तो फिर योगियों ने योग धारण कर आत्म शरण कयों ली? क्योंकि आत्म–सुख भौतिक पदार्थों में संभव नहीं। आत्मसुख आत्मशरण में पहुँचने से ही प्राप्त होगा। क्या बाह्य संपदावाले अंत में आँसू बहाके नहीं गए? या उनके जाने पर अन्य के आँसू नहीं गिरे? लेकिन जो आत्मसुखी होता है, वह जाते समय न स्वयं आँसू बहाता है और न वियोग पर अन्य कोई अश्रुपूरित होते हैं, क्योंकि आत्मधर्मी के जाने पर मृत्युमहोत्सव मनाया जाता है। मृत्युमहोत्सव या समाधि उसी के जीवन में घटती है, जो आकिंचन–स्वभावी होगा यानी जिसके जीवन में आकिंचन्य धर्म साकार हो रहा है। वीतरागी जैनाचार्यों ने "आकिंचन्य" को परिभाशित करते हुए कहा है कि "न किंचना इति आकिंचन"। संसार में जो दिख रहा है, वह सब बाह्य प्रदर्शन है, निज का कुछ भी नहीं है। जो भारीरादि उपात्त है, उनमें भी संस्कार का त्याग करना आकिंचन्य है। ज्ञानी जीव यहीं विचारता है कि न यहाँ पर कुछ है, न वहाँ कुछ है। यहाँ–वहाँ कुछ भी नहीं। यदि जगत् में विचार कर देखता हूँ तो कुछ भी नहीं। यहीं सोचकर ज्ञानी सब त्याग कर देता है।

आचार्य भगवान् कुंदकुंद स्वामी ने "समयसार" जी में अज्ञानी जीव के विशय में बहुत ही सुंदर बात कहीं–

अण्णाण मोहिदमदी मज्झमिणं मणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावो संजुत्तो।।23।।



अर्थात् अज्ञान से ठगी हुई बुद्धिवाला संसारी प्राणी अपने साथ में मिलकर रहने वाला भारीर और पृथक गहने, वस्त्राभरण, धनधान्यादि पुदगल द्रव्य को अपना कहत है, नाना प्रकार की रागद्वेशआदि रूप कल्पना करता है। यही अज्ञान–परिणति है।

हे आत्मन्! तेरा स्वरूप तो मात्र ज्ञान–दर्शन है, फिर अन्य द्रव्य से तेरा संबंध कैसे बन सकता है। निर्मोह/निर्ममत्व स्वभाव तेरा है। तेरे में आडम्बरों के लिए स्थान कहाँ? वीतरागता का मार्ग आकिंचन धर्म, जिसमें बहकर ही स्वावलंबी बना जा सकता है। आकिंचन्य धर्म को धारण कर स्वावलंबी बन, क्योंकि परावलंबी जीवन जीना स्वात्मा की हत्या करना है। वास्तव में पूर्णरूपेण आकिंचन्य धर्म श्रवण के ही संभव है।

'होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
णिद्देण दु वहदि अणयारो तस्स अकिंचण्हं।। (वा.अनु.)

जो मुनि निःसंग, निश्परिगृह, निर्ग्रथ होकर स्वपर को दुःख देने वाले सब प्रकार के राग–द्वेश, मोह भावों का निग्रह कर, निर्द्वंद् भाव धारण कर मूर्च्छा–भाव का द्रव्य के साथ त्याग करता है, उसके ही आकिंचन्य धर्म होता है। आकिंचन्य आत्म–पवित्रता का धर्म है, अतः इसे धारणकर पावन/पवित्र मंजिल प्राप्त करो।

'आत्म–रमणी में रमो'

हे चैतन्य! ब्रह्मस्वरूप ही तेरा वास्तविक स्वरूप है, और उसमें रमण करना ही उत्तम ब्रह्मचर्य है। उत्तम ब्रह्मचर्य–धर्म ब्रह्मस्वरूप की ओर ले जाने की शिक्षा देता है कि तू स्वभाव का आश्रय ले एवं स्वभाव में रम, क्योंकि स्वभाव में रहना ही ब्रह्मचर्य है। बह्म यानी आत्मा। आत्मा में विचरण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य–धर्म–शील में रहने की प्रेरणा दे रहा है। भील यानी स्वाभाविक/प्राकृतिक स्वरूप में निवास करना।

वीर्य–रक्षा आत्मरक्षा है। वीर्य–रक्षा ही परम है। जिसने स्वशक्ति का नाश किया है, उससे बड़ा पापी अन्य कौन हो सकता है? वीर्य को नश्ट करना, स्वशक्ति को नश्ट कर, भाारीरिक भाक्ति से हाथ धोना है। ब्रह्मचर्य धर्म के पालन से भारीर दृढ़ होता है एवं ज्ञान की वृद्धि होती है। अब्रह्म का सेवन मानव के विवेकज्ञान को भून्य कर देता है, जिससे मानव अपना सर्वस्व नाश कर लेता है। अब्रह्म अनेक रोगों का स्थान है। जितने भी भारतीय संस्कृति में महापुरूश हुए, उन सभी मनीशियों ने ब्रह्मचर्य–धर्म पर बल दिया। महाग्रंथों के सर्जक आचार्य भगवंत ब्रह्मशक्ति से अपने ज्ञान को रख सके। अब्रह्म महाहिंसा है, क्योंकि एक बार के कामसेवन से नवकोटि जीवों की हिंसा का उल्लेख निर्ग्रन्थाचार्यों ने किया है। सोचो कि अब्रह्म–सेवन कितने जीवों का घात करता है, एवं विशय–लोलुपत का कारण है। इसी वासना का ही दुश्परिणाम है–''भ्रूणहत्या''। लोकलाज के पीछे पंचेन्द्रिय मनुश्यों की जान ली जा रही है। कितना अब्रह्म छा गया? कुँवारी माताओं के द्वारा भी उन नवजात शिशुओं के टुकड़े–टुकड़े करके कचड़े की भांति टोकनी में रखकर फेंक दिया जाता है। क्यो आप भगवान् महावीर, राम–कृश्ण, बुद्ध, गुरूनानक आदि के उपासक हो? यदि हो तो ऐसे कुकृत्य पर ध्यान दो।



ब्रह्मचर्य से जियो। संतान पर पाबंदी लगाने की चर्चा सरकार भी करती है। परिवार–नियोजन का प्रचार बहुताधिक चल रहा है। उन लोगों से मेरा कहना है कि यदि तुम्हारी माँ गर्भ में ही तुम्हारी हत्या करा देती तो क्या तुम दूसरे की जान लेने का प्रचार कर पाते? पाबंदी संतान पर नहीं, वासनाओं पर लगाओ। फिर नहीं करना पड़ेगा नरसंहार का प्रचार। तुम्हें क्या मालूम जिन गर्भस्थ शिशुओं की हत्या कर दी जाती है वो राम, महावीर, कृष्ण, सीता, चंदनबाला–जैसी होनेवाली संतान परमात्मपद को पानेवाली हो। ध्यान रखो! जो गर्भपात करता है, एवं करवाता है, वे दोनों ही अधोगामी नरसंहारक दानव हैं। ऐसे दुश्कृत्यों को कर्मसिद्धांत एवं प्रकृति माफ नही कर सकती। ऐसे कुकृत्य प्रकृति को पसंद नहीं। आजकल अकाल, भूकंप, अतिवृश्टि, अनावृश्टि जैसी बाधाएँ दिखने में आ रही हैं, यह सब उन गर्भस्थ आत्माओं की पीड़ा, तड़फन, कराहने की आवाज का ही प्रभाव है, उनका श्राप है। यदि प्रकृति के संतुलन को सुधारना है तो वासनाओं को संतुलित करो एवं मिथ्या प्रचार बंद करो कि जनता बढ़ जाएगी तो फिर खाने को कहाँ से आएगा? जैसे तुम्हें खाने को मिल रहा है, वैसे उन्हें भी मिलेगा। विचार करो, महाभारत काल में मात्र भारत देश में 56 करोड़ यादवों का उल्लेख मिलता है, अन्य समाज भी उस समय थी। क्या वे भूखे मरते थे? नहीं। सभी अपना भाग्य लेकर आते हैं, कोई किसी को नहीं खिलाता। राश्ट्र नेता ध्यान दे, नरसंहार बंद करे, स्वयं भ्रांति का पालन करे एवं जनता से करायें, व्यर्थ की चिंता न करें।

अब्रह्म दोशों की खान है। गुणों का नाशक, पाप का बंधु यानी आपदाओं का संगम है। कुशील व्यक्ति इस लोक में निंदा का पात्र होता ही है एवं परलोक में दुर्गति को प्राप्त करता है। रावण की कथा सभी को मालूम है। सीता का हरण मात्र किया, भील भंग नही, फिर भी रावण का आजतक पुतला जलाया जाता है। नरकगति को प्राप्त तो हुआ ही, किन्तु उसका परिणाम कि उसका नाम भी लेना पसंद नही करते। भ्रातृ के घर में भीख माँग लेना श्रेश्ठ है, परन्तु भील भंग करके साम्राज्य/पद पाना उचित नही है। नीतिकारों ने कहा–उल्लू को दिन में नही दिखता, काक को रात्रि में नही दिखाई देता, पर कामी को न दिन में दिखता है, न रात में। ब्रह्मचर्य से च्युत होने के कारण, दिगम्बराचार्यों द्वारा इस प्रकार कहे गये हैं–1. स्त्री संसर्ग, 2. सरसहार, 3. सुगंध संस्कार, 4. कोमल भौयासन, 5. भारीर भंडन, 6. गीत वादिव श्रवण, 7. अर्थग्रहण, 8. कुशील संसर्ग, 9. राजसेवा,10. रात्रि संचरण, ये दस अब्रह्म के कारण हैं। जिन्हें भील की रक्षा करना है, वे इनसे बचें, दूर रहें। कामी व्यक्ति के न विवेक रहता है, न वैभव/मान–सम्मान सब प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं, बल्कि अपने जीवन से भी हाथ धो–बैठता है। अतः जीवन–प्राण ब्रह्मचर्य है, जो कि उभय लोक को सुख देने वाला है। इसे धारण कर चैतन्य का भोग करो, शिवरमणी का वरण कर आत्मिक आनंद भोगो, यहीं जीवन का सार है।

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्मः।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः।।२०५।।

अन्वयार्थः अध्रुवम् = अध्रुव/अनित्य। अशरणम् = अशरण, (कोई किसी का शरण नहीं)। एकत्वम् = एकत्व (अकेलापन)। अन्यता = अन्यत्व (अलग अलग)। अशौचम् = अशुचि (मल मूत्र रूपी अशुध्दि)। आस्रव = आस्रव(कर्मो का आना।) जन्मः= संसार। लोकवृषबोधिसंवरनिर्जरा =



लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, संवर और निर्जरा। एता द्वादशभावनाः = ये बारह भावनायें। सततम् अनुप्रेक्ष्याः =निरन्तर (बार–बार) चिंतवन तथा मनन करनी चाहिए।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भो भव्यात्माओ! आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने अलौकिक सूत्र प्रदान किया है। आत्मा को परमात्मा बनाने का माध्यम संयम के संस्कार हैं। किसी जीव का वध कर देना, इन्द्रिय विषयों को भोग लेना तो महान असंयम है ही, जीव–वध के भाव को लाना, इन्द्रिय विषयों के सेवन के परिणामों का होना भी असंयम है। अहो! चंचल चित्त की निवृत्ति को सुमेरू के समान स्थिर कर देने का नाम संयम है। जिसने अपने मन को डंडे के समान स्थिर कर दिया, उसका नाम मनोदण्ड है। वचनों को जिसने रोक लिया, वह वचन–दण्ड है और शरीर की चंचलता को जिसने रोक लिया, उसका नाम काय–दण्ड है। इन तीन दण्डों से युक्त जो होता है, उसीका नाम त्रिगुप्ति धारक होता है। ऐसी त्रिगुप्ति को जब तक प्राप्त नहीं किया, तब तक आप जितनी भी क्रियाएँ कर रहे हो, ठीक है, अशुभ से बचे हो, लेकिन यथार्थ मोक्षमार्ग तभी प्राप्त होगा जब तीनों गुप्तियाँ तुम्हारे पास विराजमान हो जायेंगी, अन्यथा तीन लोक के स्वामी नहीं बन पाओगे।

भो ज्ञानी! पाँच समितियों के अभाव में संवर भी नहीं होता और जहाँ संवर नहीं है, वहाँ निर्जरा भी मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत नहीं है। पाँच समितियों के बाद आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने दस धर्मों की चर्चा की है। 'समयसार' में आचार्य कुंदकुंद महाराज कह रहे हैं–

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि काममोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलभो विहत्तस्स।।४।।

बात ऐसी है कि तुमने गड्ढा किया है अनादि से और आज तनिक सी मिट्टी से भरना चाहते हो। अरे! उसको भरने के लिए उतना काल तो लगेगा, वस्तु तो लगेगी। आज तक हमने काम, क्रोध, बंध की कथा ही को सुना है, अनुभव किया है और देखा है। इसीलिए मन तुरंत वहीं जाता है, जहाँ से परिचित होता है। अनादि से आप विषयों से परिचित थे। अतः, आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी विषयों से अपरिचित नहीं करा रहे, लेकिन कुछ दूसरे लोगों से भी परिचय कर लो, क्योंकि जब दूसरे से परिचय करने जाओगे तो उस समय पूर्व का ध्यान तो निश्चित भूलोगे। यदि आपका मन वश में नहीं होता, तो नहीं होने दो, लेकिन स्थान छोड़ दो, व्यक्ति को बदल दो, तो नियम से बदलेंगे। अन्यथा भाव का बदलना कठिन है।

भो ज्ञानी! आप समितियों का पालन कर रहे हो, गुप्ति का पालन कर रहे हो, समिति व गुप्ति के बाद दस धर्म आ रहे हैं। दसों धर्म आपसे कह रहे हैं कि तुम व्यवहारिक–जीवन और पारमार्थिक–जीवन को एकसाथ कैसे जी सकते हो? यदि पारमार्थिक–जीवन प्रारंभ हो जाये, तो व्यवहारिक–जीवन तो अपने आप निर्मल होगा ही। लोग जीवनभर व्यवहारिकता को निर्मल करने के लिए पड़े रहते है; परंतु ध्यान रखना, व्यवहार कभी निर्मल नहीं हो पायेगा। परमार्थ में प्रवेश कर जाओ, तो व्यवहार स्वयंमेव निर्मल हो जायेगा। किसी व्यक्ति को गाली छुड़वाओ तो उसे बुरा लगता है, पर उससे कह देना कि तुम मौन ले लो, मत छोड़ो गाली। जब वह मौन ले लेगा, तब गाली कैसे देगा?



भो ज्ञानी! इन दो कारिकाओं में आचार्य भगवान् ने दस धर्मों तथा बारह भावनाओं का कथन किया। अतः, पहले धर्म का सेवन करो। परंतु जो असेवनीय है उसको तुम सेवन कर रहे और सेवनीय को तुम असेवनीय मानकर बैठे हो। मनीषियो!! जिसे आज तक नहीं भया, उसे तो तुम भाओ और जिसे आज तक तुमने भाया है, उसे मत भाओ। हमने संसार के बढ़ाने के कारणों को भाया है, उसमें हमने अपने चिन्तवन को भी लगाया है। यदि इतना गहरा चिन्तवन कहीं तत्त्व के बारे में कर लिया होता, तो आज आप साधु के रूप में उभर आते। आप में शक्ति तो थी, लेकिन बताओ कितने सफल हुये? हालत यह हुई कि जितना क्षयोपशम मिला था, वह नमक–मिर्च की चिन्ता में खत्म कर दिया। भो ज्ञानी! अपना विकास करना है तो दूसरे की बातों पर ध्यान देना बंद कर देना। अपना कदम आगे बढ़ाते जाओ, अन्यथा विकास का ह्रास हो जायेगा; क्योंकि जहाँ अशुद्धि प्रारंभ हुई, वहाँ सब विकास बंद हो जाता है। व्यक्ति जब अपनी वृत्ति को भूल जाता है तो विकास का ह्रास प्रारंभ हो जाता है। आपके तनाव का अर्थ यही है कि आप अपनी वृत्ति में नहीं हैं। आपमें क्षमा का विकास क्यों नहीं हो रहा हो? क्योंकि आप या तो अपनी सीमा से ऊपर देखते हो या अपनी सीमा से ज्यादा नीचे चले जाते हो, तो गुस्सा आने लगता है, हीनभावना आ जाती है। इस हीनभावना या फिर अभिमान की भावना से आपका क्षमागुण समाप्त हो जाता है। अरे! अंतरंग में कलुषता आने ही नहीं देना? कलुषत नामा की वस्तु का उद्भव ही न होने देना, इसका नाम क्षमा है। वह क्षमा किसी व्यक्ति से माँगी नहीं जायेगी। क्षमा माँगना यानी मैं यह प्रकट कर रहा हूँ कि आप मुझे क्षमा कर दो।

भो ज्ञानी! वास्तव में जो क्षमाशील होता है, वह कभी भी न किसी को क्षमा करने जाता है? न किसी से क्षमा माँगने जाता है, उसका नाम उत्तमक्षमा है। निश्चयनय से आत्मा क्षमास्वभावी है, क्रोधस्वभावी नहीं है, क्षमा माँगने और माँगे जाने की भी बात करनेवाली नहीं है, उसका नाम उत्तमक्षमा है। आप बैठे थे, आपके ऊपर किसी ने चार कर दिया, फिर भी बैठे रहे। यह उत्तम क्षमा है, जो कि शांति, मृदुत्व व ऋजुता से सहित तथा अहंकार की वृत्ति से रहित, मद से रहित, अभिमान स रहित होती है। ध्यान रखना, यदि काषायिकभावों को रोकना चाहते हो तो 'मैं' और 'मेरा' का भाव छोड़ देना। अरे! पद के अहंकार ने ही तो स्वपद खो डाला है। पद के मीठे जहर ने आत्मा की शांति को भंग कर दिया। प्रतिदिन मंदिर आते हो, लेकिन उसी मंदिर में कोई धार्मिक अनुष्ठान हो, तो फिर नहीं आओगे; क्योंकि "हमें किसने बुलाया है?" इससे लगता है कि जीव का अहंकार कितने–कितने स्थानों तक पहुँचता है? भगवान् महावीर स्वामी का समवसरण लगा था। वहाँ पर भी ऐसे जीवन नहीं पहुँच पाये। क्योंकि 'हमें बुलाया नहीं है', ऐसे भी जीव हैं। अनन्तानुबंधी मान के साथ यदि कोई जीव जी रहा होगा तो वह समवसरण में भी नहीं पहुँचा। उसके भाव ही नहीं आते हैं, क्योंकि उसे ये लगता है कि मैं जाऊँगा तो वे पूज्य और अधिक पूज्य हो जायेंगे। ऐसी मानकषाय रहती है। एक छोटा–सा बालक भी अपने पिता से सम्मान चाहता है। उससे कह देना कि लो तुम यह लड्डू खा लो, ो वह मुँह बना लेगा। पहले गोदी में बिठा लो, फिर उसको खिलाओ, तब खायेगा।

भो ज्ञानी आत्माओ! यह धर्म है। संयम स्वीकार करने के बाद यह भाव नहीं आना चाहिए कि मेरा सन्मान नही हो रहा है। क्या आपने विचार किया कि यह संयम हमने समाज द्वारा सन्मान के लिए स्वीकार किया कि आत्मा के सन्मान के लिए? कभी–कभी बहुत आश्चर्य लगता है। किसी ने



दो प्रतिमायें ले लीं और उनको चटाई नहीं डाली। कर्त्तव्य था कि उन्हें चटाई डालना चाहिए, लेकिन नहीं डाली। अब प्रतिमाधारी का कर्त्तव्य है कि चटाई के लिए हमने प्रमि नहीं ली थी। उचित स्थान पर बैठ जाएँ, क्योंकि हम धर्मात्मा हैं। पर उन्होंने बाहर आकर हल्ला किया, बोले–कैसे लोग हैं, व्यवस्था नहीं की। अहो! आपने अभी धर्म के मर्म में प्रवेश नहीं किया। जबकि सभा धर्म की थी, वहाँ तो आपको विचार करना था कि मैं धर्मात्मा हूँ। एक पंडितजी साहब का बम्बई में एक श्रावक के यहाँ भोजन हुआ। उस दिन पंडितजी का नमक का त्याग था और सेठजी के यहाँ ऐसी कोई चीज नहीं बनी, जिसमें नमक न पड़ा हो। यहाँ तक कि दूध की खीर में भी नमक पड़ा था। उन्होंने कहा–आज मेरा तो नमक का त्याग है। अरे! सारे–के–सारे "पंडितजी! हमारे यहाँ अभी भोजन नहीं हुआ। कल आपका निमन्त्रण पुनः है।" इसीलिए ध्यान रखना, यदि कदाचित् आपके सम्मान में कुछ भूल भी हो जाय तो उसकी भूल को भूलरूप में स्वीकार मत करो। उसकी भूल का भी तुम सम्मान कर दो, तो तुम्हारा स्वाभिमान बढ़ जायेगा। यही समय होता है हमारी सहजता के प्रमाण का। अतः क्षमा, मार्दव, आर्जव धर्म कह रहा है कि सरल बन जाओ, सहज बन जाओ, वक्रता को छोड़ दो। टेढ़े मन के कारण अनेक भव तुम्हारे बिगड़ गये, अब तो सीधे हो जाओ। सर्प कितना ही टेढ़ा चलता हो, लेकिन वाँमी में प्रवेश करते समय वह भी सीध हो जाता है। मनीषियो! सिद्धशिला में प्रवेश भी ऋजुगति से ही होता है। यहाँ तक कि सर्वार्थसिद्धि में जो देव बनता है, वह भी इस गति से ही जाता है। वक्रपरिणाम अर्थात् जिसके परिणाम तिरछे होते हैं, वह तिर्यक–लोक में, नरकों के बिलों में प्रवेश करता है। इसीलिए आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि सरल बन जाओ। शुचिता लाने के लिए संयमधर्म सरल है। संयम में सम्मान के भाव नहीं आना चाहिए। इसीलिए ज्ञानीजीवन धर्म को पालता नहीं है, धर्म में जीता है।

सत्य, वाणी का विषय नही। जीवनशैली सत्यमय हो। साधु को सत्यधर्म पर दृष्टिरखना चाहिये। निर्लोभता ही शौच धर्म है। वाणी एवं इंद्रियों के प्रति अशुभ प्रवृत्ति का निरोध संयमधर्म है। कर्मक्षय के लिये जो साधना की जाती है, वह तपधर्म है। अशुभ भावों का त्याग करना तथा बाहर से शुद्ध निर्लोभ भाव से संयमियों को योग्य द्रव्य का देना त्यागधर्म है। संसार एक स्वप्नवत् है। पर्यायदृष्टि से सभी द्रव्य विनाश को प्राप्त होने वाले है। परपदार्थ लेशमात्र भी मेरे नही हैं। ऐसा विचार कर निजत्व भाव को प्राप्त करना आकिंचन्य धर्म है। ब्रह्मात्मा का स्वसंवेंदन में लीन रहना ही ब्रह्मचर्य धर्म है।



पुरुषार्थ देशना

मुनियों के बाईस परीषह

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम्।। २०६।।

स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री।। २०७।।
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परिषहाः सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन।। २०८।।

अन्वयार्थ :– संक्लेशमुक्तमनसा = संक्लेश–रहित–चित्त वाले और। संक्लेशनिमित्तभीतेन = संक्लेश के निमित्त से (अर्थात् संसार से) भयभीत। (साधु के द्वारा)। सततम् = निरंतर ही। क्षुत् तृष्णा = क्षुधा (भूख),तृषा (प्यास)। हिमम् उष्णं= शीत (ठंड), उष्ण (गर्मी)। नग्नत्वं याचना = नग्नता, प्रार्थना। अरतिः अलाभः = अरति, अलाभ। मशकादीनां दंशः = मच्छरादिकों का काटना। आक्रोशः = क्रोधित होना। व्याधिदुःखम् ङ्गमलम् = रोग का दुःख, शरीर का मल। तृणादीनां स्पर्श। = तृणादिक का स्पर्श,। अज्ञानम् अदर्शनं = अज्ञान, अदर्शन (तत्वों के प्रति अश्रद्ध होना)। तथा प्रज्ञा सत्कार पुरस्कारः = इसी प्रकार प्रज्ञा,सत्कार, पुरस्कार। शय्या चर्या वधः निषद्या = शयन, गमन, वध, बैठना। च स्त्री = और स्त्री। एते द्वाविंशतिः परीषहाः = ये बावीस परीषह। अपि परिषोढव्याः = भी सहन करने योग्य हैं।

।।पुरुषार्थ देशना।।

आचार्य भगवान् अमृतचन्द्रस्वामी ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रंथ में श्रावकों का कथन करने के उपरान्त यति–धर्म की चर्चा की है। जो पूर्व में पंचपरमेष्ठी की शरण में गये हैं, आज उनके समोसरण हैं और जो पूर्व में किसी की शरण में नहीं गये, वे आज दर–दर की ठोकरें खा रहे हैं। गृहस्थों के जीवन में कितने कष्ट हैं, कितनी यातना है, कितनी वेदना है? यति तो मात्र ये बाइस परीषह ही सहन करता है। एक जीव संयम के साथ कष्ट को सहन कर रहा है, कर्मों की निर्जरा कर रहा है। यति जो बाईस परीषह सहन कर रहे हैं, यह हठयोग की साधना नहीं अपितु आत्म–योग की साधना है। कष्टों के आने पर भी कष्टों को कष्ट स्वीकार नहीं करना, बाधाओं के आने पर भी बाध्य नहीं होना, वेदनाओं के आने पर भी विचलित नहीं होना–यह मुमुक्षु की प्रवृत्ति है। एक–एक परीषह वे यति साम्य भाव से सहन करते हैं। यद्यपि करुणाशील तो होते हैं, पर किसी की करुणा के पात्र नहीं होते। वे दयनीय स्थिति में नहीं हैं। निर्ग्रंथ तो हैं, एक धागा भी नहीं है, फिर भी गरीब नहीं। आश्चर्य है कि जिनके पास तन पर वस्त्र हैं, समृद्ध हैं, उन्हें गरीब कहा जाता है और जिसके पास कोई वस्त्र नहीं है, वह अमीरों का अमीर है, जिसके आगे सारे लोक के सम्राट भी शीश झुकाते हैं। इससे ध्वनित होता है



कि बाह्य–वैभव से अमीरी–गरीबी को मापना अज्ञानियों का काम है। अहो ! अन्तरंग के पाप–पुण्य से ही गरीबी और अमीरी का मापदण्ड है। जिसने पूरा वैभव छोड़ा, उसका समवसरण लग गया और जो वैभव को जोड़ रहा है, वह तृण–तृण को तरस रहा है। इसीलिए अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि ऐसा काम करो, जिससे सिलना भी न पड़े, उलझना भी न पड़े और माँगना भी न पड़े तथा माँगने की दृष्टि भी न रहे। मैं समझता हूँ कि जीवन में सबसे सुखमय जीवन किसी का है तो एक साधु, एक यति का है। आपको कम से कम भोजन की चिंताएँ तो होंगी, पर यति को तो भोजन की भी चिंता या विकल्प नहीं है।

भो ज्ञानी! उपसर्ग अचानक आते हैं और परीषह बुद्धिपूर्वक स्वयं सहन किये जाते हैं। किसी देव ने उठाकर सागर में पटक दिया, किसी तिर्यंच ने उपसर्ग कर दिया, किसी मनुष्य ने उपसर्ग कर दिया, अथवा कोई पर्वत आदि की चोटी से पाषाण सिर गिर गया–यह अचेतनकृत उपसर्ग हैं। वे अचानक आते हैं, फिर भी धीर–योगी उनको सहन करते हुए खिन्न नहीं होते हैं। वह परीषह जयी होते हैं। वे स्वयं कष्टों को निमंत्रण देकर स्वयं सहन करते हैं। अन्तर समझना दोनों में। उपसर्ग/परीषह इसीलिए सहन करना चाहिए कि यदि कोई कदाचित उपसर्ग आ गया तो आप संयम से च्युत नहीं होंगे। जिसने परीषह को सहन नहीं किया, वह विषमता के आने पर संयम को छोड़ देगा। इसीलिए परीषह–जयी को ही उपसर्ग–विजेता कहा जाता है। प्रत्येक तीर्थंकर के शासन–काल में दस–दस मुनियों पर घोर उपसर्ग आता है। उस घोर उपसर्ग को सहन करके वे निर्ग्रंथ योगी, सिद्धालय या सर्वार्थ–सिद्धि विमान को प्राप्त होते हैं। इन तीन कारिकाओं में आचार्य भगवान् ने एक साथ परीषहों का कथन किया है।

वह निर्ग्रंथ योगी किस प्रकार से बाईस परीषह को सहन करते हैं। तीव्र क्षुधा सता रही है, फिर भी यति किसी के सामने मन को मलिन करके यह नहीं कहते हैं कि आप मेरे लिए भोजन की व्यवस्था कर दो। "पर घर जाएँ माँगत कछु नाहीं" दूसरे के घर में भी जायेंगे तो ऐसे, जैसे आकाश में विद्युत चमकती है। किसी भी गृह–द्वारे से निकल जाते हैं, लेकिन किसी को संकेत नहीं करते हैं कि मुझे भूख लगी है, आप भोजन दो। महिनों के महिने निकल जायें, फिर भी किसी श्रावक से समझौता इस विषय में नहीं करते। ग्रीष्मकाल की तीव्र तपन में भी पैदल विहार कर रहे हैं। विहार करते–करते दिन–के–दिन बीत गये, कंठ सूख रहा है, फिर भी वे निर्ग्रंथ तपोधन किसी की ओर मलिन मुख करके यह संकेत नहीं करते कि मुझे प्यास लगी है। "हमने किसी के आहार का निरोध किया होगा, इसलिए आज मुझे नहीं मिल रहा है," लेकिन वह किसी को दोष नहीं देंगे। यह तृषा नाम का परीषह है।

शीत इतनी तीव्र है कि वृक्ष भी झुलस गये, चलने में मुश्किल है, फिर भी कभी किसी को संकेत नहीं करते हैं कि आप मुझे कम्बल वस्त्र आदि दे दो; क्योंकि यह निर्ग्रंथ मुद्रा है। उष्ण वायु या शीत लहर चल रही है, वायु के थपेड़े लग रहे हैं, बाहर की उष्णता है, पर अंदर में शुद्धात्म तत्त्व की शीतल समीर बह रही है। फिर भी, ध्यान रखना, परीषह तभी होगा, जब खिन्नता के भाव भी नहीं आयेंगे। भो ज्ञानी आत्माओ! वे निर्ग्रंथ अचल ध्यान में बैठे हैं। नग्नत्व परीषह कह रहा है कि रेशमी, ऊनी, सूती आदि सम्पूर्ण वस्त्रों का उन्होंने नव कोटि से त्याग किया है। कृत, कारित व अनुमोदना से त्याग किया है। शरीर में कहीं फोड़ा भी हो जाये, पीड़ा भी हो जाये, मलहम पट्टी के लिए पट्टी का उपयोग नहीं करते। अर्थात रोग परीषह को सहते हैं। ऐसी निर्ग्रंथों की दशा है। जिसे छोड़ दिया है, उसपर



दृष्टि ही क्यों? यह नग्नत्व परीषह है। यह नग्नत्व परीषह कह रहा है कि तुम्हारी प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक चर्या प्रकट है, कोई छिपाकर नहीं जा सकते हैं। इसीलिए ध्यान रखना, यह दिगम्बर वेष विश्वास का वेष है। कभी किसी से कुछ माँगते नहीं, यह अयाचक वृत्ति योगियों की होती है। माँगना तो मरण समान है, यही सद्गुरु की सीख है। जैन मुनि कभी किसी व्यक्ति के सामने हाथ नहीं जोड़ते कि आप मुझे दे दो। वे याचक कदापि नहीं हैं।

ध्यान रखना, वे यति किसी के द्वारे पर कुछ माँगते नहीं और न ही कभी माँगने के भाव लाते हैं। अपने स्वार्थ के पीछे उनको आप रागी–द्वेषी भूमिका में मत खड़ा कर देना। किसी प्रकार से विकृत पदार्थ के मिलने पर भी द्वेष–भाव नहीं लाना, यह अरति परीषह है। अलाभ यानी चर्या को निकले, विधि ही नहीं मिली, फिर भी मन में खिन्नता नहीं है। ठीक है, नरकों में तो हमको सागरों तक खाने नहीं मिला, यहाँ एक/दो दिन ही तो हुए। यह अलाभ परीषह है। दंशमशक, मच्छर काट रहे हैं, बिच्छू काट रहे हैं, भो ज्ञानी आत्माओ! वे विचार करते हैं कि बंध किया था श्रावक–पर्याय में और उदय में आया यति की पर्याय में। यदि यह श्रावक–पर्याय उदय में आता तो संक्लेशता तीव्र कर लेता। यति–पर्याय में उदय में आया है, तो समता से सहन कर लिया है। ये दंशमशक परीषह कह रहा है कि मच्छर काट रहे हैं, सर्प भी रेंग रहे हैं, फिर भी किसी प्रकार से मन में विकार नहीं लाना। 'आक्रोश' यानी रास्ते में जा रहे थे, किसी ने खोटे शब्दों का प्रयोग कर दिया। 'नग्न' ही तो कह रहा है, नंगा ही तो कह रहा है। नंगे तो हैं ही, अतः किसी प्रकार आक्रोश उत्पन्न नहीं करना। 'व्याधि' यानी शरीर में रोग हो गया, पीड़ा हो गई, ठीक है, आत्मा तो निरोग है। यह पुद्गल का परिणमन है, इसको मैं सँभाल के रखूँगा भी कितना ? यह तो अपने स्वभाव में है। गलन–सड़न, यह तो पुद्गल का धर्म है। ठीक है, इसके माध्यम से रत्नत्रय धर्म की आराधना कर रहा हूँ। मैं इसको खिला भी तो रहा हूँ। जितना संयोग बनता, कर रहा हूँ ,फिर भी नहीं मानता है। तो फिर वे चैतन्य–योगी शरीर को स्वस्थ ही निहारते हैं। व्याधि/दुःख में किसी प्रकार का दुःख नहीं करते। 'मल परीषह', स्नान नहीं करते, अस्नान नाम का मूलगुण है। राग की वृद्धि न हो और पानी से जीव हिंसा होगी, जहाँ बहकर जायेगा वहाँ के जीव मरेंगे। वे निर्ग्रंथ योगी अपने शरीर में दुर्गंध आने पर नाक नहीं सिकोड़ते। कांटे चुभ गये, फिर भी खिन्नता नहीं है। यह चर्या नाम का परीषह है।

भो ज्ञानी! सबसे बड़ा परीषह अज्ञान परीषह है। अहो! गुरुदेव ने अध्ययन कराया, रोज पढ़ाया, फिर भी याद नहीं हो रहा। मुनि–संघ में यतियों के बीच बैठे हैं, किसी ने कह दिया– अरे! तू तो निरा अज्ञानी है। ठीक तो है, ज्ञानी तो केवली–भगवान हैं, मैं तो अज्ञानी ही हूँ। फिर भी कहना कि मैं अपने पुरुषार्थ को नहीं छोड़ूँगा, परंतु खिन्नता भी नहीं लाऊँगा, क्योंकि यही तो तपस्या है। मृदु भाव चल रहा। अहो! शास्त्रों में लिखा है कि तपस्या करने से बड़े–बड़े तंत्रों–मंत्रों की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु मुझे तो पंद्रह वर्ष हो गये, कुछ सिद्ध नहीं हुआ। अरे! ऐसे भाव नहीं लाना, यह अदर्शन नाम का परीषह है। यदि ऐसे भाव आ गये कि "अरे! हमसे अच्छा तो ये मिथ्यादृष्टि है, इतना सब कुछ इनके पास है," तो तुम्हारे सम्यक्त्व में दोष आ गया। प्रज्ञा भी परीषह होता है। विषय का ज्ञान है और आपसे कोई न पूछे तो आप शांत बैठ जाओ, यह बहुत बड़ा परीषह है। मैं इतना बड़ा ज्ञानी, अनेक विद्वानों को शास्त्र आदि में परास्त कर देता हूँ , फिर भी इन लोगों ने नहीं पूछा। अरे! अभी



यह मेरी कीमत समझे नहीं हैं, मैं बहुत बड़ा ज्ञानी हूँ। ऐसा विचार मन में लाना यह प्रज्ञा नाम का परीषह नहीं। ज्ञान के होने पर भी अहं भाव मन में नहीं लाना, यह प्रज्ञा नाम का परीषह है। सत्कारपुरस्कारः– मैं संघ का ज्येष्ठ साधु हूँ , फिर भी इन्होंने मुझे आगे क्यों नहीं किया। सत्कार कह रहा है, पुरस्कार कह रहा है कि मेरा सम्मान क्यों नहीं रखा? मुझे आचार्य बनाना चाहिए था न, मुझे गणधर बनाना चाहिए था न? इत्यादि पदों की अभिलाषा रखना। परंतु, भो ज्ञानी! यह पद मोक्ष के साधन नहीं हैं।

भो ज्ञानी! सभी कालों में सभी परीषह होते हैं, परन्तु एक साथ एक समय में मात्र उन्नीस परीषह होते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के काल में यह परीषह होते हैं। तीर्थंकर जैसे महान योगी भी इन परीषहों को सहन करते हैं। कंकडी–भूमि में, जहाँ स्त्री, पुरुष, नपुंसक, पशु आदि का गमनागमन ना हो, एक करवट से सोना। करवट नहीं बदल रहे और बदलेंगे तो पिच्छी से मार्जन करेंगे, यह शय्यापरीषह है। रास्ते में किसी ने कुछ कह दिया, काँटे कंकड़ चुभ रहे हैं, फिर भी खिन्नता नहीं आई। निषद्या यानी एक–आसन पर बैठे हुये हैं। जंगल में विचरण कर रहे हैं, तब हाव भाव से युक्त, विकारों से भरी नारियाँ निकल पड़ीं, सुन्दर स्वरुप से युक्त, आँखें विलास से भरी, उनके सामने खड़ी हुई हैं, अहो ज्ञानी! फिर भी वो ब्रह्म की ढाल को लिये बैठे हुए हैं, लेश–मात्र भी विकार–दृष्टि नहीं की जा रही। स्त्री परीषह के सहन करने वाले महायोगी हैं। बाईस परीषह सहन करना चाहिये। अब आपकी जैसी सामर्थ्य हो, वैसा करें। क्रम से गुणस्थान बढ़ेगा तो परीषह अपने आप समाप्त हो जाते हैं। अहो! मूलगुणों का पालन करिये। मुनियों के परीषह सहन करना उत्तर–गुण हैं। आचार्यों का परीषह सहना मूलगुण है। मुनि परीषह को सहन नहीं कर पा रहे हैं तो उनके संयम में कोई दोष नहीं है। माना कि ठंड सता रही थी, कमरे में जाकर बैठ गये, परीषह तो गया। ध्यान रखना कि जितनी तुम्हारी सामर्थ्य हो, उतना करो; लेकिन मार्ग यही है। परीषह तो बाईस ही हैं। इतनी साधना तो सहज ही कम दिख रही है, परंतु उपदेश राज–मार्ग का ही होना चाहिए, अपवाद का व्याख्यान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपवाद को तो लोग खोज लेते हैं। पानी इतना पतला होता है कि कहीं न कहीं से रिस ही जाता है। शिथिलाचार तो पतला पानी है, उसका कथन करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए आचार्य भगवान कह रहे हैं कि संसार के क्लेश से भयभीत होकर, संक्लेशता से रहित होकर वे निर्ग्रंथ–योगी बाईस परीषहों को सहन करते हैं।



रत्नत्रय का पालन, श्रावक को एकदेश व मुनि को परिपूर्ण

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता।।२०९।।

अन्वयार्थ : इति एतत् =इस प्रकार पूर्वोक्त। रत्नत्रयम् = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय। विकलम् अपि = एकदेश भी। निरत्ययां मुक्तिम् = अविनाशी मुक्ति को। अभिलषिता =चाहने वाले। गृहस्थेन = गृहस्थ के द्वारा। अनिशं = निरन्तर। प्रतिसमयं = प्रति–समय/हमेशा। परिपालनीयम् = परिपालन करने योग्य है।

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम्।।२१०।।

अन्वयार्थ : च = और (यह विकलरत्नत्रय)। नित्यं = निरन्तर। बद्धोद्यमेन = उद्यम करने में तत्पर ऐसे मोक्षाभिलाषी गृहस्थ द्वारा। बोधिलाभस्य = रत्नत्रय के लाभ के। समयं लब्ध्वा = समय को प्राप्त करके। (तथा।) मुनीनां पदम् = मुनियों के चरण। अवलम्ब्य = अवलम्बन करके। सपदि =शीघ्र ही। परिपूर्णम = परिपूर्ण। कर्त्तव्यं = करने योग्य है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने यतिधर्म का कथन करते हुये कहा है कि जीव इस संसार के संकटों को, शारीरिक विषमता को अथवा किसी भी बाहरी विषमता को, विषमता मानकर संक्लेशता को स्वीकार कर लेता है। वह कर्मों के कंकड़ को नहीं निकाल पाता है। संसार में सुख की कल्पना करना तो वास्तव में अपनी बुद्धि का ओछापन है। संसार में शांति की कल्पना संसार को बदनाम करना है, क्योंकि जिसका जो स्वभाव है उस स्वभाव को आप विभाव कैसे बनाएँगे? संसार का कार्य है अशांति, सांसारिक होने का आशय है अशांति। अहो! आत्मा का सुख निराकुल है और संसार में आकुलता है। निराकुलता जहाँ है, वहाँ आकुलता नहीं है। इसीलिए शिवमार्ग पर लग जाना चाहिए।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि संसार में तुम्हें जितनी शांति महसूस हो, जितना सुख महसूस हो, उसे शांति से स्वीकार करो। परंतु यह ध्यान रखना कि शत्रु के घर में प्रवेश करके सन्मान की कल्पना का मन मत बना लेना, क्योंकि संसार का प्रत्येक क्षण, प्रत्येक परिणति, प्रत्येक अवस्था अशांति है। इस कारिका में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी गृहस्थ–धर्म का कथन करने के उपरांत यति–धर्म का कथन इसलिए कर रहे हैं कि इसमें निराकुलता की हल्की–सी तस्वीर दिख रही है। एक साधक को सामायिक के काल में जो समता परिणाम आते हैं, उससे लगता है कि अनन्त सुख



नाम की भी कोई वस्तु है। पुरुषार्थहीन व्यक्ति ही सबसे बड़ा अशांत है, जबकि उद्यमशील पुरुष परम–शांति की खोज में है। अतः, उद्यम का मार्ग ही मार्ग है। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष यह चार पुरुषार्थ हैं। पुरु यानि श्रेष्ठ। जो श्रेष्ठता से युक्त है, उसका नाम पुरुषार्थ है। अतः, पुरुष के अर्थ की सिद्धि होगी तो पुरुषार्थ से ही होगी और जो भी तुम्हारा भाग्य बन कर आ रहा है, वह भी पुरुषार्थ है। वर्तमान का पुरुषार्थ ही भविष्य के भाग्य के उदय में आता है। जिसे आप कर्मउदय कहते हो, वह भी कर्म से आता है।

भो ज्ञानी! जीव जिसे कर्मउदय कहकर उसके उदय में बिलखता है, लेकिन वास्तव में कर्मउदय कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि कर्म न किया होता, तो कर्म बंध न होता और कर्म बंध न होता, तो कर्म उदय में न आता। इसीलिए रोने और बिलखने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। श्रमण संस्कृति बड़ा सहज दर्शन है। अतः, उद्यम करो। उद्यम किया तो आप लोग यहाँ आ गये और नरक भी जाओगे तो उद्यम करके ही जाओगे। स्वर्ग भी जाओगे तो उद्यम करके जाओगे और सिद्ध बनोगे तो उद्यम करके बनोगे। अहो! ऊधम करने से कुछ नहीं बनोगे। व्यर्थ के ऊधम छोड़ दो कि काललब्धि आ जाएगी तो मोक्ष प्राप्त हो जाएगा। उद्यम करोगे तो काललब्धि निश्चित आएगी। काललब्धि कभी यह नहीं कहती कि काम मुझ पर छोड़ दो। काललब्धि यह कह रही है कि आप उद्यम करो, मैं आपको समय पर फल दे दूँगी। पर काललब्धि का उल्टा अर्थ लगा दिया। काललब्धि पुरुषार्थ नहीं बना रही है। उद्यम तो आपको करना ही पड़ेगा।

भो ज्ञानी! भगवान् कह रहे हैं कि यदि मुक्ति की अभिलाषा है तो एक बात ध्यान रखना, 'समयसार' में लिखा है कि निर्बंध हो जाओ। पर माला फेरने से निर्बंध होनेवाले नहीं हो। "मुक्ति मिल जाए, मुक्ति मिल जाए" ऐसे जप करने से मुक्ति तीन काल में मिलने वाली नहीं है। 'मैं बंधा हूँ–मैं बंधा हूँ' ऐसा कहने से भी निर्बंध नहीं। उसके अभिलाषा मात्र करने से निर्बंध नहीं हो सकते। प्रातः सुनते हो वह मध्यान्ह में विपरीत करते हैं और मध्यान्ह में जो सुना, संध्या को विपरीत किया। यदि मार्ग विपरीत हो, चर्चा समीचीन हो तो आत्म चर्चा से कभी निर्बंधता नहीं होती है। निर्बंधता की प्राप्ति तो बंधनों को छोड़ने से होती है। अर्थात् भावों में कितनी निर्मलता बढ़ रही है, कषाय भाव कितने मंद हुए, कितने मध्यम हुए हैं, कितने जघन्य अंश हुए हैं। ध्यान रखना, एक देश रत्नत्रय परंपरा या मोक्ष का हेतु तो है, लेकिन मोक्ष का साक्षात् हेतु नहीं है। अविरत दशा में कोई जीव अपने आपको साक्षात मोक्षमार्गी मान लेता है, वह जीव वास्तव में स्वयं की वंचना कर रहा है। कभी–कभी लगता तो है कि भगवन्, मैं दूसरों को ठगूँ या न ठगूँ , लेकिन स्वयं वंचना तो चल रही है। अहो किसका क्या होगा ? यह विषय मेरा नहीं। लेकिन मेरा क्या होगा ? यह विषय तो मेरा है।

अब तो धर्म ही शरण है। देखो, समसरण में संपूर्ण प्राणियों को समान शरण है। इस लोक में सर्वत्र रागद्वेष होता है, लेकिन अरहंत के चरणों में कोई रागद्वेष नहीं होगा। यदि समवसरण में बैठकर, अरिहंत के चरणों में भी मेरे अंदर का अरि नहीं हटा, तो भो ज्ञानी! अब अरि भागने वाला नहीं। इसलिए पूज्य बनाने वाला कोई है तो रत्नत्रय धर्म का पुरुषार्थ है। यद्यपि आपने कम पुरुषार्थ नहीं किया, निंगोद से पुरुषार्थ करते–करते आज आप यहाँ तक आ गये। यहाँ आने के बाद ऊपर जाने की दृष्टि रखना, नीचे जाने की दृष्टि मत रखना। अतः, मोक्ष की अभिलाषा से युक्त होकर नित्य ही उद्यमशील



होना चाहिए। समय यानि आत्मा समय यानि रत्नत्रय धर्म, समय यानि आगम, समय यानि समय। जिसने समय को प्राप्त करके यदि समय पर उद्यम कर लिया, तो समयसार हो गया। बीज वही है, भूमि वही है, पर मौसम के निकलने के बाद बोना व्यर्थ हैं। अर्थात रत्नत्रय धर्म तो है, मनुष्य पर्याय भी है, लेकिन आपने समय निकाल दिया। अतः समय को समझने का नाम ही ज्ञान है; समय को स्वीकार लेना ही ज्ञान है। जिसने समय को नहीं स्वीकारा, वह महा अज्ञानी है। इस जीव ने ज्ञान तो अनन्त बार प्राप्त किया है, परंतु रत्नत्रय को अनन्त बार प्राप्त नहीं किया। यदि आपने बोधि को प्राप्त कर लिया होता तो तुम्हें पंचम काल में नहीं आना पड़ता। बोधि के वेश को प्राप्त किया, पर बोधि को प्राप्त नहीं किया। इसीलिए मुनि पद का आलम्बन करके परिपूर्ण कर्त्तव्य करने योग्य मुनियों का ध्यान रखना चाहिये। यहाँ तो आचार्यअमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि मुनिपद शीघ्र स्वीकार कर लो, क्योंकि यह वह मौका कब आएगा ? यदि किसी को यह ज्ञान हो जाए कि मैं तो दो–तीन दिन में समाप्त हो जाऊँगा, तो इतने बड़े महल नहीं बनाता। अहो! अभी तो मैं मकान बना रहा हूँ, फिर मैं इस मकान में रहूँगा, मेरे भी रहेंगे और पुराने मकान मैं भी मैं रहा हूँ, मेरे रहे थे, इसीलिए नहीं छोड़ रहा है। यह तो मेरे दादा–परदादा का मकान है, कैसे छोड़ूँ? अहो! आज जिसे तू दादा कह रहा है, एक दिन वह पड़ोसी था, लड़ कर दोनों खत्म हो गये। देखो संसार की दशा, आज कह रहा है कि मेरे दादाओं की भूमि है। यशस्तिलकचंपु महाकाव्य में उल्लेख आया है कि एक बकरा बार–बार घर की ओर दौड़ रहा है और घर का मालिक डंडा लेकर भगा रहा है, फिर भी घर में घुस गया। जब अवधिज्ञानी यति से पूछा, प्रभु! यह बकरा मुझे क्यों परेशान कर रहा है ? मुनिराज मुस्करा कर बोले, वह तुम्हारा पिता है, जिसने अंगुली पकड़ कर तुमको चलना सिखाया था। आर्तध्यान से मरकर घर में ही बकरी का पुत्र हो गया। अब वह राग बार–बार उमड़ रहा है इसलिए वह बार–बार आता है और तुम बार–बार मार कर भगा देते हो। अहो पिताओ! ऐसा राग मत रखना कि तुम्हारे बेटों को तुम्हारे सामने घास और सानी रखना पड़े। यह राग की महिमा है।

भो ज्ञानी! क्यों ऐसा हुआ? क्योंकि हमारा उद्यम/पुरुषार्थ अप्रशस्त हो गया। वह रत्नत्रय की ओर जाना चाहिए था, लेकिन वह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय रूप हो गया। अतः अब काल लब्धि पर नहीं बैठना, कार्य लब्धि पर बैठना। 'क्षपणा सार, लब्धिसार' ग्रंथ कहता है कि अहो ज्ञानी! अब तुम यह मत कहो कि काल लब्धि आएगी, तुम ऐसा कहो कि कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न मैं करूँगा। और उद्यम भी तीर्थंकर केवली नहीं कराएँगे। निज का उद्यम निज को ही रत्नत्रय पूर्वक करना है और अब समवसरण में नहीं जाना, अब तो समवसरण में आना है। आप समवसरण में कई बार गये हो। विदिशा में तो शीतलनाथ भगवान का समवसरण तो नियम से लगा हुआ है। कल्पना करो, इस भूमि की महिमा तो है कि जिस भूमि पर बार–बार समवसरण लग रहे हों। सब कुछ कर लेना, पर रत्नत्रय धर्म को मत छोड़ना।



जिनेन्द्र की आराधना : मोक्षमहल की कुंजी

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः।।२११।।

अन्वयार्थ : असमग्रं = सम्पूर्ण। रत्नत्रयम् = रत्नत्रय को। भावयतः = भावन करने वाले पुरुष के यः = जो। कर्मबन्धः = शुभकर्म का बंध। अस्ति = है। सः = वह बंध। विपक्षकृतः = विपक्ष–कृत या बंधरागकृत होने से। अवश्यं = अवश्य ही। मोक्षोपायः =मोक्ष का उपाय है। बन्धनोपायः न = बंध का उपाय नहीं है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने इस सूत्र में संकेत दिया कि सम्यक्–पुरुषार्थ सम्यक्–सिद्धि को प्रदान कराता है। जहाँ पुरुषार्थ है, वहाँ पुरुष है और पुरुष का अर्थ ही पुरुषार्थ से बना है। अतः जो श्रेष्ठ कार्य करता हो, वही पौरूष है। अश्रेष्ठ, असमीचीन कार्यों में प्रवृत्ति जा रही हो तो समझ लेना कि मेरा पुरुष नष्ट हो गया, मनीषियों! जिस जीव का पुण्य क्षीण हो जाता है उसके विचार भी विनशने लगते हैं। अच्छी बात भी उसे विपरीत नजर आती है, असंयम की बात में उसे आनंद आता है और संयम की बात उसे शूल सी चुभती है। ज्ञानियों की बात को ध्यान से सुनने का विचार भी पुण्य से ही मिलता है।

भो ज्ञानी! पुरुषार्थ–सिद्धयुपाय ग्रंथ में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं–रत्नत्रय को भजो तो नियम से रत्नत्रय प्राप्त हो जायेगा। भजो यानि भावना करो। उस रत्नत्रय का फल बोधि होगा और बोधि के फल से समाधि होगी, उस समाधि का फल परमेश्वर–पद होगा। परम्–पारिणामिक भाव का जो ईश्वर होता है उसी का नाम परमेश्वर है। हमारे आगम में ईश्वर की वंदना नहीं, परमेश्वर की वंदना है। ईश तो आप भी हो। जिस संस्था का जो स्वामी हो, वह उसका ईश हो गया। घर का मुखिया घर का ईश, लोक का मुखिया लोकईश। स्वर्ग में लोकपाल होते हैं, आपके प्रदेश में राज्यपाल होते हैं। ध्यान रखना, इन सबसे परे कोई होता है तो परम–पारणामिक भाव होता है। उस परम–पारिणामिक भाव का जो स्वामी होता है वह सिद्ध परमेश्वर होता है, क्योंकि पूर्णता तो पूर्ण रूप से सिद्धों में ही है। अरिहंतों में अभी चार कर्म अवशेष हैं। अरिहंत–देव जिनकी आप पूजा कर रहे हो, वे परमेश्वर तो हैं, लेकिन परम–परमेश्वर नहीं हैं। भो मुमुक्षु आत्माओ! एक सौ अड़तालीस दुष्कर्मों की संगति में तुम तल्लीन हो, फिर भी तुम भूल को भूल नहीं मान रहे हो, यही सबसे बड़ी भूल है। यदि भूल को भूल मान लेता तो कम से कम भगवान के नजदीक तो आ जाता। भूल में ही फूल रहा है। हे प्रभु ! आपके समवशरण में मैं आया हूँ, इसीलिए आज मुझे संपत्ति की प्राप्ति हो जाए। अहो मुमुक्षु! तूने



पूर्व में भूल की थी सो पंचम काल तक भटक रहा है और आज भी परमेश्वर के चरणों में संसार माँगने आ गया तो और बड़ी भूल कर गया।

भो ज्ञानी आत्माओ! एक दिन मैं देख रहा था अरिहंत विहार कालोनी में। एक कौए के बच्चे की चोंच में उसकी माँ अपनी चोंच फंसाकर चुगा दे देती है। अपनी माँ के मुख के भोजन को कौए का बच्चा कब तक खाता है? जब तक उससे चुगते नहीं बनता। अहो मुमुक्षु आत्माओ! इन काले कर्मों का चुनाव तुम कब तक करोगे? पक्षी के बच्चे से चुगते नहीं बनता, इसीलिए माँ के मुख का वमन खाता है। अब तुम तो बच्चे नहीं बचे, अब तो तुम्हारे पास भेद विज्ञान और ज्ञान ने जन्म ले लिया है। अब तो तुम स्वयं चुनना सीख गये हो। अतः तुम वही चुनो जो चुनने लायक होता है। अब वह नहीं चुनो जो आज तक चुना है। जिन कर्मों को तुमने अनादि से चुना, उन कर्मों ने तुझे बार-बार सताया और अब भी तुम उन्हीं कर्मों को चुनने में लगे हो। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं-अब रतनत्रय को चुन लो।

भो ज्ञानी! एक सज्जन ने घर में से मरा चूहा उठा कर फैंक दिया। उनके मन ने कहा कि आज अभिषेक नहीं करना। दूसरे सज्जन बोले--क्या हुआ? यह तो सामान्य बात होती है। देखना, जिन्होंने अभिषेक नहीं किया, उन्होंने श्रेष्ठ किया। घर में पंचेन्द्रिय जीव पड़ा था उसे अपने हाथ से उठा कर फेंक दिया, इसलिए अभिषेक नहीं किया, ठीक किया, क्योंकि परिणाम कलुषित थे। अरे! कोई व्यक्ति मृतक को छूकर इस फर्श को छू ले और फिर आप उस पर बैठकर अभिषेक कर लोगे? टेन्ट हाऊस से जितने कपड़े आ रहे हैं, फर्श आ रहे हैं, इन पर झाड़ू कौन लगाता है? अब विवेक से सोचना। पंचम काल में मंदिर और प्रतिष्ठाएँ, पूजाएँ बढ़ी हैं। पहले एक स्तोत्र से कुष्ठ निकल गया, परंतु अब आपकी फुंसियाँ ठीक नहीं हो पा रही हैं। क्या बात है? स्तोत्र वही है, लेकिन भावना वैसी नहीं है। तीर्थंकर देव के पुण्य का प्रताप आज भी है, आज भी जहाँ भगवान की आराधना प्रारंभ हो जाती है वहाँ भक्त अपने आप पहुँच जाते हैं। अतः, स्पष्ट समझना कि पंचम काल में भी आज धर्ममय भावना है और आगे भी रहेगी। किसी एक जीव ने कह दिया था कि मुनिराज तो कुष्ठ से ग्रसित हैं। लेकिन अपने भगवान् के बारे में कोई कुछ सुन नहीं सकता है। अतः एक सेठ सम्राट के सामने बोल पड़ा-राजन्! मेरे मुनिराज की तो कंचन-जैसी स्वर्णमयी काया चमक रही है। कौन कहता है कि उनको कुष्ठ है? सुबह दर्शन कर लेना। भक्ति की भावना तो देखो, उसको मालूम ही नहीं था कि मुनिराज नगर में हैं और उनके शरीर में कुष्ठ हो गया है। परन्तु धर्म पत्नी के मुख से यह सुनने पर वह विह्वल हो गया। वह दौड़कर पहुँचता है, विनती करता है-हे प्रभु! मुझे मालूम है कि आप इस देह के ममत्व से परे हो, विनिर्युक्त हो, असंयुक्त हो, लेकिन मुझे विश्वास है कि आप तीव्र ममत्वशाली हो। यह शब्द सुनते ही आचार्य वादिराज स्वामी सोचने लगे-यह क्या कह रहे हैं ? वह पुनः बोला-प्रभु! आपको संसार के भोगों के प्रति निर्ममत्व-- भाव है, लेकिन वीतराग शासन की प्रभावना में तीव्र ममत्व--भाव है।

भो ज्ञानी! जिसको वीतराग जिनेन्द्र के शासन में ममत्व नहीं, उसे सम्यक्दृष्टि भूल से भी मत कह देना। शरीर की श्वासें निकल जाएँ लेकिन, हे प्रभु! आपके प्रति मेरी श्रद्धा की श्वासें बाहर न



निकलें, इसका नाम सम्यक्दृष्टि है। भक्त कहने लगा–भगवन्। राज्य–सभा में मैंने कह दिया है कि मेरे मुनिराज तो कंचन सी/स्वर्णमयी काया से चमकते हैं। प्रभु! इस लोक में मेरा कोई है, तो एक आप ही हैं। हे नाथ! जब आप गर्भ में आये थे तो सारी वसुधा स्वर्णमयी हो गई थी। आपका जन्म हुआ तो नरक के नारकी को भी शांति की सांस मिली। जब यह भूमि स्वर्णमयी हो सकती है तो, हे प्रभु ! यह देह स्वर्णमयी कैसे नहीं हो सकती है ? अकाट्य विश्वास था। मुनिराज बोले–आप विश्वास रखो, सम्पूर्ण रोग यहाँ से पलायन हो जाएँगे। अहो! देखते ही देखते कुष्ठ ऐसे चला गया जैसे गर्म तवे पर पानी की बूँद। प्रातःकाल दर्शन–वंदना के लिए सम्राट स्वयं पहुँच गये और जैसे ही रत्नत्रय से मंडित वीतरागी संत का शरीर राजा ने देखा तो राजा की आँखें श्रद्धा से भर गईं। राजा कहने लगा–जिनको संसार में सत्तर कोड़ा–कोड़ी सागर भटकने की फुरसत हो, वह धर्म और धर्मात्मा की खुलकर अवहेलना करें, अन्यथा सिर झुकाकर नमोस्तु कर लें।

भो ज्ञानी! जो निकांक्षित भाव से भगवान जिनेन्द्र का स्तवन करता है, उसके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। आप विश्वास रखना, श्रद्धा को खोखली मत कर देना, दुनियाँ में नहीं भटकना। परमेष्ठी की शरण में चले जाओ। यह तो छोटा सा रोग था, जन्म, जरा, मृत्यु जैसे त्रिरोग भी जिनेन्द्र देव की आराधना से नष्ट हो जाते हैं। उसके लिये आपको तीन गोलियों की चर्चा आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कर रहे हैं कि–भगवंत आत्माओ! अपनी श्रद्धा की पहली गोली को पूर्ण सुरक्षित रखना, यह आस्था की पहली औषधि है। दूसरी सम्यक्ज्ञान और तीसरी सम्यक्चारित्र की गोली से तीनों रोग देखते ही देखते पलायन कर जाएँगे।

भो ज्ञानी! आचार्य वादिराज स्वामी ने 'एकीभाव स्तोत्र' में स्पष्ट लिखा है कि घनघोर तपस्या कर लो, घनघोर साधना कर लो, लेकिन ध्यान रखो, ताला तभी खुलेगा जब चाबी हाथ में आयेगी। मोक्ष भवन में मोह का ताला पड़ा हुआ है। प्रभु–भक्तिरूपी सुंदर कुंजी को जब घुमाया जाता है, तो मोक्ष महल का ताला खुल जाता है और यह आत्मा सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जाती है। इसलिए भक्ति की कुँजी को खो मत देना, अन्यथा द्वार पर भी पहुँच जाओगे तो भी प्रवेश नहीं मिलेगा। अनेक जीव सिद्धों के द्वार के पास पहुँच गये, लेकिन सिद्ध नहीं बन सके, क्योंकि उनके पास चाबी नहीं थी। अहो! निगोदिया बनकर कितनी बार सिद्धशिला पर पहुँच चुके हो? इसीलिए, भक्ति तुम्हारे पास नहीं होगी, तो शिवकन्या तुम्हें वरण करने वाली नहीं है। यहाँ आचार्य भगवान् कह रहे हैं–अहो श्रावको! महाव्रती नहीं तो अणुव्रती ही बन जाना, असंयमी पर्याय श्रेष्ठ नहीं। अतः घर में रह कर श्रावक के बारह व्रतों का पालन अवश्य करो। इतने भाव नहीं आये, तो सिद्धांत कह रहा है कि समझ लो आपकी दशा कोई दूसरी हो चुकी है, क्योंकि नरक, तिर्यंच और मनुष्य आयु का बंधक देशव्रती भी नहीं बन सकता।

चतारिविं खेत्ताइं आउगबंधेण होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।। 653।। गो. (जी.का.)

भो ज्ञानी! सम्यक्दृष्टि जीव कह रहा है कि आराधना कर्मबंध का हेतु तो है, लेकिन वह शुभ–कर्मबंध का हेतु है, अशुभ–कर्मबंध का हेतु नहीं है। पर यह बंध, बंध नहीं है, नियम से निर्बंध



का हेतु है। जो कहते हैं कि शुभ मत करो, पूजा पाठ छोड़ दो, यह शुभ की क्रिया है, अहो ज्ञानियो! पहले अशुभ की क्रिया तो छोड़ो। वह शुभ क्रियाएँ तो परंपरा से मोक्ष का हेतु हैं, पर अशुभ क्रियाएँ नियम से संसार का ही हेतु हैं। यह कारिका कह रही है कि एकदेश रत्नत्रय भी मोक्ष का ही उपाय है। अहो ज्ञानियो! तुम संसार में अशुभ में पड़े–पड़े रो लोगे तो कम से कम शुभ में लग जाओ। यह शुभ क्रिया चल रही है। आश्चर्य तो यह होता है कि करते तो तुम शुभ हो, पर तुम उसे कहते अशुभ हो, यानि कि शुभ करके भी तुम अशुभ कर्म–बंध कर रहे हो। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी लिख रहे हैं–उन जीवों पर और करुणा कर लेना जो शुभ करते–करते पाप में लिप्त हो रहे हैं। अहो! रत्नत्रय की साधना, धर्म की आराधना, मुमुक्षु जीव मोक्ष के लिए ही करता है, संसार के लिये नहीं। अशुभ–क्रिया नरक का हेतु है, पर सम्यक्दृष्टि जीव की शुभ क्रिया परंपरा से मोक्ष का ही हेतु है। इस प्रकार से समझना।





जितने अंश में राग, उतने अंश में बंध

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।२१२।।

अन्वयार्थ : अस्य येनांशेन सुदृष्टिः = इस आत्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन है। तेन अंशेन = उतने अंश में। बन्धनं नास्ति = बन्ध नहीं है। तु येन अंशेन = तथा जितने अंश में। अस्य रागः = इसके राग है। तेन अंशेन = उस अंश में। बंधनं भवति = बन्ध होता है।

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।२१३।।

अन्वयार्थः येन अंशेन अस्य ज्ञानं = जितने अंश में इसके ज्ञान है। तेन अंशेन बन्धनं नास्ति = उस अंश से बन्ध नहीं। तु येन अंशेन रागः = और जितने अंश से राग है। तेन अंशेन = उस अंश से। अस्य बन्धनं भवति = इसके बन्ध होता है।

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।। २१४।।

अन्वयार्थ : येन अंशेन अस्य चरित्रं = जितने अंश में इसके चारित्र है। तेन अंशेन बन्धनं नास्ति = उस अंश से बन्ध नहीं है। तु येन अंशेन रागः = तथा जितने अंश से राग है। तेन अंशेन = उस अंश से। अस्य बन्धनं भवति = इसके बन्ध होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

भव्य बंधुओ! अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की पावन पीयूष देशना जन–जन की कल्याणी है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने अलौकिक सूत्र दिया है कि सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से निर्बंधता की प्राप्ति होती है। संसार में आत्मा को परमात्मा बनाने वाले जीव बिरले हैं, लेकिन आत्मा को संसार में रुलाने वाले हेतु अनंत हैं। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी बहुत सहज कथन कर रहे हैं कि निज पर दृष्टिपात करो, निज पर करुणादृष्टि डालो। आज तक आपने अपने आप को बिगाड़ा है। एक कुंभकार भी घट सम्हल–सम्हल कर बनाता है। मनीषियो! संसार की रचना भी जड़ से है, भोगों की सामग्री भी जड़ है और शरीर जड़ का पुतला ही है। इन तीन से बचने का उपाय तीन ही है–सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र। संसार के अखाड़े में आप कूदे हो और राग–द्वेष की लिप्तता आपके शरीर में है। यदि आप उस पर चलोगे तो कर्म की मिट्टी तो चिपकेगी ही। आवश्यकता है कि धूल में कूदने के पहले शरीर के तेल को पोंछ लो। 'समयसार' जी में बड़ा सुन्दर कथन है कि कितना ही खेल खेलें, पर जिसके शरीर में तेल नहीं होता है, वह कभी मिट्टी से लिप्त नहीं होता।'नियमसार'



जी में भी कथन है कि जहाँ इच्छा है, वहाँ बंध है और जहाँ आकांक्षा है, वहाँ बंध हैं। केवलीभगवान् देशना भी दे रहे हैं, विहार भी कर रहे हैं, फिर भी बंध नहीं है, क्योंकि आकांक्षा उनकी समाप्त हो चुकी है।अतः यदि निर्बंध होना चाहते हो तो आज से आकांक्षा छोड़ दो।

भो ज्ञानी! ऐसा भी होता है कि जिनवाणी सुनने वाला भी मोक्षमार्गी नहीं हो सकता और जिनवाणी न सुनने वाला भी मोक्षमार्गी हो सकता है। एक जीव ज्ञान मात्र के लिए अथवा प्रज्ञा के लिए सुन रहा है। प्रज्ञा सम्यक्ज्ञान नहीं है, क्षयोपशम सम्यक्ज्ञान नहीं है, वस्तु के यथार्थ श्रद्धान के साथ जो ज्ञान है, उसका नाम सम्यक्ज्ञान है, समीचीन ज्ञान है। ध्यान रखना, संस्कार कभी खाली नहीं जाते। आपका शरीर भले ही साधना नहीं कर रहा हो, पर आप साधना और साधकों को देखते रहो तो विश्वास करना, अगला भव तुम्हारा सच्चे–साधु के रूप में प्रशस्त होगा। अहो! पति ने सामायिक की प्रतिज्ञा की कि जब तक दीप जलेगा तब तक सामायिक चलेगी। पर पत्नी ने सोचा कि दीप बुझ गया तो पतिदेव को अंधेरे में बैठना पड़ेगा। इधर उसकी भावना भी प्रशस्त थी, उधर व्यथा सताती है। यहाँ दीपक बुझ नहीं रहा है, परंतु आयुकर्म का दीप बुझ गया। भले ही वह तृषा की पीड़ा से जल में मेढ़क हो गया, परंतु सिद्धांत कह रहा है कि संस्कार छूटते नहीं हैं। अशुभ संस्कार भी नहीं छूटते, शुभ संस्कार भी नहीं छूटते, निश्चित ही काम में आते हैं।

भो ज्ञानी! राजा श्रेणिक के द्वारा कराई गई भेरी की आवाज सुनकर वह मेंढक सोचने लगा कि मैं भी प्रभु की आराधना करूँ। आचार्य कुमुदचन्द्र स्वामी लिखते हैं–हे नाथ! जैसे मेघ की गर्जना सुनकर मयूर नाच उठते हैं, वैसे ही आपकी भक्ति की आवाज को सुनकर मेरा मनमयूर नाच उठा है। प्रभु! विषधर भले ही चंदन के वृक्ष से लिपटे हुए हों अथवा जटिल बंधन से बंधे हों, लेकिन मयूर की आवाज सुनकर वे सांप बंधन तोड़कर भाग जाते हैं। हे देवाधिदेव! हे अर्हन्त देव! आपकी भक्ति की आवाज को सुनकर कर्मरूपी भुजंग इस आत्मारूपी चंदन को छोड़ कर भाग जाते हैं। इसलिए ध्यान रखना, भक्ति से कभी अधूरे मत रहना। जब तक भगवान् नहीं बन रहे हो, तब तक भक्ति तुम्हारे हाथ में है। ध्यान रखना, सच्ची भक्ति ही सम्यक्दर्शन है। पर सच्ची भक्ति तभी होती है, जब श्रद्धा होती है और श्रद्धा तभी होती है, जब हमारा श्रद्धेय परम्–आराध्य होता है। परम्–आराध्य पर श्रद्धा उसी की होती है, जिसकी कषाय और कर्म की प्रकृतियों का उपशमन होता है। बिना सप्त प्रकृतियों के क्षय और क्षयोपशम के सम्यक्त्व नहीं होता।

अहो ज्ञानी! श्रद्धा तब होती है, जब श्रद्धेय तनिक दिख जाएँ। जिनवाणी माँ कह रही है कि तुम्हारे आत्म–कूप में श्रद्धा का नीर है कि नहीं? उसमें भगवत्–भक्ति के कंकड़ को डालकर देख लो तो आवाज आ जाएगी कि पानी है कि नहीं। यदि पानी नहीं है, तो आवाज नहीं आएगी। जिनवाणी, जिनेन्द्र, निर्ग्रंथ गुरुओं के चरणों में जिसकी श्रद्धा होती है, उसके मुख से नियम से आवाज आएगी ही–नमोस्तु! नमोस्तु! जैसे सूखे कुएँ में कितने ही पत्थर डालो, पता नहीं चलता है, ऐसे ही श्रद्धा से अंधे, श्रद्धा से विहीन जीवों के सामने साक्षात् तीर्थंकरदेव भी विराजमान हो जाएँ, तो उनके हृदय में कभी श्रद्धा झलकेगी नहीं।

भो ज्ञानी! भक्ति प्रकट कर रही है सम्यक्त्व को और सम्यक्दर्शन प्रकट कर रहा है रत्नत्रयधर्म को। बेचारे मेंढक की तिर्यंच–पर्याय थी, इसलिए कमल की पंखुड़ी को मुख में दबाकर चल दिया।



परंतु पहुँच भी नहीं पाया कि गजराज के पगतले मृत्यु हो गयी। लेकिन राजा श्रेणिक के पहले ही वह मेंढक देव बनकर समवसरण में पहुँच गया। राजा श्रेणिक ने पूछा–हे अर्हन्तदेव! आज तक मैंने देवों के मुकुट में मेंढक का चिह्न अंकित नहीं देखा। बैल, स्वस्तिक और मयूर के चिह्न तो देखे, मगर इन देव के मुकुट में मेंढक का चिह्न अंकित क्यों है? भगवान् की वाणी खिरी– हे श्रेणिक! इसे तुम देव मत कहो। आप जब समवसरण की ओर आ रहे थे और नगर में सूचना की थी, तो एक मेंढक भी आ रहा था। अंतरंग में तीव्र भक्ति की भावना थी, लेकिन पर्याय का दोष कि तुम्हारे गजराज के पगतले उसकी मृत्यु हो गयी। लेकिन शुभ परिणामों से मरण के कारण वह देव हो गया और अन्तर मुहूर्त में ही समवशरण में आकर खड़ा हो गया। अहो! राजा श्रेणिक को यहाँ तीव्र अर्हन्त भक्ति प्रकट हो गयी। यह सत्य है कि दूसरे की वाणी के माध्यम से अपने भाव भी निर्मल होते हैं।

भो ज्ञानी! मृत्यु से नहीं डरना, यही साधक की साधना है और मृत्यु का बोध हो जाए, इसी का नाम है सल्लेखना तथा रत्नत्रय में लीन हो जाना, इसी का नाम है समाधि। जन्म माँ के साथ हो सकता है, लेकिन आवश्यक नहीं कि मृत्यु के समय माँ बैठी हो। जन्म देने वाली माँ जन्म के समय तेरे ऊपर हाथ फेर देगी, लेकिन ध्यान रखो, मृत्यु के समय एकमात्र जिनवाणी माँ ही हाथ फेरेगी। मनीषियो! ध्यान रखो, आचार्य जिनसेन स्वामी ने 'महापुराण' में त्रेपन क्रियाओं का उल्लेख किया है, उसमें त्रेपनवीं क्रिया निर्वाण की है। अतः सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्ष के हेतु हैं इनसे बंध नहीं होता है। बंध तो राग से होता है।

मनीषियो! आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि किसी पर करुणा करो या न करो, पर निज पर तो करुणा कर लेना। यदि कहीं विपरीत श्रद्धान हो गया तो तीर्थंकर महावीर स्वामी से पूछ लेना कि, प्रभु! तीर्थंकर होने के पूर्व आपको भी कितने भव भटकना पड़ा? एक क्षण के विपरीत श्रद्धान से भी कभी संयम, ज्ञान, चारित्र को जड़ की क्रिया कहकर झूठा मत कह देना। अहो! जितने अंश में सम्यक्त्व है, उतने अंश में किंचित मात्र भी बंध नहीं है, क्योंकि श्रद्धा बंध का हेतु नहीं है। श्रद्धा में जो शुभ–उपयोग है, वह आपके पुण्य–आस्रव व बंध का हेतु है। जितने अंश में राग है, उतने अंश में बंध होता है। 'समयसार जी' में आचार्य कुंदकुंद स्वामी कह रहे हैं कि राग ही कर्म का बंध करा रहा है। हे जीव ! छूटना चाहता है तो विरागता की संपत्ति को स्वीकार करो, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। अतः जितने अंश में ज्ञान है, उतने अंश में बंध नहीं है; परंतु जितने अंश में राग है, उतने अंश में नियम से बंध है। चारित्र को बंध का हेतु किसी भी जिनागम में नहीं लिखा। चरित्र और चारित्र, इन दोनों शब्दों का अर्थ अलग होता है। चरित्र यानि किसी व्यक्ति का जीवन परिचय और चारित्र यानि संयम। जिसका चारित्र निर्मल है, जितने अंश में संयम है, उतने अंश में बंध नहीं है। इसलिए सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की ओर बढो। राग छोड़ो, वीतरागता को अपनाओ।



बंध के हेतु कषाय और योग

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च।।२१५।।

अन्वयार्थ : प्रदेशबन्धः= प्रदेशबन्ध (योग से होने वाले बन्ध का प्रचार)। योगात् तु =मन, वचन, काय के व्यापार से तथा। स्थितिबन्धः = स्थिति बन्ध (कषायों से होनेवाला बन्ध)। कषायात् = क्रोधादिक कषायों से। भवति =होता है। दर्शनबोधचरित्रं = सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय। न योगरूपं =न तो योगरूप है। च कषायरूपं = और न कषायरूप ही है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी ने ग्रंथराज 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय" में अलौकिक सूत्र प्रदान किये हैं। यह जीव एक बार मनुष्य भाव को प्राप्त कर लेता है तो अनंत बार मनुष्य वेश को प्राप्त नहीं करता। जो मानवता से भरा है, चारित्र से भरा है, श्रद्धा से भरा है, ज्ञान से भरा है, उसका नाम मुनष्य है। एकांत से दर्शन मोक्ष नहीं, एकांत से ज्ञान मोक्ष नहीं, एकांत से चारित्र मोक्ष नहीं। तीनों की एकता का नाम मोक्षमार्ग है। बहुत निर्मल दृष्टि करके समझना है। जिस दिन अनेकांत समझ में आ गया, उस दिन रत्नत्रय शब्द भी नहीं कहना पड़ेगा। एकांत की श्रद्धा का नाम मिथ्यादर्शन है, एकांत का ज्ञान मिथ्याज्ञान है, एकांत का चारित्र मिथ्याचारित्र है। जहाँ श्रद्धा है, वहाँ विश्वास। जहाँ श्रद्धा समाप्त हो जाती है, वहाँ विश्वास पलायन कर जाता है। वर्द्धमान महावीर स्वामी से पूछ लेना आपको विश्व पर विश्वास हो या न हो, लेकिन विश्व को आप पर विश्वास है; क्योंकि आपने विश्वविजय नहीं की, आपने तो निज की आत्मा पर विजय प्राप्त की है। अहो! विश्वास का पात्र विश्वविजयी नहीं बन पाता, विश्वास का पात्र आत्मजयी ही बनता है।

भो ज्ञानी! राम ने बँटवारा नहीं माँगा, उन्होंने तो बड़े हिसाब से काम किया। यदि हिस्सा माँग लेते, तो राम अवधपुरी के किसी कोने मात्र के राजा होते, क्योंकि बँटवारे में तो कोना ही मिलता है। एक कोना लक्ष्मण के हाथ में होता, तो दूसरा कोना भरत के हाथ में, तीसरा कोना शत्रुघ्न के हाथ में और चौथा कोना राम के हाथ में होता। पिताजी भी तो कुछ हिस्सा माँग लेते। तो विश्व के राज्यों में राम का राज्य नहीं होता, एक कोने में नाम होता। राम ने राज्य नहीं माँगा तो आज विश्व के कोने-कोने में राम का राज्य है; क्योंकि उन्होंने कह दिया था—हे जनक! हे जननी! प्राण श्रेष्ठ नहीं, प्रण श्रेष्ठ है। यदि राम प्रण छोड़ देते, तो दशरथ के राम तो बने रहते, पर मर्यादा— पुरुषोत्तम नहीं कहलाते। राम यदि यह सोचते कि माँ कैकई मेरे राज्य को छीन रही है, तो आप ही बताओ, क्या भाव आते? राम ने अनेकांत से सोचा कि माँ कैकई मेरे राज्य को कहाँ छीन रही है? अहो! मेरे



छोटे भैया को राजा बनाना चाह रही है, यह तो बहुत अच्छा होगा। यदि मैं अयोध्या में रहूँगा तो बड़े होने के कारण लोग मेरी ओर देखेंगे, मेरे भैया को राजा नहीं मान पाएँगे। अतः वह स्वतः जंगल चले गए। अनेकांत की दृष्टि को देखना, परिणाम खराब नहीं हुए। यहाँ भरत की दृष्टि को देखना। यदि आप होते तो मुस्करा जाते कि मेरी माँ ने बहुत अच्छा किया कि मेरे लिए राज्य माँग लिया। भरत कह रहे हैं– मैं अपने भैया को बुलाने जा रहा हूँ। अहो माँ! तुमने राज्य माँग लिया। भरत को राज्य भी मिल गया, लेकिन ध्यान रखो, राम का प्रबल पुण्य का योग था कि जंगल में भी वह राजा बनकर ही रहे। इसीलिए, जीवन में यह ध्यान रखना कि मेरे पुण्य का साम्राज्य खाली न होने पाए, उसके लिए एक कटोरा आपको लेकर ही चलना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! आज लोक में, घर में, परिवार में जो विवाद होते हैं, मात्र अनेकांत दृष्टि के अभाव में ही होते हैं। जिस दिन अनेकांत दृष्टि आ जायेगी, उस दिन आप किसी को कभी अँगुली नहीं दिखाओगे। जब तुम को अंहकार आने लग जाये कि मैं बहुत–बहुत श्रेष्ठ हूँ, उस समय भगवान् को देखना और जब तुमको यह लगे कि मैं बहुत हीन हूँ, हीन भावना में चले जाओ, तो सुबह से उस कुत्ता को देख लेना, जिसके कान से रक्त बह रहा है। जब तुम यह समझने लग जाओ कि मैं बहुत ज्ञानी हूँ, तो अपने से ऊँचे विद्वानों को देखना और जब तुम यह समझने लग जाओ कि मैं बहुत अज्ञानी हूँ, तो एक अल्पधी जीव को देख लेना। बताओ तुम्हारी दृष्टि कहाँ जाएगी? आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं–शत्रु से भयभीत मत होना, मित्र मे भयभीत मत होना, भो ज्ञानी! उन परिणामों से भयभीत हो जाओ, जिन परिणामों से मित्र तुम्हारा शत्रु बन गया। इसी का नाम सम्यक्दर्शन है, जो किसी जीव को शत्रु न बनने दे, किसी जीव को दोषी न बनने दे। पर यह ध्यान रखना, परिणाम तुम्हारे ऋजु रहेंगे तो कोई आपको शत्रु की दृष्टि से नहीं देखेगा। इसीलिए तीर्थभूमि में, पुण्य भूमि में आकर इतना ही कह देना–प्रभु! मुझे कुछ नहीं चाहिए, आपके दोनों चरण कमल चाहिए। हे जिनदेव! आपके दोनों चरणकमल मेरे हृदय में विराजें और मेरा हृदय आपके चरणों में विराजे। बस योग और उपयोग को सँभाल लेना, यही मोक्षमार्ग है।

मनीषियो! दो–सौ–पंद्रहवीं कारिका में पूरे जैनदर्शन के सिद्धांत को भर दिया है कि श्रद्धा से कर्मबंध नहीं होता, ज्ञान से कर्मबंध नहीं होता है, आचरण से कर्मबंध नहीं होता। योगों से तो प्रदेशबंध होता है। अतः मन, वचन काय की कुटिल प्रवृत्ति जहाँ होगी, वहीं पाप है। चाहे आप पाप करो या न करो, पर कुटिल–परिणति जहाँ बनी, वहाँ निश्चित ही बंध है और जहाँ कषाय परिणाम हुए, क्रोध–मान–माया–लोभपरिणति जहाँ बनी, वहाँ स्थितिबंध हो गया। इसीलिए ध्यान रखना, रत्नत्रय से बंध नहीं है। बंध हमेशा योग और कषाय से होता है। भो ज्ञानी! आज से अपने मन–वचन–काय की कुटिलता को बचाकर चलना और कषायों को भद्र कर लो। यदि छोड़ नहीं पा रहे हो, तो कम से कम कषाय को तो मंद रखना प्रारंभ कर दो। अहो! अपराधी स्वयं अपराध स्वीकार कर लेता तो सजा कम हो जाती है। यदि तुमसे पाप हो भी गया और प्रायश्चित भी कर लिया। भो ज्ञानी! पाप में ऋजुता



आ जाती है। हे भगवान् आत्माओ! भगवत्ता का भान कर लेना, दोषों को दोष मानकर चलना। ध्यान रखना, पुण्य के उदय में सब पाप ढँक जाते हैं। पुण्य की कांति का खण्डन करनेवाला पापकर्मी होता है और जिस दिन वह उदय में आ जाएगा उस दिन पुण्य तुम्हारा सम्हलेगा नहीं। ध्यान रखो, तीर्थंकर व चक्रवर्ती जैसे जीवों का भी पाप प्रकट हुआ तो उनकी प्रकृति उस पाप को छिपा नहीं पाई। अहो! गर्भाधान एकांत में हो सकता है, पर माँ उदर को छिपाकर कहाँ ले जाएँगी? ऐसे ही पापकर्म तुम एकांत में कर सकते हो, लेकिन ध्यान रखना, पाप के परिणाम को तुम्हें सबके सामने ही भोगना पड़ेगा।





परमात्मस्वरूप रत्नत्रय

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः।।२१६।।

अन्वयार्थः आत्मविनिश्चितिः = अपने आत्मा का विनिश्चय। दर्शनम् = सम्यग्दर्शन। आत्मपरिज्ञानम् = आत्मा का विशेष ज्ञान। बोधः = सम्यग्ज्ञान। और आत्मनि स्थितिः = आत्मा में स्थिरता। चारित्रं = सम्यक्चारित्र। इष्यते = कहा गया है, तो फिर। एतेभ्यः = इन तीनों से। कुतः बन्धः भवति = कैसे बंध होता है ?

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने बड़ा ही सरल सूत्र दिया है कि बंध से भयभीत होने के साथ–साथ बंध के हेतुओं से भयभीत हो जाओ। सम्यक्त्व बंध नहीं, ज्ञान बंध नहीं, चारित्र बंध नहीं। अज्ञान ही बंध है, असंयम ही बंध है, अश्रद्धान ही बंध है। आगम में प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध की चर्चा है। जिस कर्म का जो स्वभाव है, वह अपने अनुरूप उदय में आता है, बिना स्वभाव के उदय में नहीं आता। कुछ ऐसे भी कर्म हैं जिनकी मूलप्रकृतियाँ अपने स्वरूप को नहीं बदलती, उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण हो जाता है। एक क्षण के परिणाम मिथ्यात्व रूप थे, पर सम्यक्–निमित्त को देखा तो वह मिथ्यात्व सम्यक् रूप परिवर्तित हो गया। साता असाता रूप संक्रमित हो जाती है और असाता साता रूप संक्रमित हो जाती है। जो कर्म अशुभ फल दे रहा था, वही कर्म शुभ–फल देना प्रारंभ कर देता है। इसको आश्चर्य मत मानना। शाम को खिलाई गयी घास सुबह दुग्ध में वृद्धि कर देती है। ऐसे ही एक अंतर्मुहूर्त के परिणाम द्वितीय अंतर्मुहूर्त में आपको पुण्य के रूप में फलित हो जाते हैं और एक मुहूर्त पूर्व किया गया अशुभ–कर्म द्वितीय मुहूर्त में पाप के रूप में भी फलित होते देखा जाता है।

भो ज्ञानी! नवयुवती के दर्पण देखते समय योगी की छाया दर्पण पर पड़ गई, विकार आ गए कि, अहो! यह नग्न भेष कहाँ से दिख गया? मेरे श्रृंगार में दूषण आ गया। मुनिराज जंगल नहीं पहुँच पाए, परंतु उस युवती के शरीर में कुष्ठ हो गया। यह परिणामों की परिणति थी। चित्र को देखकर चित्र भी नहीं दिखा, रूप को देखकर रूप को नहीं देख पाये। रूप को देखकर स्वरूप को भूल गये तो एक अंतर्मुहूर्त में ही सारा शरीर गलित–कुष्ठ से युक्त हो गया। अहो! देखना लक्ष्मीमति को, देखना श्रीपाल को। यह परिणामों की दशा है कि जहाँ तुमने जैसा परिणाम किया वैसा उदय में आया। इस आत्म–भूमि में जैसा बोओगे, जो दाना डालोगे, वही ऊगता है। जैसा परिणाम करोगे, उसी कर्म की फसल सामने आएगी। सत्य यह है कि जीव अपने भाव करके बंध सुनिश्चित कर लेता है। द्रव्य सामने आए या न आए, पर चिंतवन करने से द्रव्य का स्वाद तो समझ में आता है। अहो ज्ञानियो! तुम समवसरण

में पहुँचो या न पहुँचो, लेकिन यदि समवसरण की आराधना कर रहे हो, तो समवसरण का भाव तो आ रहा है न ?

भो ज्ञानी! तीर्थंकर जिनेन्द्र का शासन है, यह सर्वज्ञ की वाणी है, जिनको अवगाहन करना हो तो कर लीजिए, अन्यथा अभागे जीव को शीतल जल की सुवास आती कहाँ है? जिसका पुण्य क्षीण हो चुका है, वह चंद्रमा पर धूल देखता है और जिसका पुण्य निर्मल होता है, वह पृथ्वी को चाँद और सितारों–जैसा देखता है। कर्म की बहुत विचित्र प्रकृति है कि एक तो जीव का सुकृत्य समाप्त हो रहा है, दुष्कृत्य की वृद्धि हो रही है और एक जीव का सुकृत्य बढ़ रहा है, दुष्कृत्य की हानि हो रही है। "षट्गुण हानि वृद्धि" यह जैनदर्शन का गहनतम् सिद्धांत है। दस योगी एक साथ ध्यान कर रहे हैं और दस में से पाँच सिद्ध बनकर चले गए, क्योंकि अपूर्व–अपूर्वकरण परिणाम चल रहे थे और कर्म की प्रकृति अपने आप में शुष्क और क्षीण होती चली जा रही थी। शत्रु की पराजय कब होती है? आपके वीर्य की वृद्धि हो और शत्रु के वीर्य की हानि हो, बस विजयश्री तुम्हारे साथ है। इस प्रकार कर्म की क्षीणता और आत्मविशुद्धि की उत्कृष्टता हो तो मोक्ष तेरी मुट्ठी में है। कर्म की तीव्रता से जीव नरक जाता है। पुण्य और पाप की मध्य अवस्था मनुष्य आयु का आस्रव कराने वाली है। पाप की तीव्रता से तिर्यंच और नरकगति होती है और कर्मों की पूर्ण क्षीणता से सिद्धत्व की प्राप्ति होती है। यह अरिहंत–अवस्था है, क्षीणाक्षीण में ही समवसरण लगता है। पूर्ण क्षीण का कोई समवसरण नहीं होता। परंतु ध्यान रखना, क्षीणाक्षीण से रहित वही हो सकेगा जो संसार के पापों से छेड़–छाड़ को छोड़ देता है। जब तक तुम पापों में तल्लीन रहोगे, तब तक क्षीण नहीं हो सकते। उसके लिए चाहिए है दर्शन, बोध, चारित्र। ये जब तक तुम्हारे पास नहीं आ रहे हैं, तब तक कुछ मिलने वाला नहीं।

भो ज्ञानी! जब तक पूर्ण शुष्कता नहीं आती, तब तक दीवार पर चिपकी बालू भी झड़ती नहीं है। विषयों से शुष्क, भोगों से शुष्क और जन से शुष्क, परिजन से शुष्क, अंत में जिसमें तुम विराजे हो उस देह से भी उदासीन हो। जब तक ऐसी श्रद्धा नहीं बनाओगे, तब तक सम्यक्त्व नहीं, सम्यक्ज्ञान नहीं, सम्यक्चारित्र नहीं। अहो मुमुक्षु आत्मन्! मोक्ष का पुरुषार्थ नहीं तो मुमुक्षु–भाव कैसा? 'राजवार्तिक' ग्रंथ में लिखा है कि इंद्रियों को जो दोष देता है, वह महापापी है, वह अज्ञानी है। इंद्रियाँ कभी नहीं कहती हैं कि तुम भोगों में लगाओ। ध्यान रखना, कहने वाला कोई दूसरा ही है। भोग इंद्रियाँ नहीं भोगती हैं, भोगने वाला कोई दूसरा है। यदि इंद्रियों से संसार होता, तो पाँच इंद्रियों के बिना मोक्ष भी नहीं होता। चक्षुइंद्रिय आपको जिनवाणी पढ़ने को, जिनेन्द्र की वंदना करने को मिली है। कर्ण–इंद्रिय आपको जिनवाणी सुनने को मिली है। स्पर्शन इंद्रिय आप को जीवों की जानकारी के लिए और पैर आपको तीर्थ–वंदना के लिये मिले हैं। प्रत्येक इंद्रिय आप से कह रही है कि मेरा उपयोग कर लो, लेकिन उपयोग आपने नहीं किया। जब उत्कृष्ट पद को निहारते हो तो उत्कृष्ट भाव नजर आते हैं, पर उत्कृष्ट कार्य नजर क्यों नहीं आते?

मनीषियो! ध्यान रखना, यह कारिका परमात्मा के स्वरूप की चर्चा करने वाली है। यहाँ निश्चय रत्नत्रय की चर्चा चल रही है कि आत्मा का निश्चल श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, आत्मा को जानना ही निश्चय सम्यक् ज्ञान है। निज आत्मा में स्थिर हो जाना ही परम निश्चय चारित्र है। गृहीलिंग, मुनिवेष



यह साधन है। अहो! अब आप भेष में भी राग मत कर बैठना कि मैं मुनि हूँ, कि मैं श्रावक हूँ। ये लांछन हैं, यानी चिह्न हैं; वस्तु–धर्म नहीं है। वस्तु–धर्म की प्राप्ति के हेतु चिह्न हैं। परंतु ध्यान रखना, बिना चिह्न (लांछन) के लक्ष्य होता भी नहीं है। लांछन को दोष मत समझ बैठना। दौलतराम जी कह रहे हैं ''यो चिंत्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो। सो इंद्र, नाग, नरेन्द्र व अहमिंद्र कै नाहीं कह्यो।'' यह है परम रूप स्थिर भाव समयसार, यही है पुरुषार्थ–सिद्धि– उपाय। अहो मुमुक्षु! तुम इसे कैसे बंध मानते हो? जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र से बंध मानता है, उससे अभागा इस विश्व में दूसरा कोई नहीं है। जिनमुद्रा को जो बंध का हेतु कहे, उसे नियम से नरक का बंध हो चुका है। एक सज्जन आए, बोले–कोई सम्यक्दृष्टि नजर नहीं आते। भैया! सम्यक्दृष्टि मिले न मिले, पर पहला मिथ्यादृष्टि तो मुझे मिल चुका है।

भो ज्ञानी आचार्य कुंदकुंदस्वामी से पूछ लेना, उन्होंने 'नियमसार' जी की गाथा नं पांच में भी यह कहा है कि सात तत्त्व पर जो श्रद्धान है, आप्त, आगम तपोधन इन पर जो श्रद्धान है, वह वीतराग व्यवहार–सम्यक्दर्शन है।

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।।

जो ज्ञान के बल पर स्वच्छंद होकर बोलता है, उसको आचार्य कुंदकुंद देव ने 'रयणसार' जी ग्रंथ की गाथा नं. तीन में मिथ्यादृष्टि, कुदृष्टि लिखा है।

मदिसुदणाणबलेण दु सच्छंदं बोल्लदे जिणदिट्ठं।
जो सो होदि कुदिट्ठी ण होदि जिणमग्गलग्गरवो।। 3–(र.सा.)

इसलिए समझ में नहीं आये तो वीतरागवाणी को हाथ जोड़ लेना। कह देना, प्रभु! क्षयोपशम मेरा भी बढ़े, लेकिन मेरी जीभ गलत कहने को कभी नहीं हिले, मेरे कान गलत सुनने को कभी न खुलें और मेरी आँखें असत्य देखने को कभी न खुलें।

अहो! कुंदकुंद आचार्य भगवान् न होते तो यह पुण्यवाणी कहाँ सुनने को मिलती? जो जिनवाणी में आनंद है, जो ज्ञान में आनंद है, वह संसार में कहीं नहीं है। अज्ञानता ही दुःख का हेतु है। पर ऐसा ज्ञान देने वाले वे आचार्य भगवान् , जिन्होंने मुझे परमज्ञान ही नहीं दिया, बल्कि मुझे तो तीनों दिये हैं। अमृत ने अमृत परोस दिया है और उनकी वाणी को बताने वाले वे आचार्य भगवान् विराग सागर जी महाराज, जिन्होंने यह रूप न दिया होता तो स्वरूप का भान होता कैसे? रूप के अभाव में स्वरूप की प्राप्ति संभव भी तो नहीं होती है। इसलिए, मनीषियो! भावना भाना कि, प्रभु! वही रूप मुझे प्राप्त हो, जो धरती के देवता कहलाते हैं। उस परमहंस अवस्था की प्राप्ति संयम के माध्यम से होती है और उस संयम के विधाता आचार्य भगवान् हैं, उनके गुणों का हम सभी स्तवन करें।

तीर्थंकर–प्रकृति व आहारक प्रकृति के हेतु

सम्यक्त्वचारित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय।।२१७।।

अन्वयार्थ : अपि = और। तीर्थंकराहारकर्मणः = तीर्थंकरप्रकृति और आहारकप्रकृति का। यः बन्धः = जो बन्ध। सम्यक्त्वचरित्राभ्यां = सम्यक्त्व और चारित्र से। समये उपदिष्टः = आगम में कहा है। सः अपि = वह भी। नयविदां = नय के ज्ञाताओं को। दोषाय न = दोष के लिये नहीं है।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्।।२१८।।

अन्वयार्थ : यस्मिन् = जिसमें। सम्यक्त्वचरित्रे सति = सम्यक्त्व और चारित्र के होते हुए। तीर्थंकराहारबन्धकौ = तीर्थंकर और आहारकप्रकृति के बन्ध करने वाले। योगकषायौ भवतः =योग और कषाय होते हैं। पुनः = और। असति न = नहीं होने पर नहीं होते हैं अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र के बिना बन्ध के कर्त्ता योग और कषाय नहीं होते। तत् = वह (सम्यक्त्व और चारित्र)। अस्मिन् उदासीनम् = इस बन्ध में उदासीन हैं।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने सूत्र दिया है कि जीवन में रत्नत्रय कभी भी बंध का हेतु नहीं। वह निर्बंध का ही हेतु है। जो बंध हो रहा है, वह राग से है, प्रमाद से है, मिथ्यात्व से, कषाय से है। रत्नत्रय धर्म से कभी बंध नहीं होता। लेकिन इस विषय को भी अनेकांत से लगाना। आचार्य उमास्वामी महाराज का "सम्यक्त्वं च," सूत्र कह रहा है कि सम्यक्त्व के माध्यम से भी देव आयु का आस्रव होता है तो क्या मिथ्यादृष्टि देव बनता है ? प्रथम सूत्र में कह दिया था कि बालतप से भी देव बनता है, परंतु देव, देव में अंतर है। बालतप करनेवाला भवनत्रय में जायेगा अथवा बारहवें स्वर्ग से आगे नहीं जा सकता, जबकि सम्यक्दृष्टि जीव तप करके सर्वार्थसिद्धि तक जायेगा। देशव्रती भी यदि उत्कृष्ट रूप से स्वर्ग में जाएगा तो सोलहवें स्वर्ग के आगे नहीं जाता। अहो! संयम की महिमा, एक अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव महाव्रतों का निर्दोष पालन करके नौवें ग्रैवेयक तक जाता है। यह मात्र द्रव्य–संयम की महिमा है, द्रव्य–भेष की नहीं। द्रव्य–भेषी ग्रैवेयक तक भी नहीं जा सकता, मात्र नरक ही जा सकता है, लेकिन द्रव्य–संयमी कभी नरक नहीं जाएगा। मुनि लिंग को धारण करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव नरक नहीं जा सकता, क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इनका उसने त्याग किया है। वह अनंतानुबंधी के साथ बैठा हुआ है और कषाय की मंदता है, अनाचार नहीं कर रहा है, इसीलिए वह नरक नहीं जा रहा है।



देखना! लकड़ी को जलाकर, जिसमें नाग–नागिन जल रहे थे, ऐसी खोटी तपस्या करके भी वह ज्योतिष्क देव हुआ, क्योंकि उसके जलाने के भाव नहीं थे, अज्ञानता में उससे जल रहे थे। यानि सिद्धांत समझे बिना हम कुछ भी कह लेते हैं।

भो ज्ञानी! जिस जीव ने निर्दोष संयम का पालन किया हो और मिथ्यात्व का सेवन नहीं करता हो, (विशेष रूप से द्रव्य–मिथ्यात्व का सेवन नहीं करता), क्या वह नौवें ग्रैवेयक में नहीं जायेगा? जो जा रहा हो, वह भाव से मिथ्यादृष्टि ही होता है। जितने ग्रैवेयक जा रहे हैं, वे सभी मिथ्यादृष्टि जा रहे हैं–ऐसा भी मत कह देना। बल्कि ऐसा कहना चाहिए कि मिथ्यादृष्टि जीव की जाने की सीमा ग्रैवेयक तक है। भो मनीषियो! सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र वास्तव में बंध का हेतु नहीं है। इसके साथ में जो प्रशस्त राग है, उससे देवआयु का आस्रव होता है। उज्जवल उत्कृष्ट चारित्र नहीं था, इसीलिए उस जीव को स्वर्ग में जाना पड़ा और उज्वल निर्मल चारित्र होता, तो नियम से मोक्ष ही जाता। जितनी जिसकी साधना होगी, उतना ऊँचा स्वर्ग। जो सर्वार्थसिद्धि जा रहा है उसके मोक्ष होने की कुछ ही न्यूनता थी, पर जो भवनत्रय में चला गया उसका चारित्र सम्यक्त्व से हीन था।

भो ज्ञानी! मोक्षमार्ग पर आने के बाद आपको निर्दोष चारित्र होने का जितना ध्यान रखना होता है, उतना ही ध्यान निर्दोष सम्यक्दर्शन का भी रखना चाहिए। अहो! अब तो मेरे पास पिच्छी–कमण्डल, निर्ग्रंथ भेष आ चुका है, अब तो मोक्ष सुनिश्चित है। अहो ज्ञानी! यह सिद्धांत नहीं है, सिद्धि–प्रसिद्धि दोनों ही मोक्ष की सिद्धि नहीं करा पायेंगी। मोक्षमार्ग तो निरास्रव है, सास्रव नहीं है। अरे! जितने समय आपने ऐसा चिंतवन किया कि हम तो अमुक को सुधार कर रहेंगे, उतने क्षण आप अपने आपसे हटे हो। सुनिश्चित है कि आपके परिणाम कलुषित होंगे। अरे! रत्नत्रयधारी तो निर्विकार होता है पर रत्नत्रयधर्म में उदास कभी नहीं हो जाना। बाह्य द्रव्यों से उदास होना, प्रपंचों से उदास होना, देह के संस्कार से उदास हो जाना, समाज के प्रपंचों से उदास होना है। 'तत्त्वसार' ग्रंथ में आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं– पंचपरमेष्ठी भी मोक्ष प्राप्ति में बाधक हैं अर्थात् परमेष्ठी तत्त्व से भी आप रागदृष्टि मत रखो, भक्तिदृष्टि रखो। दोनों में अंतर है। पंच परमेष्ठी की भक्ति तो सम्यक्दृष्टि को होती है, जबकि पंचपरमेष्ठी का राग मिथ्यादृष्टि को ही होता है, क्योंकि वह उन्हें कुलदेवता मानकर पूजता है। मिथ्यादृष्टि देव अरिहंत–भगवान् की पूजा कुलदेवता मानकर करता है और सम्यक्दृष्टि जीव भगवान को भगवान मानकर चलता है।

भो ज्ञानी! एक समय के परिणामों में विकल्पता का आना तेरे चारित्र–गुण से प्रतित होने का द्योतक है, क्योंकि काषायिक–भाव चारित्र और सम्यक्त्व दोनों का घात करता है। ध्यान रखना, जिस जिनालय में आप रोज वंदना करने जाते थे और वहाँ आपके मन की इच्छा पूरी नहीं हुई, तो आप कहने लगे कि अब इस मंदिर में पूजा करने नहीं आना। अहो! तेरी आकांक्षा की पूर्ति नहीं हुई तो दोष ही दोष हैं। अहो ज्ञानी! जिस प्रकार अष्टद्रव्य की थाली लगाकर जिनेन्द्र भगवान् के चरणों में पहुँचता है, ऐसे अष्टांग सम्यक्त्व के द्रव्य की थाली लगाकर जाया करो। परंतु जिसके आठ अंगों कि थाली सूख गई, भो ज्ञानी! उसे अष्टम–वसुधा प्राप्त होनेवाली नहीं है। अष्टद्रव्य की थाली योंही मत लगा कर बैठ जाया करो। अरे! अष्ट द्रव्य की थाली अष्ट कर्मों के नाश के लिये लगाना। पर



आप तो भगवान् को पानी पिलाने आए थे, अक्षत खिलाने आए थे, या कि अपनी भावना प्रकट करने आये थे? बात को समझना। जिनवाणी कहती है कि प्रतिक्षण बंध होता है। जिस समय मैं अक्षत बोल रहा था, उस समय अधूरा मंत्र पढ़ रहा था। उधर पंडित जी ने आधा मंत्र बोल दिया और आपने जोर से बोल दिया अक्षत। अहो! एक बार छंद भूल जाएँ, लेकिन मंत्र नहीं भूलना, मंत्र से नहीं भटकना। कभी–कभी मन इतना भटक जाता है कि पाठ पर ध्यान नहीं होता। अतः समय तो लगा ही रहे हो, द्रव्य भी लगा रहे हो, परिणाम और लगा दो। यदि परिणाम जग गए, तो कल्याण हो गया। क्योंकि भाव से शून्य क्रिया प्रतिफलित नहीं होती। आप अनन्त बार पूजा कर चुके हो, पर पूज्य नहीं बने। आप चाहो कि मैं एक बार पूज्य बन जाऊँ तो अनन्त बार पुजारी तो बनना ही पड़ेगा।

भो ज्ञानी! प्रभु के चरणों में ही तू फटाका फोड़ रहा है, जबकि यह अहिंसास्थली है, यह तीर्थभूमि है। यहाँ ऐसा मत सोच लेना कि भगवान् हमें बचा लेंगे। जैनदर्शन स्पष्ट कहता है कि चाहे प्रभु के चरणों में रहना, चाहे स्वयं के चरणों में रहना, जैसा कर्म करोगे, बंध वैसा निश्चित होगा। हाँ, रत्नत्रय के सद्भाव में बंध होता है, लेकिन रत्नत्रय से बंध नहीं होता, क्योंकि रत्नत्रय के सद्भाव में प्रशस्त राग है, वह बंध का हेतु है, इसीलिए यह जीव स्वर्ग जाता है। दसवें गुणस्थान तक राग चलता है, जो संसार में भटका देता है। तो, मनीषियो! चौथे गुणस्थान का लोभ कहाँ ले जाएगा? सिद्धांत ग्रंथों में लिखा है कि छठवें गुणस्थान में तीव्र लोभ कषाय सताती है कि सब दीक्षा ले लें, सबका कल्याण हो जाए, सबको मैं व्रती बना दूँ। यह लोभ है। देखना! तीर्थंकर–प्रकृति जिससे बंध रही है, वह भी लोभ है। विश्व के प्राणीमात्र का कल्याण हो जाए, लेकिन वह लोभ ऐसा लोभ नहीं है कि नरक ले जाए। वह लोभ तीव्र पुण्य–बंध का हेतु रखता है। जिसे सिद्धांत की भाषा में लोभ कहा जा रहा है, वही आप सहज भाषा में कहोगे कि यह प्रशस्त राग है, यह करुणा भाव है, संक्लेशतम् दया है। उस दया के प्रभाव से तीर्थंकर–प्रकृति का बंध होता है।

भो ज्ञानी! तीर्थंकर–प्रकृति और आहारक शरीर, यह दोनों प्रबल पुण्य– प्रकृतियाँ हैं। यह सामान्य जीवों के बंध को प्राप्त नहीं होती हैं, प्रबल पुण्य चाहिए। जिस जीव ने विशुद्ध भाव से सोलहकारण भावना को भाया है, वही तीर्थंकर–प्रकृति का बंधक होता है। अहो! दर्शनविशुद्धि– भावना के अभाव में शेष पंद्रह–भावनाएं शून्य हैं; क्योंकि सम्यक्त्व अंक है, शेष सब शून्य हैं। यदि अंक न हो, तो उस शून्य की कोई कीमत नहीं है।

भो मनीषियो! जहाँ–जहाँ अश्रद्धा होती है, वहाँ–वहाँ संक्लेशता बढ़ती है। जैसा–जैसा श्रद्धागुण प्रकट होता है, वैसा–वैसा आनंद प्रकट होता है। सिद्धांत है कि जैसे ही तुम्हारा दर्शन प्रकट होगा, कषाय तत्क्षण मंद होगी और अश्रद्धान जैसे ही प्रकट होगा, कषाय भी तत्क्षण प्रकट होगी। मिथ्यात्व के नष्ट होने पर पुनः मिथ्यात्व में आने में देर नहीं लगती, पर श्रद्धा के जाने पर श्रद्धा को बुलाने में बहुत समय लगेगा। श्रद्धा एक बार चली गई उसको आप पुनः बना नहीं पाओगे, आप जीवन भर दुखी रहोगे, तड़फोगे, तरसोगे कि हे प्रभु! श्रद्धा के वे दिन कहाँ गये? और जैसे ही श्रद्धा प्रकट होती है तो आनंद ही आनंद प्रकट होता है। इसीलिए अपूर्वकरण–परिणाम होता है कि मिथ्यात्व में भी जो अनुभूतियाँ नहीं हुईं, वे सम्यक्त्व के प्रकट होते ही अनुभूतियाँ होती है, इसी का नाम तो अपूर्वकरण है। इसीलिए जीवन में मिथ्यात्व और अश्रद्धा को प्रकट कराने वाली सामग्रियों से दूर रहें। परन्तु ध्यान



से सुनना, देव शास्त्र, गुरु व वीतराग धर्म से तो तुमको जुड़कर चलना ही पड़ेगा, अन्यथा पूरी पर्याय खोखली निकल जाएगी।

भो ज्ञानी! दर्शनविशुद्धि भावना कह रही है कि पच्चीस दोष हमने आपको गिना दिये हैं, लेकिन पच्चीस दोष तो संख्या के हैं, परिणामों के नहीं हैं। जितने प्रकार के तुम्हारे परिणाम हैं, उतने प्रकार के दोष हैं। जिनागम में विशालता की गणना अंकों में नहीं की जाती, प्रदेशों पर की जाती है, जो असंख्यात–लोक–प्रमाण हैं।

भो मनीषियो! आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि तीर्थंकर प्रकृति–और आहारक प्रकृति, इन दोनों के बंध का हेतु सम्यक्चारित्र है। क्योंकि मलीनता चारित्र में आती है, ज्ञान में नहीं आती। ज्ञान तो ज्ञान होता है। ज्ञान सम्यक् या मिथ्या नहीं होता। सम्यक्त्व के कारण सम्यक्त्वपना और मिथ्यात्व के कारण मिथ्यात्वपना कहा जाता है। इसीलिए यहाँ सम्यक्त्व और चारित्र की चर्चा की है, लेकिन ज्ञान को बिल्कुल निर्दोष छोड़ दिया है। देखो, किसी को किसी भी शास्त्र का ज्ञान नहीं है, पर वह तीर्थंकर–प्रकृति का बंध कर सकता है। परंतु यदि सम्यक्त्व के एक अंग में भी दोष है तो तीर्थंकर–प्रकृति का बंध नहीं कर सकता। किसी को एक श्लोक का भी ज्ञान नहीं है, वह आहारक शरीर का बंध कर सकता है। लेकिन सम्यक्त्व में जरा भी कमी है तो आहारक शरीर प्रकृति का कभी बंध हो ही नहीं सकता। दर्शनविशुद्धि भावना की कथा पढ़ लो, इसका नाम दर्शनविशुद्धि भावना नहीं है। आठ अंगों से युक्त; षट अनायतनों, तीन मूढ़ता, आठ मदों से रहित; शुद्ध सम्यक्त्व में लीनता जा रही है और उससे युक्त विशुद्ध परिणाम बन रहे हैं तो उसका नाम दर्शन–विशुद्धि भावना है।

भो ज्ञानी! बारह भावना पढ़ना और बारह भावना भाना, इनमें महान अंतर है। भानेवाला तो एक में एक घंटा लगा देगा और पढ़ने वाला दो मिनिट में बारह पढ़ लेगा। एक व्यक्ति नौ बार 'णमोकार मंत्र' पढ़ता है, उसको समय लगता है। कभी–कभी पढ़ने वाला यहीं खड़ा रह गया, पूरी सभा चली गई। अतः जितनी तल्लीनता से भावना करोगे, समय तो लगेगा, क्योंकि भावनाएँ शाब्दिक नहीं हैं, वे मानसिक हैं। पाठ शाब्दिक हैं, भावनाएँ आत्मिक हैं, जो अंतःकरण से होती हैं। जाप शब्दों में चलता है, इसीलिए जाप और ध्यान में अंतर है। जाप में जपा जाता है, ध्यान में ध्याया जाता है। जाप में जितनी निर्जरा होती है, उससे असंख्यात गुनी निर्जरा ध्यान से होती है। पाठ में जितनी निर्जरा होती है, भावनाओं में उससे असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। इसीलिए तीर्थंकर–प्रकृति के बंध का हेतु सोलहकरण भावना का पाठ करना नहीं, सोलह करण भावना को भाना है। परंतु जिसे आज तक भाया है, उसे नहीं भाना। जिसे आज तक नहीं भाया, उसे भाने का नाम भावना है। आज तक हमने मिथ्यात्व को भाया है, उसे अब मत भाओ। सम्यक्त्व को नहीं भाया, उसे भाओ। सोलहकारण–भावना प्रत्येक जीव के इसलिए घटित नहीं हो रही, क्योंकि ऐसे भाव नहीं होते। सोलहकारण भावनाओं को भानेवाला प्रबल पुण्य का बंध करता है। सोलहकारण भावना वही भा पाता है जिसको पुण्य का उदय होता है। पाप के उदय में विचार ही नहीं आते। पर्यूषण पर्व निकल जाते हैं परन्तु पता नहीं चलता कि पर्व चल रहें हैं या कि दीपावली का दिन।

भो ज्ञानी! बहुत सारे कार्य हमारी निर्जरा के हेतु बन सकते हैं, लेकिन विवेक के अभाव में बंध का कारण बन जाते हैं। ध्यान रखना, जो (नय की अपेक्षा से) एकांत को लेकर बैठ जाता है,



उसे मिथ्यात्व अवस्था में तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव द्वारा बत्तीस उपवास कर लेने से तो सोलहकारण भावना नहीं हुई। सोलहकारण भावनाओं को सम्यक्दृष्टि ही भाता है। आहारक–शरीर भी सामान्य मुनियों के नहीं निकलता। जो मुनिराज विशेष तपस्वी, वर्द्धमान चारित्रवान् होते हैं, उन्हें चतुर्थ काल में ही निकलता है। जब उनके मन में तीव्र विशुद्धि उत्पन्न होती है कि मैं जिस क्षेत्र में जा रहा हूँ उस क्षेत्र में कोई असंयम के हेतु तो नहीं हैं, कषाय के हेतु तो नहीं हैं, जब समझ में नहीं आता है, तो पुतला निकल कर उस स्थान को देख कर आ जाता है। यह संयम के प्रति तीव्र अनुराग है। अथवा कहीं पंचकल्याणक हो रहे हैं और मुनिराज जहाँ विराजे हैं, तीव्र अनुराग उत्पन्न हुआ कि भगवान् के कल्याणक कैसे होते हैं? तो उस समय पुतला निकलेगा। विशेषकर के दीक्षाकल्याणक के दिन निकलता है। लौकांतिक देव भी चार कल्याणकों में नहीं आते। एक मात्र दीक्षाकल्याणक में वैराग्य को देखने आते हैं। यहाँ तक कि कोई कृत्रिम या अकृत्रिम विशाल जिनमंदिर के दर्शन करने की भावना उत्पन्न हुई उस समय आहारक शरीर निकलता है।

भो ज्ञानी! अभी तक आप लोग तो मात्र एक ही बात को समझते रहे कि कोई शंका हो तो पुतला निकलता है। इस संबंध में गोम्मट्सार (जीवकाण्ड) ग्रंथ में आचार्य नेमिचंद्रस्वामी ने लिखा है कि जिनेन्द्रदेव के जिनमंदिरों की वंदना के लिये और किसी प्रकार का प्रश्न उपस्थित होने अथवा संयम की रक्षा के लिए आहारक पुतला निकलता है। यह विशेष बात समझना कि इस प्रकृति का बंध सातवें गुणस्थान में ही होता है, चौथे में नहीं होता और छठवें गुणस्थान में उदय आता है। सप्तम–गुणस्थान जिज्ञासा का नहीं, ध्यान का है। ध्यान में कोई नहीं होते हैं, प्रश्न ध्यान करने के लिए प्रश्न हो सकते हैं। इसीलिए यह नय–विवक्षा है, कोई दोष नहीं है। इस प्रकार से सम्यक्दर्शन और चारित्र के होने पर तीर्थंकर व आहारक प्रकृति का बंध होता है। आहारक शरीर सफेद वर्ण का होता है, स्फटिक के तुल्य, परंतु किसी का घात नहीं करता और किसी से बाधित भी नहीं होता। वह तो वज्रकपाट से भी निकल जाता है। तीर्थंकर–प्रकृति का बंध तो मात्र सम्यक्दर्शन के सद्भाव में हो जाएगा, लेकिन आहारक प्रकृति का बंध सम्यक्त्व के होने मात्र से नहीं होगा, बल्कि चारित्र के साथ ही होगा। तीर्थंकर प्रकृति में विभूति, समवसरण आदि बाहरी वैभव है, लेकिन आहारक शरीर चारित्र की रक्षा के लिए और चारित्र के उदय से ही होता है। आहारक शरीर का बंध नहीं होगा, छठवें गुणस्थान के अभाव में उदय भी नहीं होगा, लेकिन तीर्थंकर–प्रकृति का बंध करने वाला जीव चौथे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान तक बंध कर सकता है।



निर्वाण का हेतुः रत्नत्रय धर्म

शंका

ननु कथमेवं सिद्धयति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम्।।२१९।।

अन्वयार्थ : ननु = कोई पुरुष शंका करता है कि रत्नत्रयधारिणां = रत्नत्रयधारी। मुनिवराणाम् = श्रेष्ठ मुनियों के। सकलजनसुप्रसिद्धः = समस्त जनसमूह में भलीभांति प्रसिद्ध। देवायुः प्रभृतिसत्यप्रकृतिबन्धः = देवायु आदिक उत्तम प्रकृतियों का बन्ध एवं = पूर्वोक्त प्रकार से। कथम् सिद्धयति = कैसे सिद्ध होगा?

समाधान

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः।।२२०।।

अन्वयार्थ : इह = इस लोक में। रत्नत्रयम = रत्नत्रयरूप धर्म। निर्वाणस्य एव = निर्वाण का ही हेतु कारण भवति = होता है, अन्यस्य न = अन्य गति का नहीं तु यत् = और जो रत्नत्रय में। पुण्यं आस्रवति = पुण्य का आस्रव होता है, सो। अयम् अपराधः= यह अपराध, शुभोपयोगः = शुभोपयोग का है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! भगवान् वर्द्धमान स्वामी का यह पावन शासन जयवंत हो। वह दशा जयवंत हो, जब वे पावापुर की ओर चल दिये। आज वह निर्मल दिन है, जिस दिन वीतराग प्रभु ने बहिरंग–लक्ष्मी का पूर्ण विसर्जन कर दिया था। धन्य हो गई वह त्रयोदशी, जिस दिन तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी ने गमनागमन का भी त्याग कर दिया। समवसरण की सम्पूर्ण विभूति बिखर चुकी है; पूरा वैभव समाप्त हो गया। अब मात्र अंतरंगश्री शेष है; बहिरंग–लक्ष्मी समाप्त हो गई। अब पाप–प्रकृति का क्षय नहीं कर रहे, अब पुण्य–प्रकृति के क्षय में लग गये। पाप–प्रकृतियाँ तो क्षय हो चुकीं। अभी साता–वेदनीय, शुभ–आयु, शुभ–नाम, शुभ–गोत्र पुण्य–प्रकृतियाँ विराजमान हैं। उनका क्षय करने के लिए आज से पुरुषार्थ प्रारंभ हो गया। आज के दिन तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी ने योगों का निरोध किया था। अब भगवान् जिनेन्द्र की साक्षात् देशना आज से नहीं मिलेगी, क्योंकि वे निज के शोधन मात्र में ही तल्लीन हैं। अब देह में नहीं, विदेह में निवास करना है। विदेह का ध्यान ही नहीं, विदेह में प्रवेश करना है।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने कल संकेत दिया कि इस जीव ने बंध तो किया है, परंतु रत्नत्रय से बंध नहीं होता, बंध विषय–कषायों से होता है। मोक्ष निज आत्मप्रदेश से होता है; किसी



क्षेत्र/प्रदेश से नहीं। यदि संसार के क्षेत्र मोक्ष दिलाते होते तो मैंने निगोद से लेकर आज तक इस क्षेत्र में भ्रमण किया है, लेकिन एक भी क्षेत्र ने मुझे मोक्ष नहीं दिया। यह तीर्थ–भूमियाँ भी मोक्ष नहीं देती। संत–भेष से भी मोक्ष नहीं होता। अहो ज्ञानी! पता नहीं तूने कितनी बार संत–भेष धारण कर लिए? कोटि जन्म तूने तप किये, लेकिन लेशमात्र कर्म–निर्जरा नहीं की। जबकि एक पर्याय की तपस्या कोटि–भव के कर्मों का क्षय एक श्वांस मात्र में करा देती है अर्थात् आत्म–ज्ञान से युक्त एक क्षण की तपस्या अनंत भवों के कर्मों का क्षय कर देती है।

भो ज्ञानी! जब युवा अवस्था थी, तब आप अपने मद में फूले थे। अतः जब अपने को देखने का समय था, तब तुमने सपने–जैसा खो डाला। तुमने रागादिक भाव किये, अशुभ कर्म का बंध किया, किंतु जब–जब आँख खुली तब–तक कर्मों को ही दोष दिया। जब पौरुष था, तब तुमने पुरुष को नहीं देखा और जब पुरुष देखने का मौका आया तो पौरुष चला गया। अहो! 'पुरुषार्थ–सिद्धयुपाय' ग्रंथ जिसका दूसरा नाम है 'जिनप्रवचन रहस्य' अर्थात् भगवान् जिनेन्द्र के प्रवचनों को कहने वाला यह ग्रंथ कह रहा है कि रत्नत्रय से बंध नहीं होता, फिर भी आहारक शरीर का बंध रत्नत्रयधारी को ही होता है। देह को प्राप्त किया, विषयों को प्राप्त किया, फिर भी इन सब के वश में जो नहीं हुआ, उसका नाम संत है। प्राप्त होना, यह नियति है; पर प्राप्ति का उपयोग करना या नहीं करना, यह पुरुषार्थ है। विकृति को आने ही नहीं देना और आ भी जाये तो भी विकृति में जाना ही नहीं है, यह पुरुषार्थ है।

भो ज्ञानी! राग और विषयों की श्लेष्मा (कफ) पर जीव अनादि से चिपका है और अपने आप को छुड़ा नहीं पा रहा, पर कोई विवेकी जीव वहाँ पर चुल्लू भर पानी डाल दे तो छूट सकता है। अहो लिप्त आत्माओ! यदि वीतरागी जिनेन्द्र की वाणी का जरा–सा (चुल्लू भर) पानी गिर जाये, तो मोह की श्लेष्मा छूट सकती है। जो आज निर्वाण की तैयारी कर रहे हैं, उन्होंने वह पानी ही तो डाला है। इसलिए, आज का नाम धन्यतेरस है। वह त्रयोदशी धन्य हो गई, जिस दिन भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने योगों का निरोध किया। अहो! यह धन जुटाने की त्रयोदशी नहीं है, रत्नत्रय– धर्म को दृढ़ करने की त्रयोदशी है। रत्नत्रय तो धन है, उसको स्वीकार करो। परन्तु जीवों ने पुद्गल के टुकड़ों जोड़ना शुरू कर दिया। हे वर्द्धमान! आज आपने सब कुछ छोड़ा है और हम आज शाम तक बाजार के लोहे को खरीदकर घर में रख लेंगे। अहो! क्या किया आपने? उत्कृष्ट यह होता कि दस बर्तन घर में थे तो एकाध आज आप छोड़ देते। भगवन्! आपने जिसे छोड़ा, दुनियाँ उसे जोड़ रही है। आपमें और दुनियाँ में इतना ही तो अंतर है कि दुनियाँ जिसे छोड़ती है, उसे आप जोड़ते हो और जिसे आप जोड़ रहे हो, उसे विश्व छोड़ बैठा है।

भो ज्ञानी! आज ही योग का निरोध हुआ है, परम् निरोध हुआ है। उस अनुभव को समझो, बिल्कुल शांत हो जाओ। अब शरीर चलाने की भी सामर्थ्य नहीं बची, शरीर हिलाने की भी सामर्थ्य नहीं है। अब तो वह शक्ति चाहिए कि अब मैं शरीर भी न हिलाऊँ और अपने स्वशरीर में चला जाऊँ। अब मैं बोलना भी पसंद नहीं करता, मैं किसी को देखना भी पसंद नहीं करता। मन, वचन और काय की क्रिया पूर्ण समाप्त हो जाने से आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन पूर्ण रूप से समाप्त हो चुका है, उसका नाम योग का निरोध है। शुद्धात्मतत्व की प्राप्ति का यह अंतिम पुरुषार्थ चल रहा है। यह सहज दशा



है। जिनका चलना बंद हो गया, जिनका सोचना बंद हो गया, जिनका कहना बंद हो गया, उसी परम–योगी को निर्वाण की प्राप्ति होती है। भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि वीतराग–धर्म स्वीकार लो। प्रभु! अंतिम लक्ष्य मेरा भी यही हो कि मेरी दृष्टि कहीं कुदृष्टि न हो।

भो ज्ञानी! 'कुरल–काव्य' में ऐलाचार्य महाराज ने लिखा है–संकल्प वह शक्ति होती है जो इस जीव को एक समय में सात राजू गमन करा देती है। जितने सिद्ध हुए हैं, वे सब संकल्प से ही सिद्ध हुए हैं और जितने असिद्ध हैं, वे सब संकल्प/शक्ति के अभाव में हैं। यहाँ संकल्प से तात्पर्य अपने मन की दृढ़ता अथवा व्रत की दृढ़ता से है। ध्यान रखना, हाथों को हथकड़ियों से बाँधा जा सकता है, पैरों में बेड़ियाँ डाली जा सकती हैं, परंतु किसी भी शासन ने मन को बाँधने की रस्सी नहीं बनाई। एकमात्र वीतराग–शासन ने कहा है कि तुम्हारे मन को बाँधने के लिए हाथ–पैर को बाँधने की कोई आवश्यकता नहीं है। अज्ञानी लोग हाथ–पैर बाँधकर, अंगों को बाँध कर संयम के पालन की बात करते हैं। वहीं ज्ञानी अपनी ज्ञान वैराग्य रस्सी से इंद्रिय मन को वश में करते हैं। एक सज्जन रायपुर में बोले–महाराज! एक वस्त्र तो रखा जा सकता है, लंगोट तो लगाई जा सकती है। हमने कहा–क्यों?– बोले– आज के युग में कुछ अच्छा सा नहीं लगता। मैंने उनसे एक ही बात कही–आँखों से देखने वालों को अच्छा नहीं लगता, क्योंकि आपकी दृष्टि खोटी है। इतनी बड़ी लंगोटी की अपेक्षा से आँख की पट्टी बहुत छोटी होती है। इसलिए आपको लंगोटी नजर आती है। जिसकी दृष्टि खोटी नहीं होती, उसे लंगोटी की कोई आवश्यकता नहीं। बोले–क्या आज वर्द्धमान महावीर स्वामी होते तो ऐसे ही होते? मैंने कहा–हाँ, सच्चे वीतरागी भगवान् ऐसे ही होते हैं।

भो ज्ञानी! 'निर्वाण' बताने का विषय नहीं, निर्वाण तो प्राप्ति का विषय है। आचार्य जयसेन स्वामी ने कहा–ध्यान करो, तुम भगवानरूप हो जाओगे। पर ध्यान रखो, बिना संयम के ध्यान लेश– मात्र नहीं होता। यह संयम शुभास्रव नहीं कराता, संयम में शुभास्रव होता है और जब तक तुम अरिहंत बनोगे तब तक होगा अर्थात् १४वें गुणस्थान तक होगा। आप तो यही मन बनाकर चलो कि, हे भगवन्! यह आस्रव भी समाप्त हो जाये। लेकिन ध्यान रखना, इस शब्द से भी आस्रव मत कर बैठना। कुछ अज्ञानी व्यर्थ में आस्रव करते रहते हैं। आस्रव किन–किन क्रियाओं से हो रहा है? उन क्रियाओं को मत करो तो आस्रव समाप्त हो जायेगा। पाप–क्रिया न हो, इसलिए यह स्पष्ट कर रहे हैं, क्योंकि रत्नत्रय तो निर्वाण का ही हेतु है।

भो ज्ञानी! जो आपने मुनिव्रत का पालन किया, रत्नत्रय का पालन किया, उसमें आपने भगवान् को भी नमस्कार किया, वंदना भी तो की थी, प्रतिक्रमण–स्वाध्याय आदि भी तो किया था। उस शुभ–क्रिया के करने से शुभ परिणाम हुए, उन शुभ–परिणामों से जो आस्रव हुआ है वह देव–आयु को दिला रहा है। जितने अंश में तुमने रत्नत्रय का पालन किया, वह देव–आयु का बंध नहीं कराता, अपितु वह तो निर्वाण का ही हेतु होता है। जैसे घन से (हथोड़ा से) जब कोई व्यक्ति पत्थर को तोड़ता है, तब यदि एक घन से वह नहीं टूटता तो बहुत घन लगाने पड़ते हैं, उसी–उसी स्थान पर लगाने पड़ते हैं, परंतु जब भी टूटेगा तो एक घन से ही टूटेगा। ऐसे ही, मुमुक्षु आत्माओ! एक बार मुनि बनने से मोक्ष नहीं होता, लेकिन जब भी होगा मुनि बन कर ही होगा। अतः तुम ध्यान की भट्टी में इस मन–रूपी लोहे को रख दोगे, उसके ऊपर से चारित्र के घन पटकोगे, तब शुद्ध आभूषण बन पायेगा। परंतु ध्यान



रखना कि धातु जैसी होगी, वैसा आभूषण बनेगा। यह शुद्ध आभूषण की दुकान है, यहाँ लाख भरने वाला काम नही हैं। बीच में जो अशुभ या शुभ उपयोग है, वह लाख हैं, तभी तो शुद्ध नहीं बन पाया, यही तो अपराध हो गया। इसलिए इस बात का ध्यान रखें कि रत्नत्रय बंध का हेतु नहीं है, जो शुभ–आस्रव होता है, उससे देव–आयु का बंध होता है। लेकिन जब तक तुम सिद्ध नहीं बने हो, तब तक नरक की अपेक्षा से देव–आयु श्रेष्ठ है। धूप में तपने की अपेक्षा छाया में रहना अच्छा है। इसलिए शुभ–उपयोग को छोड़ मत देना, पर दृष्टि यही रखना कि हमें शुद्ध–उपयोग की प्राप्ति हो और परम्–निर्वाण की प्राप्ति हो।





रत्नत्रय ही मोक्ष का हेतु

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः।।२२१।।

अन्वयार्थ : हि एकस्मिन् = निश्चयकर एक वस्तु में। अत्यन्तविरुद्धकार्ययोः =अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के। अपि समवायात् = भी मेल से। तादृशः अपि व्यवहारः = वैसा ही व्यवहार। रूढिम् इतः = रूढि को प्राप्त है। यथा इह = जैसे इस लोक में। घृतम् दहति = घी जलाता है। इति = इस प्रकार की कहावत है।

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्गः इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्।।२२२।।

अन्वयार्थ : इति एषः = इस प्रकार यह पूर्वकथित। मुख्योपचाररूपः= निश्चय और व्यवहाररूप। सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षणवाला। मोक्षमार्गः= मोक्ष का मार्ग। पुरुषम् परं पदं = आत्मा को परमात्मा का पद। प्रापयति, = प्राप्त कराता है।

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरुपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः।। २२३।।

अन्वयार्थ : नित्यमपि = सदा ही। निरुपलेपः = कर्मरूपी रज के लेप से रहित। स्वरूपमवस्थितः = अपने अनन्तदर्शन ज्ञानस्वरूप में भले प्रकार ठहरा हुआ। निरुपघातः =उपघातरहित और, विशदतमः परमपुरुषः = अत्यंत निर्मल परमात्मा। गगनमिव = आकाश की तरह। परमपदे = लोकशिखर स्थित मोक्ष स्थान में। स्फुरति = प्रकाशमान होता है।

।। पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! आचार्य भगवान् अमृतचन्द्रस्वामी ने अनुपम सूत्र दिया है कि बंध का हेतु मिथ्यात्व, असंयम, अविरित, प्रमाद, कषाय और योग हैं। रत्नत्रयधारी को बंध नहीं होता है।

भो ज्ञानी! जो पर्याय रत्नत्रय से मंडित आत्मा को स्वीकार कर चुकी है, वह पर्याय भी वंदनीय हो जाती है। लेकिन वंदना की दृष्टि पर्याय की नहीं है, रत्नत्रय धर्म की है। **'वंदे तद् गुण लब्धये'** जो रत्नत्रय धर्म था, उसकी वंदना थी। आज हम धर्म की हँसी क्यों करा देते हैं? क्योंकि हम वंदना में फूल जाते हैं, पर हम वंदना की वंदना का ध्यान नहीं रख पाते। वंदना की वंदना का ध्यान रखा जाए तो कभी तुम अवंदनीय शब्द से नहीं कहे जा सकते हो। एक ब्राह्मण विद्वान् के हाथ में पुस्तक दी गई, तो उसने पुस्तक सिर पर रखी एवं स्वयं धूल में बैठ गये। तभी एक छात्र ने अपने बस्ते



को जमीन पर रखा और शर्ट–पेन्ट खराब न हो जाए इसलिए अपने बस्ते पर जाकर बैठ गया। क्षयोपशम से वह विद्वान् भी बन गया, लेकिन उनकी विद्वत्ता की कोई कीमत नहीं है। जब उस प्रथम विद्वान से पूछा कि आपने इन पुस्तकों को सिर के ऊपर क्यों रखा और स्वयं धूल में बैठ गये, तो वे बोले–मैं तो जब जन्मा था तब धूल पर ही गिरा था, और जब मेरी मृत्यु होगी तो धूल पर ही छोड़ा जाएगा। मेरी कीमत न तब थी, न अब है और न आगे होगी। मेरी कीमत जिससे हुई है, उसे मैं सिर पर विराजमान किये हूँ। मनीषियो! माँ जिनवाणी कह रही है कि, मेरे पुत्रो! यदि माँ की रक्षा आपने की है, तो सत्य की रक्षा है। यदि माँ का अस्तित्व नहीं, तो तुम बेटे किसके? आपकी कीमत शास्त्रों से है। शास्त्रों की आप जितनी वंदना करोगे, श्रद्धावान् उतनी तुम्हारी वंदना करेंगे।

भो ज्ञानी! आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी कह रहे हैं कि जितनी विनय असंयमी आपका करते हैं, उससे कई गुना विनय संयमी को निज के संयम पर रखने की है। निज के संयम का विनय आपने नहीं रखा, तो आपकी अविनय तो होगी ही, लेकिन आपके माध्यम से संयम की अविनय न हो जाए, यह भी ध्यान रखना। मनीषियो! अनेक श्रमणों की समाधियाँ होती हैं, पर श्रमण– संस्कृति की कभी समाधि नहीं होती। श्रमण संस्कृति की समाधि जिस दिन हो जाएगी, उस दिन धर्म नहीं बच सकता। इसीलिए ध्यान रखना, रत्नत्रयधर्म देव नहीं बनाता है, रत्नत्रय धर्म की साधना में देव बनते हैं। पर कुछ–कुछ आंशिक शुभ–उपयोग संयम में अपराध है। किसी ने आचार्य योगीन्दुस्वामी से पूछा–प्रभु! शुभ–उपयोग के बारे में आपका क्या विचार है ? वे कहने लगे–

जो पाउ वि सो पाउ मुणि, सव्वु इ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ, सो बुह को वि हवेइ।।७१ यो.सा.।।

अहो ज्ञानी! पाप को पाप कहनेवाले पंडित संसार में अनंत हैं, लेकिन पुण्य को पाप कहनेवाले पंडित संसार में अँगुलियों पर गिनने लायक हैं। अहो! आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी तो पुण्य को अपराध कह रहे हैं और आचार्य योगीन्दु स्वामी पाप को कह रहे हैं। अब आचार्य कुंदकुंदस्वामी को देखें। प्रभु! पुण्य के बारे में आपके क्या विचार हैं? 'समयसार' के पुण्य–पाप अधिकार में आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने कहा है–अहो ज्ञानियो! विश्व के प्राणी अशुभकर्म को तो कुशील कहते हैं, लेकिन शुभकर्म को सुशील कैसे कहूँ? वह तो संसार में भटका रहा है।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि।। १५२।। (स.सा.)

अब आपको यह चिंता लग गई कि, महाराजश्री! पुण्य परंपरा से मोक्ष का कारण है कि नहीं? पुण्य के दो भेद कर दिए। एक सम्यक्दृष्टि का पुण्य, दूसरा मिथ्यादृष्टि का पुण्य अर्थात् एक प्रशस्त पुण्य, दूसरा अप्रशस्त पुण्य। अपराध शब्द को लोग वास्तव में अपराध मानकर न बैठ जाएँ। अब देखो, मोक्ष का कारण पुण्य तो नहीं है, पर एक कार्य की सिद्धि एक ही कारण से नहीं होती। कारण कार्य का हेतु बन भी सकता है और नहीं भी बन सकता है। लेकिन कारण तो जो होगा वह नियम से कार्य को ही कराएगा।



भो ज्ञानी। यहाँ तो पुण्य को कहीं पाप कहा, कहीं अपराध कहा और कहीं कुशील कहा। लेकिन मंद कषाय में यदि धर्म की साधना की, तो आपको स्वर्ग भेज दिया और कषाय की तीव्रता में अशुभ-व्रत किये तो आपको नरक भेज दिया। परंतु दोनों संसारी ही हो। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने पुण्य को कुशील इसीलिए कहा कि शील का अर्थ होता है-स्वभाव। जो वस्तु का स्वभाव है, वही शील है। यहाँ शील से स्वभाव ग्रहण करना। आत्मा का स्वभाव चिद्रूप चैतन्य भगवत अवस्था है। उस भगवत अवस्था से जो भटका दे, उसका नाम कुशील है। इसी प्रकार शुभ-कर्म देव-पर्याय को दिला रहा है, इसीलिए कुशील है। जो आत्मा का पतन कराए, उसका नाम पाप है। पुण्य के योग से देवपर्याय को प्राप्त कर लिया, पर जब आयु कर्म क्षीण हुआ तो माला मुरझाने लगी। अतः छह महीने पहले से रो-रोकर एक इंद्रिय पर्याय को प्राप्त हुआ। अहो! इस पुण्य की महिमा तो देखो, इसने तो यह पतन करा दिया कि पुनः नीचे पटक दिया। इसीलिए जो पतन कराए, वह पाप है और जो पवित्र कराए, उसका नाम पुण्य है। अतः रत्नत्रय-धर्म पुण्य है। यह पुण्य मोक्ष तो नहीं दे पाएगा, क्योंकि पुण्य भी एक कर्म है और जहाँ कर्म है, वहाँ मोक्ष नहीं है। संपूर्ण कर्मों के अभाव हो जाने का नाम मोक्ष है।

भो ज्ञानी! श्रावकधर्म परंपरा से मोक्षमार्ग है, व मुनि-धर्म साक्षात् मोक्षमार्ग है, लेकिन दोनों में पुण्यास्रव चल रहा है। बिना पुण्य के मनुष्य-पर्याय नहीं मिलती और बिना पुण्य के चारित्र धारण नहीं होते। ध्यान रखना, तुम्हारे पल्ले में निर्मल पुण्य नहीं हैं तो पिच्छी लेने के बाद भी पिच्छी नहीं रख पाओगे, क्योंकि संयम छूटने का मुख्य हेतु कषाय है। चिढ़चिढ़े स्वभाव से अथवा अपनी बात को मनवाने की दृष्टि जिसके मन में आ गई, वह निर्मल चारित्र का पालन नहीं कर पायेगा। जिनवाणी कह रही है कि उबलते पानी में व्यक्ति का चेहरा कभी नहीं दिखा, पर शीतल पानी में चेहरा दिख जाएगा। कषायी जीव का संयम व्यवहार से संयम तो कहलायेगा, लेकिन संयम-स्वभाव नहीं झलकेगा। आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी कह रहे हैं-कषाय की मंदता से पुण्य आता है। जो जैन सिद्धांत को नहीं समझता, वह कहता है कि पूजा करने से पुण्य आ रहा है; उपवास करने से पुण्य आता है; पर वास्तविकता कुछ और ही है। यह सब क्रियाएँ कषाय को मंद करने के लिए हैं। पूजन करना, यह निमित्त है, हेतु हैं; परंतु कषाय की मंदता से पुण्य का आस्रव होता है। पुण्य के योग में पुण्य करोगे तो तुमको वह मुनि बना देगा और पापानुबंधी-पुण्य कर लिया, तो तुम को दोषी नहीं, रोगी बना देगा। इसीलिए आप लोगों का जो पुण्य इस समय चल रहा है, इस पुण्य को व्यर्थ ही बर्बाद मत कर देना। 'पुण्य फला अरिहंता'। पुण्य के योग से जीव मनुष्य बना, शुद्ध-रत्नत्रय का पालन किया और गुणस्थान बढ़ रहे हैं। देखना, पाप को क्षय करने के लिए, पुण्य को क्षय करने के लिए गुणस्थान बढ़ रहे हैं, परंतु पुण्य से ही बढ़ रहे हैं। क्या गजब की बात है? पुण्य से मतलब, पुण्य-प्रकृति अब पड़ी हुई है, उससे अब कोई प्रयोजन नहीं बचा। अब तेरा अंदर का पुरुषार्थ चल रहा है। अंदर के पुरुषार्थ के लिए पुण्य-द्रव्य चाहिए। पुण्य-द्रव्य एकत्रित होकर सत्ता में रखा हुआ है और अपना काम कर रहा है। अब इसको भगवान् के रूप में फलित कराना है तो वह भी फलित हो जाएगा और निगोद भिजवाना है तो वह भी फलित हो जाएगा। फिर भी ध्यान रखना, पुण्य ने मोक्ष नहीं दिया, तो मोक्ष रत्नत्रय धर्म ने दिया है। उस रत्नत्रय-धर्म के पालन के लिए तुम्हें पुण्य चाहिए। अहो! पुण्य-क्रिया अलग



विषय है और पुण्य भिन्न विषय है। **पुण्य**–क्रिया यानि पूजा करना। पुण्य भाव यानि मंद–कषाय, विशुद्ध–परिणाम **और पुण्य**–द्रव्य **यानि पुण्य**–कर्म का बंध। आप यहाँ बैठे हो, यह चल रही पुण्य–कर्म की क्रिया **और जो आस्रव हो रहा है, वह** पुण्य–कर्म का आस्रव; जो बंध हो रहा है, वह पुण्य–कर्म का बंध; **जो आप मनुष्य बनकर** भोग रहे हो, वह पुण्य–कर्म का फल भोग रहे हो।

भो **ज्ञानी! कषाय की** मंदता पुण्य का हेतु है, फिर भी पुण्य मोक्ष का हेतु नहीं है। साक्षात् हेतु शुद्ध–उपयोग **है। शुद्ध**–उपयोग का हेतु है शुभ–उपयोग और शुभ–उपयोग से पुण्य आस्रव होता है। इसलिए **पुण्य आस्रव** परंपरा से मोक्ष का हेतु है। पर मोक्ष का साक्षात् हेतु न पुण्य है, न पाप। आत्मा की **शुद्ध–दशा ही आत्मा** की शुद्धि का हेतु है। शुभउपयोग वास्तव में शुद्ध–दशा नहीं है, शुद्ध–उपयोग ही **वस्तु–स्वरूप है,** लेकिन जिसने अभी तक प्रवेश नहीं किया, उसे तुरंत पचाना कठिन होता है। **इसलिए उसको** व्यवहार से समझना पड़ता है। निश्चय तो शुद्ध–पंथ है। देखो, अग्नि के संयोग से **घी भी जलने** लगता है। भो ज्ञानी आत्माओ! पुण्य कभी तुम्हें संसार में नहीं भटकाता है; पर पुण्य **के साथ** जो पाप–परिणति होती है, वह तुम्हें जला देती है। दूसरी दृष्टि से, रत्नत्रय संसार का हेतु नहीं है, पर रत्नत्रय में जो शुभास्रव के मिश्रण की अवस्था हो गई है, इससे तू देव आदि पर्याय को प्राप्त हो रहा है। पुण्य में राग होना, जैसे सम्मेदशिखर अपना क्षेत्र है। यहाँ तुमने राग तो किया है, लेकिन पर वस्तु में किया है। इसीलिए सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष मार्ग है, अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है तथा वह निश्चय और व्यवहार रूप है।

ग्रंथकर्ता की महानता

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव।। २२४।।

अन्वयार्थ : कृतकृत्यः = कृतकृत्य (कर्तव्य से परिपूर्ण)। **सकलविषयविषयात्मा** =समस्त पदार्थ हैं विषयभूत जिनके अर्थात् सब पदार्थों के ज्ञाता। **परमानन्दनिमग्नः** = विषयानंद से रहित ज्ञानानंद में अतिशय मग्न। ज्ञानमयः परमात्मा = ज्ञानमय ज्योतिरूप मुक्तात्मा। **परमपदे** = सबसे ऊपर मोक्षपद में। सदैव नन्दति = निरन्तर ही आनंदरूप स्थित है।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।२२५।।

अन्वयार्थ : मन्थाननेत्रम् = मथानी की रस्सी को खींचने वाली। गोपी इव =ग्वालिनी की तरह। जैनी नीतिः = जिनेन्द्रदेव की स्याद्वाद नीति या निश्चय- व्यवहाररूप नीति। वस्तुतत्त्वम् = वस्तु के स्वरूप को। एकेन आकर्षन्ती = एक (सम्यग्दर्शन) से अपनी ओर खींचती है। इतरेण = दूसरे अर्थात् सम्यग्ज्ञान से। श्लथयन्ती = शिथिल करती है, और। अन्तेन = अन्तिम अर्थात् सम्यक्चारित्र से सिद्धरूप कार्य के उत्पन्न करने में। जयति = सबके ऊपर वर्तती है।

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः।।२२६।।

अन्वयार्थ : चित्रैः वर्णैः कृतानि पदानि = नाना प्रकार के अक्षरों से किये हुए पद हैं। दैः कृतानि वाक्यानि = पदों से बनाये गये वाक्य हैं। तु वाक्यैः = और उन वाक्यों से। पुनः इदं पवित्रं = पश्चात् यह पवित्र/पूज्य। शास्त्रम् कृतं = शास्त्र बनाया गया है। अस्माभिः न (किमपि कृतं) = हमने कुछ भी नहीं किया।

।।पुरुषार्थ देशना।।

मनीषियो! आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने ग्रन्थराज पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में अपूर्व–अपूर्व अमृत–बिंदुओं का रसास्वादन कराया है, जिसमें सम्यक्त्व से निर्वाण तक की प्रक्रिया का कथन कर दिया। अंत में लघुता और अकर्तृत्व भाव दर्शाते हुए इन कारिकाओं में समझा रहे हैं कि नय की एकांत–दृष्टि ही मिथ्यात्व है, अनेकांत दृष्टि ही सम्यक्त्व है। नय कभी वस्तु का पूर्ण कथन नहीं कर पाता, वह एक अंश का ही कथन करता है। इसलिए एक नय के द्वारा कभी भी लोकव्यवहार नहीं चलता तथा परमार्थ की सिद्धि भी नहीं होती। अनेक नयों के माध्यम से ही परमार्थ को जाना जाता है।



भो ज्ञानी! प्रमाण अपने आप में मौन है, जबकि वस्तु अनेक धर्मात्मक है। उन धर्मों को एक साथ कहने की सामर्थ्य छद्मस्थ में नहीं, केवली में है। छद्मस्थ उसको सुनने की सामर्थ्य भी नहीं रखता। देखो क्षयोपशम की महिमा, 'तत्त्वार्थ–सूत्र' का पाठ करने में आपको ४८ मिनिट या एक घण्टा लगता होगा, जबकि द्वादशांग का पाठ गणधर–परमेष्ठी एक अंतर्मुहूर्त में कर लेते हैं। इस क्षयोपशम को उन्होंने बहुत निर्मल साधना के द्वारा प्राप्त किया है। जब तक वैसे नहीं बनोगे, तब तक इतना क्षयोपशम नहीं मिलेगा, क्योंकि उन्होंने अपने शब्दों का दुरुपयोग नहीं किया, अपने चिंतन को विपरीत–धारा में नहीं ले गये, अपने ज्ञान का प्रभाव धर्म की विराधना में नहीं किया। उन्होंने अपने ज्ञान को निर्मल साधना में लगाया।

भो पुरुषार्थी! आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी इस अंतिम कारिका में समझा रहे हैं कि क्षयोपशम का मिल जाना बहुत बड़ी बात नहीं, क्षयोपशम का उपयोग करना बहुत बड़ी बात है। वैभव का मिलना भी पूर्व सुकृत का परिणाम है, पर वैभव का उपयोग कितना किया जाता है; यह वर्तमान का पुरुषार्थ है। मारीचि ने भी क्षयोपशम प्राप्त किया था, लेकिन उसने क्षयोपशम का निर्मल उपयोग नहीं किया। तीन–सौ–त्रैसठ मिथ्यामत चल गये तथा वर्द्धमान की पर्याय में जब उसी जीव ने क्षयोपशम का निर्मल उपयोग किया तो आज हम निर्वाण कल्याणक मना रहे हैं। दोष किसे दें ? जो जीव एक पर्याय में वीतराग शासन का परम–विरोधी था, वही जीव अंतिम पर्याय में वीतराग शासन को चलाने वाला हुआ। इसलिए शत्रुता द्रव्य से नहीं, पर्याय से थी। पर्याय की शत्रुता में जो चला जाता है, वह अपने परिणामों को विकृत कर लेता है। जो द्रव्य के स्वभाव में चला जाता है, वह दिव्य–दृष्टि से भगवत्ता को निहार लेता है। यदि एक पर्याय की भूल से एकांत दृष्टि में चले गये, तो कितनी पर्याय का विनाश हो जाएगा। इसलिए यदि जिनवाणी समझ में नहीं आ रही है तो मौन हो जाना, लेकिन बोलना मत। आप मौन हो जाओगे तो लोग आपको अज्ञानी कहेंगे, परंतु अति–समझ दिखाकर अनंत को नाशमय मत बना देना।

भो चेतन! पंचशील–सिद्धांत चरणानुयोग की प्रवृत्ति है। स्याद्वाद–अनेकांत यह सर्वज्ञ के दर्शन की दृष्टि है। यह दो सौ पच्चीस वीं कारिका प्रत्येक मंदिर में उत्कीर्ण होना चाहिए। हमारे आगम को समझने की दो पद्धतियाँ हैं–एक अक्षरों को पढ़ो और दूसरी कथा को पढ़ो। यह कारिका बीना के मंदिर के मुख्य द्वार के पाषाण में उत्कीर्ण है। एक गोपिका मथानी को माँज रही है, रस्सी को खींच रही है। बस, पढ़ने वाले पढ़ लें। यह है स्याद्वादमयी भाषा। द्रोणगिरि पर्वत के ऊपर गुफा के बगल में एक छोटा सा कमरा है। वहाँ जितनी कथाएँ लिखी हैं, बड़ी गंभीर कथाएँ हैं। कथा से आवाज निकलती है। उनके चित्र भी संसार से भयभीत करने के लिए चित्रित हैं कि अहो! इस शरीर की यह दशा है, इसमें तुम राग कर रहे हो। तपस्वी को शरीर तो हड्डी–पसली का पिण्ड ही दिखता है, जिससे स्वयं के शरीर से स्वयं में राग न बढ़े। उनके शरीर को देखकर दूसरों को भी राग न बढ़े। वहीं पर भगवान् गुरुदत्त स्वामी के चरण–चिह्न से अंकित गुफा है। जिसमें सामायिक कर रहे आचार्य शांतिसागर महाराज के सामने शेर आकर खड़ा हो गया था, परंतु शेर के सामने शेर भी सिर टेककर चला गया। यह चतुर्थकाल की घटना नहीं, पंचमकाल की घटना है। साधक की वह मुद्रा ही स्याद्वाद– अनेकांत की वाणी को बिखेर रही थी। यदि मैं सिंह से बच जाता हूँ , तो श्रेष्ठ–साधक



के रूप में निखरकर आऊँगा और श्रेष्ठ–साधना करूँगा। यदि सिंह मुझे खा लेता है, तो भी एक श्रेष्ठ–साधना मेरे सामने आयेगी कि संयम से च्युत नहीं हुआ। यदि वह मेरे शरीर का भक्षण भी करेगा, तो भी मेरे आत्मा के धर्म का भक्षण कहाँ कर सकता है? यदि उसने शरीर का भक्षण कर भी लिया, तो सामायिक करते–करते ही तो जा रहा हूँ। संयम इसलिए तो धारण किया था। कहीं बच गया तो भी श्रेष्ठ होगा, क्योंकि आगे साधना करूँगा। अहो! स्याद्वाद अनेकांत भाषण की शैली नहीं है, साधना की निर्मल शैली है।

भो ज्ञानी! जैनशासन तो अनादि से कह रहा है कि अग्नि में भी जीव होते हैं। इसलिए ध्यान रखना, राजगृही में जो गर्म पानी के स्थान हैं वह श्रावक के लिए पीने के लिए शुद्ध नहीं, क्योंकि वहाँ उस प्रकृति के जीव आयेंगे। उस पानी का प्रयोग मुनिमहाराज तो कर सकते हैं, पर श्रावक नहीं। क्योंकि मुनिराज का तो आरंभी हिंसा का त्याग होता है, श्रावक को आरंभी हिंसा का त्याग नहीं होता है। यदि कमंडल सूख जाता है और शौच आदि की बहुत बड़ी पीड़ा है, तो ऐसे स्थान से पानी ले सकते हैं, परंतु बाद में जितना बचेगा वहीं छोड़ेंगे, प्रायश्चित्त भी करेंगे, पर श्रावक तो ऐसे पानी का प्रयोग छानकर ही करेगा। कुएँ, बावड़ी के जल में यदि सूर्य की किरण पड़ रही हैं, तो ऐसे पानी का प्रयोग मुनि महाराज कर सकते हैं, लेकिन सहज नहीं करेंगे। यह उस समय का अपवाद–मार्ग है। राजमार्ग तो यह है कि श्रावक ही कमंडल में पानी भरता है। यह बातें मैं आपको इसलिए बता रहा हूँ कि कदाचित् आपके दिखने में ऐसा आ जाये तो यह मत कहना कि महाराज ने ऐसा क्यों कर लिया? ऐसी आगम की व्यवस्था है। श्रावकों को तो यह भी निर्देश है कि आपने पानी उबाल कर रख लिया और चौबीस घंटे के बाद पानी बचता है तो वह उपयोग का पानी नहीं है, अभक्ष्य है। उसी पानी को पुनः उबालकर प्रयोग नहीं कर सकते।

अहो मुमुक्षु! जब तेरा आत्म–तत्त्व पर दृष्टिपात हो उस समय देह को गौण करना अन्यथा तुम भावुकता के साधु तो बन जाओगे, पर साधना के साधु नहीं रह पाओगे। भो ज्ञानी! यह मोक्षमार्ग भावुकता का मार्ग नहीं है। यदि आप साधना के मार्ग पर जाओ तो शरीर का ख्याल रखना, क्योंकि आगे उसी से साधना करना है, समितियों का पालन करना है और चर्या का पालन करना है। जब तक आयु–कर्म क्षीण नहीं हुआ, तब तक सल्लेखना नहीं होगी। आप करोगे क्या? अतः इसमें अनेकांत लगा लो। साधना में जाओ और शरीर को गौण कर दो।

भो मनीषियो! निश्चय और व्यवहार–पक्ष नमोस्तु शासन की नीति है। जिसने निश्चय–पक्ष को छोड़ दिया, उसने शुद्ध उपयोग के लक्ष्य का घात कर दिया और जिसने व्यवहार को छोड़ दिया, उसने व्यवहार–तीर्थ का नाश कर दिया। व्यवहार–तीर्थ निश्चय–तीर्थ की प्राप्ति का हेतु है। व्यवहार तीर्थ नहीं होगा तो निश्चय–तीर्थ की प्राप्ति के लिए तुम बैठोगे कहाँ? इसलिए जिनवाणी कह रही है–जो निश्चय और व्यवहार में से एक का नाश कर रहा हो, वह उभय तीर्थ का घातक है। निश्चय और व्यवहार दोनों को लेकर चले तो विश्व में कोई विवाद नहीं। निश्चय और व्यवहारनय में कोई विसंवाद नहीं है। यह व्यक्तियों के राग/अहंकार के विसंवाद हैं। आचार्य भगवान् कुंदकुंद देव ने 'नियमसार' जी में लिखा है कि ईर्ष्या के भाव से पूर्ण होकर कोई वीतराग–शासन में दोष लगाने लग जाये तो, भो ज्ञानी! उसकी ईर्ष्या में दोष समझना, वीतराग–शासन पर अश्रद्धा करना शुरू मत कर

देना, क्योंकि ईर्ष्यालुओं ने तीर्थंकर महावीर स्वामी तक को नहीं छोड़ा।

भो ज्ञानी! दो–सौ–पच्चीसवीं कारिका को पढ़ लो। जो मात्र निश्चयवाला है, तो वह मिथ्यादृष्टि और व्यवहार मात्र है वह भी मिथ्यादृष्टि है। आगम में पाँच प्रकार के मिथ्यात्व में एक 'अज्ञान' नाम का भी मिथ्यात्व है। इसलिए आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि निश्चय और व्यवहार से युक्त अवस्था ही सम्यक्त्व है। देखो, जब गोपी मक्खन निकालती है तो वह रस्सी के एक छोर को खींचती है और दूसरे छोर को शिथिल कर देती है। तभी मक्खन निकलता है। भो ज्ञानी! यही वस्तु तत्त्व के कथन करने की शैली है। ऐसे ही निश्चय नय का कथन हो, तो व्यवहार को शिथिल कर दिया जाता है और जब व्यवहार का कथन होता है, तो निश्चय को शिथिल कर दिया जाता है; लेकिन अभाव दोनों का नहीं होता है। जिसने एक का भी अभाव कर दिया तो वीतराग शुद्धात्म स्वरूप के मक्खन को नहीं निकाल पायेगा। अहो भगवन्! ऐसा निर्द्वन्द अकृतत्व–भाव प्राणीमात्र के अंदर आ जाये, तो संसार में विवाद ही न हो। संविधान तोड़ा, तो विघ्न होना ही है। नमोस्तु–शासन में भी दो संविधान हैं।एक श्रावकों के लिए श्रावकाचार संविधान बनाया गया है, दूसरा मुनियों के मूलाचार का संविधान लिखा है। बस, जितना लिखा, उसको लिख लेना, तो कार्य बन गया। कर्त्तृत्व–भाव यानी सब करने की भावना करने की भावना ही उसे विकल्प करा रही है।

भो ज्ञानी! नाना प्रकार के अक्षरों द्वारा पद बने हैं, पदों के द्वारा वाक्य बने हुए हैं, वाक्यों के द्वारा यह पवित्र शास्त्र बना है, मेरे द्वारा कुछ भी नहीं किया गया है। इतना बड़ा महान ग्रंथ लिखने के बाद भी आचार्य भगवान् कह रहे हैं कि मैंने कुछ नहीं किया। सर्वज्ञ की वाणी को गणधर परमेष्ठी ने प्राप्त किया, गणधर परमेष्ठी की वाणी को आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने, अमृतचन्द्र स्वामी की वाणी को आचार्य विराग सागर महाराज ने प्राप्त किया। अब जितनी जिसकी सामर्थ्य थी, बर्तन जितना था, उसी में से एक चुटकी मैं लेकर आया। इसमें मेरे (मुनि विशुद्धसागर) द्वारा अक्षरों की हानि हुई हो, पदों की या वाक्यों की हानि हुई हो तो, हे श्रुत देवता! आप मुझे क्षमा कर देना। माँ भारती के चरणों में बैठ आज सम्यक्–वाचना की समाप्ति है। जिनवाणी–वाचना की स्थापना मंगलवार को और समाप्ति शनिवार को हो, तो अति प्रशस्त होती है। शनिवार को लोग अच्छा नहीं मानते, परंतु शनि से धन नहीं मिलता, वीतरागता मिलती है। आज माँ भारती के चरणों में वंदना कर लेना कि हे देवी! आपकी वंदना मैं इसलिए नहीं कर रहा हूँ कि प्रज्ञाशील बनकर मैं दूसरे के साथ अपनी प्रज्ञा का चमत्कार दिखाऊँ, बल्कि आपके द्वारा प्रदत्त प्रज्ञा को प्राप्त करके चैतन्य–चमत्कार को प्राप्त हो जाऊँ। इसलिए हमने माँ जिनवाणी का पान किया। आपने जितना सुना है, उसको आचरित करते जाना, दोहराते जाना, तभी कल्याण होगा।



परिशिष्ट

पुरूषार्थ सिद्धयुपाय ग्रंथ के विवेचन में मुनिश्री ने अनेक ग्रंथों का आलम्बन लिया है, जिन्हें 'पुरुषार्थ देशना' में सम्मिलित किया गया है। ऐसी कारिकाओं के समक्ष यथा संभव उन ग्रंथों का नाम लघुशब्द संकेतों में दिया गया है, जो कि निम्नानुसार है:–

	ग्रंथ का नाम	लघु संकेत	ग्रंथकर्त्ता का नाम
1.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	(का. आ.)	कार्तिकेय स्वामी
2.	आत्मानुशासन	(आ.शा.)	आचार्य गुणभद्र स्वामी
3.	समयसार टीका,आत्मख्याति	(स.सा. टीका)	अमृतचंद्राचार्य
4.	बारह भावना	(बा. भा.)	भूधरदासजी
5.	समाधि शतक	(स.श.)	आचार्य पूज्यपाद स्वामी
6.	मूलाचार्य	(मु.)	आचार्य कुंदकुंद स्वामी
7.	गोम्मट्सार (जीवकांड)	(गो.जी.कां)	आचार्य नेमिचंद्र
8.	गोम्मट्सार (जीवकांड)	(गो.जी.कां)	आचार्य नेमिचंद्र
9.	भाव पाहुड़	(भा. पा.)	कुंदकुंद आचार्य
10.	वीरभक्ति	(वी.भ.)	
11.	इष्टोपदेश	(इष्टो)	आ. पूज्यपाद स्वामी
12.	द्वात्रिशतिका सा.पा.	(द्वा.सा.पा.)	अमितगति आचार्य
13.	क्षत्रचूडामणि	(क्ष.चू.)	वादीभसिंह
14.	सुभाषित रत्नावलि	(सु.र.)	सकलकीर्ति आचार्य
15.	स्वयंभू स्तोत्र	(स्व.स्तो.)	समंतभत्राचार्य
16.	वृहद्द्रव्यसंग्रह	(वृ.द्र.सं.)	नेमिचन्द्राचार्य
17.	कातत्र व्याकरण	(का.व्या.)	
18.	अध्यात्म अमृत कलश	(अ.अ.क.)	आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी
19.	ज्ञानार्णव	(ज्ञाना)	आ.शुभचन्द्र स्वामी
20.	रत्नकरंड श्रावकाचार्य	(र.क.श्रा.)	समंतभद्राचार्य
21.	नियमसार	(नि.सा.)	कुंदकुंदाचार्य
22.	सवार्थसिद्धि	(स.सि.)	पूज्यपाद आचार्य
23.	आत्ममीमांसा	(आ.मी.)	समंतभद्राचार्य
24.	समयसार	(स.सा.)	कुंदकुंदाचार्य
25.	रयणसार	(र.सा.)	कुंदकुंदाचार्य
26.	अनगार धर्मामृत	(अ.ध.)	पं.आशाधरजी



27.	योगसार	(यो.सा.)	योगेन्दुदेव आचार्य
28.	प्रवचनसार	(प्र.सा.)	कुंदकुंदाचार्य
29.	अष्टपाहुड़	(अ.पा.)	कुंदकुंदाचार्य
30.	मोक्षपाहुड़	(मो.पा.)	कुंदकुंदाचार्य
31.	समयपाहुड़	(स.पा.)	अमृतचन्द्राचार्य
32.	भावसंग्रह	(भा.सं)	देवसेनस्वामी
33.	सागार धर्मामृत	(सा.ध.)	पंडित आशाधरजी
34.	तत्वार्थ सूत्र	(त.सू.)	कुंदकुंदाचार्य
35.	समाधिभावना	(स.भा)	
36.	समाधितंत्र	(स.तं)	पूज्यपादस्वामी

।। पुरुषार्थसिद्धयुपाय ।।

के रचनाकार अमृतचंद्राचार्य

आचार्य अमृतचंद्र का समय ईसा की दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। यह वह समय है जब संस्कृत भाषा का विकास अपनी चरम सीमा पर था। अध्यात्मरस से ओत–प्रोत अमृतचंद्र की रचनाऐं संस्कृत भाषा की बेजोड़ रचनाऐं हैं। यह एक ऐसा व्यक्तित्व था जिसे किसी भी प्रकार का अभिमान नहीं था। पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ की रचना के अन्त में वे कहते हैं कि ''तरह–तरह के वर्णों के पद बन गये, पदों से वाक्य बन गये, और वाक्यों से पवित्र ग्रन्थ बन गया, मैंने तो कुछ भी नहीं किया''। वास्तव में अमृतचंद्रसूरि भगवान महावीर एवं आचार्य कुन्दकुन्द के समर्पित अनुगामी थे। केवल इतना ही नहीं प्रायः सभी अध्यात्म ग्रन्थों के विशद एवं गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करते हुये उन्होंने कभी भी उनके कर्तृत्व का श्रेय अपने ऊपर नहीं लिया इसी कारण अमृतचंद्र सूरि का जीवन परिचय, गुरू, निवासस्थल एवं समय आदि का उल्लेख नहीं मिलता। पंडित आशाधर जी ने अनगार–धर्मामृत की टीका में आपको ''ठक्कुर'' शब्द से सम्बोधित किया है, इससे शायद ठाकुर वंश से सम्बंधित रहे हों। इनकी कृतियाँ, परिस्थितिजन्य प्रमाणों एवं विद्वानों के मतानुसार उनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी अथवा संवत् 962 निश्चित होता है। जर्मन विद्वान डॉ. विंटरनिटज् ने पीटरसन रिपोर्ट के अनुसार पुरुषार्थसिद्धयुपाय इस कृति को विक्रम संवत् 961 (ई.स. 904) की रचना माना है।

पुरुषार्थ देशना

अखिल भारतीय श्रमण संस्कृति सेवा समिति ट्रस्टीगण एवं सदस्य

शिरोमणि संरक्षक

श्री सुन्दरलालजी जैन (बीड़ीवाले), इंदौर, श्री महावीरजी पाटनी, भिलाई
श्री आजादकुमारजी जैन (बीड़ीवाले), इंदौर

परम संरक्षक

श्री नेमीचंदजी बड़कुल, इंदौर
श्री राजेशजी जैन (लॉरेल्स), इंदौर
श्री कमलकुमारजी अग्रवाल, इंदौर
श्री संतोषकुमारजी जैन (पटनावाले), सागर
श्री माँगीलालजी रमेशकुमारजी पहाडिया, हैदराबाद
श्री टी.के.वेद, इंदौर
श्री विजयकुमारजी रामनारायणजी, नागपुर

संरक्षक

श्री सचिनकुमारजी जैन (उद्योगरत्न), इंदौर
श्री अनिलकुमारजी जैन (जैनको, समाजसेवी), इंदौर
श्री चक्रेशकुमारजी जैन (बड़कुल), इंदौर
श्री शैलेन्द्रकुमारजी सोनी, इंदौर
डॉ. श्री जैनेन्द्रकुमार जैन, छत्रपति नगर, इंदौर
श्री मानिकचंदजी नायक, (परिवार) छत्रपति नगर, इंदौर
श्री पी.सी. जैन सा., बैंकवाले, इंदौर
श्री प्रमोदकुमारजी जैन (बारदाना),सागर
श्री संतोषकुमारजी सोनू जैन (सिहोरा), सागर
श्री जैन राजेशजी कानूगो, इंदौर
श्री पं. कमलकुमारजी कमलाकर, भोपाल
श्रीमती कुसुमजी प्रकाशचंदजी, सुखलिया, इंदौर
श्री कमलेशकुमारजी पहाडिया, इंदौर
इंजी. श्री पंकजकुमारजी जैन, भोपाल
श्रीमती राजलताजी धरणेन्द्रजी जैन, भोपाल
श्री राकेशकुमारजी पाटनी, नागपुर
श्री निर्मलकुमारजी जैन, गोंदिया

ग्रंथ प्रकाशन विशेष सहयोगी

श्री वीरेन्द्रकुमारजी चंदादेवी रावत, इंदौर
श्रीमती राजलताजी धरणेन्द्रजी जैन, भोपाल
श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन (बीडीवाले), इंदौर
श्री अशोकजी कन्हैयालालजी खासगीवाला, इंदौर
श्री देवेन्द्रकुमारजी जैन (हीरू), इंदौर
श्री स्वतंत्रकुमारजी बाबूलालजी जैन, बालसमुद
श्री विजयकुमारजी जैन, कतरपुर
श्री कैलाशचंदजी जैन (नेताजी), इंदौर
श्री पुष्पाजी निर्मलजी काला, रायपुर
श्री रतनचंदजी अशोककुमारजी, दुर्ग



अखिल भारतीय श्रमण संस्कृति सेवा समिति सदस्य

इंदौर...
श्री सुनीलकुमारजी गोधा
प्रो. श्री शांतिलालजी बड़जात्या
श्री महेशकुमारजी जैन (फूफा)
श्री जयकुमारजी जैन (रिंकू)
श्री विपुलजी बांझल (बंटी)
श्री संतोष गरूजी (परवार ग्रुप)
श्री कोमलचंदजी जैन (दद्दा)
श्री राकेशकुमारजी रसिया
श्री अरूणकुमारजी (मऊरानीपुर)
श्री विजयकुमारजी जैन (हवलदार)
श्री एन.के. जैन (रोडवेज)
श्री प्रकाशकुमारजी तरूणकुमारजी (आरौन वाले)
श्री जयकुमारजी निलेशकुमारजी जैन
श्री नवीनकुमारजी सुनीलकुमारजी जैन
श्री राकेशकुमार राजकुमारजी जैन
श्री भागचंदजी पाटनी (सेन्ट परसेन्ट केमिस्ट)
श्री संतोषकुमारजी जैन
श्री महावीरप्रसादजी चाँदमलजी गोधा
श्री संजयजी मोदी (अनंतपुरा)

उज्जैन...
श्री जीवनलालजी जैन
श्री विजेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन
श्री सुनीलकुमारजी हीरालालजी सोगानी
श्री मोतीलालजी जैन छाबड़ा
श्री कमलकुमारजी सुरेशचंदजी जैन
श्री देवेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन (तलाटी)
श्री रुपेन्द्रकुमारजी विजेन्द्रकुमारजी जैन

ललितपुर...
श्री रामप्रकाशजी जैन,
श्री शीलचंदजी नन्हेलालजी जैन
श्री शिखरचंदजी जैन सर्राफ
श्री अखिलेशजी राजमलजी जैन
श्री सिंघई धन्यकुमारजी जैन
श्री सुंदरलालजी मथुराप्रसादजी जैन
श्री नरेन्द्रकुमारजी राजीवकुमारजी जैन
श्री जयकुमारजी मोतीलालजी जैन
श्री कमलकुमारजी खेमचंदजी जैन

सागर...
श्री सुरेशकुमार हुकुमचंदजी जैन
श्रीमती पुष्पादेवी संतोषकुमारजी जैन
डॉ. सुनीलकुमार राजेशकुमारजी जैन
श्री नेमीचंदजी जैन (सुरखी वाले)
श्री भरतकुमारजी ताराचंदजी पाटोदी
श्री ऋषभकुमारजी लखमीचंदजी गोयल
श्री वेदप्रकाशजी ताराचंदजी भाईजी
श्री कन्छेदीलालजी जैन (ढाऊ)
श्री कोमलचंदजी ऋषभकुमार जैन (लालू साड़ी)
श्री ज्ञानचंदजी सुरेन्द्रकुमार जैन
श्री वैभवजी बाबुलालजी जैन
श्री ऋषभकुमारजी स्वरुपचंदजी सिंघई
श्री राजेन्द्रकुमारजी गुलाबचंदजी जैन
श्री सिंघई ऋषभकुमारजी मंडावरा वाले
श्री सेठ इंदरचंदजी दीपककुमारजी जैन (सन्मति)
श्री मुकेशकुमारजी भागचंदजी जैन
श्री राजेशकुमारजी जैन (जैन रोड़ लाईनस)
श्रीमती सुगंधीजी जैन (निहारिका)
श्री नितिनकुमारजी कोमलचंदजी सर्राफ
श्री सुनीलकुमारजी के.सी. जैन
श्री हेमचंदजी जिनेन्द्रकुमारजी निलेशकुमारजी जैन

छतरपुर...
चौधरी श्री ज्ञानचंदजी जैन (दादा)
श्री ओलियाजी कोमलचंदजी, छतरपुर
श्री राजेन्द्रकुमारजी जैन सेठ
श्री राजकुमारजी जैन
श्री आनंदकुमारजी जैन (लोहेवाले)
श्रीमती श्रीबहनजी
श्री चक्रेशकुमारजी जैन (बडकुल)
श्री मुकेशजी जैन (ग्रेनाईट इंडिया)
आचार्य श्री तारणतरण लोकन्यास
डॉ. सुरेशचंदजी बजाज
श्री श्रीपालजी बडकुल
श्री प्रमोदजी बिजावर

अन्य शहर :
श्री संजयकुमारजी निर्मलकुमारजी जैन
(नवापारा राजिम), रायपुर
श्री पन्नालालजी धन्नालालजी जैन, कलकत्ता
श्रीमती अलका अशोककुमारजी जैन, दिल्ली
श्रीमती उर्मिलाजी शीलकुमारजी जैन, हिसार (हरि.)